THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186814
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 954 T35B Accession No. H 3040

Author डॉक्टर श्री केशव कुमार

Title भारत में अंग्रेजी राज के दो सौ वर्ष

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारत में अंगरेजी राज्य के दो सौ वर्ष

अर्थात्

[भारत में अंगरेजी राज्य का—आरम्भ से अन्त (सन् १९४७) तक का सम्पूर्ण, सच्चा और प्रामाणिक इतिहास]

लेखक

श्री कशव कुमार ठाकुर

प्रकाशक

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय

४१९ अहियापूर

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] मई १९५२ [मूल्य ७) रुपये

रीगल डिपो

प्रकाशक

गिरिधर शुक्ल

आदर्श हिन्दी पुस्तकाल

४१९, अहियापुर,

इलाहाबाद ।

Checked 1965

मुद्रक

इन्द्रमणि जायसवाल

मणि प्रिंटिंग प्रेस,

मणि नगर, ५१ए पुराबल्दी

कीटगञ्ज, इलाहाबाद ।

कृतज्ञता

सन् १९४९ की बात है। इस देश में ब्रिटेन के शासन का अन्त हो चुका था और भारतीय स्वतन्त्रता का दूसरा वर्ष चल रहा था। गरमी के दिन थे। इलाहाबाद में पण्डित गिरिधर जी शुक्ल से मुलाकात करने के लिए, मैं उनके घर पर गया था। अपने स्थान पर बैठे हुए; शुक्ल जी अपनी एक योजना पर विचार कर रहे थे। 'भारत में अंगरेजी-राज्य' के इतिहास पर वे सम्पूर्ण-अगस्त सन् १९४७ तक की घटनाओं की एक प्रामाणिक पुस्तक प्रकाशित करने की उधेड़-बुन में थे।

बातचीत के सिलसिले में शुक्ल जी ने अपनी योजना का मुझसे जिक्र किया। कुछ देर तक बातें होती रहीं। इसी मौके पर मेरे मुँह से निकल गया, इस पुस्तक का नाम 'भारत में अंगरेजी राज्य के दो सौ वर्ष' कैसा रहेगा? शुक्ल जी सहसा मुस्करा उठे। उन्होंने कहा, 'नाम अच्छा है और हमारी अब इच्छा है कि इस पुस्तक के लिखने का कार्य आप ही अपने हाथों में लें।' मुझे भी कुछ हँसी आ गयी। इस प्रकार, इस पुस्तक के लिखे जाने का सूत्रपात हुआ।

पुस्तक लिखने में मुझे कई एक ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करना पड़ा। अंगरेजी-शासन की समस्त घटनाओं के एकत्रीकरण करने में और उनको एक सिलसिले मे रखने के कार्य में जिनसे मुझे सहायता लेनी पड़ी है, उनमें प्रमुख पुस्तकें इस प्रकार हैं—

१—मेजर बी० डी० वसु की लिखी हुई, राइज आफ दि क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया—कान्सीलिडेशन आफ दि क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया—रुइन आफ इण्डियन ट्रेड एण्ड इण्डस्ट्रीज।

२—दादा भाई नौरोजी की लिखी हुई पुस्तक, पावर्टी इन इण्डिया

३—पट्टाभि सीतारमैया का लिखा हुआ, काँग्रस का इतिहास।

४—रेवेल इण्डिया और अनेक पत्र-पत्रिकाएँ।

५—कर्मवीर पण्डित सुन्दर लाल जी का लिखा हुआ "भारत मे अंगरेजी राज।"

इन पुस्तकों में अंगरेजी-शासन की मौलिक और सही घटनाओं के संकलन का कार्य अपनी पुस्तकों में मिस्टर वसु ने बड़े परिश्रम और

सावधानी के साथ किया है। अंगरेजी शासन के इतने सही विवरण कदाचित और कहीं न मिलेंगे। उनकी पुस्तकों ने अंगरेजी हुकूमत के छिपे हुए पहलुओं पर अत्यन्त अन्वेषण के साथ प्रकाश डाला गया है और वहीं से इस हुकूमत का असली चित्र संसार के सामने आता है।

इसके बाद, पण्डित सुन्दरलाल जी ने सन् १८५७ के विप्लव तक के अंगरेजी-शासन का सच्चा रूप अपनी पुस्तक, 'भारत में अंगरेजी राज' में देकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस पुस्तक में घटनाओं का वर्णन और प्रतिपादन इतनी खूबसूरती के साथ किया गया है कि उसके तीव्र प्रकाश में ब्रिटेन के समस्त दृष्टिकोण, शासन का कलुषित चित्र उपस्थित करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। सन् १८५७ तक की घटनाओं को समझने में इन पुस्तकों से मुझे न केवल सहायता मिली है, बल्कि उनसे प्रेरणात्मक प्रोत्साहन भी मुझे मिला है, इसलिए उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इनके सिवा, देशी और विदेशी जिन पत्र-पत्रिकाओं से मुझे घटनाओं की सामग्री मिली है, उनके लेखकों और सम्पादकों के प्रति मैं अपना आभार-प्रदर्शन करता हूँ।

अन्त में दो अन्य सहायताओं का उल्लेख करना भी यहाँ पर जरूरी है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में पहली सहायता, पण्डित गिरिधर जी शुक्ल की है। उन्होंने न केवल आवश्यक सामग्री के जुटाने में ही मेरी सहायता की है, बल्कि मेरे लिखे हुए पन्नों में अगर उनका संशोधन और परिवर्द्धन न हुआ होता तो पुस्तक के अनेक स्थल अपरिष्कृत और अनावश्यक स्थूलता के साथ प्रकाशित होते! शुक्ल जी की इस योग्यता और प्रतिभा की सराहना मैंने दूसरे मौकों पर भी की है।

दूसरा उल्लेख ज्योतिर्मयी के परिश्रम और उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में है, मेरे सभी मित्र जानते हैं कि मैं जीवन के जिस स्थान पर आज पहुँच सका हूँ, उसका श्रेय ज्योतिर्मयी को है। इस पुस्तक में भी उनके परिश्रम को मैं जानता हूँ। अपनी कमजोरियों की पूर्ति के लिए मैंने सदा उनकी सजीव सहायता पायी है।

कमलिनी-कार्यालय, कानपुर
२० अप्रैल, १९५२

केशव कुमार ठाकुर

भूमिका

लगभग तीन वर्ष के परिश्रम और प्रयत्नों के बाद इस पुस्तक 'भारत में अंगरेजी राज्य के दो सौ वर्ष' का प्रकाशन हो सका और मुद्रित हो कर सामने आने का उसे अवसर मिला।

इस देश में अंगरेजों के आने से लेकर, उनके शासन के अन्तिम दिनों तक के पूरे विवरण इस पुस्तक में दिये गये हैं और जहाँ तक सही घटनायें मिल सकी हैं, जिम्मेदारी के साथ, उन पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंगरेजों का चरित्र सर्वथा निन्दनीय था और उसका शासन अन्त तक निन्दनीय रहा। उसकी निन्दापूर्ण आलोचना न केवल भारतीय विद्वानों और दूसरे देशों के लोगों ने की है, बल्कि बहुत-से नेक अंगरेजों ने भी उसकी कड़ी मीमांसा की है। इस प्रकार के पूरे विवरण आवश्यकतानुसार स्थलों पर दिये गये हैं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के बाद भारत में अंगरेजी हुकूमत के दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है। यह समय सन् १८५७ की क्रान्ति के बाद देश के सामने आता है और उसके बाद ही भारतीय जीवन के विकास का उषाकाल आरम्भ होता है। इस ऐतिहासिक पुस्तक के लिखने में अंगरेज शासकों पर आक्षेप करना ही हमारा उद्देश्य नहीं रहा और न हमारे पाठकों का वैसा उद्देश्य होना चाहिए। अंगरेजों का जो दृष्टिकोण हमारे लिए हानिकर हो सकता है, वही अंगरेजी-शासन के लिए श्रेयस्कर हो सकता है। इसलिए हमारा अध्ययन उसके दोनों पहलुओं पर प्रकाश डालता हो, यह बहुत जरूरी है।

उदाहरण के तौर पर, एक छोटी-सी घटना का उल्लेख करना यहाँ पर आवश्यक मालूम होता है। शाहजहाँ बादशाह की लड़की जहांनारा आग से बहुत बुरे तरीके से जल गयी थी। कितने ही मशहूर हकीमों और प्रसिद्ध चिकित्सकों के इलाज से वह अच्छी न हुई। उस हालत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक अंगरेज डाक्टर शाहजहाँ

बादशाह के पास आया और उसने जहाँनारा का इलाज करने की इच्छा जाहिर की। उसने इलाज किया और जहाँनारा पूर्णरूप से सेहत भी हो गयी। शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर उस अंगरेज डाक्टर से पूछा—इसके बदले में आपको क्या दिया जाय ?

उस अंगरेज डाक्टर ने उत्तर देते हुए बादशाह से कहा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपने माल पर जो चुङ्गी देनी पड़ती है, वह माफ कर दी जाय।

उस अंगरेज की मांग मंजूर की गयी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जो चुङ्गी देनी पड़ती थी, वह खतम हो गयी। उस अंगरेज की यह घटना हमको देशभक्ति की ओर खींच कर ले जाती है। उससे हमको इस बात की शिक्षा मिलती है कि व्यक्तिगत स्वार्थों की अपेक्षा देशभक्ति और देश के स्वार्थों का स्थान बहुत ऊँचा होता है।

ब्रिटेन की पराधीनता में भारत को दो सौ वर्ष बिताने पड़े। यह पराधीनता भारत के अपमान का कारण नहीं है, अपमान का कारण है, हिन्दुस्तानियों का वह कमजोरी, जिसने कम्पनी के अंगरेजों को मनमाना खेल खेलने के लिए मौका दिया। कभी-कभी हमारा विश्वास इस बात के समझने में काम नहीं करता कि हिन्दू-नरेशों और मुसलमान बादशाहों एवम् नवाबों को कठपुतली समझकर कम्पनी के अंगरेज कैसे मनमानी करते रहे और अगर वे नरेश, बादशाह और नवाब सचमुच कठपुतली ही थे तो कम्पनी के अंगरेजों और विदेशी हुकूमत को कोसने से काम नहीं चलेगा। हमें तो अपनी उस कमजोरी को कोसना पड़ेगा, जिसके कारण इस देश को उस शोचनीय अवस्था में पहुँचना पड़ा।

कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो बीमार न हुआ हो और कोई ऐसा देश नहीं है, जो कभी किसी दूसरे देश का गुलाम न हुआ हो। इंगलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका, रूस, जापान, इटली और फ्राँस आज शक्तिशाली देश हैं। परन्तु उनको भी पराधीनता का जीवन किसी समय बिताना पड़ा है। एक दिन था जब योरप के अनेक शक्तिशाली देश यूनान, बलकान, इटली, स्पेन और इंगलैण्ड पर रोम-साम्राज्य का शासन था। इंगलैण्ड पर चार सौ वर्षों तक रोमन जाति के लोगों हुकूमत की थी। उसके बाद, सेक्सन एशियाई जाति ने इङ्गलैण्ड

से रोम-साम्राज्य के शासन का अन्त किया और इङ्गलैण्ड के मूल निवासी ब्रिटन लोगों पर अपना शासन कायम किया। इसके बाद भी समय बदला और ब्रिटेन, सेक्सन तथा वहाँ की अन्य निवासी जातियों ने मिलकर इङ्गलैण्ड में प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था की। इङ्गलैण्ड की उन कई जातियों का मिश्रण ही, आज की अंगरेजी जाति है।

आज का सुसभ्य और शक्तिशाली अमेरिका एक दिन अंगरेजी हुकूमत में था और विजातीय शासन में उसने अपने जीवन का सर्वस्व नष्ट किया था। अन्त में पराधीनता की जंजीर को तोड़ने के लिए उसे अधिक समय तक युद्ध करना पड़ा और स्वतन्त्र होने के बाद, अमेरिका आज का अमेरिका बन सका। जापान की भी यही अवस्था थी। वह भी किसी समय गुलामी की मजबूत जंजीरों में जकड़ा था और पराधीनता के जीवन में विवशता की साँसे ले रहा था। दिनों का परिवर्तन हुआ। परतन्त्रता के बन्धनों को तोड़ कर जापान स्वतन्त्र हुआ और स्वाधीन होते ही उसने थोड़े दिनों के भीतर एक आश्चर्य जनक उन्नति की।

राजनीतिक पराधीनता से किसी देश का भी दामन अछूता नहीं रहा। जिस रोम-साम्राज्य ने लगभग चौथाई योरप पर अपना साम्राज्य कायम कर रखा था, उसको एशियाई जातियों ने योरप के देशों से मिटाने में सफलता पायी थी। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक देश का इतिहास, उसके विनाश और विकास की घटनाओं से परिपूर्ण होता है। ये घटनायें और कथायें इस बात का प्रमाण देती हैं कि संसार का कोई भी देश, बाहरी हुकूमत में अपनी योग्यता और प्रतिभा की रक्षा नहीं कर सका। उसकी पराधीनता ने जिस रसातल में उसे पहुँचाया है, उसमें उस देश की शिक्षा, सभ्यता, व्यवस्था और उसके जीवन का सर्वस्व क्षय हो गया है। यही अवस्था प्राचीन काल में ग्रीस के निवासियों की हुई थी। रोम-साम्राज्य के सामने उन्हें पराजित होना पड़ा था। उनकी स्वतन्त्रता नष्ट हुई थी और उन्हें पराधीनता का जीवन बिताना पड़ा था। फल यह हुआ था कि परतन्त्रता में आने के बाद ग्रीस का पतन आरम्भ हुआ था। उसके विकास के द्वार बन्द

हो गये थे। वहाँ के स्त्री पुरुषों के चरित्र की निर्मलता मिटने लगी थी। जीवन के ऊँचे आदर्श स्वार्थ और आपस की कलह के रूप मे बदलने लगे थे। परिणाम स्वरूप, बौद्धिक प्रतिभा तथा, दूसरी शक्तियाँ नष्ट हुई। सम्पूर्ण देश अवनति के पथ का पथिक बन गया।

यही अवस्था आस्ट्रिया से पराजित होने पर इटली की हुई थी। चौदहवीं शताब्दी मे स्काट लैण्ड पर इङ्गलैण्ड की हुकूमत विदेशी शासन के परिणाम का जो परिचय देती है, उसी का आभास पन्द्रहवीं शताब्दी में फ्राँस की उस परतन्त्रता से मिलता है, जब वहाँ इङ्गलैण्ड की हुकुमत शासन करती थी।

आज का भारतीय जीवन भारतीय जीवन नहीं है। पूर्ण रूप से राजनीतिक परतन्त्रता में मिले हुए जीवन का यह स्पष्ट रूप है। इसी-लिए देश के निवासी अपनी उदारता को खोकर अनुदार हो गये हैं, विश्वास को मिटाकर अविश्वासी बन गये हैं। देश में सदाचार मिट गया है और दुराचार फल-फूल रहा है। धर्म के ऊँचे विचार खो गये हैं और उनके स्थानों पर झूठे, गलत और दकियानूसी विश्वासों ने कब्जा कर रखा है।

देश की राजनीतिक पराधीनता में यह सर्वनाश हुआ। लगभग एक हजार वर्ष देश की जिन्दगी गुलामी मे बीती है। दो सौ वर्षों की अंगरेजी पराधीनता, हमारे लिये भयानक विषैली हो गयी। उसकी कठोर जञ्जीरों को तोड़ने के लिए देश को साठ वर्षों तक भीषण संकटों का सामना करना पड़ा है। त्याग और बलिदान के वे विवरण भी इस पुस्तक में दिये गये हैं। हमारा विश्वास नही है कि अपनी स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिए देश को अपना रक्त नहीं बहाना पड़ा। स्वतन्त्रता की कीमत अदा करने के लिए कुर्बानी की जरूरत होती है, देश को इच्छा पूर्वक अथवा अनिच्छा पूर्वक उसकी अदायगी करनी पड़ी है। उसके बाद देश में स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा हुई है।

आज हम इस बात के पूर्ण अधिकारी हैं कि हम अपने सही इतिहास की खोज करें और गम्भीरता के साथ उसका अध्ययन करें। अपनी इस एतिहासिक पुस्तक को पढ़कर हम इस बात के समझने की कोशिश करेंगे कि वे कौन से कारण थे, जिनसे प्रेरणा पाकर भारतीय सैनिक आक्रमण द्वारा विदेशी शत्रुओं का साथ देते रहे।

अपने देश की अपेक्षा हिन्दुस्तान के आदमी विदेशियों के लिए अधिक फरमाबरदार साबित हुए। भारतीय नरेश और नवाब विदेशी शासकों की कठपुतली बनकर नाचते रहे! हमारे जीवन की ये परिस्थितियाँ कम आश्चर्य जनक नहीं हैं। इतिहास के इन पन्नों को पढ़कर हम विदेशी हुकूमत को जितना भी कोसें, उससे भी अधिक जरूरी यह है कि भारतीय जीवन में छिपे हुए रोगोत्पादक कीटाणुओं को निमूल करने की हम चेष्टा करें। इसके साथ-साथ हम अंगरेजों की मक्कारियों का भी अध्ययन करें। हम इस बात को समझने की कोशिश करें कि अंगरेज व्यापारियों ने किस रहस्य के साथ हमारे देश में पदार्पण किया और उन्होंने अपने रहने के लिए स्थान बनाया। यहाँ के व्यापार को अपने हाथों में लिया। राजाओं और नवाबों से सन्धियाँ की और किस बर्बरता के साथ उन्होंने सन्धियों को बार-बार तोड़-तोड़ कर भारतीय जीवन का विध्वंस किया! इतिहास के इन पन्नों को पढ़कर हमें समझना है कि किस प्रकार हमारे ही आदमियों ने हमारे साथ विश्वासघात किया! हमें यह भी समझना है कि हमारे राजा और नवाब किस प्रकार अंगरेजों के विश्वासे में फँसे और अपने दरबारों में किस प्रकार अनेक रेजिडेण्टों को रखना मन्जूर किया! उन्हीं रेजिडेण्टों ने किस प्रकार हमारे राज-दरबारों मे फूट पैदा की—रिश्वत देकर किस प्रकार लोगों को अपने कब्जे में किया और किस तरीके से छिप-छिपकर साजिशें की; हत्यायें करायीं और समूचे देश मे अपनी साजिशों का जाल फैला दिया। इतिहास के इन पन्नों को पढ़कर हमें इन सभी बातों का अध्ययन करना है और इसलिए अध्ययन करना है कि जिससे हम भविष्य में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें।

—केशव कुमार ठाकुर

विषय-सूची

—:: ० ::—

प्रथम भाग

पहला, दूसरा और तीसरा परिच्छेद

अंगरेजी राज्य के पहले का भारत १७; कम्पनी की काली करतूत २६; योरप की जातियों का व्यावसायिक सम्पर्क—प्राचीन भारत ३२; विदेशियों के आकर्षण का कारण ३२; कोलम्बस का प्रयत्न ३३; भारत में पुर्तगाली ३३; पुर्तगालियों के अत्याचार ३४; डच लोगों का आगमन ३५; अंगरेजों का आगमन ३५; जहांगीर की उदारता ३६; शाहजहाँ और अंगरेज व्यापारी ३६; औरङ्गजेब की उदारता ३८; फ्रांसीसियों का आगमन ३९; दो विदेशी शक्तियां ४०; भारतीय राजाओं की अवस्था ४०

चौथा और पाँचवाँ परिच्छेद

सिराजुद्दौला—औरङ्गजेब की मृत्यु ४३; मुगल कालीन भारत ४४; अलीवर्दी खां की सावधानी ४४; सिराजुद्दौला का आक्रमण ४६; कलकत्ते की कालकोठरी ४७; बंगाल से भागे हुए अंगरेज ४८; राजा मानिकचन्द का विश्वासघात ४९; संधि की बातचीत ५०; सिराजुद्दौला की राजनीतिक भूल ५४; क्लाइव का चक्र ५४; अंगरेजों की शतरञ्जी चालें ५६; मीरजाफर के साथ सुलहनामा ५७; प्लासी का युद्ध ५८; नवाब की गद्दी पर मीरजाफर ५९; विश्वासघात का फल ५९; सिराजुद्दौला का अन्त ६०; मीरजाफर और उसका शासन—नये नवाब की नीति ६१; हिन्दू राजाओं पर आक्रमण ६१; रामनारायण के साथ नया समझौता ६२; मीरजाफर और क्लाइव ६३; अंगरेजों की दोमुखी नीति ६४; मीरन की हत्या का रहस्य ६५; मीरजाफर के साथ बगावत ६६; मीरजाफर पर आक्रमण ६७; मीरजाफर का पतन ६७

छठवाँ और सातवाँ परिच्छेद

मीरकासिम का शासन—अंगरेजों की मनमानी ६६; मीरकासिम की घबराहट ७०; राजा नन्दकुमार ७२; पानीपत की तीसरी लड़ाई ७२; सदाशिव राव भाऊ की भूल ७३; शाह आलम के साथ अंगरेजों की सन्धि ७४; रामनारायण की गिरफ्तारी ७५; मीरकासिम के विरुद्ध अंगरेजी दाँव-पेंच ७६; पटना पर आक्रमण ७६; मीरकासिम की फटकार ७६; मीरकासिम की हार ८०; मीरकासिम के साथ विश्वासघात ८१; मीरजाफर का फिर शासन—अंगरेजों के साथ नयी सन्धि ८३; बंगाल की तबाही ८४; राजनीतिक परिस्थिति ८४; फूट और विश्वासघात ८६; शुजाउद्दौला की हार ८७; चुनार में अंगरेजों की हार ८७; इलाहाबाद में अंगरेजी कब्जा ८८; शुजाउद्दौला के साथ सन्धि ८८; मीरजाफर की मृत्यु ८८

आठवाँ और नवाँ परिच्छेद

नजमुद्दौला और नन्दकुमार—बङ्गाल की सूबेदारी ६०; कैदी के रूप में नन्दकुमार ६१; भारत में क्लाइव का फिर आगमन ६१; दीवानी के अधिकार ६२; नजमुद्दौला की मृत्यु ६२; बङ्गाल में लूट ६३; क्लाइव का अन्त ६४; वारन हेस्टिंग्स—कम्पनी की अदालतें ६५; रुहेलखण्ड पर आक्रमण ६७; नन्दकुमार को प्राण दण्ड ६८; रियासत बनारस पर चढ़ाई ६६; अवध की बरबादी १००; हेस्टिंग्स की लूट का धन १०१; गोरखपुर में तबाही १०२

दसवाँ परिच्छेद

प्रथम मराठा युद्ध—भारत में मराठों का शासन १०३; मराठा साम्राज्य का पतन १०४; मराठों के पतन का सूत्रपात १०१; नाना फड़नवीस १०६; माधवराव पेशवा की मृत्यु १०६; अंगरेजों की पराजय १०७; गायकवाड़ के साथ सन्धि १०७; हेस्टिंग्स की दूसरी करवट १०८; युद्ध की तैयारी १०६; मराठों के साथ युद्ध का श्रीगणेश १११; अंगरेजों की पराजय ११३; अंगरेजों का सहारा ११४; सींधिया के साथ विश्वासघात ११५; नाना के संगठन की सूझ ११५; अंगरेजों की तीसरी पराजय ११६; निजाम और हैदरअली के साथ ११७; पेशवा के साथ सन्धि की कोशिश ११८

ग्यारहवाँ परिच्छेद

हैदरअली—जन्म और जीवन का क्रम ११६; अंगरेजों के साथ प्रथम

युद्ध १२०; अंगरेजों की पराजय १२२; मद्रास के अंगरेजों पर आक्रमण १२२; निजाम का विश्वासघात १२३; अँगरेजी कूटनीति और असफलता १२३; हैदरअली और नाना में सन्धि १२६; करनाटक पर चढ़ाई १२६; अरकाट पर कब्जा १२७; हैदरअली की मृत्यु १२८

बारहवाँ परिच्छेद

सर जान मैक्फरसन—नैतिक कमजोरी का परिणाम १२६; रुपये के लिए मैक्फरसन की चाल १३०; मैक्फरसन की बिदाई १३१

तेरहवाँ परिच्छेद

लार्ड कार्नवालिस—गवर्नर जनरल के पूर्ण अधिकार १३२; टीपू सुलतान १३२; टीपू और मराठों में मित्रता १३३; टीपू के साथ युद्ध की तैयारी १३४; अँगरेजों की पराजय १३४; मैसूर पर आक्रमण १३४; मैसूर पर दूसरा आक्रमण १३४; मैसूर के दूसरे युद्ध का अन्त १३६; मुगल साम्राज्य का सम्बन्ध १३६; नवाब अवध और निजाम १३७; भारत में अँगरेजी अदालतें १३७; वकालत का पेशा १३८; बङ्गाल का नया कानून १३८; कार्नवालिस की बिदा १३८

चौदहवाँ परिच्छेद

सर जान शोर—देशी राज्यों के नाटकीय दृश्य १४०; मुगल सम्राट १४१; आपस में संघर्ष १४१; पूना दरबार में अंगरेजी चालें १४३; पूना का अन्तिम पेशवा १४३; निजाम की छीछालेदर १४४; नवाब करनाटक के अन्तिम दिन १४५; रुहेलखण्ड पर अधिकार १४६; नवाब अवध पर प्रहार १४६; भारत में डच इलाके १४७

पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ परिच्छेद

मार्क्विस वेल्सली—शासन की नीति और उद्देश्य १४८; वेल्सली के पत्रों का रुख १४६; निजाम के साथ सबसीडियरी सन्धि १५०; टीपू के साथ दूसरा युद्ध—झूठे दोषारोपण १५२; टीपू के साथ युद्ध का श्रीगणेश १५४; युद्ध और विश्वासघात १५५; अंगरेजी हमलों की आँधी १५५; टीपू की आखिरी लड़ाई १५७; टीपू की कब्र १५८; राजधानी के निवासियों को धोखा १५६; टीपू की मृत्यु के बाद १५६; नाबालिग महाराज के साथ सन्धि १६०; भारतीय अँगरेजों में खुशियाँ १६०

सत्रहवाँ और अठारहवाँ परिच्छेद

अवध और फरुखाबाद पर कब्जा—भारत का खुशहाल सूबा १६१; रेजीडेण्ट के काम १६२; नवाब सआदतअली की सन्धि १६२; सन्धि का खात्मा १६२; अवध पर अधिकार १६४; फरुखाबाद का अन्त १६५; तञ्जोर राज्य पर कब्जा—अंगरेजों के व्यवहार १६७; अँगरेजों की दगा १६७; तञ्जोर के विरुद्ध षड़यन्त्र १६६

उन्नीसवाँ और बीसवाँ परिच्छेद

करनाटक का अन्त—अंगरेजी कूटनीति का प्रहार १७१; नवाब के नाम वेल्सली का पत्र १७२; वेल्सली के पत्र का उत्तर १७२; नवाब पर दोषारोपण १७३; करनाटक की नवाबी का अन्त १७५; सूरत की रियासत का अन्त—नवाब के साथ अंगरेजों का व्यवहार १७७; कम्पनी की नयी सन्धि १७८; सूरत पर अंगरेजों का अधिकार १७६

इक्कीसवाँ परिच्छेद

मराठा राज्य और पेशवा दरबार—अंगरेजों की दूरन्देशी १८०; दौलतराव के साथ चालें १८०; दौलतराव पर हमला करने की तैयारी १८२; सींधिया के साथ साजिश १८३; वेल्सली की कामयाबी १८३; पेशवा के साथ पेशबन्दी १८४; पेशवा दरबार के साथ मित्रता की कोशिश १८५; वेल्सली की नीति में परिवर्तन १८५; नाना फड़नवीस की मृत्यु १८७; बाजीराव पेशवा पर दबाव १८७; दौलतराव का विरोध १८६; दौलतराव पर आक्रमण १६०; पूना में विद्रोह और युद्ध १६०; पूना से बाजीराव का भागना १६१

बाईसवाँ और तेईसवाँ परिच्छेद

पेशवा के पद पर फिर बाजीराव—अंगरेजों का उद्देश्य १६२; पूना के आस-पास अंगरेजी सेना १६३; द्वितीय मराठा युद्ध की तैयारियाँ—बसईं सन्धि का प्रभाव १६५; मराठों की शक्तियाँ १६५; सींधिया और भोंसले पर निशाना १६६; जनरल लेक के नाम गुप्त पत्र १६७; मराठा राजाओं की एकता १६८; पूना में सींधिया और भोंसले १६६; वेल्सली के धमकी के पत्र २००; सींधिया और भोंसले को चकमा २०२; अंगरेजों की गुप्त तैयारियाँ २०२; युद्ध की घोषणा २०३

चौबीसवाँ और पच्चीसवाँ परिच्छेद

कूटनीति, षड्यन्त्र और फूट—कम्पनी की कामयाबी के उपाय २०५; सींधिया और होलकर में फूट की कोशिश २०५; होलकर के साथ विश्वासघात २०७; सींधिया के राज्य में षड्यन्त्र २०८; सींधिया के विरुद्ध शाह आलम २०८; कूटनीति के हिदायती पत्र २१०; अंगरेजों की सहायता में सिख २११; सींधिया की सेना में विदेशी अफसर २११; सींधिया और भोंसले के साथ युद्ध-अंगरेजी फौजों के आक्रमण २१३; अहमद नगर पर कब्जा २१४; असाई में घमासान युद्ध २१५; सन्धि की चेष्टा २१६; बरहानपुर और असीरगढ़ पर कब्जा २१७; सन्धि का षड्यन्त्र २१८; अरगाँव पर कब्जा २१९; गुजरात पर आक्रमण २२०; उड़ीसा प्रान्त की रियासतें २२१; बुन्देलखण्ड पर अधिकार २२१; दूसरे इलाके और राज्य २२२; दिल्ली पर आधिपत्य २२३; ग्वालियर पर हमले की तैयारी २२४; सींधिया और भोंसले के साथ सन्धि २२४

छब्बीसवाँ परिच्छेद

होलकर के साथ युद्ध—अंगरेजों की मित्रता का असली रूप २२५; वेल्सली का बदला हुआ रुख २२६; होलकर की माँग का जवाब २२७; सींधिया के साथ खुली जबरदस्ती २२९; सींधिया के साथ छल २३०; होलकर के साथ युद्ध का प्रारम्भ २३१; बुन्देलखण्ड में अँगरेजों की पराजय २३२; अँगरेजों के तूफानी हमले २३२; अँगरेजों की पराजय २३३; बापू जी सींधिया का अन्त २३५; अँगरेजों की पराजित सेना २३५; होलकर की सेना पर आक्रमण २३५; भरतपुर के राजा की खुशामद २३७; युद्ध के लिए अँगरेजों की विशाल योजना २३८; मथुरा में होलकर का अधिकार २३८; इन्दौर पर अंगरेजों का कब्जा २३८

सत्ताइसवाँ और अट्ठाइसवाँ परिच्छेद

भरतपुर में अँगरेजों की चढ़ाई—जसवन्तराव पर हमला २४०; डीग पर अँगरेजों का अधिकार २४१; भरतपुर में युद्ध २४२; द्वितीय मराठा युद्ध का अन्त—भरतपुर से वेल्सली की रवानगी २४४; लार्ड कार्नवालिस का फिर आगमन २४६; सर जार्ज बारलो २४६; सींधिया के साथ नयी सन्धि २४७; सन्धि से होलकर की अस्वीकृति २४७; अँगरेजों की राजनीति में परिवर्तन २४८; वेलोर में विद्रोह २४९

उनतीसवाँ और तीसवाँ परिच्छेद

प्रथम लार्ड मिण्टो का शासन—अँगरेज और अँगरेजी राज्य २५१ जसवन्तराव की मृत्यु २५३; मराठों की आपस में फूट २५३; बरार पर अमीरखाँ का आक्रमण २५४; भारतीय व्यवसाय का अन्त—देश की व्यापारिक स्थिति २५७; अँगरेजों की आलोचनायें २५९; देश के व्यापार में कम्पनी की नीति २६२; देशी और अँगरेजी बना हुआ माल २६२; भारतीय माल औरउस पर महसूल २६४; कपड़े के व्यवसाय के अन्तिम दिन २६५; भारतीय जहाज और दूसरे उद्योग २६५

इकतीसवाँ परिच्छेद

नैपाल के साथ अँगरेजों का युद्ध—नैपाल का राज्य २६९; युद्ध का कारण २६९; युद्ध का आरम्भिक रूप २७०; युद्ध की तैयारियाँ २७१; नैपाल में युद्ध और मारकाट २७२; पहाड़ी के दुर्ग पर अधिकार २७३; नैपाल के दूसरे किलों पर मोरचे २७४; अमरसिंह की बहादुरी २७६; कुमाऊँ और गढ़वाल पर अँगरेजों का कब्जा २७७; नैपाल और कम्पनी में सन्धि २७८

बत्तीसवाँ परिच्छेद

मराठों के साथ तीसरा युद्ध—छोटी रियासतें २८१; पिण्डारियों पर आक्रमण २८३; तीसरे मराठा युद्ध में अँगरेजों की तैयारी २८४; सींधिया की सन्धि की अवहेलना २८५; बाजीराव पेशवा की हकीकत २८६; बड़ोदा और पूना-दरबार २८८; त्रयम्बक जी के विरुद्ध षडयन्त्र २९०; पेशवा पर आक्रमण २९१; त्रयम्बक जी के अन्तिम दिन २९२; पेशवा पर अपराध २९३; पेशवा की सन्धि २९३; पेशवा-राज्य के अन्तिम दिन २९४; भोंसला राज्य का पतन २९५; युद्ध और सन्धि २९७; अँगरजों की भयँकर दगाबाजी ३००; अप्पा साहब की असहाय अवस्था ३०१; भोंसले राज्य का विभाजन ३०२; होलकर राज्य पर आक्रमण ३०२

तेंतीसवाँ और चौंतीसवाँ परिच्छेद

बरमा-युद्ध और भारतपुर का पतन युद्ध के पहले बरमा ३०५; बरमा के साथ युद्ध का कारण ३०६; बरमा के साथ युद्ध ३०६; बैरकपुर में सैनिक घटना ३०७; भरतपुर राज्य का पतन ३०९; बरमा के साथ सन्धि ३१०; अर्द्धजीवित रियासतों का अन्त—रियासत कुर्ग ३११; रियासत कच्छाड़ ३१२;

रियासत मैसूर का कायापलट ३१२; जयपुर और जोधपुर ३१३; रियासत ग्वालियर ३१४; झाँसी की रियासत ३१४

पैंतीसवां और छत्तीसवां परिच्छेद

अफगानों के साथ पहला युद्ध—अंगरेजों का उद्देश्य ३१६; अफगानिस्तान पर आक्रमण ३१७; शाहशुजा बर्न्स और मैकनाटन ३१९; युद्ध का परिणाम ३२१; सिंध पर आक्रमण और अधिकार—अँगरेज और सिन्ध के अमीर ३२२; सन्धियों का मूल्य ३२३; अँगरेजी सेना का आक्रमण ३२५; दोनों ओर से घमासान युद्ध ३२६; शर्तों में छिपी हुई दया ३२७; सिंध का अन्त ३२९

सैंतीसवां और अड़तीसवां परिच्छेद

बची हुई रियासतें—ग्वालियर ३३०; अंगरेजों का जाल ३३१; ग्वालियर पर आक्रमण ३३३; राज्य पर अधिकार ३३३; रियासत कैथल ३३४; पंजाब का राज्य ३३४; निजाम, जेतपुर और दिल्ली सम्राट ३३५; सिखों के साथ पहला युद्ध—युद्ध के पूर्व ३३७; देशद्रोहियों की खोज ३३८; रणजीतसिंह की अदूर दर्शिता ३४०; युद्ध का श्री गणेश ३४०; युद्ध का अन्त ३४२

उनतालीसवां और चालीसवां परिच्छेद

सिखों के साथ दूसरा युद्ध—मुलतान पर आक्रमण ३४४; मुलतान का युद्ध ३४५, महारानी झिन्दा की गिरफ्तारी ३४७; मुसलमानों को उभारा गया ३४८; सिखों के साथ युद्ध का आरम्भ ३५०; बरमा पर दूसरा आक्रमण—जबरदस्त की लाठी ३५१; युद्ध या गुण्डापन ३५५; बरमी लोगों का सर्वनाश ३५६; आक्रमण का अन्त ३५६

इकतालीसवां और बयालीसवां परिच्छेद

अंगरेजों की अपहरण नीति—बिना युद्ध के कब्जा करने का नया अस्त्र ३५७; रियासत सतारा ३५८; नागपुर का अन्त ३५९; झाँसी की पराधीनता ३६०; सम्बल पुर का खात्मा ३६०; जेतपुर और तन्जोर के अन्तिम दिन ३६१; करनाटक का विनाश ३६२; बरार पर कब्जा ३६२; अवध का विध्वन्स ३६४; सन् १८५७ की महान क्रान्ति—स्वाधीनता का पहला युद्ध ३६८; क्रान्ति के कारण ३६९; क्रान्ति की आग ३७०; सङ्गठन और रचनात्मक कार्य ३७१;

क्रान्ति का सूत्रपात ३७२; समय के पूर्व क्रान्ति ३७४; क्रान्ति का पहला युद्ध ३७६; क्रान्ति की बढ़ती हुई आग ३७६

तेंतालीसवां और चौवालीसवां परिच्छेद

क्रान्ति और दमन का जोर—रक्तपात और अग्नि काण्ड ३८०; बनारस में अँगरेजी सेना ३८०: इलाहाबाद में अत्याचार ३८१; कानपुर का दृश्य ३८३: झाँसी में क्रान्ति ३८५: क्रान्ति की आग ३८६; दमन के प्रलयकारी दृश्य—विश्वासघात और देशद्रोह के भयानक चित्र ३८८; दमन का आरम्भ ३८६; देशद्रोही सिख नरेश ३६०: दिल्ली में अँगरेजी सेना के साथ युद्ध ३६१; ग्वालियर, इन्दौर और आगरा ३६२; कानपुर में अँगरेजी सेना के अत्याचार ३६३; दिल्ली में सर्वनाश ३६४; अहंकार, स्वाभिमान और ईर्षा-भाव ३६४: विश्वासघाती मिरजा इलाही बख्श ३६५; अँगरेजी सेना का आक्रमण ३६६: उजाड़ दिल्ली ३६८

पैंतालीसवां परिच्छेद

अवध और बिहार में क्रान्ति की लपटें—लखनऊ में विद्रोह का रूप ३६६; लखनऊ में अंगरेजों सेना का जोर ४०२; लखनऊ में क्रान्ति के अन्तिम दिन ४०२; बिहार में विप्लव ४०३; अंगरेजों की हार-पर-हार ४०५; कुँवरसिंह की मृत्यु ४०८; जगदीशपुर का अन्त ४०८; शाहजहाँपुर का युद्ध ४०६

छियालीसवां परिच्छेद

लक्ष्मी बाई और तात्या टोपे—झाँसी की क्रान्ति ४१०; कालपी का युद्ध ४१३; क्रान्तिकारी: सैनिक शक्ति: अगले युद्ध ४१३; युद्ध की गोद में लक्ष्मी बाई ४१५; कुछ अन्य स्थानों की क्रान्तियाँ ४१६; अवध में फिर विप्लव ४१७: विक्टोरिया की घोषणा ४१७: तात्या टोपे और अंगरेज ४१६

सैंतालीसवां और अड़तालीसवां परिच्छेद

विप्लव के असफल होने के कारण— अंगरेजों के साथ युद्ध ४२३; विप्लव का कारण ४२४; असफलता का कारण ४२५; सङ्गठन, नेतृत्व और अनुशासन ४२६; देशद्रोही नरेश ४२८; विप्लव सार्वजनिक न था ४३०; विप्लव का मूल्य और महत्व ४३१; अँगरेजी राज्य पर विप्लव का प्रभाव—कम्पनी के शासन का अन्त ४३३; सुधारों और परिवर्तनों की घोषणा ४३५; भारतीय पलटनों का नया निर्माण ४३७; फूट और शासन ४३७; राष्ट्रीय भावों का नाश ४३६

द्वितीय भाग

पहला और दूसरा परिच्छेद

विद्रोह के पहले और पीछे का जीवन--अँगरेजी शासन और नीति ४४३; अंगरेजी शिक्षा का प्रचार ४४४; भीषण लूट ४४६; अँगरेजी शासन और सहानुभूति ४४७; काँग्रेस का जन्म—काँग्रेस के जन्म दाता मि० ह्यूम की दूरदर्शिता ४४९; परिस्थितियों का अध्ययन ४५१; काँग्रेस की स्थापना ४५२; काँग्रेस का प्रारम्भिक जीवन ४५४; भेदभाव की नीति ४५८

तीसरा और चौथा परिच्छेद

बङ्ग-भङ्ग का आन्दोलन—अंगरेजी सरकार के आक्रमण ४५९; आन्दोलन और दमन ४६१; बङ्ग भङ्ग को रद्द करने की घोषणा ४६३; समाचार-पत्रों पर प्रहार ४६४; राजद्रोह के मुकदमें ४६५; खुदीराम बोस को फाँसी ४६७; साम्प्रदायिकता का विष—पृथकता की नीति ४६९; राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता ४७०; लार्ड मिण्टो की कूटनीति ४७१; साम्प्रदायिकता को मिटाने का प्रयत्न ४७३

पाँचवां और छठवां परिच्छेद

स्वतन्त्रता संघर्ष चाहती है—प्रवासी भारतवासी ४७६; महात्मा गाँधी और प्रवासी भारतवासी ४७७; दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह ४७७; शर्तबन्दी कुली-प्रथा का अन्त ४७८; शासन और न्याय ४७८; अँगरेजों द्वारा अंगरेजी हुकूमत की आलोचना—जान ब्राइट और मि० फासेट ४८१; मि० ह्यूम के कार्य ४८२; सर विलियम वेडरबर्न ४८५; मि० ब्रैडला ४८६; विलियम राबर्ट ग्लैडस्टन ४८७; नार्थ ब्रुक और ड्यूक साहब ४८८; लार्ड स्टैनले ४८९

सातवां और आठवां परिच्छेद

राष्ट्रीय संगठन और आन्दोलन—दो विरोधी धारायें ४९२; नेतृत्व का अभाव ४९२; काँग्रेस के असफल वर्ष की कहानी ४९४; देश में राष्ट्रीयता की लहर—माण्टेगु घोषणा ४९६; काँग्रेस और मुस्लिम लीग ४९७; सरकार दमन ४९८; माण्टेगु घोषणा ४९९; देश का वातावरण ५०१

नवां और दसवां परिच्छेद

रौलट बिल—देशव्यापी विरोध की चिनगारियाँ ५०३; माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-

६३८; पँजाब का विद्रोह ६४२; बम्बई का विद्रोह ६४४; बिहार का विद्रोह ६५०; भारत के शेष प्रान्तों के विद्रोह ६५७

चौबीसवां परिच्छेद

देश में क्रान्तिकारी प्रगति—अँगरेजी शासन से घृणा ६६०; राजनीतिक हत्यायें ६६३; क्रान्ति की प्रगति में बँगाल प्रान्त ६६६; षड्यन्त्र और हत्याकाण्ड ६६८; पञ्जाब में क्रान्तिकारी हलचल ६६९; गदर पार्टी ६७१; सँयुक्त प्रान्त में क्रान्ति ६७३; बिहार और उड़ीसा में क्रान्ति ६७६; विदेशों में भारतीय क्रान्ति का विस्तार ६७७; मद्रास-प्रान्त और क्रान्ति ६७९; कुछ दिनों के बाद क्रान्ति में फिर जागरण ६८०

तृतीय भाग

पहला और दूसरा परिच्छेद

ब्रिटिश शासन की देन—घोषणा और कार्य ६८५; अंगरेजों का प्रभाव-६८६; नैतिक घोषणायें ६८७; शासन और सहानुभूति ६९०; घोषणाओं का व्यावहारिक रूप ६९२; लोहे की जञ्जीरें ६९५; ब्रिटिश शासन का प्रभाव ६९६; आर्थिक शोषण ६९६; विदेशी शासन ६९७; लुटेरों का शासन ६९९; भीषण दरिद्रता ७००; अन्धेर नगरी ७०१; अव्यवस्था और अकाल ७०२; दरिद्रता का प्रकोप ७०५; आक्रमण और आघात ७०७; बङ्गाल का भीषण अकाल ७०७; जीवन शक्तिका ह्रास ७१०

तीसरा परिच्छेद

भारतीय व्यवसाय का अन्त ७१३; विदेशी माल की वृद्धि कैसे हुई ? ७१५; कम्पनी के अत्याचार ७१८; कारीगरों पर क्रूरता ७२०; नन्दकुमार की शत्रुता ७२१; बङ्गाली और अँगरेज ७२२; अँगरेज व्यापारियों की नियत, ७२३; देशी और विलायती माल ७२४; अँगरेज व्यपारियों के अत्याचार ७२७

चौथा परिच्छेद

निर्धन भारत पर व्यय का भार ७२९; भारत में अंगरेजों केवेतन ७३१; सरकार की वार्षिक आय ७३३; अन्याय पूर्ण व्यय के भार ७३४; नमक पर

महसूल ७३६; मादक पदार्थ और देश का धन ७३६; स्टैम्पस की बिक्री ७४१; विभिन्न प्रकार के कर ७४३; ब्रिटिश काल में भारत की शिक्षा ७४४; फौजी खर्च ७४७

पांचवां परिच्छेद

नैतिक पतन ७५०; सर्वनाश का मार्ग ७५१; मानसिक अवनति ७५२; अदालतों का अँगरेजी तरीका ७५४; आत्म सम्मान का विनाश ७५८; विदेशी आदर्शों का आक्रमण ७६५

छठवां परिच्छेद

पाकिस्तान—मुस्लिम लीग का जन्म ७६६; मि० बेक का विष ७७०; विद्रोह की आग ७७२; लीग के साथ समझौते की कोशिशें ७७४; विषमता का कारण ७७५; लीग की माँग और मि० जिन्ना ७७६; विभाजन का सूत्रपात ७७८; मुस्लिम प्रचार ७७६; लोक तन्त्र की आवश्यकता ७८१; हिन्दू मुस्लिम विद्रोह का कारण ७८१; लीग के प्रचार की प्रति क्रिया ७८३; मुस्लिम लीग की गर्जना ७८४; विभाजन के परिणाम की ओर ७८६

सातवां परिच्छेद

नेता जी का फौजी आक्रमण—बन्दी जीवन के अन्तिम दिन ७८६; बलिदान होने की अभिलाषा ७६०; सुभाष बाबू का देश के नाम अन्तिम सन्देश ७६०; अदृष्ट सुभाष बाबू ७६३; संघर्ष की प्रतिज्ञा ७६४; आजाद हिन्द सरकार ७६५; आक्रमण की तैयारियाँ ७६६; शत्रु सेनाओं के साथ युद्ध ७६७; अमर सुभाष ७६६

आंठवां परिच्छेद

अंगरेजी राज्य के अन्तिम दिन—भीषण तूफान और परिवर्तन ८०१; क्रिप्स मिशन की असफलता का परिणाम ८०२; जिन्ना के साथ समझौते का फिर राग ८०३; ब्रिटिश सरकार के लड़खड़ाते हुए पैर ८०४; ब्रिटिश सरकार की आखीरी आड़ ८०५; मध्य कालीन सरकार ८०६; विभाजन और विसर्जन ८०७; स्वतन्त्रता की घोषणा ८०६; पन्द्रह अगस्त ८१०

प्रथम भाग

कम्पनी : उसका व्यापार और राज्य

भारत में
अँग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष

पहला परिच्छेद

अँगरेजी राज्य के पहले का भारत

यह सत्य है कि भारत में यूरोपियन जातियों के प्रवेश होने के पहले अधिकांश रूप में यहाँ मुस्लिम शासन चल रहा था और इसकी कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। मुसलमानों के आने के पहले देश की दशा जितनी सम्पन्न थी, उसकी ओर यहाँ पर हमारा संकेत नहीं है। बाहरी आक्रमणों के समय किसी भी देश की जो परिस्थितियाँ पैदा होती हैं, दूसरी जातियों के हमला करने पर इस देश की भी वही अवस्था हुई। लगातार लड़ाइयाँ हुईं, सम्पन्न देश नष्ट-भ्रष्ट हुआ, युगों की शान्ति बहुत समय के लिए मिट गयी और देश के सामने अनेक प्रकार की विपदायें पैदा हो गयीं।

परन्तु आगे चल कर परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन शान्त वातावरण में इसलिए बदलने लगा कि आक्रमणकारी मुस्लिम जातियों के लोग यहाँ आकर बस गये और यहाँ के निवासियों के साथ मिलजुल कर रहने लगे। जो हिन्दू नरेश अभी तक बाकी थे, उनमें और मुस्लिम शासकों में यद्यपि कलह चल रही थी—एक, दूसरे के विरुद्ध हमले हो जाते थे और लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं, परन्तु देश का यह वातावरण भी धीरे-धीरे मिटता जा रहा था। उन दिनों में, आज की लड़ाइयों की तरह, जनता का विध्वंस न होता था और उसका मुख्य कारण यही था कि आने वाले

बाहरी लोग यहाँ के निवासी बन गये थे और लौट कर जाना नहीं चाहते थे।

उन दिनों में भारत की जो अवस्था थी, उसका सही विवरण आसानी से नहीं मिलता। उस समय के लिखे गये ग्रन्थ, दो प्रकार के सहज ही सामने आते हैं, ब्रिटिश सत्ता के समय जो इतिहास लिखे और लिखाये गये और दूसरी कुछ वे पुस्तकें जो अरबी और फारसी में लिखी गयीं। ब्रिटिश अधिकारियों के द्वारा भारत के उस समय के जो इतिहास लिखे गये, उनमें अधिकांश बातें राजनीतिक प्रचार के सिवा और कुछ न थी; किन्तु अरबी और फारसी में उस समय के जो भारतीय विवरण लिखे गये, उनका दृष्टिकोण भी ऐतिहासिक न था। वे केवल आक्रमणों के वृत्तान्त के रूप में ही लिखे गये।

इतना सब होने पर भी, अंग्रेजों के आने के पहले और मुस्लिम शासन-काल में भारत की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ क्या थीं, उनको उन विद्वान लेखकों के लिखे गये वक्तव्यों से सही-सही रूप में जाना जा सकता है, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से अपनी खोज और जानकारी से लिखने की कोशिश की है। उन दिनों में इस देश की जो साधारण अवस्था थी, वह भी ब्रिटिश शासन-काल की सुखमय परिस्थितियों से कहीं अधिक सन्तोषजनक थी।

प्रारम्भ में लगभग तीन सौ वर्षों तक उस समय का भारतीय जीवन युद्धमय रहा था। यह समय मुहम्मद गोरी के आक्रमण से आरम्भ होता है। इन दिनों में देश के भीतर छोटी-छोटी कितनी ही हुकूमतें हो गयी थीं। इसके बाद मुगल शासन का समय आता है। मुगलों के शासनकाल में ही मुसलमानों के हुकूमत की, जड़ मजबूत हुई। सन् १३९८ ईसवी में तैमूरलंग का भारत में हमला हुआ। यह हमला मुगलों का इस देश में सब से पहला था। मुहम्मद तुगलक उन दिनों दिल्ली में शासन कर रहा था। आक्रमण करने के बाद दूसरे सप्ताह के अन्त में तैमूरलंग भारत से वापस चला गया।

मुगलों की ओर से सन् १५२६ ईसवी में भारत में दूसरा आक्रमण हुआ। यह आक्रमण बाबर ने किया था। पानीपत के युद्ध में

बाबर और इब्राहीम लोदी का संग्राम हुआ। इब्राहीम की पराजय हुई। यहीं से भारत में मुगलों के राज्य का आरम्भ होता है।

ईसा की सातवीं शताब्दी के मध्यकाल से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत की राजनीतिक अवस्था बहुत शोचनीय रही। यह समय लगभग नौ सौ वर्षों का ऐसा माना जाता है, जिसमें कोई बड़ी राजनीतिक शक्ति इस देश में अपना प्रभुत्व कायम नहीं कर सकी। परिणाम यह हुआ था कि देश का शासन छोटी-छोटी रियासतों के रूप में बदल गया था। कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं थी, किसी पर किसी का आधिपत्य न था और न कोई किसी का शासन ही मानता था, देश के ये छोटे-छोटे शासक न तो संगठित होकर रह सके और न एक दूसरे का प्रभुत्व स्वीकार कर सके। वे सदा आपस में एक, दूसरे से लड़ते रहे और प्रत्येक एक दूसरे को मिटाने की कोशिश करता रहा। देश की इस अवस्था में अशान्ति और विद्रोह का बढ़ जाना स्वाभाविक होता है। ऐसे समय में शासन और सुव्यवस्था सम्भव नहीं हुआ करती। सोलहवीं शताब्दी में मुगल-साम्राज्य को शक्ति प्राप्त होती है और अठारहवीं शताब्दी तक भारत में मुगलों का शासन सफलता पूवक चलता है। मुगल-काल में भारत की परिस्थितियों में बहुत सुधार हुआ है। राजनीतिक व्यवस्था के सुन्दर और सुचारु होने के कारण, देश की आर्थिक अवस्था बहुत सन्तोषजनक बन गयी थी। व्यापार और व्यवसाय ने उन्नति की थी। जनता ने सुख के दिन बिताये थे और चारों ओर शान्ति फैली हुई थी।

मुस्लिम काल में मुगल शासन ने भारत में जिस शान्ति और शासन की सुव्यवस्था कायम की थी, उसकी प्रशंसा सभी निष्पक्ष इतिहासकार करते हैं। हमने संक्षेप में देश के उन दिनों की ऊपर आलोचना की है, जब यहाँ पर मुगल शासक शान्ति की व्यवस्था कर रहे थे। लेकिन हमारी आलोचना ही काफी नहीं है। यहाँ पर माननीय इतिहासकारों के उद्धरण अधिक मूल्यवान साबित होंगे।

यदुनाथ सरकार ने अपनी निष्पक्ष जानकारी का विवरण देते हुए लिखा है :—

"रियाया के साथ कभी किसी प्रकार की ज्यादती न की जाय,

इस प्रकार की कोशश मुगल-शासन काल में अधिकारियों की ओर से सदा रही है। इसका प्रमाण उस समय के इतिहासों और पत्रों से मिलता है। इस प्रकार की कामना मुगल शासकों की ओर से केवल शब्दों के रूप में ही न थी; वरन् उस समय की वास्तविक दशा इसी प्रकार की थी। इतिहास के पन्नों में ऐसी कितनी ही घटनायें आती हैं, जिनसे शाहजहाँ और औरंगजेब की ईमानदारी का पता चलता है। जब कोई कर्मचारी अथवा प्रान्तीय सूबेदार किसी प्रकार का अत्याचार करता था और उसकी शिकायत बादशाह के कानों तक पहुँचती थी तो तुरन्त ही उस कर्मचारी या सूबेदार को नौकरी से निकाल कर बाहर कर दिया जाता था।"

शाहजहाँ बादशाह अपनी रियाया के सन्तोष और असन्तोष का कितना ख्याल रखता था, इसके सम्बन्ध में कितनी ही बातों का पता उस समय के लेखों से चलता है। एक घटना तो इस प्रकार की है कि शाहजहाँ बादशाह किसी समय राज्य के कागजों की देख-भाल कर रहा था। उस समय उसने देखा कि एक गाँव की मालगुजारी, पिछले वर्षों की अपेक्षा सरकारी कागजों में अधिक जमा की गई है। उसने उस महकमे के बड़े हाकिम को बुलाया और इस रहस्य की बात पूंछी।

शाहजहाँ बादशाह को बताया गया कि उस गाँव की मालगुजारी अधिक जमा करने का कारण यह हुआ है कि उस गाँव के पास जो नदी है, उसके दूर हट जाने से बहुत-सी जमीन किसानों को मिल गयी और उनसे उसकी मालगुजारी वसूल की गयी। शाहजहाँ के पूछने पर कि यह नयी जमीन जो किसानों को मिली, वह साधारण जमीन से सम्बन्ध रखती है या उस जमीन से जो उनको माफी में मिली है। बादशाह को मालूम हुआ कि यह नयी मिलने वाली जमीन माफी की जमीन से सम्बन्ध रखती है। यह सुनकर और जानकर शाहजहाँ सोचने लगा। उसने समझा कि इस नयी जमीन की मालगुजारी वसूल करके किसानों के साथ बहुत अन्याय किया गया है। वह अपने असन्तोष को सहन न कर सका और बिगड़ कर उसने कहा :—

"वह जमीन जो किसानों को नदी के हट जाने से मिली है, खुदा

की उनको देन है। तुमने उसे राज्य के लिए ले लेने की हिम्मत की है। जिसने उस जमीन की मालगुजारी किसानों से वसूल की है, उसकी सजा मौत के सिवा और कुछ नहीं हो सकती। लेकिन खुदा के बन्दों के साथ मैं ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए उसको नौकरी से अलग कर देना ही मुनासिब है। यह नजीर दूसरे कर्मचारियों को ऐसा काम करने से सदा रोकेगी।" उसने उसी समय एक हुक्म लिखा कि जिन किसानों से जितना अधिक रुपया वसूल किया गया है, उनको वापस दिया जाय।

मुगल बादशाहों में जहाँगीर एक बादशाह हुआ है, उसके जमाने का इतिहास डाक्टर बेनीप्रसाद ने लिखा है। उसमें आपने बताया है कि मुगल बादशाहों के दरबारों में हिन्दू और मुसलमानों के त्योहारों में एक-सा व्यवहार किया जाता था। दशहरे के दिन बादशाह के हाथी और घोड़े खूब सजाकर जुलूस में निकाले जाते थे। रक्षा-बन्धन के त्योहार पर ब्राह्मण लोग सम्राट की कलाई में राखी बाँधने जाया करते थे। दीवाली की रात को जब हिन्दुओं के मकानों पर दीपक जलते थे तो शाही महल में रोशनी की जाती थी और जुआ भी होता था। शिवरात्रि के दिन शाही महलों में शिवरात्रि का त्योहार मनाया जाता था। इसी प्रकार मुसलमानों के त्योहारों पर भी बादशाह की ओर से उन सभी बातों को पूरा किया जाता था, जिनको मुसलमान लोग उत्साह के साथ मनाते थे।

इतिहासों से इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि मुगल-शासन काल में हिन्दू और मुसलमानों का भेद-भाव न रखा जाता था। हिन्दुओं को ऊंची सरकारी नौकरियाँ मिलती थीं और एक बड़ी संख्या में हिन्दू-मंदिरों को जागीरें मिली थीं। मुगल शासकों में औरंगजेब धार्मिक पक्षपात के लिए मशहूर था। उसके विचारों में जातीयता के भाव अत्यन्त संकीर्ण थे।

सामान्य रूप में, मुगल-शासन-काल शांति और सुव्यवस्था के लिए प्रसिद्ध है। इतिहास-लेखकों ने इस बात में लगभग एक-सी राय दी है और विदेशी यात्रियों ने भी इन बातों को स्वीकार किया है।

साधारण समाज के साथ सम्राट जहाँगीर की सहानुभूति प्रसिद्ध

है। राज्य की ओर से समय-समय पर ऐसे हुक्म निकला करते थे जिनसे कर्मचारियों को अपना कर्त्तव्य-पालन मे बहुत सचेत और सावधान रहना पड़ता था। जहाँगीर का हुक्म यह था कि हमारे राज्य में कोई किसान सताया न जाय और प्रजा पर किसी प्रकार का अत्याचार न हो। उसका साफ-साफ कहना था कि यदि किसान जमीन को नहीं छोड़ना चाहता तो उसको बेदखल न किया जाय। उस जमाने में राज्य का बहुत-सा धन सार्वजनिक कार्यों में खर्च होता था और राज्य में चारो ओर मुसाफिरखाने, मदरसे अस्पताल, दवाखाने, कुएं और तालाब बनवाये जाया करते थे। जहाँगीर के शासन-काल में मादक पदार्थों का सेवन रोकने के लिए बड़ी सख्तियों से काम लिया जाता था। देश में शिक्षा देने का काम तो पण्डित और मौलवी किया करते थे। उनको राज्य की ओर से जागीरें और माफी जमीनें मिला करती थीं।

भारत कृषि प्रधान देश तो था ही उद्योग-धन्धों में भी भारत का स्थान ऊंचा था। दूसरे देशों के प्रमुख बाजारों में मुगल-शासन-काल में भी भारत की बनी हुई अनेक व्यापारिक वस्तुएं बिकने के लिए जाया करती थी। उनमें कपड़ा प्रमुख था। यह तो आज भी लोग स्वीकार करते हैं कि सन् १९०० के प्रारम्भिक दिनों तक भारत में जो जहाज बनते थे वे अन्य देशों के जहाजों से अधिक मजबूत तथा उपयोगी होते थे। प्रसिद्ध यात्री काउण्टी ने तो यह भी स्वीकार किया है कि भारत में जितने बड़े जहाज बनते थे उतने बड़े और कहीं न बनते थे। अनेक अधिकारी लेखकों ने यह भी स्वीकार किया है कि मुगल-शासन-काल में चीन, जापान और दक्खिनी अफरीका तक जो जहाज चलते थे, उनमें अधिकांश भारत के ही बने होते थे। उस जमाने में बंगाल से लेकर सिंध तक व्यापारियों का रास्ता, जहाजों का रास्ता था। अमेरिका और इंगलैण्ड तक जो भारत का बना हुआ माल जाया करता था, वह भारतीय जहाजों के द्वारा ही जाया करता था।

सम्राट अकबर के जमाने में भारतीय व्यापार ने खासी उन्नति की थी। उन दिनों में रेशमी कपड़ों के व्यवसाय का काम बहुत बढ़ गया था। अकबर बादशाह ने स्वयं अपने राज्य में न जाने कितने ऐसे

कारखाने खुलवाये थे, जिनमें रेशमी कपड़ा बहुत बड़ी मात्रा में तैयार होता था।

मुगल-शासन-काल की अमन-चैन का एक सब से बड़ा प्रभाव यह था कि देश में पिछले समय की अपेक्षा, आबादी काफी बढ़ गयी थी। देश में बड़े-बड़े नगर, बड़ी उन्नति पर पहुँचे थे। उन दिनों में बम्बई, कलकत्ता और करांची का कोई स्थान न था। लेकिन कन्नौज, आगरा, इलाहाबाद; विजयनगर, गोलकुण्डा, मुलतान, लाहोर, बीजापुर, दिल्ली, पटना, अहमदाबाद, उज्जैन और अजमेर यहाँ के बड़े शहरों में माने जाते थे। दूसरे देशों के इतिहासकारों और यात्रियों के लेखों से मालूम होता है कि ईरान टर्की, श्याम, अरब, अबीसीनियाँ और अफ्रीका में भारत के बने हुए कपड़े—रेशमी और सूती खूब बिका करते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से जो अंगरेज पहले पहल भारत में आये थे, उन्होंने भारत के व्यावसायिक वातावरण का भली प्रकार निरीक्षण किया था और उन लोगों को अपने देश के निवासियों को विशेषकर, कम्पनी के अधिकारियों को सावधान करने के लिए लिखना पड़ा था कि भारतवर्ष में जो कपड़ा तैयार होता है, वह इंगलैण्ड के बने हुए कपड़े के मुकाबले में अधिक अच्छा, खूबसूरत और टिकाऊ होता है। इसलिए उसके मुकाबिले में, भारत में अंगरेजी कपड़े की खपत न हो सकेगी। इसी प्रकार की बातों का विवरण देते हुए पुर्तगाल के प्रसिद्ध यात्री पिरार्ड ने लिखा है :—

"सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भी भारत में वस्त्र-व्यवसाय इतना अधिक होता था जो अफ्रीका और चीन तक बहुत बड़ी मात्रा में फैला हुआ था। ये सभी कपड़े करघे द्वारा तैयार होते थे। बंगाल में घर-घर कपड़े बुने जाने के कारखाने थे।"

भारत में जो कपड़ा बनता था, उसे अरब के सौदागर खरीद कर ले जाते थे और मिश्र तथा योरप के देशों में बेचा करते थे। लंका, बर्मा, मलाया, चीन, जापान, फिलीपाइन आदि शहरों के बाजारों में भारतीय कपड़े का बहुत बड़ा व्यवसाय होता था। उस समय भी भारत में दूसरे

सभी व्यापारों ने इस विशाल देश को सम्पन्न और निहाल बना रखा था।

भारत की मुस्लिम हुकूमत में मुगल-शासन-काल अच्छा माना जाता है और मुगल सम्राटों मे अकबर का शासन अधिक प्रशंसा का अधिकारी है। जातीयता के संकुचित भावों को मिटाने, देश के उद्योग-धन्धों को बढ़ाने तथा सुसम्पन्न बनाने में अकबर बादशाह ने सब से अधिक काम किया था। अकबर के शासन की इस सुव्यवस्था को सभी इतिहासकार निष्पक्ष भाव से स्वीकार करते हैं।

देश के इस वातावरण में भी हिन्दू, मुसलमानों की धार्मिक संकीर्णता किसी-न-किसी रूप में काम कर रही थी, परन्तु उनका रूप कलुषित न था। यदि कबीर अपनी कविता के द्वारा उन दिनों जातीयता के संकुचित भावों को मिटाने का काम कर रहे थे तो तुलसीदास ने एकांगी जातीयता के धार्मिक भावों को लेकर, उन्हीं दिनों में तपश्चर्या की थी। यद्यपि दोनों ही—कबीर और तुलसीदास, स्वामी रामानन्द के शिष्य थे।

मुगल-शासन-काल में सब से खास बात यह थी कि जातीयता और धार्मिकता के भाव बहुत-कुछ दब गये थे। जो कुछ थे भी, उनमें केवल विश्वास और विचारों को ही महत्व दिया जाने लगा था। उनमें किसी प्रकार की ईर्षा और द्वेष की भावना न थी। यह देश की साधारण अवस्था थी। इसका श्रेय मुगल-शासकों को था।

इतना सब होने पर भी मनुष्य की निर्बल प्रवृत्तियाँ कभी-कभी उभर उठती हैं। सम्राट शाहजहाँ का बड़ा लड़का दाराशिकोह अपने पिता; पितामह की तरह सरल और शुद्ध विचारों का प्रवर्तक था। दाराशिकोह ने हिन्दू संत बाबालाल का शिष्यत्व स्वीकार किया था। दाराशिकोह ने शुद्ध विचारों को ही सदा महत्त्व दिया था, धार्मिक ईर्षा को नहीं।

औरंगजेब, दाराशिकोह का छोटा भाई था। दोनों के विचारों में बहुत अन्तर था। दाराशिकोह औरंगजेब के विचारों से सहमत न होते थे और औरंगजेब अपने बड़े भाई दाराशिकोह के विचारों को कानों से सुनना भी नहीं चाहता था, प्रारम्भ से ही दोनों की प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध थीं।

दाराशिकोह और औरंगजेब में विरोध उत्पन्न हुआ। औरंगजेब दाराशिकोह को गद्दी से उतारकर स्वयं सिंहासन पर बैठना चाहता था। मुल्ला और मौलवी औरंगजेब के सहायक बने। दाराशिकोह के पक्ष में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। परन्तु दाराशिकोह की एक भी न चली। न्याय और अधिकार उठाकर एक ओर रख दिये गये और एक संघर्ष के बाद औरंगजेब को राजसिंहासन प्राप्त हुआ। राज्य के अधिकारी होते ही औरंगजेब ने वही किया जो एक संकीर्ण धर्मावलम्बी को करना चाहिए। मुल्ला, मौलवी और इस्लाम के पक्षपाती मुसलमान उनके सहायक और सलाहकार बने। हिन्दुओं के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे उसकी वृद्धि होने लगी।

औरंगजेब के शासन-काल में हिन्दू-मुसलिम तनातनी बढ़ गयी थी। एक ओर औरंगजेब मुसलमानों का हिमायती हो रहा था तो दूसरी ओर मराठों और सिक्खों ने जातीय संकीर्णता को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया था। दोनों ओर से बगावत के झण्डे ऊंचे हो रहे थे। देश में मुस्लिम-प्रवृत्ति और हिन्दू-प्रवृत्ति पनप रही थी। इस प्रकार सम्पूर्ण देश दो भागों में बट गया।

मुगल-शासन-काल में जो अच्छाइयाँ हुई थीं, औरंगजेब ने उनके प्रति अवहेलना आरम्भ की। अकबर, शाहजहाँ और जहाँगीर ने देश को शान्ति और सम्पन्न बनाने में जो यश और सफलता प्राप्त की थी, उसका पौदा औरंगजेब के शासनकाल में सहानुभूति का जल न पाने के कारण सूखने और मुरझाने लगा।

यही समय मुगल-साम्राज्य का अन्तिम समय था। देश की इन कमजोरियों का लाभ योरप से आने वाले विदेशियों ने उठाया और अन्त में समय तथा संयोग पाकर अंग्रेजों ने इस देश में अपनी हुकूमत की जड़ डाली।

———

दूसरा परिच्छेद

कम्पनी की काली करतूत

यहाँ पर कम्पनी का अर्थ है उस ईस्ट इण्डिया कम्पनी से, जो लंदन में बनी थी और जिसका उद्देश्य था, भारत में व्यापार करने की व्यवस्था करना। साधारण तौर पर देश के अधिकांश संख्या में लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सम्बन्ध में इतना ही जानते हैं कि इस कम्पनी को बनाकर अंगरेज सौदागर भारत में व्यवसाय-करने के लिए आये थे। उन्होंने उस व्यवसाय के साथ-साथ यहाँ के शासन को हथियाना आरम्भ किया और उसी के द्वारा इस देश में अंग्रेजों का राज कायम हुआ।

साधारण समाज में लोगों को इस कम्पनी की इन साधारण बातों का ही ज्ञान है। इस कम्पनी के साथ किस प्रकार राजनीनिक चालें थीं और उनका किस प्रकार भारतीय लोगों के साथ उपयोग हुआ, इस रहस्य को जानने और समझने वालों की संख्या देश में कदाचित् बहुत कम है।

इस ईस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास बड़ा है। उसका जन्म, उसके जन्म का कारण और उद्देश्य एवम् अन्त में उसका व्यापार क्या था, इसके विवरण आगामी परिच्छेदों के पृष्ठों में दिये जायंगे। यहाँ पर इस कम्पनी के सम्बन्ध में केवल इतना ही प्रकाश डालना आवश्यक है कि जो लोग इसके नाम से परिचित हैं, वे यह भी जानें कि इसकी करतूतों-और कारनामों का रहस्य किस प्रकार फूटा और संसार के नेक तथा न्यायप्रिय विद्वानों ने क्या-क्या कहकर इसकी भर्त्सना की।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से जब अंगरेज सौदागर भारत में व्यापार करने के लिए आये थे उन दोनों में भारत की राजनीतिक

परिस्थिति बहुत शोचनीय हो रही थी। उन दिनों भारत की अवस्था ठीक उस युवती के रूप में हो रही थी, जिसका कोई संरक्षक नहीं होता। भारत की ठीक वही दशा थी। मुगल-साम्राज्य के दीपक का अन्त हो रहा था। औरंगजेब बादशाह के जमाने में देश का शासन छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गया था। हिन्दू और मुसलमान शासकों में ईर्षा और द्वेष की बाढ़ आ रही थी। वे एक, दूसरे के अस्तित्व को देखना नहीं चाहते थे। साधारण समाज की मनोवृत्ति भी सचेत और सावधान अवस्था में न थी।

भारत की इस दशा का ज्ञान संसार के दूसरे देशों को हुआ। कितने ही देशों के चतुर व्यवसायियों ने भारत की इस अवस्था से लाभ उठाना चाहा और अपने-अपने प्रलोभन लेकर योरप के कई देशों के व्यापारी भारत की ओर दौड़ पड़े। संसार की राजनीति में कोई किसी की दुर्दशा का सहायक नहीं हुआ करता। समय और संयोग पाकर जो जहाँ पर जितना लाभ उठा सके, वहाँ उतना ही बुद्धिमान और चतुर राजनीतिज्ञ समझा जाता है। यही इस संसार की राजनीति है।

भारत की अवस्था असहाय हो रही थी। हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धार्मिक स्वत्वों के लिए लड़ रहे थे—हिन्दू राजा और मुसलमान बादशाह, एक दूसरे के रक्त के प्यासे थे! दुर्भाग्य से मुस्लिम शासकों में भी आपस की सहानुभूति न थी और हिन्दू राजा भी परस्पर एक दूसरे की भलाई के इच्छुक न थे। उन सब में भीतर ही भीतर जो आग सुलग रही थी, उसका धुआँ योरप के देशों में रहने वाले लोगों की आँखों से छिपा न रह सका था। फिर इस देश की अवस्था सुरक्षित कैसे रहती! विदेशी हमारी दुर्बल परिस्थितियों और असहाय अवस्थाओं का लाभ क्यों न उठाते!!

भारत के उन दिनों का इतिहास कम आश्चर्यजनक नहीं है। कुछ अन्वेषक और सत्य प्रिय इतिहासकारों ने इस बात के समझने की कोशिश की है कि इतना विशाल देश, शक्तिशाली और सम्पन्न, थोड़े से विदेशी व्यापारियों के हाथों से कैसे छला गया और इतनी सरलता के साथ भारत का शासन विदेशियों के हाथों में कैसे आ गया! उन दिनों के हमारे इतिहास में यह एक समस्या है। इस पुस्तक में हम पहले भी

लिख चुके हैं और उसके यहाँ दोहराने में हमें कोई संकोच नहीं है कि विदेशियों के धूर्त व्यवहारों पर हमें आश्चर्य नहीं है, हमें आश्चर्य इस बात का है कि भारत की राजनीति में वह कौन-सा भोलापन था, जिसको सहज में ही फुसलाया जा सका और देश का सर्वस्व अपहरण करके देश को भिखारी बना दिया गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारियों के भारत में आने पर जिस चापलूसी और खुशामद से काम लेकर उन्होंने देश की दीन-दुर्बल अवस्था में न केवल अपना व्यापार मजबूत किया, वरन् हिकमत अमली के साथ धीरे-धीरे यहाँ का राजनीतिक प्रभुत्व भी उन्होंने अपने हाथों में लेना आरम्भ किया। उनका यह व्यापार सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में देश में स्थान पाता है। लगभग एक शताब्दी तक वे केवल व्यापार करते रहे, इस देश की राजनीतिक स्थितियों का अध्ययन करते रहे और अपने भविष्य के कार्यक्रम बनाते रहे। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। उस समय तक उन व्यापारियों ने देश में अच्छा स्थान बना लिया था। वे खुशामद करना जानते थे। राजनीति के पण्डित थे। देश के छोटे-छोटे शासकों में वे सभी से मिलते थे। वे सभी से लाभ उठाना चाहते थे और उठाते भी थे। देश के शासक उनको व्यापारी समझते थे। उनकी बातों पर विश्वास करते थे और उनके विश्वास दिलाने पर वे उनको अपना सहायक समझने लगे थे। परन्तु वे तो केवल व्यापारी थे और उनके व्यवहारों में केवल व्यापार था जो अन्त में शासन के रूप में देश के सामने आया।

हिन्दू राजाओं और मुस्लिम शासकों की चापलूसी और खुशामद करके, कम्पनी के उन दूकानदारों ने अपना व्यापार कायम किया। देश में बढ़ते हुए द्वेष का लाभ उठाकर उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनवायीं। ये कोठियाँ उनके भविष्य के कार्यक्रम का प्रारम्भिक रूप थीं। इस देश के शासकों में राजनीति और दूरदर्शिता का अभाव था। ये दोनों गुण जो कुछ थे, वे उदारता और सहायता से अधिक अनुप्राणित थे। देश का बल और पुरुषार्थ आपस के द्वेष की आग में जल रहा था।

ये व्यापारी जिस प्रकार की सुविधा चाहते थे, उसी प्रकार की

प्राप्त करते थे। भारत में उदारता की कमी न थी! उस पर भी देश में ईर्षा की आग धधक रही थी। इस दशा में बाहरी लोगों को जो अवसर मिलते हैं, वे भी स्वाभाविक होते हैं। विदेशियों की शक्ति बराबर बढ़ती गयी। इस देश के व्यापार से उन्होंने इतना अपार धन पैदा किया, जिससे वे अपनी सेनायें रखने लगे। इन सेनाओं से वे लोग भारत के शासकों में एक के विरुद्ध दूसरे की सहायता करने लगे और उसका लाभ उठाने लगे। आपस की कलह में तपने वाले भारत के छोटे-छोटे नरेश और शासक आपस में एक, दूसरे को नीचा दिखाने और पराजित करने के लिए, कम्पनी की सैन्निक शक्ति की सहायता लेने लगे। अपनी सहायता के मूल्य में कम्पनी को इस देश के शासकों से इलाके पर इलाके मिलने लगे। इस प्रकार कम्पनी की शक्तियाँ बढ़ती गयीं और देश के शासक कमजोर होते गये और अन्त में सम्पूर्ण देश में उन्होंने अपना राज स्थापित किया।

भारत के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जैसा व्यवहार रहा है, उसकी आलोचना करते हुए एक योरोपियन ने लिखा है—

"इस पर किसी प्रकार सन्देह नहीं किया जा सकता कि भारत के साथ प्रारम्भिक सम्पर्क में जो व्यवहार किया गया है, वह सत्य और सदाचार के नाम पर कंपकपी पैदा करने वाला है। उस व्यवहार की निन्दा प्रत्येक ईमानदार ईसाई करेगा।"

कम्पनी की इस प्रकार की आलोचनायें कम नहीं हुईं। जिन्हें न्याय पसन्द था और जो जीवन का कलंक नहीं चाहते थे, उन्होंने उसकी हरकतों की निन्दा की है। एक दूसरे अंगरेज ने जो उसकी मीमांसा की है, उसके शब्द इस प्रकार है :—

"ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल को जिस प्रकार हस्तगत किया है, उसमें झूठ बोलने और मक्कारी करने के सिवा और कुछ नहीं था।"

कम्पनी के दूषित व्यवहारों से सत्य और सिद्धान्त का जिस प्रकार हनन होता है, उसके आधार पर विलियम हाविट ने साफ-साफ लिखा है :—

"भारत में कब्जा करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जिस दूषित नीति से काम लेना पड़ा, ईसाई नीति के प्रतिकूल उससे अधिक

नीचता की कलपना नहीं की जा सकती।×××मक्कारी और शैतानी का सब से अधिक बुरा यदि कोई रास्ता हो सकता था, जिसमें अन्याय की सीमा को पार किया गया हो परन्तु न्याय का आवरण उसके ऊपर रखा गया हो और अमानुषिक व्यवहारों का लज्जाजनक प्रदर्शन किया गया हो तो उन तरीकों और उपायों से भारतवर्ष का शासन छीन कर ब्रिटिश राज्य में शामिल किया गया है।××× जब हम दूसरी जातियों के सामने अंगरेजों की न्यायप्रियता की प्रशंसा करते हैं तो भारत की ओर इशारा करके हमारा उपहास किया जाता है।×××करीब सौ वर्षों तक जिन तरीकों से हिन्दुस्तान के देशी राजाओं से उनकी रियासतें छीनी गयीं और छीनी गयीं न्याय तथा ईमानदारी का जामा पहनकर, उनसे अधिक जालिमाना तरीका राजनीतिक तथा धार्मिक—किसी भी क्षेत्र में देखने को न मिलेगा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के साथ जिस अमानुषिक नीति का प्रदर्शन किया है, उसकी आलोचना करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक स्पेन्सर ने लिखा है :—

"पिछली शताब्दी में अंजरेजों ने भारतीयों के साथ जो जुल्म किये हैं, वे जुल्म पेरू और मैक्सिको के रहने वालों के अत्याचारों की याद दिलाते हैं। सोचने की बात यह है कि उनके कारनामे कितने घृणापूर्ण रहे होंगे जब कि कम्पनी के डाइरेक्टरों तक ने स्वयं स्वीकार किया है कि भारत में व्यापार करके जो बड़ी से बड़ी सम्पत्ति पैदा की गयी उसमें उतना बड़ा अन्याय और जुल्म भरा हुआ है जितना बड़ा जुल्म संसार के इतिहास में कहीं सुनने और पढ़ने को न मिलेगा। भारतीय माल के खरीदने का भाव अंगरेज व्यापारी स्वयं तय करते थे और माल बेचने का भाव भी उन्हीं अंगरेजों के हाथों में था। भारतीय लोग उनको अपना माल बेचने और उन्हीं से खरीदने के लिए मजबूर थे। जो हिन्दुस्तानी बेचने या खरीदने से इनकार करते थे उनको जेल की सजा मिलती थी। अंगरेजों की खुली नीति यह थी कि हिन्दुस्तानियों के साथ दगाबाजी से काम लिया जाय और उनको आपस में लड़ा-लड़ाकर लाभ उठाया जाय। यही उन्होंने किया भी। उन्हें आपस में लड़ाया गया और एक की मदद करके उससे अनुचित तथा नाजायज लाभ उठाया गया।"

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नीच व्यवहारों को कोई भी ईमानदार आदमी अच्छा नहीं कह सकता। कम्पनी की नीचता पर प्रकाश डालते हुए डाक्टर रसेल ने लिखा है :—

"ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तान में जो शासन आरम्भ किया था, उसमें शुरुआत से ही अन्याय और अत्याचार से काम लिया गया था। कम्पनी के छोटे और बड़े—सभी लोगों ने लूटना, धन पैदा करना और मुल्क को बरबाद कर देना अपना काम समझ लिया था, उनके अन्यायों को रोकने के लिए कोई उपाय न था।"

भारत के साथ कम्पनी ने जिस प्रकार का सलूक किया, उसकी संसार के अनेक विद्वानों और निष्पक्ष महानुभावों ने आलोचना की है। इस प्रकार की आलोचनायें तो उन अंगरेजों की भी पढ़ने को मिलती हैं और मिली हैं जो अपने हृदयों में मनुष्यत्व रखते हैं। यह कम्पना व्यापार करने के लिए भारत में आयी थी और जिस चापलूसी के साथ उसने देश में पैर रखा था, वह राजनीति की लज्जापूर्ण चालों का नग्न रूप संसार के सामने उपस्थित करता है। इन विदेशियों के के साथ हिन्दुस्तानियों का एक ओर था विश्वास, सद्भाव, उदार व्यवहार और न्याय और इन सब के प्रति कम्पनी के अंगरेजों ने कलुषित नीति से काम लिया। उसमें था विश्वासघात, फूट पैदा करने की कुटिल चालें, कूटनीति से काम लेना, जासूसी करना, सन्धि करके अपने मौके पर तोड़ देना, षड़यन्त्र रचना और सीधे-सादे हिन्दुस्तानियो को चक्कर मे डालकर मूर्ख बना लेना, दोस्ती का रूप धारण करना और भयानक धोखा देना, नित एक नया जाल फैलाना और नयी-नयी चालों से हिन्दू-मुस्लिम देशी शासकों से नाजायज लाभ उठाना, आपस में लड़ाना, फिर मदद करना और बदले में लम्बी-लम्बी रकमों के साथ-साथ रियासतें लेना। उन अंगरेज व्यापारियों का यह रोज का व्यापार था। कम्पनी के इन्हीं काले कारनामों को विस्तार के साथ आगामी परिच्छेदों में लिखने का प्रयत्न किया जायगा।

———

तीसरा परिच्छेद

योरप की जातियों का व्यावसायिक सम्पर्क

प्राचीन भारत

प्राचीन भारत, आज का भारत न था। उसकी सम्पन्न अवस्था का अनुमान आज के भारत को देख कर नहीं लगाया जा सकता। संसार के दूसरे देशों की दृष्टि में वह अत्यन्त सम्पत्तिशाली था, जीवन के सभी वैभव उसे प्राप्त थे, शिक्षा और सभ्यता में भारत का अत्यन्त ऊंचा स्थान था और अनेक प्रकार के कला-कौशल में वह सर्वथा माननीय था।

ईसा के लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व महान अलेक्जण्डर के आक्रमणों और कुछ विदेशियों की यात्राओं के सिवा, पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक, व्यावहारिक रूप में भारत योरप के लोगों के सम्पर्क से अछूता था। उन दिनों में भारत ने व्यवसाय में बड़ी उन्नति की थी और दूसरे देशों के बाजारों में उसके व्यवसाय की सभी चीज़ें बिकने के लिए जाया करती थीं। बहुत दिनों तक योरप के देशों में अरब और ईरान के व्यवसायियों के द्वारा भारत का माल पहुँचा करता था। वे व्यवसायी यहाँ का माल पहले अपने देशों को ले जाते थे और उसके बाद सूखे मार्ग से योरप और अफ्रीका के देशों में जाकर उसे वे बेचा करते थे। उन दिनों में योरप के सब से बड़े बाजार वेनिस, जेनोआ के बन्दरगाह थे। वहाँ पंहुँचकर भारत का माल दूसरे स्थानों में बिका करता था। उन दिनों में भारत और योरप के बीच का समुद्री रास्ता किसी को मालूम न था।

विदेशियों के आकर्षण का कारण

भारत की सम्पन्न अवस्था दूसरे देशों से छिपी न थी। सभी जानते थे कि भारत में धन की अधिकता है, इसी जानकारी के आधार

पर कितनी ही विदेशी जातियों ने भारत पहुँचने और उससे आर्थिक लाभ उठाने की बातें सोच डालीं। लेकिन समुद्र का कोई रास्ता न होने के कारण किसी का साहस न हुआ।

कोलम्बस का प्रयत्न

भारत की सम्पन्न अवस्था से आकर्षित होकर योरप के लोगों मे अनेक बारे भावनायें पैदा हुईं कि जल का मार्ग कोई खोजा जाय। इसलिए कि स्थल-मार्ग से योरप और भारत का जो संबन्ध बनता था, उसमें अनेक असुविधायें थीं। इसलिए भारत से लाभ उठाने के लिए सबसे पहला प्रश्न समुद्री रास्ते का ढूंढ़ना था, जिससे आसानी और सुविधाओं के साथ आना-जाना हो सके और माल आ-जा सके। इस जल-मार्ग को खोजने के लिए स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, इंगलैण्ड और फ्राँस के लोगों ने अपनी-अपनी चेष्टायें शुरू कीं। और बहुत वर्षों तक कोशिश करने के बाद भी कोई कामयाबी न हो सकी।

इस समुद्री रास्ते के खोजने में जिन लोगों ने प्रयत्न किये उनमे कोलम्बस का नाम प्रसिद्ध है। कोलम्बस इटली का निवासी एक प्रसिद्ध नाविक था। उसने समुद्र के मार्ग से भारत पहुँचने का निश्चय किया। उसके इस निश्चय को सफल बनाने के लिए स्पन की सरकार ने सभी प्रकार की सहायता प्रदान की। जहाज से कोलम्बस रवान हुआ और भूलते-भटकते तथा जीवन के साथ खिलवाड़ करते हुए सभी प्रकार के खतरों को पार करने के बाद, उसका जहाज सन् १४९२ ईसवी में भारत पहुँचने के बजाय, अमेरिका के किनार पहुँचा। उस समय तक योरप के लोगों को अमेरिका का भी पता न था।

भारत में पुर्तगाली

ऊपर लिखा जा चुका है कि योरप की कई जातियों के लोग भारत के संबन्ध मे लालायित थे। लेकिन वास्को-दे-गामा नामक पुतगाल के एक नाविक को भारत पहुँचने में सबसे पहले सफलता मिली। उसक जहाज अफ्रीका के पास से होता हुआ और इधर-उधर के बहुत-से चक्कर काटता हुआ तारीख २२ मई १४९८ ईसवी को कालाकट के

पास पहुँचा। इस जहाज पर जो लोग गये थे, उनका आदर-सत्कार कालीकट के राजा की ओर से हुआ। इन पुर्तगालियों के प्रार्थना करने पर कालीकट के राजा ने उन्हें अपने यहाँ रोज़गार करने की आज्ञा दे दी।

पुर्तगालियों के अत्याचार

भारत के लोग चरित्रवान थे। किसी भी मनुष्य का आदर करना जानते थे। कालीकट में आकर पुर्तगालियों ने व्यापार किया। अपनी कोठियाँ बनायीं। किलेबंदी की और सन् १५०६ में उन लोगों ने गोआ शहर पर अपना अधिकार कर लिया। कालीकट के राजा अभी तक उनके छल को समझ न सके। आगे चल कर सन् १५१० में इन पुर्तगालियों ने अनेक उत्पात पैदा किये। राजा के रोकने पर भी उन लोगों ने लूट की और राजमहल को विध्वंस किया।

उस समय भारत की अवस्था असंगठित थी। चारों तरफ देश में छोटी-छोटी रियासतें थीं। उन रियासतों में भी परस्पर सहानुभूति न थी। लोगों के विचार धार्मिक थे। पुर्तगाल के लोगों ने इसका लाभ उठाया और अधिक से अधिक उन लोगों ने धन पैदा करके अपनी शक्तियाँ बढ़ा लीं।

पुर्तगालियों के और भी अत्याचार थे। वे केवल व्यापार ही न करते थे, मौका पाकर लूट लेना भी उनका काम था। भारत के स्त्री-पुरुषों को पकड़ लेना और उनसे अपने काम लेना, उनका साधारण काम था। लोगों जबरदस्ती ईसाई बना लेते थे। जो इनकार करते थे, उनके साथ अनाचार करते थे।

इन लोगों का व्यापार बढ़ रहा था। व्यापार के साथ लूट-मार करना भी उनका काम था। लोगों को गुलाम बनाना और उनको बेच डालना भी उनका काम था। उन दिनों में अर्थात् १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शाहजहाँ के हाथ में दिल्ली की हुकूमत थी और उसकी ओर से बंगाल में एक सूबेदार शासन करता था। बंगाल में पुर्तगालियों को उस सूबेदार ने, उनकी हरकतों के विरुद्ध रोका। लेकिन उन लोगों ने कुछ परवा न की। इस पर दिल्ली से पुर्तगालियों के अत्याचार को रोकने के लिए एक फौज आयी। उसने आते ही पुर्त-

गालियों की कोठियाँ गिरवा दीं। उनके जहाजों में आग लगवा दी। और एक बड़ी संख्या में उनको कैद करके आगरे भेज दिया।

डच लोगों का आगमन

डच लोग भारतवर्ष में उस समय आये जब पुर्तगालियों को लगभग एक सौ वर्ष बीत चुके थे और उनकी सत्ता का अंत हो रहा था। १६ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में डच लोगों ने आकर पुर्तगालियों पर आक्रमण किया और उनके अधिकृत स्थानों पर कब्जा कर लिया। पुर्तगालियों की हुकूमत केवल गोआ में बाकी रह गयी। उसके सिवा उनके अधिकारों में कुछ टापू भी बने रहे।

भारत में व्यापार करके पुर्तगालियों ने जो लाभ उठाया था, उन्हीं खबरों से डच लोग भारत में आये। इन्हें भी व्यापार करने और उसके लिए सुविधायें प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। भारत के भोले निवासियों से काम लेना कठिन न था। उन्होंने आते ही पुर्तगालियों की खूब बुराईयाँ कीं। फल यह हुआ कि मुगल बादशाह की मिहरबानी के वे हकदार बन बैठे।

डच लोगों ने भी अनेक स्थानों में अपनी कोठियाँ बनायीं और अपनी रक्षा के लिए किले भी तैयार किये। मद्रास के उत्तर और दक्खिन में कोठियाँ बनाने के बाद आगरे पहुँचकर एक कोठी बनायी और उस कोठी में शराब तैयार करने का कारखाना खोल दिया। उनकी दूसरी कोठियाँ अहमदाबाद, सूरत और पटने में भी बनी और बंगाल में उन्होंने अपना व्यापार बढ़ा लिया।

रोजगार से खूब धन कमाने के बाद डच लोगों को भारत में हुकूमत करने का भी ख्याल पैदा हुआ। इसके लिए वे नित नयी चालों से काम लेने लगे।

अङ्गरेजों का आगमन

इन्हीं दिनों में इंगलैण्ड के अङ्गरेजों को भारत की लूट की खबर मिली। वे भी भारत पहुँचे। यहाँ आते ही डच लोगों के साथ उनकी मुठभेड़ हुई। अङ्गरेज राजनीति में अधिक चतुर थे। उन्होंने बंगाल के नवाब को मिला लिया और डच लोगों को शिकस्त दी। सन् १८०५ में डच और अङ्गरेजों में आपसी निर्णय हुआ। उसके अनुसार अङ्ग-

रेजों ने डच लोगों को सुमात्रा का टापू देकर, भारत से उनका सम्पर्क तोड़ दिया।

भारत में अङ्गरेजों के आनेकी कहानी संक्षेप में इस प्रकार है :—

रानी एलीजाबेथ के शासन-काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नाम से एक कम्पनी बनी। यह कम्पनी उन लोगों की थी जो भारत के धन-वैभव की कहानियाँ सुनते थे और खुद भी भारत मे जाकर धन कमाने और लूटने के लिए उतावले हो रहे थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बनाने मे कुछ खास सिद्धान्तों से काम लिया गया था। कम्पनी के डायरेक्टरों ने इस बात को पहले से ही तय कर लिया था कि इस कम्पनी में उन्हीं आदमियों को जिम्मेदारी को पद पर लिया जायगा, जो अपनी कामयाबी के लिए सच और झूठ में, इमानदारी और बेईमानी में उचित और अनुचित में कुछ फरक नहीं समझते। इसी आधार पर इस कम्पनी मे उन्हीं लोगों को डाइरेक्टर बनाया गया था जो इस सिद्धान्त से ही काम लेना चाहते थे।

जहाँगीर की उदारता

अङ्गरेजों का पहला जहाज सन् १६०८ मे भारत आया। इस जहाज का कप्तान हाकिन्स समुद्री रास्ते से सबसे पहले यहाँ पहुँचा और वह इंगलैण्ड के सम्राट का एक पत्र मुगल बादशाह के नाम लाया था। वह पत्र उसने जहाँगीर बादशाह को दिया। मुगल दरबार में उस अङ्गरेज का स्वागत हुआ। मुगल बादशाह के हुक्म से अङ्गरेजों को भारत में व्यापार करने की आज्ञा मिल गयी और उनका एक एलची भी सर टामस रो सन् १६१५ में मुगल दरबार में आगया। उस एलची ने बादशाह की बड़ी-से-बड़ी खुशामद की और भारत में अङ्गरेजी व्यापार के लिए सुविधायें प्राप्त कीं।

शाहजहाँ और अङ्गरेज व्यापारी

जहाँगीर के बाद दिल्ली के तख्त पर शाहजहाँ बैठा। सन् १६४० में अङ्गरेजों की प्रार्थना पर कम्पनी को कलकत्ते में व्यापार करने की आज्ञा दे दी गयी थी। उसके पहले बंगाल में पुर्तगालियों को व्यापार करने का अधिकार मिला था। लेकिन उनके उत्पात और उपद्रव के

रेजों को गिरफ्तार करके आगरे भेज दिया गया था। उसके बाद बंगाल के व्यापार को अङ्गरेज अपने हाथों में लेना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने प्रार्थना की और उनकी वह प्रार्थना मन्जूर कर ली गयी। उस समय अङ्गरेजों को अपने माल पर चुंगी देनी पड़ती थी।

इस चुंगी के सम्बन्ध में आम तौर पर एक कहानी कही जाती है। वह यह कि उन्हीं दिनों में शाहजहाँ बादशाह की लड़की जहान-आरा बुरे तरीके से आग में जल गयी। दरबार के हकीमों और दवा करने वालों से जब वह लड़की अच्छी न हुई तो उसका इलाज करने के लिए कम्पनी के अङ्गरेजों में से गैबरील बागटन नामक डाक्टर आया। उसका इलाज होने लगा। उसकी दवा से जहानआरा अच्छी हो गयी। इस बात से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने उस डाक्टर से पूछा कि आपको इसके बदले में क्या इनाम दिया जाय ?

इस प्रश्न के उत्तर में उस देश-भक्त डाक्टर ने बादशाह से प्रर्थना की कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपने माल पर चुंगी, देनी पड़ती है, वह माफ कर दी जाय। बादशाह ने इसको मन्जूर कर लिया।

शाहजहाँ बादशाह का दूसरा लड़का शाहशुजा उन दिनों बंगाल का सूबेदार था। अङ्गरेजों की खुशामद से उसने बंगाल मे तिजारत बढ़ाने के सम्बन्ध में कम्पनी के अङ्गरेजों की बहुत-कुछ सहायता की।

औरंगजेब के जमाने से ही अङ्गरेजों ने अपने हथकण्डों से काम लेना आरम्भ कर दिया था। सन् १६६४ में शिवाजी की बढ़ती हुई ताकत को देखकर अङ्गरेजों ने शिवाजी के विरुद्ध औरंगजेब की मदद करने का विश्वास दिलाया था। अपनी इन चालों का अङ्गरेजों ने बहुत-कुछ फायदा उठाया।

दिल्ली के बादशाह के साथ अङ्गरेजों का एक ओर यह व्यवहार चल रहा था और दूसरी ओर वे भारतीय प्रजा को बुरी तरह से तबाह करते थे। माल से भरे हुए वे जहाजों को पकड़ लेते थे और लोगों को पकड़ कर बेंतों से यहाँ तक मारते थे कि उनकी मृत्यु हो जाती थी। जिन लोगों को अङ्गरेज गिरफ्तार करते थे, खाना न मिलने के कारण उनकी मृत्यु हो जाती थी। इन बातों को स्वीकार करते हुए फिलिप एण्डरसन नामक अङ्गरेज ने लिखा है :—

"भारत में पहुँचने वाले अङ्गरेजों की बदनामियाँ आरम्भ से ही फैलीं। वे भारत के लोगों के साथ बहुत सख्ती का व्यवहार करते थे। उन अङ्गरेजों के आचरणों को देखकर हिन्दू और मुसलमान-दोनों उनको गाय का गोस्त खाने वाले और कुत्तों से पतित समझते थे। उनकी नजरों में ये लोग बहुत धोखेबाज थे।"

अङ्गरेजों के आचरण देखकर भारतवासी ईसाई धर्म को भी बुरा समझने लगे थे। भारतवासियों के इन विचारों को उस अङ्गरेज विद्वान ने स्वीकार किया है और कहा है कि भारत के लोग ईसाई धर्म को राक्षसों का धर्म मानते थे। वे कहा करते थे कि ईसाई मदिरा पीते हैं और बदमाशी करते हैं। भारत के लोगों को ये सभी बातें इसलिए बुरी लगती हैं कि वे स्वयं बहुत चरित्रवान होते हैं।

अङ्गरेज शुरू में सूरत में पहुँचे थे और आखीर में बंगाल में। उनके काले कारनामे सूरत में ही लोगों के सामने आ गये थे। जिनको डाक्टर सी० आर० विलसन ने स्वयं स्वीकार किया है और इस बात को भी माना है कि बंगाल का सूबेदार उन अंगरेजों को जुआचोरों की एक कम्पनी कहा करता था।

औरङ्गजेब की उदारता

सम्राट औरंगजेब दिल्ली में हुकूमत करता था। अङ्गरेजों के जुल्मों को जब उसने सुना तो उसको सहन न हुआ। उसने आज्ञा देकर उनकी कोठियाँ जब्त कर लीं और वहाँ से भाग जाने के लिए अङ्गरेजों को शाही फरमान सुनाया गया। उसको सुनकर अङ्गरेज घबरा उठे। कम्पनी के अङ्गरेजों ने बादशाह के पास जाकर खुशामदें की और अपनी गलतियों की क्षमा माँगी। औरङ्गजेब ने उनको क्षमा कर दिया। इस हकीकत को स्वीकार करते हुए सी० आर० विलसन ने लिखा है :—

"बंगाल के अङ्गरेज झगड़ा करने में बहुत बदनाम थे। वहाँ का पुराना सूबेदार शाइस्ता खाँ अङ्गरेजों की कम्पनी को बदमाशों की कम्पनी कहा करता था। क्योंकि वे अङ्गरेज बिना किसी कारण के लोगों से झगड़ा करते थे और व्यापारियों को धोखा देकर लाभ उठाया करते थे।"

बादशाह से क्षमा माँगने के बाद, जब्त हो जाने वाली कोठियाँ ही अङ्गरेजों ने वापस नहीं लीं बल्कि १६९९ में नयी कोठियाँ बनाने का अधिकार भी उन्होंने प्राप्त कर लिया। अङ्गरेज मिलना और खुशामद से काम निकालना खूब जानते थे। उन्होंने औरङ्गजेब के पौत्र, बंगाल के सूबेदार अजीमशाह से कुछ गाँव जागीर के तौर पर प्राप्त कर लिए थे। कोठियाँ बनाने के साथ-साथ उनकी रक्षा के लिए अङ्गरेज किले-बन्दी भी करते जाते थे। लेकिन दिल्ली के सम्राट् ने इन बातों पर कभी ध्यान न दिया। इसलिए कि सम्राट की नजरों में ये अङ्गरेज लोग केवल परदेशी के रूप में थे। अङ्गरेजों ने इसका अनुचित लाभ उठाकर बहुत बड़ी सम्पति पैदा की।

फ्राँसीसियों का आगमन

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की तरह फ्राँस के रहने वालों ने भी भारत में व्यापार करने के लिए एक कम्पनी तैयार की। उस कम्पनी के फ्राँसीसी भारत में आये और सूरत में ठहरे। सन् १६६८ में उन्होंने सूरत में अपनी एक कोठी तैयार की। उसके बाद उनकी और कोठियां भी बनीं। ये विदेशी लोग खुशामद और प्रशंसा करना एवम् लाचारी से काम लेना खूब जानते थे। भारतीय उदारता का उन्होंने काफी अनुचित लाभ उठाया।

उन दिनों में दोस्तअली खां करनाटक का नवाब था। करनाटक के नवाब के साथ फ्रांसीसी कम्पनी के नायक दूमास की बड़ी दोस्ती हो गयी थी। औरङ्गजेब की मृत्यु हो चुकी थी और उसके बाद मुगलों की ताकत घटने लगी थी। मौका पाकर मराठों ने करनाटक पर आक्रमण किया। दूमास ने नवाब को सहायता का वचन दिया। इसी सिल-सिले में फ्रांसीसी कम्पनी ने पाण्डुचेरी के अपने किले में लगभग डेढ़ हजार योरोपियन और पाँच हजार भारतीय सेना तैयार कर ली थी। इस देश में विदेशियों की यह पहली फौज थी। दूमास ने अपनी इस चाल का मुगल साम्राज्य से बहुत फायदा उठाया। वह अब नवाब दूप्ले के नाम के मशहुर हो रहा था।

भारतीय नरेशों में आपस में मेल न था। विदिशियों ने इसका लाभ उठाया। भारत की एक दूसरी कमजोरी यह थी कि यहाँ लोगों

में स्वदेशानुराग नहीं था। उनकी आँखों में देश और विदेश का कोई अन्तर न था। इसीलिए वे विदेशियों की फौजों में नौकर होकर अपने ही देश के विरुद्ध लड़ते थे।

दो विदेशी शक्तियाँ

अङ्गरेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी और फ्राँस की फ्राँसीसी कम्पनी —दोनों कम्पनियाँ भारत में अपना अपना सिक्का जमा रही थीं। फ्राँस और इंगलैण्ड मे भी शत्रुता बढ़ रही थी। मद्रास में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का संघर्ष बढ़ा। दूप्ले ने नवाब को अपने अधिकार में कर रखा था। उसने नवाब से यह भी कह रखा था कि मद्रास को अङ्गरेजों से लेकर नवाब को दे दिया जायगा। लेकिन फ्राँसीसियों की मद्रास में विजय होने पर दूप्ले ने ऐसा नहीं किया। करनाटक के नवाब और दूप्ले मे संघर्ष पैदा हुआ।

मद्रास में नवाब की फौज के साथ फ्राँसीसी सेना का युद्ध हुआ। उसमें दूप्ले की विजय हुई। इसके बाद करनाटक के नवाब और अङ्गरेजों मे मेल हो गया। अङ्गरेजी सेना ने फ्रांसीसी सेना पर पाण्डुचेरी में आक्रमण किया। उसमें भी अङ्गरेजों की हार हुई।

अङ्गरेजों और फ्राँसीसियों के बीच द्वेष बढ़ता गया। भारत मे दोनों शक्तियाँ अलग-अलग काम करने लगीं। भारतीय राजाओं की लड़ाई में ये विदेशी शक्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध सहायता करती थीं।

भारतीय राजाओं की अवस्था

भारत के देशी राजाओं में भी संघर्ष कम न था। सभी एक दूसरे के विरुद्ध आपस में लड़ा करते थे। इस अवस्था का दक्खिनी भारत में बुरा परिणाम पड़ रहा था। दक्षिणी भारत का सूबेदार नाजिरजंग था जो दिल्ली दरबार की ओर से था। नाजिरजंग का भतीजा मुजफ्फरजंग अपने चाचा के स्थान पर सूबेदार बनना चाहता था। उसने कुछ सफलता न पायी और नाजिरजंग ने उसे गिरफ्तार करवा लिया।

उन दिनों मे अनवरुद्दीन करनाटक का नवाब था। उसके विरुद्ध चंदासाहब षड़यंत्र रच रहा था। यह दोस्तअली खाँ का दामाद था। इस प्रकार की अवस्था मुस्लिम नवाबों में फैल रही थी। उन्हीं दिनों मे हिन्दू राजा साहूजी तञ्जौर में राज्य कर रहे थे। उस राज्य के

दूसरे अधिकारी प्रतापसिंह साहू जी के स्थान पर राज्य करना चाहते थे। इस प्रकार जो फूट फैल रही थी, उसका लाभ अङ्गरेज और फ्राँसीसी उठाने की चेष्टा में थे। देश में ऐसी कोई बड़ी हुकूमत न थी जो इन आपसी झगड़ों को रोक सकती। तञ्जौर में संघर्ष पैदा हुआ। अङ्गरेजों ने नाजिरजंग और अनवरुद्दीन का साथ दिया और फ्राँसीसियों ने मुजफ्फरजंग और चंदा साहब का साथ दिया।

साहू जी की पराजय हुई। चंदा साहब ने तञ्जौर पर कब्जा किया। इसी बीच मौका पाकर मराठों ने तञ्जौर पर हमला किया। और चंदा साहब को पराजित करके प्रतापसिंह को वहाँ का अधिकारी बना दिया। साहू जी अङ्गरेजों से जा मिले। इसलिए कम्पनी की फौज लड़ने के लिए साहू जी की ओर से तञ्जौर पहुँची। लेकिन प्रतापसिंह के पक्षपाती मराठों का मुकाबला कर सकना कठिन समझकर अङ्गरेजी फौज ने साहू जी को धोखा दिया और वह प्रतापसिंह से मिल गयी। अङ्गरेजों की इस सहायता और उदारता के लिए प्रतापसिंह ने देवीकोट का नगर और किला कम्पनी को दे दिया।

चंदा साहब मराठों द्वारा कैद हो चुका था। इसलिए दूप्ले ने मराठों को लम्बी रिश्वत देकर चंदा साहब को कैद से छुड़वा लिया। करनाटक पर अधिकार करने के लिए चंदा फिर कोशिश करने लगा। ३ अगस्त सन् १७४९ को अनवरुद्दीन के मुकाबले दूप्ले की विजय हुई और चंदा साहब करनाटक के नवाब बना दिये गये।

प्रतापसिंह और अंग्रेजों का मेल हो गया था। इसलिए दूप्ले जल रहा था। मुजफ्फरजंग किसी प्रकार कैद से छूट कर दूप्ले से जा मिला, और फ्राँसीसियों की सहायता से उसने अपने आपको दक्खिन का सूबेदार घोषित किया। अब दूप्ले के हाथ में चंदा साहब और मुजफ्फरजंग थे। दोनों ने मिलकर तञ्जौर के राजा प्रतापसिंह पर आक्रमण किया। इधर प्रतापसिंह की मदद में सूबेदार नाजिरजंग की फौज भेजी गयी। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। मुजफ्फरजंग फिर कैद कर लिया गया। चंदा साहब को हटाकर अनवरुद्दीन का लड़का करनाटक का नवाब बनाया गया।

दूप्ले को असफल होना पड़ा। युद्ध मे कामयाबी न होने पर उसने सूबेदार नाजिरजंग को कत्ल करवा दिया। मुजफ्फरजंग को

दक्खिन का सूबेदार और करनाटक के नवाब के स्थान पर चंदा साहब की घोषणा की गयी।

इसके बाद त्रिचनापल्ली में एक बड़ा संग्राम हुआ। चंदा साहब के साथ फ्रांसीसी फौजें थीं और मुहम्मदअली के साथ अंग्रेजी फौजें दूसरी ओर से थीं। दूप्ले इस संग्राम को जीतना चाहता था। इसीलिए उसने फ्राँस से एक बड़ी सेना मँगायी थी। लेकिन वह दूप्ले की सहायता के लिए पहुँच न सकी। कहा जाता है कि वह समुद्र में ही कहीं डूब गयी।

त्रिचनापल्ली के युद्ध में फ्राँसीसियों की पराजय हुई। इस पराजय से निराश होकर फ्राँस की सरकार ने सन् १७५४ ई० में दूप्ले को भारत से फ्रांस बुला लिया। उसके बाद फ्राँस और इंगलैण्ड में इस प्रकार की संधि हुई कि भारत के आपसी मामलों में विदेशी ताकतों को आपस में नहीं लड़ना चाहिए। सन् १७६९ में फ्रासीसी कम्पनी टूट गयी और उसके अधिकार में पाण्डुचेरी, चन्दर नगर तथा एक-दो और स्थान रह गये।

———

चौथा परिच्छेद

सिराजुद्दौला

औरङ्गजेब की मृत्यु

औरङ्गजेब के जीवन-काल तक मुगल शासन काफी उन्नति पर रहा। यद्यपि साम्राज्य के पतन के कितने ही कारण पैदा हो चुके थे। सन् १७०७ में औरङ्गजेब की मृत्यु हो गयी। इन दिनों में मुगल शासन का सितारा नीचे जा रहा था। औरङ्गजेब के बाद साम्राज्य की बहुत-सी छोटी रियासतें अपना सम्बन्ध तोड़कर अलग हो गयीं।

इन दिनों में मराठों की शक्ति बढ़ रही थी। बंगाल, बिहार और उड़ीसा-तीनों प्रान्तों पर अलीवर्दी खाँ सूबेदार था और मुगल शासन के आधिपत्य में हुकूमत करता था। बंगाल पर मराठों के आक्रमण करने पर अलीवर्दी खाँ ने सम्राट से सहायता की प्रार्थना की। लेकिन उसको कोई सहायता प्राप्त न हुई। इस अवस्था में अलीवर्दी खाँ दिल्ली दरबार को जो सालाना मालगुजारी दिया करता था, उसको उसने बन्द कर दिया।

उन दिनों में बंगाल की आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी थी। इतिहास-लेखक एस० सी० हिल ने उस समय के बंगाल की अवस्था पर लिखा है :—

"मेरी समझ में बंगाल के किसानों की हालत, १८ वीं शताब्दी के मध्यकालीन फ्रांस और जर्मनी के किसानों की हालत से कहीं अच्छी थी।"

उस समय भारत के शहरों की हालत कितनी अच्छी थी, इस पर बंगाल की राजधानी मुर्शिदाबाद के सम्बन्ध में क्लाइव की लिखी हुई एक ही बात काफी होगी :—

"मुर्शिदाबाद शहर उतना ही विस्तृत और सम्पत्तिशाली है, जितना कि इंगलैण्ड का लन्दन नगर।"

मुगलकालीन भारत

मुगलों के शासन काल में भी भारत कितना सुखी और सम्पन्न था, इसका अनुमान करनल मिल नामक एक अङ्गरेज के उस पत्र से होता है, जो उसने मुगल कालीन भारत के सम्बन्ध में जर्मनी को लिखा था :—

"मुगल साम्राज्य सोने और चाँदी से लदा हुआ है। यह साम्राज्य निर्बल होने के साथ-साथ अरक्षित भी है। आश्चर्य की बात यह है कि जल-सेना रखने वाले योरप के किसी सम्राट ने बंगाल पर अधिकार करने की कभी कोशिश नहीं की। एक ही आक्रमण में इतना धन वहाँ से लाया जा सकता है: जितना कि दक्षिणी अमेरिका के ब्रेजील और पेरू की सोने की खानों से भी नहीं मिल सकता।

मुगल राजनीति से अपरिचित हैं। उनकी सेनायें युद्ध की कला में निपुण नहीं हैं। जल-सेना उनके पास नहीं है। तमाम साम्राज्य मे आपस के विद्रोह होते रहते हैं। वहाँ के बन्दरगाहों में विदेशियों के लिए कोई रुकावट नहीं है। इस देश को उतनी शीघ्रता के साथ कब्जे मे किया जा सकता है जितनी शीघ्रता के साथ स्पेन के लोगों ने अमेरिका के नग्न इण्डियन्स पर अधिकार किया था।

×××अलीवर्दी खाँ के पास जो खजाना है, वह तीस करोड़ रुपये से कम का नहीं है! उसकी वार्षिक आय बीस लाख पाउण्ड से कम की नहीं है।"

अलीवर्दी खाँ की सावधानी

जो विदेशी इस देश में आये थे, वे अनेक प्रकार के षड़यंत्रों से बराबर काम लेते रहे। इनमें अङ्गरेज मुख्य थे। इन लोगों ने अनेक प्रकार के लालचों से कहीं मुसलमानों को और कहीं हिन्दुओं को मिला रखा था। उनके द्वारा वे अपनी बदमाशियों में लाभ उठाते थे। इस प्रकार के लोगों मे अमीचंद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अंगरेजों की ओर से इसकी बड़ी खुशामद और प्रशंसा हुआ करती थी।

षड़यंत्र रचने में इन अङ्गरेजों में करनल स्काट का नाम विशेषता रखता है। अधिक दिनों तक बंगाल में रहने के कारण हिन्दू राजा-

रईसों से मिलने का उसे मौका पड़ा था। स्काट ने अमीचंद को भी मिला रखा था।

अलीवर्दी खाँ को इन बातों की कुछ जानकारी हुई। विदेशियों के फैलने वाले जाल के सम्बन्ध में उसने बहुत-सी बातें सोचीं। करनल स्काट को बुलाकर उसने बातें करना चाहा। आना मंजूर करने के बाद भी वह आया नहीं। अलीवर्दी खाँ ने बंगाल के नवाब की हैसियत से अङ्गरेजों और फ्रांसीसियों को किले-बंदी करने से रोक दिया।

अलीवर्दी खाँ बूढ़ा हो गया था। उसकी लड़की से एक लड़का था। उसका सिराजुद्दौला नाम था! उसकी अवस्था लगभग पच्चीस वर्ष की थी। सिराजुद्दौला को बुलाकर अलीवर्दी खाँ ने एक दिन समझाते हुए कहा :—

"इस देश में विदेशी कौमों की ताकत बढ़ गयी है। उन पर नजर रखने की जरूरत है। इन लोगों की कूटनीति भयानक है। इस मुल्क की रियासतों को बरबाद करके ये फायदा उठाना चाहते हैं। इनसे सावधान रहने की जरूरत है। अगर इनका विश्वास किया तो खतरा सामने है।"

मुगल साम्राज्य की शक्तियाँ लगातार घटती जा रही थीं। १० अप्रैल सन् १७५६ मे नवाब अलीवर्दी खाँ की मृत्यु हो गयी। उनके स्थान पर सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अङ्गरेज बड़ी-बड़ी चालों से काम ले रहे थे। सिराजुद्दौला अङ्गरेजों से सावधान था। इस बात को अङ्गरेज भी जानते थे। इसीलिये मौके-मौके पर अङ्गरेज ऐसी हरकतें करते थे, जिनसे नवाब की बेइज्जती होती थी।

सिराजुद्दौला के गद्दी पर बैठने के समय, पुरानी प्रथा के अनुसार मातहत राजाओं की ओर से नजरें पेश की गयीं। लेकिन अङ्गरेजी कम्पनी की ओर से नजर नहीं आयी। सिराजुद्दौला के नवाब हो जाने के बाद अङ्गरेजों ने कभी परवाह न की। कासिम बाजार में अङ्गरेजों की कोठी थी। वहाँ पर उन्होंने नवाब को आने से भी रोक दिया। इस प्रकार नवाब के सामने ऐसी कितनी ही बातें थीं, जिन पर अपना निर्णय करने के लिए उसे मजबूर होना पड़ा। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

(१) दिल्ली दरबार के कानूनों के खिलाफ और नवाब की आज्ञाओं के विरुद्ध अङ्गरेजों की किले-बन्दी करना।

(२) अङ्गरेजी माल पर जो चुंगी माफ हो गयी थी, उसका नाजायज फायदा उठाना।

(३) नवाब के विरुद्ध लोगों को भड़काना और विरोधियों को मदद देना।

अङ्गरेजों की ये हरकतें नवाब सिराजुद्दौला को मालूम हुई। फिर भी उसने बरदाश्त से काम लिया। इसके बाद पता चला कि अङ्गरेज लोग पूर्णिया के नवाब शौकत जंग को सिराजुद्दौला से लड़ाने और उसे मुर्शिदाबाद का सूबेदार बनाने की कोशिश कर रहे हैं। शौकत-जंग सिराजुद्दौला का एक रिश्तेदार था और मुर्शिदाबाद के सूबेदार के नीचे उसका एक सामन्त था। इन खबरों से सिराजुद्दौला का खून खौल उठा। वह अपनी फौज के साथ पूर्णिया की ओर चला। शौकत-जंग, खबर पाते ही घबरा उठा। वह नजराने लेकर सिराजुद्दौला के स्वागत में आया। उसने अङ्गरेजों की तमाम बातें पेश की और वे कागजात भी पेश किये जो अङ्गरेजों ने सिराजुद्दौला के विरुद्ध लड़ने के लिए उसको लिखे थे।

सिराजुद्दौला ने शौकतजंग को क्षमा कर दिया। विदेशियों को किले-बन्दी के खिलाफ हुक्म दिया। लेकिन अङ्गरेजों ने इस हुक्म की खाक परवा न की।

सिराजुद्दौला का आक्रमण

सिराजुद्दौला के सामने इसके सिवा कोई दूसरा उपाय अब न था कि वह अङ्गरेजों के विरुद्ध खड़ा हो। उसने अङ्गरेजों के विरुद्ध अपनी फौज को कासिम बाजार भेजा। अङ्गरेजों की शक्तियाँ कुछ काम न न कर सकीं। उन्होंने नवाब के सामने सिर झुकाया। नवाब की फौज ने अङ्गरेजों पर कोई उत्पात नहीं किया।

नवाब के खिलाफ कलकत्ते में अङ्गरेजों की सैनिक शक्तियों का जमाव था। १३ जून को अङ्गरेजी सेना ने नवाब का एक किला अपने अधिकार में कर लिया। लेकिन सिराजुद्दौला ने उनसे छीन लिया। इसी मौके पर दोनों ओर की फौजों में मुकाबला हुआ। अन्त में अङ्गरेजों को हार जाना पड़ा।

इसके बाद भी सिराजुद्दौला मुल्क से अङ्गरेजों के निकालने के पक्ष में न था। वह इन परदेशियों पर रहम करना चाहता था। इसीलिए कलकत्ते के अंगरेजों को उसने अपनी मंशा जाहिर भी कर दी थी। लेकिन अंगरेज मीठी-मीठी बातें करने के बाद भी केवल व्यापार ही नहीं करना चाहते थे। शासन का प्रलोभन भी उनको अधीर बना रहा था। फौजी ताकत में मुकाबला न कर सकने पर उन्होंने नवाब की ताकत को तोड़ने की कोशिशें की। रिश्वतें देकर और झूठे वादे करके नवाब की सेना के बड़े-बड़े सरदारों को मिला लेने के लिए वे चालें चलने लगे।

एक खराबी और थी। नवाब के तोपखाने मे कितने ही योरोपियन मुलाजिम भी थे। उन लोगों से अंगरेजों ने फायदा उठाने की कोशिश की। ईसाई मजहब की बड़ी बड़ी कसमें खिलाई गयीं और इस बात का प्रचार किया गया कि नवाब की फौजों मे जो ईसाई और योरोपियन हैं, उनका यह धर्म है कि वे अपने देश और धर्म की मदद करें। नवाब की फौज के सैनिकों को अंगरेजी फौज के ऊँचे-ऊँचे पदों पर नौकर रखने के प्रलोभन भी दिये गये।

अंगरेजों की ये चालें बराबर जारी रहीं। इन्हीं दिनों में नवाब की फौज ने कलकत्ते पहुँचकर अंगरेजी फौज पर हमला किया। और अंगरेजों की पराजय हुई। २० जून १७५६ को नवाब की सेना ने कलकत्ते की अंगरेजी कोठी पर धावा किया। कोठी के अंगरेज गिरफ़्तार कर लिए गये। उसके बाद किले मे ही नवाब ने दरबार किया। उसमें अङ्गरेज कैदी पेश किये गये, और कैदियों के माफी माँगने पर नवाब ने उन्हें छोड़ दिया। लेकिन बंगाल से अङ्गरेजों को निकल जाने के लिए नवाब ने हुक्म जारी किया और कलकत्ते का इन्तजाम करने के लिए राजा मानिकचंद को उसका दीवान बना दिया।

कलकत्ते की कालकोठरी

कलकत्ते में अङ्गरेजों की जो कोठी बनी थी, उसमें एक अन्धेरी कोठरी भी थी। कलकत्ते की इस लड़ाई के बाद यह कोठरी, कलकत्ते की 'काल कोठरी' और कलकत्ते का 'ब्लैक होल' के नाम से मशहूर हुई, अङ्गरेजों की कोठी के भीतर यह कोठरी हिन्दुस्तानी लोगों को सजा देने के काम में आती थी।

कलकत्ते की इस लड़ाई का हाल जिन अंग्रेज लेखकों ने लिखा है, उनका कहना यह है कि १८ फुट लम्बी और इससे कुछ कम चौड़ी काली कोठरी में नवाब सिराजुद्दौला की आज्ञा से १४६ अङ्गरेज कैदियों को बंद कर दिया गया। यह बात २० जून की बतायी जाती है। इस महीने में भारत में भयानक गरमी पड़ती है। उस कोठरी मे न तो हवा थी और न प्रकाश। नतीजा यह हुआ कि एक ही रात में १४६ अङ्गरेजों में से कुल २३ आदमी जिंदा मिले।

अङ्गरेज लेखकों की यह बात सही नहीं थी। इसी लिए इतिहासकारों ने इनकी असलियत का पता लगाया। इतिहासकार अक्षय कुमार ने अपनी पुस्तक, 'सिराजुद्दौला' में इस घटना का विरोध किया है और बताया है कि उस कोठरी की जो लम्बाई और चौड़ाई बतायी जाती है, उसमें १४६ आदमियों का बन्द किया जाना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। एक खास बात और है, कलकत्ते में कम्पनी को जो नुकसान उठाना पड़ा, उसके सम्बन्ध मे क्लाइव और वाट्सन ने नवाब को कुछ पत्र लिखे थे। उन पत्रों में और सभी बातों की शिकायत लिखी गयी थी। लेकिन इस घटना का कोई उल्लेख नहीं था, कम्पनी के डाइरेक्टरों को क्लाइव ने जो पत्र लिखा था, उसमें बहुत-सी बातों के जिक्र थे, लेकिन इस कालकोठरी की घटना का कोई वर्णन नहीं था। एक बात और है, मीरजाफर के साथ अंग्रेजों का जो अन्त में सुलहनामा हुआ था, उसमे कम्पनी के सभी नुकसान दिखाये गये थे, परन्तु इस प्रकार १४३ आदमियों का मारा जाना, उसमें भी कहीं नहीं बताया गया था।

इस प्रकार कलकत्ते की कालकोठरी की घटना कहीं से सच्ची नहीं साबित होती। बात यह है कि सन् १७५७ में कम्पनी का एक सरदार हालवेल यहाँ से लौट कर विलायत गया था। और उसी ने रास्ते में इस घटना की रचना की थी।

बंगाल से भागे हुए अङ्गरेज

कलकत्ते और बंगाल के दूसरे भागों से भागकर अंग्रेज लोग फल्ता नामक मुकाम पर जाकर ठहर गये। यह मुकाम बंगाल की की खाड़ी के ऊपर था। कुछ महीने अंग्रेजों ने वहाँ काटे। यहाँ रहकर

भी अंग्रेज अपना काम करते रहे और बंगाल पर फिर से कब्जा करने के लिए मद्रास के अंग्रेजों के साथ लिखा-पढ़ी करते रहे। राजा मानिकचन्द को मिलाने की कोशिश की और सिराजुद्दौला के फौजी अफसरों को अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये।

फाल्ता में अंग्रेज लोग जो शतरंजी चालें चल रहे थे, सिराजुद्दौला ने उन पर ध्यान न दिया। उन अंग्रेजों ने यह भी जाहिर कर रखा था कि अभी मौसिम खराब है। इसके बाद हम लोग यहाँ से मद्रास चले जायेंगे। इतना होने पर भी अंग्रेज लोग सिराजुद्दौला को दरख्वास्तें भेज कर बंगाल में फिर से आबाद होने के लिये कोशिश करते रहे। सिराजुद्दौला ने उनके साथ नेक व्यवहार करने की कोशिश की।

कलकत्ते में अंग्रेजों का जो हाल हुआ, उसका समाचार पाकर मद्रास से ८०० अंग्रेज और १३०० भारतीय सैनिक रवाना हुए। क्लाइव और वाट्सन इनके अधिकारी के रूप में थे। उनको यह आदेश दिया गया था कि वे बंगाल पहुँचकर सिराजुद्दौला के विरुद्ध ऐसे षड़यन्त्र रचें जिससे उसका अंत हो जाय। बंगाल में दाँव-पेंच शुरू हो गये। कलकत्ते मे राजा मानिकचंद का इन्तजाम था। उसको अंग्रेजों ने मिला लिया। क्लाइव और वाट्सन फाल्ता पहुँचे। वहाँ से दोनों ने सिराजुद्दौला को तरह-तरह की धमकी के पत्र लिखे।

राजा मानिकचंद का विश्वासघात

कलकत्ते के पास बजबज में एक प्रसिद्ध किला था। इस किले पर मानिकचंद का इन्तजाम था। वह अङ्गरेजों से भीतर-ही-भीतर मिल चुका था। अङ्गरेजी सेना ने बजबज पर आक्रमण किया। विश्वासघाती मानिकचंद बिना लड़े ही किले से हट गया। फल यह हुआ कि अङ्गरेजों ने उस पर कब्जा कर लिया और किले के भीतर के निरपराध हिन्दू जान से मारे गये।

बजबज के किले से भागकर मानिकचंद हुगली पहुँचा और वहाँ से उसने अङ्गरेजों की विस्तृत सेना का संदेश भेजा। इधर अङ्गरेजों ने कलकत्ते में फिर से कब्जा कर लिया। इसके बाद अङ्गरेज सिराजुद्दौला पर आक्रमण करने की बात सोचने लगे। उन्होंने तय किया कि

हुगली में नवाब की जो बड़ी बड़ी अनाजों की कोठियाँ हैं, उनको या तो नष्ट कर दिया जाय अथवा अपने अधिकार में कर लिया जाय। हुगली के किले पर चढ़ाई नहीं हुई। उस पर उनका कब्जा हो गया। उसके बाद आठ दिनों तक हुगली और उसके आसपास के मुकामों में अंग्रेजों का लूटना और लोगों का कत्ल जारी रहा।

संधि की बातचीत

हुगली की लूटमार का समाचार पाकर सिराजुद्दौला एक फौज लेकर हुगली के पास पहुँचा और अङ्गरेज सेनापति के पास नीचे लिखा हुआ पत्र भेजा :—

हुगली मे आप लोगों ने जो लूटमार की है, वह आपको शोभा नहीं देती। इसलिए मुझे अपनी सेना के साथ यहाँ आना पड़ा है। फिर भी मैं यह चाहता हूँ कि आप लोग अगर पहले की तरह शाँति पूर्वक रहना चाहते हैं और व्यापार करना चाहते हैं तो किसी जिम्मेदार आदमी को भेजकर एक रास्ते की सूरत पैदा करें। मैं आपकी कोठियां वापस देने मे और पहले के व्यवहार कायम रखने में किसी प्रकार का संकोच न करूँगा। अगर अंगरेजों की तरफ से कोई खिलाफ काम न होगा तो उनकी जरूरतों का मैं ख्याल करूँगा।

× × × ईसाई की हैसियत से आप लोग इसे मंजूर करेंगे कि झगड़े को बढ़ाने के बजाय तय कर लेना ज्यादा जरूरी है। फिर भी अगर आप ऐसा नहीं चाहते और कुर्बानी के लिए तैयार हैं तो इसके लिए आपकी जिम्मेदारी होगी। इसीलिए मैने आपको यह पत्र लिखा है।

नवाब के इस पत्र के उत्तर में अङ्गरेजों ने संधि के लिए नीचे लिखी हुई शर्तें पेश की :—

(१) अङ्गरेजों के नुकसान को पूरा किया जाय।

(२) बंगाल में अंग्रेजों के अधिकार फिर से दिये जायँ।

(३) अपनी किलेबन्दी के लिए अंग्रेजों को अधिकार हों।

(४) अंग्रेज कम्पनी को अपना सिक्का ढालने का अधिकार हो।

इन शर्तों को भेजकर नवाब को कलकत्ते चलने के लिए कहा गया और विश्वास दिलाया कि वहाँ समझौता हो जायगा। अंग्रेज इतिहास-

कारों के लेखों से ही मालूम होता है कि सिराजुद्दौला को इस बात का पता लग गया था कि उसकी सेना के कितने ही सेनापति और मीरजाफर जैसे सामंत अंग्रेजों से मिल गये हैं। फिर भी ४ फरवरी १७५७ को सिराजुद्दौला कलकत्ते पहुँचा। नवाब को अमीचंद के बगीचे में ठहराया गया। साथ ही यह षड़यंत्र रचा गया था कि प्रातःकाल होते ही सिराजुद्दौला पर हमला कर दिया जाय। इसको स्वीकार करते हुए इतिहासकार जीन ला ने लिखा है :—

"जिस दिन प्रातःकाल सिराजुद्दौला पर आक्रमण होने को था, उसके एक दिन पहले से ही काफी इन्तजाम और सावधानी से काम लिया जा रहा था। समय और सुयोग समझने के लिए दो अंग्रेजों को भेजा गया।"

जिन दो अंग्रेजों को सिराजुद्दौला के पास भेजा गया था, उनके नाम थे वाल्श और स्कैफटन। इसके सिवा नवाब की फौज में राजा नवकृष्ण अंग्रेजों की जासूसी का काम कर रहा था और एक-एक मिनट की अंग्रेजों को खबर दे रहा था।

इधर दोनों अङ्गरेजों ने सिराजुद्दौला से सुलह की बातें कीं और रात में वहाँ से लौटकर अंग्रेजों के पास आ गये। रात को ही सिराजुद्दौला की जिन्दगी का आखिरी दिन था। लेकिन होनहार बलवान होती है। उसे कुछ संदेह हो गया। रात को सोने के पहले वह एक दूसरे खेमें में चला गया। इस बात को विद्वान जीन ला ने स्वीकार किया है। इसी मौके का वर्णन करते हुए रेनाल्ट ने ४थी सितम्बर के एक पत्र में लिखा है :—

"अंग्रेजों ने अपनी सेना बुलवा ली। रात को सोते हुए नवाब के सैनिकों पर अंग्रेजी सेना ने आक्रमण किया। फिर भी अंग्रेजों की पूरी कामयाबी नहीं हुई और नवाब की फौज के मुकाबिले में अंग्रेजी सेना को भागना पड़ा।"

रेनाल्ट ने फिर लिखा है :—"नवाब के मंत्री अंग्रेजों से पहले ही मिल चुके थे। इसलिए उन्होंने नवाब को समझा-बुझाकर सुलह के लिए तैयार कर लिया।×××इसके सिवा नवाब के पास दूसरा कोई रास्ता ही न था। क्योंकि उसके सेनापति विश्वासघात कर रहे थे। इसीलिए उसे अनुचित शर्तें भी स्वीकार करनी पड़ी।"

नवाब और अंग्रेजों के साथ जो संधि हुई, वह अलीनगर की संधि के नाम से प्रसिद्ध हुई, उसकी शर्तें इस प्रकार थीं :—

१—पिछले अधिकार अंग्रेजों को फिर से दिये जायँ।

२—बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अँग्रेजी माल पर कोई महसूल न वसूल किया जाय।

३—कम्पनी का जो माल नवाब के अधिकार में अब तक आया हो और जहाँ कहीं जब्त किय गया हो, वह सब वापस दिया जाय।

४—अपनी आवश्यकतानुसार कलकत्ते में अँग्रेज किलेबन्दी करें।

५—सिक्का ढालने के लिए अंग्रेजों को पूरा अधिकार हो।

६—नवाब तथा उनके समस्त सेना के अधिकारी इस संधि पर हस्ताक्षर करें।

७—संधि के विरुद्ध कोई बात पैदा होने के समय तक नवाब की हुकूमत वाले राज्य में अंग्रेज सुख से रहें और किसी प्रकार का दखल कोई न दे सके।

नवाब और अंग्रेजों के बीच संधि हो गयी। मुर्शिदाबाद के दरबार में अंग्रेजों का एक एलची रखा जाना भी तय हो गया। अंग्रेजों ने विश्वास दिलाया कि जरूरत पड़ने पर फौजी और आर्थिक सहायता नवाब की अंग्रेज करेंगे।

संधि-पत्र पर १० फरवरी को हस्ताक्षर हुए और उसके ठीक तीसरे दिन क्लाइव और उसके मित्रों ने आवाज उठाई :—

"नवाब के साथ जो संधि हुई है, उसके सिवा भी कुछ रियासतों के लिये नवाब से कहा जा सकता है। साथ ही वहाँ पर ऐसा एलची हमें भेजना चाहिए जो हमारी माँगों को पेश करके उनको पूरा करा सके।"

नवाब के दरबार में षड़यन्त्र शुरू हो गये। अङ्गरेजों का एलची होकर वाट्स नवाब के दरबार में पहुँच गया। कम्पनी की हिदायत के अनुसार अंग्रेज एलची ने सिराजुद्दौला के सामने दस नयी शर्तें पेश कीं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

१—चुंगी के सिलसिले में नवाब के किसी आदमी के गलती करने पर या धोखे से चुंगी माँगने पर अंग्रेजों को अधिकार होगा कि वे उसे पूरी सजा दे सकें।

२—कम्पनी या कम्पनी के किसी अंग्रेज के ऊपर अगर किसी हिन्दुस्तानी आदमी का कर्ज हो तो नवाब उस कर्ज को अपने पास से अदा करें।

३—अंग्रेज जो अपनी अदालतें कायम करें, उनमें हिन्तुस्तानी मुलजिमों को सजा और फाँसी देने का पूरा अधिकार हो।

४—नवाब से मुलाकात करने के समय अंग्रेजों के लिए किसी प्रकार की नजर देना गैर जरूरी है।

५—कलकत्ते के करीब नवाब को किलेबंदी करने का कोई अधिकार न हो।

इधर अंग्रेज इस प्रकार शर्तें पेश कर रहे थे, और दूसरी ओर नवाब के दरबारियों, सेनापतियों और सामन्तों को रिश्वतों के बल पर मिलाकर, नवाब को निर्बल बना रहे थे, संधि हो जाने के बाद ही सिराजुद्दौला को वाट्सन के नाम नीचे लिखा हुआ पत्र भेजना पड़ा :—

"अभी तक हाल में ही आपके साथ एक सन्धि हुई है।×× लेकिन जो खबरें आ रही हैं, उनसे मालूम होता है कि आप शाँति भंग करने पर आमादा हैं। ऐसी हालत में युद्ध की मजबूरी फिर पैदा हो जाती है। मराठों के साथ वर्षों लड़ाइयाँ हुई हैं, लेकिन एक बार संधि हो जाने के बाद मराठों ने उसे भंग नहीं किया।×× आपका फर्ज यह है कि संधि की शर्तों का आप पालन करें। मैं अपनी शर्तों पर सदा बना रहूँगा।"

इस प्रकार का पत्र भेजने के बाद भी अंग्रेजों के बेजा व्यवहारों की खबरें मिलीं इसलिए सिराजुद्दौला को फिर दूसरा पत्र भेजना पड़ा।

"मेरा पिछला पत्र मिला होगा। उसके बाद भी आपके कुछ जहाज हुगली पहुँचे हैं। मुझे मालूम हुआ है कि आप मेरी प्रजा पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे हैं। सन्धि के बाद यह बात शोभा नहीं देती। यदि आप सन्धि को महत्व देते हैं तो फौरन आपको अपने जहाज हुगली से वापस कर लेना चाहिए। ईसा को मानने वालों के लिए यह लज्जाजनक बात है कि सन्धि करने के बाद, उसके विरुद्ध काम करें।"

सिराजुद्दौला का यह पत्र वाट्सन को २३ फरवरी को मिला।

ता० २५ फरवरी को उसने जवाब देते हुए सिराजुद्दौला को लिखा :—

"मुझे ताज्जुब है कि किसी नासमझ के कह देने से कि मैं शान्ति भंग करने की कोशिश में हूँ, आपने विश्वास कर लिया। मैं विश्वास करता हूँ कि जिसने आपको धोखा देने और मुझ पर इलजाम लगाने की कोशिश की है, उसे आप काफी सजा देंगे।"

सिराजुद्दौला की राजनीतिक भूल

इन्हीं दिनों में दिल्ली सम्राट के साथ सिराजुद्दौला का बिगाड़ हो गया। सम्राट की सेना ने बंगाल पर हमला करना चाहा। सिराजुद्दौला ने उसका मुकाबला करने के लिए तैयारी की और सन्धि की शर्तों के अनुसार, वाट्सन को पत्र लिखा कि इस मौके पर हमारी मदद के लिए अंग्रेजी फौज भेजो। सिराजुद्दौला ने यह पत्र भेज कर अच्छा नहीं किया। अंग्रेज तो पहले से ही सिराजुद्दौला के विरुद्ध मौका ढूँढ़ रहे थे। इसके पहले ही अंग्रेज फ्राँसीसियों को नष्ट करना चाहते थे और सिराजुद्दौला उनके पक्ष में था। मौका पाकर अंग्रेजी फौजें कलकत्ते से रवाना हुई। उसका इरादा फ्राँसीसियों पर हमला करने को था, लेकिन फ्रांसीसी उसके लिए तैयार न थे। नतीजा यह हुआ कि एक चलताऊ सुलहनामा हो गया। लेकिन उसने काम न किया, फ्राँसीसियों के चन्दर नगर पर क्लाइव और वाट्सन का हमला हो जाता, लेकिन दोनों में कुछ मतभेद हो गया। वाट्सन चाहता था कि हमला कर दिया जाय, लेकिन क्लाइव चाहता था कि सिराजुद्दौला के दस्तखत धोखा देकर करा लिया जाय। जिससे १० फरवरी की सन्धि के हम विरुद्ध न समझे जाँय। इसलिए कि चन्दर नगर नवाब की हुकूमत में है।

क्लाइव का चक्र

क्लाइव वाट्सन से कम धूर्त न था, लेकिन वह जो कुछ करना चाहता था, उसमें कुछ ईमानदारी का रङ्ग भी देना चाहता था। उसकी मंशा था कि अंग्रेज एलची नवाब के मन्त्रियों से मिलकर और रिश्वत देकर नवाब का ऐसा परवाना हासिल कर ले जिससे सारी बदनामी नवाब के सिर पर ही रहे। यही हुआ भी। एलची वाटस ने

नवाब के मन्त्रियों को मिलाकर, नवाब की ओर अंग्रेज सेनापति वाट्सन के नाम एक पत्र भिजवाया जो इस प्रकार था :—

"आप खुद ही समझदार हैं। यदि शत्रु हृदय की सचाई के साथ आपकी शरण चाहता है तो क्षमा करना भी आपका काम है। लेकिन उसकी सचाई पर आपको समझ-बूझ लेना जरूरी है।"

इस षड़यंत्र के सम्बन्ध में स्क्रैफटन ने स्पष्ट लिखा है कि नवाब का यह पत्र पाने के लिए वाट्स को लम्बी सम्पत्ति खर्च करनी पड़ी थी और उसी अवस्था मे नवाब के मन्त्रियों ने यह काम किया था।

उन दिनों में नवाब सिराजुद्दौला के दरबार की जो कुछ हालत थी, उस पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकार जीन ला ने लिखा है :—

"अंग्रेजी एलची वाट्सन ने इतनी अधिक रिश्वतों से काम ले रखा था कि नवाब के सेनापतियों से लेकर दरबार के मन्त्री और साधारण मुहर्रिर तक नवाब के खैरख्वाह न रहे थे।"

वाट्सन के नाम नवाब का जो पत्र भेजा गया उसके रहस्य पर इतिहासकार जीन ला लिखता है :—

"नवाबों का प्रायः यह कायदा था कि जिन पत्रों पर उन्हें दस्तखत करने होते थे, उनको वे पढ़ते न थे। मंत्रियों के पेश करने पर वे उन पर दस्तखत कर दिया करते थे और उसके बाद मन्त्री दरबार की मुहर लगा देते थे।"

नवाब का दस्तखती पत्र पाकर क्लाइव चन्दर नगर की ओर बढ़ा। दूसरी ओर से वाटसन अपनी सेना लेकर वहाँ पहुँच गया और चन्दर नगर को घेर लिया। घेरा डालने के पहले ही जब, फ्रांसीसियों ने पूछा कि आप ऐसा क्यों करते हैं, हम तो आपसे लड़ने के लिए तैयार नहीं हैं और अभी उस दिन आपके साथ हम सुलहनामे की बात भी तय कर चुके हैं तो उनको जवाब दिया गया कि चन्दर नगर के फ्राँसीसी अंग्रेजों के बागी दुश्मनों को यहाँ ठहराते हैं और उनकी मदद करते हैं। यह इलजाम लगाकर अंग्रेजों ने चन्दर नगर पर हमला किया और उस पर कब्जा कर लिया। उसके बाद फ्राँसीसियों के बाकी किलों पर अंग्रेजों के साथ उनकी एक सन्धि हो गयी।

यहाँ पर एक बात स्मरण रखने की यह है कि चन्दर नगर में कोई लड़ाई न थी फिर भी अंग्रेजों ने फ्राँसीसी फौजी अफसर दी तेरानो

को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर रखा था और हुगली का एक सरदार महाराजा नन्दकुमार भी अमीचन्द के द्वारा रिश्वत पाकर अंग्रेजों के पक्ष में हो गया था।

अंग्रेजों की शतरञ्जी चालें

चन्दर नगर पर अधिकार करने के बाद वाट्सन सिराजुद्दौला के बिरुद्ध तरह-तरह की बातें सोचने लगा। उसने नवाब को लिखा :—

"मैं आपके पत्र का जवाब दे चुका हूँ। यदि आप सन्धि की रक्षा करना चाहते हैं और देश को बरबादी से बचाना चाहते हैं तो दस दिनों के भीतर सन्धि की उन शर्तों को पूरा करें, जिनको अंगरेजों के पक्ष में आपने मंजूर किया है। अन्यथा सन्धि भंग होने की जिम्मेदारी आपके ऊपर होगी।"

पिछली संधि में अंग्रेजों की कोठियों का वापस दिया जाना और अंग्रेजों के नुकसान का मावजा देना सिराजुद्दौला ने मंजूर किया था। इन्हीं शर्तों को पूरा करने के लिए धमकी देते हुए वाट्सन ने सिराजुद्दौला को ऊपर का पत्र लिखा। यद्यपि उस संधि में नुकसान का मावजा देने के लिए किसी समय का निर्णय न हुआ था। इसका साफ मतलब यह था कि वाट्सन सिराजुद्दौला पर हमला करने का बहाना ढूँढ़ रहा था।

वाट्सन के पत्र का जबाब देते हुए सिराजुद्दौला ने लिखा :—

दिल्ली सम्राट के विरुद्ध युद्ध करने के लिए मैंने आपको सहायता देने के लिए लिखा था। लेकिन आपने उसका कुछ उत्तर नहीं दिया। कृपा कर उसका जवाब दीजिए। जिन शर्तों को पूरा करने के लिए आपने इशारा किया है, उन्हें मैं जल्दी ही पूरा करूँगा। जो संधि मैंने की है, उसको मैं किसी प्रकार पूरा करूँगा।

इस प्रकार का पत्र भेजने के बाद भी सिराजुद्दौला को खबर मिली कि अंग्रेजी फौज चन्दर नगर की ओर जा रही है। यह भी मालूम हुआ कि रास्ते में नवाब की हुकूमत में अंग्रेजी फौजें बड़ा अत्याचार करती हुई निकल रही हैं। इस पर सिराजुद्दौला ने वाट्सन के नाम फिर पत्र भेजा और लिखा :—

"×××आपकी शर्तों के सम्बन्ध में मैंने बहुत-कुछ पूरा किया है और बाकी चाँद की १५ वीं तारीख तक पूरा कर दिया जायगा। ××इतना सब होने पर भी संधि के विरुद्ध मैं आपको पाता हूँ। हमारे अनेक इलाकों को आपकी फौजों ने इन दिनों में नष्ट किया है। मैंने जो विश्वास किया था, उसका बुरा परिणाम मेरे सामने आ रहा है।××संधि को मजबूत बनाने के लिए कोशिश करनी चाहिए।"

सिराजुद्दौला का हालत कितनी दयानीय हो रही थी। वह एक ओर शान्ति के स्वप्न देख रहा था और दूसरी ओर अंगरेज युद्ध का रास्ता खोज रहे थे। नवाब के दरबार के अंगरेजी एलची वाट्स ने २६ अप्रैल को क्लाइव के नाम एक पत्र लिखा और उसमें बताया :—

"मैंने जो कुछ काम किया है, उसकी कामयाबी का रूप यह है कि सिराजुद्दौला को नवाब के पद से हटाने के लिए, मीरजाफर और उसके दोस्त अंग्रेजों का साथ देने के लिए तैयार हैं।"

इस पत्र के उत्तर में क्लाइव ने वाट्स को लिखा :—मीरजाफर को बता दो कि मैं पाँच हजार मजबूत सैनिकों के साथ रवाना होने के लिए तैयारी कर रहा हूँ।

मीरजाफर के साथ सुलहनामा

सिराजुद्दौला के विरुद्ध जो वातावरण पैदा हो रहा था, उसमें वाट्सन, क्लाइव, वाट्स और मीरजाफर प्रमुख रूप से थे। ४ जून सन् १७५७ ईसवी को रात को १२ बजे के बाद छिप कर वाट्स मीरजाफर के महल में पहुँचा और अंग्रेजों के साथ होने वाली एक गुप्त सन्धि पर उसके दस्तखत ले लिए। इस सन्धि की शर्तें इस प्रकार थी :—

१—सिराजुद्दाला ने जो अधिकार अंगरेजों को दिये थे, वही अधिकार नवाब बनने पर मीरजाफर भी अंग्रेजों को देगा।

२—इस सन्धि के अनुसार किसी शत्रु से लड़ाई होने पर अंगरेज और मीरजाफर एक दूसरे की सहायता करेंगे।

३—फ्राँसीसियों की कोठियाँ अंग्रेजों के अधिकार में दे दी जायंगी और फ्राँसीसियों को बंगाल से निकाल दिया जायगा।

४—कलकत्ते मे अंगरेजों का जो नुकसान हुआ था, उसके मावजे में मीरजाफर कम्पनी को एक करोड़ रुपया देगा।

५—जो अंग्रेज, अंग्रेजी सेना में नहीं थे, उनका कलकत्ते में जो नुकसान हुआ है, मीरजाफर उनको पूरा करेगा।

६—कलकत्ते के बाहर चारों ओर ६०० गज तक अंग्रेजों का अधिकार रहे।

७—कलकत्ते के दक्षिण में हुगली नदी और नमक की झीलों के बीच के इलाके अंग्रेजों के अधिकार में समझे जायँ।

८—अंग्रेजों की सहायता लेने पर नवाब उसका मावजा अदा करें।

९—हुगली नदी के आस-पास नवाब किले बन्दी न करें।

१०—नवाब होने के दिन से लेकर तीस दिनों के भीतर इन शर्तों को पूरा करें।

११—मीरजाफर जब तक इस सन्धि के अनुकूल चलेगा, अंगरेज जरूरत पड़ने पर उसकी बराबर मदद करेंगे।

सिराजुद्दौला के सब से बड़े सेनापति मीरजाफर के साथ सुलह-नामा हो गया। उसके बाद एक दिन रात को वाट्स और उसके साथी अंग्रेज मुर्शिदाबाद से छिप कर चले गये। सिराजुद्दौला को जब इस रहस्य का हाल मालूम हुआ तो उसने वाट्सन को लिखा :—

"×××इन बातों से आपके विश्वासघात और सन्धि तोड़ने का इरादा साफ मालूम होता है।××मुझे फिर भी तसल्ली है कि सन्धि मेरी तरफ से भंग नहीं हुई। मैंने और आपने पाक परवरदिगार खुदा के सामने सुलह की थी, सुलह के खिलाफ जो काम करेगा, खुदा उसे सजा देगा।"

सिराजुद्दौला कुछ सोच-समझकर एक दिन मीरजाफर के महल में गया और अपनी गलतियों के लिए क्षमा माँगी। मीरजाफर को कुछ न सूझा। उसने हाथ में कुरान लेकर कहा कि मैं हमेशा अपने नवाब का बफादार रहूँगा। सिराजुद्दौला ने फिर उसका विश्वास किया।

प्लासी का युद्ध

अंग्रेजी फौजों ने २३ जून १७५७ को मुर्शिदाबाद में हमला किया। मुर्शिदाबाद से लगभग बाईस मील की दूरी पर प्लासी नाम का एक

मुकाम है, वहीं पर सिराजुद्दौला की फौजों ने अंग्रेजों का सामना किया। नवाब की ओर से प्रधान सेनापति मीरजाफर के अलावा तीन और सेनापति भी, यारलुत्फ खाँ, राजा दुर्लभराम और मीरमुइद्दीन भी थे। घमासान युद्ध हुआ। इस लड़ाई में अंग्रेजी सेना का हालत अच्छी न रही। इसी मौके पर मीरजाफर अंग्रेजों के साथ हो गया। इस हालत में नवाब का तीसरा सेनापति मीरमुइद्दीन लड़ाई में मारा गया और नवाब की फौजों को मैदान से भागना पड़ा। अंग्रेजों की जीत हुई।

सिराजुद्दौला के दरबारियों ने उसको अंग्रेजों के साथ सुलह करने की सलाह दी लेकिन उसने इसे मंजूर न किया और अपने तीन प्रिय नौकरों के साथ फकीरी भेष में महल से निकल कर चला गया।

नवाब की गद्दी पर मीरजाफर

मीरजाफर के नवाब होने के बाद मालूम हुआ कि मुर्शिदाबाद के खजाने मे वह रकम नहीं है जिसकी पहले खबरें थी। फिर भी जो कुछ खजाने में था, वह क्लाइव के हाथ लगा। अंग्रेज इतिहासकार ओर्म ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक History of Industan में लिखा है :—

मुर्शिदाबाद के खजाने से ७२,७१,६६६ चाँदी के रुपये कलकत्ते के अंग्रेजों के हाथ लगे। बिजय के बाजे बजाते हुए इस रकम को अंग्रेज मुर्शिदाबाद से ले गये। युद्ध की विजय में इतनी बड़ी रकम अंग्रेजों को पहले कभी न मिली थी।

विश्वासघात का फल

मुर्शिदाबाद की लूट की रकम अंग्रेज अफसरों और सैनिकों में बाँटी गयी। लेकिन भारतीयों के हाथ कुछ न लगा। देश का शत्रु अमीचन्द अंग्रेजों का सब से बड़ा सहायक था, उसी की जालसाजी से अंग्रेजों को कामयाबी हुई। लेकिन अंग्रेजों ने उसके साथ वही किया जो एक दगाबाज के साथ करना चाहिये था।

मीरजाफर के साथ सन्धि होने में अमीचन्द का खास तौर पर हाथ था। उस समय यह भी तय हुआ था कि मीरजाफर के नवाब होने पर अमीचन्द को तीस लाख रुपये इनाम में दिये जायँगे। लेकिन दगाबाज अमीचन्द कोरा-का-कोरा ही रह गया। इतिहासकारो ने

लिखा है कि वह इसी अफसोस में कुछ रोज में ही मर गया। क्लाइव की इस कामयाबी के लिये इङ्गलैण्ड के पार्लामेण्ट से उसको लार्ड की उपाधि दी गयी और वहाँ पर प्लासी की विजय की खुशियाँ मनायी गयीं।

सिराजुद्दौला का अन्त

कुछ दिनों के भीतर सिराजुद्दौला राजमहल नामक स्थान में कैद हो गया। २ री जुलाई को वह मुर्शिदाबाद लाया गया और मुहम्मद बेग नामक आदमी ने उसे उसी रात में कत्ल कर डाला। दूसरे दिन सिराजुद्दौला का कटा हुआ सिर हाथी के सिर पर बाँधकर मुर्शिदाबाद में घुमाया गया।

सिराजुद्दौला का अन्त हो गया। लेकिन उसके जीवन की कथाओं का अभी अन्त न होगा। वीर, पराक्रमी और ईमानदार सिराजुद्दौला के साथ कम्पनी के अंग्रेजों ने जो जाल रचे और जिस प्रकार उसे वे जीत सके, उसकी कहानियाँ इतिहास के पन्नों से मिटाई नहीं जा सकती। भारत के हिन्दू और मुसलमान जहाँ सिराजुद्दौला की कीर्त्ति की कहानी पढ़ेंगे, वहीं पर वे साथ-साथ विश्वासघाती और देशद्रोहियों के षड़यंत्रों पर अपनी घृणा प्रकट करेंगे।

कत्ल के समय सिराजुद्दौला की उम्र पच्चीस वर्ष से अधिक न थी। वह पराक्रमी था, विश्वासी था और ईमानदार था। वाट्सन और क्लाइव के मुकाबिले सिराजुद्दौला की पराजय, कूटनीति, षड़यन्त्रों और बेईमानियों के मुकाबिले में ईमानदारी, धर्म प्रियता और सदाचार की पराजय थी।

पाँचवाँ परिच्छेद

मीरजाफर और उसका शासन

नये नवाब की नीति

सिराजुद्दौला के स्थान पर मीरजाफर नवाब हुआ। अभी तक हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ एक-सा व्यवहार होता था। लेकिन मीरजाफर के नवाब होते ही इस नीति में परिवर्तन हो गया। नवाब होते ही मीरजाफर ने बड़े-बड़े ओहदों पर मुसलमानों को लेना आरम्भ किया और हिन्दुओं को निकाल कर अलग किया। उसका सम्पूर्ण शासन-प्रबन्ध अंग्रेजों के इशारे पर चालू हुआ।

मुर्शिदाबाद के आधीन जो हिन्दू सूबेदार थे, उनके स्थानों पर मुसलमान सूबेदार बनाये गये। उन दिनों में राजा रामनारायण बिहार मे सूबेदार था और वह अलीवर्दी खाँ का सदा से शुभचिंतक रहा था। रामनारायण को सूबेदारी से अलग करने के लिए उपाय खोजे जाने लगे। उसके ऊपर यह दोष लगाया गया कि तुम अवध के शासक से मिलकर मीरजाफर के विरुद्ध काम कर रहे थे और फ्राँसीसियों की तुमने मदद की है। रामनारायण को गद्दी से उतारने के लिए मेजर कूट के साथ एक अंग्रेज फौज रवाना हुई। सुलहनामे की बातचीत शुरू हुई। मेजर कूट के साथ मीरजाफर का दामाद मीरकासिम भी वहाँ मौजूद था। बहुत-सी बातों के बाद रामनारायण को नवाब मीरजाफर के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करनी पड़ी। मेजर कूट, महमूद अमीन और मीरकासिम के दिली गुबार निकल गये और रामनारायण के साथ गले मिले। उसके बाद सेना के साथ मेजर कूट वापस चला गया।

हिन्दू राजाओं पर आक्रमण

रामनारायण के बाद रामरमसिंह का नम्बर आया। यह उड़ीसा

का राजा था। मुर्शिदाबाद में रामरमसिंह के भाई और भतीजे को कैद कर लिया गया। इस पर बिगड़कर रामरमसिंह ने क्लाइव को पत्र लिखा :—

"××मुर्शिदाबाद के नवाब का यह अत्याचार असह्य है। अगर नवाब मुझ पर चढ़ाई करना चाहता है तो मैं लड़ने के लिए तैयार हूँ। लेकिन अगर आप मध्यस्थ हो सकें तो मामला सुलझ सकता है और इसके लिए मैं नवाब को भेंट करने के लिए एक लाख रुपयों का नजराना दूंगा।"

क्लाइव ने कुछ सोच-समझकर इस मामले को बढ़ाना अच्छा न समझा और मामला तय हो गया। कैद किये गये दोनों आदमी छोड़ दिये गये।

इसके बाद पूर्णिया के राजा युगलसिंह के विरुद्ध अंग्रेजों और मीरजाफर की कोशिशें चल रहीं थीं। युगलसिंह के स्थान पर मीरजाफर खुदामहुसेन को पूर्णिया का सरदार और अधिकारी बनाना चाहता था। युगलसिंह पर हमला किया गया और खुदामहुसेन वहाँ की गद्दी पर बैठाया गया।

मुर्शिदाबाद दरबार की ओर से राजा दुर्लभराम एक अफसर था। इसने सिराजुद्दौला के विरुद्ध मीरजाफर और अंग्रेजों की बहुत मदद की थी। उसके अहसानों पर मिट्टी डालकर उसको नष्ट करने के उपाय हुए। लेकिन उसका लोगों पर असर बहुत था, इसीलिए अंग्रेजों ने मीरजाफर के साथ उसकी सुलह करा दी।

रामनारायण के साथ नया समझौता

कुछ ही दिन पहले रामनारायण के साथ मेजर कूट और मीर कासिम मामला तय कर चुके थे और गले मिल चुके थे। बिना किसी कारण के राजा रामनारायण पर फिर चढ़ाई हुई। अपनी-अपनी सेनाओं के साथ क्लाइव और मीरजाफर पटने की तरफ चले। इस चढ़ाई के दो उद्देश्य क्लाइव के थे। एक तो मीरजाफर से संधि के अनुसार लड़ाई में मदद करने पर फौज का खर्च लेना था और दूसरा यह कि रामनारायण से लम्बी रकमें वसूल करना था। यही हुआ भी। लड़ाई तो हुई नहीं, लेकिन मीरजाफर को क्लाइव की फौज के खर्च में लम्बी-लम्बी

कमें देनी पड़ीं। जिनके सम्बन्ध में क्लाइव ने स्वयं स्वीकार किया है :—"नवाब की उदारता से थोड़े ही दिनों में मुझे अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई है।"

पटना में एक समझौता हुआ। उस समझौते में मध्यस्थ होने के बदले में क्लाइव ने रामनारायण से सात लाख रुपये वसूल किये और एक चलताऊ सुलहनामा हो गया।

इन्हीं दिनों में एक घटना और हुई। दिल्ली दरबार और मीरजाफर के बीच अनबन हो गयी। सम्राट की ओर से मीरजाफर के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न हुआ। मीरजाफर ने घबरा कर क्लाइव से सहायता की प्रार्थना की।

सम्राट की फौजें पटने तक पहुँची थीं। रामनारायण ने सम्राट के प्रति शिष्टता और विनम्र भाव प्रकट किया। सम्राट की फौजें वहाँ से लौट पड़ीं। वे मुर्शिदाबाद के विरुद्ध आरही थी। रास्ते में मीरजाफर की सहायता के लिए, अपनी सेना के साथ क्लाइव मिला। उसने सम्राट की विशाल सेना के सामने लड़ना उचित नहीं समझा। एक संतोषजनक समझौते के बाद सम्राट की सेना लौट गयी।

क्लाइव की सहायता से मीरजाफर बहुत खुश हुआ। उसने इस सहायता के बदले में क्लाइव को तीन लाख रुपये की एक जागीर दे दी। इस जागीर को पाकर क्लाइव सम्पत्तिशाली अंग्रेजों में गिना जाने लगा।

मीरजाफर और क्लाइव

अंग्रेजों की सहायता करने में मीरजाफर ने सिराजुद्दौला के साथ जिस प्रकार घृणित विश्वासघात किया, उसकी कहानी पहले ही लिखी जा चुकी है। नवाब होने के बाद मीरजाफर ने क्लाइव के ऊपर जिस प्रकार सम्पत्ति की वर्षा की उसका भी संक्षेप में वर्णन हो चुका है। अब देखना यह है कि जो मीरजाफर अंगरेजों का इतना भक्त था, उसके साथ अंग्रेजों का व्यवहार कैसा रहा। इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री को क्लाइव ने एक पत्र लिखा था। उसकी कुछ बातें इस प्रकार हैं :

"इस देश में अंगरेजों ने बहुत कुछ काम किया है। लगातार क्रान्ति और संन्धि से कम्पनी को बहुत फायदा पहुँचा है। ×× आगे

और भी बड़े फायदे उठाये जा सकते हैं। लेकिन इसके लिए अंग्रेजी कम्पनी को अधिक सेना की जरूरत पड़ेगी। दो वर्षों में मैंने यहाँ की पूरी जानकारी हासिल की है। बंगाल का नवाब बूढ़ा है और उसका लड़का निकम्मा है। साथ ही वह हमारा शत्रु भी है। इसलिए वह नवाब होने का हकदार नहीं है। यहाँ के लोगों को आपस में एक दूसरे के साथ प्रेम और सहानुभूति नहीं है। इसी आधार पर हमारी सफलता निश्चित है। कम्पनी को बहुत बड़ी कामयाबी हो सकती है। किन्तु इसके लिए इंगलैण्ड को एक बड़ी सहायता करनी होगी। सभी जानते हैं कि अमेरिका पर राज्य कायम करने के लिये इंगलैण्ड को बहुत बड़ा आर्थिक बलिदान करना पड़ा था। यहाँ पर छोटी-सी अंग्रेजी फौज इसलिए काफी होगी कि जितने काले सिपाही हम चाहें, अपनी सहायता में भरती कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि आप इस प्रस्ताव का स्वागत करेंगे।"

क्लाइव के इस पत्र से साफ मालूम होता है कि मीरजाफर के प्रति भी उसके विचार कितने दूषित थे। मीरन, मीरजाफर का लड़का था। उसको क्लाइव ने निकम्मा और अयोग्य साबित किया है। इसका कारण यह था कि वह अंग्रेजों की चालों को खूब समझता था और अंग्रेजों के विरुद्ध बातें किया करता था।

अंगरेजों की दोमुखी नीति

अंगरेजों की लूट और उनके अत्याचारों से बंगाल की हालत बड़ी खराब हो गयी थी। ये खबरें दिल्ली में बराबर पहुँचीं। दिल्ली दरबार के आधीन होते हुए भी अंग्रेजों के कारण बंगाल की मालगुजारी का दिल्ली जाना बन्द हो गया था, दिल्ली के सम्राट के सामने यह भी एक प्रश्न था। दिल्ली के नये सम्राट शाह आलम ने अपनी सेना के साथ बंगाल जाने के लिए यात्रा की। उनके बिहार पहुँचने के पहले ही अंगरेजों को इसकी खबर हो गयी। उन्होंने मीरजाफर और उनके लड़के मीरन को तैयार किया कि वे जाकर सम्राट को आगे बढ़ने से रोकें।

इधर मीरन मुर्शिदाबाद से फौज लेकर सम्राट के मुकाबिले के लिए रवाना हुआ और एक अंग्रेजी फौज के साथ करनल केलो कलकत्ते से

मुर्शिदाबाद की तरफ चला। असल में मीरन सम्राट से लड़ने के लिए तैयार न था। अंग्रेजों के कहने से रामनारायण अपनी सेना के साथ सम्राट के मुकाबिले को चला। उसके साथ मुठभेड़ होते ही सम्राट की सेना का जोर आगे बढ़ा। रामनारायण की पराजय हुई। सम्राट की सेना ने पटना को घेर लिया।

इसी बीच में मीरन और करनल केलो भी वहाँ पहुँच गये। करनल केलो सम्राट से लड़ने के लिए एक ओर मीरन को मजबूर कर रहा था और दूसरी ओर सम्राट शाह आलम के साथ गुप्त पत्र-व्यवहार कर रहा था। करनल केलो के रहस्य का कुछ पता न चला। सम्राट की सेना पटना छोड़ कर मुर्शिदाबाद के लिए बढ़ी। इस समय भी मीरन, सम्राट के साथ लड़ना नहीं चाहता था किन्तु पिता मीरजाफर के कारण उसे अंगरेजों की सलाह पर चलना पड़ता था।

शाहआलम अनिश्चित अवस्था में था। अंग्रेजों को यह भी अंदेशा था कि मीरजाफर और सम्राट में कहीं मेल न हो जाय।

मीरन की हत्या का रहस्य

अंगरेजों की चालों से मीरजाफर ऊब चुका था। लेकिन स्पष्ट रूप से वह शत्रु न होना चाहता था। मीरन की परेशानी उससे भी अधिक थी। उसके विरोध अंग्रेजों को कभी-कभी खल जाते थे।

कुछ दिन पहले मीरजाफर ने वहाँ के राजा युगलसिंह के स्थान पर खुदामहुसेन को नवाब बनाया था। वही खुदामहुसेन मीरजाफर के विरुद्ध सम्राट की ओर से लड़ाई के लिए तैयार था। अंगरेज न तो खुदामहुसेन के दोस्त थे और न मीरन के। इसीलिए वे एक ही तीर से दो शिकार करना चाहते थे। वे चाहते थे कि खुदामहुसेन से मीरन का युद्ध हो। लेकिन मीरन इसके लिए तैयार न था। इसीलिए अंग्रेजों के साथ उसका द्वेष बढ़ता गया। पूर्णिया पर हमला करने के लिये अङ्गरेजों की और नवाब की सेनायें गयी थीं। लेकिन नवाबी फौज की ओर से मीरन युद्ध से मुंह मोड़ रहा था। वहीं पर २ जुलाई की रात को मुर्शिदाबाद का युवराज मरा हुआ मिला। लेकिन उसकी मृत्यु का किसी प्रकार कुछ रहस्य न खुला।

मीरजाफर के साथ बगावत

सिराजुद्दौला की हत्या के बाद बंगाल की हालत बहुत खराब हो गयी। मीरजाफर ने अङ्गरेजों के साथ जो सन्धि की थी, उसको उसने पूरा किया और उसके बाद भी अंगरेजों की जो माँगें होती थीं, उन्हें वह पूरा करता था। एक ओर मीरजाफर अंग्रेजों को रुपया देने में अपनी प्रजा का खून चूस रहा था और दूसरी ओर व्यापार के नाम पर अनेक प्रकार के अत्याचार करके अंगरेज बंगाल को भिखारी बना चुके थे।

इतने पर भी अंगरेजों को संतोष न था। वे मीरजाफर के स्थान पर एक दूसरा नवाब बनाना चाहते थे। जो केवल नाम के लिए नवाब रहे। इसी अभिप्राय से मीरजाफर के विरुद्ध अंगरेजों के विद्रोह आरम्भ हो गये। गुप्त रूप से षड़यन्त्र रचे जा रहे थे। वे किसी प्रकार मीरजाफर को बरबाद करने के लिए मौका ढूढ़ रहे थे। जब कोई बहाना न मिला तो अंगरेजों ने अपनी नयी माँग पेश की। लेकिन मीरजाफर उनको पूरा करने के लिए समर्थ न था। इसलिए उसने अपने दामाद मीरकासिम को बातचीत करने के लिए अंगरेजों के पास भेजा।

अंगरेजों ने मीरजाफर के विरुद्ध जो षड़यन्त्र तैयार किया था उसमें उन्होंने मीरकासिम को भी शामिल करने की कोशिश की। वे बड़ी मुहब्बत से उसके साथ मिले और अपनी गहरी सहानुभूति दिखाई। मीरकासिम को मुर्शिदाबाद का प्रधानमन्त्री और सूबेदारी के सम्पूर्ण अधिकारों को उसे देने का प्रस्ताव किया। साथ ही एक लम्बी रकम वार्षिक खर्च के लिए भी बतौर पेन्शन के मीरकासिम को जिन्दगी-भर दिये जाने का निश्चय हुआ और तय हुआ कि मीरकासिम के साथ जीवन-भर मित्रता रखने के लिए अंगरेज तैयार हैं। यह भी कहा गया कि जरूरत पड़ने पर अंगरेज अपनी फौज से उसकी बराबर सहायता करेंगे। अगरेजों के इस सुलूक के बदले में अधिकारी होने पर मीरकासिम बर्दवान, मेदनीपुर और चटगाँव—तीनों जिले हमेशा के लिये कम्पनी को दे दे।

यह भी कहा गया कि सम्राट के साथ अंगरेजों की बिना मरजी

किसी प्रकार की सन्धि करने का अधिकार न होगा। बंगाल, बिहार और उड़ीसा—तीनों प्रान्तों का सम्बन्ध सम्राट से अलग कर लिया जाय। इस प्रकार अधिकार प्राप्त होने पर मीरकासिम अंगरेजों को पच्चीस लाख रुपये अदा करे।

इस प्रकार के प्रलोभन कलकत्ते पहुँचने पर अंगरेजों ने मीरकासिम के सामने रखे और मीरकासिम ने उनको मंजूर कर लिया। सन्धि-पत्र तैयार किया गया और उस पर दस्तखत हो गये।

मीरजाफर पर आक्रमण

सन्धि-पत्र पर दस्तखत करके मीरकासिम कलकत्ते चला गया। उसके बाद कलकत्ते से अंगरेज गवर्नर भी मुर्शिदाबाद के लिए रवाना हुआ। वहाँ जाकर उसने मीरजाफर से कहा—मीरकासिम मुर्शिदाबाद का शासन अपने हाथों में लेना चाहता है।

मीरकासिम को शासन का अधिकार सौंपने के लिए मीरजाफर तैयार न हुआ। १८ अक्टूबर की यह बातचीत है। २० अक्टूबर को सबेरा होने के पहले ही अंगरेजी सेना ने मीरजाफर के महल पर हमला किया।

उस समय मीरजाफर अपने महल में सो रहा था। अंगरेजी सेना-द्वारा महल के घिर जाने पर मीरजाफर के मन में क्या बीती होगी, इसका सुन्दर चित्रण एक अंगरेज ने किया है। "निस्सन्देह आज मीर-जाफर को अपने किये गये पापों का पूरा बदला मिल रहा था। उसने सिराजुद्दौला के साथ जो कुछ किया था, ठीक वही उसके दामाद मीर-कासिम ने उसके साथ किया। संसार में जो जैसा करता है, उसको वैसा ही बदला भी मिलता है।" उस दिन मीरजाफर अपने जीवन के पापों का प्रायश्चित्त कर रहा था!

मीरजाफर का पतन

अपने महल के आस पास अंगरेजों की गोरी और काली फौजों को देखकर मीरजाफर की हिम्मत टूट गयी। अङ्गरेज सेनापति के सामने मीरजाफर के मुँह से केवल इतनी ही बातें निकलीं :—

"आप लोगों ने ही मुझे नवाब बनाया था और आपही मुझे उसके अधिकार से अलग कर रहे हैं। आपके साथ जो मैंने सन्धि की थी,

उसे मैंने पूरा किया है। उस सन्धि को आपने तोड़ा। आज के पहले अगर मैं चाहता तो बीस हजार की फौज लेकर मैं आपसे लड़ सकता था। मेरे लड़के मीरन ने मुझे सदा आप लोगों से सावधान किया था लेकिन मैंने सन्धि पर विश्वास किया था।"

मीरजाफर के इतना कहने के बाद उसको कलकत्ते भेज दिया गया और मुर्शिदाबाद का शासन मीरकासिम को सौंप दिया गया।

छठवाँ परिच्छेद

मीरकासिम का शासन

अङ्गरेजों की मनमानी

शासन का अधिकार पाते ही मीरकासिम ने देखा, राज्य की आर्थिक दशा बहुत खराब है। प्रजा की गरीबी के कारण मालगुजारी वसूल न होती थी। सरकारी खजाना खाली पड़ा था। आमदनी न थी। खर्च बहुत थे। फौजी वेतन बहुत दिनों से अदा न हो रहे थे। जो कुछ रुपया आता था, वह सब का सब अंगरेजों की माँगों पर चला जाता था।

मीरकासिम ने राज्य के रईसों को बुला-बुला कर उनसे रुपये वसूल करने शुरू किये। इस पर भी, काम न चलने पर अङ्गरेजों की माँगों को पूरा करने के लिए मीर कासिम को महल के जवाहरात और सोने चाँदी के जेवर बेच-बेचकर काम चलाना पड़ा।

कलकत्ते में अंगरेजों ने सिक्का ढालने के लिए कारखाना खोला था। उसमें ढलने वाले रुपये निकम्मी धातु के बने होते थे। मुर्शिदाबाद और बंगाल के लोगों ने उनको लेने से इनकार किया। इस पर अङ्गरेजों के शिकायत करने पर मीरकासिम ने इनकार करने वालों को तरह-तरह की सजायें दीं। इस प्रकार के अत्याचारों से प्रजा में बहुत असन्तोष बढ़ने लगा।

सन्धि के अनुसार मीरकासिम ने तीन जिले जो अङ्गरेजों को दे दिये थे, उनमें अङ्गरेजों के भयानक अत्याचार होने लगे। गोरे सिपाही चारों तरफ लूट मार करते थे और उनकी कोई सुनवाई न थी।

इस प्रकार की अवस्था हो जाने पर बर्दवान के राजा तिलकचन्द ने कलकत्ते के अंगरेजों को लिखा। गोरे सिपाहियों ने स्थान-स्थान पर जो लूट-मार कर रखी है, उससे लोगों की जान खतरे में पड़ गयी है।

गाँव के लोग स्त्री-बच्चे लेकर भाग रहे हैं। इसका नतीजा यह हो रहा है कि मालगुजारी वसूल होने की कोई आशा नहीं है।

मीरकासिम की घबराहट

राज्य में रियाया की जो बुरी हालत हो रही थी, और जिसके कारण राज्य की आर्थिक दशा दिन-पर-दिन खराब होती जाती थी, उससे मीरकासिम की घबराहट बढ़ गई। कुछ और न सूझने पर उसने अपने अनेक इलाके अंगरेज कम्पनी के सुपुर्द कर दिये। जब यह समाचार तिलकचन्द को मालूम हुआ तो वह बहुत घबराया और उसने प्रजा की मुसीबतों का कच्चा चिट्ठा कम्पनी के पास लिखकर भेजा।

इन तमाम बातों का कम्पनी पर कोई प्रभाव न पड़ा। इस पर वीरभूमि के राजा के साथ, राजा तिलकचन्द ने अंगरेजों के साथ बगावत का इन्तजाम किया। और उस बगावत को दबाने के लिए एक अंगरेज कप्तान के साथ अंगरेजी सेना भेजी गयी।

विद्रोही सेना अंगरेजी फौज का मुकाबला न कर सकी। अंगरेजी फौज ने वीरभूमि की राजधानी नागौर पर कब्जा कर लिया।

मीरकासिम की हालत लगातार कमजोर होती जाती थी। उसने जो सन्धि की थी, उसके हिसाब से भी उसके हाथ-पैर कटे थे। दूसरी बात यह भी थी कि अङ्गरेजों की कृपा से ही उसको यह शासन मिला था। अपनी अधेड़ अवस्था तक उसने कम्पनी के अङ्गरेजों के षड़यन्त्र खूब देखे थे। इसलिए वह यह भी जानता था कि इनसे बैर लेने में भलाई नहीं है। इसलिए वह सब कुछ देखते हुए भी अङ्गरेजी अत्याचारों के खिलाफ कुछ कह न सकता था।

मुर्शिदाबाद और तमाम बंगाल में गरीबी बढ़ रही थी। आमदनी के साधन खतम होते जाते थे। जरूरत पड़ने पर प्रजा से रुपये वसूल किये जाते थे। न देने पर मारपीट होती थी और गोरे सिपाही घरों में घुस कर लूट लेते थे। यह तो एक साधारण बात हो गयी थी।

अङ्गरेजों के व्यापार का तरीका भी दिन-पर-दिन नाजायज होता जाता था। उनकी कोई व्यापारिक नीति न थी। भारत का व्यापार

नष्ट करके अब वे स्वयं व्यापारी बन गये थे। माल पर मनमानी कीमत वसूल करते थे। कोई विरोध करने वाला न था।

राज्य की अवस्था और भी खराब हो रही थी। न तो ठीक-ठीक मालगुजारी वसूल होती थी और न व्यापार से सरकारी महसूल ही कुछ आता था। जमीदारों और राजाओं से जो मालगुजारी वसूल होती थी, वह बहुत कुछ अंगरेजों के अधिकार में चली गयी थी। इतिहास-कार मिल ने अपनी पुस्तक History of India में इन बातों के स्पष्ट वर्णन दिये हैं।

उस समय बंगाल की प्रजा की जो हालत हो रही थी उस पर वारन हेस्टिंग्स ने २५ अप्रैल सन् १७६२ के अपने एक पत्र में बहुत-कुछ प्रकाश डाला है। कम्पनी के साधारण अङ्गरेजों, उनके मुंशियों, मुह-रिरों और नौकरों ने नाजायज तरीके से रुपये वसूल करके जिस प्रकार अपने आपको माला माल बना रखा था, उसका वर्णन वरल्स्ट (Verelst) ने View of Bengal मे किया है।

अङ्गरेजों के ही नहीं, उनके नौकरों के अत्याचार भी सर्वसाधारण के साथ बहुत बढ़े हुए थे। इन घटनाओं के सम्बन्ध में अनेक विदे-शियों और अङ्गरेजों ने भी निष्पक्ष होकर बहुत-सी बातो को स्वीकार किया है। एक अङ्गरेज ने, जिसको बहुत दिनों तक भारत की अङ्गरेजी कम्पनी मे रहने और काम करने का मौका मिला था, लिखा है :—

भारत तिजारती मुल्क था। किन्तु अब उसकी हालत बहुत खराब हो गयी थी। अंगरेज व्यापारी अपनी मरजी के मुताबिक कीमत देकर माल खरीद लेते थे और उसी माल को मनमानी रकम पर बेचते थे। अंगरेजों ने माल खरीदने और बेचने के लिए गुमाश्ते रखे थे। वे बाजार में जाते थे और माल लेकर, उसकी कीमत में जो चाहते थे दे देते थे। कोई कुछ कह न सकता था। अगर किसी ने कुछ एतराज किया तो बाजार में ही उसके ऊपर कोड़ों की मार पड़ती थी। विरोध में बोलने वालों को कैद कर लेना मामूली बात थी। व्यापार के माल के खरीदने और बेचने का अंग्रेजों ने एक प्रकार से ठेका ले रखा था। सरकारी कोई हुक्म न होने पर भी यह बात आम तौर पर जाहिर थी कि जो व्यापार अङ्गरेज करते थे, उन्हें कोई हिन्दुस्तानी न कर सकता था।

जिस व्यापार ने भारत को संसार की नजरों में मालामाल बना

रखा था, उसकी बरबादी पर प्रकाश डालते हुए विद्वान बर्क ने इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट के सामने इजहार किया था :—

कम्पनी के अङ्गरेजों के जमाने मे भारत और विशेष कर बंगाल का व्यापार उसको सवनाश की ओर ले जा रहा था। पहले अङ्गरेजों को अपने इन कामों के लिए नवाब से पास लेने पड़ते थे। लेकिन आगे चलकर कम्पनी के गुमाश्ते स्वयं अपने दस्तखत से पास देने लगे। इस तरह वहाँ की तिजारत ने डकैती का रूप धारण कर लिया।

देश के सभी भागों में अंगरेजों का यही व्यवहार था। व्यापार के रूप में अंगरेजी फौजों की लूट का काम हो रहा था।

इस प्रकार के अत्याचारों से मीरकासिम की परेशानियाँ बहुत बढ़ गयी थीं। वह जानता था कि अंगरेज और उनके गुमाश्ते बहुत जुल्म करते हैं और उस पर भी झूठी शिकायतें बना कर कम्पनी के पास भेजा करते हैं। उनकी शिकायतों पर गोरे सिपाहियों के दल आते और प्रजा के साथ मार पीट और लूट करते। मीर कासिम के खजाने में कहीं से कुछ वसूलयाबी होकर न आती थी। कभी-कभी मीरकासिम घबराकर कम्पनी से इन बातों की शिकायत भी करता था।

राजा नन्दकुमार

इस प्रकार के अत्याचार राजा नन्दकुमार को अब सहन न होते थे। वह अनेक प्रकार के उपाय सोचा करता था। यही नन्दकुमार पहले अमीचन्द के बहकाने से अंगरेजों के पक्ष में हो गया था। लेकिन अब उसकी हालत बदल गयी थी। मजबूर होकर उसने दिल्ली सम्राट और मराठों के साथ पत्र-व्यवहार किया और इन अत्याचारों को रोकने लिए एक योजना बनायी। इस योजना में सम्राट और मराठे सहमत हो गये।

पानीपत की तीसरी लड़ाई

इन दिनों में आलमगीर द्वितीय का मुगल साम्राज्य में शासन था। मुगल साम्राज्य की हालत बहुत कमजोर हो गयी थी। मराठों से अंग्रेजों के विरुद्ध सम्राट की सहायता करने के लिए प्रार्थना की गयी। इस पर मराठों की ओर से रघुनाथ राव दिल्ली भेजे गये। वहाँ बहुत-सी बातें हुई। रघुनाथ राव और सम्राट के बीच प्रेम और सहानुभूति का रिश्ता कायम हुआ। इसके बाद रघुनाथ राव ने अहमदशाह

अब्दाली को पराजित किया और पंजाब विजयकर वहाँ पर दिल्ली सम्राट के शासन में एक मराठा सरदार को सूबेदार बना दिया। सन् १७५९ में अहमदशाह ने बदला लेने के लिए पंजाब पर हमला किया।

अहमदशाह के मुकाबिले में मराठों की ओर से एक बड़ी फौज के साथ पूना से सदाशिव राव भाऊ भेजे गये। साथ में पेशवा का पुत्र विश्वास राव भी था। इस मुकाबिले के लिए होल्कर और सींधिया की फौजें भी पेशवा की मदद में गयीं। दूसरे राजपूत राजाओं की सैनिक सहायता भी प्राप्त हुई। भरतपुर के राजा ने ३०,००० सैनिक लेकर पेशवा का साथ दिया। दिल्ली सम्राट की ओर से सदाशिव राव भाऊ का खूब स्वागत किया गया।

अहमदशाह के मुकाबिले के लिए अवध के नवाब शुजाउद्दौला अपनी और दिल्ली सम्राट की फौजों को लेकर सदाशिव राव की सहायता के लिए तैयार हुआ।

सदाशिवराव भाऊ की भूल

इस मौके पर मराठा और सम्राट की शक्तियों के सहयोग का जितना अच्छा अवसर था, उतना ही कुछ मामूली भूलों का बुरा परिणाम भी सामने आया। सदाशिव राव भाऊ के व्यवहारों से अनेक मराठा सरदार और राजा भरतपुर को द्वेष उत्पन्न हुआ। कहा जाता है कि वहाँ पहुँचकर और किले में प्रवेश करते ही भाऊ ने गलती की। उसने वहाँ के कीमती सामान अपने कब्जे में कर लिया। उसके इस स्वार्थपूर्ण व्यवहार से अवध के नवाब को संदेह पैदा होगया। कुछ मराठा सरदारों ने भी इसे अच्छा न समझा।

भरतपुर के राजा के दिल को भी बड़ा धक्का लगा। इतिहासकारों का कहना है कि सदाशिव राव भाऊ के व्यवहारों में अनुचित अहंकार भी था। ६ जनवरी सन् १७६१ को पानीपत के मैदान में भयानक संग्राम हुआ दोनों ओर से बड़ी संख्या में सैनिक मारे गये। पेशवा की सेनाओं में फूट पैदा हो गयी। फल स्वरूप होल्कर की फौज अलग हो गयी। राजा भरतपुर की सेना ने भी युद्ध में काम न किया। नतीजा यह हुआ कि सदाशिव और विश्वास राव—दोनों ही उस युद्ध में मारे गये। अहमदशाह की विजय हुई।

इस हालत में अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने अहमदशाह के साथ मेल कर लिया। सदाशिव राव के अनुचित व्यवहारों के कारण मराठा फौज को हारना पड़ा। अहमदशाह ने शाहआलम दूसरे को मुगल साम्राज्य का सम्राट घोषित किया।

पानीपत की इस पराजय का नतीजा बहुत बुरा हुआ। यहीं से भारतीय शासन की नींव प्रोफेसर सिडनी ओवेन के अनुसार निर्बल हो जाती है और अंगरेजी कम्पनी की शक्तियों के बढ़ने का रास्ता खुल जाता है।

राजा नन्दकुमार ने जो योजना बनायी थी और जिसके अनुसार सम्राट और मराठा शक्तियों का सम्मेलन हुआ था, उस पर पानी पड़ गया। इसके फलस्वरूप सम्राट की शक्ति और भी निर्बल हो गयी। मराठों के बढ़ते हुए हौसले टूट गये। देश के छोटे-छोटे शासकों और नरेशों में एका और संगठन न रहा। देश की सभी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न दिखाई देने लगीं।

शाहआलम के साथ अंगरेजों की सन्धि

कलकत्ते में बैठे हुए अंगरेज देश की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन कर रहे थे। मौका पाकर शाहआलम के साथ एक समझौता कर लेना उनके लिए जरूरी हो गया। इन दिनों में बंगाल की सेनाओं का प्रधान सेनापति कारनक था। जनवरी सन् १७६१ में कारनक शाहआलम से मिलने के लिये पटना गया। मीरकासिम वहीं पर मौजूद था। उसने शाहआलम को सम्राट के रूप में मन्जूर किया। और तय हुआ कि मुर्शिदाबाद और कलकत्ते में जो सिक्के ढाले जाँय, उनमें शाहआलम दूसरे का नाम हो। मीरकासिम ने २४ लाख रुपये दिल्ली सम्राट को देने का वादा किया और सम्राट की ओर से तीनों प्रांतों की सूबेदारी का हक मीरकासिम को मिला। इसी मौके पर अपने इलाकों के लिए कम्पनी के अंगरेज स्वतन्त्र रूप से अधिकार चाहते थे। लेकिन शाहआलम ने इसका विरोध किया। अंगरेजों की एक प्रार्थना यह और थी कि मीरकासिम सूबेदार बने रहें। लेकिन दीवानी अदालत के अधिकार कम्पनी को दे दिये जायें। मतलब यह था कि तीनों प्रान्तों में सरकारी मालगुजारी वसूल करने का अधिकार कम्पनी के अंगरेजों को हो।

शाहआलम के सामने एक दूसरी चिन्ता थी। दिल्ली के सिंहासन के लिए कोई दूसरा खड़ा होकर कहीं संघर्ष न पैदा कर दे, इसलिए उसने चाहा कि अङ्गरेजी फौजें दिल्ली के लिए साथ चलें और इसके बदले में शाहआलम दीवानी के अधिकार देने के लिए तैयार था। लेकिन अङ्गरेज इसके लिए तैयार न हुए।

रामनारायण की गिरफ्तारी

इधर कुछ दिनों से अङ्गरेजों को मराठों और दिल्ली दरबार का डर पैदा हुआ था, अब वह भी जाता रहा। इसलिये वे अपनी चालों पर फिर उतारू हुए, वे जानते थे कि रामनारायण के पास धन बहुत है। अङ्गरेजों को धन की जरूरत थी। अंग्रेज गवर्नर ने यह अपराध लगा कर कि रामनारायण पर बहुत कुछ मालगुजारी बाकी है, उसे कैद कर लिया और मीरकासिम के पास भेज दिया। इसी गवर्नर ने अङ्गरेज सेनापति कारनक को लिखा था कि नवाब मीरकासिम के अत्याचारो से रामनारायण की रक्षा होना चाहिए।

इसी सिलसिले में कारनक ने एक मौके पर यह भी स्वीकार किया कि राजा रामनारायण पर बकाया रुपये का अपराध लगाना सरासर अन्याय है। मुर्शिदाबाद में राजा रामनारायण को हथकड़ियाँ पहना कर कैद में रखा गया। इससे छूटने के लिए जितना रुपया उससे माँगा गया, उसने मंगाकर दिया। फिर भी मीरकासिम और अङ्गरेजों ने मिलकर रामनारायण के स्थान पर एक, दूसरा नवाब मुकर्रर कर दिया।

रामनारायण से मीरकासिम को जो लम्बी रकमें मिली, उससे उसने अपना बहुत-कुछ काम सम्हाला। फौजों की तनख्वाहें अदा कीं और कम्पनी को जो कुछ देना था, उसे भी अदा कर दिया। इधर मुर्शिदाबाद में अंगरेजों का अधिपत्य बढ़ता जाता था इसलिए उसने सोच-समझकर मुर्शिदाबाद से मुंगेर को अपनी राजधानी बनाया और किलेबन्दी का मजबूत इन्तजाम किया। उस किले पर लगभग ४५ हजार फौज का प्रबन्ध किया और उनको लड़ाई की नयी तालीम देने के लिए विदेशी नौकर रखे। तोपों के ढालने के लिए भी उसने एक कारखाना खोला। इस प्रकार मीरकासिम अपनी शक्तियों का संचय करने लगा।

मीरकासिम के विरुद्ध अँगरेजी दाँव पेंच

मीरकासिम ने अंगरेजों की माँगों को पूरा करने में कभी कसर न रखी। लेकिन अंगरेजों के धन की प्यास का बुझना कठिन हो रहा था। असल में वे मीरकासिम को मिटाना चाहते थे। मीरकासिम को बरबाद करने के लिए अंगरेजों की आँखें मीरजाफर की ओर गयीं।

कलकत्ते की अङ्गरेज कमेटी की ओर से कम्पनी के डाइरेक्टरों के नाम इंगलैण्ड एक पत्र भेजा गया। उसमें मीरकासिम के विरुद्ध सैकड़ों बातें लिखी गयीं और बहुत से दोष उसके ऊपर लगाये गये। साथ ही, उसी पत्र में मीरजाफर की तारीफ की गयी और कहा गया कि नवाबी के पद से मीरजाफर का हटाया जाना एक राजनीतिक गलती हुई है।

कम्पनी के अंगरेज ने मीरकासिम को बदनाम करने का काम शुरू किया कि मीरकासिम बहुत जालिम आदमी है। यह भी कहा जाने लगा कि मीरकासिम ने राजा रामनारायण को कैद करके बड़ा अत्याचार किया है।

मीरकासिम के साथ अंगरेजों की एक मुख्य जलन यह थी कि उसने अपनी राजधानी मुंगेर में बनायी और किलेबंदी करके एक बड़ी फौज जमा कर ली है। उस फौज को वह लड़ाई की नई तालीम भी दिलवा रहा है। इसीलिए अंगरेजों के दाँव-पेंच उसके विरुद्ध शुरू हो गये और मीरजाफर की तारीफ के गाने चारों तरफ गाये जाने लगे।

मीरकासिम ने अंगरेजों के अनुचित व्यवहारों को लेकर अनेक बार शिकायती पत्र कलकत्ते भेजे। इसलिए गवर्नर वन्सीटार्ट और वारन हेस्टिंग्स, मीरकासिम से बातें करने के लिए मुंगेर को रवाना हुए।

दोनों अंग्रेजों के मुंगेर पहुँचने पर मीरकासिम ने जो शिकायतें कीं, उनमें मुख्य यह थी कि कम्पनी के अंग्रेजों के अत्याचारों से नवाब की रियाया बहुत गरीब और तबाह हो गयी है। सरकारी मालगुजारी में कुछ वसूल नहीं हो रहा है!

तमाम बातों के बाद, दोनों अंगरेजों और मीरकासिम के बीच एक नयी संधि हुई। यह संधि मुंगेर की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस सन्धि के अनुसार व्यापारिक माल पर अंगरेज ९ फीसदी महसूल दिया करें और हिन्दुस्तानी २५ फीसदी महसूल अदा किया करें। संघर्ष को

बचाने के लिए मीरकासिम ने इन शर्तों को भी मंजूर कर लिया और संधि पर दस्तखत कर दिये।

संधि हो जाने के बाद दोनों अंगरेज कलकत्ते वापस चले गये। उसके बाद अंग्रेजों के उत्पात और भी अधिक बढ़ गये। कम्पनी की ओर से कम्पनी के नौकरों और गुमाश्तों को लिख दिया गया कि मुंगेर में जो संधि हुई है, उसका तुम लोगों पर कुछ भी प्रभाव न पड़ना चाहिए।

संधि के बाद अंगरेजों का यह व्यवहार देखकर मीरकासिम को बहुत आश्चर्य हुआ। संधि की शर्तों का प्रभाव देश के व्यवसाय पर बहुत घातक पड़ा। देशी व्यापारियों से २५ फीसदी महसूल वसूल होने लगा लेकिन अंगरेज व्यवसायियों से एक पैसा भी वसूल होना असम्भव हो गया। मजबूर होकर मीरकासिम ने व्यापार के सभी महसूल दो साल के लिए माफ कर दिये। इससे नवाब की आमदनी को बहुत धक्का पहुँचा, लेकिन मीरकासिम के पास और कोई उपाय न था।

मीरकासिम की इस आज्ञा से अङ्गरेज बहुत नाराज हुए। कलकत्ते मे उनकी एक बैठक हुई। उसमें निश्चय हुआ कि इसे तय करने और नवाब से कहने के लिए कि इस हुकुम को वह वापस ले ले और २५ फीसदी देशी व्यापारियों से महसूल लिए जाने का फिर हुकुम दे दे, दो नये अंगरेज मुंगेर भेजे गये। इसलिए कि इससे अङ्गरेजी व्यापार को बहुत हानि पहुँच रही थी।

बंगाल में अङ्गरेजों के व्यवहार से लोग बहुत दुखी थे। इस बात को मीरकासिम जानता था। उसने बड़ी दीनता के साथ अङ्गरेजों की की कमेटी को लिखा :—"कम्पनी की जिन फौजों को नवाब की सहायता के नाम पर रखा गया था, उनके खर्च में मैं ५० लाख रुपके की रियासत कम्पनी को दे चुका हूँ। इस पर नवाब के इलाके उजाड़े और बरबाद किये जा रहे हैं।

×××मैं यह भी जानता हूँ कि कम्पनी मेरे स्थान पर एक दूसरा सूबेदार बनाने की फिक्र में है। ये सभी बातें संधि के बिलकुल खिलाफ हैं।"

अङ्गरेजों की इन चालों पर अपनी एक पुस्तक The Decisive Battls of India में कर्नल मालेसन ने स्पष्ट आलोचना की है। उसने अनेक बातों के साथ और अङ्गरेजी नीति की निन्दा करने के बाद यह भी लिखा है कि मीरकासिम यह सब देखते और समझते हुए भी अङ्गरेजों की संधि के साथ शांतिपूर्वक रहने की आशा करता था।

मीरकासिम की शिकायतों का जवाब देते हुए वन्सीटार्ट ने लिखा :—"अङ्गरेज मुंगेर का दूसरा सूबेदार बनाने की कोशिश में हैं, ऐसा कहना बिलकुल बनावट है।"

इसी बीच मे कलकत्ते की अंगरेज कमेटी से मीरकासिम के पास एक पत्र आया कि हमारे यहाँ से दो अंगरेज प्रतिनिधि एक नयी सन्धि करने के लिए मुंगेर आ रहे हैं।

मीरकासिम ने जवाब देते हुए लिखा कि इतनी जल्दी-जल्दी सन्धि करना नीति के विरुद्ध है। आप बातचीत के लिए प्रतिनिधि भेजते हैं और साथ ही आपकी फौजें भी रवाना होती हैं।

मीरकासिम मुंगेर में था उसके खिलाफ अंगरेजों के षड़यंत्र बढ़ते जाते थे। अंगरेजों के दोनों प्रतिनिधि मुंगेर पहुँच गये। उन्होंने मीर-कासिम से नयी सन्धि करने के लिए ग्यारह शर्तें पेश कीं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

१—यह कि अंगरेज कमेटी ने पिछली सन्धि में जो व्यावसायिक नीति पेश की थी, और महसूल व्यापारियों से लिया जाना निश्चित हुआ था, उसे नवाब लिख कर मंजूर करे।

२—देशी व्यापारियों पर नये-नये टैक्स लगाये जायँ।

३—अंगरेजी माल पर किसी प्रकार का महसूल न रखा जाय।

४—अंगरेज नवाब के जिन नौकरों को कहें, नवाब उन्हें सजा दे।

इन शर्तों पर मीरकासिम कुछ कहना चाहता था। लेकिन अंगरेज प्रतिनिधियों ने उनको सुनने से भी इनकार कर दिया और शर्तों के अनुसार सन्धि करने के लिए नवाब को मजबूर करने लगे।

इसी बीच में मीरकासिम को मालूम हुआ कि अंगरेजी फौजें पटने की ओर जा रही हैं। इस पर मीरकासिम ने विरोध किया कि इन फौजों को कलकत्ते वापस बुला लिया जाय।

मीरकासिम की इस बात का जवाब देते हुए अङ्गरेजी प्रतिनिधियों ने कहा कि पटना में अङ्गरेजी फौज बढ़ायी जायगी।

इसी बीच में दोनों अङ्गरेज प्रतिनिधि कलकत्ते वापस चले गये। और अङ्गरेजी फौज के साथ एलिस जो पटना में मौजूद था, उसे कम्पनी का आर्डर मिला कि तुम पटना पर आक्रमण करके उस पर अपना कब्जा कर लो।

पटना पर आक्रमण

अङ्गरेजी फौज ने २४ जून को पटना पर आक्रमण किया और अपना कब्जा कर लिया। मीरकासिम ने यह सुनकर अपनी एक सेना पटना भेजी। उसने जाकर फिर पटना पर अपना अधिकार कर लिया। अङ्गरेजी फौज ने नवाब की सेना का मुकाबिला किया लेकिन उसकी हार हुई और अङ्गरेजी फौज के बहुत-से गोरे तथा हिन्दुस्तानी सिपाही मारे गये और एलिस के साथ-साथ बहुत-से गोरे कैद करके मुर्शिदाबाद भेज दिये गये।

अङ्गरेजी फौज का एक अफसर रोमपाट छिपकर कलकत्ते की ओर भागा, लेकिन रास्ते में ही नवाब के आदमियों ने पकड़ने की कोशिश की। वहीं पर वह मार डाला गया।

मीरकासिम की फटकार

मीरकासिम ने २८ जून को तगड़ी फटकार बताते हुए अङ्गरेज-कमेटी को एक पत्र लिखा :—

"पटना के किले पर एक डाकू की तरह एलिस ने अपनी फौज के साथ हमला किया। शहर को लूटा, चारों ओर बेकसूर लोगों का कत्ल किया। इसलिए इस नुकसान का मुआवजा अङ्गरेजों को अदा करना चाहिए। ईसा की कसम खाकर आप लोगों ने संधि की थी। सन्धि के अनुसार एक फौज नवाब की सहायता के लिए रखी गयी, उसके खर्च के लिए मैंने एक बड़ा इलाका दे दिया था। उस फौज से मुझको और मेरी प्रजा को नाश किया गया। इसके पहले भी अङ्गरेजों, उनके नौकरों और गुमाश्तों ने अत्याचार किये हैं, बड़ी-बड़ी रकमें वसूल की हैं। कम्पनी उसे वापस दे। फौज के खर्च के लिए जो इलाका मैंने दिया था, उसे वह फौरन वापस कर दे।"

मीरकासिम का यह स्वाभिमान से भरा हुआ पत्र पाकर कलकत्ते के अङ्गरेज जल उठे और उनकी कमेटी ने मीरकासिम के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। साथ ही यह भी घोषित किया गया कि मीरकासिम के स्थान पर अब फिर मीरजाफर को गद्दी दे दी गयी है।

मुर्शिदाबाद में हमला करने के लिए अङ्गरेजी फौज मेजर एडम्स के अधिकार मे कलकत्ते से रवाना हुई। नवाब के सेनापति मुहम्मद तकी ने एक खासी फौज लेकर अङ्गरेजों का मुकाबिला किया। दोनों सेनाओं में जोर का युद्ध हुआ। अङ्गरेजों ने नवाब की सेना में पहले से ही फूट के बीज बो रखे थे और कितने ही फौजी अफसरों को अनेक प्रलोभनों के द्वारा मिला रखा था। नवाब की फौज के मिरजा ईरज खाँ ने भयानक विश्वासघात किया। मीरकासिम की फौज में जो योरोपियन और इसाई लोग नौकर थे, धोखा देकर वे सब-के-सब अङ्गरेजों की तरफ चले गये। इन विदेशियों के हाथों में नवाब की सभी तोपें थी। सेनापति मोहम्मद तकी मारा गया। नवाब की पराजय हुई।

अङ्गरेजों की इस जीत पर मालेसन ने लिखा है :—युद्ध में अङ्गरेजों की कामयाबी का सब से बड़ा कारण यह था कि हिन्दुस्तान के लोगों में आपस में फूट और ईर्षा बहुत थी।

नवाब की फौज ने अंत में ऊदवानाला में मुकाम किया। कई तरीकों से यह मुकाम युद्ध के लिए बहुत सुरक्षित था। इस स्थान के एक ओर ऊँची पहाड़ियाँ थीं और दूसरी ओर मजबूत किलेबन्दी थी। जिसके ऊपरी भाग में एक सौ से अधिक तोपें लगी हुई थीं। पहाड़ियों के नीचे एक झील थी, उसकी बगल से नीचे ही नीचे किले के बाहर जाने का एक गुप्त रास्ता था। पूरे एक मास तक नवाब की सेना उस किले के भीतर बनी रही और अङ्गरेजी फौज ऊदवानाला के बाहर पड़ी रही। अङ्गरेजी फौज के साथ बूढ़ा मीरजाफर भी मौजूद था।

मीरकासिम की हार

अङ्गरेजी इतिहासकार ब्रूम ने लिखा है कि मीरकासिम के पास युद्ध की सामग्री अङ्गरेजों से अच्छी और ज्यादा थी। नवाब की फौजों में

जो बन्दूकें थीं, वे अङ्गरेजों की फौजों की बन्दूकों से अधिक मजबूत और काम की थीं।

मीरकासिम की सैनिक योजना में सब-से बड़ी भूल यह की गयी थी कि फौजों में बहुत-से अफसर योरोपियन और ईसाई थे। जो पहले से ही अङ्गरेजों के पक्ष में किये जा चुके थे। कहा जाता है कि नवाब की फौज में एक अङ्गरेज सैनिक भी था जो सब से अधिक खतरनाक साबित हुआ। किले का गुप्त मार्ग इस अङ्गरेज सैनिक को मालूम हो गया। मौका पाकर वह नवाब की फौज से निकल कर अङ्गरेजों में जा मिला और रात के अन्धकार में उस गुप्त मार्ग से अङ्गरेजी सेना को लाकर नवाब की फौज पर हमला कर दिया। इधर नवाब की फौज के कितने ही विदेशी अफसर और सरदार भीतर ही भीतर अङ्गरेजों के पक्ष में थे। अचानक हमले में मीरकासिम के पन्द्रह हजार से अधिक सिपाही मारे गये।

उस एक अङ्गरेज सैनिक की ओर इशारा करते हुए माल्सन ने लिखा है:—

"केवल एक ही आदमी था, जिसने अङ्गरेजों की नाउम्मेदी को कामयाब बनाया था। मीरकासिम की यह सब से बड़ी भूल थी।"

मेजर एडम्स की सेना विजयी हुई। नवाब की करीब चार सौ तोपें अंग्रेजों के कब्जे में आयी।

प्लासी और उदवानाला—दोनों लड़ाइयों की एक हालत रही। युद्ध के दोनों मोर्चों पर अङ्गरेजों की एक ही नीति काम कर गयी।

मीरकासिम के साथ विश्वासघात

उदवानाला-युद्ध के बाद मीरकासिम ने निश्चय किया कि मुंगेर के किले से अङ्गरेजों का सामना किया जयगा। मुंगेर के किले पर उसका मोर्चा लगने भी न पाया था कि उसको पटना जाना पड़ा। इसी मौके पर मुंगेर के किले के अफसर अरबअली खां को रिश्वत देकर अंगरेजों ने मुंगेर के किले पर अपना कब्जा कर लिया। इसके बाद मीरकासिम को कैद करने की अङ्गरेजों ने सोची। अभी एक और किला अजीमाबाद का था। यह किला मीर मुहम्मदअली खाँ के इंतजाम में था। उस किले के लेने में भी अङ्गरेजों को लड़ना नहीं पड़ा

मीर मुहम्मदअली को माहवारी पाँच सौ रुपये पेन्शन देने का इकरार-नामा कम्पनी की ओर से हो गया। इस पर उसने किला अङ्गरेजों के हवाले कर दिया।

इन विश्वासघातों की खबरों का मीरकासिम पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उसका विश्वास अब अपने सभी आदमियों पर से हटने लगा। अङ्गरेज अब भी उसको कैद करने की कोशिश मे थे। अंत में मीरकासिम अपने कुछ सैनिकों के साथ ४ दिसम्बर १७६३ को सूबा अवध में नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ चला गया। उसी दिन से उसके शासन का अन्त हो गया।

सातवाँ परिच्छेद

मीरजाफर का फिर शासन

अंगरेजों के साथ नयी सन्धि

मीरकासिम के शासन का अन्त होने पर कलकत्ते की अङ्गरेजों की कमेटी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में घोषणा की कि मीरकासिम के स्थान पर मीरमुहम्मद जाफरअली खाँ को फिर गद्दी पर बैठाया गया है। साथ ही सरकारी कर्मचारियों से अपील की गयी कि इस नयी घोषणा में सब लोग मिल कर सहायता करें।

ऊपर लिखी हुई घोषणा ७ जुलाई सन् १७६३ को की गयी और इस घोषणा के पहले ही मीरजाफर के साथ अङ्गरेजों की एक नयी सन्धि हुई। उस सन्धि की कुछ शर्तें इस प्रकार हैं :—

१—अङ्गरेजी फौजों के खर्च के लिए तीन जिलों का इलाका मीरकासिम ने कम्पनी को दिया था, वह ज्यों का त्यों रहेगा।

२—नवाब मीरजाफर को ६ हजार सवार और १२ हजार पैदल सैनिकों से अधिक सेना रखने का अधिकार न होगा।

३—देशी व्यापारियों से २५ सैकड़ा महसूल वसूल किया जायगा।

४—अङ्गरेजी व्यापारियों के माल पर कोई भी महसूल वसूल न किया जायगा।

५—युद्ध के खर्च के सम्बन्ध में ३० लाख, अंगरेजी स्थल-सेना के सम्बन्ध ने २५ लाख और जल सेना के सम्बन्ध में साढ़े १२ लाख मीरजाफर कम्पनी को देगा।

६—मीरकासिम के समय में देशी व्यापारियों से महसूल वसूल न किये जाने के कारण, अंग्रेज व्यापारियों का जिस कदर नुकसान हुआ है, नवाब होने पर मीरजाफर उसे अदा करेगा।

इस सन्धि के सम्बन्ध में कितने ही विदेशी लेखकों ने अपने-अपने विचार-व्यक्त किये हैं। मालसन ने लिखा है :—

"स्वाभिमानी मीरकासिम ने अङ्गरेजों की सन्धि की जिन शर्तों को ठुकरा दिया था, स्वार्थ लोलुप मीरजाफर ने उन सब शर्तों को मंजूर कर लिया।"

इस नयी सन्धि की आलोचना करते हुए इतिहासकार स्क्रैफटन ने ने लिखा है :—"अङ्गरेजी कम्पनी के लिए अब नबाब की हुकूमत एक बैंक की तरह हो गयी। जिससे अङ्गरेज कम्पनी जरूरत पड़ने पर जब जितना रुपया चाहे, निकाल सकती है।"

बंगाल की तबाही

बंगाल की बरबादी की बहुत-सी बातें पिछले पन्नों में लिखी जा चुकी है। उनके सम्बन्ध मे मीरकासिम की आँखें अन्त मे खुली थीं। उस हालत को वह कुछ सुधारना चाहता था। इसीलिए उसे अङ्गरेजों का शत्रु होना पड़ा और उसका अन्त हुआ। बंगाल की दरिद्रता भयानक होती जा रही थी। प्रान्त के निवासियों का रक्त चूस कर अङ्गरेज मोटे हो रहे थे।

नवाब होने के बाद मीरजाफर ने बंगाल की हालत पर विचार किया और सितम्बर सन् १७६४ मे मीरजाफर ने अङ्गरेजों की कमेटी के नाम एक पत्र कलकत्ते भेजा। उसमें उसने उन सभी बातों का उल्लेख किया, जो सन्धि के बाहर थीं और जिनके कारण अङ्गरेजों के अत्याचारों से प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी। पत्र में नवाब ने कम्पनी से प्रार्थना की कि इन सभी बातों को कम्पनी दूर करे।

पत्र भेजने के बाद कुछ दिनों तक मीरजाफर ने उत्तर का रास्ता देखा। लेकिन अङ्गरेज कमेटी ने उसका जवाब देना भी आवश्यक न समझा।

राजनीतिक परिस्थिति

मीरजाफर सूबेदार तो हो गया, लेकिन आर्थिक खराबी के कारण सन्तुष्ट न था। यह भी वह जानता था कि अङ्गरेजों ने हमारी बेबसी का लाभ उठाया है। लेकिन जिस हालत में वह सूबेदारी से अलग किया गया था, उसको सामने रखकर, उसने इसे मन्जूर करना ही अच्छा समझा था।

मीरकासिम अवध के सूबे में चला गया था। वह अब भी अङ्ग-

रेजों से बदला लेने की बात सोच रहा था। वह खूब समझता था कि सूबेदार का पद मुगल साम्राज्य के अधिकार में है, वहीं से मैं अधिकारी बनाया गया था। लेकिन मीरजाफर को सूबेदार अङ्गरेजों ने बनाया है, उनको यह अधिकार नहीं है।

मीरकासिम ने दिल्ली-साम्राज्य और अवध के नवाब शुजाउद्दौला से मुलाकात की और तमाम बातें सुनायीं। शुजाउद्दौला ने अपने हाथ में कुरान उठाई और कसम खाकर विश्वास दिलाया कि अङ्गरेजों से बदला लेने और तुमको फिर सूबेदार के स्थान पर लाने में मैं पूरा साथ दूँगा।

इसी बीच में बुन्देलखण्ड के राजा ने मुगल साम्राज्य के साथ विद्रोह का रास्ता पकड़ा। उसने दिल्ली को मालगुजारी भेजना बन्द कर दिया। मीरकासिम ने सम्राट और शुजाउद्दौला से परामर्श किया और एक सेना लेकर बुन्देलखण्ड पर हमला किया। बुन्देलखण्ड के राजा ने आत्म-सम्पर्ण कर दिया और पिछला बकाया सब अदा कर दिया।

मीरकासिम के इस काम से सम्राट बहुत प्रसन्न हुआ, उसने मीरकासिम की सहायता करने के लिए अङ्गरेजों से युद्ध करने का निश्चय कर लिया। इन दिनों में अवध के नवाब शुजाउद्दौला, सम्राट के प्रधान मन्त्री की हैसियत में था। उसने सम्राट की ओर से कलकत्ते के अङ्गरेज गवर्नर के नाम नीचे लिखा हुआ पत्र भेजा :—

"दिल्ली साम्राज्य की ओर से अङ्गरेजों के साथ जो सुलूक किये गये हैं, वे सब हमारे सामने हैं। उनके माल का महसूल माफ किया गया। उनको कोठियाँ बनाने की इजाजत दी गयी। अनेक मौकों पर उनको सुभीते दिये गये। इन सब बातों के बदले में उन्होंने साम्राज्य में बेजा हरकतें कीं। अनेक सरकारी इलाकों पर कब्जा कर लिया। सम्राट की आज्ञा के बिना जिस नवाब को चाहा उतार कर दूसरे को मनमानी नवाब बना दिया। बादशाह की हुकूमत के आदमियों को कैद करके आपने बादशाह की तौहीन की। मुल्क का व्यापार खराब किया और सम्राट के विद्रोहियों की मदद की। अपनी फौजें बनाकर आपने मुल्क को तबाह कर दिया और अपने कब्जे कर लिए। बादशाह

की हुकूमत में आपने लूट मार मचा रखी है जिससे रिआया घबराक इधर-उधर भाग रही है।

अगर ऐसा करने में आपने अपने बादशाह की इजाजत ली हो तो साफ-साफ बताइए जिससे उसका उपाय किया जाय, औ अगर इन तमाम कामों में आपकी अपनी शरारत है तो आपको साव धान किया जाता है कि आइन्दा के लिए इस सब शरारतों से बाज आवें और अपना काम महज व्यापार तक ही रखें। हुकूमत में कदम न बढ़ावें, अगर ऐसा न किया और साम्राज्य के खिलाफ विद्रोही काम किये तो मुल्क के बागियों का नाश कर दिया जायगा। इसक फौरन जबाब दें।"

अङ्गरेज गवर्नर का कोई जवाब न आने पर शुजाउद्दौला ने सम्राट और मीरकासिम के साथ अपनी सेना लाकर पटना घेर लिया।

फूट और विश्वासघात

अङ्गरेजों को अपनी कूटनीति पर अधिक विश्वास था। उन्होंने आपस में परामर्श करके युद्ध से बचने और शत्रुओं में फूट पैदा करने की बात सोच डाली। सम्राट की भीतरी हालत का उनको पता था अङ्गरेजों ने शुजाउद्दौला को बहकाने की कोशिश की।

अङ्गरेजो की इस नीति से अब भी देशी नरेश परिचित न हो सके थे। अङ्गरेजों ने अपनी वफादारी और भक्ति का जादू सम्राट पर फेरन शुरू कर दिया। अङ्गरेज मौके पर खुशामद करना और अपनी कूट नीति से काम लेना खूब जानते थे। सम्राट को अनुकूल बनाने में उनको कामयाबी हुई।

अङ्गरेजों ने अपनी इसी शक्ति से काम लेना आरम्भ किया। महाराज शिताब राय का लड़का कल्यानसिंह शुजाउद्दौला की फौज में एक अफसर था। अङ्गरेजों ने अपने काबू में उसे कर लिया। और वह शुजाउद्दौला की भीतरी बातों के बहुत-से रहस्य अङ्गरेजों को जाहिर करने लगे।

पटना में घेरा डालने के बाद शुजाउद्दौला बक्सर चला गया और वहीं पर उसने कुछ दिनों तक रहने का विचार किया। इधर मीरजाफर को मालूम हो गया था कि सम्राट मेरी सूबेदारी के खिलाफ है, इसलिए

उसने सम्राट और शुजाउद्दौला को प्रसन्न करने और अपने लिए कायदे से शाही हुकुम लेने का प्रयत्न किया। इन दिनों राजा नन्दकुमार मीरजाफर के यहाँ दीवान था और उसका मददगार भी था।

अङ्गरेजों को मीरजाफर की चाल का पता चल गया। उन्होंने नन्दकुमार को कैद करवा लिया और मीरजाफर को कलकत्ते चले आने को लिखा।

पटना में अङ्गरेजी सेना का प्रधान मेजर मनरों था। उसके व्यवहार से भारतीय सिपाही जो उसी की फौज में थे, उसके साथ बगावत कर बैठे। मेजर मनरो ने उनको खतम करा दिया। मेजर मनरो ने रोहतास के किले को अपने कब्जे में करना चाहा। इसके लिए उसने सैय्यद गुलामहुसेन से पत्र-व्यवहार किया और अनेक प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया। रोहतास किले का संरक्षक राजा साहूमल ने भी रिश्वतों के आगे अपना सिर झुका दिया। नतीजा यह हुआ कि वह किला आसानी से अङ्गरेजों के कब्जे में आ गया।

शुजाउद्दौला का हार

मेजर मनरो ने अपनी सेना के साथ बक्सर पर हमला किया। शुजाउद्दौला और मनरो—दोनों की सेनाओं में करारा युद्ध हुआ। सम्राट तो पहले से ही अङ्गरेजों की कूटनीति का शिकार हो चुका था। नतीजा यह हुआ कि शुजाउद्दौला को युद्ध से पराजित हो कर भागना पड़ा। बक्सर के युद्ध में मीरकासिम भी मौजूद था। हार होने पर वह भी वहाँ से भाग गया और बहुत दिनों तक छिपकर उसने दिन काटे। अंत में दिल्ली मे उसकी मृत्यु हो गयी।

चुनार मे अङ्गरेजों की हार

बक्सर के बाद अङ्गरेजी फौज ने चुनार के किले पर हमला किया। यहाँ पर भी उन्होंने अपना जादू की कोशिश की थी। लेकिन उनको सफलता न मिली। चूनार में अङ्गरेजी फौज का भारतीय सेना ने खूब मुकाबिला किया और अत में अंग्रेज युद्ध से भाग कर इलाहाबाद की तरफ चले गये। चुनार में उनकी करारी हार हुई।

इलाहाबाद मे अङ्गरेजी कब्जा

अङ्गरेजी फौज ने जब इलाहाबाद के किले पर हमला किया तो पहले से ही अङ्गरेजों को उसका कुछ अन्दाज था। इलाहाबाद के किले की रक्षा के लिए जो भारतीय सैनिक थे, वे वीर और अत्यन्त साहसी थे। अंग्रेजों से वे कभी दबने और डरने वाले न थे। लेकिन देशद्रोही और अविश्वासी ही सब जगह देश के दुर्भाग्य के कारण बने।

इलाहाबाद के किले की भारतीय फौज का एक आदमी जिसका नाम नजफ खाँ था, अंग्रेजों से मिल गया और उसने वहाँ के किले के सभी रहस्य अंग्रेजों को जाहिर कर दिये। इसका नतीजा यह हुआ कि अङ्गरेजी फौज को उस किले पर कब्जा करने मे बड़ी लड़ाई नहीं करनी पड़ी।

शुजाउद्दौला के साथ सन्धि

पराजित होने पर भी शुजाउद्दौला अङ्गरेजों पर हमला करने के लिए तरकीबें सोचता रहा। मराठों की मदद से उसने फिर अङ्गरेजी फौजों का मुकाबिला किया। इसी बीच में महाराजा शिताबराय के द्वारा अङ्गरेजों और शुजाउद्दौला में एक सन्धि हुई जिसकी प्रमुख शर्तें इस प्रकार थीं :—

१—लड़ाई में अङ्गरेजों का जो नुकसान हुआ उसके बदले में शुजाउद्दौला ५० लाख रुपये अदा करे।

२—इलाहाबाद के जो इलाके अवध सूबे में हैं वे अङ्गरेजों को दिये जायँ।

३—गाजीपुर और उसके करीब के इलाकों मे कम्पनी का अधिकार रहे।

४—शुजाउद्दौला के दरबार मे अङ्गरेजों का एक प्रतिनिधि रहे।

अवध के नवाब के साथ अङ्गरेजों की जो यह सन्धि हुई उसमें राजा शिताबराय की अङ्गरेजों के प्रति चापलूसी थी। अन्यथा शुजाउद्दौला अंगरेजों के साथ सुलहनामे के लिए तैयार न था।

मीरजाफर की मृत्यु

दूसरी बार सूबेदारी के पद पर आने के बाद मीरजाफर ने सुख की जिन्दगी नहीं पायी। उसे अङ्गरेजों का फरमाबरदार होकर रहना

पड़ा। वह कहने के लिए सूबेदार था लेकिन बंगाल मे अधिपत्य अङ्गरेजों का था।

मीरजाफर को सन्धि की शर्तों के पूरा करने से ही छुट्टी न थी। वह रात दिन चिन्ता में रहा करता था। नित नयी माँगें अङ्गरेजों की बनी रहती थीं जिनसे उसकी ज़िन्दगी खतम हो रही थी।

कुछ ही दिनों में फरवरी सन् १७६५ में मुर्शिदाबाद के महल मे उसकी मृत्यु हो गयी। उस समय उसकी अवस्था पैंसठ वर्ष की थी।

आठवाँ परिच्छेद

नजमुद्दौला और नन्दकुमार

बंगाल की सूबेदारी

नजमुद्दौला, मीरजाफर का दूसरा लड़का था। उसके पहले लड़के के मारे जाने का वर्णन पहले किया जा चुका है। मीरजाफर के मर जाने पर नजमुद्दौला मुर्शिदबाद का सूबेदार हुआ।

मीरजाफर का लड़का होने के कारण सूबेदारी का यह पद उस समय तक नजमुद्दौला को नहीं मिला, जब तक कि उसने अंगरेजों की इजाजत नहीं पा ली और उनके साथ संधि नहीं कर ली।

अंगरेजों की जिन शर्तों पर नजमुद्दौला को सूबेदारी का दरजा मिला, उनमें नाम के लिए सूबेदारी रह गयी थी। एक स्वाभिमानी के लिए वह अपमान के सिवा अब कुछ न थी। शर्तों में उपहास था और अपमान था। नजमुद्दौला किसी भी हालत में उनको मानने के लिए मजबूर था। शर्तों की रूप-रेखा इस प्रकार थी :—

१—बंगाल के नवाब के साथ नायब सूबेदार का एक दरजा रहेगा और वह नायब सूबेदार अंगरेजों का रखा हुआ होगा।

२—नायब सूबेदार नवाब के नाम से सभी कामों के करने का अधिकारी होगा।

३—अंगरेजों की इजाजत के बिना नवाब माल-विभाग के कार्यों में न किसी को रख सकेगा और न किसी को निकाल सकेगा।

४—नवाब अपने खजाने से ५ लाख रुपये माहवारी, कम्पनी को देगा।

५—नवाब अपने अधिकार में उतने ही सैनिकों को रख सकेगा, जितने कि मालगुजारी वसूल करने के लिए जरूरी समझे जायँगे।

६—अंगरेजी व्यवसाय के माल पर न कोई पाबन्दी होगी और न कोई महसूल।

अंगरेजों की इन शर्तों को मानकर और इन शर्तों से बने हुए सुलह-नामे पर दस्तखत करके नजमुद्दौला बंगाल की सूबेदारी के आसन पर बैठा।

कैदी के रूप में नन्दकुमार

अंगरेजों के कामों से महाराज नन्दकुमार जितना सतर्क रहता था, उससे भी अधिक सतर्क और सावधान अंगरेज महाराज नन्दकुमार से रहा करते थे। नये नवाब ने नन्दकुमार को अपना दीवान बनाने की कोशिश की। लेकिन अंगरेजों को यह मंजूर न था। कम्पनी की ओर से इनकार कर दिया गया और नन्दकुमार को कैद कर के कलकत्ते भेज दिया गया।

भारत में क्लाइव का फिर आगमन

इन दिनों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपनी बहुत बड़ी तरक्की कर चुकी थी। व्यवसाय के साथ-साथ उसकी हुकूमत भी बहुत फैल गयी थी। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने इसी बीच इंगलैण्ड से क्लाइव को फिर भारत में भेजा। अब क्लाइव लार्ड के पद से आभूषित होकर और लार्ड क्लाइव के नाम से भारत के लिए रवाना हुआ।

भारत की भूमि पर कदम रखते ही, उसने मीरजाफर की मृत्यु का समाचार सुना। उसी समय उसने सोच डाला कि बंगाल का नवाब एक नुमायसी आदमी बना दिया जाय और हुकूमत अंगरेजों के हाथों में रहे। शासन के छोटे और बड़े अधिकार अंगरेजों के सिवा और किसी दूसरे के हाथों में न हों। क्लाइव की इस धारणा को इतिहास लेखक ह्वीलर ने अपनी पुस्तक Early Records of Brtish India में स्पष्ट रूप से बताया है।

अंगरेजों ने मीरजाफर के दूसरे लड़के नजमुद्दौला को बंगाल का नवाब मन्जूर कर लिया था और अपनी सन्धि की शर्तों के द्वारा उसको नुमाइशी नवाब से भी बेकार बना दिया था। लेकिन क्लाइव को इससे भी सन्तोष न था। वह मीरजाफर के छः वर्ष के छोटे पोते को बंगाल का नवाब बनाना चाहता था।

भारत में आकर क्लाइव ने मुर्शिदाबाद में मुकाम किया। वहाँ पर मुहम्मदरजा खाँ नायब सूबेदार था। वह अंगरेजों का चापलूस और

खैरख्वाह था नवाब के खजाने से क्लाइव को ५ लाख रुपये नजर में दिये गये। उसके बाद क्लाइव ने शुजाउद्दौला से भेंट की। और पिछली सन्धि के अलावा उसके साथ एक नयी सन्धि की। जिसके बमुजिब ५० लाख रुपयों के स्थान पर शुजाउद्दौला ६० लाख रुपये सालाना कम्पनी को दिया करेगा।

दीवानी के अधिकार

क्लाइव ने इलाहाबाद में ९ अगस्त सन् १७६५ को दिल्ली सम्राट शाहआलम से मुलाकात की और निहायत खुशामद और खैरख्वाही के साथ बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार को प्राप्त करने के लिए एक तजवीज पेश की। सम्राट ने बिना कुछ सोचे-समझे खुशामद से खुश होकर दीवानी के अधिकार देने के लिए दस्तखत कर दिये। इस अधिकार को पाकर क्लाइव ने सम्राट को भविष्य के लिए और भी निर्बल तथा पंगु बना दिया। इस अधिकार के द्वारा अंगरेजों की हुकूकत स्वतन्त्र रूप से सब के सामने आ गयी।

नजमुद्दौला की मृत्यु

नजमुद्दौला के सूबेदार होने से क्लाइव मन-ही-मन बहुत असन्तुष्ट था। उसने भारत आकर मुर्शिदाबाद में मुकाम किया और उसके बाद, उसके मुर्शिदाबाद छोड़ते ही अचानक नजमुद्दौला की मृत्यु का समाचार सुनने को मिला।

पुराने लेखों से यह पता चलता है कि मुहम्मदरजा खाँ और नजमुद्दौला क्लाइव को विदा करने के लिए मुर्शिदाबाद से बाहर कुछ दूर तक गये थे। लौटने पर रास्ते से ही नजमुद्दौला के पेट में दर्द पैदा हुआ और महल में पहुँचते-पहुँचते उसकी मृत्यु हो गई।

इस मृत्यु का रहस्य क्या था स्पष्ट रूप से कहीं नहीं बताया गया। लेकिन क्लाइव का उसके विरुद्ध होना और मुर्शिदाबाद जाना, साथ ही उसकी मृत्यु का होना रहस्य को अपने आप प्रकट करता है। मुर्शिदाबाद छोड़ते ही क्लाइव ने इंगलैण्ड को जो पत्र लिखा था, उसमें साफ-साफ लिखा था :—

"बंगाल की सत्ता को नजमुद्दौला के हाथों में देकर कलकत्ते की अंगरेज कौंसिल ने बुद्धिमानी का काम नहीं किया।"

नजमुद्दौला के मर जाने पर उसका छोटा भाई मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठाया गया। इस प्रकार बंगाल के राजनीतिक जीवन में कम्पनी का एक खेल चल रहा था और खुले तौर पर अंगरेजों का शासन था।

बंगाल में लूट

बंगाल की हुकूमत के साथ अंगरेजों का जितना ही खिलवाड़ चल रहा था, उतना ही बंगाल सरकारी आदमियों के द्वारा लूटा जा रहा था। न कोई अदालत थी और न किसी की कोई सुनने वाला था। सारा बंगाल कम्पनी के अंगरेजों और उनके नौकरों के द्वारा सत्यानाश को प्राप्त हो रहा था। फौजी गोरों ने तो बंगाल को अपना शिकार मान लिया था।

बंगाल की इस दशा का वर्णन करते हुए इतिहास लेखक टारेन्स ने लिखा है :—"लोग गिरोह बना कर जहाँ चाहते थे; लूट मार करते थे। कोई ऐसा इन्तजाम न था जहाँ पर जाकर लोग इसकी शिकायत कर सकते।"

इन दिनों में लार्ड क्लाइव ने इंगलैण्ड जो पत्र भेजे थे, उनसे भी बंगाल की दुरवस्था का पता चलता था और मालूम होता था कि अंगरेजों के द्वारा बंगाल तथा देश के दूसरे इलाके किस भयानक तरीके से लूटे जा रहे है। क्लाइव ने उन पत्रों में लिखा था :—

"कम्पनी के अंगरेज मुलाजिम जिस प्रकार के अमानुषिक काम करने में बदनाम हो रहे हैं, उनमें वे यह भी नहीं सोचते कि अंगरेजी कम्पनी के सम्बन्ध में लोगों की कैसी धारणा बनती जाती है। इन लोगों की ऐय्याशी और खुदगरजी हद दर्जे तक बढ़ गई है। × × × छूत के रोग की तरह यह बुराई कम्पनी के नौकरों में बढ़ती जा रही है।

मैं नहीं समझ पाता कि इतना धन लोग किन उपायों से प्राप्त कर लेते हैं। भारत के अंगरेजों में ऐसा कोई नहीं है जो एक बड़ा पूँजीवाला न हो गया हो।

× × दौलत शासन की शत्रु है। इस दौलत के लोभ में ही हम लोगों का चरित्र भ्रष्ट होता जाता है।

× × कम्पनी के डाइरेक्टरों के आदेश होने पर भी कि लूट का

माल, आधा कम्पनी को बाँट दिया जाया करे, फौज के लोग बिना किसी लिहाज के आपस में बाँट लेते हैं।

× ×अय्याशी और रिश्वतखोरी का जोर बढ़ता जाता है।

× ×योरोपियन, अंगरेज और काले हिन्दुस्तानी जो कम्पनी की तरफ से बहैसियत मुलाजिमों के काम करते हैं, वे सब प्रजा के साथ इतना जुल्म करते हैं कि उनको देखकर यह साफ मालूम होता है, कि ये सब इस देश मे कम्पनी को सदा कलंकित करते रहेंगे। मैंने खूब देखा है कि इन लोगों में अधिक पूँजीपति बनने, ऐय्याशी करने और अनाचार फैलाने की आदतें बढ़ गयी हैं। इन सभी बातों से अंगरेज कौम की इज्जत, कम्पनी पर लोगों का एतबार और इन्सानियत सब का खून हो रहा है।"

लार्ड क्लाइव के पत्र का उत्तर देते हुए कम्पनी के डाइरेक्टरों ने लिखा था।

"यह तो हम भी समझते हैं कि भारत के व्यवसाय में इन अंगरेजों ने जो बड़ी-से-बड़ी पूँजियाँ कमाई हैं, वे ऐसे अत्याचारों और बुरे तरीकों के द्वारा पैदा की गयी हैं, जैसे दुनिया में कभी किसी वक्त देखने में नहीं आये।"

क्लाइव का अंत

कोई भी ईमानदार, क्लाइव के चरित्र को अच्छा नहीं कह सकता। वह स्वार्थी था, मक्कार था, रिश्वतखोर था और मौके पर हर तरह के व्यवहार करना वह जानता था।

क्लाइव सन् १७६७ में भारत से बिदा हुआ। इंगलैण्ड जाकर उसने एक पूँजीपति के रूप में ऐय्याशी के दिन बिताये और अंत में आत्म-हत्या करके उसने अपनी जिन्दगी का अंत किया।

नवाँ परिच्छेद

वारन हेस्टिंग्स

कम्पनी की अदालतें

क्लाइव के चले जाने पर वेरेल्स्ट बंगाल का गवर्नर हो कर आया। उसने भारत में कोई नया काम नहीं किया। कम्पनी की जो चालें थीं, उन्हीं के आधार पर पोषक कूटनीति से काम लेता रहा।

थोड़े दिनों में वेरेल्स्ट चला गया और अगस्त १७६९ मे उसके स्थान पर कारटियर गवर्नर मुकर्रर हुआ। इन दिनों में कम्पनी का वही पुराना तरीका चलता रहा। ए० एफ० स्कालफील्ड ने लिखा है:—

"इन दिनों में बंगाल के गवर्नर और कम्पनी के डाइरेक्टरों के बीच जो पत्र-व्यवहार होते रहे, उनमे नये षड़यंत्रों, चालों और कूटनीति के दाँव-पेचों के सिवा और कुछ न था।"

कारटियर के बाद सन् १७७२ मे वारन् हेस्टिंग्स बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा गया। इसके पहले वारन् हेस्टिंग्स क्लाइव के साथ बंगाल में रहा और उस समय यह एक क्लर्क की हैसियत से था। लेकिन थोड़े ही दिनों में कम्पनी के कामों के लिए वह अधिक कीमती साबित हुआ। कम्पनी के लिए वह अंगरेज अधिक काबिल था जो नीति और अनीति का ख्याल छोड़कर अधिक-से-अधिक षड़यंत्र कर सके और अपने उद्देश्य मे कामयाब हो सके। इस प्रकार की परीक्षा मे वारन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर होने का सौभाग्य मिला।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार दिल्ली-सम्राट से क्लाइव प्राप्त कर चुका था, फौजदारी अदालत के कानूनी अधिकार भी अब कम्पनी को हासिल हो गये थे। पटना में महाराज शिताबराय, मुर्शिदाबाद में मोहम्मदरजा खाँ और उड़ीसा में जसारत खाँ की हुकूमत थी। ये तीनों ही नायब सूबेदार कम्पनी की आँखों के इशारों

पर काम करते थे, अंगरेजों को प्रसन्न रखने के सिवा उन तीनों का और कोई काम न था। किसी भी अंगरेज की प्रसन्नता का सीधा उपाय यह था कि उसे अधिक से अधिक रुपये मिले। कम्पनी की तो रुपयों के लिए माँग होती थी। लेकिन किसी साधारण अंगरेज को इसकी भी जरूरत न होती थी, उसका काम होता था, इन नायब सूबेदारों में किसी के यहाँ जाना और नायब सूबेदार के पास ऐसे कितने ही जाल थे, जिनके द्वारा वह जागीरदारों तथा पट्टे और सनद रखने वालों से रुपये वसूल करता और एक खासी रकम उस अंगरेज को देकर बिदा करता।

क्लाइव ने भारत में जिस हुकूमत की जड़ डाली थी, वारन् हेस्टिंग्स ने उसको पक्का और मजबूत बनाने का काम किया। मोहम्मद रजा खाँ और शिताबराय अंगरेजों के पिट्ठू और चापलूस थे। गवर्नर होने के बाद वारन् हेस्टिंग्स ने उनकी चापलूसी और खिदमतों पर मिट्टी डालकर, उन्हें गिरफ्तार करवा लिया।

अभी तक अंगरेज कम्पनी महराज नन्दकुमार को अपना शत्रु समझती थी। हेस्टिंग्स ने उसके साथ दूसरा ही व्यवहार शुरू किया। नन्दकुमार को मिलाकर उसने उसकी बहुत-सी प्रशंसा की और बंगाल का नायब सूबेदार बनाने का प्रलोभन दिया। इस कूटनीति के द्वारा हेस्टिंग्स ने नन्दकुमार की सहायता से रजा खाँ पर अनेक दोषारोपण किये और उन्हीं के आधार पर उसकी कैद का कारण बताया।

कैद हो जाने के बाद मोहम्मद रजा खाँ और शिताबराय ने गवर्नर को रिश्वत के रूप में लम्बी-लम्बी रकमें अदा कीं। इसके बाद वे दोनों कैद से छोड़ दिये गये।

पिछली सन्धि के अनुसार अंगरेज कम्पनी दिल्ली सम्राट को २६ लाख रुपये मालगुजारी में दिया करती थी। हेस्टिंग्स के गवर्नर होने के बाद कम्पनी ने सम्राट को मालगुजारी का देना बन्द कर दिया। शुजाउद्दौला के साथ सन्धि करके इलाहाबाद और उसके पास के कुछ इलाके कम्पनी ने पाये थे। लेकिन हेस्टिंग्स ने ५० लाख रुपये लेकर शुजाउद्दौला को उन्हें वापस दे दिया। इस पर भी इलाहाबाद के किले में कम्पनी ने अपना कब्जा बनाये रखा और वहाँ पर अंगरेजी फौज बराबर अपना झण्डा फहराती रही।

रुहेलखण्ड पर आक्रमण

अवध के उत्तर और पश्चिम रुहेली पठानों का शासन था। हेस्टिंग्स की आँखें उस तरफ गयीं। इतिहासकार मिल ने अपनी पुस्तक History of India में लिखा है :—

"सम्पूर्ण एशिया में लोक प्रिय शासन के लिए रुहेलखण्ड की प्रशंसा थी। प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न था। सभी लोग कार-वार और व्यवसाय से सुख का जीवन बिताते थे।"

अवध और रुहेलखण्ड का सरहद्दी ताल्लुक था। दोनों के बीच एक संधि थी। उसके अनुसार दोनों ही एक दूसरे के साथ अच्छा बर्ताव करते थे। हेस्टिंग्स के दाँत रुहेलखण्ड पर लगे थे। इसलिए उसने सब से पहले अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ एक संधि की उसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं :—

१—मौका पाकर अंगरेजी और नवाब की फौजें रुहेलखण्ड पर आक्रमण करेंगी।

२—रुहेलों को जीत कर रुहेलखण्ड शुजाउद्दौला के अधिकार में दे दिया जायगा।

३—इस लड़ाई का खर्च शुजाउद्दौला अदा करेगा और रुहेल-खण्ड पर अधिकार करने के बदले में ४० लाख रुपये शुजाउद्दौला: कम्पनी को देगा।

इतिहासकार मिल ने लिखा है कि शुजाउद्दौला ने इस सन्धि को अपनी मजबूरी अवस्था मे मंजूर किया था।

अंगरेजी और अवध की फौजों ने १७ अप्रैल सन् १७७४ को रुहेल-खण्ड पर आक्रमण किया। रुहेलों का सरदार फैजुल्ला खाँ बड़ी बहा-दुरी के साथ लड़ा। लेकिन रुहेलों की संख्या थोड़ी होने के कारण उसे पराजित होना पड़ा।

रामपुर के मैदान मे रुहेलों ने हथियार छोड़ दिये। २३ अप्रैल को स्वतन्त्र रुहेलखण्ड अनाथ होगया। अंगरेजी और नवाबी फौजों ने: रुहेलखण्ड की खूब लूट की। अन्त में फैजुल्ला खाँ की गुजर के लिए रामपुर का छोटा-सा इलाका दिया गया। बाकी रुहेलखण्ड पर शुजाउ-द्दौला का अधिकार हो गया।

रुहेलखण्ड पर विजयी होने के बाद अंगरेजों में वारन् हेस्टिंग्स की बहुत प्रशंसा हुई। अभी तक मद्रास और बम्बई मे दो अंगरेज गवर्नर, अलग-अलग काम करते थे। रुहेलखण्ड की लड़ाई के दूसरे वर्ष मद्रास और बम्बई को बंगाल के गवर्नर के अधिकार मे कर दिया और वारन् हेस्टिंग्स को गवर्नर-जनरल का पद मिला।

नन्दकुमार को प्राणदण्ड

एक समय था जब महाराज नन्दकुमार ने अंगरेजों का साथ दिया था। उन दिनों मे वे उनकी कूटनीति को जानते न थे। अंगरेजों की चालों को जानने के बाद नन्दकुमार उनसे घृणा करने लगे। बहुत दिनों तक देशी राजाओं से वे मिलकर चले और अंगरेजों की कूटनीति के विरुद्ध वे देशी नरेशों को सावधान करते रहे।

मुर्शिदाबाद मे जब महाराज नन्दकुमार को दीवान बनाया जा रहा था, उसी समय अंगरेजों ने उन्हें कैद करके कलकत्ते भेज दिया था। उसके बाद वे कैद रहे। वारन् हेस्टिंग्स के आने पर कम्पनी की नीति बदली। कैदी नन्दकुमार को बंगाल का नायब सूबेदार बनाने का जाल रचा गया और अंगरेजों का पैदाइशी चापलूस मोहम्मदरजा खाँ गिरफ्तार किया गया।

रजा खाँ को सजा देने के लिए जो दोषारोपण किये गये, उनके सबूत मे नन्दकुमार से सहायता ली गयी और लम्बी रकम रिश्वत मे पाने के बाद रजा खाँ को छोड़ दिया गया।

रजा खाँ को दोषी ठहराने और उसको सजा देने के लिए हेस्टिंग्स ने नन्दकुमार से सहायता ली थी। इसलिए उस सहायता की कीमत भी हेस्टिंग्स को अदा करनी थी। रजा खाँ को छोड़ देने के बाद, बंगाल के नायब सूबेदारी का कोई प्रश्न ही न था। इसी बीच में एक घटना और घटी। राजा नन्दकुमार ने कलकत्ते की अंगरेज कमेटी को एक पत्र लिखा, उसमें गवर्नर-जनरल पर इल्जाम लगाया कि उसने रजा खाँ से १० लाख रुपये रिश्वत के लेकर उसको छोड़ दिया है और इसी प्रकार की एक रिश्वत नवाब जाफरअली की विधवा बेगम मुन्नी बेगम से ली थी। नन्दकुमार ने इन अपराधों पर जो पत्र अंगरेजी कमेटी के नाम भेजा, उसमें लिखा था कि रजा खाँ ने १० लाख

रुपये हेस्टिंग्स को, और दो लाख मुझे दिये थे। इस अभियोग में नन्द-कुमार का विश्वास किया गया और रिश्वत के रुपये वापस करने के लिए गवर्नर जनरल को हुकुम दिया गया। इस दशा में नन्दकुमार को पुरस्कार देने के लिए, उनको गिरफ्तार किया और यह इलजाम लगाकर कि सन् १७७० में नन्दकुमार ने एक सरकारी कागज पर जाली हस्ताक्षर किये थे, इसलिए उनका मुकदमा सन् १७७४ ईसवी में कम्पनी की तरफ से कलकत्ते में कायम होने वाली एक बड़ी अदालत 'सुप्रीम कोर्ट' में फैसले के लिए भेज दिया गया।

उन दिनों में सुप्रीम कोर्ट का चीफ जस्टिस वारन हेस्टिंग्स का एक मित्र था। अंगरेजी इतिहासकारों के लेखों से पता चलता है कि नन्दकुमार पर यह झूठा दोष लगाया गया था। मुकदमें की एक शकल बनायी गयी और उसके फैसले में महाराज नन्दकुमार को फाँसी की सजा दी गयी। ५ अगस्त सन् १७७६ को कलकत्ते के फाँसी-घर में महाराज नन्दकुमार के प्राणों का अन्त हुआ।

रियासत बनारस पर चढ़ाई

बनारस की रियासत का सम्बन्ध अवध के नवाब के साथ था। इस रियासत से एक बँधी हुई मालगुजारी नवाब को दी जाती थी। टारेन्स ने लिखा है :—

"महाराजा बलवंतसिंह बनारस का राजा था। ×× उसकी प्रजा सुखी औ सन्तुष्ट थी। अपने राजा से रियाया को कोई शिकायत न थी। रियासत की आबादी करीब ५ लाख की थी।"

अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने रुपयों की अदायगी के बदले में सन् १७७६ में बनारस की रियासत कम्पनी को दे दी। कम्पनी ने बलवन्तसिंह के स्थान पर उनके लड़के चेतसिंह को रियासत के अधिकार सौंप दिये और रियासत में कम्पनी का एक रेज़ीडेण्ट देख-माल के लिए रहने लगा।

बनारस का प्रबन्ध चेतसिंह के हाथों में था लेकिन चेतसिंह का अंकुश कम्पनी के हाथ में था। अब क्या था, चेतसिंह को कम्पनी की ओर से नित नये हुकुम मिलने लगे। एक हुकुम तो यह मिला कि तुम

अपने यहाँ जो फ़ौज क़ायम करो, उसमें फ़ौजी अफ़सर अंगरेज़ रखो। चेतसिंह को मानना पड़ा।

कुछ दिनों के बाद इसी प्रकार का दूसरा परवाना मिला। उसको मानने से उसने इनकार कर दिया। इसलिए अंगरेज़ी फ़ौज ने बनारस पर चढ़ाई की। चेतसिंह घबरा उठा। उसने हेस्टिंग्स के सामने अपने सिर की पगड़ी उतारी और क्षमा की प्रार्थना की। किन्तु इसका कुछ फल न निकला। अंगरेज़ी फ़ौज ने चेतसिंह के महल को घेर लिया और चेतसिंह को क़ैद कर लिया।

बनारस के लोग इसे सहन न कर सके। संगठित रूप से अंगरेज़ी फ़ौज का उन्होंने सामना किया। लेकिन प्रजा कितनी देर तक युद्ध कर सकती थी। बनारस पर अंगरेज़ों का कब्ज़ा हो गया। चेतसिंह के स्थान पर उसका एक लड़का गद्दी पर बिठाया गया। कम्पनी की मालगुज़ारी बढ़ा कर २० लाख कर दी गई और रेज़ीडेण्ड को इतने अधिकार दिये गये, जितने वहाँ के राजा को भी न थे।

बनारस रियासत पर अब कम्पनी का शासन था। रियासत भर में अंगरेज़ और उनके नौकर फैले हुए थे और जहाँ पर वे चाहते थे, लूटमार करते थे। इस लूटमार के कारण वहाँ की आबादी ५ लाख से घटकर कुछ ही दिनों में २ लाख रह गयी।

अवध की बर्बादी

ईस्ट इन्डिया कम्पनी की ओर से जितने गवर्नर होकर भारत में आये, उनमें सभी एक से एक बढ़कर घातक सिद्ध हुए। देश का नाश करने में क्लाइव ने जितना बड़ा अन्याय और पाप किया था, वारन् हेस्टिंग्स उससे भी आगे बढ़कर रहा। बनारस रियासत के बाद अवध की बर्बादी का अध्याय आरंभ हुआ।

जिस अवध ने खून के घूंट पीकर अंगरेज़ों की हाँ-में-हाँ मिलाने और किसी तरह अपनी जिन्दगी के दिन काटने के स्वप्न देखे थे, उस अवध की भूमि पर अंगरेज़ों के जो अत्याचार हुए, उसकी कहानी बहुत लंबी है। यहाँ पर संक्षेप में टारेन्स के शब्दों को लेकर अवध की दुर्दशा का हम समाप्त कर देंगे।

अवध की बरबादी का बयान करते हुए अपनी पुस्तक Empire in Asia में इतिहास लेखक टारेन्स ने लिखा है :—

"बिलकुल तबाह और बर्बाद हो जाने के बाद अवध के नवाब आसफुद्दौला ने चुनार के किले में जाकर गवर्नर जनरल वारन् हेस्टिंग्स से बातें कीं। कम्पनी का ख्याल था कि नवाब शुजाउद्दौला अपनी मृत्यु के समय अपनी मा विधवा बेगम को लम्बा खजाना दे गया है। बातचीत में जब आसफुद्दौला को यह मालूम हुआ तो उसे बड़ी शर्म मालूम हुई। तय हुआ कि उनसे रकमें वसूल की जावें। इसके लिए पहले उनको दोष लगाया जाय कि बनारस के चेतसिंह के साथ वे दोनों कम्पनी के विरुद्ध कार्रवाही कर रही थीं। उस कसूर के बदले में उनके कब्जे का खजाना जब्त कर लिया जावे। ×× इसके लिए झूठे मामले बनाये गये। अफसोस की बात तो यह थी कि शुजाउद्दौला मरने के समय मा और अपनी विधवा बेगम का संरक्षण कम्पनी के अधिकारियों को सौंप गया था।"

××अंगरेजों के षड़यंत्र को पूरा करने के लिए कलकत्ते की सुप्रीम कोर्ट का चीफ जस्टिस सर एलाइजाह इम्पे लखनऊ पहुँचा। बेगमों पर इलजाम यह लगाया गया कि उन्होंने कम्पनी के खिलाफ चेतसिंह को लड़ने के लिए भड़काया था। इम्पे ने अपना काम किया और कलकत्ते लौट गया। दोनों बेगमें फैजाबाद के अपने महल में रहा करती थीं। अंगरेजी फौज ने वहाँ जाकर अनाथ और असहाय बेगमो के महल को घेर लिया और बेगमों से कहा गया कि वे अपना खजाना और जवाहरात के साथ सोने-चाँदी के सब जेवरात लाकर दे दें। उनके इनकार करने पर सख्त और नामुनासिब व्यवहार किये गये। ××विवश होकर बेगमों को अपने पास का सब कुछ दे देना पड़ा।

अवध के नवाब आसफुद्दौला के रोने, गिड़गिड़ाने का कोई नतीजा न निकला। उसके खिलाफ अन्याय बढ़ गये और अवध सूबे के सारे इलाके लूल-लूटकर वीरान बना दिये गये।

हेस्टिंग्स की लूट का धन

वारन् हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल की हैसियत से ही खाली काम न करता था, उसको भारत से इतना अधिक धन अपने साथ ले जाना

था जिससे सदा वह खुश निहाल रहे। विद्वान लेखक जे० टाल बायज व्हीलर ने अपनी पुस्तक Short History of India में लिखा है :—

"वारन् हेस्टिंग्स ने स्वयं इस बात को मंजूर किया है कि मैंने सन् १७८२ में अवध के नवाब आसफुद्दौला से १० लाख रुपये लिए थे। उसके इस लेख से मालूम होता है कि सन् १७७३ में उसने इतनी ही रकम आसफुद्दौला के पिता शुजाउद्दौला से भी प्राप्त की थी। जिसे हेस्टिंग्स ने अपनी जेब मे रखा था।"

कलकत्ते की अंगरेज कमेटी की रिपोर्ट में साफ लिखा गया है कि वारन् हेस्टिंग्स ने अपनी गववर्नरी के शुरू के तीन वर्षों में ही अपने लिए रिश्वतों और नजरों के द्वारा ४० लाख रुपये कमाये थे।

गोरखपुर में तबाही

गोरखपुर के इलाके में कम्पनी के अंगरेजों की ओर से जिस प्रकार अत्याचार और अन्याय हुए हैं, वे सर्वथा अमानुषिक थे। ग्रन्थकार कोलब्रुक ने स्पष्ट रूप में इन व्यवहारों और कामों को लूट के नाम से वर्णन किया है और लिखा है कि "इन दुराचारों के पापों से अंगरेजों का नाम सदा कलंकित रहेगा।"

दसवाँ परिच्छेद

प्रथम मराठा युद्ध

भारत में मराठों का शासन

अठारहवीं शताब्दी के मध्यकालीन दिनों में मराठों का शासन खासी उन्नति पर था। भारत में मुगलों के शासन के दो सौ वर्ष बीत चुके थे और इन दिनों में उनकी शक्तियाँ बिल्कुल निर्बल हो गयी थी। इस प्रकार भारत मे मुगलों की कमजोरी और मराठों की तरक्की का समय एक साथ आरम्भ हुआ है।

उन दिनों में बाला जी बाजीराव पेशवा शासक था। रघुनाथ राव के सेनापतित्व में मराठा सेनाओं ने लाहौर को विजय कर अफगानी फौजों को पराजित करके पंजाब का सूबा अपने अधिकार में कर लिया था। शिवाजी के वंशजों का सहारा में अब भी शासन था, लेकिन उनके अधिकार पेशवा के हाथों में थे।

'महाराष्ट्र—मण्डल' के नाम से मराठा-शासकों का एक मण्डल था और उस मण्डल में प्रमुख रूप से सींधिया, होलकर, गायकवाड़ और भोंसला—इन चार राज्यों का सम्मिश्रण था। इन चारों राज्यों की स्वतंत्र रूप से अलग-अलग सत्ता थी। परन्तु पेशवा को ही प्रधानता मिली थी। इसलिए वे सभी पेशवा को अपने-अपने राज्यों की माल-गुजारी अदा किया करते थे। किसी शत्रु से युद्ध होने पर पेशवा की आज्ञा पर उन्हें युद्ध मे भी जाना पड़ता था।

दिल्ली के सम्राट ने मराठों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की थी और मराठों ने मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार बने रहना मंजूर किया था। इसके साथ-साथ मराठा-शासन का उन दिनों मे विस्तार बहुत बढ़ गया था।

मराठा साम्राज्य का पतन

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ, मराठों को उन्नति करने का मौका मिला। उनके शासन का बहुत विस्तार हुआ और मराठा-शासन साम्राज्य के रूप में पहुँच गया। लेकिन उनकी सत्ता अधिक दिनों तक स्थायी होकर रह न सकी। इस साम्राज्य के इतनी जल्दी पतन के कुछ कारण हैं। ये कारण सर्वथा विचारणीय हैं, जो शासन इतना विस्तार पा चुका था, उसके निर्बल हो जाने के अनेक कारण हैं और वे प्रमुख रूप से कुछ इस प्रकार हैं :—

१—मराठा शासकों और सरदारों में परस्पर ईर्षा का भाव बहुत था। वे एक दूसरे की तरक्की को देख न सकते थे।

२ जातीयता, राष्ट्रीयता और अपने मन के भावों का उनमें इस कदर अभाव था कि वे जातीय शक्तियों को मिट्टी में मिलाने के लिए, शत्रुओं से मिल जाने में संकोच और देर न करते थे।

३—मराठा शासकों में परस्पर सद्भाव सहानुभूति और आत्म परायणता के स्थान पर अहंकार का भाव बहुत अधिक था। इस दुर्गुण के कारण ही वे अपने सगे-सम्बन्धियों को शत्रु बना देना और उनके शत्रु बन जाना उनका साधारण काम था।

अपने इन्हीं अवगुणों के कारण सन १७६१ में पानीपत के युद्ध में उन्हें अहमदशाह अब्दाली की फौजों के मुकाबिले में पराजित होना पड़ा था। उसका वर्णन पहले किया जा चुका है। पानीपत की इस पराजय के बाद मराठों का पतन आरम्भ होता है और आपस के द्वेष, अहंकार के कारण ही वे अपनी शक्तियों को संगठित बनाकर रखने के बजाय, उन्होंने उसे स्वयं छिन्न-भिन्न कर दिया था। पेशवा के अधिकारों से जुदा होकर सीन्धिया, होलकर, गायकवाड़ और भोंसला ने अपनी-अपनी सत्ता अलग-अलग कायम की।

मराठों के पतन का सूत्रपात

पानीपत के युद्ध के कुछ ही दिनों बाद बालाजी बाजीराव के जीवन का अन्त हो गया। उसका नाबालिग लड़का माधवराव गद्दी पर बैठा और माधवराव का चाचा रघुनाथराव उसका संरक्षक बना।

रघुनाथराव का दूसरा नाम राघोबा भी था। वह वीर, साहसी

होने के साथ-साथ महत्वाकांक्षी अधिक था। महत्व और प्रशंसा की भूख सदा खतरनाक होती है। यही कारण हुआ कि वह अंगरेजों की प्रशंसा में फँसकर स्वयं अपना ही शत्रु बन बैठा।

अंगरेजी कम्पनी किसी देशी शासक की सत्ता को देख न सकती थी। उन्नत मराठे अंगरेजों की आँखों में खटक रहे थे। कम्पनी ने उनकी शक्तियों को तोड़ने के लिए एक योजना तैयार की। राघोबा की कमजोरी को समझ कर उसे अपने हाथ में लेने की कोशिश की। उसकी तारीफ के पुल बाँधे जाने लगे और उसे बताया गया कि मराठों पर आक्रमण करने के लिए निजाम अपनी तैयारी कर रहा है। अदूरदर्शी राघोबा ने इस पर विश्वास किया।

अंगरेजों और राघोबा के बीच एक सन्धि हुई। उसमें निश्चय हुआ कि निजाम के आक्रमण करने पर अंगरेजी सेना मराठों की सहायता करेगी और इसके बदले में मराठों की ओर से साष्टी (Salsette) का टापू और बसई (Bassein) का किला अंगरेजों को दे दिया जायगा।

इस मित्रता के नाते मराठा-दरबार में अंगरेजों का प्रवेश हो गया। मराठों की कमजोरियों को जानने और उनके भीतर षड़यन्त्र करने का अंगरेजों को एक अच्छा अवसर मिला।

अंगरेज इस बात को खूब समझते थे कि इस समय निजाम, हैदर-अली पेशवा की शक्तियाँ बढ़ी हुई हैं। ये तीनों ही हमारे लिए कभी भी घातक हो सकते हैं। इसलिए इनका आपस में लड़ना हमारे हक में अच्छा है।

मराठा दरबार में पहुँचकर अंगरेजों ने उनकी कमजोरियाँ जानीं। उन्हें यह भी मालूम हो गया कि इनको आपस में ही लड़ाया जा सकता है। और इसी में अंगरेजों का कल्याण है। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि साष्टी का टापू और बसई का किला अपने अधिकार में कर के भारत के पश्चिम में अपना शासन-विस्तार किया जा सकता है।

इसी आधार पर बम्बई के गवर्नर के पास इंगलैण्ड के डाइरेक्टरों का एक पत्र आया। उसमें लिखा था :—

"साष्टी और बसई पर आपको अधिकार कर लेना बहुत आवश्यक है।"

एक दूसरे पत्र में डाइरेक्टरों ने लिखा :—"साष्टी और बसई, उनके साथ के दूसरे इलाके और सूरत के आस-पास के भाग जब तक अपने कब्जे में नहीं कर लेते, उस समय तक आपके आगे बढ़ने का द्वार बन्द है।"

इंगलैण्ड से कम्पनी का एक दूत मास्टिन भारत में आया और बम्बई की अंगरेज कमेटी ने अपना प्रतिनिधि बनाकर उसको पेशवा के दरबार में भेज दिया। उसके भेजने का उद्देश यह था कि वह पेशवा के दरबार पूना में जाकर मराठों को आपस में ही लड़ाने की कोशिश करे और जैसे भी हो सके, हैदरअली, निजाम और मराठों के बीच फूट का विष बोवे।

नाना फड़नवीस

राघोवा में आगे-पीछे सोचने की बुद्धि न थी। उस दरबार में नाना फड़नवीस एक समझदार और दूरदर्शी आदमी था। इतिहासकार टारेन्स ने नाना फड़नवीस की प्रशंसा में बहुत-सी बातें लिखी थीं और यह स्वीकार किया है कि वह अंगरेजों से किसी प्रकार का व्यवहार रखने और सैनिक सहायता लेने का विरोधी था।

अंगरेजों और राघोवा के बीच जो सन्धि हुई थी, नाना उसका भी विरोधी था। एक खैरियत और थी कि युवक पेशवा माधवराव नाना की बातों पर अधिक विश्वास करता था। इसीलिए अंगरेज प्रतिनिधि को उन दिनों में कुछ कामयाबी न हुई।

माधवराव पेशवा की मृत्यु

मास्टिन अपनी कोशिशों में लगा रहा। उसने राघोवा और नाना में फूट पैदा की। माधवराव अब बालिग हो चुका था। उसे इस बात का पता था कि अंगरेज प्रतिनिधि ने राघोवा को अपनी बातों में फँसा रखा है। इसी मतभेद के कारण पेशवा ने राघोवा को कैद करने की आज्ञा दे दी। किन्तु उसके बाद ही उसे छोड़ दिया गया। २८ वर्ष की अवस्था में माधवराव की मृत्यु हो गयी।

माधवराव के स्थान पर उसका भाई नारायण राव पेशवा बना। राघोवा मास्टिन के इशारों पर आँखें बन्द करके चल रहा था। ३० अगस्त सन् १७७३ में नारायण राव पेशवा की हत्या हो गयी। इसका

रहस्य उन्हीं दिनों में खुल गया। इसका अपराध छिपे तौर पर राघोबा के सिर मढ़ा गया। मास्टिन के परामर्श से राघोबा ने अपने आपको पेशवा घोषित किया और अंगरेज प्रतिनिधि ने इस कार्य में उसका पूरा साथ दिया। दरबार के अनेक आदमी राघोबा के विरुद्ध थे। फिर भी उनका कुछ बस न चला।

राघोबा के पेशवा होते ही मास्टिन की पूरी कामयाबी हुई। उसने हैदरअली और निजाम के साथ युद्ध करने के लिए राघोबा को तैयार कर दिया। राघोबा पूना से बाहर गया था। नाना फड़नवीस और अनेक दरबारी इस बात से बहुत दुखी थे कि पेशवा-दरबार अंगरेज के इशारों पर नाच रहा है। इसी बीच में नारायण राव के एक पुत्र पैदा प्रतिनिधि हुआ। पेशवा-दरबार ने बड़ी खुशियों के साथ उसके पेशवा होने की घोषणा की।

अंगरेजों को पेशवा दरबार के साथ चालें चलने और कूटनीति से काम लेने का मौका मिला। राघोबा और अंगरेजों के बीच एक नयी सन्धि हुई। उसके अनुसार राघोबा ने साष्टी, बसई और सूरत का इलाका कम्पनी को दे दिया। इसके बदले में अंगरेजो की ओर से अंगरेजी फौज राघोबा की सहायता के लिए पूना गयी।

अंगरेजों की पराजय

अंगरेजी फौज के साथ पेशवा की सेना का घमासान युद्ध हुआ। लड़ाई में राघोबा और अंगरेजी फौज को करारी हार हुई। राघोबा वहाँ से लौटकर चला गया और पूना दरबार के विरुद्ध तरह-तरह की बातें सोचने लगा।

गायकवाड़ के साथ सन्धि

उन दिनों में कोई भी भारत का ऐसा देशी नरेश न था, जिसके जीवन में घरेलू द्वेष, काम न करता हो। गायकवाड़ में भी यही अवस्था थी। सन् १७६८ में महाराज दमनाजी गायकवाड़ की मृत्यु हुई। उनके तीन रानियाँ थी और उन तीनों से चार लड़के थे। वे आपस में गद्दी पाने के लिये लड़ रहे थे। चारों लड़कों में फतहसिंह बहुत चलता पुर्जा था। इस घरेलू युद्ध को देखकर अंगरेजी दूत मास्टिन

वहाँ पहुँचा और फतहसिंह से मिलकर अंगरेजों और फतहसिंह के बीच एक सन्धि की।

फतहसिंह चार भाई थे। सयाजी, गोविन्द राव, मानिक जी और फतहसिंह। राज्य को लड़ाई सयाजी और गोविन्द राव में थी। फतहसिंह सया जी के पक्ष में था। अंगरेजों के साथ सन्धि करने पर सया जी राव गायकवाड़ बड़ौदा की गद्दी पर बैठा। यह हुकूमत अब पूना दरबार से अगल हो चुकी थी।

गायकवाड़ की यह सन्धि सूरत की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस सन्धि के अनुसार भड़ोच, चिखली, बड़ियाव और कोरल के इलाके अंगरेजी कम्पनी को दिये गये। इसी सिलसिले मे अंगरेजों ने साष्टी और बसई पर भी अपना कब्जा कर लिया। लेकिन सूरत की सन्धि का विरोध पूना दरबार में हुआ।

हेस्टिंग्स की दूसरी करवँट

वारन् हेस्टिंग्स ने एक दूसरी नीति से काम लिया। अपना एक दूत करनल अपटन को पूना दरबार भेजकर जाहिर किया कि राघोवा की सहायता मे बम्बई की अंगरेज कमेटी की जो संधि हुई है, वह मेरी मरजी के खिलाफ है। उसके लिए मेरी राय नहीं ली गयी। इसलिए वह हर सूरत से नाजायज है।

हेस्टिंग्स के हुकुम के अनुसार बम्बई सरकार को पेशवा दरबार के विरुद्ध युद्ध बंद कर देना पड़ा और उसने अपनी सेना को सूरत मे वापस बुला लिया। करनल अपटन ने पूना जाकर अपना अभिप्राय जाहिर किया और जो कुछ पूना दरबार के विरुद्ध हुआ था। उस पर दुख प्रकट किया।

हेस्टिंग्स ने इतना ही नहीं किया था। उसने पेशवा दरबार के प्रधान मंत्री सखाराम बापू के नाम एक पत्र देने के सिवा, एक दूसरा पत्र राघोवा के नाम भी दिया था। उसमें राघोवा के साथ मित्रता और बम्बई कमेटी के कामों का समर्थन किया गया था। अपटन को बताया गया था कि जहाँ जिस पत्र की आवश्यकता मालूम हो, उसी के हिसाब से उसका प्रयोग करना।

हेस्टिंग्स की यह दोमुखा चाल थी। अपने दूत को उसने दो पत्र

दिये। एक में पेशवा दरबार से मित्रता प्रकट की गयी थी और दूसरे में पेशवा दरबार के विरोधी राघोबा के कामों का समर्थन था। अंगरेजों की यह कूटनीति ही भारत में अंगरेजी शासन की सफलता का मुख्य कारण हुई। एक मजे की बात यह थी कि पेशवा दरबार के नाम जो पत्र लिखा गया था, उसमें भी एक ओर मित्रता का समर्थन था और दूसरी ओर साष्टी और बसई को अंगरेजों के अधिकार में रखे जाने का अनुरोध था।

करनल अपटन ने वारन् हेस्टिंग्स के नाम तारीख २ फरवरी सन् १७७६ को नीचे लिखा हुआ पत्र भेजा :—

"मुझसे बार-बार उनके प्रश्न होते हैं कि आप वफादारी की इतनी कसमें क्यों खाते हैं? बम्बई-सरकार ने जो लड़ाई पैदा की आप उसका विरोध करते हैं और उस लड़ाई के द्वारा जो इलाके आपको मिले हैं, उनको अपने कब्जे में रखना चाहते हैं। इसका क्या मतलब होता है?"

पेशवा-दरबार साष्टी और बसई पर अंगरेजों के अधिकार को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ तो अपटन को इसी आशय पर एक, दूसरा पत्र गवर्नर जनरल के पास भेजना हुआ।

युद्ध की तैयारी

वारन् हेस्टिंग्स की कूटनीति की करारी हार हुई। उसने सोचा था कि खुशामद और चापलूसी के द्वारा साष्टी और बसई हमारे अधिकार में आ जायगा। उसको देशी नरेशों का अब तक का अनुभव था, लेकिन मराठा दरबार में उस अनुभव का मुँह काला हुआ।

हेस्टिंग्स को मालूम हो गया कि इन चालों से अब काम न चलेगा। उसने फिर करवट बदली और युद्ध के लिए तैयारियाँ की जाने लगीं। एक ओर वह पूना-दरबार से लड़ाई की तैयारी कर रहा था और दूसरी ओर भोंसले, सींधिया और होल्कर को, जो मराठा-मण्डल के ही अंग थे, अपनी मित्रता की जंजीर में बाँध रहा था। हैदरअली और निजाम के साथ भी मित्रता कायम करने के लिए, गुप्त रूप से पत्र व्यवहार आरम्भ कर दिया गया।

इन परिस्थितियों का पता पूना-दरबार को लगा। करनल अपटन

के साथ पेशवा दरबार की सन्धि हुई और उसके लिए नीचे लिखी बातें मंजूर की गयीं :—

१—सूरत की सन्धि नामंजूर की गई।

२—अंगरेज, राघोबा को कभी मदद न देंगे।

३—बसई का किला, पूना-दरबार के अधिकार में रहेगा।

४—राघोबा के गुजर के लिए पूना-दरबार की ओर से इंतजाम होगा।

५—पेशवा-दरबार और अंगरेजों के बीच मित्रता बनाये रखने के लिए पेशवा की ओर से कम्पनी को साष्टी का टापू, भड़ौंच की माल-गुजारी और उसके पास के तीन लाख रुपये के सालाना के इलाके दिये गये।

६—यह भी निश्चय हुआ कि पूना-दरबार में अंगरेजों का एक प्रतिनिधि रहा करेगा।

इस सन्धि की खबर इंगलैण्ड पहुँची। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने नीचे लिखा हुआ पत्र वारन् हेस्टिंग्स को भेजा। राघोबा के साथ जो सन्धि हुई थी और उसके अनुसार कम्पनी को जो इलाके मिले थे, उन पर अपना कब्जा किसी भी हालत में होना चाहिए।

इसी बीच में कलकत्ते की अंगरेज-कमेटी, बम्बई की अंगरेज-कमेटी और कम्पनी के डाइरेक्टरों के बीच जो पत्र-व्यवहार हुए, उनको लेकर इतिहासकार मिल ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसने बताया है कि डाइरेक्टरों ने साफ-साफ लिखा—"बसई के महत्वपूर्ण इलाके का छोड़ देना इस मौके पर एक बड़ी भूल होगी।" साथ ही यह भी लिखा—"राघोबा को साथ में रखकर कम्पनी अपना काम बना सकती है।"

पेशवा दरबार के साथ पुरन्धर में अंगरेजों की सन्धि हो चुकी थी। और उस पर कम्पनी की कायदे से मुहर भी लग चुकी थी। करनल अपटन सन्धि हो जाने के बाद, पूना-दरबार से कलकत्ते चला गया था। संधि के अनुसार अंगरेजों ने बसई का किला न छोड़ा और राघोबा का साथ बराबर देते रहे। लेकिन संधि की शर्तों के अनुसार उन्होंने अपने प्रतिनिधि के स्थान पर मास्टिन को बम्बई से पूना दरबार के लिए रवाना कर किया।

पेशवा-दरबार के सभी लोग मास्टिन की चालों को जानते थे। इस-

लिए वे चाहते थे कि उसे हमारे दरबार में न भेजा जाय, लेकिन न चाहने का कोई असर न हुआ और मास्टिन पूना पहुँच गया।

मास्टिन ने दरबार में पहुँचते ही एक मंत्री को फोड़ लिया और मोरोबा को अपने साथ कर लिया। उसने इतना ही नहीं किया, दरबार में फूट पैदा कर दी, नाना फड़नवीस और प्रधान मंत्री सखाराम में वैमनस्य पैदा करा दिया और फूट का बीजारोपण हो गया।

आपसी द्वेष के कारण नाना के स्थान पर मोरोबा की नियुक्ति हुई और नाना असंतुष्ट होकर पुरन्धर चला गया। इसी बीच में मोरोबा ने गुप्त रूप से बम्बई की अंगरेज कमेटी को इस आशय का एक पत्र लिखा कि इस मौके पर राघोबा को गद्दी देने के लिए जल्दी कीजिए। इस प्रकार का पत्र पाते ही बम्बई के अंगरेजों ने अपनी तैयारी शुरू कर दी और गवर्नर जनरल वारन् हेस्टिंग्स ने बंगाल से भी एक अंगरेजी फौज सहायता में आने के लिए लिख कर प्रबंध कर दिया।

इसी बीच में पेशवा दरबार में अनेक परिवर्तन हुए। मोरोबा अचानक अहमद नगर के किले में गिरफ्तार कर लिया गया। नाना फड़नवीस पेशवा-दरबार का प्रधान मंत्री बनाया गया। दरबार की आपसी फूट खतम हो गयी।

पेशवा-दरबार में अब भी मास्टिन मौजूद था। उसने दरबार को इस बात का बराबर विश्वास दिलाया कि पुरन्धर में जो संधि हुई है अंगरेज उसी के हिसाब से सब काम करेंगे। पूना में रहकर वह इस बात की कोशिश करता रहा कि राघोबा को पेशवा की गद्दी पर बिठाने के लिये जो मद्रास, कलकत्ता और बम्बई से अंगरेजी फौजें आरही हैं उनकी किसी को कुछ भी खबर न होने पावे।

मराठों के साथ युद्ध का श्री गणेश

वारन् हेस्टिंग्स की आज्ञा से जो अंगरेजी सेना कलकत्ते से रवाना हुई, उसके रास्ते में कई एक देशी राजाओं के इलाके पड़ते थे और उसको भोंसला, सींधिया तथा होलकर के राज्य से होकर आगे बढ़ना था। ये तीनों ही महाराष्ट्र-मण्डल के अंग थे। यह निश्चय था कि पूना जाने वाली इस अंगरेजी सेना को ये देशी नरेश अपने राज्य से गुजरने न देते। इसलिए वारन् हेस्टिंग्स ने पत्र-व्यवहार, करके उनको

बताया कि फ्राँसीसी सेना के आक्रमण होने की हमें खबर मिली है, इसलिए अपने इलाकों की रक्षा करने के लिए कलकत्ते की फौज जा रही है। इस फौज का उद्देश्य किसी देशी राजा के साथ लड़ाई करना नहीं है।

महाराज बरार के साथ तो इस मौके पर और भी गहरी कूटनीति से काम लिया गया। इन्हीं दिनों में सतारा के राजा की मृत्यु हुई थी और उस गद्दी का कोई दूसरा हकदार न था। बरार के राजा मूदाजी भोंसले को अंगरेजों ने पट्टी पढ़ाई कि तुम उस गद्दी के हक के लिए लड़-जाओ। अंगरेजी सेना तुम्हारी मदद करेगी।

बरार के राजा को उलटा-पुलटा पढ़ाने के लिए एक अंगरेज दूत एलमाट बरार भेजा गया। एक अंगरेज लेखक ने लिखा है :—

"राजा बरार मराठा-मण्डल का एक सदस्य था। इस मौके पर अंगरेजों की मंशा थी कि किसी प्रकार मराठों में फूट पैदा की जाय। राजा बरार के साथ एलमाट की बातचीत हुई। उसे यह अधिकार मिला था कि तुम राजा बरार को किसी प्रकार तैयार करो और कहो कि तुम्हारी सभी प्रकार की सहायता करने के लिए, राजा सतारा का सम्पूर्ण इलाका तुमको दिलाने के लिए और तुमको पेशवा बनाने के लिए गवनर जनरल तैयार है।"

बरार के राजा पर चाल का कोई असर न पड़ा। लेकिन इतना जरूर हुआ कि इस बातचीत और कोशिश के मौके पर कलकत्ते की सेना को बरार के राज्य से पार हो जाने का अवसर मिल गया। होलकर और सीन्धिया की ओर से भी अंगरेजी फौज को कहीं रोका नहीं गया।

वारन् हेस्टिंग्स ने यही चाल नाना फड़नवीस के साथ भी चली। लेकिन नाना साधारण दर्जे का आदमी न था। पेशवा इलाके में अंग-रेजी फौज को रोकने के लिए उसने तुरन्त हुकुम निकाला।

कलकत्ते की अंगरेजी फौज को रास्ते में कहीं-कहीं रुकावट पड़ी। बुंदेलखण्डी देशी राजाओं ने कहीं-कहीं रुकावट डाली, लेकिन छल बल और धन—तीनों के बल पर अंगरेजी फौजों ने रास्ता पार किया। नवाब भोपाल को लम्बी रकम नजराने में देकर, उनकी जबान में ताला डाल दिया। रास्ते में उस सेना के सेनापति की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर गाडर्ड सेनापति मुकरर हुआ।

कलकत्ते की फौज के पहुँचने का रास्ता न देखकर बम्बई की अंग-जी फौज भी रवाना हो गयी। अंगरेजों ने यह युद्ध राघोवा के नाम ो लड़ना तय किया और युद्ध के खर्च के लिए एक लम्बा रकम बतौर र्ज के देकर, राघोवा से कुछ शर्तों का पट्टा लिखवा लिया। तारीख २२ वम्बर सन् १७७८ को करनल इजर्टन के सेनापतित्व में बम्बई की ंगरेजी फौज रवाना हुई और साथ में राघोवा भी चला रास्ते में ऐसे ागज भी बाँटे गये, जिनमें महाराष्ट्रों से राघोवा की सहायता की पील की गयी।

अभी तक मास्टिन पूना मे मौजूद था, बीमार हो जाने के कारण ह बम्बई चला गया और १ जनवरी १७७९ को उसकी वहाँ पर मृत्यु ो गयी।

बम्बई की अंगरेजी सेना खण्डाला तक पहुँच गयी। पेशवा-दरबार प्रधान मंत्री नाना राजनीतिज्ञ और दूरदर्शी था। उसने अपने राज्य गुप्तचरों की अच्छी व्यवस्था कर रखी थी। इन्हीं दिनों मे महाराज िंधिया और होलकर पूना में थे। नाना ने अंगरेजी फौज को रोकने के लए उन दोनों के अधीन सेना रवाना कर दी।

अंगरजों की पराजय

मराठी सेना ने अंगरेजी फौज का मुकाबिला किया। वे बहुत दूर, हले तो पीछे हटते चले गये और अंगरेजी फौज आगे बढ़ कर ताले ाँव तक पहुँच गयी। ताले गांव के युद्ध-क्षेत्र मे शत्रु-सेना को मराठों ी विशाल सेना ने तीन ओर से घेर लिया। अंगरेजी फौज की जान तरे में पड़ गई, घबरा कर उसने पीछे हटना शुरू किया।

अंगरेजों को एक कदम भी आगे बढ़ना कठिन हो गया, वे अब भी ीछे हटते रहे। अंगरेजों के प्राण संकट में पड़ गये। उन्होंने अपनी ुद्ध की सामग्री स्वयं नष्ट करनी शुरू कर दी। गोले और बारूद में ाग लगा दी और तोपों को निकम्मा बना दिया। वे जानते थे कि म अगर ऐसा न करेंगे तो शत्रुओं का इस पर कब्जा हो जायगा।

मराठी-सेनापति की ललकार पर उसकी वीर सेना अंगरेजी फौज र टूट पड़ी। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। उस घोर युद्ध में ंगरेजी सेनापति की हिम्मत टूट गयी। मराठों ने उनके हथियार

छीन लिए और अंगरेजों ने प्राण-रक्षा के लिए प्रार्थना की। इसके बाद मराठों ने अपना आक्रमण रोक लिया। अंगरेजी दूत ने आकर सन्धि की प्रार्थना की और अंगरेजों ने नीचे लिखी शर्तें मंजूर कीं :—

१—राघोबा को तुरन्त पेशवा-दरबार के सुपुर्द कर दिया जाय।

२—भड़ोंच, सूरत तथा दूसरे जिन इलाकों पर अंगरेजों ने अपना अधिकार कर रखा है, वहाँ से तुरन्त वे अपना कब्जा हटा लें।

३—कलकत्ते से आने वाली सेना को रोकने के लिए अंगरेज अफसर फौरन रवाना हों और उसे लौटा दें।

४—इन शर्तों को पूरा करने के समय तक अंगरेजी फौज के दो अफसर मराठों के पास कैद रहें।

सन्धि की लिखा-पढ़ी हो गई। दोनों ओर से हस्ताक्षर भी हो गये। राघोबा और दो अंगरेज पेशवा-दरबार को सौंप दिये गये। कलकत्ते से आने वाली फौज को रोकने की जो कोशिश की थी, वह बेकार गई और वह आगे बढ़ कर सूरत तक पहुँच गयी। वारन् हेस्टिंग्स का एक पत्र भी इसी समय कलकत्ते के सेनापति के नाम पहुँचा। उसमें लिखा था कि बम्बई फौज की हार और सन्धि की तुम परवाह न करो बल्कि अपना उद्देश्य पूरा करो।

अंगरेजों का सहारा

इधर वारन् हेस्टिंग्स ने अपनी चालें जारी रखीं। राजा बरार को तटस्थ हो जाना पड़ा और गायकवाड़ को अंगरेजों ने पहले से ही अपने हाथ में कर रखा था। मराठों में अब होलकर और सींधिया—दो ही बाकी रह गये थे।

पेशवा की सेनाओं में माधवजी सींधिया वीर और साहसी सेनापति था। अंगरेजों ने उसे मिलाने के लिए अनेक जाल रचे और अन्त में वे कामयाब हो गये। माधव जी सींधिया अंगरेजों का साथ देने के लिए राजी हो गया। उसे अनेक प्रलोभन दिये गये और वह उन लालचों में भली प्रकार फंस गया। राघोबा, सींधिया और अंगरेजों के बीच एक गुप्त सन्धि हो गई।

सूरत में जो अंगरेजी सेना पड़ी थी। उसने गुजरात में पेशवाई इलाकों पर हमला करना और लूट मार जारी कर दी। माधवजी

सींधिया उस फौज के साथ वहाँ भेजा गया। लेकिन अंगरेजों के हमलों में कोई रुकावट न आयी। सींधिया अंगरेजी प्रलोभनों के नशे में था। इसलिए एक दूसरी सेना होलकर के हाथ में देकर तुरन्त गुजरात रवाना की गयी।

सींधिया के साथ विश्वासघात

सींधिया ने आँखें मूँद कर अंगरेजों की चापलूसी और उनके प्रलोभनों का विश्वास किया और गुप्त रूप से उनके साथ उसने सन्धि भी की थी। प्रलोभनों के आधार पर वह जीवन के बड़े-बड़े स्वप्न देख रहा था। अंगरेजों के मुकाबिले के लिए वह जहाँ जाता था, वहाँ अपने गुप्त पत्रों द्वारा अपनी दिखावटी लड़ाई का सन्देश दे देता था। इस प्रकार उसने पेशवा दरबार के साथ काफी विश्वासघात किया। इसी के फल स्वरूप गुजराती इलाकों में अंगरेजों को लूटने और अत्याचार करने का अच्छा मौका मिला।

माधव जी सींधिया अब अपनी उन आशाओं को फलता और फूलता हुआ देखना चाहता था, जो सन्धि के द्वारा उसके दिल में उत्पन्न हुई थीं। उसने अंगरेजी सेना के प्रधान के पास अपनी खबर भेजी और कहा कि सन्धि की शर्तें अब पूरी होनी चाहिए। अंगरेजी फौज के सेनापति ने यह सन्धि केवल राघोबा और अपने दो अंगरेज कैदियों को छुड़ाने के लिए की थी और इसी मतलब के लिए उसने कितने ही झूठ प्रलोभन सींधिया को दिये थे। अंगरेज सेनापति गाडर्ड का मतलब पूरा हो चुका था। सींधिया ने राघोबा और दोनों अंगरेज कैदियों को छोड़ दिया था। इसलिए अंगरेज सेनापति ने सन्धि को मानने से इनकार कर दिया।

इसी मौके पर अंगरेजी सेना ने सींधिया की फौज पर धावा बोल दिया। सींधिया अभी तक सन्धि के नशे में था। यद्यपि नशा टूट चुका था, मगर अब तक खुमार बाकी था। उसे अंगरेजी आक्रमण का अन्देशा न था। आखिरकार अपनी अस्त व्यस्त दशा में सींधिया को गुजरात से भागना पड़ा।

नाना के संगठन की सूझ

पेशवा-दरबार का प्रधान नाना फड़नवीस अत्यन्त दूरदर्शी था।

जब उसे गुजरात में अपनी असफलता का पता चला और पता चला सींधिया की बातों का, अंगरेजों की चालों का तो उसने एक योजना तैयार की और तय किया कि इन विदेशियों के खिलाफ अपनी शक्तियों का संगठन किया जाय। नाना ने निजाम, अरकाट के नवाब, मैसूर के सुल्तान हैदरअली और दूसरे हिन्दू-मुस्लिम नरेशों को पत्र देकर अपना आशय जाहिर किया।

इन पत्रों का यह फल हुआ कि निजाम और हैदरअली ने नाना के साथ मिल कर अंगरेजों पर आक्रमण करने और उन्हें मुल्क से बाहर कर देने का निश्चय कर लिया।

पेशवा की ओर से मूदाजी भोंसले ३० हज़ार सेना लेकर कलकत्ते के अंगरेजों पर हमला करने के लिए चला। दिल्ली-सम्राट के साथ पेशवा दरबार के अच्छे सम्बन्ध थे। पूना-दरबार दिल्ली-सम्राट को अपना अधिनायक समझता था। नाना को इसी बीच में मालूम हुआ कि वारन हेस्टिंग्स सम्राट को अपने साथ मिलाने की कोशिश कर रहा है।

दिल्ली-दरबार में पेशवा की ओर से एक प्रतिनिधि रहा करता था। हेस्टिंग्स की चालबाजी का पता पाकर नाना ने दिल्ली-दरबार के अपने प्रतिनिधि को सावधान करते हुए एक पत्र भेजा और लिखा कि दिल्ली सम्राट के ऊपर हेस्टिंग्स का जादू काम न करने पावे। अंगरेजों ने देशी राजाओं को बहुत क्षति पहुँचायी है। उनके षड़यन्त्रों से सावधान रहने में ही हम सब की कुशल है। इन विदेशी अंगरेजों को मुल्क से निकालने के लिए सब को संगठित शक्तियों से काम करने की जरूरत है।

नाना फड़नवीस हेस्टिंग्स की कूटनीति को असफल बनाना चाहता था, लेकिन ऐसा वह कर तो न सका फिर भी उसके प्रयत्न बहुत कुछ काम कर गये।

अंगरेजों की तीसरी पराजय

करनल गाडर्ड अपनी फौज के साथ पूना की ओर जा रहा था। रास्ते में अनेक मौकों पर उसने लूट मार का काम किया। बसई और कोकन के कितने ही खुशहाल मुकामों को उसने बरबाद कर दिया।

पूना पहुँचने के पहले ही, पेसवा की सेना ने उसका मुकाबिला किया। जोरदार युद्ध होने के बाद, अंगरेजों की फौज तीसरी बार मराठों के मुकाबिले में पराजित हुई और अप्रैल १७८१ के अंतिम दिनों में वह मैदान छोड़कर बम्बई की ओर भाग गयी।

इसके पहले माधवजी सींधिया के साथ अंगरेजों की एक गुप्त सन्धि हुई थी, अब उसी सींधिया का सर्वनाश करने पर अंगरेज उतारू हो गये। सन्धि भंग होने के बाद भी सींधिया ने अंगरेजों का कुछ नुकसान न किया था। उसका अपराध इतना ही था कि उसने उन पर विश्वास कर के उनके साथ सन्धि की थी। कम्पनी के अंगरेजों की प्रारम्भ से ही यह नीति रही है कि वे जिसका सर्वनाश करना चाहते थे, उसके साथ पहले वे सन्धि करते थे। सींधिया के साथ भी यही हुआ।

सींधिया के विरुद्ध अंगरेजों ने गोहद के राना को मिलाया और उसे मदद देकर सींधिया के साथ उसे लड़ा दिया। सींधिया को पराजित करके उसका मशहूर ग्वालियर का किला राजा गोहद को दे दिया। उसके बाद भी सींधिया को बरबाद करने की कोशिश की।

निजाम और हैदरअली के साथ

हेस्टिंग्स को यह तो मालूम हो गया कि निजाम और हैदरअली पेशवा के साथ मेल कर रहे हैं। उसने दोनों को फोड़ने की कोशिश की। उसका जादू हैदरअली पर कुछ काम न कर सका। लेकिन निजाम की आँखें पलट गयीं।

निजाम को पट्टी पढ़ायी गयी कि दिल्ली सम्राट, नाना फड़नवीस और हैदरअली में एक गुटबन्दी हो रही है, उसमें हैदरअली को तुम्हारे स्थान पर सूबेदार बनाया जा रहा है। निजाम ने इस षड़यन्त्र पर विश्वास कर लिया। निजाम की सहायता करने के लिए अंगरेजों ने वादा किया। इसके पहले इन्हीं अंगरेजों ने निजाम से गुण्टूर का इलाका लेकर नवाब मोहम्मद अली को दे दिया था। वह इलाका इन दिनों में निजाम को वापस दे दिया गया। इतने से उसका विश्वास और भी बढ़ गया।

पेशवा के साथ सन्धि की कोशिश

हैदरअली को फोड़ने में असफल होने पर हेस्टिंग्स ने मूदाजी भोंसले से कहा कि नाना फड़नवीस और अंगरेजों मे सन्धि के लिए तुम कोशिश करो। भोंसले, हेस्टिंग्स की चालों को पहले ही समझ चुका था। इसलिए उसने इनकार कर दिया। उसके बाद माधव जी सींधिया को हेस्टिंग्स ने फिर मिलाया और उसके द्वारा नाना के साथ सन्धि का स्वाँग रचा जाने लगा।

कई महीनों के बाद और अंगरेजों के बार-बार ईसा मसीह की कसम खाने और सन्धि के पालन करने का वादा करने पर १७ मई सन् १७८२ ई० को पूना-दरबार और अंगरेजों के बीच तीसरी बार सन्धि हुई। उसमे निश्चय हुआ :—

१—पेशवा-दरबार के इलाके वापस दिये जायँ।

२—गायकवाड़ को उसकी पुरानी परिस्थिति में ही रहने दिया जाय।

३—राघोबा को २५,००० रुपये महावार की पेन्शन दी गयी।

४—राना गोहद की सन्धि रद्द की गयी और ग्वालियर माधव जी सींधिया को दिलाया गया।

इस प्रकार सन्धि की लिखा पढ़ी हो गयी। लेकिन नाना ने उन पर दस्तखत न किये। उसका कारण यह था कि नाना का परम हितैषी हैदरअली अभी अंगरेजों के साथ लड़ रहा था। नाना इस बात को समझता था कि अंगरेजों के साथ सन्धि कर लेना, हैदरअली के साथ खुला विश्वासघात है। और इसी मतलब को सिद्ध करने के लिए हेस्टिंग्स नाना के साथ यह सन्धि किन्हीं भी शर्तों पर कर रहा था।

हेस्टिंग्स को मालूम ही था कि हैदरअली और नाना एक हो रहे हैं। पहले उसने हैदरअली को तोड़ने की कोशिश की, लेकिन असफल होने पर नाना को तोड़ने के लिए सन्धि का स्वांग रचा। हैदरअली के साथ अंगरेजों का जो युद्ध चल रहा था, उसका विस्तार के साथ वर्णन आगामी परिच्छेद में किया जायगा। नाना उसी का रास्ता देख रहा था। हैदरअली की मृत्यु के बाद नाना की सारी आशायें मिट्टी मे मिल गयीं और उसके बाद सन्धि-पत्र पर नाना ने हस्ताक्षर किये।

इस सन्धि के साथ-साथ प्रथम मराठा युद्ध का अन्त हुआ।

———

ग्यारहवाँ परिच्छेद

हैदरअली

जन्म और जीवन का क्रम

हैदरअली जितना बहादुर और साहसी था, उतना ही वह बुद्धिमान और दूरदर्शी था। भारत के जिन देशी नरेशों का सामना कम्पनी के अंगरेजों को करना पड़ा, उनमें हैदरअली का नाम मुख्य है।

हैदरअली का जन्म एक मुसलमान फक़ीर परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम था फ़तह मुहम्मद। हैदरअली का जन्म लगभग १७२० में माना जाता है। जीवन के अंतिम दिनों में फ़तह मुहम्मद एक किले में किलेदार था और लड़ाई मे वह मारा गया था। पिता की मृत्यु के समय हैदरअली की अवस्था तीन वर्ष की थी। उसके बड़े भाई का नाम था शहबाज और वह रियासत मैसूर में सेना का एक नौकर था। अपने बड़े भाई के साथ हैदरअली भी रहा करता था और बड़े होने पर उसने घुड़सवारों में नौकरी कर ली थी।

उन दिनों में मैसूर के महाराज दरबार में बहुत कम आते थे। उनका अधिक समय महल के भीतर ही बीता करता था। इतिहासकारों ने लिखा है, कि उसकी प्रजा साल में शायद एक या दो बार ही उनके दर्शन कर पाती थी। शासन का प्रबन्ध उसका प्रधान मन्त्री करता था। मैसूर मे प्रधान मन्त्री को उन दिनों दैव कहा जाता था।

यहां पर मैसूर के प्रधान मन्त्री को दैव न लिख कर प्रधान मन्त्री ही लिखेंगे। हैदरअली के कामो से प्रधान मन्त्री बहुत प्रसन्न था। उसने इनकी योग्यता और बहादुरी देखकर सन् १७५५ में इनको डिण्डीगल का एक अफसर बना दिया। डिण्डीगल में सैनिकों को कवायद सिखाने के लिए फ्राँसीसी अफसर रखे गये थे और तोपखाने में भी अनेक फ्राँसीसी काम करते थे।

हैदरअली अपनी बहादुरी और बुद्धि के द्वारा आगे चलकर मैसूर

का प्रधान सेनापति बनाया गया। सेनापति की हैसियत से हैदरअली ने जो काम किये, उनसे उसकी मैसूर में ही इज्जत नहीं बढ़ी, बल्कि आस-पास के देशी राज्यों में भी उसकी बहुत प्रशंसा होने लगी। कुछ दिनों के बाद दिल्ली सम्राट ने प्रसन्न होकर हैदरअली को मैसूर के करीब सारी प्रान्त का सूबेदार बना दिया।

मैसूर दरबार की आर्थिक दशा उन दिनों में बहुत खराब थी। रियासत मैसूर दिल्ली साम्राज्य के मातहत थी और मैसूर की मातहती में कितने ही छोटे-छोटे राजा थे। ये मातहत रियासतें, मैसूर के विरुद्ध विद्रोह कर रही थीं। हैदरअली ने उस विद्रोह को शान्त किया।

इन दिनों में हैदरअली के कारण मैसूर राज्य की बहुत उन्नति हुई। पड़ोस के अनेक प्रान्तों को विजय कर हैदरअली ने मैसूर के राज्य में मिला लिया और मैसूर के शासन की व्यवस्था में बहुत-से सुधार किये।

इन दिनों में मराठे लोग अपना राज्य बढ़ाने में लगे थे। दूसरे राज्यों पर आक्रमण हुए। लेकिन हैदरअली ने मैसूर की बराबर रक्षा की और अन्त में मैसूर और मराठों के बीच एक सन्धि हो गयी।

अंगरेजों के साथ प्रथम युद्ध

कम्पनी के अंगरेजों की नजरों में मैसूर का राज्य खटक रहा था। इसीलिए उनके दाँव-पेंच शुरू हो गये। और बारामहल नामक इलाके पर अंगरेजों ने हमला किया। उन दिनों में करनाटक के नवाब मोहम्मदअली के साथ हैदरअली की मित्रता का सम्बन्ध था। अंगरेजों ने मोहम्मदअली को हैदरअली के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार किया और कहा कि बारामहल को जीत कर करनाटक के मातहत कर दिया जायगा।

अंगरेजों की इस चाल को देख कर हैदरअली ने निजाम सरकार के साथ सन्धि की और निश्चय किया कि मैसूर और निजाम की फौजें मिलकर करनाटक और अंगरेजी इलाकों पर आक्रमण करेंगी। साथ ही यह भी तय हुआ कि मोहम्मदअली ने जो साजिश की है, उसका दण्ड देने के लिए उसको नवाब के पद से हटा कर, हैदरअली के लड़के टीपू को नवाब बनाया जायगा।

हैदरअली की सहायता करने के लिए निजाम की ओर से ५० हजार सैनिकों की एक फौज भेजी गयी।

इस बीच में अंगरेजों के साथ हैदरअली का पत्र-व्यवहार चल रहा था लेकिन उन्होंने इसकी कुछ परवाह न की और जनरल स्मिथ के साथ मद्रास से एक बड़ी सेना रवाना हुई और हैदरअली के कुछ सरहदी किलों को अपने कब्जे में कर लिया। हैदरअली के अधिकार में उस समय दो लाख की सेना थी। उसने ५० हजार सैनिकों को साथ लेकर स्मिथ का मुकाबिला करने की तैयारी की उसके साथ निजाम की फौज भी थी।

अंगरेजों ने निजाम को तोड़ने की कोशिश की। जो सेना निजाम की ओर से हैदरअली के साथ आयी थी, उसके साथ भी अंगरेजों ने गुप्त रूप से पत्र-व्यवहार किया और उसे हैदरअली से अलग करने की चेष्टा की।

दोनों ओर की सेनाओं में घमासान युद्ध आरम्भ-हुआ हैदरअली ने बड़ी बहादुरी के साथ अंगरेजी फौज का मुकाबिला किया। निजाम की सेना ने कुछ अच्छा काम न किया। इसके कारण हैदर-अली के कई इलाके अंगरेजों के हाथों में चले गये।

अरकाट का नवाब अंगरेजों के साथ तो था ही; निजाम भी हैदर-अली को धोखा देता हुआ दिखायी पड़ा। मराठों की ओर से हैदर-अली को कुछ अन्देशा बना रहता था। इन तमाम संकटों के समय मैसूर में हैदरअली का शासन अभी थोड़े दिनों का था। इसलिए उसे अंगरेजों के साथ सन्धि की शुरुआत करनी पड़ी।

हैदरअली ने सन्धि की बातचीत करने के लिए अपना एक दूत अंगरेजों के पास भेजा। अंगरेजों को विश्वास हो गया कि हैदरअली की हालत अच्छी नहीं है। कमजोरी के इस मौके पर उसके सम्पूर्ण राज्य पर कब्जा किया जा सकता है। दूत लाचार हो कर लौट आया।

हैदरअली ने इससे अपना अपमान समझा। उसने अंगरेजों से लड़ने के लिए जोरों के साथ आवाज उठायी। उसने एक सेना अपने सेनापति के साथ रवाना कर दी और दूसरी सेना लेकर वह स्वयं युद्ध-क्षेत्र के लिए चलता हुआ।

अंगरेजों की पराजय

हैदरअली ने आगे बढ़ कर सबसे पहले अपने उन इलाकों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, जिन पर अंगरेजों का कब्जा हो गया था। हैदरअली की फौज ने कावेरी पट्टम के किले को जाकर घेर लिया। अंगरेजों ने तोपों का प्रहार किया। दोनों ओर से कई घण्टे तक गोले बरसते रहे। अन्त में अंगरेजी सेना ने पीछे हटना शुरू किया और उनके सेनापति ने सुलहनामें का सफेद झण्डा फहराया।

हैदरअली अंगरेजों की तरह बेईमान और अवसरवादी न था। सफेद झण्डा देखते ही उसने युद्ध बन्द कर दिया और किले पर अपना कब्जा कर लिया। किले के भीतर जो अंगरेज मौजूद थे, उनको हैदर-अली ने आज्ञा दी कि अपने-अपने हथियार छोड़कर, तुम लोग मद्रास चले जाओ। हैदरअली की मेहरबानी से उसके बाद एक भी अंगरेज मारा नहीं गया। अंगरेजी फौज के भारतीय सैनिक जो किले पर रह गये थे, हैदरअली की सेना में भरती हो गये।

मद्रास के अंगरेजों पर आक्रमण

हैदरअली के लड़के फतहअली टीपू की अवस्था उन दिनों में अठारह, उन्नीस वर्ष की थी। अपने पिता की तरह टीपू भी वीर और बहादुर था। टीपू का साहस और पुरुषार्थ देखकर हैदरअली ने सात हजार सवारों की एक सेना लेकर मद्रास की ओर भेज दिया।

टीपू जिस समय मद्रास पहुँचा, मद्रास के किले के करीब एक बगीचे में, मद्रास गवर्नर अपने कुछ सलाहकारों के साथ घूम रहे थे। उनके साथ नवाब मोहम्मदअली भी थे। टीपू की सेना को तेजी के साथ आगे बढ़ते देख कर वे सब के सब वहां से भाग गये।

टीपू ने आगे बढ़ कर सेण्ट टामस नामक किले पर अपना कब्जा कर लिया और उसके आस-पास के अंगरेजी इलाकों में अपना झण्डा फहरा दिया।

निजाम का विश्वासघात

त्रिनमल्ली के मैदान में जनरल स्मिथ की फौज के साथ हैदरअली का युद्ध हुआ। निजाम की सेना हैदरअली के साथ थी। दोनों ओर से जोरों के साथ युद्ध हुआ। लेकिन निजामी फौज ने हैदरअली के

साथ विश्वासघात किया और उसका फल यह हुआ कि युद्ध के मैदान से हैदरअली की सेना को पीछे हटना पड़ा।

अंगरेजी कूटनीति और असफलता

हैदरअली के मुकाबिले में अंगरेजों की पराजय ही होती गई। उनके सब से बड़े अस्त्र छल, कपट और झूठी मित्रता को हैदर के साथ सफलता न मिली। यह बात जरूर थी कि हैदरअली की उदारता और धार्मिकता के कारण अंगरेजों की रक्षा होती रही।

टीपू को पराजित करने के बजाय, मद्रास में छल से ही काम लिया गया और झूठे प्रपंच पैदा करके उसको वापस चले जाने के लिए मौके पैदा किये गये।

बनियम वाड़ी के मजबूत किले पर भी हैदरअली का युद्ध अंगरेजों के साथ हुआ, लेकिन कुछ समय की तोपों की वर्षा के बाद, अंगरेजों ने किला छोड़ दिया और हैदरअली ने उस पर अपना कब्जा कर लिया।

इन दिनों में योरप के बहुत-से ईसाइयों ने भारत के देशी राजाओं के यहाँ फौजों में नौकरियाँ कर ली थीं। उनका उद्देश्य था कि मौके पर वे अपने मालिकों को धोखा दें और विश्वासघात करें। लेकिन इन चालों से भी अंगरेजो को कुछ अधिक लाभ न हुआ।

अंगरेजों के साथ हैदरअली की छोटी-मोटी अनेक लड़ाइयाँ हुईं, सभी मे अंगरेजों के हौसले पस्त होते गये। कहीं-कहीं पर उनको मौके का लाभ मिला भी तो उसके बाद हैदरअली ने फिर उनको परास्त किया और धीरे-धीरे उनके जीते हुए सभी इलाकों पर हैदर का कब्जा हो गया।

मंगलौर में अंगरेजी सेना का टीपू ने मुकाबिला किया। बम्बई की अंगरेजी सेना के साथ टीपू ने भयानक युद्ध किया। अन्त में टीपू की शानदार विजय हुई। अंगरेजी सेनापति, ५० अंगरेज फौजी अफसर, सात सौ अंगरेज सैनिक और लगभग ७ हजार अंगरेजी फौज के भारतीय सिपाही टीपू ने कैद करवा लिए। इस लड़ाई से अंगरेजों का दिल दहल गया। मंगलौर के किले और नगर पर टीपू ने अपना कब्जा कर लिया।

अंगरेजी फौज के साथ करनाटक के नवाब की सेना भी थी। लेकिन उनको कहीं पर कामयाबी न हुई। अंगरेजी फौज को बराबर पीछे हटना पड़ा और मैदान छोड़ कर भागना पड़ा। नवाब मोहम्मद-अली की सूबेदारी करनाटक में, जब हैदरअली के सैनिकों ने प्रवेश किया तो नवाब मोहम्मदअली घबरा गया।

अपनी लगातार पराजय देखकर मद्रासी अंगरेजों की ओर से कप्तान ब्रूक, हैदर-अली के पास सुलहनामें के लिए गये। हैदरअली को सुलहनामे के लिए पिछले दिनों में अङ्गरेजों ने ठुकरा दिया था। उसका अपमान हैदरअली को भूला न था। उसने कप्तान ब्रूक को जवाब दिया :—

"मैं मद्रास के द्वार पर आ रहा हूँ। मद्रास के गवर्नर और उसकी कमेटी की बातों को मैं वहीं पर आकर सुनूँगा।"

कप्तान ब्रूक को निराश होकर वापस जाना पड़ा। हैदरअली एक बड़ी सेना के साथ मद्रास की ओर चला। हैदरअली भयानक लड़ाकू था। उसने अङ्गरेजों के सारे हौसले पस्त कर दिये थे। हैदर की फौजें मद्रास के निकट पहुँच गयीं। सेण्ट टामस की पहाड़ी बीच में रह गई थी, जिसे टीपू पहले ही अपने कब्जे में कर चुका था।

सेण्ट टामस पर अङ्गरेजी सेना जमा हुई और हैदर की फौज का सामना करने की हिम्मत की। इसी बीच में हैदरअली ने अपनी विशाल फौज को मोड़कर, मद्रास के दूसरे रास्ते से, मद्रास के द्वार पर पहुँचा दिया। सर्वनाश से बचने के लिए मद्रास के अङ्गरेजों के पास अब कोई सहारा न था। लेकिन हैदरअली अपनी बात का धनी था। उसने वादा किया था कि मद्रास आकर मैं सब कुछ सुनूँगा। उसने उनको मौका दिया।

मद्रास के दूसरे द्वार पर पहुँचकर हैदरअली ने अपने पहुँचने की सूचना अङ्गरेजी गवर्नर को भेजी। गवर्नर ने हैदरअली से सुलह करने के लिए दो अङ्गरेज अफसर डूप्रे और वैशियर को भेजा। हैदरअली ने सेण्ट टामस पहाड़ी पर मुकाम किया और सुलह की शर्तों पर बातें होने लगीं।

उस समय के हैदरअली का वर्णन करते हुए इतिहास लेखक माले-सन ने लिखा है :—

"इसमें सन्देह नहीं कि उस समय की परिस्थितियाँ हैदरअली के हाथों में थीं। मद्रास के अङ्गरेजों का अस्तित्व वह निर्दयता के साथ मिटा सकता था। समय उसके अनुकूल था और वह जैसी शर्तें चाहता, वैसी शर्तें मानने के लिए उन अङ्गरेजों को मजबूर कर सकता था।"

इस बीच में दो सन्धिया हुई। एक तो अङ्गरेजो और हैदरअली के बीच हुई। दूसरी हैदरअली और अरकाट के नवाब मोहम्मदअली के साथ हुई। अङ्गरेजों के साथ जो सुलह हुई, वह इंगलैण्ड के बादशाह की ओर से लिखी गयी। १५ अप्रैल सन् १७६९ में दोनों सन्धियों पर दस्तखत हो गये इन सन्धियों में नीचे लिखे हुए निश्चय मंजूर किये गये :—

१—ये सन्धियाँ शान्ति और मित्रता कायम करने के लिये की गईं।

२—हैदरअली के जो इलाके अङ्गरेजों ने ले लिये थे, और जिनको हैदरअली ने फिर जीत लिए, वे हैदरअली के अधिकार में ही रहेंगे।

३—हैदरअली ने अङ्गरेजों का जो इलाका जीत लिया था, वह अङ्गरेजों को वापस कर दिया जाय।

४—नवाब मोहम्मद के राज्य का कारूढ़ प्रान्त सदा के लिए हैदरअली को दे दिया गया।

५—युद्ध के खच मे एक बड़ी रकम अङ्गरेजों ने हैदरअली को अदा की।

६—किसी शत्रु से युद्ध होने पर दोनों एक दूसरे की सहायता करेंगे।

दूसरी संधि जो नवाब मोहम्मदअली के साथ हुई, उसमें निम्न-लिखित शर्तें मंजूर की गयी :—

१—अरकाट का इलाका और नवाब मोहम्मद अली हैदरअली के मातहत समझे जाँय।

२—मातहत होने के कारण नवाब मोहम्मद अली मालगुजारी के तौर पर हैदरअली को वार्षिक ६ लाख रुपये अदा किया करे।

३—यह भी तय हुआ कि प्रथम वर्ष की मालगुजारी मोहम्मद-अली पेशगी अदा करे।

हैदरअली के साथ लगातार युद्ध में हारने और अपमानित रूप में संधि करने की अंगरेजों की खबरें इंगलैण्ड पहुँची। कम्पनी के डाइरेक्टरों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। यहाँ तक कि डाइरेक्टरों की संख्या घट कर आधी से भी कम रह गयी।

दोनों सन्धियां हो चुकी थीं और दोनों पर मोहरें लगने के साथ-साथ हस्ताक्षर भी हो चुके थे। लेकिन अंगरेजों को इससे प्रसन्नता न थी। इन्हीं दिनों में हैदरअली के साथ मराठों की कुछ अनबन हो गयी। मराठी सेना ने मैसूर पर आक्रमण किया। संधि की शर्तों के अनुसार हैदरअली ने सहायता करने के लिए अँगरेजों को लिखा। लेकिन वे तो पहले से ही हैदरअली के विरुद्ध किसी मौके की खोज में थे, सहायता करने से उन्होंने साफ-साफ इनकार कर दिया।

अँगरेजो के साथ जिन दिनों मे हैदरअली का युद्ध चल रहा था, कुर्ग का राजा, जो हैदरअली के मातहत था, मैसूर के साथ विद्रोही हो गया था और मालगुजारी का देना उसने बन्द कर दिया था। हैदरअली ने उस पर चढ़ाई की और उसको फिर अपने अधीन बना लिया।

हैदरअली और नाना मे सन्धि

हैदरअली का कुछ इलाका मराठा दरबार में आ गया था। पेशवा दरबार के प्रधान मंत्री ने प्रसन्नता के साथ उसे हैदरअली को लौटा दिया। अँगरेजों की कूटनीति और उनके षड़यंत्रों से हैदरअली जितना चिढ़ा हुआ था, उससे कम नाराजगी अँगरेजों के ऊपर पेशवा दरबार की न थी। इस दशा में हैदरअली और नाना फड़नवीस में बड़ी गम्भीरता के साथ कुछ परामर्श हुआ।

अँगरेजों को देश से बाहर निकालने के लिए हैदरअली और नाना के बीच सन्धि हो गयी। उसकी खबर अँगरेजों को मिली और यह भी उनको मालूम हुआ कि हैदरअली अँगरेजी इलाके पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है। इसपर अँगरेजों ने अपना दूत भेजकर हैदरअली के साथ फिर संधि करने की कोशिश की। लेकिन हैदर अली ने ऐसा करने से इनकार कर दिया।

करनाटक पर चढ़ाई

अँगरेजों के साथ हैदरअली की जब संधि हुई थी तो मोहम्मदअली

के साथ भी एक सुलह की गई थी। मोहम्मदअली की सुलह अंगरेजों को बहुत खटक रही थी। इसलिए कि नवाब मोहम्मदअली पहले अंगरेजों के मातहत था। सन्धि के बाद वह हैदरअली के मातहत हो गया था।

इसीलिए अंगरेज मोहम्मदअली को बराबर बहकाते रहे। उसने सन्धि की एक भी शर्त पूरी न की। जुलाई सन् १७८० मे हैदरअली ने करनाटक पर आक्रमण किया। वहाँ के किलों पर अंगरेजी फौजें लगी थीं। हैदरअली ने अपनी विशाल सेना को कई भागों मे बाँट दिया और अलग-अलग सेनापतियों के साथ उनको भेज कर करनाटक के सभी प्रमुख किलों पर एक साथ आक्रमण किया।

अंगरेजों के अत्याचारों से करनाटक के हिन्दू और मुसलमान बहुत दुखी थे। इसलिए वहां की प्रजा का हैदरअली को सहयोग प्राप्त हुआ। अंगरेजी फौजों को हर किले पर पराजित होना पड़ा। थोड़े समय के भीतर ही अनेक किले और कई एक इलाके, हैदरअली के हाथ मे आ गये।

करनाटक की राजधानी अरकाट थी। अपनी सेना के साथ हैदरअली ने अरकाट पर आक्रमण किया। नवाब मोहम्मदअली वहाँ से भाग कर मद्रास की ओर चला गया और हैदरअली ने राजधानी पर अपना कब्जा कर लिया।

करनाटक और मद्रास के बीच अंगरेजी फौजों के साथ कई मुकामों पर हैदरअली का युद्ध हुआ। हैदरअली के दोनों लड़के सेनापति के रूप में लड़ाइयों में मौजूद थे। अँगरेजी सेना ने टीपू के साथ घमासान युद्ध किया और टीपू ने भी बड़ी बहादुरी से उसके साथ मोर्चा लिया। मौका पाकर अपनी सेना लेकर हैदरअली भी वहाँ पहुँच गया। अन्त में अंगरेजों की पराजय हुई। इस युद्ध में अंगरेजी फौज के बहुत से सैनिक मारे गये और दो हजार से अधिक सैनिकों को हैदरअली ने कैद करवा लिया। उनमें कुछ अंगरेज अफसर भी थे।

अरकाट पर क़ब्ज़ा

हैदरअली ने अरकाट पर जब आक्रमण किया था, और मोहम्मदअली वहाँ से भाग गया था, तो गुण्टूर में टीपू की सहायता के लिए

हैदरअली को चला जाना पड़ा था। गुण्टूर को विजय करके लौटने पर अरकाट में मद्रास से आयी हुई अंगरेजी फौज के साथ हैदरअली को फिर युद्ध करना पड़ा। लेकिन युद्ध में अंगरेजी फौज ठहर न सकी। मैदान छोड़कर वह मद्रास की ओर भागी। अन्त में हैदरअली ने पूरे अरकाट पर अपना अधिकार कर लिया।

हैदरअली की मृत्यु

हैदरअली के साथ युद्ध करके अंगरेजों को बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी। एक भी युद्ध मे उनकी कामयाबी न हुई। अंगरेजो का अब यह विश्वास हो गया था कि हैदरअली को जीतना बहुत कठिन है। कुछ इसी प्रकार का विश्वास इङ्गलैण्ड मे कम्पनी के डाइरेक्टरों का भी हो गया था।

लेकिन देश को दुर्भाग्य के दिन देखने थे। हैदरअली करनाटक की राजधानी अरकाट में था और वहीं पर ६ दिसम्बर सन् १७८२ की रात को उसकी अचानक मृत्यु हो गयी।

हैदरअली की मृत्यु से पेशवा दरबार के प्रधानमन्त्री नाना को बहुत निराशा हुई इस निराशा के समय में ही अंगरेजों के साथ होने वाली सन्धि पर उसने हस्ताक्षर कर दिये।

बारहवाँ परिच्छेद

सर जान मैक्फरसन

नैतिक कमजोरी का परिणाम

वारन् हेस्टिंग्स के भारत से चले जाने पर जान मैक्फरसन कुछ दिनों के लिए भारत में अंगरेजों की ओर से गवर्नर जनरल हुआ।

मैक्फरसन सन् १७६७ में एक जहाज का नौकर होकर भारत में आया था। वह जितना ही पढ़ा लिखा था, उससे भी अधिक चालाक था। पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि मोहम्मदअली अंगरेजों की सहायता से करनाटक का नवाब बना था। अंगरेजों की इस सहायता की कीमत में मोहम्मदअली को १६ लाख रुपये का इलाका अंगरेजों को भेंट में देना पड़ा था।

मोहम्मदअली की तरह के नवाब और नरेश उस जमाने में भी बहुत कम पतित और जलील न थे, जब कि वह गुलामी की जिन्दगी में अपने सिद्धान्तों और वसूलों को खो चुका था। मोहम्मदअली कहने के लिए नवाब था, वास्तव में वह अंगरेजों का तावेदार था। अपने इलाके का रुपया किसी न किसी तरह से वह अंगरेजों की जेबों में पहुँचाया करता था और अपनी खैरियत की उनसे दुआयें चाहा करता था।

मोहम्मदअली की इस नीति ने उसे जिन्दगी में कभी सुखी नहीं होने दिया। उसका पूरा इलाका दरिद्र और निहायत गरीब हो गया था। उसके खजाने की सब दौलत अंगरेजों के खुश करने में खतम हो चुकी थी। उस दशा में उसने कर्ज ले-लेकर सदा गोरे प्रभुओं की पूजा की और लाखों रुपये की भेटें चढ़ाई। मोहम्मदअली और भारत के अंगरेजों का यही एक नाता था और इसी को पूरा करने के लिए मित्रता थी।

मोहम्मदअली की मातहती की लाचार जिन्दगी, उसकी नैतिक कमजोरी के रूप में थी। उसका अवाञ्छनीय फल जितना मोहम्मदअली को भोगना पड़ा, उतना शायद ही किसी को भोगना पड़ा हो। अंगरेजों के सामने मोहम्मदअली जितना ही लाचार होता जाता था, अंगरेजों की माँगें उतनी ही बढ़ती जाती थीं। अङ्गरेजों को खुश और निहाल बनाने के लिए मोहम्मदअली को क्या करना चाहिये, इसके लिए समय-समय पर उसके पास हुकूमत और परवाने आया करते थे। उनको पूरा करने के सिवा उसके पास और कोई रास्ता न था। मोहम्मदअली प्रजा से जबरदस्ती रुपये वसूल करता, अङ्गरेज व्यापारियों से कर्ज लेता और महल के सुनहले जेवर बेचता और अङ्गरेजों को रुपये भेंट करता।

रुपये के लिए मैक्फरसन की चाल

गवर्नर जरनल होने के पहले की बात है। वह मोहम्मदअली की कमजोरी को खूब समझता था। उसके यहाँ अरकाट में जाकर उसने बड़ी हमदर्दी की बातें कीं और नवाब को सुझाया कि अगर मैं इंगलैण्ड जा सकूँ और तुम उसके लिए खर्च कर सको तो मैं कम्पनी के डाइरेक्टरों से मिलकर तुम्हारी सारी परेशानी का रास्ता ही बन्द करा दूँ।

मोहम्मदअली इस पर राजी हो गया। फिर क्या था मैक्फरसन ने जैसा बताया, नवाब ने वैसा ही किया, अनेक जरूरतें बता कर उसने नवाब को खूब लूटा। नवाब के वकील की हैसियत में वह सन् १७६८ में इंगलैण्ड गया और कम्पनी के डाइरेक्टरों को रिश्वत में लाखों रुपये दे कर उनको प्रसन्न करने की उसने कोशिश की। इस तरीके से मैक्फरसन ने मोहम्मदअली के कितने ही लाख रुपयों की होली खेली, लेकिन उसका नतीजा कुछ न हुआ।

इंगलैण्ड से लौट कर मैक्फरसन फिर भारत में आया। अपने डाइरेक्टरों को रुपये देकर, उसने उनको अपने बस में कर रखा था। अपनी इसी योग्यता के कारण उसको गवर्नर जनरल होने का मौका मिला। करनाटक के नवाब मोहम्मदअली के साथ उसकी सहानुभूति उसी समय तक रही, जब तक इंगलैण्ड जाने के नाम पर उसने नवाब

से मनमानी रकमें नहीं वसूल कर लीं। उसके बाद लौटने पर उसकी सारी मुरब्बत खतम हो गई।

मैक्फरसन को बीस महीने गवर्नर-जनरल होकर भारत में रहने का मौका मिला। इन बीस महीनों में उसने दिल्ली-सम्राट को दी जाने वाली मालगुजारी का देना बन्द कर दिया। रुपये वसूल करने में उसने अपनी जिन्दगी का कोई अन्याय बाकी न रखा। अवध के नवाब को तो उसने भिखारी बना दिया।

कार्नवालिस उन दिनों में भारत में ही था। उससे मैक्फरसन की कोई लीला छिपी न थी। उसने ८ अगस्त १७८९ को इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री के नाम एक पत्र लिखा, उसमें उसने मैक्फरसन की सभी चालों का उल्लेख किया और बताया कि रुपये वसूल करने के लिए उसने किस प्रकार की भयानक चालों से काम ले रखा था।

मैक्फरसन की बिदाई

इसके बाद ही मैक्फरसन भारत से इंगलैण्ड चला गया। उसने भारत में बहुत अधिक धन लूटा था। उसी की बदौलत इंगलैण्ड में जाकर वह पार्लामेण्ट की मेम्बरी के लिए खड़ा हुआ। लेकिन अन्त में चुनाव के दिनों में रिश्वतें देने के सम्बन्ध में उस पर कई मुकदमें चले, जिनसे घबरा कर वह इंगलैण्ड से भाग गया।

तेरहवाँ परिच्छेद

लार्ड कार्नवालिस

गवर्नर जनरल के पूर्ण अधिकार

कम्पनी के सन् १७७३ ईसवी के चारटर ऐक्ट के मुताबिक वारन् हेस्टिंग्स भारत की ब्रिटिश हुकूमत का पहला गवर्नर जनरल हुआ था। उस समय चार अङ्गरेजों की एक कमेटी होती थी और उस कमेटी का प्रेसीडेण्ट गवर्नर जनरल होता था। कमेटी के बहुमत से सभी बातों का निर्णय होता था। इसी प्रकार का नियम मद्रास और बम्बई के गवर्नरों के साथ भी था।

कार्नवालिस को भारत में भेजने के पहले वहाँ की पार्लामेण्ट ने एक नया कानून पास किया। उस कानून के अनुसार, गवर्नरों और गवर्नर जनरल को पूर्ण अधिकार दिये गये। भारत में अङ्गरेजी शासन का प्रबन्ध देखने के लिये, 'बोर्ड आफ कन्ट्रोल' नाम की एक कमेटी बनायी गयी। यहीं से ब्रिटिश भारत की बागडोर, इङ्गलैण्ड के पार्लामेण्ट और वहाँ के मन्त्रि मण्डल के हाथ में आ गयी।

कार्नवालिस को पूर्ण अधिकार देकर सितम्बर सन् १७८६ में गवर्नर जनरल बनाकर भारत में भेजा गया।

टीपू सुलतान

हैदरअली मर चुका था। उसका बड़ा लड़का टीपू सुलतान मैसूर में राज्य करता था। अपने पिता हैदरअली की तरह टीपू चरित्रवान, वीर और पराक्रमी था। लेकिन हैदरअली की तरह वह दूरदर्शी न था।

टीपू और कम्पनी के बीच सन् १७८४ में एक सुलहनामा हुआ था। उसके अनुसार दोनों के बीच मित्रता कायम रखने क लिए प्रतिज्ञा की गयी थी। टीपू सुलतान उस प्रतिज्ञा का बराबर पालन करता रहा।

जिन दिनों में गवर्नर जनरल होकर कार्नवालिस भारत में भेजा गया था, उन्हीं दिनों में अमेरिका इंगलैण्ड से आजाद हुआ था, इसलिए वहाँ की पार्लामेण्ट का ध्यान अपने राज्य के विस्तार की ओर था। इसी आधार पर वहाँ के मन्त्रिमण्डल ने लार्ड कार्नवालिस से बहुत सी बातें की थी।

भारत में आकर कार्नवालिस को अपने राज्य का विस्तार करना था। उसने भारत की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन किया। हैदर अली और टीपू के मुकाबिले में अङ्गरेजों की जो पराजय हो चुकी थी वह कार्नवालिस की आँखों के सामने थी।

कार्नवालिस टीपू के विरुद्ध अनेक प्रकार की बातें सोचने लगा। टीपू सुलतान को नष्ट करने के लिए उसने मराठों और निजाम को फोड़ने की कोशिश की।

टीपू और मराठों में मित्रता

मराठों के साथ टीपू की मित्रता चल रही थी। उनमें किसी प्रकार का द्वेष न था। कार्नवालिस मैसूर पर आक्रमण करने की एक योजना बना रहा था। इसलिए वह न चाहता था कि टीपू का कोई मददगार रहे। इसी उद्देश्य से उसने अपना एक दूत मूदाजी भोंसले के पास नागपुर भेजा, उसका काम यह था कि वह टीपू के खिलाफ उसको तैयार करे। उस दूत का यह भी काम था कि टीपू और मराठों के बीच किसी प्रकार अनबन का कारण पैदा किया जाय।

पूना-दरबार में अङ्गरेजों का एक रेजीडेण्ट मैलेट रहा करता था। लार्ड कार्नवालिस ने उसके नाम १० मार्च सन् १७८८ में एक पत्र भेजा उसमें लिखा :—"ऐसे कारण पैदा करने चाहिए, जिससे पेशवा दरबार और टीपू के बीच शत्रुता पैदा हो जाय।"

कार्नवालिस ने निजाम और मराठों से पत्र व्यवहार करना आरम्भ किया। उन पत्रों में लिखा कि हम तीनों मिल कर मैसूर पर आक्रमण करेंगे और बिजयी इलाकों को आपस में बाँट लेंगे। तीनों के बीच इस प्रकार के पत्र कुछ दिनों तक चलते रहे और अन्त में निजाम और मराठों के साथ अङ्गरेजों की सन्धि हो गयी।

इस सन्धि में मराठों के शामिल होने पर इतिहासकारों ने आश्चर्य

प्रकट किया है। एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ अङ्गरेज फाक्स ने तो यहाँ तक इस सन्धि पर कह डाला कि :—"बिना किसी कारण के किसी नरेश को मिटा देने के लिए इस प्रकार की सन्धि एक भयानक डकैती से कम नहीं हो सकती।"

टीपू के साथ युद्ध की तैयारी

निजाम और मराठों के साथ होने वाली सन्धि की खबर इंगलैण्ड पहुँची तो वहाँ बड़ी खुशी मनायी गयी और टीपू पर आक्रमण करने के लिए एक लम्बी रकम के साथ गोरों की एक सेना भेजी गई।

कार्नवालिस की योजना तैयार हो चुकी थी। तैयारी में भी कोई कसर न थी। अब प्रश्न यह था कि आक्रमण करने का कारण क्या होना चाहिए। इन दिनों में टीपू के साथ त्रिवानकुर के राजा का कुछ झगड़ा चल रहा था। त्रिवानकुर के राजा को पट्टी पढ़ायी गई कि तुम्हारे ऊपर हमला करने के लिए टीपू तैयार हो रहा है।

इस प्रकार का अंगरेजी प्रचार जाहिर हो गया। टीपू ने अङ्गरेजों को लिखा कि मेरा इस प्रकार का विचार बिलकुल नहीं है। लेकिन टीपू के ऐसा लिखने का कोई प्रभाव न पड़ा। कार्नवालिस का तो उद्देश्य दूसरा ही था।

अंगरेजों की पराजय

कार्नवालिस को टीपू पर आक्रमण करना था। टीपू से लड़ने के लिए त्रिवानकुर का राजा तैयार न था। फिर भी उसके नाम से युद्ध का श्री गणेश हुआ। मद्रास से एक अङ्गरेजी फौज टीपू पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुई। इस फौज के साथ बंगाल की अंगरेजी सेना भी थी।

अंगरेजी फौजों ने मैसूर पर धावा किया। टीपू अपनी सेना के साथ मुकाबिले के लिए पहुँच गया। दोनों ओर से घोर युद्ध आरम्भ हुआ। अंगरेजी फौज की पराजय हुई और टीपू की सेना ने मद्रास के किनारे तक अंगरेजी फौजों का पीछा किया।

मैसूर पर दूसरा आक्रमण

मद्रास की सेना के पराजित होने पर कार्नवालिस स्वयं टीपू के

साथ लड़ने के लिए तैयार हुआ। कलकत्ते से एक बड़ी सेना के साथ वह मद्रास पहुँचा। अंगरेजों की सहायता के लिए निजाम और मराठों की फौजें भी आ चुकी थीं। तीनों ताकतों ने मिलकर टीपू सुलतान को नष्ट करने का निर्णय किया।

भारत की भूमि पर विश्वासघातकों की संख्या अभी तक कम न थी। कार्नवालिस ने अपने दूतों के द्वारा टीपू के सरदारों और सामंतों को रिश्वतें देकर मिला लेने में कामयाबी पायी। इस प्रकार हर तरीके से परिस्थितियाँ टीपू के विरुद्ध होती चली गयीं।

टीपू सुलतान का युद्ध अंगरेजों के साथ आरम्भ हो गया। उसे इस बार अंगरेजी विशाल सेना के साथ-साथ निजाम और मराठी सेना का भी मुकाबिला करना था। टीपू की सेना पराजित अवस्था में पीछे हटी और बंगलोर पर अंगरेजों का अधिकार हो गया।

आगे बढ़कर अंगरेजी फौजों ने, मैसूर की राजधानी श्रीरंग पट्टम पर आक्रमण किया। टीपू की हालत असहाय हो रही थी। उसने अपना दूत भेज कर सुलह की प्रार्थना की लेकिन कार्नवालिस ने बातें करने से भी इनकार कर दिया। इस नीति की आलोचना करते हुए इतिहास लेखक मिल ने लिखा है :—

"उस समय भारत के अङ्गरेज लूट और राज्य के लोभ में इस प्रकार अन्धे हो रहे थे और मैसूर के प्रति जिस प्रकार का व्यवहार कर रहे थे, उसका समर्थन संसार की कोई भी सभ्य कौम कभी नहीं कर सकती।

राजधानी की रक्षा करने के लिए टीपू की सेना अब भी लड़ रही थी। यदि मराठी सेनाओं ने अङ्गरेजों का साथ न दिया होता तो टीपू कभी घबराने वाला न था। उसको अपनी विवश अवस्था का बार-बार ख्याल हो रहा था। उसने कार्नवालिस से सन्धि करने के लिए फिर कोशिश की। परन्तु कार्नवालिस ने उसे ठुकरा दिया।

अङ्गरेजी और मराठा फौजों ने श्रीरंग पट्टम के आस-पास घेरा डालना आरम्भ किया। टीपू ने तीसरी बार सुलह की कोशिश की और इस बार उसने मराठी फौज के सेनापति से भी बातें कीं। इस समय सोमरपीठ पर दोनों ओर से घमासान युद्ध हो रहा था और मैसूर की सेना अपनी बहादुरी का परिचय दे रही थी।

तीसरी बार की कोशिश में सन्धि का रास्ता खुला। टीपू के सुलह के प्रस्ताव को मराठे ठुकराने के लिए तैयार न थे। इसलिए २३ फरवरी सन् १७९२ को श्रीरंग पट्टम में सन्धि की गई और उसके अनुसार टीपू सुलतान का आधा राज्य अङ्गरेजों, मराठों और निजाम में बाँटा गया। इसके सिवा ३० हजार रुपये दण्ड स्वरूप और ३ करोड़ रुपये लड़ाई के खर्च में अदा करने के लिए टीपू को वादा करना पड़ा और यह भी तय हुआ कि जब तक यह अदायगी न हो जाय, उस समय तक टीपू के दोनों बेटे बन्धक के तौर पर अङ्गरेजों के अधिकार में रहेंगे।

मैसूर के दूसरे युद्ध का अन्त

टीपू के साथ अङ्गरेजों, मराठों और निजाम की सन्धि हो गयी। युद्ध का निर्णय भी हो गया। मैसूर का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। दण्ड की अदायगी में आठ वर्ष और दस वर्ष के टीपू सुलतान के दोनों लड़कों पर अङ्गरेजों का कब्जा हो गया। इस प्रकार मैसूर के दूसरे युद्ध का अन्त हुआ।

इस अन्त का टीपू सुलतान के जीवन पर जो असर पड़ा, वह अत्यन्त स्वाभाविक था, टीपू ने बिस्तर बिछा कर पलंग पर सोना बन्द कर दिया। शाही आराम और आसाइश उसने तर्क कर दी और जिन्दगी के आखीर दिनों तक के लिए वह एक फकीर बन गया।

मुगल साम्राज्य का सम्बन्ध

मुगल साम्राज्य बहुत निर्बल अवस्था में पहुँच चुका था। कलकत्ते के अङ्गरेजों की ओर से मुगल सम्राट को जो मालगुजारी मिला करती थी, वह बहुत दिनों से बन्द थी। सर जान मैक्फरसन के शासनकाल मे उसके तकाजे होते रहे और कार्नवालिस के समय में भी दिल्ली की ओर से उसकी माँग की गयी लेकिन कार्नवालिस ने देने से इनकार कर दिया।

अभी तक भारत में इधर-उधर फ्राँसीसियों का अधिकार था। कार्नवालिस ने सन् १७९३ ईसवी में फ्राँसीसियों के भारतीय इलाकों पर आक्रमण किया और उनको अपने कब्जे में कर लिया।

नवाब अवध और निजाम

आरम्भ से ही अवध के नवाब अङ्गरेजों के खिलौना रहे हैं। प्रत्येक अङ्गरेज अधिकारी ने अवध के साथ मनमानी खेल किया है। तमाम बातों के सिवा एक विशेष बात यह थी कि कम्पनी की एक विशाल अङ्गरेजी फौज का सम्पूर्ण खर्च नवाब अवध के ऊपर था। इस प्रकार के खर्चों के लिए अवध के नवाब कम्पनी के मित्र बने रहने का सौभाग्य लूटते रहे और इस मित्रता का कीमत में ५० लाख रुपये वार्षिक उनको कम्पनी के खजाने में भेजने पड़ते थे।

निजाम को भी अँगरेजों की मित्रता का हक हासिल हुआ था। टीपू सुलतान के पराजित करने के समय तक उसका जो रूप था, वह रूप बाद में बदल गया। कार्नवालिस को निजाम से गुण्टूर का इलाका लेना था। लेकिन इसकी कोई बातचीत उस समय तक सामने नहीं आयी जब तक कि अङ्गरेजों को टीपू सुलतान का भय बना रहा। मैसूर के युद्ध के बाद कार्नवालिस ने गुण्टूर का इलाका लेने के लिए अपने एक कप्तान को निजाम भेजा। निजाम सदा से डरपोक था। इसीलिए बड़ी आसानी के साथ गुन्टूर का इलाका कम्पनी को मिल गया।

भारत मे अंगरेजी अदालतें

प्राचीनकाल में ग्रामीण जीवन की सुन्दर व्यवस्था ही भारत की महिमा थी। देश का सम्पूर्ण जीवन आध्यात्मिकता के सुदृढ़ डोरे में पिरोया हुआ था। सम्पूर्ण व्यवस्था में उच्चतम आदर्शों का सम्मिश्रण था। गरीब अमीर का, ऊँच-नीच का, निर्बल-सबल का, शिक्षित-अशिक्षित का और अपने पराये का कोई भेद-भाव न था।

सभी लोग नैतिक जीवन बिताने के अभ्यासी थे। भारत के उस जीवन में परमार्थ को श्रेय मिला था। ग्रामीण जीवन ही सच्चा जीवन बना था। जीवन के सभी पदार्थ सुलभ हो रहे थे। सभी के सामने सुख का जीवन था।

भारत के ग्रामीण जीवन की प्रशंसा अनेक विदेशी विद्वानों ने की है। टारेन्स ने लिखा है कि—भारत की ग्राम पंचायतें देश की सुन्दर व्यवस्था की सदा परिचायक रही हैं। आपसी झगड़ों को निपटाने

के लिए गाँव के चरित्रवान बूढ़ों की पञ्चायत न्याय से काम लेती थी और उसके द्वारा बिना किसी भेद-भाव के सभी के हितों की रक्षा होती थी।

भारत के ग्रामीण जीवन पर सर जान मैलकम, सर टामस मनरो और दूसरे अनेक विदेशी विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उनका संक्षिप्त रूप देने के लिए भी यहाँ स्थान नहीं है।

लार्ड कार्नवालिस ने अपने शासन काल में देश-भर में अङ्गरेजी अदालतें कायम कीं और सम्पूर्ण देश की आध्यात्मिक पंचायतों का नाश कर दिया। जो अदालतें कायम की गयीं; उनके द्वारा स्वार्थ-परता, असत्य भाषण, बेईमानी और परस्पर के दुराभाव की जिस प्रकार देश में वृद्धि हुई, उसका वर्णन इतिहासकार मिलने बड़े सुन्दर शब्दों में किया है।

वकालत का पेशा

देश मे अँगरेजी अदालतें खोली गयीं। आपस के झगड़ों को निपटाने के लिये रामायण और महाभारत से भी मोटे-मोटे न्याय के सैकड़ों ग्रन्थ रचे गये और उनको पढ़कर मुकदमों का फैसला कराने के लिये वकालत का एक पेशा मुकर्रर किया गया। यहीं से भारत के नैतिक जीवन का अन्त होता है, अन्याय और अत्याचार की वृद्धि होती है। साथ ही देश का सार्वजनिक जीवन पतित होकर रसातल की ओर चला जाता है।

बंगाल का नया कानून

लार्ड कार्नवालिस के अनेक कामों में बंगाल के इस्तमरारी बन्दो-बस्त का प्रमुख स्थान है। इस बन्दोबस्त के नाम से बंगाल में कार्न-वालिस ने जो नया कानून बनाया था, उसके फलस्वरूप देश के वीरान होने में देर न लगी। जो लोग सुख और सन्तोष का किसी प्रकार जीवन बिताते थे, वे दरिद्रता के रूप मे बदल गये।

कार्नवालिस की बिदा

लार्ड कार्नवालिस के शासन-काल में अङ्गरेजी शासन को विशेष रूप से विस्तार मिला। देश का अस्तित्व अपनी प्राचीन मर्यादा मे

निकलकर छिन्न-भिन्न हुआ। देश की अवस्था दिन-पर-दिन खराब होने लगी। आपसी झगड़ों की वृद्धि हुई। सर्वसाधारण के जीवन से नैतिकता और आध्यात्मिकता के भाव मिटने लगे।

लार्ड कार्नवालिस का शासनकाल सात वर्ष तक भारत में रहा। उसके बाद सन् १७९३ में वह इंगलैंड चला गया। थोड़े दिनों में कार्नवालिस भारत में लौटकर फिर आया। किन्तु कुछ ही दिनों के बाद इसी देश में उसकी मृत्यु हो गयी।

———

चौदहवाँ परिच्छेद

सर जान शोर

देशी राज्यों के नाटकीय दृश्य

तारीख २८ अक्टूबर सन् १७९३ को सर जान शोर गवर्नर जनरल के रूप में भारत आया। वारन् हेस्टिंग्स के समय में यह बंगाल में रह चुका था और उस समय अंगरेज़ी कम्पनी का एक मुलाज़िम था। उन दिनों में वह हेस्टिंग्स के साथ में रहा चुका था और उनके बहुत-से गुप्त कार्यों में सर जान शोर बहुत कुछ उपयोगी साबित हुआ था।

जिन दिनों में सर जान शोर को इंगलैण्ड में गवर्नर जनरल बनाया जा रहा था, उन्हीं दिनों में वारन् हेस्टिंग्स पर मुकदमा चल रहा था और उस मुकदमें मे एडमण्ड बर्क सरकारी वकील के रूप में काम कर रहा था। मुकदमें सिलसिले में उसने हेस्टिंग्स के कारनामों को खूब समझा था और उसे यह भी जानने का मौका मिला था कि हेस्टिंग्स के कामों में मिस्टर शोर सहायक रह चुका है।

एडमण्ड बर्क नहीं चाहता था कि जान शोर को यह पद दिया जावे। इसीलिए उसने कम्पनी के डाइरेक्टरों को लिखकर विरोध किया था। इतना सब होने पर भी उसे वह पद दिया गया और भारत भेज दिया गया।

इसी वर्ष की एक घटना और है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का बीस वर्षीय जीवन काल समाप्त हो रहा था, इसलिए उसकी अवधि बीस वर्ष के लिए और बढ़ा दी गयी।

मुर्शिदाबाद के नवाब मुबारकुद्दौला की मृत्यु हो चुकी थी। उसके बारह लड़के और तेरह लड़कियाँ थी। उसके बड़े लड़के वजीरुद्दौला को २८ सितम्बर सन् १७९३ को मसनद पर बिठाया गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अब तक के शासन में भारत के देशी

राजाओं और नवाबों के जीवन का नाटक बहुत-कुछ समाप्त हो चुका था। भारतीय अँगरेजों की कूटनीति के अनोखे षड़यन्त्रों से देश के राजा और नवाब परिचित न थे। देश का इतना ही दुर्भाग्य न था, इससे भी बढ़कर दुर्भाग्य यह था कि उनमें पारस्परिक द्वेष और ईर्षा का भाव बहुत था। एक, दूसरे को मिटाने और अपने आपको बनाने के वे इच्छुक थे। उनके मिटने के यही दो अपराध और दुर्भाग्य हुए।

राजाओं और नवाबों के अब केवल नाम चल रहे थे। उनकी हुकूमत की आजादी अब आजादी न रह गयी थी। अंगरेज अधिकारी और गवर्नर जनरल बहुतों की जिन्दगी समाप्त कर चुके थे और जो बच रहे थे, वे अधकुचली हुई हालत में किसी प्रकार जीवन का निर्वाह कर रहे थे।

सर जान शोर ने भारत में आकर कोई विशेष कार्य नहीं किया। जो देशी राजा और नवाब अभी तक बाकी थे, उनको मिटाने में ही उसने अपनी कूटनीति का प्रयोग किया।

मुगल सम्राट

दिन-पर-दिन मुगल साम्राज्य निर्बल होता जाता था। फिर भी मुगल शासन के इलाकों पर अंगरेजों की नजरें लगी हुई थीं। इसके लिए हेस्टिंग्स ने पहले से ही शतरञ्जी चाल शुरू की थी। माधवजी सींधिया को मिलाकर वह दिल्ली सम्राट के इलाकों को लेना चाहता था।

हेस्टिंग्स के शासनकाल में ही माधव जी सींधिया ने अपने अधिकार में एक बड़ी सेना रखी थी। और उसमें हेस्टिंग्स की पूरी शरारत थी। उसके द्वारा दिल्ली के आस-पास के इलाकों पर कब्जा करके मुगल-सम्राट को गिरफ्तार कर लिया गया।

आपस में संघर्ष

महाराष्ट्र-मण्डल में माधव जी सींधिया और नाना फड़नवीस की शक्तियाँ अभी तक जगमगा रही थीं। लेकिन उनमें भी आपसी मतभेद एक, दूसरे के विरुद्ध चालें और संघर्ष चल रहे थे। माधवराव नारायन पूना-दरबार का पेशवा था, अंगरेज उसे गद्दी से उतार कर राघोबा के पुत्र बजीराव को पेशवा बनाना चाहते थे इसके लिए एक गुप्त षड़-

यंत्र काम कर रहा था। उसकी खबर होते ही प्रधान मन्त्री नाना ने बाजीराव को कैद करके पूना में रखा।

पूना-दरबार में चार्ल्स मैलेट अंगरेजों का प्रतिनिधि था। उसका केवल एक ही काम था कि वह पेशवा दरबार में ही रह कर, पेशवा-दरबार की जड़ें काटे। नाना के विरुद्ध लोगों को तैयार करे और माधव जी सींधिया के विरुद्ध दूसरे मराठों को तैयार करे। अंगरेजों की इन चालों से माधवजी सींधिया स्वयं अनजान न था। उसे यह भी पता हो गया था कि मेरे खिलाफ मूदाजी भोंसले को भड़काया जा रहा है। वह नाना से इसके सम्बन्ध में कुछ परामर्श करना चाहता था। लेकिन चार्ल्स मैलेट वहाँ की हवा खराब कर रहा था।

झाँसी में अहिल्याबाई की मृत्यु हो चुकी थी। अपने देश के विरुद्ध उसने विदेशियों का साथ कभी नहीं दिया था और न गुप्त षड़यंत्रों में वह भाग लेती थी। उसके बाद तुका जी होलकर में अनेक कमजोरियाँ थीं।

अंगरेजों की चालों पर परामर्श करने के लिए जिस समय माधव जी नाना के पास पहुँचा, अंगरेजों ने तुकाजी होलकर को भड़काकर माधव जी के इलाके पर हमला करवा दिया। माधव जी के साथ तुका जी होलकर की कोई शत्रुता न थी। दोनों ही एक, दूसरे के साथ अच्छे व्यवहारों के साथ चल रहे थे। अभी तक मराठे आपस में न लड़े थे। लेकिन अंगरेजों को इसमें भी कामयाबी हुई। एक मराठे राजा ने, दूसरे मराठे राजा पर आक्रमण किया। इस प्रकार मराठा मण्डल भी विध्वंस हो रहा था। इस मण्डल से गायकबाड़ और भोंसले पहले ही अलग हो चुके थे। सींधिया और होलकर की आपस में ही तनातनी शुरू हो गयी। रहा अकेला पूना-दरबार, वह क्या कर सकता था।

सींधिया के मुकाबिले में तुकाजी होलकर की पराजय हुई। लेकिन उसने सींधिया के इलाकों का नाश बहुत किया। सींधिया के नगरों में उज्जैन काफी सम्पन्न था। होलकर की फौज ने वहाँ पर बड़ी लूट की और उत्पात किया।

अंत होने के समय तक देशी नरेशों और नवाबों का बुद्धूपन नहीं गया। वे जानते थे कि अंगरेज भड़काकर यह रक्तपात करा रहे हैं, फिर भी उनकी चालों से अपनी रक्षा न कर सकते थे। होलकर के साथ एक

आर अंगरेजी शरारत और दूसरी ओर सींधिया के फौज में योरोपियन अफसर किस प्रकार खैरियत हो सकती थी ?

अभी तक माधव जी नाना से मिलकर किसी निर्णय पर न पहुँचा था। अचानक उसकी इन्हीं दिनों में मृत्यु हो गयी। इस समय सर जान शोर भारत में अंगरेजी गवर्नर जनरल था।

पूना-दरबार में अंगरेजी चालें

माधव जी सींधिया की मृत्यु से अंगरेजों का एक कांटा तो दूर हो ही गया। लेकिन उनकी बड़ी शत्रुता के रूप में पूना-दरबार था। उसके प्रधान मंत्री नाना के ऊपर अंगरेजों का कोई जादू काम न करता था।

अपनी पूरी कोशिशों से काम लेने के बाद भी सफल न होने पर चार्ल्स मैलेट ने पूना से एक पत्र भेजकर अंगरेजों को लिखा :—"पूना-दरबार में जब तक नाना का प्रभाव काम कर रहा है, उस समय तक हमारे उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती।"

नाना फड़नवीस के विरुद्ध अंगरेजों ने कई षड़यंत्र रचे लेकिन उनमें सफलता न मिली। कम्पनी के सौभाग्य से २७ अक्टूबर सन् १७९५ में पूना दरबार के पेशवा माधव नारायन की भी मृत्यु हो गयी। इस मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने अलग-अलग बातें लिखी हैं। उनका बहु-मत तो यह कहता है कि पेशवा की इस मृत्यु में अंगरेजों का भयानक षड़यंत्र था। क्योंकि उसको किसी प्रकार हटाकर राघोबा के लड़के को पेशवा बनाना चाहते थे और जब तक उसे वे पेशवा नहीं बना लेते, पेशवा-दरबार में उसकी दाल नहीं गल सकती थी।

मृत्यु के समय माधव नारायन की अवस्था इक्कीस वर्ष की थी। उसके कोई संतान न थी। हिन्दू प्रथा के अनुसार उसकी विधवा पत्नी को गोद लेने का अधिकार था। लेकिन अंगरेज ऐसा न चाहते थे। वे तो बाजीराव को पेशवा बनाकर पूना-दरबार को नष्ट करने का द्वार खोलना चाहते थे।

पूना का अन्तिम पेशवा

तुका जी होलकर अङ्गरेजों का खिलौना तो था ही, अङ्गरेजों के इशारे पर वह पूना गया और उसने बाजीराव का पक्ष समर्थन किया। लेकिन समझाने-बुझाने से वह नाना के साथ सहमत हो गया। नाना

का कहना यह था कि माधवराव नारायन की विधवा रानी किसी को गोद ले ले और उसी को पेशवा बनाया जाय। लेकिन नाना को इसमें सफलता न मिली। चार्ल्स मैलेट पूना में बैठकर जिस राजनीति से काम ले रहा था उसमें उसको कामयाबी हुई।

उन दिनों में बाजीराव पूना में कैद था। चार्ल्स मैलेट ने कुछ लोगों को मिलाकर ऐसा जाल रचा कि बाजीराव कैद से छूट गया और जो लोग बाजीराव के पक्ष मे थे, उन्होंने पूना-दरबार का बाजीराव को पेशवा घोषित कर दिया। बाजीराव के पेशवा होते ही अपने प्राणों की रक्षा के लिए नाना को वहाँ से भाग जाना पड़ा।

बाजीराव को पेशवा बनाने के साथ अङ्गरेजों का जो उद्देश्य था, वह पूर्ण रूप में सफल हुआ। वह सर्वथा अयोग्य था। उसके हाथों में सत्ता के आने का अर्थ था, अङ्गरेजों के हाथों में पूना-दरबार की बागडोर का आ जाना। उसके सम्बन्ध मे यहाँ पर इतना ही कहना काफी है कि पूना दरबार का बाजीराव पेशवा अन्तिम पेशवा था। उसके बाद सदा के लिए पेशवा दरबार का अन्त हो गया।

निजाम की छीछालेदर

अंगरेज वास्तव में किसी के मित्र न थे। निजाम के साथ उनकी दोस्ती उस समय तक चली, जब तक उनको टीपू सुलतान का मुकाबिला करना था। उसके बाद निजाम से भी उनकी आँखें पलटने लगीं।

पेशवा माधव राव नारायन के मरने के पहले की बात है। निजाम और पेशवा दरबार में ठनाठनी हुई। निजाम को अंगरेजों की सहायता का घमंड था। पेशवा की फौजों ने निजाम पर आक्रमण किया। निजाम ने सर जान शोर गवर्नर जनरल को लिखा और मदद माँगी। लेकिन कोई सहायता नहीं मिली।

युद्ध में पेशवा के मुकाबिले में निजाम की पराजय हुई। अन्त में पेशवा की शर्तों के सामने निजाम को सिर झुका देना पड़ा।

अंगरेजों के मदद न देने पर निजाम बहुत जला और अंगरेजों को लिखा कि जो फौज अङ्गरेजों की निजाम के खर्च से चल रही है, उसको हमारी सरहद से हटा लिया जाय। अङ्गरेजों को निजाम की

यह धमकी सहन न हुई। उन्होंने निजाम के लड़के आलीजाह को भड़का कर निजाम के विरुद्ध लड़ाई के लिए खड़ा किया और अङ्गरेजों ने उसकी मदद की। निजाम में इतना दम कहाँ था, वह घबरा उठा और अङ्गरेजों के सामने उसने घुटने टेक दिये। नतीजा यह हुआ कि निजाम को अङ्गरेजों की अब कुछ नयी शर्तें भी स्वीकार करनी पड़ी।

नवाब करनाटक के अन्तिम दिन

करनाटक के नवाब मोहम्मदअली अंगरेजों के इशारों पर जिस कदर नाच नाचता रहा, उनके वर्णन पिछले पृष्ठों में किये जा चुके हैं। नवाब मोहम्मदअली सदा अंगरेजों का गुलाम हो कर रहा था। सर जान शोर के आने पर उसे भी अंगरेजों का शिकार होना पड़ा।

पहले ही यह बताया जा चुका है कि अंगरेजों को रुपये देते-देते नवाब मोहम्मदअली का खजाना तो साफ हो ही गया था, उसके महल के जेवर भी बिक गये थे और विदेशी व्यापारियों से, उसे कर्ज भी समय-समय पर लेना पड़ा था। सर जान शोर के शासन-काल में उस रुपये के तकाजे हुए। उस समय मोहम्मदअली को मालूम हुआ कि जो मैंने कर्ज लिए थे, उनमे बहुत अधिक झूठी रकमें उन व्यापारियों ने मेरे नाम लिख रखी हैं।

उस कर्ज की घबराहट में ही करनाटक के नवाब मोहम्मदअली की मृत्यु ७९ वर्ष की अवस्था मे १३ अक्टूबर सन् १७९१ ई० को हो गयी। उसके मरने पर उसका लड़का उमदतुल उमरा करनाटक का नवाब बनाया गया। बाप के सच्चे और झूठे कर्जों के भारी बोझ को अपने सिर पर लादकर लड़के को नवाबी मसनद पर बैठना पड़ा।

नवाब मोहम्मदअली ने लार्ड कार्नवालिस के साथ एक सन्धि की थी। उस सन्धि के अनुसार नवाब को करनाटक की सेनाओं का प्रबन्ध अंगरेजों के हाथों में दे देना पड़ा था और इसी सिलसिले में करनाटक के कुछ इलाके अंगरेजों ने रहन करा लिये थे।

नवाब मोहम्मदअली के मर जाने पर और नये नवाब के मालिक होते ही मद्रास के गवर्नर और गवर्नर जनरल ने भी जोर दिया कि

नये नवाब से रहन के इलाकों के साथ-साथ नवाब का कुछ नया इलाका हमेशा के लिए कम्पनी के अधिकार में आ जायगा, लेकिन नये नवाब उमदतुल उमरा ने ऐसा करने से इनकार कर दिया।

रुहेलखण्ड पर अधिकार

नवाब फैजुल्ला खाँ के मर जाने पर उसके बड़े लड़के का हक था. लेकिन छोटे लड़के गुलाम मोहम्मद ने अपने बड़े भाई को मार डाला और खुद नवाब बन गया। इस मौके का अंगरेजों ने फायदा उठाया। सर जान शोर ने हुकुम दिया कि रुहेलखण्ड की सम्पूर्ण रियासत जब्त कर ली जाय। एक अंगरेजी फौज ने जाकर उस पर हमला किया और उस पर अपना कब्जा कर लिया।

नवाब अवध पर प्रहार

सन् १७८८ में लार्ड कार्नवालिस ने अवध के नवाब के साथ सन्धि की थी और अंगरेजी सहायक फौज के खर्च में ५० लाख रुपये सालाना लेना पक्का किया था। लेकिन सर जान शोर ने आकर अवध के नवाब के साथ कुछ नयी शर्तें पेश कीं और कहा कि अंगरेजी सवारों की एक फौज अवध में रहा करेगी और उसके खर्च में भी नवाब को साढ़े पाँच लाख रुपये सालाना देने पड़ेंगे।

अवध के नवाब आसफुद्दौला ने इसको मानने से इनकार कर दिया। इस पर नवाब के मन्त्री महाराज झाँऊलाल को कैद कर लिया गया। इस अपमान का जो धक्का नवाब को लगा, उससे कुछ ही दिनों में आसफुद्दौला की मृत्यु हो गयी।

आसफुद्दौला का लड़का वजीरअली नवाब हुआ और सर जान शोर ने उसका नवाब होना स्वीकार भी कर लिया। लेकिन बाद में मालूम हुआ कि सआदतअली भी उसका एक हकदार हो सकता है। इसलिए बनारस में जाकर सर जान शोर उससे मिला और उससे कहा कि आसफुद्दौला की गद्दी पर आपको बिठाया जा सकता है। और वजीरअली को उतार दिया जायगा। लेकिन इस सहायता के बदले में आपको एक बड़ी रकम अङ्गरेज कम्पनी को देनी पड़ेगी। उसने स्वीकार कर लिया और लखनऊ में आकर वजीरअली को तख्त से उतार कर सआदतअली को नवाब बना दिया गया।

इसी बीच में सआदतअली के साथ सर जान शोर की एक संधि हुई और उस सन्धि के अनुसार, नये नवाब सआदतअली की ओर से एक करोड़ से अधिक रुपये और इलाहाबाद का किला अँगरेजों को मिला।

भारत में डच इलाके

भारत में डच लोगों के अभी तक कुछ इलाके बाकी थे। सर जान शोर ने सन् १७९५ में उनको कम्पनी के अधिकार में कर लिया और उसके बाद लंका, मलाका, बन्दा और दूसरे एशियाई स्थानों से भी डच लोगों को निकाल दिया।

सन् १७९८ ईसवी में सर जान शोर इंगलैण्ड वापस गया। भारत में रहकर उसने कम्पनी के हित में जो काम किये थे, उनके बदले में उसकी बहुत प्रशंसा की गयी।

———

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

मार्क्विस वेल्सली

शासन की नीति और उद्देश्य

सर जान शोर के चले जाने के बाद भारत के अंगरेजी शासन का मार्क्विस वेल्सली गवर्नर-जनरल बनाया गया। वह ७ नवम्बर सन् १७९७ को इंगलैण्ड से रवाना हुआ और मई सन् १७९८ में वह भारत में आकर पहुँचा।

इन दिनों में इंगलैण्ड का प्रधान मंत्री पिट था। वह किसी भी सूरत में अंगरेजी साम्राज्य का विस्तार चाहता था। भारत में आने के पहले वेल्सली और प्रधान मंत्री पिट में बहुत-सी बातें हुई थीं। कहा जाता है कि उन बातों में पिट के साथ वेल्सली ने भारतीय शासन के सम्बन्ध में नीति और सिद्धान्त की रूप-रेखा बनायी थी।

पिट इस कोशिश में था कि जैसे भी हो सके अंगरेजी साम्राज्य की वृद्धि हो। इसलिए इंगलैण्ड को ऐसे अंगरेजों की जरुरत न थी जो न्याय और ऊँचे सिद्धान्तों की खोज में रहा करते हैं। भारत में अंगरेज अपना राज्य सुदृढ़ बनाना चाहते थे। इसलिए उन्हीं को अधिकारी तथा गवर्नर जनरल बनाकर भेजते थे, जिनसे इस उद्देश्य की पूर्त्ति हो सकती थी।

वेल्सली ने भारत के लिए प्रस्थान करने के पहले ही वहाँ के अंगरेज अधिकारियों को और विशेष कर प्रधान मंत्री मि० पिट को बड़ी-बड़ी आशाओं के चित्र दिखायी दे रहे थे। २ अक्टूबर सन् १८०० में वेल्सली ने अपने एक मित्र को पत्र लिखा था, उसके निम्न लिखित वाक्य उसके भारत में आने के उद्देश्य और अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं ?

"××मैं राज्यों के ढेर लगा दूँगा। विजय-पर विजय मेरे हाथ लगेगी और मालगुजारी पर मालगुजारी मेरे अधिकार में होगी। मैं

इतना धन, इतनी सम्पत्ति और इतनी सत्ता पर अधिकार करूँगा कि मेरे मालिकों को एकबार उसका सम्हालना कठिन हो जायगा।"

वेल्सली के पत्रों का रुख

भारत में आने के पहले वेल्सली और मि० पिट में जो बातें हुई थी उनमें एक यह भी तजवीज थी कि हिन्दुस्तान में जो राजा और नवाब आज तक जीवित हैं, उनको किस प्रकार खतम किया जाय।

इसी परामर्श में यह निश्चय हुआ था कि सबसीडियरी कानून का सभी के साथ प्रयोग किया जाय और मित्रता के साथ-साथ इस कानून के द्वारा उनका हनन किया जाय। उस बातचीत की अनेक तजवीजों में सबसीडियरी का निर्णय प्रमुख था।

वेल्सली ने भारत में आकर सबसीडियरी एलायन्स की शुरुआत की। इसका अर्थ होता है, सहायक संधि। अर्थात जहाँ पर यह लागू किया जाय; वहाँ पर सहायक सन्धि का सम्बन्ध रहे। उसका साधारण अर्थ तो इतना ही होता है। लेकिन अँगरेजों ने उसको अपना एक अमोघ अस्त्र बनाया और स्वतन्त्रता के साथ देशी राजाओं और नवाबों के साथ उसका प्रयोग किया। प्रयोग के समय अर्थ लगाया गया कि जिस राजा या नवाब के यहाँ इसको जारी किया जायगा, उसके यहाँ सहायता के नाम पर अंगरेजों की ओर से एक अंगरेजी फौज रहा करेगी और अंगरेज ही उसके अफसर होंगे। वह फौज उस रियासत की रक्षा के लिए होगी और रियासत से ही उसका खर्च किया जायगा।

सबसीडियरी एलायन्स के सम्बन्ध में एक अंगरेज विद्वान ने लिखा है :—

"सब सीडियरी एलायन्स ×× एक छल के सिवा और कुछ न थी।"

अंगरेजों के सबसीडियरी एलायन्स के जाल में भारत के समस्त राजा और नवाब मिट्टी में मिला दिये गये। मराठों को पंगु बना दिया गया। निजाम और पेशवा को उसके राज्य में ही कैदी के रूप में रखा गया। नवाब करनाटक और राजा तञ्जौर के अस्तित्व का पता न रहा अवध के नवाब की आँखें सदा बन्द रहीं। सींधिया, भोंसले और

टीपू सुलतान को बर्बाद किया गया। इन बर्बादियों के बहुत से वर्णन पीछे किये जा चुके हैं और अभी आगे किये जायँगे।

भारत में आने के बाद वेल्सली ने इंगलैण्ड के मन्त्री के नाम दो पत्र लिखे थे। उन पत्रों के रुख से उसके विचारों का स्पष्टीकरण होता है। उसने पहले पत्र में लिखा था।

"× × × भारत के राजाओं और नवाबों का सम्पर्क एक दूसरे के साथ अत्यन्त अव्यवस्थित रूप में है और इसी में हमारा लाभ है।

मराठों के सम्बन्ध में, वेल्सली ने अपने दूसरे पत्र में लिखा :—

"पेशवा के घटते हुए प्रभाव को देखकर उस पर आक्रमण करने की जरूरत नहीं है।"

निजाम के साथ सबसीडियरी सन्धि

निजाम ने छः वर्ष पहले टीपू के विरुद्ध अंगरेजों की सहायता की थी। फिर भी उसकी सेना पर अंगरेजों का अपना अधिकार न था। वेल्सली ने भारत में आकर सबसे पहले निजाम को सबसीडियरी संधि के जाल में फाँसने की कोशिश की। इसके लिए निजाम के खिलाफ एक गुप्त षड़यंत्र रचा गया। अभी ६ वर्ष पहले निजाम के साथ अंगरेजों की एक सन्धि हुई थी। लेकिन आज उसे खाक में मिलाकर निजाम के सिर पर सबसीडियरी सन्धि मढ़ी जा रही थी।

इसके लिए जो गुप्त षड़यंत्र रचा गया, उसमें निजाम के मन्त्री अजीमुलउमरा को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया गया और वह रिश्वत के प्रलोभन में अपने मालिक निजाम का गला घोंटने के लिए तैयार हो गया। निश्चय यह हुआ कि अजीमुल उमरा निजाम से छिपकर अपनी सेना के थोड़े-थोड़े आदमियों को निकालने की कोशिश करे और उनको बरखास्त करके अंगरेजी सबसीडियरी सेना तुरन्त रियासत की रक्षा के लिये बुला ले।

इस षड़यंत्र में कर्क पेट्रिट और कप्तान मैलकम नाम के दो अंगरेजों ने वेल्सली का पूरा साथ दिया। इसका प्रबन्ध होने के समय वेल्सली ने कर्क पेट्रिक को जो पत्र लिखा, उसमें हिदायत की :—

"अजीमुल उमरा जब अपना काम करने के लिए तैयार हो जाय तो तुम मद्रास से कम्पनी की सेना मँगा लेना।"

अजीमुल उमरा ने जिस तरह अपने मालिक निजाम को खतम करने के लिए विश्वासघात किया, उसी प्रकार का विश्वासघात करके निजामुल मुल्क दिल्ली-सम्राट के नष्ट होने का कारण हुआ था।

जिन दिनों में यह षड़यंत्र चल रहा था, उन्ही दिनों में वेल्सली ने यह भी लिखा था :—

"इस मुल्क की तमाम रियासतों के साथ इसी प्रकार की संधियाँ करने के लिये मेरे सामने एक बड़ी स्कीम है और निजाम में जो कुछ हो रहा है, वह उस बड़ी स्कीम का एक छोटा-सा हिस्सा है।"

वेल्सली ने इतना ही नहीं किया था, उसने निजाम की सेना में भी अपने षड़यंत्र का जाल बिछा रखा था। हुआ यह कि ऐन मौके पर निजाम की सेना रियासत के विरुद्ध स्वयं विद्रोह कर बैठी। उसी समय कम्पनी की फौज ने आकर हैदराबाद को घेर लिया। निजाम को इन घटनाओं का कुछ भी पता न था। मौजूदा हालत में कम्पनी की फौज का आश्रय लेने के सिवा निजाम के पास दूसरा कोई उपाय न था। १ सितम्बर सन् १७९८ में निजाम ने सबसीडियरी सन्धि पर दस्तखत कर दिये और सदा के लिए कम्पनी की गुलामी को उसने अपनी असहाय अवस्था में स्वीकार कर लिया।

भारतीय राजाओं और नवाबों में सबसे पहले सबसीडियरी सन्धि का शिकार होना पड़ा और गुलामी का तौक गले में डालने वाली फौज का खर्च अपने खजाने से देना मंजूर करना पड़ा।

इसके बाद अजीमुल उमरा की मृत्यु हो गयी और उसके मर जाने पर वेल्सली ने अपने एक अत्यन्त विश्वासी मीर आलम को प्रधान मन्त्री बनाकर निजाम को चारों ओर से जकड़ दिया।

वेल्सली की इस महान सफलता के लिए इंगलैण्ड में खुशियाँ मनायी गयीं और इनाम के तौर पर बीस वर्ष के लिए पाँच हजार पाउण्ड सालाना की पेन्शन देकर वेल्सली का सम्मान किया गया।

सोलहवाँ परिच्छेद

टीपू के साथ दूसरा युद्ध

झूठे दोषारोपण

अंगरेजों, मराठों और निजाम के साथ टीपू सुलतान की सन्धि हो चुकी थी। युद्ध के खर्च सम्बन्धी तीन करोड़ रुपये टीपू पर लादे गये थे। उसमें एक करोड़ उसने उसी समय अदा किया था और दो करोड़ के लिए दो वर्ष की मियाद मिली थी।

टीपू जितना साहसी था, उतना ही परिश्रमी भी था। अपनी बात को वह किसी प्रकार पूरा करना जानता था। उसने दो वर्ष के भीतर दो करोड़ की रकम अदा कर दी। इसके साथ-साथ, पिछले युद्ध में मैसूर की जो बर्बादी हुई थी, उसको उसने फिर से सम्हाल लिया।

भारत में आने पर वेल्सली के सामने टीपू सुलतान का प्रश्न एक बड़ा प्रश्न था। इंगलैण्ड और भारत के बीच रास्ते में जो समय मिला, उसमें खासतौर पर वेल्सली ने टीपू के सम्बन्ध मे अपनी एक योजना बना ली थी। इसका साफ-साफ अर्थ यह होता है कि इंगलैण्ड मे ही टीपू का मसला उसके सामने आ गया था।

अंगरेज इस बात को न चाहते थे कि टीपू भारत मे जीवित रहे। कार्नवालिस के पत्रों में टीपू के भयानक विरोध का आभास था। उसके लेखों से साफ जाहिर होता था कि वह टीपू को भारत में अंगरेजी राज्य के लिए एक बड़ा खतरा समझता था और वेल्सली ने भारत में आकर सब से पहले टीपू को नेस्तनाबूद करने का संकल्प कर लिया था।

अंगरेजों को टीपू से लड़ना था। लेकिन लड़ने के लिए कुछ कारण होना चाहिए, इसलिए उसके विरुद्ध कितनी ही बातें पैदा की गयीं और तरह-तरह के दोषरोपण टीपू पर लगाये जाने लगे। यह भी

प्रचार किया गया कि टीपू फ्राँसीसियों से अंगरेजों के विरुद्ध मेल कर रहा है और इसी उद्देश्य से उसने अपने दूतों को उनके पास भेजा भी है। वेल्सली ने इसी आशय की खबर देते हुए मद्रास के गवर्नर को टीपू के खिलाफ तैयारी करने की सल्लाह दी।

अंगरेजों, मराठों और निजाम के साथ टीपू की जो सन्धि हुई थी, उसमें यह भी तय हुआ था कि यदि टीपू सन्धि को तोड़ेगा तो उसके विरुद्ध निजाम और मराठे अंगरेजों का साथ देंगे। अब हालत यह थी कि वेल्सली ने निजाम के गले में सबसीडियरी सन्धि का एक वजनी लोहा बाँध दिया था और उसी प्रकार की सन्धि पेशवा के साथ भी होने जा रही थी। लेकिन नाना के कारण उसमें अंगरेजों को सफलता न मिली थी। इस लिए पेशवा के खिलाफ सींधिया को बहका कर तैयार कर दिया गया और उसकी सेना से पेशवा के इलाके बर्बाद किये जाने लगे।

मद्रास का गवर्नर हेरिस टीपू पर लगाये जाने वाले दोषों और अपराधों को सही न समझता था। इसीलिए उसने वेल्सली को लिखा भी था कि टीपू पर आपकी शंकायें निराधार मालूम होती है। बिना कारण के उसके साथ युद्ध छेड़ना अनुचित मालूम होता है। इसी प्रकार का एक दूसरा पत्र मद्रास के एक अंगरेज अफसर की ओर से भी वेल्सली के पास ६ जुलाई सन् १७९८ में गया था उसमे लिखा था कि मारीशस टापू की फ्राँसीसी सेना योरप चली गयी है। वहाँ पर उनकी अब कोई ताकत नहीं रह गयी। इस दशा में टीपू का ऐसा कोई षड़यंत्र नहीं हो सकता।

वेल्सली के ऊपर इन पत्रों का कोई प्रभाव न पड़ा। उसने मद्रास गवर्नर को टीपू के खिलाफ तैयारी करने का बाकायदे आदेश दिया और वह खुद टीपू को धोखे में रखने के लिए नये-नये जाल रचने लगा। उसने टीपू को एक पत्र भी लिखा। जिससे उसकी मित्रता का पूरा परिचय मिलता था।

वेल्सली के इस पत्र का उत्तर देते हुए टीपू ने लिखा कि आपके मित्रतापूर्ण पत्र से मुझे बड़ी खुशी हुई है। मैं बराबर इस बात की कोशिश करूँगा कि मेरे और आपके बीच सदा इसी प्रकार का मित्रतापूर्ण व्यवहार चलता रहे।

वास्तव में वेल्सली का मतलब कुछ और था। उसने टीपू के इस पत्र का कुछ उत्तर न दिया। जब उसने अपनी तैयारी ठीक-ठीक कर ली तो उसने अपना रंग बदला और बड़ी कठोरता के साथ टीपू को लिखा :—

"फ्राँसीसी मेरे शत्रु हैं और आप उनके साथ मित्रता करके मेरे खिलाफ जो एक षड़यंत्र रच रहे हैं, वह मेरी आँखों से छिपा नहीं है।"

टीपू के साथ युद्ध का श्रीगणेश

युद्ध की तैयारी कर चुकने के बाद वेल्सली ने अपनी आँखें बदल दीं और युद्ध की छेड़छाड़ करते हुए उसमे टीपू को लिखा :—

"मेजर डवटन एक अंगरेज अफसर आप के पास भेजा जायगा। इसलिए कि फ्राँसीसी खतरों से सुरक्षित रहने के लिए अंगरेजों को आप के जिन-जिन इलाकों की जरुरत हो! उन्हें वह आपसे ले ले।"

इसके बाद ही वेल्सली कलकत्ते से मद्रास के लिए रवाना हो गया। टीपू ने उसको जवाब देते हुए फ्राँसीसियों के साथ षड़यंत्र की बात का विरोध करते हुए लिखा :—

"मैं षड़यंत्र की तरह कोई चीज नहीं जानता। मेरी दिली मंशा यह है कि मैंने जो सुलहनामा किया है, उसकी शर्तों को मैं हर तरीके से पूरा करूँ। इस दशा में आप के आखिरी पत्र को पढ़कर मुझे ताज्जुब हुआ।"

टीपू का यह पत्र वेल्सली को ३१ दिसम्बर सन् १७९८ में मिला। वेल्सली ने ९ जनवरी सन् १७९९ में टीपू को साफ-साफ लिखा:—"आप समुद्र के किनारे के अपने सभी इलाके और बन्दरगाह अंगरेजों को सौंप दें और चौबीस घण्टे के भीतर इसका जवाब दें।"

वेल्सली का यह पत्र टीपू के लिए लड़ाई की घोषणा थी। ३ फरवरी सन् १७९९ में अंगरेजी फौज टीपू पर आक्रमण करने के लिए रवाना हो गयी। टीपू इसके लिए तैयार न था। उसने पत्र लिखकर किसी प्रकार मामले को शान्त करने के लिए प्रार्थना की। लेकिन उससे कुछ लाभ न हुआ। जल और स्थल दोनों रास्तों से अंगरेजी फौज ने टीपू के इलाके को घेर लिया।

युद्ध और विश्वासघात

विवश होकर टीपू को युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा। यह सही है कि उस समय टीपू को युद्ध का ख्याल तक न था। अचानक अंगरेजों का आक्रमण हुआ। फिर भी वह घबराने वाला न था। लेकिन उसके सामने अंगरेजों के युद्ध का ही खतरा न था। दुर्भाग्य से अपने आदमियों के विश्वासघातों का भी उसे सामना करना पड़ा।

टीपू के खास-खास सरदारों, अफसरों और जिम्मेदार सहायकों को फोड़ने के लिए वेल्सली के दूत और चालबाज जासूस पहले से ही टीपू के इलाकों मे काम कर रहे थे। जैसा कि मद्रास गवर्नर के नाम लिखे हुए वेल्सली के एक पत्र से मालूम होता है :—

"इस बात पर विश्वास करने के लिए मेरे पास बहुत सही-सही प्रमाण हैं कि टीपू सुलतान के सरदार, खास-खास अफसर और फौजी नायब टीपू के खिलाफ विद्रोह करके अंगरेजी कम्पनी की शरण लेना चाहते हैं। टीपू की दगाबाजी और ज्यादती के कारण ही मुझे यह युद्ध लड़ना पड़ा है। ऐसी हालत मे उसके विद्रोहियों से हमें लाभ उठाना ही चाहिए।"

दगाबाजी और ज्यादती कौन करता था और किसके सिर पर वह मढ़ी जाती थी ? उन दिनों में भारत के अंगरेजों की इस भयानक कूटनीति को संसार कभी भूल न सकेगा।

अंगरेजी हमलों की आंधी

टीपू पर वेल्सली का यह आक्रमण साधारण न था। उसने टीपू को चारों ओर से घेर कर खतम कर देने का इन्तजाम कर लिया था। अंगरेजों के इस हमले में निज़ाम की फौज सहायता में आयी। यह तो पहले ही लिखा जा चुका है कि मीरआलम अंगरेजों का अपना आदमी था, जिसे वेल्सली ने निजाम का प्रधान मन्त्री बनाया था। इस दशा में निजाम अलग कैसे रह सकता था। मद्रास से एक फौज लाकर टीपू पर जनरल हैरिस ने चढ़ाई की थी, निजाम की सबसीडियरी सेना का आक्रमण हुआ। एक फौज कलकत्ते से भी अंगरेजों की आयी थी, एक खासी सेना ने मीरआलम के अधिकार में निजाम से आकर टीपू पर आक्रमण किया। हैदराबाद से एक सवारों की

फौज लेकर रोशनराव भी टीपू के खिलाफ दौड़ पड़ा था। बम्बई से आने वाली अंगरेजी सेना भी युद्ध-क्षेत्र में पहुँच चुकी थी। इस प्रकार अनेक फौजों ने अनेक दिशाओं से आक्रमण करके टीपू को चारों ओर से घेर लिया।

अचानक इस प्रकार की खबर पाते ही टीपू ने पूर्निया के सेनापतित्व में एक सेना शत्रु के मुकाबिले में रवाना की। मोर्चे पर पहुँचकर पूर्निया ने कुछ काम न किया। वह तो अंगरेजों से पहले ही मिल चुका था।

टीपू ने स्वयं एक बड़ी फौज के साथ शत्रु को रोकने की कोशिश की। लेकिन उसके अपने ही आदमियों ने उसे धोखा दिया और कम्पनी की फौज दूसरे रास्ते से निकल कर राजधानी की ओर बढ़ गयी। लेकिन टीपू ने फिर भी घूमकर उसका सामना किया। युद्ध ने तेजी पकड़ी। उसी बीच में टीपू का एक सेनापति कमरुद्दीन लड़ाई में धोखा देने लगा। टीपू के ललकारने पर भी उसने शत्रु पर वार नहीं किया। करता कैसे, वह तो अंगरेजों के हाथ बिक चुका था। उसकी आत्मा और पौरुष उसके हाथ में न था। नतीजा यह हुआ कि टीपू और उसके वीर सैनिकों को वहाँ पर पीछे हटना पड़ा।

इसी मौके पर बम्बई से आने वाली सेना टीपू की राजधानी पर आक्रमण करने जा रही थी। टीपू ने अपनी सेना के साथ उसका मुकाबिला किया और उसे शिकस्त दी। परन्तु यहाँ पर उसे अपने ही आदमियों के विश्वाघात का भयानक रूप देखना पड़ा। इससे टीपू को बहुत अफसोस हुआ।

बम्बई की अंगरेजी सेना, मैसूर की राजधानी श्रीरंग पट्टन मे पहुँच कर आग बरसाने लगी। टीपू के सलाहकारों ने उसे सलाह दी कि आपको युद्ध न करके सुलह की बातचीत करना चाहिए। लेकिन उसने सुलह की बात से इनकार किया और जिन्दगी के अन्तिम समय तक लड़ने के लिए प्रतिज्ञा की।

अभी तक टीपू को अँगरेजों के जाल का पता न था। उसे न मालूम था कि उसके आदमी और सेनापति अब दिखाऊ उसका साथ दे रहे हैं। मैसूर की राजधानी श्रीरंग पट्टन में जनरल हेरिस और बम्बई की सेना मिलकर युद्ध करने लगी। टीपू का एक विश्वासी और

पराक्रमी अफसर सैय्यद गफ्फार था और वह उस मोर्चे पर शत्रुओं को मुँहतोड़ जवाब दे रहा था। उसे भी धन के लोभ में अंगरेजों ने फाँसने की कोशिश की थी। लेकिन उसके ऊपर इसका कोई प्रभाव न पड़ा।

अपने दूसरे सरदारों के कहने से टीपू ने सैय्यद गफ्फार को दूसरे मोर्चे पर भेज दिया और उसके स्थान पर किसी दूसरे को ही अधिकारी बना दिया। उस नये अधिकारी ने टीपू के साथ करारा विश्वासघात किया और शत्रु को किले के भीतर जाने का द्वार खोल दिया।

टीपू की आखिरी लड़ाई

टीपू सुलतान को खबर मिली कि उसका विश्वासी और पराक्रमी अफसर सैय्यद गफ्फार अपने ही आदमियों से मारा गया। वह तेजी के साथ अपने सैनिकों सहित दौड़ पड़ा और किले में उसने प्रवेश किया।

टीपू के विश्वासघातकों ने किले का रास्ता खोलकर अंगरेजी फौज को इशारा किया। उसके पहले ही टीपू को मालूम हो चुका था कि उसके अपने ही आदमी अंगरेजों से मिल चुके हैं और युद्ध में वे विश्वासघात कर रहें हैं। इसलिए उसका साहस टूट रहा था। उसका एक सलाहकार मीरसादिक था। जब टीपू को मालूम हुआ कि वह भी अंगरेजों से मिल गया तो उसने इस प्रकार के विश्वासघातकों की एक सूची तैयार की और उनको खतम करा देने के लिए मीरमुईनुद्दीन को आज्ञा दे दी।

जब समय खराब आता है तो अपने ही शत्रु बन जाते हैं। मीर सादिक को खबर मिल गयी कि टीपू ने जिन लोगों को मारे जाने का हुकुम दिया है, उसमें मेरा भी नाम है तो वह होशियार हो गया।

सैय्यद गफ्फार राजधानी के किले का संरक्षक था. उसके मारे जाने पर विश्वासघातकों की सहायता से अंगरेजी फौज किले के भीतर पहुँच गयी। मीरसादिक को टीप की बातों का पता चल ही गया था। अब वह खुलकर शत्रु का साथ देने लगा। टीपू ने मीरसादिक को खतम करने का निश्चय किया और उसके दिखायी पड़ते ही उसने उनको ललकार कर कहा—दुष्ट विश्वासघाती, तेरा वक्त अब खतम हो

चुका। तेरे पापों की सजा अभी तुझे मिलती है। मीरसादिक भी घोड़े पर था। टीपू ने अपने घोड़े पर से ही मीरसादिक के दो टुकड़े कर दिये और उसकी लाश घोड़े के नीचे जा गिरी।

टीपू को अपने किसी सरदार और सेनापति पर विश्वास न रहा। वह किले से बाहर निकलना चाहता था लेकिन उसके ही एक किलेदार ने किले के फाटक को खोलने से इनकार कर दिया। टीपू बाहर न जा सका। शत्रु की सेना इस समय किले के भीतर पहुँच चुकी थी। टीपू के हाथ में उसके थोड़े-से सैनिक रह गये थे। उसने समझ लिया कि जिन्दगी का अब आखीर समय है। अपने सैनिकों को सम्बोधन करते हुए उसने कहा—"शत्रु के सामने सिर झुकाने की अपेक्षा युद्ध में मर जाना अधिक कीमती है।"

टीपू और उसके सिपाहियों ने जिन्दगी का मोह छोड़कर शत्रुओं का सामना किया। टीपू और उसके सैनिकों की गोलियों की वर्षा से कितने ही अंगरेज अफसर मारे गये। उसी समय टीपू की छाती मे एक गोली आकर लगी और वह जख्मी हो गया। उसी समय फिर दूसरी गोली उसकी छाती पर लगी। कई गोलियाँ उसके घोड़े को भी लगी। घोड़ा गिर गया और टीपू की छाती से बराबर खून बह रहा था। इसी समय एक गोरे सैनिक का टीपू पर वार हुआ। टीपू की लाश जमीन पर फैल गयी। टीपू सदा के लिये वीरता के साथ युद्ध करता हुआ दुनिया से बिदा हो गया।

टीपू की कब्र

मैसूर की राजधानी श्रीरंग पट्टन के लाल बाग में टीपू सुलतान की कब्र बनी। इसी स्थान पर उसके पिता हैदरअली की कब्र भी बनवायी गयी थी। उसकी माँ फातिमा की भी वहीं पर कब्र थी। टीपू की कब्र के ऊपर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा गया—शहीदों का बादशाह—इस-लाम और दीन कानून टीपू सुलतान!

पचास वर्ष की अवस्था में टीपू सुलतान युद्ध में मारा गया। उसका सब से बड़ा लड़का फतह हैदर किले के बाहर शत्रु के साथ युद्ध कर रहा था। पिता के मारे जाने की खबर पाते ही वह किले की ओर बढ़ा। लेकिन उसके सरदारों ने उसे युद्ध बन्द कर देने सलाह दी।

इसी मौके पर जनरल हेरिस ने फतहहैदर के पास संदेश भेजा कि अगर आप युद्ध बन्द कर देंगे तो कम्पनी की सरकार आपको तख्त पर बिठा देगी।

फतहहैदर अपने सलाहकारों के साथ इस दुविधा में पड़ गया कि अब क्या करना चाहिए। इसके बाद ही मालूम हुआ कि जनरल हेरिस का आश्वासन केवल एक धोखा था। हेरिस जानता था कि फतह हैदर के आने से और लड़ाई जारी रहने से किले पर कब्जा करने में बाधा पड़ सकती है। इसलिए इस प्रकार का धोखा देने से अंगरेजी फौज को किले पर कब्जा कर लेने का अच्छा मौका मिल गया और किले पर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

राजधानी के निवासियों को धोखा

किले पर कब्जा करने के बाद अब अंगरेजों को श्रीरंग पट्टन के नगर पर अपना अधिकार करना था। यह निश्चित था कि उस पर कब्जा करने के लिए जब अंगरेजी फौज जायगी तो राजधानी की प्रजा का मुकाबिला करेगी और एक बार फिर युद्ध होगा। इसलिए वेल्सली के नाम से इस बात की घोषणा की गयी कि नागरिकों के जान और माल की हर तरीके से रक्षा की जायगी।

इसी प्रकार की सीधी-सादी बात की घोषणा का प्रचार होते ही लोगों में जो विरोध की भावना थी, वह खतम हो गयी। लोग अपने-अपने घरों पर चुपके बैठ रहे। यदि ऐसा न होता तो वे संगठित होकर आक्रमणकारियों को किसी प्रकार बदला दे सकते थे।

अंगरेजी फौजों ने नगर में प्रवेश किया और चारों तरफ फैलकर और अपना अधिकार जमाकर वहाँ के लोगों के साथ जिस प्रकार का अत्याचार किया वह किसी के अन्दाज में नहीं आ सकती।

टीपू की मृत्यु के बाद

युद्ध में टीपू सुलतान की मृत्यु ४ मई सन् १७९९ को हुई। उसके बाद अंगरेजी सेना ने राजधानी में प्रवेश-किया। तारीख ५ मई को टीपू की लाश को लाल बाग में दफना दिया गया। टीपू का परा परिवार गिरफ्तार हो गया। उसमें टीपू के भाई, उसके बारह लड़के

और उसकी बेगमों को कैद करके राय बिलोर के किले मे भेज दिया गया।

टीपू के राज्य के कई टुकड़े कर डाले गये। कुछ भाग निजाम को दिया गया और कई बड़े-बड़े भागों पर अंगरेज कम्पनी का शासन हो गया। जिन लोगों ने टीपू सुलतान के साथ विश्वासघात करके अंगरेजों का साथ दिया था, उनको इनाम में छोटे-छोटे हिस्से देकर जागीरदार बना दिया गया और वहाँ के पाँच वर्ष के एक हिन्दू बालक को राजा बनाकर गद्दी पर बिठाया गया। विश्वासघाती पूर्निया को उस बालक राजा का मन्त्री और संरक्षक बनाया गया।

नाबालिग महाराज के साथ सन्धि

पाँच वर्ष का जो लड़का मैसूर का राजा बनाया गया, उसके साथ ८ जुलाई सन् १७९९ में एक सन्धि हुई। उस सन्धि में नीचे लिखी हुई शर्तें मन्जूर की गयी :—

१—मैसूर में सबसीडियरी सेना रहा करेगी और उसके खर्च में प्रति वर्ष २५ लाख रुपये राजा को देने होंगे।

२—रियासत के सभी किले और फौजी शासन अंगरेजों के हाथ मे रहेगा।

३—रियासत के हर महकमे के इन्तजाम में गवर्नर जनरल का पूरा अधिकार रहेगा।

४—गवर्नर जनरल की सभी आज्ञायें राजा को माननीया पड़ेगी।

५—रियासत की आमदनी से सभी प्रकार के खर्चे निकाल कर जो कुछ बचेगा, उसीसे राजा अपनी गुजर करेगा।

भारतीय अंगरेजों में खुशियाँ

टीपू सुलतान को परास्त करने के बाद, गवर्नर जनरल की आज्ञा से भारत के समस्त अंगरेजी इलाकों में खुशियाँ मनायी गयीं। गवर्नर जनरल वेल्सली की बड़ी-बड़ी प्रशंसायें की गयीं और इस महान विजय के सम्बन्ध में गिरजाघरों में खुदा का शुक्रिया अदा किया गया और कहा गया कि आज से भारत में हमारा साम्राज्य पक्का और मजबूत हो गया।

सत्रहवाँ परिच्छेद

अवध और फरुखाबाद पर कब्जा

भारत का खुशहाल सूबा

मैसूर रियासत को खतम करने के बाद, वेल्सली की आँखें अवध की तरफ दौड़ीं। हिन्दुस्तान में अवध सदा से खुशहाल रहा है। इस खुशहाली का ही यह कारण था कि अवध के नवाब ऐश आराम के सिवा और कुछ जानते ही न थे। वे जीवन के संघर्ष से सदा बचते रहे थे और किसी प्रकार आराम की जिन्दगी बिताना जानते थे। इसके लिये उन्हें सदा अंगरेजों के सामने गर्दन झुकानी पड़ी थी। वे समझते थे कि ऐसा करने से हमारी हस्ती कायम रहेगी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को धन की जरूरत थी। धन के लिए ही भारत में अंगरेजों का साम्राज्य कायम हो रहा था, अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम्पनी के अंगरेजों ने न्याय, इन्सानियत, हमदर्दी और ईमानदारी को ही तलाक नहीं दिया था, बल्कि उसके साथ-साथ इंगलैण्ड के धन और आदमियों का बलिदान भी किया था।

जिस अवध के नवाबों ने कभी अंगरेजों के सामने अपनी आँखें ऊँची न की थीं, जिन्होंने कम्पनी के जां और बेजां व्यवहारों को खुदा की मार समझकर सहन किया था, और जिन्होंने अंगरेजों के हुकमों को पूरा करने में ही अपना कल्याण समझा था, उनका भी इन अंगरेजों ने कैसे सत्यानाश किया और बिना किसी अपराध के बाज की तरह टूटकर किस बेरहमी के साथ, अवध के बदन में अपने जहरीले पंजे ठूँस दिये, इसी का वर्णन इस परिच्छेद में किया जायगा।

रेजीडेण्ट के काम

बक्सर की लड़ाई के बाद, सन् १७६५ में अवध के नवाब के साथ, कम्पनी का सब से पहला सुलहनामा हुआ था। उस सुलहनामे के अनुसार कम्पनी का एक रेजीडेण्ट अवध के नवाब के दरबार में रहा करता था। इन रेजीडेण्टों का काम यह होता था कि वहाँ पर अंगरेज कम्पनी के विरुद्ध किसी शक्ति का अंकुर उगने और पनपने न पावे। वे भलीभाँति इसके सम्बन्ध मे सावधान रहें।

दूसरा काम उनका यह होता था कि उस रियासत या राज्य में वे फूट पैदा कराते रहें। रेजीडेण्ट सब का दोस्त बना रहे लेकिन वे आपस में एक दूसरे के दोस्त न रह सकें। इस प्रकार का विष वह बोता रहे।

रेजीडेण्टों का तीसरा काम यह होता था कि उस राज्य या रियासत की हुकूमत में जो खास अंग या स्तम्भ समझे जाते थे, उनको रिश्वतों के बल पर किसी प्रकार के प्रलोभन के द्वारा, कूटनीति के दाँव पेंच खेलकर अथवा अन्य किन्हीं उपायों से षड़यन्त्र रचकर फोड़ने और अपने साथ मिलाने की कोशिश करते रहें।

उनका चौथा काम यह होता था कि उन राज्यों और रियासतों पर अपना कब्जा करने के लिये कम्पनी के अधिकारी जो योजना बनाते थे, उसकी सफलता के लिए वहाँ पर जमीन तैयार करते थे।

नवाब सआदतअली की सन्धि

सर जान शोर ने सन् १७९८ में नवाब वजीरअली को कैद करवा के बनारस भेज दिया था और उनके स्थान पर नवाब सआदतअली को नवाब बनाया और उसके साथ एक नयी सन्धि की थी।

उस सन्धि के अनुसार सआदतअली बराबर काम करता रहा। उसके और कम्पनी के बीच कोई बात पैदा नहीं हुई। वेल्सली ने भारत में आकर अवध के मसले पर सोच-विचार किया और अवध में अपना उद्देश्य पूरा करने के लिये नयी नयी तरकीबें सोचना शुरू कर दी।

सन्धि का खात्मा

वेल्सली के सामने किसी सन्धि का कोई मूल्य न था। वह तो

अपना उद्देश्य सफल बनाना जानता था। वेल्सली ने नवाब सआदत-अली को एक पत्र लिखा और सलाह के रूप में हुकुम देते हुए लिखा कि आप फौरन अपनी सेना में कुछ परिवर्तन कीजिए। अपनी माल-गुजारी वसूल करने के लिए जितने सिपाहियों की जरूरत हो, उतने रखकर बाकी को बरखास्त कर दीजिए और राज्य की रक्षा के लिए अंगरेजी फौज अपने यहाँ रखिये उसका खर्च आपके राज्य से दिया जायगा।

नवाब सआदतअली को यह पत्र मिला। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इसी बीच में एक अंगरेजी पल्टन तैयार करके अवध के लिए रवाना कर दी गयी और दूसरी भी तैयार की जाने लगी।

नवाब सआदतअली ने अत्यन्त विनम्रता के साथ वेल्सली के नाम एक पत्र भेजा और उसमें लिखा :—"जिस प्रकार का पत्र आपका मुझे मिला है, उससे तो मेरी हस्ती ही एक तरह से खतम हुई जाती है। कम्पनी के साथ अवध के नवाबों ने सदा फरमाबरदारी से काम लिया है और कभी किसी शिकायत का मौका नहीं आया।

अवध के सेना को तोड़ देने से हजारों, पुराने वफादार नौकर बेरोजगार हो जायंगे। इसका नतीजा भी अच्छा नहीं हो सकता। सन् १७९८ में मेरे साथ जो कम्पनी की सन्धि हुई थी, उसके लिहाज से भी ये माँगें नामुनासिब हैं। मेरा विश्वास है कि मेरी इस फरियाद पर आप गौर करेंगे और मेरे साथ किसी नयी शर्त को पैदा न होने देंगे।"

नवाब सआदतअली ने इस प्रकार का लम्बा पत्र वेल्सली के पास भेजा था, यहाँ पर बहुत संक्षेप में उसकी मुख्य-मुख्य बातें ही दी गयी हैं।

नवाब सआदतअली के पत्र के सम्बन्ध में मेजर बर्ड ने लिखा है :—"नवाब सआदतअली का यह पत्र निहायत जायज मुनासिब और न्यायपूर्ण था।"

नवाब के पत्र के उत्तर में वेल्सली की ओर से जो लिखा गया था, उसका सारांश यह था कि नवाब का यह पत्र इस कदर गुस्ताखी से भरा हुआ है, जिसके लेने में गवर्नर जनरल को इनकार है। इसलिए

वह पत्र नवाब को वापस भेजा जाता है। लेकिन फिर भी अगर नवाब ने अंगरेज सरकार के इंसाफ में अपना अविश्वास जाहिर किया तो नवाब को मुनासिब सजा दी जायगी।

नवाब के भेजे हुए पत्र और उसके उत्तर में वेल्सली की ओर से गया हुआ पत्र—इन दोनों पत्रों के सम्बन्ध में अंगरेज इतिहासकारों ने अनेक प्रकार के अर्थ लगाये हैं। जेम्स मिल ने लिखा है :—

"××दोनों ही पत्र दो तरह के हैं। पहले में जितनी ही विनम्रता है, दूसरे में उतनी ही कटुता और अहंकार की बू है।×× पहला पत्र साफ-साफ सन्धि के खिलाफ एलान है और दूसरे पत्र में जब एक निर्बल, न्याय की भीख माँगता है तो उसके लिए यह धमकी दी जाती है।"

अवध पर अधिकार

नवाब सआदतअली अभी तक कुछ निर्णय भी न कर सका था। इसी बीच मे वेल्सली का एक दूसरा पत्र मिला। उसमें लिखा था :—

"अवध के नवाब के लिए अब दो ही रास्ते हैं। एक तो यह कि वह पेन्शन लेकर राज्य से अलग हो जाय, अथवा कम्पनी की ओर से दो पल्टनें भेजी गयी हैं, उनके हक में नवाब अवध का आधा राज्य कम्पनी को सौंप दें।"

इन शब्दों में वेल्सली नवाब के साथ दूसरी सन्धि करना चाहता था। ऊपर लिखा हुआ पत्र वेल्सली की ओर से नवाब के पास २२ जनवरी सन् १८०१ को भेजा गया और २८ अप्रैल सन् १८०१ को वेल्सली ने अवध दरबार के अपने रेजीडेण्ट को लिख दिया कि "अगर खुशी के साथ नवाब आधा राज्य देने के लिए तैयार न हो तो फौजी सहायता से उसके आधे राज्य पर कब्जा कर लिया जाय। मेरा इरादा तो यह है कि नवाब के पास किसी प्रकार की सैनिक शक्ति न रहे और अवध का तमाम अदालती इंतजाम कम्पनी को अपने हाथ में कर लेना चाहिए।"

नवाब सआदतअली के सामने अब और रास्ता ही क्या हो सकता था। नवाब बहुत बेजार हो चुका था। उसको अब कुछ सूझ न पड़ता

था। वह जानता था कि अब और दूसरा रास्ता नहीं हो सकता। मजबूर होकर उसने १४ नवम्बर सन् १८०१ को गवर्नर-जनरल के भेजे हुए सन्धि के पत्र पर रेजीडेण्ट के सामने हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि के अनुसार, अवध का आधा राज्य जो अधिक उपजाऊ और काम का था, और जिसकी वार्षिक आमदनी १ करोड़ ३५ लाख रुपये सालाना थी, कम्पनी के हवाले कर दिया गया और वेल्सली ने अपने भाई हेनरी वेल्सली को वहाँ का लेफ्टीनेण्ट गवर्नर बना दिया।

इंगलैण्ड के पार्लामेण्ट में वेल्सली के इस कार्य की आलोचना हुई। कुछ मेम्बरों ने वेल्सली की इस नीति की निन्दा की और कहा—"यदि इस प्रकार की सन्धि भी, सन्धि कही जा सकती है, तो कोई भी डाका सन्धि के नाम से पुकारा जा सकता है।"

वारन् हेस्टिंग्स के अन्याय और अत्याचारों पर भी इंगलैण्ड में एक मुकदमा चला था और इन दिनों में वेल्सली के खिलाफ भी मुकदमा चलाया गया। विरोधी लोगों ने बहुत-कुछ कोशिश की, लेकिन वेल्सली को सजा देने के बजाय, उसने अंगरेजी कौम और मुल्क की जो सेवा की थी, उसके लिए बड़ी प्रशंसायें की गयीं।

फरुखाबाद का अन्त

अवध के अन्तर्गत फरुखाबाद की रियासत थी। वहाँ का नवाब अवध के मातहत था और वर्ष में ४ लाख रुपये मालगुजारी में दिया करता था। कम्पनी की ओर से फरुखाबाद-दरबार में एक रेजीडेण्ट भी रह रहा था। लेकिन उसके अत्याचारों के कारण कार्नवालिस के शासन काल में फरुखाबाद दरबार में रेजीडेण्ट का रहना बन्द कर दिया गया था।

वेल्सली ने फरुखाबाद का भी हिसाब-किताब लगा रखा था। इसलिए उसने अपने भाई हेनरी वेल्सली को यह समझा कर फरुखाबाद भेजा कि तुम वहाँ जाकर कुछ ऐसा उपाय करो कि फरुखाबाद का नवाब एक लाख रुपये तक वार्षिक पेन्शन लेकर अपनी रियासत को वह कम्पनी के नाम सदा के लिए कर दे।

उन दिनों में इमदादहुसेन खाँ फरुखाबाद रियासत का नवाब था। हेनरी वेल्सली ने फरुखाबाद में जाकर देखा और समझा कि नवाब

अभी बिलकुल युवक है। हेनरी वेल्सली की उसके साथ बातें हुईं और अन्त में ४ जून सन् १८०२ में नवाब इमदादहुसेन खाँ को एक लाख ८ हजार सालाना की पेन्शन लेकर, फरुखाबाद की अपनी तमाम रियासत कम्पनी को दे देनी पड़ी। इस प्रकार फरुखाबाद की उस रियासत का हेनरी वेल्सली शासक बनाया गया।

अठारहवाँ परिच्छेद

तञ्जोर राज्य पर कब्जा

अंगरेजों के व्यवहार

छत्रपति शिवा जी के पिता शाहजी ने भारत के दक्षिण में तञ्जोर नाम की एक मराठा रियासत कायम की थी। इस रियासत के राजा के चरित्र और व्यवहार की प्रशंसा अनेक अंगरेजी लेखकों ने स्वीकार की है। भारत के दक्षिणी भाग में जब अंगरेज पहुँचे हैं और वहाँ पर उन्होंने मुकाम करने की कोशिश की थी, उस समय तञ्जोर के राजा ने उनकी सहायता की थी। इस बात को इतिहास लेखक विलियम हिक ने स्वयं लिखा है।

तञ्जोर के राजा ने परदेशी अंगरेजों के साथ जिस प्रकार का सुलूक किया था, और बहुत से जरूरत के मौकों पर उनकी जो मदद की थी, उन्हें अंगरेजी इतिहासकार भूल नहीं सके। टारेन्स ने तो यहाँ तक लिखा है :—"तञ्जोर के राजा की सहायता को अंगरेज कभी भूल नहीं सकते।"

साहू जी तञ्जोर की गद्दी पर था। कुछ कारणों से उसे गद्दी से उतारा गया और प्रतापसिंह को उसके स्थान पर राजा बनाया गया। राजा प्रतापसिंह के साथ अंगरेजों की सात वर्ष तक मित्रता चलती रही। प्रतापसिंह ने फ्राँसीसियों के साथ लड़ाई करने में अंगरेजों की सहायता की थी। इस ऐतिहासिक सत्य को टारेन्स ने स्वयं माना है। इस प्रकार के तञ्जोर की ओर से अंगरेजों के ऊपर एक दो नहीं, बहुत से एहसान थे।

अंगरेजों की दगा

प्रतापसिंह के इन उपकारों के होते हुए भी तञ्जोर में अंगरेजों की कूटनीति आरम्भ हो गयी। जो साहू जी गद्दी से उतारे जा चुके थे,

उनको अंगरेजों ने भड़काना आरम्भ किया। साहू जी को तैयार किया कि वह अपनी राजगद्दी को फिर से प्राप्त करें। साहू जी के तैयार हो जाने पर अंगरेजों की चाल शुरू हो गयी।

प्रतापसिंह का विरोध करने के लिए अंगरेजों के पास कोई मौका न था। लेकिन अंगरेजों ने इस बात का ख्याल न किया। अंगरेजों की सहायता के लिये राजगद्दी प्राप्त करने पर साहूजी ने देवीकोट का किला, उसके पास की कुछ जागीर और खर्च में बहुत से रुपये देने के लिये वादा कर दिया। अंगरेजों का सौदा तय हो गया।

साहूजी की सहायता में अंगरेजों की सेना गयी। लेकिन प्रतापसिंह से वह पराजित हुई। उसके बाद अंगरेजों की दूसरी सेना भेजी गयी। थोड़ी-सी लड़ाई में ही अंगरेजों को प्रतापसिंह की ताकत का पता चल गया। अंगरेजों ने सन्धि का प्रस्ताव किया और कहा कि साहूजी ने जो कुछ वादा किया था, उसमे सिर्फ हम देवीकोट का किला लेकर प्रतापसिंह के साथ सुलह कर लेंगे।

यही हुआ भी। प्रतापसिंह ने इसे स्वीकार कर लिया। जिस साहू जी को राजगद्दी दिलाने के लिये अंगरेज लड़ने गये थे, वे प्रतापसिंह का पक्ष लेकर साहू जी से लड़ने लगे और उसे कैद करवा लिया।

प्रतापसिंह के बाद तुलजा जी तञ्जोर का राजा हुआ। यह प्रतापसिंह का लड़का था। तञ्जोर के साथ अंगरेजों की मित्रता चल रही थी। सन् १७७१ में जब तञ्जोर पर करनाटक के नवाब का हमला हुआ था उस समय तञ्जोर मे तुलजा जी राजा था। इसके पहले भी सन् १७६२ में करनाटक के नवाब ने तञ्जोर पर हमला किया था और बाद मे सन्धि हो गयी थी। उस सन्धि के अनुसार तञ्जोर की ओर से ४ लाख रुपये वार्षिक मालगुजारी मे दिये जाने की शर्त तञ्जोर ने स्वीकार कर ली थी। उस सन्धि मे अंगरेज मध्यस्थ थे।

करनाटक के नवाब से दूसरे हमले में, मध्यस्थ की हैसियत से किसी तरफ अन्याय न करना चाहिये था। लेकिन उनकी नीति निबल के विरोध मे सबल की सहायता में रही है। इसलिए अंगरेजी सेना, नवाब की मदद में आयी। राजा तुलजा को बड़ी रकम भेंट में देनी पड़ी और किसी प्रकार उसने नवाब से अपनी जान बचायी।

इसके बाद करनाटक के नवाब ने सन् १७७३ में तञ्जोर पर फिर

आक्रमण किया। इस आक्रमण में कम्पनी और तञ्जोर के बीच में सन्धि हुई। उसके कई वर्ष बाद तुलजा की मृत्यु हो गयी, वह निःसन्तान था। इस मौके पर अंगरेजों ने तुलजा जी के सौतेले भाई अमरसिंह को गद्दी पर बिठा दिया और अमरसिंह के साथ एक नयी सन्धि की गयी।

इस बार जो सन्धि हुई उसमें तञ्जोर पर सबसीडियरी सन्धि की शर्तों का पालन करना तञ्जोर पर लादा गया। बेचारे अमरसिंह को मजबूर होकर स्वीकार करना पड़ा।

तन्जोर के विरुद्ध षड्यंत्र

तञ्जोर के नये राजा अमरसिंह के साथ सन्धि करके और मनमानी शर्तें पेश करके भी अंगरेजों को तसल्ली नहीं हुई। अंगरेजों की सन्धि अंगरेजी छूत रोग की तरह काम करता है और सबसीडियरी से सन्धि का अर्थ होता है, उसके खातमें की शुरुआत। तञ्जोर में भी यही हुआ।

नयी सन्धि के बाद तञ्जोर में अंगरेजों की नयी-नयी चालें शुरू हो गयी। अंगरेजी रेजीडेण्ट से अमरसिंह थोड़े ही दिनों में तबाह हो उठा। एक अंगरेज लेखक ने लिखा है :—

"तञ्जोर में अंगरेजी रेजीडेण्ट का काम था, उसके राजा को राजनीति के अनेक उपायों से मजबूर करना कि वह एक पेन्शन लेकर अपनी जिन्दगी बसर करे और तञ्जोर राज्य अंगरेजों के हवाले कर दे।"

तञ्जोर में राज्य के खर्च से जो अंगरेजी फौज रखी गई थी, रेजीडेण्ड के हुकुम से वह प्रायः अपने भय का प्रदर्शन करती और अक्सर राजमहल के फाटक तक मार्च करती हुई चलती।

तञ्जोर की यह सेना अंगरेजी थी, लेकिन तनख्वाह राज्य से लेती थी और कहा जाता था कि वह राज्य की रक्षा के लिए है। लेकिन उस पर हुकुम रेजीडेण्ट का चलता था। एक दिन रेजीडेण्ट ने सेना के प्रधान अफसर को कुछ आज्ञा दी और उसके दूसरे ही दिन रेजीडेण्ट ने उस सेना को लेकर अमरसिंह को घेर लिया और अनेक प्रकार से भयभीत कर उससे उस कागज पर हस्ताक्षर करा लिए जिसमें उसकी

ओर से तञ्जोर का राज्य कम्पनी को दे दिया गया था। अमरसिंह ने चुपचाप दस्तखत कर दिये।

उसके बाद राजा अमरसिंह ने इसकी शिकायत सर जान शोर के पास की और सारी कथा उसको जाहिर की। सर जान शोर की नजरों में भी यह एक ऐसा अत्याचार था जो जब्त न हो सकता था। मि० शोर की समझ में ऐसा करने का कोई का कारण भी न था। इसलिए उसने रेजीडेण्ट को लिख कर मना कर दिया और सारी बातें बदस्तूर बनी रहने का हुकुम दे दिया।

दो वर्षों के बाद वेल्सली का शासन आरम्भ हुआ। उसी समय से तञ्जोर में फिर कूटनीति प्रारम्भ हो गयी। वेल्सली तो तञ्जोर राज्य को बिना उसके टुकड़े किये हजम कर जाना चाहता था। इसलिए वह अमरसिंह के खिलाफ मौका ढूँढ़ने लगा। राजा तुलजाजी की विधवा स्त्री और उसके गोद लिए हुए लड़के को मद्रास में बुलाया गया और राजा अमरसिंह से कहा गया कि तुम्हरा व्यवहार तुलजाजी की विधवा स्त्री के साथ अच्छा नहीं है।

तुलजाजी के मरने पर उसकी रानी के द्वारा गोद लिए हुए लड़के सार्बो जी को गद्दी दी जा रही थी। बीच में अंगरेजों ने उसका विरोध किया और उसी बीच में अंगरेजों ने तञ्जोर की राजगद्दी पर अमरसिंह को बिठा दिया। उसके बाद दस वर्षों तक अंगरेजों ने अमरसिंह को तञ्जोर का राजा माना।

वेल्सली के शासन-काल में अंगरेजों का एलान हुआ कि तञ्जोर की राजगद्दी का वास्तव में अधिकारी अमरसिंह नहीं है बल्कि सार्बो जी है। हुआ यह कि जिस अंगरेजी सेना को अमरसिंह के खजाने से पाला गया था और जो सेना राजा और राज्य की रक्षा के लिए रखी गयी थी उसी ने अमरसिंह को राजगद्दी से उतारने का काम किया और उसके स्थान पर सार्बो जी को राजा बनाया गया।

नवीन राजा के राजगद्दी पर बैठते ही अंगरेजों ने उसके साथ संधि की और उस सन्धि की शर्तों के अनुसार सार्बो जी को जिन्दगी भर के लिए पेन्शन दी गयी और तञ्जोर के राज्य पर कम्पनी का कब्जा हो गया।

———

उन्नीसवाँ परिच्छेद

करनाटक का अन्त

अंगरेजी कूटनीति का प्रहार

करनाटक के नवाब मोहम्मदअली ने कम्पनी के अंगरेजों की खुशामद और मदद करने के सिवा जिन्दगी-भर और कुछ न किया था। उसकी इस नीति का छोटे और बड़े अधिकारी और अनधिकारी अंगरजों ने सभी प्रकार का फायदा उठाया था। मोहम्मदअली के खजाने का सब से अधिक रुपया अंगरेजों को खुश करने में ही खर्च होता था। यहाँ तक कि जब खजाने में रुपये न रहते थे तो महल के जेवरों को बेचकर और अंगरेज व्यवसाइयों से कर्ज लेकर मोहम्मदअली अंगरेजों को रुपया दिया करता था।

करनाटक के नवाब और कम्पनी के बीच स्थायी मित्रता की संधि थी। उस सन्धि के अनुसार करनाटक राज्य की रक्षा का भार अंगरेजों के ऊपर था और इस रक्षा के लिए जो वहाँ पर अंगरेजी सेना रहा करती थी, उसके खर्च के लिये करनाटक राज्य की ओर से ३० लाख रुपये वार्षिक दिये जाते थे। यह रकम महीनेवार किश्तों मे अदा होती थी।

मोहम्मदअली ने फौजी खर्च की अदायगी का मजबूत इन्तजाम कर रखा था। इसके लिए उसने कुछ जिले अलग कर दिये थे। उनकी वसूल होने वाली मालगुजारी अंगरेजों की अदायगी के लिए अलग रखी जाती थी। इस प्रकार के इन्तजाम से किसी भी किश्त के अदा होने में देर न होती थी।

मोहम्मदअली के बाद उमदतुल उमरा उसका लड़का नवाब हुआ। उसने भी सन्धि की शर्तों के अनुसार चलने और अंगरेजों की किश्तों की अदायगी में कभी भी भूल नहीं की।

नवाब के नाम वेल्सली का पत्र

करनाटक के नवाब उमदतुल उमरा के द्वारा किसी प्रकार की कोई गलती न होने पर भी वेल्सली एक न एक अपराध लगाता ही रहता था। जिन दिनों में टीपू के साथ दूसरा युद्ध कम्पनी का ओर से होने जा रहा था, वेल्सली ने नवाब उमदतुल उमरा के नाम एक पत्र भेजा। उसमें उसने लिखा :—

"करनाटक के कुछ जिले; जो कम्पनी के रुपयों की अदायगी के लिए अलग कर दिये गये थे, आपने अपनी दूसरी जरूरतों के लिए कहीं रहन कर दिये हैं। इसका मतलब यह है कि आपकी माली हालत अच्छी नहीं है। इसलिए कम्पनी के रुपयों की अदायगी में बाधा पड़ सकती है। इस हालत मे आपको यह सलाह दी जाती है कि जब तक कम्पनी और टीपू का युद्ध चलता रहे, अपने राज्य की मालगुजारी का इन्तजाम कम्पनी को सौंप दीजिए।"

अभी तक कम्पनी के अंगरेजों के साथ करनाटक के नवाबों का व्यवहार एक ओर था और वेल्सली का यह पत्र दूसरी ओर था। नवाब उमदतुल उमरा को एक बात के समझने में देर न लगी कि वेल्सली किसी बहाने से करनाटक राज पर कब्जा करने के लिए मौका ढूँढ़ रहा है।

वेल्सली के पत्र का उत्तर

वेल्सली का लिखा हुआ जो पत्र आया था, उसका उत्तर देते हुए नवाब उमदतुल उमरा ने लिखा :—

"समझ मे नहीं आता कि मेरी हालत के खराब होने का अन्दाज आपको कैसे हुआ ? जब कि वादों की पाबन्दी में मैंने कभी भी देर नहीं की।

मैं आपको बहुत आदर और ईमानदारी के साथ बताना चाहत हूँ कि जो जिले सन् १७९२ की सन्धि के अनुसार अलग किये गये थे उनकी एक फुट भी जमीन न तो मैने कहीं रहन की है और न किसी दूसरे ने। मैं समझता हूँ, मेरा इतना लिखना ही आप काफी समझेंगे।"

टीपू के साथ होनेवाले युद्ध में अंगरेजों की जो विजय हुई उस पर उमदतुल उमरा ने वेल्सली के पास बधाई भेजी। साथ ही उसमें दो बातें उसने और भी लिखी :—

१—करनाटक का जो इलाका मैसूर की रियासत में चला गया था और जिसे अब अंगरेजों ने टीपू सुलतान से जीत लिया है, वह इलाका करनाटक को वापस मिलना चाहिए।

२—टीपू के साथ दूसरे युद्ध में करनाटक की सबसीडियरी सेना ने भी जाकर युद्ध किया है। इसलिए उस सेना के खर्च में कुछ भाग करनाटक को भी मिलना चाहिए।

नवाब उमदतुल उमरा का यह पत्र निहायत ईमानदारी से भरा हुआ था। वेल्सली की नियत का इसीसे पता चलता है कि उसने नवाब के पत्र का कुछ भी उत्तर न दिया।

नवाब पर दोषारोपण

इन दिनों में इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री और वेल्सली के बीच जो पत्र आते-जाते थे, उनसे मालूम होता है कि इंगलैण्ड के अंगरेज करनाटक को खतम करने के लिए किस प्रकार वेल्सली के ऊपर जोर डाल रहे, थे और इस प्रकार के पत्रों के उत्तर में वेल्सली अपनी किन-किन तजवीजों को उनके सामने पेश करता था।

यहाँ पर उस पत्र-व्यवहार के सम्बन्ध में विस्तार को बचाने की जरूरत से किसी प्रकार का उद्धरण नहीं दिया जा सकता। सारांश यह है कि वेल्सली इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री को अपनी कोशिशें बता कर वक्त का इन्तजार करने पर जोर दे रहा था और अपनी कोशिशों में लगा भी था।

वेल्सली यह समझता था कि मौजूदा नवाब को जब तक नेस्तनाबूद नहीं किया जाता, उस समय तक अपना मतलब नहीं हल होता। इसलिए एक झूठा दोषारोपण करते हुए वेल्सली ने एक पत्र में लिखा :—

"टीपू सुलतान के मारे जाने और उसकी राजधानी पर अपना अधिकार होने पर कुछ कागजात ऐसे मिले हैं, जिनसे मालूम होता है और सही-सही मालूम होता है कि नवाब मोहम्मदअली ने अपनी

जिन्दगी के आखीर दिनों में उमदतुल उमरा और टीपू सुलतान के साथ एक ऐसा गुप्त पत्र-व्यवहार किया था जिससे भारत की ब्रिटिश-सत्ता को खतरा पहुँच सकता था।"

करनाटक के राज्य पर अपना अधिकार करने और उसके नवाब को सदा के लिए मिटा देने के लिए वेल्सली ने जिस अस्त्र से काम लिया, वह नवाब के ऊपर भयानक झूठा दोषारोपण के रूप में सब के सामने आया। इस दोषारोपण में कुछ भी सत्य न था। इस बात को साबित करने के लिए बाहरी सैकड़ों सुबूतों को छोड़कर इतिहास लेखक मेजर इवन्स वेल की आलोचना का संक्षिप्त सार यहाँ पर दिया जाता है :—

"जो मोहम्मदअली ५० साल तक अंगरेजों का हार्दिक भक्त और अनुयायी रह चुका था और जिसने जिन्दगी भर अंगरेजों के शत्रुओं से अंगरेजों के साथ युद्ध किया था, उस मोहम्मद अली ने अपने बुढ़ापे मे संसार से कूच करने के समय अपने उस शत्रु से दोस्ती की और गुप्त पत्र-व्यवहार किया, जिसको जिन्दगी-भर मिटाने का काम किया था! मोहम्मदअली के ऐसा करने का कोई भी कारण किसी मौके पर पैदा नहीं होता।

×××टीपू सुलतान निर्बल हो चुका था, मोहम्मदअली की सहायता से उसको जीता जा चुका था और उसका आधा राज्य लेकर युद्ध के खर्च मे ३ करोड़ ३० लाख रुपये दण्ड में वसूल किये जा रहे थे, उसके दो लड़कों को अंगरेजों के यहाँ रहन रखा गया था! यह सब अंगरेजों ने किया था। जिस मोहम्मदअली की सहायता से यह सब हुआ था, वही मोहमम्दअली टीपू से दोस्ती करने गया! इन बातों पर कौन विश्वास करेगा।×× इस प्रकार के दोषारोपण की कहानी बिल्कुल झूठी और निराधार गढ़ी हुई मालूम होती है।"

विद्वान इतिहासकर जेम्स मिल ने भी इसकी विवेचना करते हुए अत्यंत निष्पक्ष भाव से लिखा है और स्पष्ट कहा है कि करनाटक के नवाब के खिलाफ यह दोषारोपण बिल्कुल झूठा था।

इस दोषारोपण के पहले कभी कोई बात नहीं पैदा होती। करनाटक का बूढ़ा नवाब बीमार हुआ और उसके मरने की खबर ५

जुलाई सन् १८०१ में मिली। कम्पनी की सेना ने जाकर महल को घेर लिया।

जो बूढ़ा नवाब मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा था, जिसकी साँस बन्द होने में अब अधिक देर न थी, उसने सुना कि कम्पनी की सेना ने जिसकी परिवरिश करनाटक के खजाने से होती रही, महल को घेर लिया है और सैनिक भीतर आ रहे हैं। बूढ़ा नवाब रो पड़ा और धीरे-धीरे उसने अंगरेज अफसर से हाथ जोड़ कर कहा :—"मरने के समय मुझे जलील न करो।"

५ जुलाई से लेकर १५ जुलाई तक कम्पनी की सेना महल को घेरे पड़ी रही। १५ जुलाई को बूढ़े नवाब उमदतुल उमरा की मृत्यु हो गयी। मरने के समय तक अंगरेज नवाब को अपनी मित्रता और सद्भावना का विश्वास दिलाते रहे।

नवाब उमदतुल उमरा की मृत्यु हो गयी। उसका लड़का अली-हुसेन नवाब होने का अधिकारी हुआ। उसी समय अलीहुसन को महल से बाहर बुलाकर एक अंगरेज अफसर ने कहा :—

"तुम्हारे बाप और दादा ने अंगरेज कम्पनी के खिलाफ टीपू सुलतान के साथ गुप्त पत्र-व्यवहार किया था, इसलिए तुम्हारे लिए यही सजा है कि तुम आज एक मामूली आदमी की हैसियत में जिन्दगी बिताओ। तुम्हारे खिलाफ कम्पनी का यही फैसला है।"

शहजादे अलीहुसेन से एक लिखी हुई तजबीज पर दस्तखत कर देने के लिए कहा गया। जिस समय शाहजादे से ये बातें हो रही थीं, आस-पास अंगरेजी सैनिक अपने हाथों में तलवारें लिए हुए टहल रहे थे। अलीहुसेन ने दस्तखत से करने इन्कार कर दिया।

करनाटक की नवाबी का अन्त

अलीहुसेन के दस्तखत करने से इन्कार करने पर अंगरेजों ने आजमुद्दौला नामक एक आदमी को नवाबी मसनद पर बिठाया। नवाब बनाने के साथ ही उसके साथ कम्पनी की सन्धि हुई। उस सन्धि के कागज पर नवाब की हैसियत से आजमुद्दौला ने दस्तखत कर दिये। उसके बाद करनाटक का सारा राज्य कम्पनी के कब्जे मे

आ गया और आजमुद्दौला को रहने के लिए नवाब का महल दे दिया गया।

जो महल आजमुद्दौला को रहने के लिए दिया गया, उसी में शाहजादे अलीहुसेन और उसकी विधवा माँ को कैद करके रखा गया। कुछ ही दिनों के भीतर कैदी हालत में नवाब उमदतुल उमरा की विधवा स्त्री ने अपने लड़के शाहजादे अलीहुसेन को मामूली पेचिश की बीमारी मे मरते हुए अपनी आँखों से देखा। उसके बाद भी वह अनाथ विधवा कैद से छोड़ी नहीं जा सकी।

बीसवां परिच्छेद

सूरत की रियासत का अन्त

नवाब के साथ अंगरेजों का व्यवहार

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंगरेज आरम्भ में जब भारत आये थे तो सब से पहली कोठी उन्होंने सूरत में बनायी थी। उन दिनों में वहाँ पर एक मुस्लिम नवाब का राज्य था और रियासत सूरत दिल्ली साम्राज्य के अधीन थी। सूरत मे पहुँच कर अंगरेजों ने वहाँ के नवाब से बड़ी खुशामद का व्यवहार किया था और नवाब ने भी उनको परदेशी तथा व्यापारी समझकर सभी प्रकार की रियायतें दी थीं। अपनी चापलूसी के कारण वहाँ पर अंगरेजों को भोले स्वभाव के नवाब से बहुत-सी सहायतायें मिली थीं।

आरम्भ में अंगरेजों ने वहाँ के लोगों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ा। लोगों के सरल और सीधे व्यवहारों का उन्होंने अध्ययन किया और अपनी शक्तियों को बढ़ाना शुरू कर दिया।

सन् १७५९ के बाद अंगरेजों ने अपनी सैनिक शक्ति भी बना ली थी। उन्हीं दिनों में नवाब के साथ उनका कुछ झगड़ा हो गया था, जिससे अंगरेजों ने नवाब के किले पर आक्रमण कर दिया था।

एक डच लेखक के लेख से मालूम होता है कि अंगरेजों ने किले के अफसर को रिश्वत देकर मिला लिया था। उसके बाद ही नवाब के साथ अंगरेजों की सन्धि हो गयी थी और दोनों ओर से मित्रता का व्यवहार चलने लगा था।

सन्धि के बाद नवाब ने अंगरेजों का विश्वास किया। अंगरेज भी अपने व्यवहार में किसी प्रकार का फरक न रखते। लेकिन अपनी जरूरतों के लिए वे नवाब के सामने एक न एक शिकायत पेश करते रहते थे। नवाब उनका ख्याल करना अपने लिए जरूरी समझता था।

नवाब के नेक व्यवहारों के होने पर भी अंगरेज अपनी कूटनीति से बाज न आते थे। उस वक़्त की उनकी चालों की विवेचना करते हुए एक विद्वान ने लिखा है कि अंगरेजों ने राज्य के शासन में भी नवाब पर अपना दखल जमा रखा था। जिसके सम्बन्ध में एक दूसरे विदेशी लेखक ने लिखा है :—

"सूरत के अंगरेज नवाब के आधीन थे। लेकिन बहुत से मौकों पर नवाब को अंगरेज की आज्ञा माननी पड़ती थी।"

सन् १७५९ से १७९९ तक सूरत में नवाबों और अंगरेजों के बीच इसी प्रकार का सम्बन्ध चलता रहा और जब तक गवर्नर जनरल वेल्सली का आगमन नहीं हुआ, उस समय तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

कम्पनी की नयी सन्धि

मार्क्विस वेल्सली के आने के बाद सूरत की राजनीतिक परिस्थिति में परिवर्तन होने लगे। जिस सन्धि के आधार पर वहाँ के नवाब के साथ अंगरेजों का व्यवहार चल रहा था, वह धीरे-धीरे टूटने लगा और नयी-नयी शर्तें नवाब के सामने आने लगी। सन् १७५९ में जो सन्धि हुई थी, उसे तोड़ कर नवाब को लिखा गया कि तुम अपनी सेना को खतम कर दो। रियासत में कम्पनी की सेना रहेगी और उनका खर्च रियासत से दिया जायगा।

सूरत के नवाब ने इसका विरोध किया। उसकी समझ में अंगरेजों का यह अन्याय था। कम्पनी की ताकत बहुत बढ़ चुकी थी। और नवाब उसका मुकाबिला न कर सकता था। इस हालत में अंगरेजों की सख्ती के सामने, नवाब को झुक जाना पड़ा और उसको अंगरेजी शर्तों को मान लेना पड़ा।

नयी शर्तों के अनुसार अभी सन्धि का काम समाप्त न हुआ था, उसी बीच में नवाब की मृत्यु हो गयी। उसके एक छोटा लड़का था जो अभी बिलकुल बच्चा था। नवाब के मरने के बाद वह भी जाता रहा। उस दशा में नवाब का भाई नसीरुद्दीन नवाब बनाया गया।

नसीरुद्दीन के नवाब होते ही अंगरेजों की नयी तजबीज शुरू हो गयी। उससे कहा गया कि तुमको रियासत से १ लाख रुपये

सालाना और देने पड़ेंगे। नये नवाब ने अपनी हालत को दिखाकर इतना रुपया दे सकने में मजबूरी जाहिर की और उसने बड़ी-बड़ी खुशामदें कीं।

सूरत के नवाब के साथ यह नयी सन्धि वेल्सली की तजवीज थी। वेल्सली के ऊपर नवाब की मजबूरी का कोई असर न पड़ा।

वेल्सली ने एक नयी सन्धि बनाकर बम्बई के गवर्नर के पास भेज दी और उसे लिख दिया कि तुम अंगरेजी सेना के साथ सूरत के नवाब के पास जाकर अपना काम करो।

सूरत पर अंगरेजों का अधिकार

बम्बई के गवर्नर के पहुँचने पर नवाब के सामने नयी तजबीज पेश की गई। उसके सामने दूसरा और कोई रास्ता ही न था। जब उसने देखा कि सब-कुछ कहने के बाद भी गवर्नर राजी नहीं होता तो उसने विवश होकर अपनी असहाय अवस्था में शर्तों को स्वीकार कर लिया और नयी सन्धि पर उसने दस्तखत कर दिये। नवाब नाम के लिए नवाब बना रहा और रियासत कम्पनी के अधिकार मे चली गयी।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

मराठा राज्य और पेशवा दरबार

अंगरेजों की दूरन्देशी

हैदरअली और टीपू के बाद, भारतीय अंगरेजों को मराठों और पेशवा-दरबार से खतरा था, इस बात को प्रत्येक अंगरेज समझता था। इसीलिए भारत में आने वाले प्रत्येक गवर्नर जनरल की आँखें मराठों के ऊपर रही हैं।

मराठों ने अपनी तरफ से अंगरेजों के साथ कोई ऐसा व्यवहार न किया था, जिससे कम्पनी के अंगरेजों को किसी प्रकार का अन्देशा मालूम होता। लेकिन भारत में कम्पनी को अंगरेजी साम्राज्य कायम करना था। इसलिए कम्पनी के प्रत्येक अंगरेज ने भारतीय नरेशों और नवाबों को उसी दृष्टि से देखा था और जो शक्तियाँ देश में सबल दिखायी देती थीं, उनको निर्बल करना, उनका पहला काम था। जिन अंगरेजों ने कूटनीति को लेकर ही जन्म लिया था, वे इस राजनीति से अपरिचित न थे। टीपू सुलतान को समाप्त करने के बाद अंगरेजों की आँखों के सामने मराठा शक्तियाँ थीं।

जिन दिनों में गवर्नर जनरल होकर वेल्सली भारत में आया था, पूना दरबार में राघोबा का लड़का बाजीराव पेशवा था। नाना फड़नवीस एक कैदी के रूप में था और पेशवा दरबार में कनरल पामर अंगरेजों का रेजीडेण्ट था। ग्वालियर की गद्दी पर माधवजी सींधिया का पौत्र दौलतराव सींधिया शासक था। वह स्वयं बुद्धिमान और पराक्रमी था।

दौलतराव के साथ चालें

माधव जी सींधिया के साथ अंगरेजों ने जिस प्रकार विश्वासघात किया था, दौलतराव सींधिया उसको खूब समझता था। उसकी नजरों

में नाना फड़नवीस के विचार अधिक मूल्यवान थे। वह यह भी जानता था कि बाजीराव पेशवा से मराठा साम्राज्य को किस प्रकार का खतरा पहुँच सकता है।

दौलतराव सींधिया ने नाना फड़नवीस को कैद से निकाल कर पेशवा-दरबार का प्रधान मन्त्री बनवाया। दौलतराव, नाना के विचारों की इज्जत करता था। इस प्रकार मराठा साम्राज्य की नीति का सञ्चालन दोनों के विचारों के आधार पर आरम्भ हुआ।

टीपू सुलतान के साथ जब वेल्सली ने युद्ध छेड़ा था, तो उसको दौलतराव से आशंका थी। इसीलिए उसने पेशवा दरबार और दौलतराव सींधिया के साथ बड़ी गम्भीर राजनीति से काम लिया था।

टीपू सुलतान के साथ प्रथम युद्ध के समय पेशवा की सेना अंगरेजों की सहायता में गयी थी और अंगरेजों की जीत का बहुत कुछ श्रेय उसी सेना को था। बिना किसी कारण और अपराध के टीपू के साथ दूसरा युद्ध छिड़ने पर पेशवा-दरबार बिलकुल तटस्थ रहा था। फिर भी अंगरेजों को आशंका थी। वेल्सली को यह भी मालूम था कि नाना पेशवा दरबार का प्रधान मन्त्री है और दौलतराव सींधिया के साथ उसकी मित्रता है। इस हालत में बाजीराव पेशवा की हस्ती कुछ काम न करेगी।

इसलिए वेल्सली ने चाहा कि सींधिया और पेशवा की सेनाओं को किसी प्रकार उत्तरी भारत की ओर भेज देना बहुत जरूरी है। इसके लिए जाहिर किया गया कि काबुल का बादशाह जमानशाह उत्तरी भारत पर आक्रमण करने के लिए आ रहा है। इसका अर्थ साफ-साफ यह था कि काबुली आक्रमण से सींधिया को सब से पहले खतरा था। इसलिए उसका ध्यान अपने राज्य की रक्षा के लिए उधर चला जायगा। लेकिन दौलतराव सींधिया साधारण कोटि का आदमी न था। इस झूठी अफवाह का उसके ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा। इसलिए वह पूना में ही बना रहा।

वेल्सली की चाल पूरे तौर पर असफल साबित हुई। उसे दौलतराव सींधिया को इस काबिल बना देना था, जिससे वह टीपू की लड़ाई के दिनों में अंगरेजों के विरुद्ध उसके दिल में कोई ख्याल न पैदा हो।

अभी तक दौलतराव सींधिया के दरबार में कोई अंगरेजी रेजीडेण्ट न था। इसलिए वेल्सली ने एक दूसरा रास्ता इखत्यार किया। उसने करनल कालिन्स को दौलतराव के दरबार में इसलिए भेजा कि जिससे वह सींधिया के साथ अंगरेजों की मित्रता को पक्का और मजबूत बना दे।

अंगरेजी राजनीति मे मित्रता को पक्का और मजबूत बनाने का अर्थ कुछ दूसरा ही होता है और उस अर्थ की ट्रेनिंग पाने के बाद ही रेजीडेण्ट होने का अधिकारी होता था। इसलिए जो अंगरेज सींधिया दरबार मे भेजा गया, वह खूब जानता था कि मित्रता को मजबूत बनाने का अर्थ सींधिया दरबार और सींधिया राज्य में फूट और विद्रोह पैदा करना है। जिसके झमेले में पड़ कर दौलतराव सींधिया को बाहरी मामलों और झगड़ों मे पड़ने का मौका ही न रहेगा।

दौलतराव पर हमला करने की तैयारी

वेल्सली की कोई भी चाल जब दौलतराव सींधिया के सम्बन्ध मे सफल न हो सकी तो उसे बड़ा क्रोध मालूम हुआ। उसने इसी बीच में इस बात का भी निर्णय कर लिया कि टीपू को खतम करने के बाद दौलतराव सींधिया के साथ युद्ध करना है। इसलिए कि मराठा राज्यों में सब से जोरदार सींधिया ही था।

वेल्सली ने दौलतराव के खिलाफ जाल बिछाना आरम्भ कर दिया। उसकी पहली कोशिश यह थी कि सींधिया के विरुद्ध देशी नरेशों और नवाबों को भड़का कर फोड़ लिया जाय। इसी उद्देश्य से वेल्सली ने कनरल पामर को कुछ पत्र भेजे भी और वेल्सली ने कोल ब्रुक नाम के एक अंगरेज दूत को बरार के राज-दरबार में इसलिए भेजा कि वह वहाँ के राजा को टीपू और सींधिया के विरुद्ध भड़का कर तैयार करे।

वेल्सली ने ३ मार्च सन् १७९९ में कोल ब्रुक को एक पत्र भेजा और उस पत्र में लिखा :—

"राजा बरार के राज्य के इलाके कुछ ऐसे मौके पर हैं, जिससे बरार के राजा की सहायता हमारे लिए उस समय बड़ी कीमती साबित

होगी, जब दौलतराव सींधिया के खिलाफ हमारी तजवीज का काम शुरू हो जायगा।"

राजा बरार के साथ वेल्सली ने जो पेशबन्दी शुरू कर दी थी, उसका साफ-साफ मतलब यह था कि वह दौलतराव के सर्वनाश का सामान इकट्ठा कर रहा था। एक तरफ वह दूसरे नरेशों को दौलतराव के खिलाफ भड़का कर शत्रु बना रहा था और दूसरी ओर वह दौलतराव की मित्रता का प्रदर्शन भी कर रहा था।

इसी सिलसिले मे वेल्सली ने एक गुप्त पत्र हैदराबाद के अंगरेजी रेजीडेण्ट के पास भेजा और उसमें लिखा :—

"हैदराबाद दरबार को मध्यस्थ बनाकर बरार के राजा और कम्पनी के बीच एक सम्बन्ध कायम कर लेना बहुत जरूरी हो गया है। वह सम्बन्ध एक सन्धि के रूप में होना चाहिये और जिसका उपयोग टीपू अथवा सींधिया के विरुद्ध किसी समय किया जा सके।"

सींधिया के साथ साजिश

वेल्सली ने दौलतराव सींधिया के खिलाफ दूसरे राजाओं और नवाबों को ही तैयार नहीं किया, बल्कि सींधिया राज्य में दौलतराव की शक्ति को कमजोर बनाने में जितने उपाय काम कर सकते थे, उनको भी उसने शुरू कर दिया। अंगरेज लड़ने में उतने बहादुर न थे, जितने कि वे शत्रु को बहकाने और फोड़ देने में। इस प्रकार के कामों में सफल होने के लिए अंगरेजों को कितने ही उपाय मालूम थे। वे तरह-तरह के प्रलोभन और रिश्वतों का देना जानते थे। वे यह भी जानते थे कि किस आदमी से किस प्रकार की बात करने से अपना मतलब हल हो सकता है। इस प्रकार दौलतराव सींधिया के सरदारों सामन्तों, दरबार के जिम्मेदार आदमियो और दूसरे लोगों पर अंगरेजों का जादू चलने लगा।

वेलसली की कामयाबी

दौलतराव सींधिया के खिलाफ अंगरेजों की कूटनीति की सभी चालें शुरू हो गयी थीं। उसके विरुद्ध दूसरे नरेशों को भड़काया जा रहा था, उसके राज्य में विद्रोह पैदा कराये जा रहे थे और स्वयं

दौलतराव सींधिया के साथ मित्रता का इजहार करके, उसे धोखे में रखा जा रहा था।

दौलतराव को जब मालूम हुआ कि सींधिया राज्य की सीमा पर अंगरेजी फौजें जमा हो रही हैं तो उसे शंका होने लगी। उसे सहज ही इस बात का ख्याल हुआ कि अंगरेजों का आक्रमण मेरे राज्य पर होने वाला है। इस दशा में अपनी सेना के साथ उत्तरी भारत में पहुँचने के लिए वह पूना से रवाना हो गया।

वेल्सली का यही अभिप्राय था। अब उसे सींधिया का भय न रहा। इस बीच में वह टीपू के ऊपर जोरदार आक्रमण शुरू करवा देने के लिए तजवीजें करने लगा।

पेशवा के साथ पेशबन्दी

पूना से दौलतराव के हटाने की एक यह मंशा था कि वेल्सली बाजीराव पेशवा को अपने कब्जे में करना चाहता था और सींधिया की मौजूदगी में इसकी सम्भावना नहीं थी क्योंकि नाना फड़नवीस और दौलतराव दोनों एक हो रहे थे।

दौलतराव के हटते ही वेल्सली का जाल बाजीराव पर शुरू हो गया। उससे कहा गया कि टीपू और कम्पनी के बीच युद्ध की तैयारियाँ हो रहा हैं, इसलिए तुम कम्पनी के साथ सबसीडियरी सन्धि कर लो। क्योंकि यह सन्धि कम्पनी को और पेशवा-दरबार की मित्रता को स्थायी बनाती है।

नाना की सलाह से बाजीराव ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। लेकिन अंगरेजों का दबाव बराबर बढ़ता गया। पेशवा कमजोर तबीयत का आदमी था और अंगरेजों का दब्बू भी था। अंगरेजों की सहायता पर ही पेशवा बनाया गया था, उस समय नाना और कुछ दरबारी उसके बिलकुल विरोधी थे। ऐसी दशा में बाजीराव कब तक अंगरेजों से बहक सकता था, उसने उस सन्धि की बात को छोड़कर नाना के बिना पूछे टीपू के खिलाफ अंगरेजों की सहायता में अपनी सेना भेजना मन्जूर कर लिया।

टीपू के साथ कम्पनी से दूसरा युद्ध शुरू हो गया। उसमें फौजी सहायता देने के लिए बाजीराव ने वादा कर लिया था और अच्छी

खासी सेना भी तैयार कर दी गयी। लेकिन युद्ध में अंगरेजों की ओर से उसे बुलाया नहीं गया। इस पर इतिहासकारों ने विभिन्न आलोचनायें की हैं। लेकिन एक सीधी बात यह थी कि टीपू को जीतने के लिए अंगरेजों के पास फौजी ताकत कम न थी। इसके सिवा वेल्सली को अंदेशा था कि पेशवा की सहायता कहीं टीपू की तरफ न जाये। इसलिए इस प्रकार के वादों में बाजीराव पेशवा को बाँधकर अपने साथ कर लेना ही उसका फिलहाल काम था।

पेशवा दरबार के साथ मित्रता की कोशिश

वेल्सली की नजरों में बाजीराव पेशवा का वादा ही काफी न था। इसलिये पेशवा दरबार को अपने साथ करने और टीपू के विरुद्ध बना लेने के लिए उसने दूसरे उपाय भी सोचे। वेल्सली जानता था कि नाना कभी न चाहेगा कि पेशवा की फौज कम्पनी की सहायता करने के लिये टीपू के युद्ध में जावे। इसके सिवा, कहीं टीपू की ओर से पेशवा दरबार की सहायता की माँग न हो जाय, इसलिये एक खतरे की सम्भावना को खतम करने के लिए वेल्सली ने भी तजवीज की। उसने अपने रेजीडेण्ट करनल पामर को लिखा :—

"टीपू के साथ युद्ध में पेशवा-दरबार की फौजी सहायता का वादा मुझे पेशवा से मिल चुका है। इसका मैं पहले से भी विश्वास करता था। टीपू को पराजित करने के बाद जो इलाके कम्पनी को जीत में मिलेंगे उनका विभाजन मददगार नवाबों और राजाओं में किया जायगा और उस बँटवारे में पेशवा दरबार को भी हक मिलेगा। आप पेशवा और नाना को यह बात भली भाँति समझा दें।"

वेल्सली की नीति में परिवर्तन

मैसूर के युद्ध में टीपू मारा गया। मैसूर के राज्य पर अंगरेजों का कब्जा हो गया। इसके बाद ही वेल्सली ने अपने पूना के रेजीडेण्ट के नाम जो पत्र लिखा, उसमें उसने अपनी नीति बिल्कुल बदल दी और लिखा :—

"मैसूर राज्य को जीतने के बाद जीते हुए इलाकों का बटवारा करने के पहले यह जरुरी है कि पेशवा के साथ कम्पनी की सबसीडियरी

सन्धि हो जाय। इसलिए तुम उसकी बातें करके मुझे जाहिर करो कि पेशवा इसके लिए तैयार है या नहीं।"

इस सन्धि का खुलासा मतलब यह था कि पूना-दरबार अपनी सेना को खतम कर दे और अपने यहाँ कम्पनी की फौज रखे। इस तरह पेशवा को अपने रास्ते पर लाने के लिए कम्पनी का रास्ता खुल गया।

पेशवा दरबार का प्रधान मन्त्री नाना इन चालों को खूब समझता था। उसकी सलाह से अंगरेजों की इस सन्धि को मानने से इनकार कर दिया गया और कहा गया कि जिन रियासतों से जैसे निजाम और मैसूर से पेशवा दरबार को जो मालगुजारी मिला करती थी कम्पनी पेशवा को अदा करे। दूसरी बात यह कि टीपू के साथ युद्ध करने के पहले कम्पनी की ओर से कहा गया था कि जो इलाके टीपू को जीतने के बाद कम्पनी के अधिकार में आवेंगे उनके बटवारे में पेशवा को भी उसका हक चाहता है।

नाना को मालूम हो गया कि कम्पनी से जो दरबार की माँगे माँगी गयी थीं वेल्सली उन पर किसी प्रकार तैयार नहीं है उनको स्वीकार करने के बजाय पेशवा दरबार को नष्ट करने की उसकी चालें बराबर जारी हैं। इस पर उसने निजाम और अंगरेजों के साथ युद्ध करने के लिए मराठा नरेशों को तैयार किया।

अंगरेजों का मुकाबिला करने के लिए जिस समय नाना मराठा राज्यों मे सगठन कर रहा था उनमे आपस में ही विद्रोह पैदा हो गया। क्योंकि अंगरेजों की ओर से पहले ही ऐसे कारण पैदा कर दिये गये थे। इसलिए नाना को उसमें असफल हो जाना पड़ा।

मैसूर राज्य को जीतने के बाद वेल्सली ने पाँच अंगरेजों का एक कमीशन मुकर्रर किया था जो मैसूर पर अपनी हुकूमत कायम करे। लेकिन उस कमीशन का यह भी काम था कि जो पड़ोसी नरेश बाकी रह गये हैं उन्हें भी कम्पनी के शासन मे लाने की कोशिश की जाय। मैसूर की सीमा पेशवा राज्य की दक्षिणी सीमा से मिली हुई थी इसलिए पेशवा-दरबार को बड़ी सावधानी से उस समय काम लेना था।

नाना फड़नवीस की मृत्यु

पेशवा दरबार के विरुद्ध जिन मराठा रियासतों ने विद्रोह कर दिया था उनको काबू करने के लिए नाना ने अपनी एक फौज के साथ परशुराम भाऊ को भेजा। दुर्भाग्य से इसी मौके पर नाना की अचानक मृत्यु हो गयी।

पूना दरबार में नाना एक ऐसा दूरदर्शी और राजनीतिज्ञ था जो अंगरेजों की चालों को खूब समझता था। उसके मर जाने से पेशवा दरबार अकर्मण्य हो गया और अंगरेजों को अपना साम्राज्य विस्तार करने के लिए रास्ता मिल गया।

बाजीराव पेशवा पर दबाव

नाना के मर जाने पर बाजीराव पेशवा का संरक्षण खतम हो गया। इसलिए पेशवा को अपने कब्जे में लाने के लिए अंगरेजों के दांव-पेंच पेशवा के साथ फिर जारी हो गये।

लेकिन अंगरेजों को इसमें कामयाबी न हुई। कारण यह था कि नाना मर चुका था लेकिन अभी तक दौलतराव का प्रभाव पूना पेशवा पर बहुत था। यद्यपि दौलतराव पूना में हाजिर न था लेकिन उसका प्रभाव उस समय भी काम कर रहा था।

इसी मौके पर अंगरेजों की एक दूसरी चाल में कामयाबी हो गयी। टीपू के खतम हो जाने के बाद भी उसका एक स्वाभिमानी सरदार मलिक जहान खाँ अपनी एक सेना के साथ अंगरेजों को इधर-उधर परेशान किये था। उसको दबाने के लिए अंगरेजी एक बड़ी सेना रवाना हुई और उसके साथ ही पेशवा बाजीराव को लिखा गया कि मलिक जहान खाँ के उपद्रव रोकने के लिए यह सेना अंगरेजों की जा रही है। इसको पूना से निकल जाने के लिए इजाजत दे दीजिए।

बाजीराव पेशवा ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। उसकी समझ में न आया कि अंगरेजों की इस चाल में और क्या रहस्य हो सकता है। असल में इस बहाने अंगरेजों की सेना पूना दरबार के विरुद्ध भेजी गयी थी। इस सेना ने पूना राज्य से गुजर कर पेशवा के कितने ही मौके और काम के इलाकों पर अपना कब्जा कर लिया।

इन्हीं दिनों में अंगरेजों की एक दूसरी नीति भी काम करती रही। बाजीराव से दौलतराव की बहुत-सी शिकायतें की गयी और उसको किसी बहाने से कलकत्ते बुलाने की कोशिश की गयी। निश्चय यह हुआ था कि बाजीराव को किसी बहाने कलकत्ते बुलाकर सबसीडियरी सन्धि पर उससे दस्तखत करा लिये जाँय।

इसी आशय पर वेल्सली ने मद्रास के गवर्नर को एक पत्र लिखा। वह पत्र लम्बा था, उसमें अनेक दूसरी बातों के साथ यह भी लिखा गया :—

"××पूना में गयी हुई अंगरेजी फौज को आप अधिकार दे दें कि बाजीराव पेशवा के पूना छोड़ते ही कम्पनी की सेना कृष्णा नदी के किनारे के सभी इलाकों पर कब्जा कर ले और जो-जो किले अपने लिए जरूरी मालूम हों, उन पर अधिकार कर ले।"

वेल्सली के इस पत्र से साफ मालूम होता है कि वह धोखा देकर बसीडियरी सन्धि पर बाजीराव पेशवा के दस्तखत कराना चाहता था और उसके बाद वह पूना पर चढ़ाई करने का मन्सूबा पक्का कर चुका था।

करनल पामर ने पूना में इन बातों के लिए काफी कोशिश की लेकिन वह सफल न हुआ। लेकिन पूना में प्रवेश करके अंगरेजी सेना को पहला लाभ तो यह हुआ कि उसे बहुत-सी बातों की जानकारी हो गयी। साथ ही मलिक जहान खाँ को खतम कर देने का उसे मौका मिल गया।

अंगरेजों के लगातार कोशिश करने पर बाजीराव ने सबसीडियरी सन्धि को स्वीकार कर लिया और उसके खर्च में २५ लाख रुपये सालाना देना भी मन्जूर कर लिया। इतना मतभेद जरूर रह गया कि पेशवा चाहता था कि वह अंगरेजी फौज पूना में न रहे। जरूरत पड़ने पर उसको बुला लिया जायगा।

वेल्सली की पूरी बात मानने से पेशवा के इनकार करने का कारण भीतरी यह था कि वह निजाम का उदाहरण अभी हाल ही में अपनी आँखों से देख चुका था वह जानता था कि अंगरेजों ने इसी तरह कितनी रियासतों और राज्यों की स्वाधीनता नष्ट की है। इसलिए

उस सन्धि को मन्जूर करने के बाद भी वह कम्पनी की सेना को बाहर ही रखना चाहता था।

पेशवा के आग्रह पर वेल्सली ने किसी हद तक मन्जूर कर लेना चाहा, उसने अपना एक प्रसिद्ध दूत करनल क्लेज को पूना के लिये रवाना किया। उसके वहाँ पहुँच जाने पर वेल्सली ने एक गुप्त पत्र उसके पास भेजा :—

"हमारी इन नयी सन्धि को स्वीकार करने पर भी पेशवा ने जो एक शर्त लगायी है, यदि हम उसे मान लेते हैं तो भी वह अनेक अंशों में कम्पनी के अधिकार में आ जाता है। × × × एक बड़ा लाभ यह होगा कि इस सन्धि के कारण पेशवा-दरबार मराठा मण्डल से अलग कर दिया जायगा और इस दशा में हमारा अधिक लाभ होगा।

एक बात और भी है, पेशवा के इतना झुक जाने का भी नतीजा यह होगा कि मराठों में फूट पैदा हो जायगी और उनको अलग-अलग हम रास्ते मे ला सकेंगे।"

दौलतराव का विरोध

इधर पूना में बाजीराव के सामने सबसीडियरी सन्धि का प्रस्ताव किया गया था और उधर दौलतराव सींधिया के सामने भी इसी प्रकार का करनल कालिन्स ने भी किया था। लेकिन सींधिया ने उसका खुलकर बिरोध किया और कहा कि न तो मैं इसे स्वीकार करूँगा और न पेशवा-दरबार ही ऐसा कर सकेगा और यदि वह करेगा तो मराठा मण्डल के एक सभासद की हैसियत से उसमें दखल देने का मुझे अधिकार है।

सींधिया के तैयार न होने पर करनल कालिन्स ने उसकी सूचना वेल्सली के पास भेज दी।

दौलतराव ने उस सन्धि को मानने से इनकार तो कर दिया, लेकिन उसे इस बात की आशंका होने लगी कि कहीं बाजीराव पेशवा अंग-रेजों के जाल में न फँस जाय इसलिए उसके बाद वह पूना चला गया।

दौलतराव पर आक्रमण

वेल्सली को जब मालूम हुआ कि दौलतराव ने उस सन्धि को मानने से इनकार कर दिया है तो उसने जसवंतराव होलकर और बिट्ठो जी होलकर को मिलाकर दौलतराव के खिलाफ खड़ा कर दिया। राजा बरार को भी सींधिया के विरोध में तैयार किया जा रहा था। इतना ही नहीं दौलतराव सींधिया के साथ पारिवारिक विद्रोह करा देने में भी अंगरेजों को उस बीच मे बहुत-कुछ सफलता मिली। अंगरेजों की मदद के विश्वास पर जसवंतराव होलकर ने दौलतराव सींधिया पर हमला कर दिया।

दौलतराव अभी पूना मे पहुँचा ही था कि उसे होलकर के आक्रमण की खबर मिली। इसलिए पूना से चलकर सींधिया मालवा की तरफ पहुँचा।

होलकर की सेना के साथ सींधिया ने मुकाबिला किया और कई बार डटकर लड़ाई दोनों मे हुई। सींधिया ने होलकर के साथ सुलह करने की कोशिश की। होलकर ने उसे मन्जूर भी कर लिया। लेकिन अंगरेजों के इशारे पर उसे इनकार कर देना पड़ा।

पूना मे विद्रोह और युद्ध

दक्षिण में होलकर और सींधिया से युद्ध हो ही रहा था, इधर पूना में भी अंगरेजों ने विट्ठोजी होलकर का युद्ध शुरू करा दिया। पेशवा ने उसका मुकाबिला करने के लिए अपनी फौज भेजी। उस लड़ाई में बिट्ठोजी मारा गया और पेशवा की जीत हुई।

बिट्ठोजी के मारे जाने की खबर पाते ही जसवन्तराव होलकर अपनी सेना के साथ पूना की तरफ चला। बिट्ठोजी की पराजय सुनकर उसकी मदद के लिए अंगरेजों की एक फौज भी पूना के लिए रवाना हो गयी। बाजीराव पेशवा इसकी खबर पाते ही घबरा उठा। उसने अंगरेजी रेजीडेण्ट को लिखकर भेजा कि मैं सबसीडियरी सन्धि की पूरी शर्तों को मानने के लिए तैयार हूँ।

पेशवा का यह पत्र पाकर रेजीडेण्ट ने मौके से लाभ उठाया और उस सन्धि की तजवीज पर बाजीराव पेशवा से दस्तखत करा लिया।

जसवन्तराव होलकर की फौज पूना पहुँच चुकी थी। उसके साथ

पेशवा और दौलतराव सींधिया की फौजों ने युद्ध किया। सींधिया की सेना के सामने होलकर की फौज पराजित होती हुई दिखाई पड़ी। लेकिन अंगरेजी फौज के विश्वासघात करने पर होलकर की सेना को युद्ध में मदद मिली अन्त में पेशवा को पराजित हो जाना पड़ा और होलकर की विजय हुई।

पूना से बाजीराव का भागना

सबसीडियरी सन्धि की शर्तों को मानकर और दस्तखत कर देने के बाद बाजीराव पेशवा ने विश्वास किया था कि अंगरेजी सेना पूना के पक्ष में लड़ेगी। लेकिन बिलकुल उलटा हुआ। अंगरेजी सेना ने होलकर की सहायता की। यही कारण था कि सींधिया की फौजों को पराजित होना पड़ा।

बाजीराव ने निराश होकर जसवन्तराव होलकर से सुलह कर लेने का निश्चय किया लेकिन उसके ऐसा करने मे अंगरेजों का लाभ न था इसलिए बाजीराव पेशवा की कोशिश बेकार गयी, पूना में होलकर और अंगरेजी सेना के उपद्रव बढ़ते हुए देखकर बाजीराव पेशवा पूना छोड़कर भाग गया।

इसके बाद कम्पनी के साथ बाजीराव पेशवा की एक नयी सन्धि हुई और उस सन्धि में अंगरेजों ने जिस प्रकार की शर्तें पेश की, बाजीराव को अपनी असहाय अवस्था में स्वीकार करनी पड़ी। यह सन्धि बसईं के मुकाम पर हुई थी। इस सन्धि के कारण मराठा मण्डल की संगठित शक्ति को बहुत धक्का पहुँचा और पूना-दरबार अंगरेजों के अधिपत्य में आ गया।

बाईसवाँ परिच्छेद

पेशवा के पद पर फिर बाजीराव

अंगरेजों का उद्देश्य

उन दिनों मे भारत के अंगरेजों का उद्देश्य कब और क्या अर्थ रखता था, इसका समझना आसान न था। बाजीराव को पेशवा होने में जो राजनीतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई, उनके कारण उसके पेशवा होने की कोई आशा न थी। लेकिन अंगरेजों के पक्ष-समर्थन के कारण उसे पेशवा का पद प्राप्त हुआ था। उसके बाद वही अंगरेज बाजीराव को जलील करने पर उतारू हुए और पेशवा का आसन छोड़कर उसे पूना से भागना पड़ा।

आज फिर उन्हीं अंगरेजों का उद्देश्य साफ यह था कि बाजीराव पेशवा को ही फिर पूना की गद्दी पर बिठाया जाय। एक ही आदमी के साथ अंगरेजों के तीन उद्देश्य देखने को मिले और उनके अलग-अलग उद्देश्य थे।

पूना से बाजीराव के भागने पर बसईं में उसके साथ कम्पनी की नयी सन्धि हुई। जो अंगरेज उसके पूना से भगाने के कारण थे, वही उसके फिर पूना लाने के कारण बने। उन अंगरेजों के इस रहस्य को समझना एक असाधारण काम था।

बसईं में बाजीराव के साथ नयीं सन्धि हो जाने पर अंगरेजों ने उसे फिर पेशवा बनाने का निश्चय किया। इसमें भी रहस्य था। वे नाम के लिए बाजीराव को पेशवा बनाना चाहते थे किन्तु पेशवा राज्य पर अंगरेजों का शासन चाहते थे। वे जानते थे कि इससे अच्छा सौदा किसी दूसरे से हो सकना नामुमकिन है।

पूना दर बार में कोई भी आदमी ऐसा न था जो चाहता हो कि बसईं-सन्धि की शर्तों का बोझ लादे हुए बाजीराव पूना में आकर फिर गद्दी पर बैठे और पेशवा हो। इतना ही नहीं, बाजीराव की निर्ब-

लता के कारण मराठा-मण्डल को एक असह्य धक्का पहुँचा। उसकी कायरता और अयोग्यता को नाना फड़नवीस उस समय भी जानता था, जब उसको अंगरेजों ने पूना-दरबार का पेशवा बनाना चाहा था। इस प्रकार के अयोग्य पेशवा के होने में ही अंगरेजों का लाभ भी था। अन्त में वही हुआ भी।

अंगरेज वास्तव में न तो होलकर के मित्र थे और न बाजीराव के। वे दोनों को लड़ाकर मराठों को निर्बल बनाना और अपना मतलब सिद्ध करना यही चाहते थे और यही उन्होंने किया भी।

वेल्सली अपनी तजबीज के अनुसार मराठा-मण्डल को मिटाने की कोशिश में था। पेशवा दरबार उसका एक अंग था, इसलिए वह इस अङ्ग को इतना तोड़-मरोड़कर निकम्मा बना देना चाहता था कि वह किसी काम का न रह जाय।

बाजीराव के भाग जाने पर अंगरेजों ने अस्थायी रूप से अमृतराव को पेशवा बना दिया था और उसके बाद बाजीराव के साथ सब-सीडियरी सन्धि की विधिवत स्थापना का कार्य पूना में होता रहा।

पूना के आस-पास अंगरेजी सेना

पूना-दरबार का कोई मिट्टी का देवता होना चाहिए, इस तजवीज के साथ अंगरेज बाजीराव को फिर पेशवा तो बनाना ही चाहते थे, इसलिए कि उससे निकम्मा और अयोग्य दूसरा कोई नजर न आता था। लेकिन अंगरेजों के इस कार्य में एक बाधा भी थी। मराठा-मण्डल चुपचाप अंगरेजों का यह खेल देख रहा था, लेकिन पूना के आस-पास की छोटी-छोटी रियासतों ने पहले ही अंगरेजों के भड़काने से पूना के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था और इस प्रकार के विद्रोह के कारण ही बाजीराव की पराजय में सहायता मिली थी।

वे छोटी रियासतें आज भी विद्रोही के रूप में थीं। अंगरेजों ने ही किसी समय उनको उभार कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया था। लेकिन अब फिर बाजीराव को पेशवा बनाने में इस बात की जरूरत थी कि कोई छोटी या बड़ी रियासत किसी प्रकार का विद्रोह न करे।

इस अभिप्राय से ही अंगरेजों की ओर से कई सेनायें पूना की ओर आयीं, वे सभी अंगरेजी सेनापतियों के हाथ में थी और वे पूना

के आस-पास इस रूप में अपना प्रदर्शन करती रहीं जिससे कोई जागीरदार या रियासत फिर बाजीराव को पेशवा बनाने के कार्य में किसी प्रकार की गड़बड़ न करे।

बाजीराव अब भी बसई में मौजूद था। सबसीडियरी सन्धि की लिखा-पढ़ी का काम वेल्सली की शर्तों के अनुसार समाप्त हो चुका था।

पूना-दरबार में सभी प्रकार की तैयारी हो चुकी थी। वेल्सली की आज्ञानुसार पेशवा-राज्य में रहने वाली सबसीडियरी सेना ने पूना में प्रवेश किया और २७ अप्रैल सन् १८०२ को बाजीराव फिर पेशवा की गद्दी पर बिठा दिया गया और उसी समय उसके पेशवा होने के कुछ अधिकारों का आदर किया गया।

———

तेईसवाँ परिच्छेद

द्वितीय मराठा युद्ध की तैयारियाँ

बसईं सन्धि का प्रभाव

जसवन्तराव होलकर से पराजित होने पर बाजीराव के पूना से भागने में बहुत-कुछ हाथ पूना के अंगरेजी रेजीडेण्ट का था। बाजीराव का हृदय निर्बल और कायर भी था। वह भागकर बसईं पहुँचा।

उस समय बाजीराव का कोई सहायक न था और न कोई उसको अच्छी सलाह देने वाला ही उसके पास था। कायर स्वभाव होने के कारण उसकी समझ में जो कुछ आया उसने किया। अंगरेजों के जाल में वह अच्छी तरह फँस चुका था। अंगरेज उसे मिटाना नहीं चाहते थे, उसे केवल मिट्टी का देवता बनाना चाहते थे।

बसईं में कम्पनी के प्रस्ताव उसके सामने आये। उसकी अपनी कोई शक्ति नहीं रह गयी थी। अब वह या तो प्रस्ताव को स्वीकार करता अथवा पेशवा होने का प्रलोभन ही अपने दिल से उड़ा देता। उसने किसी भी रूप में पेशवा बने रहना ही अच्छा समझा। इसलिए सभी शर्तें मानकर उसने सबसीडियरी सन्धि के कागज पर दस्तखत कर दिये।

बाजीराव, पेशवा हो गया। पेशवा राज्य की गद्दी भी उसे मिल गयी। लेकिन अब उसे कोई प्रसन्नता न रह गयी थी। वह दिन-पर-दिन अपने आपको सन्धि की शर्तों के भीतर एक कैदी अनुभव करने लगा।

मराठों की शक्तियाँ

मराठा राजाओं के संगठन से मराठा-मण्डल बना था। उसके प्रमुख सभासद् पाँच मराठा राज्य थे। मण्डल में यह निश्चय हो चुका

था कि मण्डल के किसी एक सदस्य पर आपत्ति आने पर उसके बाकी सभासद उसकी मदद करेंगे।

मण्डल में यह भी निश्चित था कि उसके निर्णय के बिना कोई एक सदस्य, किसी बाहरी शक्ति के साथ सन्धि न कर सकेगा। उन्हीं दिनों में दौलतराव सींधिया और पेशवा में घनिष्ट मैत्री कायम हुई थी।

इन परिस्थितियों में बसईं की सन्धि का प्रभाव मराठा मण्डल पर अधिक घातक पड़ा। मण्डल की संगठित शक्तियों से बाजीराव ही केवल अलग नहीं हुआ। बल्कि मण्डल जिन रस्सियों से बंधा था, उनमें एक के टूट जाने से बाकी रस्सियाँ भी अपने आप ढीली पड़ गयीं।

बसईं की सन्धि तो हो गयी थी, लेकिन उस सन्धि पर सींधिया और भोंसले के दस्तखतों का न होना एक राजनीतिक भूल थी। इस बात को बाजीराव भी समझता था और वेल्सली भी जानता था। लेकिन मराठों का संगठन अब निर्बल होता जाता था। इसलिए उसमें अपनी ताकत भी कोई ऐसी न रह गयी थी, जिससे मराठा राज्यों की रक्षा हो सकती।

भारत में गवर्नर जनरल वेल्सली की कौंसिल का बारलो एक प्रभावशाली सदस्य था। कम्पनी के डाइरेक्टरों मे निश्चय हो गया था कि वेल्सली के बाद भारतीय अंगरेजी राज्य का बारलो को गवर्नर-जनरल बनाया जाय। बसईं सन्धि के प्रभाव के सम्बन्ध में बारलो ने अपने एक पत्र मे लिखा था :—

"× × × अंगरेजों की ताकत के सहारे बाजीराव को फिर पेशवा होने का जो मौका मिला है, उसका यह नतीजा हुआ है कि भारत की दूसरी रियासतें भी कम्पनी की सत्ता के सामने बहुत निर्बल हो गयी हैं। × × × पेशवा के साथ कम्पनी की जो सन्धि हुई है, उससे सींधिया और बरार के हाथ में आ जाने का बिल्कुल निश्चय है।"

सींधिया और भोंसले पर निशाना

बसईं-सन्धि के बाद बाजीराव पेशवा तो हो गया था, लेकिन उसके सभी अधिकार अंगरेजों के हाथों में आ गये थे। उसका अब न

तो पेशवा की हैसियत से कोई अधिकार रह गया था और न व्यक्तिगत ।

इस नयी सन्धि के कारण बाजीराव पेशवा मराठा-मण्डल के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रख सकता था। इस प्रकार वेल्सली ने उसको बिल्कुल निकम्मा बनाकर केवल नाम के लिए पेशवा कहलाने का मौका दिया था।

पेशवा की इस नयी सन्धि पर सींधिया और भोंसले के दस्तखत न होने का ख्याल वेल्सली को जरूर था। इसलिए उसको इन दोनों से सतर्क रहने की जरूरत थी। इस हालत में वेल्सली ने अपनी कूटनीति से काम लिया और उन दोनों को उसने जाहिर किया कि पेशवा की इस नयी सन्धि का कोई भी प्रभाव सींधिया और भोंसले पर न पड़ेगा। इसके साथ ही उसकी दूसरी चाल यह थी कि वह मराठा-राज्यों की सीमा पर अपनी फौजें जमा करने लगा। इसका साफ-साफ मतलब यह था कि वह उन दोनों के विरुद्ध युद्ध की तैयारी कर रहा था।

इन दिनों में वेल्सली ने जो पत्र इंगलैण्ड भेजे थे और उन पत्रों में बाजीराव पेशवा की नयी सन्धि तथा मराठा-मण्डल की निर्बलता जो उसने लिखी थी, उनसे इंगलैण्ड में बड़ी प्रसन्नता मनायी गयी और भविष्य में कम्पनी की कामयाबी के लिए जनरल लेक को कम्पनी की फौजों का कमाण्डर-इन-चीफ बनाकर हिन्दुस्तान भेजा।

यहाँ पर जनरल लेक के परिचय में इतना ही लिखना काफी होगा कि आयरलैण्ड पर अपना कब्जा करने के लिए अंगरेजी सरकार को जनरल लेक की बहादुरी और नीति पर कामयाबी हुई थी।

जनरल लेक के नाम गुप्त पत्र

गवर्नर-जनरल वेल्सली ने उत्तरी भारत में आये हुए जनरल लेक के नाम एक अत्यन्त गुप्त और आवश्यक पत्र भेजा। उसमें कुछ बाते इस प्रकार की थीं :—

"× × ×मराठा-राज्यों की बढ़ती हुई निर्बलता से जितना लाभ उठाया जा सकता है, मैं उसके लिए पूरी कोशिश करूँगा।× × मराठा राजाओं में सब से अधिक खतरा कम्पनी को सींधिया का हो

सकता है। इसलिए उसकी शक्ति को निर्बल बनाने के लिए यही उपाय है कि अवध का जो इलाका अभी हाल में ही कम्पनी को मिला है, वहाँ से सींधिया के इलाकों पर आक्रमण किया जाय।

××हमें इस बात को किसी समय न भूलना चाहिए कि कम्पनी को सींधिया के साथ एक बड़ा युद्ध करना है। उसका नाश कर देने के बाद कम्पनी के खतरे एक प्रकार से खतम हो जाते हैं।

××सींधिया के सिवा मराठों की कोई दूसरी बड़ी ताकत नहीं है। फिर भी जो कुछ वे हैं, उनको काबू में लाने के लिए मैं एक बहुत अच्छी तजवीज से काम लेने जा रहा हूँ।"

मराठा राजाओं की एकता

वेल्सली तथा दूसरे अंगरेजों के पत्रों से यह बात साफ जाहिर होती थी कि बाजीराव को शर्तों और बन्धनों में जकड़ देने पर भी अंगरेज इस बात से अधिक चिंतित थे कि सींधिया उसका विरोधी हो सकता है इसलिए वेल्सली सींधिया के खिलाफ अपने सारे दाँव-पेंच काम में ला रहा था।

वेल्सली की इस समय जो नीति चल रही थी, उससे मराठे राजा भी अपरिचित न थे। इसलिए उनमें भी सजग रहने के लक्षण दिखायी दे रहे थे। दौलतराव सींधिया मराठों में उस समय अधिक समझदार और दूरन्देश होने के साथ-साथ, वीर तथा पराक्रमी भी था। वह देश की वर्तमान राजनीतिक अवस्था का अध्ययन कर रहा था।

दौलतराव ने सब से पहले चाहा यह था कि अंगरेजों से अपनी रक्षा करने के लिए मराठा राजाओं को संगठित हो कर रहना चाहिए। इसके लिए उसने कोशिश भी शुरू कर दी थी।

बाजीराव पेशवा ने अपनी मजबूरी मे वेल्सली की शर्तों को स्वीकार कर लिया था और सन्धि-पत्र पर उसने दस्तखत भी कर दिये थे, लेकिन उनको अमल में अभी तक न ला रहा था। वह पूना में दौलतराव सींधिया और बरार के राजा राघोबा जी भोंसले को बुलाकर एक बार निर्णय करना चाहता था कि ऐसे मौके पर अब क्या करना

चाहिए। इसके लिए उसने सींधिया और भोंसले को पत्र लिख कर पूना बुलाया भी।

पूना में सींधिया और भोंसले

पूना के अंगरेजी रेजीडेण्ट ने वेल्सली को इस बात की खबर दी कि बाजीराव पेशवा ने अभी तक सन्धि के अनुसार कोई अमली काम नहीं किया और उसने पूना में दौलतराव सींधिया तथा राघोबा जी भोंसले को आने के लिए पत्र भेजे हैं।

वेल्सली को अब इस बात के समझने में देर न लगी कि पूना मे कोई अप्रिय काम होने जा रहा है। इस लिए वह सोचने लगा कि कोई ऐसा उपाय होना चाहिए, जिससे पूना में सींधिया और भोंसले का आना न हो सके।

वेल्सली ने सब से पहले पूना के रेजीडेण्ट को यह लिखा कि तुम बाजीराव को समझाओ और इस बात पर राजी करो कि वह सींधिया और भोंसले का पूना में आना रोक दे। अगर इसके लिए कोई दूसरा उपाय न हो तो पेशवा सीधे उनको पूना में न आने के लिए पत्र लिखे।

बाजीराव पेशवा के साथ कम्पनी की जो नयी सन्धि हुई, उससे मराठों को उत्तेजना मिली। सन्धि से यह साफ मालूम होता था कि वेल्सली ने न केवल पेशवा राज्य के हड़पने का प्रयास किया है बल्कि समूचे मराठा मण्डल को ही खतम कर देने का जाल फैलाया गया है। इसीलिए उस समय मराठा राजाओं में जो जागरण के लक्षण दिखायी पड़ने लगे थे, उनसे वेल्सली की चिन्ता बढ़ गयी थी।

कम्पनी के डाइरेक्टरों के पूछने पर वेल्सली ने उनको उत्तर देते हुए लिखा :—

"जहाँ तक मैं समझता हूँ सींधिया का उद्देश्य कम्पनी के साथ युद्ध छेड़ने का नहीं हो सकता। अधिक से अधिक वह इतना ही कर सकता है कि अपनी रक्षा के लिए वह मराठे राजाओं का संगठन करने के लिए कोशिश करे।"

कम्पनी के डाइरेक्टरों को इसी प्रकार का विश्वास दिलाते हुए पूना से कनरल क्लोज ने भी एक पत्र भेजा था। उसमे लिखा था :—

"मराठों का संगठन किसी हालत में अंगरेजों के साथ युद्ध करने के लिए नहीं हो सकता ।"

वेल्सली के धमकी के पत्र

सींधिया और भोंसले के साथ, युद्ध करने के लिए वेल्सली अपनी तैयारी जोरों के साथ कर रहा था। फिर भी सींधिया से उसके चिन्तित होने का कारण यह नहीं था कि वह युद्ध को बचाना चाहता था। उसका अर्थ यह था कि आज तक भारत मे कम्पनी ने जितने युद्ध किये थे, सभी देशी राजाओं और नवाबों को धोखे और विश्वास में रखकर किये थे। इन अंगरेजों ने उन्हें आपस में लड़ाकर और उन्हीं की ताकतों से, उनको जीत कर विजय का श्रेय और राज्य का लाभ स्वयं प्राप्त किया था। पूरा इतिहास इसी बात का गवाह है।

इस समय सींधिया और भोंसले के साथ जो अंगरेजों का युद्ध होने जाने जा रहा था, उसमें अभी तक न तो वे सींधिया और भोंसले के सरदारों, सामन्तों और युद्ध के सेनापतियों को मिला पाये थे और न मराठों को ही एक दूसरे के प्रति विद्रोह करने के लिए तैयार कर सके थे। यद्यपि इस प्रकार की उनकी साजिश जोरों के साथ अपना काम कर रही थी। वेल्सली के सामने इतनी ही बात थी।

पूना में सींधिया और भोंसले का पहुँचना अंगरेजों को बरदाश्त न था। इसलिए बाजीराव को तो मजबूर किया ही जाता था कि वह हर तरीके से पूना में उनका आना रोके। इसके सिवा सींधिया और भोंसले को पत्र लिखकर विवश किया गया कि तुम्हारा पूना पहुँचना ठीक नहीं है।

एक ओर अंगरेज मराठा राजाओं का आपस में मिलना रोक रहे थे, उनको मित्रता का विश्वास दिला रहे थे, उनके राज्यों में विद्रोह कराने की कोशशें कर रहे थे और पूना में बाजीराव के साथ सींधिया और भोंसले का मिलना रोक रहे थे। दूसरी ओर मराठा राजाओं के साथ युद्ध की तैयारियाँ कर रहे थे। लड़ाई को शुरू करने में केवल मौसिम की अनुकूलता का उनको इन्तजार करना था और कोई देर न थी।

अंगरेजों की तैयारी जितनी ही पूरी होती जाती थी, वेल्सली का

रुख उतना ही बदलता जाता था। अभी कल तक जिस दौलतराव सींधिया की खुशामद कर रहे थे, आज उसी को धमकी देते हुए गवर्नर जनरल वेल्सली ने लिखा :—"शान्ति को कायम रखने के लिए यह जरूरी है कि आप अपनी राजधानी छोड़कर कहीं बाहर न जावें।"

इसी प्रकार का धमकी से भरा हुआ एक पत्र बरार के राजा राघो जी भोंसले को, जब कि वह अपनी राजधानी से निकल चुका था, लिख कर भेजा :—"आप लौटकर तुरन्त नागपुर चले जाइए। यदि आपने पूना जाने के लिए आगे कदम बढ़ाये तो आपके राज्य पर हमला हो जाने की जिम्मेदारी आपके ऊपर होगी।"

वेल्सली ने इस प्रकार धमकी के पत्र रवाना किये और अपने यहाँ आवश्यकतानुसार फौजी तैयारी के हुकुम भी निकाल दिये। इस बीच मे मराठा राजाओं की सीमा पर अंगरेजी फौजें पहुँच चुकी थी।

इसके बाद ३ जून सन् १८०३ को वेल्स्ली ने करनल कालिन्स को लिखा :—

"दौलतराव सींधिया को साफ-साफ बता देने की जरूरत है कि वह उसी हालत में पूना जा सकता है, जब कि उसको बुलाने के लिए बाजीराव का पत्र उसे मिला हो और उस पत्र में सींधिया को बुलाने के लिए बाजीराव ने मेरी इजाजत ले ली हो। इसके खिलाफ यदि सींधिया ने पूना की जमीन पर कदम रखा तो उसको युद्ध के लिए तैयार होना चाहिये।"

दौलतराव सींधिया पर इसी बीच झूठे दोषारोपण भी किये गये और कहा गया कि सींधिया - पेशवा और निजाम के इलाकों पर हमला करने की तैयारी कर रहा है।

इस दोषारोपण के बाद दौलतराव सींधिया के साथ करनल कालिन्स का मुलाकात हुई। उसमें जो बातचीत हुई; उसका उल्लेख करते हुए कालिन्स ने वेल्सली को लिखा :—

१—महाराज सींधिया का इरादा पेशवा और निजाम के इलाकों पर हमला करने का नहीं है।

२—मेरे पूछने पर कि राजा बरार और होलकर के साथ जो पत्र-व्यवहार चल रहा है, उसका उद्देश्य क्या बसईं की सन्धि का विरोध करना है। इसका उत्तर देते हुए महाराज सींधिया ने कहा, बरार के

राजा से इसके सम्बन्ध में जब तक मैं कोई बात नहीं कर लेता, उस समय तक मैं इस प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता।

३—मेरे एक धमकी से भरे हुए प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज सींधिया ने कहा कि जब तक मैं राजा बरार से बातचीत नहीं कर लेता, उस समय तक मैं यह भी नहीं कह सकता कि वर्तमान पैदा होने वाला संघर्ष शान्ति से निपटेगा अथवा युद्ध से।

सींधिया और भोसले को चकमा

दौलतराव सींधिया और राघोबा जी भोंसले के साथ, करनल कालिन्स की बातें हुई। कालिन्स ने दोनों को समझाया कि आप दोनों को पूना जाना इसलिए रोक देना चाहिए कि बाजीराव पेशवा आप लोगों का जाना पसन्द नहीं करता। दूसरा कारण यह है कि अंगरेजी सरकार आप दोनों के साथ मित्रता चाहती है। इसलिये पूना जाने का मतलब यह होगा कि मित्रता का सम्बन्ध टूट जायगा और बीच में संघर्ष का पैदा हो जाना स्वाभाविक है।

करनल कालिन्स ने कहा—बाजीराव पेशवा के विरोध करने पर मैंने अपने ऊपर यह भार ले लिया है और आपको रोकने का मेरा इतना ही मतलब है।

आखीर मे कालिन्स ने अपना रुख बदलते हुए कहा—पूना जाने के लिए आपका हठ करना मुनासिब न होगा। सब से बुरी बात यह होगी कि कम्पनी की फौजें मराठा राजाओं की सीमा पर पड़ी है।

नतीजा यह हुआ कि दोनों मराठा नरेशों ने उसकी बात को मन्जूर कर लिया। साथ ही निश्चय हुआ कि जो बातें हमे बतायी गयी हैं। उन पर पेशवा के विचारों को भी हमे जान लेना चाहिये और उसके लिए हमारे विश्वस्त आदमी वहाँ जाने चाहिए। यदि पेशवा इन्हीं बातों का समर्थन करता है तो हम दोनों ही पूना जाना स्थगित कर देंगे और अपनी-अपनी राजधानी लौट जायँगे। करनल कालिन्स ने इस बात को स्वीकार कर लिया।

अंगरेजों की गुप्त तैयारियाँ

सींधिया और भोंसले के साथ अंगरेजों की शान्तिपूर्ण बातें भी

चल रही थीं और भीतर-ही-भीतर, गुप्त रूप से आक्रमण करने की तैयारी भी हो रही थी। करनल कालिन्स सींधिया और भोंसले को मित्रता का चित्र दिखा रहा था। साथ ही वह दोनों नरेशों से सब-सीडियरी सन्धि कम्पनी के साथ कर लेने के लिए आग्रह भी कर रहा था। उसका कहना यह था कि इस सन्धि के बिना दोनों एक दूसरे के सच्चे मित्र नहीं हो सकते। सींधिया और भोंसले अभी तक वेल्सली की कूटनीति का कुछ भी ज्ञान न रखते थे।

२८ जून को वेल्सली ने अंगरेजी फौजों के सेनापति जनरल लेक को एक गुप्त पत्र भेजा :—

"सींधिया राज्य की सीमा पर आप अपनी फौज को इस ढंग से लगा दें जिससे किसी भी समय उसके राज्य पर हमला किया जा सके। लेकिन आक्रमण होने के पहले शत्रु को उसका पता न होने पावे।"

इस बीच में कुछ दिनों तक अंगरेजों की राजनीतिक चालें, काम करती रहीं। वेल्सली आक्रमण करने की पूरी तैयारी में था। लेकिन सींधिया और भोंसले को इन बातों की खबर न होने पावे, इसलिए उन दोनों से करनल कालिन्स को पत्र-व्यवहार करने में लगा रखा था।

इस समय अंगरेजों और मराठा राजाओं के बीच संघर्ष बढ़ता जा रहा था। सींधिया और भोंसले किसी प्रकार मराठों की रक्षा का मार्ग खोज रहे थे और गवर्नर जनरल वेल्सली की नीति उनके सर्वनाश में लगी थी।

युद्ध की घोषणा

सींधिया और भोंसले के साथ मित्रता का जाल उस समय तक चलता रहा, जब तक अंगरेजों के आक्रमण करने का समय नहीं आ गया।

उसके बाद ही करनल कालिन्स, जो अभी तक महाराज सींधिया से मित्रता का सम्बन्ध कायम करने और रखने के लिए बातचीत कर रहा था, चुपके से वहाँ से गायब हो गया और ६ अगस्त सन् १८०३ को कम्पनी की ओर से वेल्सली ने मराठों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी।

इसी बीच में इंगलैण्ड की पार्लामेण्ट में द्वितीय मराठा युद्ध के प्रारम्भ होने पर बहस हुई। पार्लामेण्ट के अनेक मेम्बरों ने अनेक प्रकार की बातें कहीं। उनमें सर फिलिप फ्रेन्सिस ने उस अतीतकाल की घटनाओं पर स्पष्ट प्रकाश डाला, जिसमे कम्पनी भारत में केवल व्यापार करने के लिए आयी थी। उस समय भारत के देशी नरेशों ने उदारता का व्यवहार किया और कभी सन्देह नहीं किया। उनकी आँखें बन्द थीं। वहाँ से अंगरेजों का सम्बन्ध शुरू होता है और आज की परिस्थितियों तक आता है। सर फिलिप ने यह भी जाहिर किया कि भारत में आज जो कुछ कम्पनी कर रही है, वह इंगलैण्ड के सभी अंगरेजों को पसन्द नहीं हो सकता।

चौबीसवाँ परिच्छेद

कूटनीति, षड़यंत्र और फूट

कम्पनी की कामयाबी के उपाय

अंगरेजों की सम्पूर्ण कामयाबी उनके युद्ध के बल पर नहीं उनकी कूटनीति पर निर्भर थी। वे जिससे लड़ना चाहते थे उससे उनकी मित्रता उस समय तक चलती थी, जब तक वे अपनी पूरी तैयारी न कर लेते थे। होता यह था कि उस समय तक और आखीर तक शत्रु को विश्वास में बाँध कर रखते थे।

इसके सिवा, शत्रु को निर्बल बना लेना उनकी शक्तियों को किसी प्रकार प्रलोभनों, रिश्वतों अथवा दूसरे उपायों से तोड़कर अपने साथ मिला लेना उनका एक साधारण काम था। किसी प्रकार का कोई षड़यन्त्र रचकर शत्रु में फूट पैदा कर देना, उन्हें आपस में ही लड़ा देना और संगठित शक्तियों को छिन्न भिन्न कर देना उन्हीं का काम था।

मराठा राजाओं के साथ कम्पनी ने युद्ध की घोषणा करने के पहले यही किया। मराठों की राज शक्तियाँ उनके मार्ग में काँटा थी। अंगरेजी साम्राज्य-विस्तार के लिए यह आवश्यक था कि भारत की देशी राजशक्तियों को मिटा दिया जाय और यदि कोई रह भी जाय तो उसे निकम्मी बनाकर अपने मातहत कर लिया जाय, कम्पनी का यही उद्देश्य था।

बसई-सधि के बाद पूना-दरबार की जो हालत हुई, उससे सींधिया और भोंसले के साथ कम्पनी का युद्ध अनिवार्य हो गया था। इन दोनों राजाओं से युद्ध करने का मतलब था, समस्त मराठा मण्डल से युद्ध करना। इसीलिए कम्पनी ने मराठा राजाओं के खिलाफ युद्ध की घोषणा की थी।

सींधिया और होलकर में फूट की कोशिश

कम्पनी के अंगरेजों की एक जबरदस्त नीति यह भी थी कि जब

वे किसी देशी राजा से शत्रुता पैदा करते थे तो कुछ दूसरे नरेशों से मित्रता कर लेते थे। देश के राजाओं और नवाबों को इस खतरनाक नीति का कुछ ज्ञान न था। इसीलिए अंगरेज इस नीति का लाभ उठाते रहे।

दौलतराव सींधिया और राघो जी भोंसले के साथ कम्पनी की ओर से युद्ध की घोषणा हो चुकी थी। यह घोषणा वास्तव में पूरे मराठा-मण्डल के साथ थी। फिर भी अंगरेजों की यह नीति थी कि उन्हीं में से जिनको वे तोड़ सकते थे उन्हें वे तोड़ लेते थे।

जसवन्तराव होलकर मराठा-मण्डल का एक अंग था। लेकिन अंगरेजों ने मराठा शक्ति को निर्बल बनाने के लिए बहुत पहले से होलकर को फोड़ रखा था। इस बीच में सींधिया के साथ होलकर का सम्बन्ध बहुत अच्छा चल रहा था। यह भी सम्भव था कि होलकर सींधिया के साथ इस बीच में मिल जाता। लेकिन कम्पनी के अधिकारी अंगरेज इन बातों में बहुत सावधान रहा करते थे। उन्होंने ऐसे मौके पैदा करने की कोशिश की जिसमें सींधिया और होलकर के बीच मित्रता का होना और रहना सम्भव न हो सके।

मराठा राजाओं में होलकर की ताकत उन दिनों में अच्छी मानी जाती थी। उसके पास सेना-शक्ति उस समय अच्छी थी। जसवंतराव होलकर पूना के उत्तर तरफ अपने इलाकों में गया हुआ था। वहाँ से लौटते समय, वह पूना से हो कर गुजरा। करनल क्लोज की यह एक चाल थी कि होलकर की सेना ने पूना और उसके आस-पास के इलाकों में कुछ लूट मार भी की। उसमें क्लोज की ओर से किसी प्रकार के एतराज का मौका ही न था।

पूना में होलकर की सेना का यह काम पेशवा के खिलाफ था और पेशवा की सहानुभूति में दौलतराव सींधिया था। इसलिए जाहिरा उसका मतलब यह था कि सींधिया के ऊपर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा और वे दोनों मित्रता के सूत्र में बंध न सकेंगे।

जसवन्तराव होलकर को मिलाने के लिए अंगरेजों ने इतना ही नहीं किया। एक ओर वे सींधिया और भोंसले को मिटाने की पूरी कोशिश कर रहे थे और दूसरी ओर वे चाहते थे कि होलकर अंगरेजों के पक्ष में रहे। उन दिनों में काशीराव होलकर इन्दौर का मालिक था।

अंगरेजों ने जसवंतराव को तैयार किया। अंगरेजों से सभी प्रकार की मदद का आश्वासन पाकर जसवन्तराव इन्दौर की गद्दी का मालिक बन गया।

इस प्रकार कई उपायों से वेल्सली ने जसवन्तराव को अपनी ओर खींच रखा था। जरूरत और बिना जरूरत, वेल्सली के पत्र जसवन्तराव के पास बराबर आते रहे। उन पत्रों में जसवन्त राव की जरूरत से अधिक बड़ाई और खुशामद रहा करती थी। दुर्भाग्य से देश के राजा और नवाब कूटनीति की इन चालों को समझ न पाते थे। जसवन्तराव की भी यही दशा थी। सींधिया के साथ युद्ध के प्रारम्भ में होलकर को अपने हाथ में बनाये रखने के लिए अंगरेजों ने प्रलोभन पैदा करने वाले कुछ वादे भी किये। जिन पर विश्वास करके जसवन्त राव सींधिया के साथ मेल न कर सका और जब सींधिया और भोंसले के साथ लड़ाई के बाद में सन्धि हो गयी, उस समय जसवंतराव को मालूम हुआ कि उसके साथ मित्रता और वादों की बात अंगरेजों की केवल चाल थी। इतना ही नहीं, बल्कि जसवन्त राव को स्वयं अंगरेजों के साथ युद्ध करना पड़ा।

होलकर के साथ विश्वासघात

कम्पनी के अंगरेजों की मित्रता, उनके किसी मौके के लिये होती थी। सींधिया के साथ वेल्सली के दूत मित्रता का राग उस समय तक गाते रहे, जब तक वे उस पर आक्रमण करने के लिए तैयार न हो गये। जसवन्त राव के साथ भी अंगरेजों की मित्रता उसी समय तक चली, जब तक वे सींधिया और भोंसले के साथ युद्ध करते रहे। उसके बाद ही वह मित्रता समाप्त हो गयी।

वेल्सली जसवंतराव को भी निर्बल बनाकर रखना चाहता था। इसीलिए उसके साथ भी चालें शुरू हो गयीं। जसवन्तराव का एक सरदार अमीर खाँ था। अंगरेजों ने उसको फोड़ना शुरू कर दिया। अमीर खाँ की सारी बातें तय हो गयीं और उसको ३००० सवारों के साथ निजाम की फौज में शामिल कर लिया। शुरू में निजाम से वादा किया कि अमीर खाँ और उसके साथ में आयी हुई सेना का आधा खर्च निजाम की ओर से और आधा खर्च अंगरेजों की ओर से दिया

जायगा। लेकिन अन्त में पूरा खर्च निजाम के ऊपर ही मढ़ा गया। अमीर खाँ के चले आने के बाद जसवन्तराव का एक अच्छा सरदार अंगरेजों के हाथ में आ गया और जसवन्तराव की सैनिक शक्ति में कमजोरी आ गयी। अंगरेजों की ओर से यह एक अच्छा धक्का उसे लगा।

सींधिया के राज्य में षड्यंत्र

जिन दिनों में सींधिया अंगरेजों को अपना मित्र समझता था, उन दिनों में भी सींधिया को निर्बल बनाने के लिए उसके राज्य में अंगरेजों के षड्यंत्र चल रहे थे। वेल्सली और कम्पनी के षड्यंत्र-कारी अंगरेजों के पत्रों से साफ-साफ पता चलता है कि अंगरेजों ने सींधिया को शत्रु बनाने के पाँच वर्ष पहले से अपनी कूटनीति आरम्भ कर दी थी और सींधिया के सरदारों, जागीरदारों और जिम्मेदार आदमियों को किसी न किसी हिकमत से अपने पक्ष में कर रखा था। सींधिया को इसका पता न था।

जनरल लेक भारत में अंगरेजी फौजों का सेनापति होकर आया था। १७ जुलाई सन् १८०३ को वेल्सली ने उसे एक पत्र लिखा था। उसमें सींधिया राज्य के अनेक सरदारों और जागीरदारों की एक सूची दी थी और बताया गया था कि इन सब को कम्पनी के पक्ष में किया जा चुका है।

सींधिया के विरुद्ध शाह आलम

दौलत राव सींधिया के खिलाफ जिन सरदारों, जागीरदारों और राजाओं तथा नवाबों को वेल्सली ने अपनी कूटनीति से तरह-तरह के प्रलोभनों द्वारा मिला लिया था, उनमें दिल्ली के मुगल सम्राट शाह आलम का भी नाम था। मुगल सम्राट को वेल्सली ने किस प्रकार धोखे में रख छोड़ा था, उसका हाल उसी के एक पत्र से साफ जाहिर होता है।

गवनर जनरल वेल्सली ने मुगल-सम्राट शाहआलम के सम्बन्ध में एक गुप्त पत्र जनरल लेक के नाम भेजा। उसमें लिखा :—

"हम लोगों को यह बात कभी न भूलना चाहिए कि देशी

राजाओं को नेस्तनाबूद करने के साथ-साथ मुगल सम्राट की जो हस्ती बाकी रह गयी है, उस पर भी अपना कब्जा कर लेना है और वह वक्त दूर नहीं है।"

इस पत्र के साथ-साथ एक, दूसरा पत्र वेल्सली ने जनरल लेक के पास भेजा, जो मुगल सम्राट शाह आलम को देने के लिए लिखा गया था। उसमें लिखा था :—

"सम्राट को इस बात पर विश्वास करने की जरूरत है कि सम्राट और सम्राट के परिवार के लिए अंगरेजी सरकार के दिल में सदा इज्जत रही है। ×× दिल्ली सम्राट को दबा कर मराठा राजाओं ने जो अपनी तरक्की की है और मौके-बेमौके उन्होने ऐसी हरकतें की हैं, जिनसे मुगल सम्राट और उनके परिवार को सदमा पहुँचा है, अंगरेजी सरकार ने बड़े अफसोस के साथ सम्राट के सदमें को बरदाश्त किया है। ×× मुझे इस बात का अभी तक कोई ऐसा मौका नहीं मिला, जिसमें हमारी कम्पनी अपनी खिदमतें सम्राट को हवाले कर देती और मराठों के जरिए से होने वाले अत्याचार का बदला लेने के लिए कम्पनी, सम्राट की सहायता कर सकती।"

इस प्रकार का पत्र सम्राट शाह आलम के पास जनरल लेक के द्वारा वेल्सली ने भेजा। वारन हेस्टिंग्स के शासन-काल में अंगरेजों ने मुगल सम्राट को जिस प्रकार धोखा दिया था और माधव जी सींधिया से मिलकर सम्राट को सींधिया के अधिकार में दे दिया था, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। वेल्सली ने सम्राट को ऊपर लिखा हुआ अपना पत्र भेज कर इस बात की कोशिश की कि मुगल सम्राट हेस्टिंग्स के कुचक्र को भूल कर सींधिया और भोंसले को अपना शत्रु समझे।

मुगल-सम्राट को अपने पक्ष मे करने और सींधिया के साथ उनकी शत्रुता पैदा करने के लिए वेल्सली ने कितनी ही चालों से काम लिया था। सैयद रजा खाँ मुगल-दरबार मे एक जिम्मेदार आदमी माना जाता था। उसकी मारफत अंगरेजों ने शाह आलम से कितने ही वादे किये। सम्राट को इस बात का विश्वास दिलाया कि मुगल साम्राज्य के जो इलाके मराठों ने छीन कर अपने कब्जे में कर लिए हैं, अंगरेज उन्हें

फिर सम्राट के अधिकार में लाना चाहते हैं और इस बात का अंगरेजों का पक्का वादा है।

वेल्सली ने, टीपू सुलतान के साथ भी इसी प्रकार के वादे किये थे और इन दिनों में सींधिया के खिलाफ मुगल सम्राट से अंगरेजों के वादे चल रहे थे। इतना ही नहीं, २ दिसम्बर सन् १८०३ को कम्पनी की ओर से जनरल लेक ने एक इकरारनामा लिख कर सम्राट शाह आलम को दिया और अपने वादों को लिख कर मंजूर किया।

कूटनीति के हिदायती पत्र

दौलतराव सींधिया का राज्य-विस्तार उत्तर और पश्चिम की ओर पंजाब तक था। लेकिन लाहौर में रणजीतसिंह का सितारा चमक रहा था। रणजीतसिंह युद्ध में वीर किन्तु हैदरअली और शिवाजी की तरह अशिक्षित था। परन्तु राजनीति में दूरदर्शी न था। वेल्सली को सन्देह था कि वह कहीं सींधिया का सहायक न हो जाय।

गवर्नर जनरल वेल्सली ने जनरल लेक के नाम एक गुप्त पत्र भेजा, उसमें बहुत सी बातें हिदायत के तौर पर लिखीं। यह पत्र २ अगस्त सन् १८०३ को भेजा। पत्र लम्बा था, उसकी कुछ बातें संक्षेप में इस प्रकार थी :—

"सींधिया के खिलाफ जिन छोटी-छोटी रियासतों से फायदा उठाया जा सकता है, उसमें हमें चूकना न चाहिए।

× × ×

सिख रियासतों में रणजीतसिंह आज कल अच्छा समझा जाता है। दूसरे सिख सरदारों पर उसका प्रभाव भी है।

× × ×

जो सिख सरदार कम्पनी से सम्बन्ध रखते हैं, उनके नाम पत्र लिख कर मैंने आपके पास भेजे हैं, अत्यन्त गुप्त रूप से उन पत्रों को भेजने की व्यवस्था कर दें।

× × ×

जो सिख सरदार रणजीतसिंह के काबू में हैं, उनको रणजीतसिंह की मारफत अपने पक्ष मे कर लेना चाहिए।

× × ×

जो छोटी रियासतें मराठों के मातहत हैं, उनके सरदारों को विश्वास दिला देना चाहिए कि यदि वे अंगरेजों का साथ देंगे तो भविष्य में उनको स्वतन्त्र हो जाने और मालगुजारी न देने में कम्पनी उनकी मदद करेगी।

× × ×

जो छोटी रियासतें हमारी मदद में न आ सकती हों, उनको तटस्थ रहने के लिए कोशिश करना चाहिए।

× × ×

जो दौलतराव सींधिया के पक्ष मे जाना ही चाहते हों, उनको धमकी देकर बता देना चाहिए कि बिना किसी कारण के कम्पनी की इतनी बढ़ी ताकत का शिकार उनको हो जाना पड़ेगा।

× × ×

इस प्रकार के कामों में बहुत सावधानी की जरूरत होती है, जिसमे शत्रु को अपनी चालों का कभी कुछ पता न चल सके।"

अंगरेजों की सहायता में सिख

सिखों पर वेल्सली की कूटनीति को पूरी सफलता मिली। द्वितीय मराठा-युद्ध में सिख सरदारों और राजाओं ने अंगरेजों का साथ दिया। सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में सिखों की उन्नति प्रारम्भ हुई थी। इतिहासकारों का कहना है कि अंगरेजों की सहायता करने के बाद ही सिख रियासतों ने और विशेषकर रणजीतसिंह ने तरक्की की थी।

राजा रणजीतसिंह उस समय तक महाराज सींधिया के मातहत था और वर्ष में चार लाख रुपये मालगुजारी में अदा किया करता था। अंगरेजों ने रणजीतसिंह को फोड़कर अपने पक्ष में कर लिया और इस बात का वादा किया कि तुम्हारी मालगुजारी माफ कर दी जायगी। उसके सिवा सहायता के बदले में तुमको नये इलाके दिये जायंगे।

सींधिया की सेना मे विदेशी अफसर

दौलतराव सींधिया की सेनाओं में योरोपियन अफसर पहले से चले आ रहे थे। यदि ये विदेशी अफसर सींधिया की फौज में न होते

तो षड़यन्त्रों का इतना बड़ा जाल बिछाने के बाद भी दौलतराव को जीत सकना, अंगरेजों के लिए बहुत मुश्किल हो जाता।

अनेक सरदारों, सामन्तों और जागीरदारों के धोखा देने पर भी सींधिया का कुछ न बिगड़ता। लेकिन सींधिया के, योरोपियन अफसरों का विश्वासघात, सींधिया के खिलाफ विष साबित हुआ।

युद्ध आरम्भ होने के पहले ही सींधिया की फौज के योरोपियन अफसरों को अंगरेजों ने मिला लिया था। उनको रिश्वत की लम्बी-लम्बी रकमें तो दी ही गयी थीं, मजहब के नाम पर भी उन्होंने अपने मालिक को धोखा दिया था।

सींधिया के विरुद्ध जितनी कूटनीति की गई थी, उसे अंगरेजी इतिहासकारों ने स्वयं स्वीकार किया है। अधिकांश बातें वेल्सली और उसके दूसरे अंगरेज अधिकारियों के पत्रों से ली गयी हैं।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

सींधिया और भोंसले के साथ युद्ध

अंगरेजी फौजों के आक्रमण

दौलतराव सींधिया और राघोजी भोंसले के साथ अंगरेजों का युद्ध शुरू हो गया। गवर्नर-जनरल वेल्सली ने इस युद्ध के लिए अनेक सेनाओं का प्रबन्ध किया था। युद्ध की घोषणा तो हो ही चुकी थी, सींधिया और भोंसले के इलाकों पर अंगरेजों के आक्रमण शुरू हो गये।

इस युद्ध में छः विशाल सेनायें अंगरेजों की ओर से रवाना हुईं। अपनी और मैसूर की सबसीडियरी सेना लेकर जनरल स्टुअर्ट, एक विशाल सेना लेकर पेशवा की सबसीडियरी सेना के साथ गवर्नर जनरल के छोटे भाई जनरल वेल्सली, निजाम की सबसीडियरी सेना और अंगरेजी सेना के साथ करनल स्टीवेन्सन, सब से बड़ी फौज को अवध की सबसीडियरी सेना को साथ लेकर जनरल लेक, बंगाल की अंगरेजी सेना को लेकर करनल कैम्पबेल और गायकवाड़ की सबसीडियरी सेना के साथ अंगरेजी फौज लेकर करनल मरे ने युद्ध के लिए कूँच किया।

इनमे से पाँच सेनाओं को दौलतराव सींधिया के राज्य पर आक्रमण करना था। बरसात के बादलो की तरह इन विशाल सेनायें सींधिया और भोंसले के राज्यों को चूर-चूर कर डालने के अहंकार से गरजती हुई आगे बढ़ीं। इन सेनाओं में थोड़े से अंगरेज अफसरों और सैनिकों को छोड़कर बाकी सभी भारतीय थे जो देशी राज्यों के खजाने से परवरिस पाते थे। देश की खाद्य सामग्री का ही उनके शरीरों में खून था। आगे भी उनको देश के भोजन पर ही जिन्दा रहना था। फिर भी वे अंगरेजों की सेनाओं में अपने बल और पौरुष से देश की सत्ता का क्षय करने के लिए भयंकर तूफान के रूप में चले!

अहमदनगर पर कब्जा

अहमदनगर, सींधिया का इलाका था। वहाँ का किला बहुत मजबूत बना था। ७ अगस्त को अपनी सेना के साथ जनरल वेल्सली अहमदनगर के करीब पहुँचा। उस इलाके की रक्षा के लिये सींधिया की ओर से जो सैनिक प्रबन्ध था, उसके सरदार को और उस इलाके के निवासियों को सींधिया की ओर से कोई आज्ञा न मिली थी।

जनरल वेल्सली की ओर से वहाँ बताया गया कि सींधिया ने अंगरेजों और उनके मित्रों को युद्ध की धमकी दी है। वेल्सली की ओर से यह भी कहा गया कि अगर हमारी सेना के साथ यहाँ के लोगों ने किसी प्रकार का उत्पात न किया तो अंगरेजी सेना बहुत शान्तपूर्ण व्यवहार करेगी और कोशिश करेगी कि किसी को भी खतरा न पहुँचे। लेकिन अगर यहाँ के लोगों ने अंगरेजी सेना का मुकाबिला करने की कोशिश की तो उसका बहुत ही बुरा बदला दिया जायगा।

जनरल वेल्सली की इस घोषणा का वहाँ पर ऐसा प्रभाव पड़ा, जिससे बिना किसी युद्ध के अंगरेजी सेना ने अहमदनगर पर अपना कब्जा कर लिया।

अंगरेजी सेना ने अहमदनगर पर तो अपना कब्जा कर लिया, लेकिन वहां का किला अभी बाकी था। सींधिया की ओर से जो किले के संरक्षक थे, वे किले पर कब्जा देने के लिए राजी न हुए। नतीजा यह हुआ कि अंगरेजी सेना को किले पर गोले बरसाने पड़े।

अहमदनगर का किला इतना मजबूत और ऐसे ढंग से बना था कि शत्रु को आक्रमण करने का कोई रास्ता न मिल सकता था। उसके सम्बन्ध में सर जेम्स कैम्पबेल ने लिखा है :—

"जनरल वेल्सली को जब उस किले पर हमला करने का कोई रास्ता न मालूम हुआ तो किले के एक अफसर देशमुख रघुराव बाबा को एक लम्बी रिश्वत देकर मिला लिया और उसने सींधिया के साथ विश्वासघात करके बताया कि किले पर किस मुकाम से हमला किया जा सकता है।"

किले का रहस्य जान लेने के बाद अंगरेजी सेना को अधिक लड़ाई

नहीं लड़नी पड़ी। ११ अगस्त को अंगरेजों ने उस किले पर कब्जा कर लिया।

असाई में घमासान युद्ध

अहमद नगर पर कब्जा करने के बाद जनरल वेल्सली ने १८ अगस्त तक वहाँ मुकाम किया और उसके बाद वहाँ का इंतजाम कप्तान ग्रैहम को सौंप कर वह करनल स्टीवेन्सन की सेना में मिलने के लिए रवाना हो गया।

अभी तक सींधिया और भोंसले को कुछ पता न था। अहमद नगर मे अंगरेजों के आक्रमण और कब्जे का समाचार सुनकर दौलत-राव सींधिया और राघोजी भोंसले ने युद्ध की तैयारी की।

अमदन नगर पर हमला करने के पहले ही वेल्सली ने सींधिया और भोंसले के राज्यों में अपने दूत इतने अधिक लगा रखे थे कि वे जरा-जरा सी बातों की खबर अंगरेजों को देते थे।

निजाम और बरार के बीच में एक असाई नाम का मुकाम था। वहाँ पर २३ अगस्त सन् १८०३ को अंगरेजी फौजों के साथ सींधिया की सेना ने घमासान युद्ध किया।

अहमद नगर पर जब अंगरेजों का अक्रमण हुआ उस समय सींधिया और भोंसले को उसका कुछ भी पता न था। अंगरेजों के युद्ध का समाचार पाकर सींधिया ने बड़ी जल्दबाजी के साथ अंगरेजों का मुकाबिला करने की तैयारी की। दोनों ओर से असाई के मोर्चे पर घमासान युद्ध हुआ।

इस युद्ध मे जनरल वेल्सली के पास ८००० पैदल १६०० सवार और १७ तोपें थी। सींधिया की फौज में ५०००० पैदल और १२८ तोपें थीं। लेकिन उसके कितने ही फौजी अफसर अंगरेजों के साथ मिल चुके थे। जिनके सम्बन्ध मे जनरल वेल्सली ने गवर्नर जनरल को एक पत्र में लिखा था :—

"दौलतराव सींधिया की सेना के १६ अफसर आपके २८ अगस्त के प्रयत्न के अनुसार करनल स्टीवेन्सन के साथ मिल गये हैं। उनको हमारे खजाने से वेतन दिया जायगा। इसलिए उसका विवरण मैं बाद में लिखूँगा।"

असाई के युद्ध के सम्बन्ध में कप्तान ग्राण्ट डफ ने History of the Marathas में लिखा है : "असाई के युद्ध में सींधिया की सब से बड़ी कमजोरी यह थी कि उसकी सेना मे जो बहुत-से योरोपियन अफसर थे। उनमे अंगरेज भी थे।"

कप्तान डफ के लेखों से पता चलता है कि सींधिया की सेना में जो योरोपियन अफसर थे, केवल उन्हीं को मिलाने, युद्ध में सींधिया का साथ न देने और कम्पनी के पक्ष में रहने के लिए कोशिश न की गयी थी, बल्कि उनके साथ-साथ हिन्दुस्तानी अफसरों और सरदारों को मिलाने की भी कोशिश की गयी थी। संयोग की बात यह थी कि युद्ध के काम आने के समय सींधिया का पूरा तोपखाना भी तैयार न था।

असाई के युद्ध में सींधिया का जो तोपखाना गया था, उसके सभी अफसर योरोपियन थे। उन अफसरों ने सींधिया के साथ विश्वाघात किया और युद्ध में उस तोपखाने ने कुछ काम न किया। नतीजा यह हुआ कि अंगरेजी सेना के तोपखाने के सामने सींधिया की सेना ठहर न सकी। इस प्रकार उस युद्ध मे अंगरेजों की जीत हुई।

अगर सींधिया की सेना में योरोपियन अफसर न होते तो बड़े-से-बड़े षड़यन्त्रों का जाल बिछा देने के बाद भी सींधिया को जीतना अंगरेजों के लिए कठिन हो जाता। योरोपियन अफसरों ने असाई के युद्ध में सींधिया का तोपखाना अंगरेजी सेना के हवाले कर दिया।

सन्धि की चेष्टा

दौलतराव सींधिया को पहले से इस बात का पता न था कि उसकी सेना के योरोपियन अफसर और कितने ही हिन्दुस्तानी उसके साथ विश्वासघात करेंगे। असाई के युद्ध के बाद इस बात का सींधिया को बहुत अफसोस हुआ। साथ ही इस बात का भी उसे बहुत रंज था कि इस प्रकार के विश्वासघात के कारण उसका तोपखाना शत्रुओं के हाथों में चला गया था।

बालाजी कुञ्जर दौलतराव सींधिया का एक विश्वासी आदमी था। असाई के युद्ध के बाद बाला जी कुञ्जर ने सींधिया से परामर्श करके जनरल वेल्सली को सुलह के लिए एक पत्र लिखा और उसमें प्रार्थना

की कि यह युद्ध असंगत रूप में चल रहा है। इसे बन्द करके सुलह करने की मैं प्रार्थना करता हूँ।

बाला जी कुञ्जर ने अपने पत्र में यह भी लिखा कि सींधिया ने कभी भी ऐसा कोई काम नहीं किया, जिससे युद्ध का कारण पैदा होता। अन्तिम समय तक सींधिया को मित्रता की पट्टी पढ़ाई गयी थी। उसके बाद सींधिया को युद्ध के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी गयी थी। और बिना किसी खबर के अचानक अहमद नगर पर कम्पनी की ओर से आक्रमण किया गया। इसलिए इस युद्ध को रोकने और सन्धि की शर्तों को तय करने के लिये मैं आप से प्रार्थना करता हूँ।

अपनी विजय के दिनों में सन्धि करना कम्पनी के अंगरेजों की नीति के विरुद्ध था। हैदरअली और टीपू के साथ भी अंगरेजों ने इसी नीति से काम लिया था। बाला जी कुञ्जर के पत्र का जनरल वेल्सली पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने सन्धि के प्रस्ताव को सहज ही ठुकरा दिया।

बरहानपुर और असीरगढ़ पर कब्जा

सींधिया क राज्य में बराहनपुर एक धनवान इलाका था। असाई के बाद जनरल वेल्सली ने करनल स्टीवेन्सन को बहरानपुर और असीरगढ़ के सींधिया के किलों पर कब्जा करने के लिए रवाना कर दिया।

करनल स्टीवेन्सन की सेना १५ अक्टूबर को बराहनपुर पहुँची। वहाँ पर सींधिया की तरफ से जो फौजी इन्तजाम था, उसका अफसर भी अंगरेज था। इसलिए अंगरेजी फौज को बराहनपुर और वहाँ के किले पर कब्जा करने में देर न लगी। किले पर अधिकार करने के बाद अंगरेजी सेना ने नगर को लूटा और अत्याचार किये।

करनल स्टीवेन्सन ने १९ अगस्त को असीरगढ़ पर हमला किया और २१ अक्टूबर को उस पर अपना कब्जा कर लिया। इन दोनों किलों पर सींधिया के जो योरोपियन अफसर थे, वे स्टीवेन्सन की सेना में आ गये।

सन्धि का षड्यंत्र

जनरल वेल्सली को इस बात का अन्देशा था कि अगर राजा बरार और सींधिया की सेनायें मिलकर किसी युद्ध में संग्राम करेंगी तो अंगरेजों के सामने बड़ी कठिनाई आ जायगी। इसलिए कोई ऐसी चाल चली जाय जिससे ये दोनों नरेश अपनी-अपनी सेनाओं को एकत्र न कर सकें।

इन्हीं इरादों से जनरल वेल्सली ने बाला जी कुञ्जर के नाम एक पत्र लिखने का निश्चय किया। बालाजी का पत्र सन्धि के लिए तो आही चुका था। आपने उसका जवाब देना भी मुनासिब न समझा था। अब बाला जी को उत्तर देते हुए आपने लिखा :—

"आपका पत्र मिला। × × करनल स्टीवेन्सन ने भी आपको एक पत्र भेजा है। उसमें आपने मीरखाँ को मेरे पास सन्धि के लिए भेजने के लिए लिखा है। मैं मीर खाँ से मिलकर बहुत प्रसन्न होऊँगा।"

इस पत्र को भेजकर उसने एक पत्र मीर खाँ के पास भी भेजा। उसमे भी बड़ी खुशामद के शब्द लिखे गये। लेकिन इसी मौके पर सींधिया की ओर से एक आदमी सन्धि के लिए आया। २३ नवम्बर सन् १८०३ को सींधिया और अंगरेजों के बीच एक अस्थायी सन्धि की लिखा-पढ़ी हुई। जिससे कि स्थायी सन्धि की व्यवस्था की जा सके। दोनों ओर से प्रतिनिधियों के दस्तखत हो गये और दोनों तरफ से युद्ध बन्द कर दिये गये।

सींधिया के प्रतिनिधि जोर दे रहे थे कि सन्धि में सींधिया और भोंसले दोनों के दस्तखत होने चाहिए। लेकिन अंगरेज केवल सींधिया के दस्तखत चाहते थे। जनरल वेल्सली की इसमें भयानक कूटनीति काम कर रही थी। उसने गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखा। उसमें जाहिर किया :—

"जो अस्थायी सन्धि लिखी गयी है, उसमें केवल सींधिया के दस्तखत कराये जा रहे हैं! यह सन्धि भोंसले के साथ नहीं है। इसका नतीजा यह होगा कि सींधिया और भोंसले में फूट पड़ जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। इस दशा मे इन दोनों की मित्रता खतम हो जायगी।"

इस अस्थायी सन्धि में जनरल वेल्सली की दो चालें थीं वह सींधिया के साथ सन्धि न करना था। बल्कि उसके दो मन्सूबे थे। एक तो अलग से सींधिया के साथ सन्धि की बातें होने से सींधिया और भोंसले में शत्रुता का भाव पैदा हो जायगा और उस दशा में एक को दूसरे से फोड़ने में मदद मिलेगी। दूसरे एक बात और थी। सींधिया के साथ आगे जो उसे युद्ध करना था उसके लिए तैयारी करना जरूरी था और उसके लिए कुछ समय की जरूरत थी। जैसा कि उसने गवर्नर जनरल के नाम भेजे हुए अपने एक पत्र में लिखा था। उसके बाद करनल क्लोज के नाम भी उसी प्रकार का पत्र भेजा था उसमें उसने साफ लिखा था :—

"युद्ध बन्द करने के लिए मैं इसलिए राजी हो गया हूँ कि गुजरात और गाविलगढ़ के किले के लिए जो मैंने कार्यक्रम बनाया है, उसमें सींधिया से मुझे खतरा था, मैं थोड़ा-सा मौका चाहता हूँ, और उस मौके में मैं दोनों में फूट पैदा करा देने में कामयाब होऊँगा।"

इन दिनों में जनरल वेल्सली ने जो पत्र लिखे थे, उनमें कई एक पत्रों से उसके इन मन्सूबों का अर्थ निकलता था उसकी स्पष्ट चाल यह थी कि सींधिया और भोंसले में शत्रुता पैदा हो जाय।

अरगाँव पर कब्जा

अभी तक अस्थायी सन्धि के कागज पर दस्तखत होने की बात चल रही थी। युद्ध-स्थलों से सेनायें वापस आगयी थीं। इसी मौके पर वेल्सली ने शान्ति को भङ्ग करके सींधिया के अरगाँव नामक किले पर आक्रमण कर दिया। सींधिया की सुलह के प्रतिनिधि अभी तक सींधिया के पास लौटकर गये भी न थे। उनके कहने पर वेल्सली ने उत्तर दिया कि सींधिया ने दस्तखत कर के अस्थायी सन्धि का कागज अभी तक मेरे पास नहीं भेजा था। यद्यपि दस्तखतों के लिए दस दिनों का समय दिया गया था और अभी केवल छठवाँ दिन था।

अरगाँव पर अंगरेजों का उस समय हमला हुआ, जब सींधिया की फौज वहाँ पर पहुँची भी न थी। हुआ यह कि सहज ही अंगरेजी

सेना ने अरगांव पर अपना अधिकार कर लिया। इस खबर को पाकर गवर्नर-जनरल ने जनरल वेल्सली को लिखा :—

"सन्धि के प्रस्ताव को मैंने पूर्णरूप से स्वीकार किया था और मैं समझता था कि आप बड़ी होशियारी से काम ले रहे हैं। लेकिन आप की यह विजय, आप की सुलह से अधिक मुझे प्रसन्न कर सकी है।"

इसके बाद वेल्सली ने गाविलगढ़ पर हमला किया। बरार के राज्य में यह एक प्रसिद्ध किला था। किलेदार ने अंगरेजी सेना का मुकाबिला किया। किन्तु अपने जीवित उसने किले में जाने नहीं दिया। अन्त में उस विशाल अंगरेजी सेना के सामने किलेदार मारा गया और गाविलगढ़ के किले पर अंगरेजी सेना ने अधिकार कर लिया।

गुजरात पर आक्रमण

भड़ौंच का किला और गुजरात के इलाके कुछ दिनों से महाराज सींधिया के अधिकार में चले आ रहे थे। वेल्सली ने उनको अपने कब्जे में करने का प्रयत्न किया।

गुजराती इलाकों में भीलों की आबादी थी। उनकी छोटी-छोटी रियासतें भी थीं। वे सभी सींधिया के मातहत थीं। वेल्सली ने उन इलाकों पर हमला करने के पहले भील जागीरदारों को अपने पक्ष में करने की कोशिश की और उनसे वादे किये कि सींधिया से तुम्हें स्वतन्त्र कर देंगे और तुम्हारी मालगुजारी माफ कर दी जायगी।

जनरल वेल्सली ने गायकवाड़ की सबसीडियरी सेना को हुकुम भेजा कि वह भड़ौच के किले पर हमला करे। उन दिनों में बड़ौदा की गद्दी पर आनन्दराव गायकवाड़ था। दौलतराव सींधिया के साथ उसकी मित्रता थी। उनसे अपने यहाँ की सबसीडियरी सेना को सींधिया के खिलाफ आक्रमण करने पर एतराज किया। लेकिन उसका बस न चला और उस सेना को हमले के लिए जाना पड़ा।

दौलतराव सींधिया की ओर से उस किले की रक्षा का कोई मजबूत इन्तजाम न था। इस सेना ने जाकर उस किले में घेरा डाल दिया और ठीक पाचवें दिन वह किला अंगरेजों के कब्जे में आ गया।

इस किले के अलावा, गुजरात में सींधिया का एक और किला था

और वह पवनगढ़ किले के नाम से प्रसिद्ध था। अंगरेजी सेनाओं ने पवनगढ़ पर आक्रमण किया और उसी दिन उस किले पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार गुजरात में जितने इलाके सींधिया के थे, अंगरेजों ने सभी पर अपना कब्जा कर लिया।

उड़ीसा प्रान्त की रियासतें

उड़ीसा प्रान्त की अधिकाँश रियासतें भोसले के मातहत थीं और वे वार्षिक मालगुजारी भोंसले को अदा किया करती थीं। अंगरेजों ने दिल्ली के मुगल-सम्राट से उड़ीसा के कुछ उसी भाग की दीवानी अदालत के अधिकार प्राप्त कर लिए थे जो मुर्शिदाबाद के सूबेदार के अधिकार में था। बाकी कुछ उड़ीसा की दीवानी और फौजदारी मराठों के भी हाथों में थी।

मुर्शिदाबाद और उसके आस-पास के मुकामों में जब अंगरेजों ने अपना प्रवेश कर लिया था, उसी समय से वे मराठों के खिलाफ बातें करते रहे और मराठों को उनके अनुचित व्यवहारों के लिए बदनाम करने की वे कोशिश करते रहे।

जगन्नाथपुरी में भी अंगरेजों ने यही किया। वहाँ के सरदारों सामंतों और जागीरदारों को राघो जी भोंसले के खिलाफ बहकाते रहे। उन अंगरेजों की यह नीति थी कि जहाँ पर जिसको जैसा देखते थे वहाँ पर वे वैसा ही व्यवहार करते थे और अपना प्रभाव पैदा कर लेते थे।

मराठे राजनीति के दाँव-पेच न जानते थे। वे ईमानदारी के साथ लड़ना जानते थे। इसीलिए उनको अंगरेजों के मुकाबिले में सर्वत्र नीचा देखना पड़ा और जगन्नाथपुरी में भी यही हुआ। बिना किसी युद्ध के जगन्नाथपुरी पर कब्जा कर लिया।

इसके बाद अंगरेजी सेना ने कटक की तरफ धावा किया और वहाँ का किला मयूरभञ्ज तथा नीलगिरि रियासतें अपने कब्जे में कर लीं।

बुन्देलखण्ड पर अधिकार

बुन्देलखण्ड का राजा शमशेर बहादुर पेशवा के मातहत था और वह सालाना मालगुजारी अदा किया करता था। बसईं की सन्धि में

अंगरेजों ने पूना के दक्षिणी और सूरत के निकटवर्ती कुछ इलाके पेशवा से ले लिए थे और उसी सिलसिले में बुन्देलखण्ड भी कम्पनी के शासन में आ गया था।

राजा शमशेर बहादुर ने अंगरेजों की मातहती मन्जूर नहीं की। इसलिए वह कम्पनी से लड़ने के लिए तैयार हो गया। १३ अक्टूबर को केन नदी के किनारे शमशेर बहादुर ने अंगरेजों से युद्ध किया लेकिन उस युद्ध मे हिम्मत बहादुर के विश्वासघात करने और अपनी सेना के साथ अंगरेजी सेना से मिल जाने के कारण शमशेर बहादुर को पराजित होकर अपने राज्य से भाग जाना पड़ा। उसके बाद बुंदेलखण्ड के सम्बन्ध में पेशवा से दस्तखत ले लिए और अपना शासन कायम कर लिया।

दूसरे इलाके और राज्य

उन दिनों में मुगलों का शासन बहुत गिरी हुई हालत में था। उनकी हुकूमत के बहुत-से इलाके मराठों के अधिकार मे आ गये थे। यहाँ तक कि अलीगढ़, देहली और आगरे तक के इलाकों में भी सींधिया की ही सत्ता काम कर रही थी।

इन इलाकों पर कम्पनी का अधिकार करने के लिए जनरल लेक ७ अगस्त सन् १८०३ को अपनी सेना लेकर कानपुर से रवाना हुआ। सींधिया राज्य की सीमा पर कोयल का किला था। २८ अगस्त को जनरल लेक ने उस पर अपना कब्जा कर लिया और उस किले के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को उसने एक पत्र लिखा :—

"कोयल के किले की रक्षा के लिए जो जाट और सिख वहाँ पर मौजूद थे वह बिना किसी युद्ध के ही वहाँ से निकल कर चले गये। मराठी सेना के साथ वहाँ पर जो योरोपियन अफसर थे वे हमारी अंगरेजी सेना में आकर मिल गये।"

अलीगढ़ पर हमला करने के पहले जनरल लेक ने वेल्सली के नाम जो गुप्त पत्र भेजा उसमें उसने लिखा :—

"मैं अभी तक अलीगढ़ नहीं पहुँचा। मैंने निश्चय किया कि रिश्वत देकर वहाँ के किले में जो सींधियां की सेना है उसे किले से बाहर कर दूँ। मैं इसमें कामयाब होऊँगा। ×× अलीगढ़ का किला

नियाहत मजबूत बना हुआ है। यदि सीधे उस पर हमला किया जायगा तो बहुत समय लगेगा और युद्ध में हमारे आदमियों का भी नुकसान होगा। इसलिए ऐसे मौके पर रिश्वत से काम लेना ही अच्छा है। मेरा ख्याल है कि आप इसे सही मानेंगे।"

जनरल लेक ने अपनी चाल से पूरा काम लिया, लेकिन उसमें सफलता न मिली। अलीगढ़ से उसने तीसरा पत्र वेल्सली को लिखा :—

"अपने लिखने के बमूजिब मैंने अलीगढ़ के किले की सींधिया की सेना को लम्बी रकमें रिश्वत में देने की बड़ी कोशिशें की और चाहा कि वे किला छोड़ दें लेकिन उसका कोई प्रभाव न पड़ा और वे युद्ध के लिए तैयार हो गये। युद्ध में उन लोगों ने बड़ी वीरता के साथ संग्राम किया।"

जनरल लेक की कोशिश का बहुत-कुछ लाभ भी हुआ। सींधिया की सेना मे वहाँ पर भी कुछ योरोपियन अफसर थे। वे अंगरेजों के साथ मिल गये। लूकन नाम का एक अंगरेज अफसर भी था। उसने जनरल लेक को किले का गुप्त रास्ता भी बताया और अलीगढ़ के किले के युद्ध मे अंगरेजी सेना का विजय हुई।

दिल्ली पर आधिपत्य

अलीगढ़ के बाद जनरल लेक दिल्ली तरफ चला, मुगल-सम्राट शाह आलम तबीयत का कमजोर और स्वभाव का भोला था, जनरल ने उसको अपनी चालों में फाँसने की कोशिश की और उसमें वह कामयाब भी हुआ। १६ सितम्बर सन् १८०३ को दिल्ली का शासन जनरल लेक के हाथ में आ गया और शाह आलम नाम के लिए सम्राट बना रहा। उसकी गुजर के लिए बारह लाख रुपये सालाना की आमदनी उसके नाम कर दी और हुकूमत कम्पनी के हाथ में आ गयी।

इसके बाद जनरल लेक की सेना ने आगरे के किले पर हमला किया सींधिया की सेना ने अंगरेजी हमले का मुकाबिला किया।

जनरल लेक खाली युद्ध न करता था, वह अपनी चालों से शत्रु की सेना को तोड़ने, कमजोर बनाने और अनेक उपायों से मिलाने का भी काम करता था। आगरे के किले पर भी यही हुआ। किले के हजारों सैनिक, अंगरेजी सेना मे आकर मिल गये और बाकी सेना ने किला छोड़ दिया। अन्त में किले पर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

आगरे का किला खतम करने के बाद लसवाड़ी मुकाम पर मराठी सेना के साथ, अंगरेजी सेना का मुकाबिला हुआ। इस युद्ध मे मराठा-सेना जोरदार थी। उसने इस प्रकार भयानक युद्ध किया कि जनरल लेक के होश उड़ गये। उसे अपनी पराजय का विश्वास हो गया। लेकिन देश के दुर्भाग्य से वहाँ पर भी मराठी सेना के साथ जो योरोपियन अफसर थे, उन्होंने विश्वासघात किया और जाकर अंगरेजी सेना में मिल गये। अन्त मे अंगरेजी सेना की भी इस युद्ध में विजय हुई।

ग्वालियर पर हमले की तैयारी

ग्वालियर, सींधिया की राजधानी थी। उसे छोड़कर सींधिया के साथ, अब अंगरेजों को और कहीं युद्ध न करना था। ग्वालियर की रक्षा का भार अम्बा जी के हाथ में था। उसके सम्बन्ध में जनरल लेक ने वेल्सली के नाम एक पत्र भेजा, उसमें लिखा :—

"ग्वालियर के सिवा सींधिया के सभी इलाके अब कम्पनी के कब्जे में आ गये हैं। मेरा ख्याल है कि ग्वालियर का संरक्षक अम्बा जी कम्पनी के साथ लड़ना न चाहेगा और वह सुलह कर लेगा। क्योंकि लसवाड़ी मे मराठी-सेना की करारी हार हुई है। इससे उसका दिल टूट गया है। इस प्रकार ग्वालियर कम्पनी को मिल जायगा।

इसके बाद ही उसने वेल्सली के नाम दूसरा पत्र भेजा। उसमें जयपुर के लिए भी उसने अपना मंसूबा बताया। उसका ख्याल था कि जयपुर का राजा डरकर सन्धि कर लेगा। यही हुआ भी।

सींधिया और भोंसले के साथ सन्धि

इसी बीच में मालूम हुआ कि कम्पनी की फौजें ग्वालियर और जयपुर पर कब्जा करने के लिए बढ़ रही हैं तो सन्धि का प्रस्ताव उठा। नतीजा यह हुआ कि दोनों के साथ अंगरेजों की सन्धि हो गयी।

इस सन्धि के अनुसार, दौलतराव सींधिया को अपने राज्य में सबसीडियरी सेना मन्जूर करनी पड़ी, जिसका खर्च सींधिया के खजाने से दिया जायगा। इस प्रकार गवर्नर जनरल वेल्सली ने सींधिया को भी तोड़ मरोड़ कर अपने अधिकार में कर लिया, जिस प्रकार उसने पूना-दरबार के पेशवा को कर रखा था।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

होलकर के साथ युद्ध

अंगरेजों की मित्रता का असली रूप

जिन दिनों में गवर्नर-जनरल वेल्सली दौलतराव सींधिया और राघवजी भोंसले के साथ युद्ध की तैयारी कर रहा था, उन दिनों में उसने जसवंतराव होलकर को अंगरेजों का मित्र बना रखा था। उसकी यह मित्रता होलकर के साथ उस समय तक चली, जब तक उसने सींधिया और भोंसले को परास्त नहीं कर लिया।

वेल्सली ने अंगरेजी अफसरों को इस बात की हिदायत दे रखी थी कि वे सभी कम्पनी की ओर से जसवंतरात को मित्रता का बराबर परिचय देते रहें। यही कारण था कि होलकर के जायज और नाजायज सभी कामों में अंगरेजों की सहायता बनी रही।

वेल्सली को होलकर की मित्रता की जरूरत इसलिए थी कि वह कहीं सींधिया और भोंसले के साथ मिलकर मराठों की ताकत को मजबूत न बना दें। इसलिए उसने होलकर के साथ मित्रता कायम की थी और बराबर ऐसे कारण पैदा किये थे कि जिससे सींधिया और भोंसले के साथ होलकर के मिलने की नौबत न आवे।

मित्रता के दिनों में कम्पनी की ओर से जसवंतराव को अनेक प्रकार के आश्वासन दिये गये थे। उससे कहा गया था कि होलकर अगर अंगरेजों के विरुद्ध सींधिया और भोंसले की सहायता न करेगा तो अंगरेज सदा उसके मित्र बने रहेंगे। उससे यह भी कहा गया था कि सींधिया और भोंसले के साथ जो युद्ध होने जा रहा है, उसमें शत्रु के जीते हुए राज्य में से कितने ही इलाके होलकर को दिये जायँगे।

गवर्नर-जनरल के कहने पर ही जनरल वेल्सली ने जसवन्तराव को कुछ पत्र लिखे थे और उन पत्रों में वादा किया था कि युद्ध के बाद

गंगा और यमुना के बीच के बारह जिले और बुन्देलखण्ड तथा भारत के कुछ उत्तरी इलाके होलकर को दे दिये जायँगे।

जसवन्तराव होलकर ने अंगरेजों की मित्रता की बड़ी कीमत समझी थी। सींधिया और भोंसले के मिलने वाले इलाकों से वह बहुत प्रभावित हुआ था। नतीजा यह हुआ था कि उसने विदेशियों के आक्रमण के समय अपने भाइयों की सहायता न की थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि सींधिया और भोंसले के साथ युद्ध मे पराजित हो कर, गुलाम हो जाना पड़ा।

जसवन्तराव होलकर को अङ्गरेजों की मित्रता का असली रूप उस समय तक नहीं मालूम हुआ, जब तक सींधिया और भोंसले का युद्ध समाप्त नहीं हो गया। युद्ध के बाद ही होलकर के प्रति वेल्सली का रुख बदल गया। यद्यपि इसके पहले से ही वेल्सली ने होलकर को भी मिटाने की एक योजना बना रखी थी। उस योजना का पता जनरल वेल्सली के उस पत्र से मिलता है। जो उसने १२ दिसम्बर सन १८०३ को गवर्नर-जनरल के प्राइवेट सेक्रेटरी मेजर शा को लिखा था कि—"सींधिया के इलाकों पर अधिकार कर लेने के बाद भी हम अपनी सत्ता को कायम करने में उस समय तक सफल न होंगे, जब तक होलकर और पेशवा के सभी इलाकों पर कम्पनी का शासन न हो जायगा।"

वेल्सली का बदला हुआ रुख

सींधिया और भोंसले का युद्ध समाप्त हो जाने के बाद जब होलकर ने देखा कि जो वादे अंगरेजों की ओर से किये गये थे, वे एक भी पूरे नहीं किये जा रहे हैं तो उसने जनरल वेल्सली के लिखे हुए पत्रों की नकलें, जनरल लेक के पास भेजीं और लिखा कि इन वादों को पूरा होना चाहिए।

जनरल लेक ने जसवन्तराव के इस पत्र को लेकर अपना एक पत्र शामिल करके गवर्नर वेल्सली के पास भेज दिया।

वेल्सली ने उन पत्रों की प्राप्ति को स्वीकार करते हुए १७ जनवरी सन् १८०४ को उत्तर में लिखा :—

"मेजर जनरल वेल्सली ने जसवन्तराव को ऐसे पत्र लिखे होंगे।

मैंने २६ जून की हिदायतों मे उनको होलकर के साथ मित्रता का व्यवहार शुरू करने के लिए लिखा था।

× × × अब समय आ गया है जब कि हमें इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि होलकर के साथ हमें क्या करना है।

× × × तुकाजी होलकर के नैतिक अधिकारी काशीराव होलकर के विरुद्ध जसवन्तराव होलकर ने जो होलकर राज्य पर अधिकार कर रखा है वह अन्याय है। ऐसी दशा में जसवन्तराव होलकर के साथ किसी भी ऐसे समझौते में हम सहमत नहीं हो सकते जिससे काशीराव होलकर को उसके पैतृक अधिकारों से वञ्चित किया जा सकता हो।

× × न्याय के नाम पर अंगरेजी सरकार को यह अधिकार है कि वह पेशवा की ओर से अथवा उसकी सलाह से काशीराव होलकर को होलकर राज्य का अधिकारी बनाने की कोशिश करे।

× × अधिकारी होने के कारण जसवन्तराव का यह अन्याय है, जिसको दण्ड देने के लिए यदि पेशवा न भी चाहता होगा तो उसके लिए उसे तैयार किया जा सकता है।"

सींधिया और भोंसले के साथ संघर्ष के दिनों मे काशीराव होलकर को उसके पैतृक अधिकारों से वञ्चित करके जसवन्तराव होलकर जब राज्य की गद्दी पर बैठा था, उस समय यही अंगरेज और वेल्सली उसके सहायक थे और इस पाप तथा अन्याय में उसने जसवन्तराव का साथ इसलिए दिया था, जिससे वह सींधिया और भोंसले का मित्र न हो जाय। जसवन्तराव से साफ-साफ कहा गया था और लिखा गया था कि अगर तुम सींधिया और भोंसले की सहायता न करोगे तो अंगरेज सरकार सदा सर्वदा तुम्हारे साथ मित्रता रखेगी और हमेशा तुम्हारी मदद करेगी। इस मित्रता के असली रूप में आने का समय आ गया और उसकी शुरूआत गवर्नर-जनरल के ऊपर के उस पत्र से हो गयी जो उसने जनरल लेक को उत्तर देते हुए लिखा।

होलकर की माँग का जवाब

अपनी माँग को पूरा कराने के लिए जसवन्तराव ने जनरल लेक

के पास अपने प्रतिनिधियों को भेजा और उन्होंने वहाँ जाकर उन माँगों को पेश किया। वादों के अनुसार अंगरेजों से वे इलाके माँगे गये, जिनको देने के लिए जनरल वेल्सली ने जसवन्तराव को पत्र लिखे थे। उन माँगों में कुछ ऐसे इलाके भी थे जो पहले होलकर के अधिकार में रह चुके थे और बाद में अंगरेजों के अधिकार में चले गये थे।

अंगरेज सरकार के पास इन मागों के उत्तर में एक ही उपाय था और वह यह था कि जसवन्तराव होलकर के खिलाफ युद्ध का द्वार खोल दिया जाय। जनरल लेक ने यही किया। वह अपनी एक सेना लेकर होलकर राज्य से उत्तर की ओर बढ़ा और कुछ पहले अपनी सेना का मुकाम किया।

जसवन्तराव होलकर को इस प्रकार की बातों का पता चला। उसे मालूम हुआ कि अंगरेज हमारी सेना के अफसरों को मिला रहे हैं। हमारी सीमा पर अंगरेजी फौजें भी आ गयी हैं। अब उसे साफ-साफ मालूम हो गया कि अंगरेजों ने मुझे किस कदर धोखा दिया और झूठे प्रलोभनों और वादों मे उस समय फँसा कर रखा, जब मैं सींधिया और भोंसले से मिलकर अंगरेजों को नुकसान पहुँचा सकता था।

जसवन्तराव ने अंगरेजों के साथ पैदा होने वाले संघर्ष को बचाने की इच्छा से २७ मार्च सन् १८०४ को जनरल लेक के नाम एक पत्र लिखा :—

"आप मुझे यह बताने की कृपा करें कि इन सब झगड़ों को बचाने के लिए अपने और मेरे बीच मित्रता को कायम रखने के लिए और व्यर्थ मे होने वाले रक्तपात को रोकने के लिए आप तैयार हैं ? जिससे कि मैं आपके पास अपना ऐसा आदमी भेज सकूँ जो बीच के सभी मामलों को सुलझाने और भविष्य के व्यवहार का रास्ता तय करने के लिए आपसे बातें करें।"

जसवन्तराव के इस विनम्रपूर्ण पत्र के उत्तर में जनरल लेक ने ४ अप्रैल सन् १८०४ को लिखा :—

"× × ×आपने जो माँगें पेश की हैं वे सभी व्यर्थ की बातें हैं।

अंगरेजों ने इस प्रकार के कोई वादे नहीं किये। इस प्रकार की बे सिर पैर की बातों को अंगरेज सरकार सुनना पसन्द नहीं करती।"

जनरल लेक ने ४ अप्रैल सन् १८०४ को गवर्नर जनरल के नाम भी एक पत्र भेजा था। उसका उत्तर देते हुए गवर्नर-जनरल ने १६ अप्रैल के पत्र में जनरल लेक को लिखा :—

"मैंने इस बात का निश्चय कर लिया है कि जितनी जल्दी हो सके जसवन्तराव होलकर के साथ युद्ध आरम्भ कर दिया जाय।"

लेक को पत्र भेजने के बाद वेल्सली ने दो पत्र और लिखे। उनमें एक जनरल वेल्सली को लिखकर भेजा कि दक्षिणी भाग से होलकर के चान्दौर इलाके पर हमला कर दें और सींधिया राज्य के अपने रेजीडेण्ट को दूसरा पत्र भेजा कि तुम सींधिया को तैयार करो कि वह अपनी सेना को होलकर राज्य पर हमला करने के लिए तुरन्त रवाना करे।

गवर्नर-जनरल वेल्सली ने यह सब किया, लेकिन अभी तक उसने जसवन्तराव होलकर को युद्ध की सूचना तक न दी। जसवन्तराव अब भी मित्रता कायम रखने के उपाय सोचने में लगा था।

सींधिया के साथ खुली जबरदस्ती

अंगरेज सरकार जसवन्तराव से युद्ध करना चाहती थी। लेकिन उसका इरादा यह था कि सींधिया की फौज से ही जसवन्तराव को नष्ट किया जाय। मराठों से ही नाश करना अंगरेजों की कूटनीति का मुख्य उद्देश्य था। इस नीति से लाभ उठाने का अंगरेजों को इसलिए भी मौका था कि जसवन्तराव और दौलतराव में बहुत पहले से असंतोष और अनबन का कारण चला आ रहा था।

इतना सब होने पर भी अंगरेजों के सामने एक अड़चन था। युद्ध के बाद सींधिया और कम्पनी के बीच जो सन्धि हुई थी, उसके खिलाफ अंगरेज सींधिया पर अत्याचार कर रहे थे। सन्धि के अनुसार ग्वालियर और गोहद का इलाका दौलतराव को मिलना चाहिए। लेकिन वेल्सली ने उस इलाके पर जबदस्ती कब्जा कर रखा था।

गोहद का राज्य सींधिया के मातहत था। अब अंगरेजी सरकार जबरदस्ती उस पर कब्जा करना चाहती थी। उसे सन्धि की परवाह न

थी। उसने अपने सेनापति जनरल लेक को लिखकर ग्वालियर और गोहद पर अपना कब्जा करा लिया था।

दौलतराव सींधिया के दिल में इस बात का असन्तोष था। इस प्रकार के असन्तोष के कारण सींधिया राज्य में कहीं विद्रोह की आग फिर न भभक उठे, इसलिए उसके दरबार के लोगों को रिश्वतें देकर अंगरेजों ने अपने बस में कर रखा था। जनरल वेल्सली ने अपने एक पत्र में २६ फरवरी सन् १८०४ को गवर्नर-जनरल को लिखकर भेजा था :—

"+++रिश्वतें देकर सींधिया दरबार के सरदारों को मैंने अपने काबू में कर रखा है।"

दौलतराव सींधिया को अंगरेजों से और भी शिकायतें थीं। सन्धि के अनुसार अहमद नगर अंगरेजों को मिला था। लेकिन उसके आस-पास के इलाके सींधिया के अधिकार में रखे गये थे। निश्चय यह हुआ था कि इन इलाकों में अगर कभी गड़बड़ पैदा होगी तो उसको शान्त करने के लिए अंगरेजी सेना को काम में लाया जायगा। लेकिन सन्धि के बाद उन इलाकों के भीलों को अंगरेजों ने सींधिया के खिलाफ भड़-काया और उन इलाकों से मालगुजारी वसूल करना कठिन हो गया। उस हालत में सींधिया की ओर से मदद के लिए अंगरेजी सरकार से बार-बार कहा गया। परन्तु कोई सहायता न मिली और न अंगरेजी सेना ही उस उत्पात को रोकने के लिए आयी। अन्त में मजबूर होकर दौलतराव स्वयं अपनी सेना लेकर वहाँ के उपद्रव रोकने के लिए जब तैयार हुआ तो सन्धि की आड़ लेकर सींधिया को इसके लिए अंगरेजों ने रोक दिया।

सींधिया के साथ छल

वर्तमान परिस्थितियों में जब होलकर पर आक्रमण करने के लिए सींधिया से मदद लेना कठिन मालूम हुआ तो वेल्सली ने एक नयी चाल सींधिया के सामने पैदा की। उसने घोषणा करते हुए लिखा :—

"युद्ध करके होलकर का राज्य कम्पनी अपने कब्जे में नहीं लेना चाहती। चान्दोर के इलाके पेशवा को, गोदावरी के दक्षिणी इलाके निजाम को और होलकर राज्य के बाकी इलाके सींधिया को दे दिये

जायँगे। लेकिन शर्त यह है कि जब होलकर को विजय करने में सींधिया अंगरेजों की सहायता करे।"

इतिहासकार मिल ने लिखा है कि—"वेल्सली की यह घोषणा, सींधिया को धोखा देने के लिए ही थी। जसवन्तराव के विरुद्ध युद्ध शुरू करने का कारण वेल्सली ने लिखा था कि काशीराव होलकर के साथ अन्याय करके जसवन्तराव राज्य की गद्दी पर बैठ गया है। अंगरेजी सरकार यह अन्याय बरदाश्त न कर सकेगी। वेल्सली ने यह भी लिखा था कि पेशवा की ओर से जसवन्तराव का राज्य काशीराव होलकर को जो वास्तव में उसका मालिक और अधिकारी है, दिया जायगा। लेकिन उसी वेल्सली की इस नयी घोषणा में जसवन्तराव के राज्य के बंटवारे में बेचारे काशीराव का कहीं नाम तक नहीं आता।"

होलकर के साथ युद्ध का प्रारम्भ

वेल्सली की नीति सफल हुई। सींधिया की सेना जसवन्तराव के राज्य पर हमला करने के लिए रवाना हो गयी। बापूराव सींधिया और बैपटिस्टे फिलोसे उस सेना के सेनापति थे। इस सेना ने हमला करके होलकर के आष्टा सिहौर और मिलसा के इलाकों पर कब्जा कर लिया।

इन दिनों मे करनल मरे गुजरात में था। जनरल वेल्सली ने उसे लिखा कि तुम अपनी सेना लेकर होलकर की राजधानी इन्दौर पर आक्रमण करो। जनरल वेल्सली उस समय बम्बई में था। वहाँ से एक सेना लेकर वह स्वयं दौड़ पड़ा।

युद्ध शुरू हो गया। लेकिन अंगरेजी सेना को कामयाबी न हुई। अंगरेजी सैनिकों के अधिक मारे जाने पर जनरल लेक ने गवर्नर-जनरल को १२ मई के पत्र में लिखा :—

"अभी तक युद्ध की हालत अच्छी नहीं है इसलिए इस समय यह युद्ध रोक देना चाहिए।"

वेल्सली ने यही किया। उसने युद्ध को रोककर सेनाओं के लौट आने की आज्ञा दे दी।

बुन्देलखण्ड में अंगरेजों की पराजय

अंगरेजी सरकार ने बिना किसी सूचना के जिस प्रकार आक्रमण किया और शान्तिपूर्ण सन्धि की प्रार्थना को ठुकरा दिया, इस बात का जसवन्तराव को बहुत अफसोस था। इसी मौके पर जनरल लेक की अत्यन्त बहकी हुई बातें उसे सुनने को मिलीं। उसका राजपूती खून उबल पड़ा और उसने अंगरेजी फौजों पर हमला करने की आज्ञा दे दी।

उस मौके पर अंगरेजों की एक सेना करनल फासेट के सेनापतित्व में बुन्देलखण्ड में मौजूद थी। होलकर के लगभग पाँच हजार सवारों ने २१ मई को उस सेना पर आक्रमण किया। उस समय के अंगरेजी अधिकारियों के पत्रों से मालूम होता है कि अंगरेजी सेना को उस होने वाले आक्रमण की खबर हो गयी थी। इसीलिए आक्रमण होने के पहले ही वे तैयार हो चुकी थी।

दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। किन्तु अंगरेजी सेना को बुरी तरह पराजित होना पड़ा।

अंगरेजों के तूफानी हमले

बुंदेलखण्ड में अंगरेजी सेना के पराजित होने पर अंगरेजी सरकार को बहुत जेर होना पड़ा। गवर्नर जनरल वेल्सली ने अपनी सारी शक्ति लगाकर जसवन्तराव होलकर पर एक साथ चारों ओर से आक्रमण करने की योजना तैयार की।

होलकर राज्य पर आक्रमण करने के लिए एक विस्तृत सेना लेकर जनरल उत्तरी इलाकों की तरफ चला। दक्षिणी इलाकों पर हमला करने के लिए करनल वैलेस के सेनापतित्व मे दूसरी सेना रवाना हुई। करनल मरे अपनी सेना के साथ अन्य रास्तों से आगे बढ़ा।

जसवन्तराव होलकर का युद्ध, उस प्रकार का युद्ध न था, जिस प्रकार सींधिया और भोंसले के साथ अंगरेजों के षड़यन्त्रों को कामयाबी हुई थी और कहीं पर भी जमकर लड़ाई न हुई थी। सींधिया की सेना मे योरोपियन अफसर भरे पड़े थे। उनके विश्वासघातों और देशी अफसरों के भी मिल जाने से, सींधिया और भोंसले को बिना युद्ध के ही बहुत से इलाके और किले छोड़ देने पड़े थे।

जसवन्तराव अंगरेजों की चालों से बहुत-कुछ जानकार हो चुका था। होलकर दरबार और राज्य में षड़यन्त्र करते हुए उसने तीन अंगरेजी अफसरों को जान से मरवा दिया था। उसके कारण अंगरेजों ने उस प्रकार की चालें होलकर के यहाँ बन्द कर रखी थीं।

पिछले पन्नों में लिखा जा चुका है कि अंगरेजों ने जसवन्तराव के एक विश्वासी सरदार अमीर खाँ को फोड़ लिया था और उसे निजाम की सेना में एक अफसर बनाकर नौकर रख लिया था।

उसी अमीर खाँ की सहायता से अंगरेजी सेना ने टोंक व रामपुर के किले पर आक्रमण किया और जीतकर अपने बस में कर लिया।

बुंदेलखण्ड की पराजय के बाद अंगरेजों ने अपनी पूरी ताकत से काम लिया और कई सेनायें युद्ध के लिए रवाना की गयीं।

जनरल मानसन ने अपनी महान सेना को लेकर १ जूलाई सन् १८०४ को होलकर राज्य पर हमला किया। दूसरे दिन उस सेना ने हिङ्गलासगढ़ के किले पर अपना अधिकार कर लिया। उसके बाद पचास मील के करीब आगे बढ़ जाने पर उसने मालूम किया कि जसवन्तराव अपनी विशाल सेना के साथ चम्बल नदी पार कर इसी तरफ आ रहा है।

गुजरात की ओर से करनल मरे ने उज्जैन पर हमला किया। लेकिन खाने-पीने का सामान घट जाने के कारण उसने लौट कर फिर गुजरात का रास्ता लिया।

अंगरेजों की पराजय

होलकर की सेना ने आगे बढ़ कर ८ जुलाई को अंगरेजी फौजों का सामना किया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। कुछ भारतीय सैनिकों ने अंगरेजी सेना से निकल कर होलकर की सेना का साथ दिया।

होलकर और अंगरेजी सेनाओं के घोर युद्ध में भयानक मारकाट हुई। होलकर के बहादुर सैनिकों ने अंगरेजी सेना को काट कर ढेर कर दिया। ल्यूकन नामक अंगरेजी अफसर, जो पहले सींधिया की सेना का अफसर था और अंगरेजों के साथ युद्ध में जिसने सींधिया के साथ भयंकर विश्वासघात करके अंगरेजों का साथ दिया था, इस

युद्ध में वह कैद हो गया और होलकर के कैदखाने में ही पेचिस की बीमारी मे मर गया।

सींधिया की ओर से आयी हुई सेना के सेनापति बापू जी सींधिया को भी इस मोर्चे पर बड़े खतरों का सामना करना पड़ा। उसकी सेना का बहुत-सा सामान होलकर की सेना ने अपने कब्जे में कर लिया और बापू जी सींधिया मैदान से हट गया।

अंगरेजी सेना और उसका सेनापति जनरल मानसन पीछे था। बापू जी सींधिया पीछे हटकर उसी के पास पहुँच गया था। लेकिन होलकर की सेना ने तूफान की तरह आगे बढ़कर मानसन की विशाल सेना पर आकमण किया। जनरल मानसन के छक्के छूट गये। होलकर की सेना का आक्रमण होते ही वह जान लेकर मैदान से भागा। उसके भागते ही अंगरेजी सेना ने भी भागना शुरू किया।

होलकर की विजयी सेना ने अंगरेजी सेना का पीछा किया। होलकर राज्य की सीमा पर मानसन और उसकी सेना ने होलकर की सेना का फिर मुकाबिला किया। दोनों ओर से भयानक युद्ध हुआ। होलकर के विजयी सैनिकों ने अंगरेजी सेना को काट-काटकर खलिहान की तरह ढेर लगा दिये और युद्ध-स्थल को अंगरेजी सेना के सैनिकों की लाशों से पाट दिया।

जनरल मानसान की सेना के बेशुमार सिपाही मारे गये। अन्त में हिम्मत हारकर मानसन को इस मैदान से भी भागना पड़ा और उसने कोटा में जाकर साँस ली।

कोटा के राजा जालिमसिंह ने मानसन की सहायता करने से इनकार कर दिया। इस पर उसने वहाँ से भागकर रामपुरा पहुँचने का निर्णय किया। लेकिन पानी के अधिक बरसने और चम्बल नदी के बढ़ जाने के कारण आगे जा सकना कठिन हो गया। इतिहास लेखक ग्राण्ट डफ के लेख के अनुसार, मानसन और उसकी सेना बड़ी मुसीबत मे पड़ गयी। उसकी तोपें इस कदर कीचड़ मे फँस गयीं कि उनका निकलना नामुमकिन होगया। बचे हुए सैनिकों के खाने-पीने का भी कोई प्रबन्ध न था। इसलिए जनरल मानसन ने अपने गोले बारूद में आग लगवा दी और तोपों को नष्ट करके वहीं पर छोड़ दिया।

बापूजी सींधिया का अन्त

जनरल मानसन के लगातार पराजित होने पर और उसके भाग जाने पर बापूजी सींधिया बड़े खतरे में पड़ गया। इतिहास-लेखकों का कहना है कि जनरल मानसन ने उसका अन्त में साथ भी न दिया। आखीर में बापूजी सींधिया और उसके सैनिकों ने आत्म-समपण कर दिया और होलकर की सेना में जा कर मिल गये।

अंगरेजों की पराजित सेना

होलकर की सेना के साथ अंगरेजी सेना का कई स्थानों पर युद्ध हुआ। लेकिन अंगरेजी सेना बुरी तरह पराजित होती रही। जनरल मानसन और उसके सिपाहियों के भागने पर भी होलकर की सेना ने उनका पीछा किया।

इस भगदड़ में अंगरेजी सेना का बहुत नुकसान हुआ। युद्ध का सामान अरक्षित दशा मे उनको छोड़कर भागना पड़ा। भागने की हालत में उसके बहुत से सैनिक मारे गये। जख्मी सैनिकों का बहुत बुरा हाल हुआ। २९ जुलाई को मानसन अपनी बची हुई सेना के साथ भाग कर रामपुर में पहुँचा।

जनरल लेक ने २१ जुलाई के अपने पत्र में लिखा था कि होलकर की सेना के मुकाबिले मे मानसन की सेना कुछ कम न थी। उसने यह भी लिखा था कि मैं युद्ध मे लड़ाई लेने के बजाय, जसवन्तराव के आदमियों को मिलाने, फोड़ने और उनमें फूट पैदा करने की कोशिश में लगा रहा।

गवर्नर जनरल ने २८ जुलाई के अपने पत्र में जनरल लेक को लिखा :—"+ + अभी तक जो समाचार मिले हैं, उनसे बहुत दुख पहुँचा है। + + + जब तक आप होलकर से लड़ने के लिए विशाल आयोजन न करेंगे और बड़ी-से-बड़ी तैयारी के साथ उस पर आक्रमण न करेंगे। उस समय तक आपको कामयाबी न होगी। + + + होलकर की सेना में जो पठान और मुसलमान हैं, उनको रिश्वतें देकर मिलाया जा सकता है।"

होलकर की सेना पर आक्रमण

जनरल मानसन रामपुरा पहुँच चुका था। उसका दिल टूट चुका था

और अब वह जसवन्तराव की सेना के मुकाबिले नहीं जाना चाहता था। लेकिन जनरल लेक ने उसकी सहायता के लिए एक दूसरी अंगरेजी सेना, जिसमें बहुत से भारतीय सैनिक भी थे, बहुत-सी युद्ध सामग्री के साथ, रामपुरा भेजी और होलकर पर हमला करने के लिए मानसन को लिखा।

मानसन की हिम्मत टूट चुकी थी। रामपुरा से वह अपनी सेना को लेकर कुशलगढ़ की तरफ चला। होलकर की सेना पर आक्रमण करने के लिए वह दुविधा में था। उसी मौके पर होलकर अपनी सवार सेना के साथ वहाँ पहुँच गया और कुछ दूरी पर मुकाम किया।

मानसन ने मौका पाकर धोखे में होलकर की सेना पर छापा मारा, लेकिन होलकर की सवार सेना, अंगरेजी सेना पर टूट पड़ी और उसके हमले को छिन्न-भिन्न कर दिया। मानसन की सेना की फिर पराजय हुई। उसके बहुत-से आदमी मारे गये। मानसन अपने बाकी सैनिकों के साथ फिर युद्ध से भागा और कुशलगढ़ पहुँच गया।

कुशलगढ़ जयपुर का एक इलाका था। वहाँ पर सींधिया की एक सेना मौजूद थी। उससे किसी प्रकार की मदद न मिलने पर अंगरेजी सैनिकों और मानसम को वहाँ से भी भागना पड़ा। इसलिए कि उसे खबर मिली कि जसवन्तराव अपनी सेना के साथ इसी तरफ आ रहा है। मानसन वहाँ से भागकर आगरे पहुँचा।

अंगरेजी सेना की इस भयंकर हार पर जनरल लेक ने गवनर-जनरल के नाम २ सितम्बर को जो पत्र लिखा, उसमें उसने बहुत अफसोस जाहिर किया और स्वीकार किया कि इस लड़ाई में अंगरेजी सेना के बहुत अच्छे सैनिक मारे गये।

होलकर के साथ युद्ध में अंगरेजों की बड़ी छीछालेदर हुई। अधिक सैनिक मारे गये। युद्ध की सामग्री बहुत नष्ट हुई। उनकी जो धाक जमी थी, बहुत-कुछ बदल गयी। इस हानि और जिल्लत से परेशान होकर गवर्नर जनरल ने जनरल लेक के नाम ११ सितम्बर सन् १८०४ को पत्र लिखा उसमें जाहिर किया :—

"×××अब हमें भविष्य का कार्यक्रम बनाना चाहिए। आपकी मौजूदगी में हमें सफलता मिलनी चाहिए। ++यदि हम जसवन्त-राव को पराजित न कर सके तो देशी राजा और नवाब—सभी

हमारा साथ छोड़ देंगे और हमारे इलाकों पर मुसीबत आ जायगी। +++आपकी बात मैं मानता हूँ कि होलकर की सेना पर जोरदार आक्रमण किया जाय, ++साथ ही अपने जो सहायक हैं उनकी सहायताओं को अधिक जोरदार बनाया जाय और होलकर की सेना के अफसरों को मिलाने में कोई कसर न रखी जाय।"

जसवन्तराव होलकर की सैनिक शक्ति का मुकाबिला करने में अंगरेजों को जो अनुभव हुआ उसमें वेल्सली ने यह तय किया कि देशी नरेशों और नवाबों से अधिक मदद ली जाय। नयी शक्तियाँ पैदा करके अपना पक्ष मजबूत किया जाय और होलकर के आदमियों को रिश्वतें देकर या दूसरे प्रलोभनों से फोड़ लिया जाय।

इस प्रकार के षड़यन्त्रों का भार जनरल लेक को सौंपा गया। वह इन कामों में बहुत होशियार भी था और उसी की चालों से अंगरेजों ने सींधिया तथा भोंसले को शिकस्त दी थी। अनेक प्रकार की कूटनीति से काम लेने पर जनरल लेक ने २२ सितम्बर सन् १८०४ को वेल्सली के नाम एक पत्र लिखा :—

"होलकर की सेना के आदमियों की बहुत-सी बातें हैं। कुछ लोगों ने हमारी बातों को मन्जूर किया है। लेकिन उन पर आसानी से विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर भी जो कुछ सम्भव है उनको भड़का कर प्रलोभन देकर लाभ उठाना चाहिए।"

भरतपुर के राजा की खुशामद

अंगरेजों की कूटनीति किसी से छिपी न थी। सभी नरेश उनसे सावधान हो रहे थे। लेकिन देश के दुर्भाग्य से वे आपस में मिल न सकते थे। देशी राजाओं की इसी निर्बलता का अंगरेजों ने मनमानी फायदा उठाया।

भरतपुर के राजा रणजीतसिंह को होलकर के खिलाफ तैयार करने के दाँव-पेच अंगरेजों ने शुरू कर दिये। वेल्सली ने २२ अगस्त सन् १८०४ को अपने एक पत्र में जनरल लेक को लिखा था :—

"अंगरेजों की ओर से भरतपुर के राजा को सभी प्रकार के विश्वास दिलाने के लिए मैं आपको अधिकार देता हूँ। आप उसे समझाइए कि जो अंगरेजों के विरुद्ध आजकल बातें कही जाती हैं वे

सब झूठी हैं। भरतपुर के साथ कम्पनी की जो सन्धि हुई है, उसके खिलाफ अंगरेजी सरकार ने कभी एक अक्षर नहीं सोचा।"

अंगरेजों की बातें कुछ और होती थीं, लेकिन उनके काम दूसरे ही होते थे। रणजीतसिंह सींधिया का सामन्त था, लेकिन अंगरेजों की बातों में फँसकर उसने सींधिया के साथ विश्वासघात किया था। अंगरेज की ओर से उसे अनेक प्रलोभन दिये गये थे। लेकिन बाद में वे एक भी पूरे न हुये थे। अन्त मे सन्धि के समय जो कुछ रणजीतसिंह को मिला भी था, उसमें अंगरेज बराबर दखल देते रहते थे। रणजीत सिंह को यह मालूम हो गया था कि एक बार अंगरेजों के चक्कर मे पड़ जाने पर अपनी हस्ती को खो देना पड़ता है।

गवर्नर-जनरल वेल्सली और जनरल लेक की एक-सी नीति रहती थी, वे दोनों ही होलकर को नाश करने के बाद भरतपुर के राजा रणजीतसिंह को भी मटियामेट कर देना चाहते थे।

युद्ध के लिए अंगरेजो की विशाल योजना

जसवन्तराव को पराजित करने के लिए अंगरेजों ने विराट सैनिक आयोजन आरम्भ कर दिया। मथुरा, दिल्ली और आगरे में अंगरेजों की बड़ी-बड़ी सेनाएँ इकट्ठा की गयीं और होलकर राज्य पर हमला करने के लिए पाँच सेनाओं की तैयारी हुई। निश्चय हुआ कि होलकर को चारों ओर से एक साथ घेर लिया जाय।

मथुरा में होलकर का अधिकार

मानसन के आगरे की तरफ भागने पर जसवन्तराव ने उसका पीछा करने की कोशिश की और आगे जाकर कम्पनी के राज्य मथुरा पर आक्रमण किया। वहाँ पर अंगरेजों की एक बड़ी सेना का प्रबन्ध था। लेकिन होलकर के सामने उसका ठहर सकना मुश्किल हो गया। अंगरेजी सेना मथुरा छोड़कर भाग गयी और जसवंतराव ने मथुरा पर अपना कब्जा कर लिया।

इन्दौर पर अंगरेजो का कब्जा

होलकर राज्य के मालवा की तरफ करनल मरे ने आक्रमण किया था लेकिन रसद की कमी के कारण उसे गुजरात लौट जाना पड़ा था।

५ जुलाई सन् १८०४ को करनल मरे फिर उज्जैन की तरफ बढ़ा। उज्जैन से ही उसने आस-पास के इलाकों पर हमला करना शुरू कर दिया। जसवन्तराव की अनुपस्थिति में उसने अनेक मुकामों और इलाकों पर कब्जा करके होलकर की राजधानी इन्दौर पर अपना अधिकार कर लिया। जनरल वेल्सली के स्थान पर करनल वैलेस ने अपनी सेना के साथ दक्षिणी इलाकों पर धावा किया। वह पूना से २२ अगस्त को रवाना हुआ था। १८ सितम्बर को उसने गोदावरी नदी को पार किया। २७ और ३० सितम्बर तक उसके पास पेशवा की अपनी सेना भी आ गयी। उस समय मौका पाकर करनल वैलेस ने कई इलाकों पर कब्जा कर लिया।

मानसन की सेना का पीछा करते हुए जब जसवंतराव मथुरा में पहुँचा, उस समय उसने मालवा और दक्षिणी इलाकों के चले जाने का समाचार सुना।

मथुरा में ठहर कर जसवंतराव ने सींधिया, भरतपुर और बरार के राजा को अपने साथ मिलाने की कुछ तरकीबें सोचीं। उसी मौके पर जनरल लेक ने एक विशाल सेना लेकर होलकर पर हमला करने की तैयारी की। वह ३ सितम्बर को कानपुर से रवाना हुआ और मथुरा की तरफ बढ़ा। इधर जसवंतराव दिल्ली पहुँचकर मुगल सम्राट को मिलाना चाहता था। लेकिन अंगरेजों ने दिल्ली का पहले से ही ऐसा प्रबन्ध कर लिया था कि जसवंतराव को उसके लिये मौका ही न मिला।

होलकर को जीतने के लिए जनरल लेक ने रिश्वतों की वर्षा कर रखी थी। इसी रिश्वत के कारण सिखों ने अंगरेजों का साथ दिया था। जसवंतराव के मुकाबिले में भी अंगरेजों की रिश्वतों को भी कामयाबी मिली।

दिल्ली से लौटने पर जसवंतराव सहारनपुर पहुँचा। लेकिन वहाँ पर पहले से ही अंगरेजों की रिश्वतों ने अपना काम कर रखा था। इसलिए जसवंतराव को वहाँ से भरतपुर की तरफ चला जाना पड़ा।

———

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

भरतपुर में अंगरेजों की चढ़ाई

जसवन्तराव पर हमला

सहारनपुर में असफल होकर जसवन्तराव भरतपुर के लिए रवाना हो गया था। वहाँ जाकर राजा रणजीतसिंह से वह मिलना चहता था। इधर उस पर हमला करने के लिए ३१ अक्टूबर को एक बड़ी अंगरेजी सेना के साथ जनरल लेक दिल्ली से रवाना हुआ और उसने मेजर जनरल फ्रेजर को एक सेना लेकर होलकर के साथ युद्ध करने के लिए भेजा।

जनरल लेक को मालूम हुआ कि होलकर शामली में मौजूद है। इसलिए उसकी फौजों ने उसी दिशा में कँच किया। लेकिन होलकर वहाँ से चला गया था।

५ नवम्बर को जनरल फ्रेजर की सेना दिल्ली से रवाना हुई। डीग के किले से बाहर होलकर की सेना के साथ उसका युद्ध हुआ। होलकर स्वयं वहाँ मौजूद न था। उस लड़ाई मे होलकर के अधिक सैनिक मारे गये और अन्त में होलकर की सेना डीग के दुर्ग में पहुँच गयी।

डीग पहुँचने के पहले ही होलकर ने अपने साथ की सेना के दो भाग कर दिये थे। पैदल सेना और तोपखाना उसने आगे रवाना कर दिया था और सवारों की सेना के साथ वह खुद भरतपुर जा रहा था। उसके और उसकी सवार सेना के युद्ध में न होने के कारण उसकी पैदल सेना का अधिक नुकसान हुआ। होलकर की सत्तासी तोपें भी अंगरेजी सेना के अधिकार में चली गयी।

डीग का किला भरतपुर राज्य में था। वहाँ पर होलकर ने अपनी सेना के साथ विश्राम लिया। जनरल लेक दिल्ली से रवाना हो चुका

था और शामली पहुँच कर होलकर के आदमियों को तोड़ने-फोड़ने में लगा था।

जनरल लेक ने भरतपुर के राजा रणजीतसिंह को अपने पक्ष में करने की कोई कोशिश उठा न रखी थी। लेकिन रणजीतसिंह ने होलकर की सहायता करने के लिये निश्चय किया।

वेल्सली को जब भरतपुर का रुख मालूम हुआ तो उसने जनरल लेक को लिख दिया कि वह भरतपुर के राजा को लिखे और कहे कि भरतपुर के लोग होलकर के साथ सम्बन्ध जोड़कर अंगरेजों से विद्रोह कर रहे है। इसलिए वह अंगरेजों के बताने के अनुसार भरतपुर के आदमियों को कैद करके अंगरेजी सेना के सुपुर्द कर दें। उन कैदियों को अंगरेजी इलाके मे अंगरेजी अदालत के सामने कोर्ट मार्शल किया जायगा।

भरतपुर मे गिरफ़्तारी करने के लिए वेल्सली ने जनरल लेक को भी अधिकार द दिया और लिख दिया कि जो लोग भरतपुर मे गिरफ़्तार किय जाँय उनको गोली से मरवा दिया जाय।

रणजीतसिंह ने ऐसा करने से इनकार कर दिया और जसवन्तराव की ओर से लड़ने का विचार पक्का कर लिया।

डीग पर अंगरेजों का अधिकार

जनरल लेक ने अपनी सेना के साथ डीग पहुँच कर उसके किले पर गोले बरसाने शुरू कर दिये। लगातार दस दिनों तक अंगरेजी सेना किले पर गोल बरसाती रही। होलकर अब भी अपनी सेना के साथ वहीं पर था। किले के भीतर की कुल सेना भरतपुर पहुँच गयी। २४ तारीख को डीग के नगर और किले पर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

इसके बाद गवर्नर-जनरल ने २० दिसम्बर सन् १८०४ को लेक के नाम एक पत्र भेजा। उसमे लिखा :—

"भरतपुर राज्य के सभी किलों और इलाकों पर कम्पनी का कब्जा करन के लिए जो आप मुनासिब समझें करें। इस बात का आप को अधिकार है।"

डीग के बाद अंगरेजी सेना ने आस-पास के सभी इलाकों पर

कब्जा कर लिया। केवल भरतपुर बाकी रह गया। लेक ने रणजीतसिंह से होलकर को अंगरेजों के हवाले कर देने के लिए कहा। लेकिन रणजीतसिंह ने ऐसा करने से इनकार कर दिया।

भरतपुर में युद्ध

उस समय भरतपुर नगर की लम्बाई ८ मील थी। नगर के चारों ओर मोटी और ऊंची ऐसी दीवारें बनी थी, कि जिनके बाहर पानी से भरी हुई चौड़ी खाइयाँ थीं। नगर के पूरब दिशा में भरतपुर का किला था, जिसमें तोपें लगी हुई थी। भरतपुर की सेना और जसवन्तराव के साथ आयी हुई फौज भरतपुर के नगर के भीतर मौजूद थी। होलकर की सेना का कुछ भाग किले के बाहर इधर-उधर के इलाकों में इसलिए घूम रहा था, जिससे अंगरेजी सेना को रसद न मिल सके।

अंगरेजी सेना ने ७ जनवरी सन् १८०५ को भरतपुर में गोले बरसाने शुरू किये। दो दिनों के बाद उन गोलों से नगर की दीवारों का कुछ हिस्सा टूट गया। अंगरेजी सेना नगर के भीतर प्रवेश करने के लिए तेजी के साथ आगे बढ़ी। उसी समय भरतपुर और होलकर की सेना ने उस पर आक्रमण किया। जिससे घबराकर अंगरेजी सेना को पीछे लौटना पड़ा।

बाहर लौटकर अंगरेजी फौज ने नगर पर फिर गोले बरसाने शुरू किये और लगभग डेढ़ सप्ताह तक बराबर गोले बरसते रहे। लेकिन अंगरेजों को कामयाबी न हुई। जिस समय अंगरेजी सेना बाहर से नगर पर गोले बरसा रही थी उस समय उन गोलों का जवाब भरतपुर के किले से दिया जा रहा था।

भरतपुर के आक्रमण में अंगरेजी सेना को लगभग एक मास बीत गया लेकिन कोई सफलता न मिली। इसके बाद उसकी सहायता के लिए १२ फरवरी सन् १८०५ को एक दूसरी अंगरेजी सेना भरतपुर पहुँच गयी। उसके साथ तोपों की अधिक संख्या थी।

अंगरेजी सेना ने अपनी पूरा शक्ति के साथ तीसरी बार नगर में प्रवेश करने की कोशिश की और बड़े जोरों के साथ गोलों की वर्षा आरम्भ की। इन गोलों से भीतर जाने का एक रास्ता खुला। अंगरेजी सेना के भीतर प्रवेश करते ही भरतपुर और होलकर की सेनाओं ने

एक साथ गोलियों की वर्षा आरम्भ की। जिससे अंगरेजी सेना के बहुत-से आदमी मारे गये।

अंगरेजी सेना में गोरे सिपाही आगे थे। उनका आगे बढ़ना रुक गया। उसके बाद अंगरेजी सेना के भारतीय सैनिकों ने आगे बढ़कर युद्ध किया।

अंत में अंगरेजी सेना को तीसरी बार भी असफल होना पड़ा। इस खबर को पाकर गवर्नर-जनरल ने लेक के नाम एक पत्र भेजा :—

"भरतपुर में युद्ध के साथ यदि रणजीतसिंह को किसी भी शर्त पर मिलाने की कोशिश की जाय तो अच्छा होगा। × × × अगर ऐसा किया जा सके तो होलकर के अन्त होने में देर न लगेगी।"

वेल्सली का पत्र पाकर जनरल लेक ने रणजीतसिंह के साथ समझौता करने की कोशिश की और जाहिर किया कि यदि वह होलकर का साथ छोड़ देगा तो उसका पूरा राज्य उसके हवाले कर दिया जायगा।

इस प्रकार की चाल लेक ने रणजीतसिंह के साथ शुरू कर दी। यद्यपि वह होलकर और रणजीतसिंह—दोनों को शिकस्त देने के लिए अपने कितने ही गुप्त उपाय और षड़यन्त्र वह काम में ला रहा था। लेकिन किसी में भी उसे सफलता न मिली।

राजा भरतपुर के साथ सन्धि

वेल्सली ने युद्ध बन्द करने के लिए पहले भी लिखा था और उसके बाद जनरल लेक को उसने ९ मार्च सन् १८०५ को एक पत्र में लिखा :—

"मैं चाहता हूँ कि भरतपुर का यह युद्ध किसी भी तरह से बन्द कर दिया जाय। × × इस युद्ध को मामूली समझने में हम लोगों ने भूल की थी।"

जनरल लेक के बार-बार कहने पर भी रणजीतसिंह सन्धि के लिए तैयार न हुआ किन्तु आखीर में कुछ अपनी मजबूरियों के कारण सन्धि को मन्जूर किया परन्तु जसवन्तराव के सम्बन्ध में उसने कोई शर्त मन्जूर नहीं की।

अप्रैल के प्रारम्भिक दिनों में कम्पनी के साथ भरतपुर के राजा की सन्धि हो गयी और उस सन्धि के अनुसार भरतपुर का समूचा राज्य रणजीतसिंह के अधिकार में बना रहा।

———

अट्ठाइसवाँ परिच्छेद

द्वितीय मराठा युद्ध का अन्त

भारत से वेल्सली की रवानगी

दौलतराव सींधिया और भोंसले के युद्ध मे भरतपुर के राजा रणजीतसिंह ने अपने देशवासियों के साथ विश्वासघात किया था और युद्ध मे अंगरेजों का साथ दिया था। फिर भी अंगरेज इस बात को न चाहते थे कि भरतपुर राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रहे। इसके सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल वेल्सली और जनरल लेक के बीच कई बार पत्र-व्यवहार हो चुके थे।

इतना सब होने पर थी भरतपुर मे अंगरेजों की ओर से हमला करने का नौबत अभी न आती, अगर जसवंतराव होलकर के युद्ध का अन्त भरतपुर पहुँच गया होता। होलकर के युद्ध के सिलसिले मे अंगरेजों ने भरतपुर पर चढ़ाई की। दोनों ओर से युद्ध के मोर्चे लगे। किन्तु बिना किसी परिणाम के उस संघर्ष का अन्त हुआ और सन्धि हो गयी।

इस समय भरतपुर का प्रश्न समाप्त हो गया। किन्तु जिसके कारण भरतपुर का संग्राम इतनी जल्दी सामने आगया था, उसका प्रश्न अब भी ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। भरतपुर की सन्धि के साथ-साथ जसवंतराव होलकर का कोई निर्णय न हुआ। दौलतराव सींधिया के साथ भी अंगरेजों का भीतर-ही-भीतर संघर्ष बढ़ रहा था। खुलकर न तो सींधिया अंगरेजों के विरोध में खड़ा हो रहा था और न अंगरेज ही उसके विरोध में कुछ कर रहे थे। लेकिन सींधिया के आत्मा में अंगरेजों के खिलाफ विरोध की एक ज्वाला थी; जिसके कारण वह अपनी सेना के साथ भरतपुर युद्ध के सिलसिले में उस समय भरतपुर पहुँचा जब वहाँ का युद्ध समाप्त हो चुका था और सन्धि हो चुकी

थी। इसलिए होलकर के साथ-साथ सींधिया की समस्या भी अभी तक ज्यों-की-त्यों पड़ी थी।

जसवंतराव होलकर ने मथुरा में अधिकार करने के समय में ही भरतपुर, सींधिया और भोंसले से मिलकर एक योजना तैयार करने का निर्णय किया था, परन्तु उसके लिए समय न मिला और भरतपुर का युद्ध पहले ही प्रारम्भ हो गया।

रणजीतसिंह के साथ अंगरेजों की सन्धि हो जाने के बाद जसवंतराव होलकर ने सबलगढ़ में दौलतराव सींधिया से मुलाकात की और उसके बाद दोनों ही कोटा होकर अजमेर चले गये। इधर वेल्सली युद्ध से काफी परेशान हो चुका था। उसने १७ मई सन् १८०५ को जनरल लेक के नाम एक पत्र में लिखा कि—"जहाँ तक हो सके, इस समय सींधिया से कोई युद्ध न हो तो अच्छा है और होलकर के साथ भी कोई समझौता किया जा सके तो इस समय मुनासिब होगा।"

जनरल लेक को इस प्रकार का पत्र लिखने के बाद भी वेल्सली का यह विचार न था कि वह सदा के लिए शांति चाहता हो। पूरे भारत मे वह अंगरेजी साम्राज्य को मजबूत करना चाहता था और किसी भी देशी राजा या नवाब को स्वतन्त्र नहीं देखना चाहता था। परन्तु इस समय किसी भी युद्ध के शुरू करने के पक्ष में वह न था। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि मौसम अनुकूल न था और दूसरे यह कि कम्पनी की आर्थिक हालत भी बहुत खराब हो गयी थी। इन दोनों कारणों से वह युद्ध को कुछ दिनों के लिए टालना चाहता था और इस मौके मे वह अपनी तैयारी कर लेना चाहता था और इसी अभिप्राय से उसने अवध के नवाब वजीर से एक लम्बा कर्ज लेने का इन्तजाम किया था।

किसी भी दशा में वेल्सली, सींधिया और होलकर का सर्वनाश चाहता था। इसीलिए वह भीतर ही भीतर युद्ध की तैयारी कर रहा था। इसी बीच मे वेल्सली को भारत से इंगलैण्ड चले जाने के लिए तैयार हो जाना पड़ा और उसके दिल की मुराद, उसके दिल में ही रह गयी।

गवर्नर जनरल वेल्सली के जमाने में कम्पनी को देशी राजाओं से

लगातार युद्ध करने पड़े। इसलिए कम्पनी की आर्थिक हालत खराब थी। इसके सिवा रिश्वतों के देने में, अधिक सेना के रखने में और रुपये के बल पर मुश्किल कामों को आसान बनाने में वेल्सली ने पानी की तरह रुपये खर्च किये थे। इसलिए कम्पनी के ऊपर काफी कर्ज भी बढ़ गये थे। वेल्सली इन कर्जों की परवाह न करता था। वह कम्पनी के नाम पर बराबर कर्ज लेता जा रहा था। अवध के नवाब वजीर के बीस लाख रुपये तो कम्पनी पर थे ही जो कर्ज मे लिए गये थे। दस लाख उससे और भी कर्ज मे लेने की बात हो चुकी थी। यह दशा देखकर कम्पनी के डाइरेक्टरों ने वेल्सली को उसके पद से हटाकर इंगलैण्ड बुला लेने का निश्चय कर लिया।

लार्ड कार्नवालिस का फिर आगमन

वेल्सली ने आँखें बन्द करके कम्पनी की ओर से रुपये खर्च किये। उससे कम्पनी की हालत नाजुक तो हो ही गयी, साथ ही होलकर और भरतपुर की लड़ाई मे अंगरेजों की लगातार पराजय, सींधिया और होलकर को जीत सकने में अशंका, भारतीय जन समुदाय मे अंगरेजों के प्रति अविश्वास और उत्पात आदि कारणों से इंगलैण्ड की सरकार ने और कम्पनी के डाइरेक्टरों ने वेल्सली को वापस बुला कर लार्ड कार्नवालिस को उसकी जगह पर इसलिए भेजा कि वह भारत में पहुँच कर युद्ध को रोके।

कार्नवालिस ने भारत में आकर सभी बातों को समझा और जनरल लेक के साथ परामर्श करके इस बात की कोशिश की कि मराठों के साथ मुनासिब समझौता हो जाय। इसके लिए कुछ रूप-रेखा भी उसने तैयार कर ली थी।

अभी कार्नवालिस को भारत आये हुए तीन महीने भी पूरे न बीते थे कि गाजीपुर मे अचानक उसकी मृत्यु हो गयी।

सर जार्ज बारलो

कार्नवालिस की मृत्यु के बाद, उसके स्थान पर गर्वनर-जनरल की कौंसिल का सीनियर मेम्बर सर जार्ज बारलो भारतीय अंगरेजी राज्य का गवर्नर जनरल बनाया गया।

बारलों ने वेल्सली के साथ काम किया था। उसके आचार-विचार वेल्सली से बहुत-कुछ मिलते जुलते थे। बारलो ने ही वेल्सली को राय दी थी कि :—भारत में ऐसी कोई रियासत न रहने देना चाहिए जो ब्रिटिश सत्ता से अलग अपना अस्तित्व रखती हो।

सींधिया के साथ नयी सन्धि

समय और परिस्थिति को देखकर बारलो ने भी तय किया कि जिनके साथ झगड़े चल रहे हैं, उनसे नयी सन्धियाँ कर ली जायँ। उसने लेक को अधिकार दिया और लेक ने दौलतराव सींधिया से बातें करके सन्धि का निर्णय कर लिया। सन्धि के हिसाब से सींधिया के साथ सबसीडियरी सेना का सम्बन्ध तोड़ दिया गया। गोहद का प्रान्त और ग्वालियर का किला सींधिया को दिया गया। उदयपुर, कोटा, जोधपुर और जयपुर की रियासतें सींधिया के मातहत मानी गयीं। यह भी तय हुआ कि मातहत रियासतों के साथ सन्धि करने का अंगरेजों को अधिकार न होगा। होलकर का जीता हुआ इलाका, सींधिया को ही दिया गया।

सींधिया के और भी कुछ इलाके थे जो कुछ सींधिया को दे दिये गये और कुछ के बदले में अंगरेजों ने वार्षिक मालगुजारी देना मन्जूर किया।

सन्धि से होलकर की अस्वीकृति

जनरल लेक ने होलकर के साथ भी सन्धि की कोशिश की। लेकिन उसने, उससे इन्कार कर दिया। होलकर किसी भी शर्त के साथ अंगरेजों से सन्धि के लिए तैयार न था। यद्यपि अब उसे सींधिया से कोई आशा न रह गयी थी। फिर भी वह अंगरेजों के विरुद्ध देश में एक जोरदार मोर्चा खड़ा करने की कोशिश में था।

जनरल लेक को होलकर का यह अहंकार सहन न हो रहा था। लेकिन गवर्नर-जनरल की कौंसिल इस बात के लिए जोर दे रही थी कि होलकर के साथ भी सुलह हो जानी चाहिए। परन्तु इसके लिए लेक के सामने कोई रास्ता न था।

अंगरेजी सरकार की हिदायतों के अनुसार लेक को होलकर के

साथ सुलह की कोशिश बार-बार करनी पड़ी। इसके फल स्वरूप अन्त में होलकर ने भी स्वीकार कर लिया और २४ दिसम्बर सन् १८०५ को कम्पनी के साथ जसवन्तराव होलकर की भी सन्धि हो गयी। होलकर फिर अपने सम्पूर्ण राज्य का स्वतन्त्र नरेश बन गया।

अंगरेजों की राजनीति में परिवर्तन

कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भारत से वेलसली को इंगलैण्ड बुलाकर और उसके स्थान पर सर जार्ज बारलो को गवर्नर-जनरल बनाकर द्वितीय मराठा-युद्ध का अन्त किया। इस युद्ध के अन्त होने के साथ-साथ भरतपुर के राजा रणजीतसिंह, माधवराव सींधिया और जसवन्त-राव होलकर के युद्ध का भी खात्मा हुआ।

देशी नरेशों के साथ लगातार युद्ध करके साम्राज्य के विस्तार में अंगरेजों ने जितना लाभ नहीं उठाया, उससे अधिक आर्थिक क्षति उठायी। यह क्षति अंगरेजी साम्राज्य के लिए अधिक लाभकर सिद्ध न हुई। इसीलिए कम्पनी को सुलहनामे करके एक बार युद्धों का अन्त करना पड़ा।

जार्ज बारलो ने भारत में आकर लड़ाइयों का अन्त किया। परन्तु उसके मन का विष शान्त नहीं हुआ। कम्पनी के डाइरेक्टर भी भारत में अपना एक मात्र शासन चाहते थे। इसलिए वे अपने इस प्रलोभन को दबा नहीं सके। उन्होंने अपनी पिछली नीति को बदल कर दूसरी राजनीति से काम लेने का निश्चय किया और उसके अनुसार जार्ज बारलो ने देश की रियासतों में आपस की फूट पैदा करने की कोशिश की। अंगरेजों को यह खूब मालूम था कि इस देश के नरेश आपस में मिलकर नहीं चल सकते। एक दूसरे के सर्वनाश में भी उनकी सहानु-भूति नहीं है। इसलिए भारत में अंगरेजी शासन की व्यवस्था करने का सुगम और सीधा मार्ग यह है कि किसी नरेश से युद्ध न करके उनको आपस में ही लड़ाया जाय और उनके सर्वनाश से लाभ उठाया जाय।

कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भारत में इसी राजनीति से काम लेने का

निश्चय किया। जार्ज बारलो को भी इस नीति से काम लेने के लिए बराबर हिदायतें दी गयीं।

वेलोर में विद्रोह

इन दिनों में भारत के अंगरेजों ने जातीयता और धार्मिकता के भावों को भी अधिक महत्व दिया। हिन्दुओं और मुसलमानों के मुकाबिले में अंगरेजों और ईसाइयों को सभी प्रकार के सम्मान प्राप्त हुए। हिन्दू और मुसलमान को जातीय रस्म-रिवाजों पर प्रायः असम्मानित होना पड़ता। कभी-कभी इस प्रकार की बातों को लेकर अंगरेज हिन्दुओं और मुसलमानों में एक अजब भेद भाव पैदा करते।

इस प्रकार के व्यवहार अंगरेजों के बराबर बढ़ने लगे। नमूने के तौर पर, मद्रास सूबे के भारतीय सैनिकों को आज्ञा दी गयी कि वे अपने माथे पर तिलक और चन्दन का प्रयोग न किया करें। हिन्दू और मुस्लिम सैनिकों से कहा गया कि वे अपनी-अपनी दाढ़ियाँ मुड़वा दें और सभी सैनिक एक ही तरीके के बाल बनवावें और कटवावें।

भारतीय सैनिकों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। वे स्वयं एक दूसरे के खिलाफ नुक्ताचीनी न करते थे और अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार, जातीय और धार्मिक रिवाजों को काम में लाते थे। अंगरेजों के इन हुकुमों से उनके दिलों को चोट पहुँचने लगी।

कुछ इसी प्रकार की बातों को लेकर भारतीय सैनिकों में विद्रोह की भावनायें पैदा होने लगीं। ऐसे ही मौकों पर अंगरेजों की ओर से ईसाइयत को जो तरजीह जरूरत से अधिक दी जा रही थी, वह कभी-कभी असह्य और अपमानजनक हो जाती थी।

इसी प्रकार के कुछ कारणों से जुलाई सन् १८०६ की रात को वेलोर की छावनी में भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। आधी रात के बाद अपने कमाण्डिंग अफसर करनल फैनकोर्ट के बंगले को भारतीय बागी सैनिकों ने घेर लिया और उसको मार डाला।

उसके बाद विद्रोहियों ने ईसाई और अंगरेज अफसरों पर भी आक्रमण किया। किन्तु यह विद्रोह अधिक चल न सका। उसके शान्त होने पर विद्रोही सैनिकों को कठोर सजाएँ दी गयीं।

विद्रोह के दिनों में टीपू सुलतान के लड़के बेलोर के किले में कैद थे। विद्रोह के बाद उनको बेलोर से बँगाल भेज दिया गया।

बेलोर के विद्रोह के बाद बारलो को मद्रास का गवर्नर बनाया गया और उसके स्थान पर लार्ड मिण्टो को गवर्नर जनरल बना कर भारत भेजा गया।

उनतीसवाँ परिच्छेद

प्रथम लार्ड मिण्टों का शासन

अंगरेज और अंगरेजी राज्य

भारत मे लार्ड मिण्टो के आने के पहले से ही कम्पनी और कम्पनी के अंगरेजों की आर्थिक दशा अच्छी न थी। कुछ तो इस कारण से और कुछ शासन की अव्यवस्था से हुकूमत का रंग बिगड़ा हुआ था। अंगरेजी सेनाओं के वेतन बहुत दिनों से बाकी पड़े थे। कम्पनी पर जो कर्जे थे, वे अभी तक ज्यों के त्यों थे। वैतनिक कर्मचारियों के व्यवहार प्रजा के साथ अच्छे न थे। इन कारणों से देश के उस भाग में भी, जहाँ अंगरेजों का शासन था, असन्तोष बढ़ रहा था।

भारत के शेष भाग में देशी राजाओं और नवाबों की हुकूमत थी। शुरू से लेकर अन्त तक राजाओं और नवाबों के साथ कम्पनी के अधिकारियों ने जिस भयानक कूटनीति से काम लिया था और पद-पद पर जिस प्रकार उनके साथ छल किया था, उसका प्रभाव भी अंगरेजों के प्रति अच्छा न पड़ा था। इसका नतीजा यह हुआ था कि कम्पनी और उसके अधिकारियों पर किसी का विश्वास न रहा था।

भारत में इन दिनों कम्पनी का यह साधारण जीवन था। देश के जिन इलाकों से अंगरेजी हुकूमत का कोई सम्बन्ध न था, वहाँ की प्रजा तो अंगरेजों के खिलाफ थी ही, किन्तु देश के जिस भाग में अंगरेजों का शासन था, वहाँ की रियाया भयानक कठिनाइयों का सामना कर रही थी।

सर्वसाधारण की मुसीबतें अनेक प्रकार की थीं। उदाहरण के तौर पर, अंगरेजी शासन में आर्थिक शोषण अधिक होता था। रियाया

के सुख-दुख की बात का कोई सुनने वाला न था। सरकारी कर्मचारी लूट-मार करना ही जानते थे और उनके खिलाफ फरियाद करने का कोई मुकाम न था।

अंगरेजी शासन में उस व्यवस्था का बिलकुल अभाव था, जिसके द्वारा देश में कार-बार और व्यवसाय की वृद्धि होती है। नतीजा यह था कि लोग दिन-पर-दिन गरीब होते जाते थे। इस गरीबी में न तो पारस्परिक कहीं सहानुभूति दिखायी देती थी और न कोई हाकिम किसी की मुसीबत का सुनने वाला था।

इस प्रकार की बातों का भयानक परिणाम यह पड़ा था कि अंगरेजी इलाकों में चोरी और डकैती के अपराध अधिक होने लगे थे। शासकों की ओर से इन अपराधों के रोकने की कोई व्यवस्था न थी। इसलिए सर्वसाधारण के जीवन की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई थीं।

इन्हीं दिनों के ब्रिटिश शासन का जिकर करते हुए लार्ड डफरिन ने कहा था :—

"××लार्ड मिण्टो के जमाने में कलकत्ते के आस-पास के जिलों में लुटेरों और डाकुओं की भरमार हो गयी थी। पचास वर्ष पहले उन्हीं जिलों में इस प्रकार की बातों का कहीं पता न था।"

अंगरेजी भारत में चोरों, लुटेरों और डाकुओं का जो हाल उन दिनों में हो रहा था, उसका उल्लेख करते हुए विद्वान लेखक जेम्स मिल ने स्वीकार किया है :—

"अंगरेजी हुकूमत में डकैती के जुर्म जिस कदर बढ़ गये थे, वे सर्वथा एक अच्छी सरकार के लिए लज्जाजनक थे। भारतीय इलाकों की इन बातों को देखते हुए देशी नरेशों के इलाके बहुत अच्छे थे।"

इसी प्रकार की बातों को स्वीकार करते हुए एक प्रसिद्ध अंगरेज जज सर हेनरी स्ट्रैची ने लिखा है :—

"इसमें सन्देह नहीं कि अंगरेजों के जमाने में मुल्क के भीतर डकैती के अपराध एक बड़ी तादाद में पैदा हो गये थे।"

उन दिनों में अंगरेजी हुकूमत के कारण ब्रिटिश भारत की प्रजा जिन मुसीबतों में पड़ गयी थी, उसके वर्णन स्वयं अंगरेज विद्वानों, ग्रन्थकारों और इतिहास लेखकों ने जो कुछ किये हैं, उन सब के उद्धृ-

रण देने के लिए यहाँ पर हमारे पास स्थान का अभाव है। इसीलिए उदाहरण के तौर पर ऊपर कुछ बातें लिखी जा चुकी हैं।

जसवन्तराव की मृत्यु

सींधिया और मराठों के साथ अंगरेजो की सन्धि हो चुकी थी। फिर भी अंगरेजों को होलकर से खतरा बना रहता था। इसलिए कम्पनी के अधिकारी उसके खिलाफ तरह-तरह की बातें सोचा करते थे और किसी प्रकार होलकर राज्य का अन्त कर देना चाहते थे।

होलकर के एक सरदार अमीर खाँ को अंगरेजों ने बहुत पहले ही मिला कर अपने पक्ष में कर लिया था। उस अमीर खाँ ने भरतपुर की लड़ाई मे अंगरेजों से ३२ लाख रुपये लेकर होलकर की एक बहुत बड़ी सेना को मरवा डालने का विश्वासघात किया था। वह अमीरखाँ अब भी होलकर के दरबार मे मौजूद था। सन् १८०८ की बात है। जसवन्तराव होलकर कुछ दिनों तक बीमार रहा और फिर वह पागल हो गया।

जसवन्तराव की इस अवस्था मे उसके दरबार की हालत बिगड़ने लगी। जसवन्तराव अच्छा न हो सका। अनेक प्रकार के इलाज करने पर भी कुछ दिनों में उसकी मृत्यु हो गया।

जसवन्तराव के मरने पर उसकी रानी तुलसी बाई ने मलहर राव नामक एक छोटे बच्चे को गोद ले लिया। परन्तु होलकर राज्य के शासन की बागडोर अमीर खाँ के हाथों मे आ गयी। इस प्रकार होलकर राज्य से अंगरेजों का भय जाता रहा।

मराठों की आपस की फूट

देश के दुर्भाग्य से, मराठे राजाओं मे आपस की सहानुभूति न थी। वे आपस में कभी भी संगठित होकर न रह सके। शुरू से अंगरेजों ने इसी का लाभ उठाया।

वेल्सली के शासन के बाद अंगरेजों ने लड़ना बन्द कर दिया था और देशी राजाओं के लड़ाने का काम जारी कर दिया था। यह कार्य अंगरेजों का सब से पहले मराठों के साथ प्रारम्भ हुआ।

अंगरेजों की नीति भयानक थी। वे देशी राजाओं के यहाँ अपने

अंगरेज दूत भेजते थे। उनका काम यह होता था कि वे उनमें एक दूसरे के विरुद्ध भाव पैदा करें। छोटी-छोटी रियासतों के मालिक सरदार हुआ करते थे। उनको बड़ी रियासतों के विरुद्ध भड़काना और उनकी सहायता का वचन देना, अंगरेज दूतों का काम था।

इस तरीके से सरदारों को सरदारों से और छोटी रियासतों को बड़ी रियासतों से लड़ाने के जितने उपाय हो सकते थे, अंगरेजों की तरफ से सभी काम मे लाये जाने लगे। लड़ाने के अनेक उपाय उनके हाथों में थे। एक रियासत के कुछ आदमियों से मिलकर दूसरी रियासत मे उत्पात कराते और दूसरी में जाकर लड़ाई का विष बोते। किसी एक रियासत को दूसरे जागीरदार के यहाँ हमला करने का प्रलोभन देते और उसकी मदद का वादा करते। लेकिन अन्त में अलग हो जाते। यह भी करते थे कि वादा किसी से करते और मदद उसकी करते जो धन और इलाका देता।

भारत मे पिण्डारी लोगों का भी कुछ आबादी थे। ये लोग मुस्लिम पठान माने जाते थे और आम तौर पर लड़ाई लड़ने का काम करते थे। उनके नजदीक हिन्दू, मुसलमान का कोई प्रश्न न था। वे लड़ते थे और इसी काम के लिए नौकरी करते थे। मराठा सेनाओं में आम-तौर से पिण्डारी लोग सैनिक हुआ करते थे। इसका कारण यह था कि मराठा राज्य के इलाकों मे ये लोग उस समय पाये जाते थे। जिसके यहाँ नौकरी करते थे, उसकी ओर से युद्ध करते थे, फिर चाहे वह हिन्दू राजा हो अथवा मुसलमान बादशाह। शिवाजी, बाजीराव, सींधिया और होलकर की सेनाओं में कितने ही पिण्डारी काम करते थे।

जो पिण्डारी किसी सेना में न होते थे, वे इधर-उधर-लूट-मार किया करते थे। ऐसे पिण्डारियों को भड़का कर अंगरेज देशी रियासतों मे लूट-मार कराया करते थे। इस प्रकार की सभी बातें आपस की लड़ाई की जड़ होती हैं।

बरार पर अमीर खाँ का आक्रमण

देशी राजाओं को आपस में किस तरीके से लड़ाने का काम अंग-

रेज करते थे, इसके उदाहरण में, बरार पर अमीर खाँ का आक्रमण बड़ा अच्छा प्रकाश डालेगा।

जसवन्तराव की मृत्यु के बाद अमीर खाँ होलकर दरबार का सर्वेसर्वा था। पिछले दिनों में जसवन्तराव ने कुछ कीमती जवाहरात बरार के राजा के यहाँ रखे थे। उनके सम्बन्ध में अमीर खाँ ने तकाजा किया। लेकिन कुछ सन्तोषजनक उत्तर न मिला।

भारत में लार्ड मिण्टो का जमाना था। निजाम अंगरेजों की खुशामद में रहा करता था। इसी बीच में अंगरेजों ने निज़ाम से अमीर खाँ के नाम एक पत्र लिखाया कि तुम बरार पर हमला करो। मैं आर्थिक सहायता करूंगा।

अमीरखां के साथ कम्पनी यह पहले ही से वादा कर चुकी थी कि बरार के मामले में अंगरेज दखल न देंगे। जनवरी सन् १८०९ मे अमीरखाँ अपनी सेना लेकर बरार की सीमा पर पहुँच गया।

अमीरखाँ अंगरेजों का आदमी था। होलकर का सरदार होकर भी उसने युद्ध में अंगरेजों की साहायता की थी और होलकर के साथ विश्वासघात किया था। फिर भी अंगरेज उसके शुभचिंतक न थे। उनकी मित्रता केवल काम निकालने के लिए होती थी। अमीर खाँ जाहिरा अंगरेजों का मित्र था। लेकिन होलकर का प्रभुत्व पा जाने के बाद, अब उसकी शक्तियाँ बढ़ गयी थीं, जिनका कम करना भी अंगरेजो का अपना वसूल था।

बरार के राजा से भी अंगरेज भीतर ही भीतर जले बैठे थे। होलकर के युद्ध के दिनों में बरार के रेजीडेण्ट ने बरार-महाराज को बहुत समझाया था कि तुम सबसीडियरी सन्धि स्वीकार कर लो। उसने यह भी समझाया था कि होलकर किसी समय बरार पर हमला कर सकता है और उस सन्धि को स्वीकार कर लेने पर अंगरेजी सरकार बरार की सहायता कर सकेगी। लेकिन बरार के राजा ने नामन्जूर कर दिया था।

सबसीडिरी सन्धि के मन्जूर करने के लिए उस राज्य का रेजीडेण्ट समझा-बुझाकर जोर देता और मन्जूर करने पर राजा से ही अंगरेजी सरकार के नाम एक प्रार्थना-पत्र लिखकर भिजवाया जाता, जिसे कम्पनी मन्जूर करती और उसके बाद उस सन्धि का काम पूरा होता।

इसका मतलब यह था कि संसार की नजरों में राज्य की प्रार्थना पर अंगरेजों ने उसे स्वीकार किया।

बरार के राजा के नामन्जूर करने पर रेजीडेण्ट को बुरा मालूम हुआ लेकिन मार्क्विस वेल्सली ने यह लिखकर उस समय उसे खत्म किया :—

"इस समय बरार के राजा को छोड़ दिया जाय और किसी घटना का इन्तजार किया जाय। उस मौके पर यह प्रस्ताव सफल हो जायगा।"

बरार की सीमा पर अमीरखाँ की सेना के पहुँच जाने पर बरार के राजा को अंगरेजों ने समझाया कि अमीरखाँ और निजाम दोनों मुसलमान हैं दोनों ने मिलकर बरार के विरुद्ध यह तैयारी की है।

इन बातों का राजा बरार पर प्रभाव पड़ना था कि लार्ड मिण्टों ने अपनी एक सेना बरार की सहायता के लिए भेज दी।

अमीरखाँ ने राजा बरार की तरफ से अंगरेजी सेना को देखकर बहुत आश्चर्य किया। उसने बड़ी आरजू और मिन्नत के साथ कहा— "अंगरेजी सरकार ने मेरे साथ वादा किया था कि बरार और होलकर के मामले मे अंगरेज किसी प्रकार का दखल न देंगे।" लेकिन अमीरखाँ की इस आरजू का कोई नतीजा न निकला।

अमीरखाँ लाचार होकर बरार की सीमा से लौट कर चला गया। लौटते समय उसके दिल में अंगरेजों की इस घातक नीति के लिए क्या खयाल हुआ इसको उस समय केवल अमीरखाँ ने ही समझा।

अमीरखाँ ने अपनी जिन्दगी में जो सब से बड़ा अपराध किया था, वह होलकर के साथ विश्वासघात था। लेकिन अंगरेजों के साथ किया हुआ पुण्य और उपकार, अपकार और अपराध के रूप में बदल गया, जिसका फल अमीरखाँ को बरार की सीमा पर मिला।

लार्ड मिण्टो के शासन-काल में भारतीय नरेशों के साथ यही नीति व्यवहार में आती रही। समय समय पर कई बार भरतपुर के राजा रणजीतसिंह के साथ भी लार्ड मिण्टो की यह नीति कसौटी पर कसी गयी और सन्धि के साथ-साथ खतम कर दी गयी।

कूटनीति की इन चालों के सिवा लार्ड मिण्टो के शासन काल में कोई विशेष बात नहीं हुई।

———

तीसवाँ परिच्छेद

भारतीय व्यवसाय का अन्त

देश की व्यापारिक स्थिति

लार्ड मिण्टो का शासन समाप्त हो गया। मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स ११ सितम्बर सन् १८१३ को गवर्नर जनरल होकर भारत में आया। भारत की अंगरेजी सेनाओं के कमाण्डर-इन-चीफ का पद भी उसी को दिया गया।

कम्पनी के डाइरेक्टरों की दृष्टि रियासतों और देशी राज्यों से हट कर देश के व्यवसाय पर आ गयी थी। प्राचीनकाल से अपनी दूसरी बातों के साथ-साथ भारत ने व्यावसायिक उन्नति भी खूब की थी। एशिया से लेकर योरप के अनेक देशों तक इस देश का बना हुआ माल बिकने के लिए जाया करता था। चीन, जापान, लंका, ईरान अरब, मिश्र, इटली और अफ्रीका भारतीय व्यवसाय के केन्द्र हो रहे थे। इस बढ़े हुए व्यापार ने ही संसार के दूसरे देशों के मुकाबिले भारत को सभी प्रकार सम्पन्न बना रखा था।

योरप के दूसरे देशों के साथ-साथ, इंगलैण्ड में भारत के बने हुए कपड़े अधिक जाते थे। इस देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आ जाने के बाद भी उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों तक भारत का माल दूसरे देशों में जाता रहा है। प्रसिद्ध अंगरेज इतिहासकार लैकी ने लिखा है :—

"भारत में जो कपड़े तैयार होते थे, वे निहायत नफीस और उम्दा हुआ करते थे। कैलिको का मलमल, छींट और रंगीन कपड़े भारत से बड़ी संख्या में इंगलैण्ड आया करते थे।"

भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में इतिहासकार डाक्टर राबर्टसन ने सन् १८१७ में लिखा है :—

"भारत का जल-वायु बहुत उत्तम है। देश की भूमि अत्यन्त उपजाऊ है और व्यापार-वाणिज्य में भारत के लोगों ने बड़ी ख्याति पायी है। ×× संसार के दूसरे देशों के साथ भारत का व्यापार होता है और अपने माल के बदले में भारत सोना, चाँदी तथा दूसरी कीमती धातुएँ लिया करता है।"

ऊपर जिस लेखक का उद्धरण दिया गया हैं, उसी ने यह भी लिखा है कि हजरत ईसा के जन्म के दिनों से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू तक भारत का बना हुआ माल दूसरे देशों में जाता रहा है। उन दिनों में इंगलैण्ड, व्यापार के कार्य में बहुत पीछे था। भारत में जो माल तैयार होता था वह अन्य देशों की चीजों के मुकाबिले अच्छे दर्जे का होता था। इसीलिए योरप के यात्रियों ने भारत की यात्रा का थी। दूसरे देशों के व्यापारी भी इसी मतलब से उस देश में जाया करते थे।

योरप के देशों की हालत १८ वीं शताब्दी तक लगभग एक-सी चलती रही। १९वीं शताब्दी के शुरू में वहाँ की परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। फ्राँस देश के विश्वविजयी नैपोलियन बोनापार्ट का आतंक योरप के सभी देशों पर फैल चुका था। एक इंगलैण्ड ही उसके विरोध में डटा रहा था और बोनापार्ट को नीचा दिखाने के लिए उसने अपने धन को पानी की तरह बहाकर कितनी ही राज-शक्तियों के साथ अपना संगठन कर रखा था। रिश्वतें देने में, फूट पैदा कराने में और कूटनीति से काम लेने में वह सदा आगे रहा है। इसी संघर्ष में नैपोलियन के कारण इंगलैण्ड के व्यवसाय को बहुत नुकसान पहुँचा था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विधान में बीस वर्ष के बाद परिवर्तन हुआ करते थे। एक बार उसका जो विधान बन जाता था, वह बीस वर्षों तक लागू रहता था और उसके बाद उसकी व्यवस्था में जो संशोधन होते थे, वे आगामी वर्षों के लिए स्थायी माने जाते थे। इस नियम के अनुसार सन् १८१३ में जो नया विधान तैयार हुआ, उसी समय से भारत के व्यापार में प्रहार प्रारम्भ हुआ।

अंगरेजों का अब स्पष्ट उद्देश्य भारतीय व्यापार को नष्ट करके

अपना व्यापार उन्नत करना था। हुआ यह कि इस देश में जो व्यापार होता था, उसमें तरह-तरह के अत्याचार आरम्भ हो गये।

अंगरेजों की आलोचनायें

रिचर्ड्स नामक अंगरेज ने कम्पनी के कागजों से बहुत सी बातें लेकर आलोचना की है और उस आलोचना में उसने निरपेक्ष भाव से बताया है कि कम्पनी के अधिकारी लोग भारतीय व्यापार को नष्ट करने के लिए किस प्रकार के अत्याचार और अनाचार करते थे। उस लेखक ने पुस्तक रूप में जो कुछ लिखा है, वह बहुत विस्तार में है। नमूने के तौर पर, यहाँ कुछ पंक्तियाँ दे देना ही काफी होगा। उसने लिखा है :—

"×××भारतीय व्यापारियों से निष्ठुर अत्याचारों के साथ कपड़ा लिया जाता था। व्यापारियों को काम के लिए मजबूर किया जाता था। जो लोग इनकार करते थे, अथवा अपने प्राण बचाने के लिए तरह-तरह के उपाय निकालते थे, उनको लम्बे जुर्माने होते थे और उन्हें सजायें दी जाती थी।

×××अंगरेज भारतीय व्यापारियों से जो माल लेते थे, उसकी कीमत में जो कुछ वे दे देते थे, वही उसकी कीमत होती थी।×× उन व्यापारियों के साथ कम्पनी के ऐसे कानून लागू होते थे, जिनसे उनको अपना माल केवल कम्पनी के ही हाथों में बेचना पड़ता था।

××इन अत्याचारों के कारण भारत के जुलाहों ने अपना काम करना बन्द कर दिया था। उस दशा में उनको काम करने के लिए ऐसे कानून बताये जाते थे जिससे वे कोई नौकरी न कर सकते थे और अपनी आमदनी के लिए उनको मजबूर होना पड़ता था। ×अंगरेजी इलाकों से लेकर मातहत इलाकों तक—अंगरेजों के असह्य अत्याचार चल रहे थे। इन सख्तियों और अत्याचारों में नवाब लोग अपने इलाकों में भी दखल न दे सकते थे। × देशी राजाओं और जागीरदारों को लिखे हुए ऐसे हुकुम दिये जाते थे कि वे अपने राज्य और इलाकों में ऐसा इंतजाम कर दें जिससे भारतीय व्यापारी अपना माल केवल अंगरेज व्यापारियों को ही बेचें।"

दूसरे लेखकों ने भी भारतीय व्यापार के साथ अंगरेजों की दूषित,

कठोर और अमानुषिक नीति को अपने लेखों में स्वीकार किया है। सन् १८१४ में लार्ड वेल्सली ने कुछ पत्र लिखे थे, उनमें भी इसी नीति का समर्थन किया गया था।

भारत के जिन-जिन शहरों में अंगरेजों की व्यापारिक कोठियाँ थीं, वही इन अत्याचारों की केन्द्र थीं। वहीं से इन सख्तियों का सूत्र-पात होता था। रिचर्ड्स ने जिन अत्याचारों का वर्णन किया है, उनकी सामग्री सूरत की कोठी के कागजों से उसे मिली थी।

कलकत्ते की कोठी के अंगरेज सौदागरों ने और भी अधिक अत्याचार कर रखे थे। सन् १७९३ में बंगाल में एक ऐसा कानून बना था जिसके अनुसार वहाँ के कारीगर केवल कम्पनी का ही काम कर सकते थे। किसी दूसरे काम के द्वारा अपनी गुजर करना उनके लिए कानूनी जुर्म था। इस कानून के कारण बंगाल के समस्त जुलाहे और दूसरे कारीगर कम्पनी के गुलाम हो गये थे। बंगाल के अनेक जिलों में रेशम का बहुत बड़ा कार-बार था और उनके सभी कारखाने अंगरेजों के मोहताज थे।

बंगाल के रेशम के व्यवसाय के सम्बन्ध में हेनरी गूगर नामक अंगरेज लेखक ने कम्पनी के जिन अत्याचारों का वर्णन किया है, उनको पढ़ कर किसी भी न्याय प्रिय मनुष्य के अन्तःकरण में उनके प्रति घृणा उत्पन्न होगी। इस लेखक ने भी स्वीकार किया है कि अंगरेजी कोठी में रेशम का स्टाक होता था। उसके सौदागर भारतीय व्यापारियों से रेशम खरीदा करते थे और जो स्टाक लेते थे, उसकी कीमत का निर्णय अंगरेज सौदागरों के हाथों में था। भारतीय व्यापारी और कारीगर इन बातों की कहीं शिकायत करते, ऐसा न तो कोई अधिकारी था और न ऐसी कोई अदालत थी।

भारतीय व्यापार को नष्ट करने के लिए कम्पनी के अंगरेजों ने व्यापारियों, जुलाहों, कारीगरों और उसके सम्बन्ध में काम करने वाले आदमियों पर जो अत्याचार किये थे, उनको बयान करते हुए, विद्वान अंगरेज बोल्ट्स ने लिखा है :—

"××भारत के कारीगरों और मजदूरों के साथ कम्पनी के जो अत्याचार हुए हैं, उनको वर्णन नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण देश में व्यवसायियों और कारीगरों के साथ गुलामों से भी अधिक घृणित

व्यवहार किये जाते थे। उनके अत्याचारों के तरीके हजारों थे। मामूली से मामूली बातों पर कैद कर लेना, जुर्माना करना, सजा देना और बेतों से पिटवाना साधारण-सी बात हो गयी थी।××उन बेचारों को कम्पनी की बुरी-से-बुरी शर्तें भी मानकर इकरारनामे लिखने पड़ते थे।×× कीमत की अदायगी के समय, कीमत के कम होने के कारण और हथकड़ी-बेड़ी डाल देना मामूली-सी बात थी।××इस प्रकार के अपराधों के कारण सजा देने के साथ-साथ उनका माल जब्त कर लेना उन अंगरेजों का एक उसूल बन गया था। इन अत्याचारों के कारण सैकड़ों और हजारों परिवार के परिवार अपने घर-द्वार छोड़कर भागा करते थे।××क्लाइव के प्रथम शासन-काल मे इन रेशम के व्यापारियों, कारीगरों और काम करने वालों के साथ इस कदर दुर्व्यवहार किये गये थे, जो सर्वथा असंगत असभ्यतापूर्ण और अमानुषिक थे।

××कम्पनी की ओर से रेशम के कारीगरों को जितना काम दे दिया जाता था, उसके पूरे न होने पर उन पर जुर्माना होता था। इस प्रकार की असह्य बातों को न सहन कर, न जाने कितने कारीगरों ने अपने अंगूठे कटवा डाले थे जिससे उन कामों से उनके प्राण बच सकें। इसलिए कि रेशम तैयार करने का काम अंगूठों के बिना नहीं हो सकता।

××कम्पनी के हाकिम उन लोगों से लगान वसूल करने जाते थे और उनको मजबूर करने के लिए इतना तंग करते थे कि उनमें से कितनों ही को अपने बच्चे बेचकर लगान अदा करना पड़ा था।"

कम्पनी के इन अत्याचारों को अनेक अंगरेज विद्वानों ने स्वीकार किया है। माननीय अंगरेज तत्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सर ने लिखा है :—

"भारत के व्यापार में बे-हिसाब-किताब धन कमाने के लिए जिस प्रकार के अन्याय और अत्याचार से काम लिया गया है, संसार के इतिहास में उसके साथ कहीं उपमा नहीं है, कम्पनी के डाइरेक्टरों का भी यही कहना है। इस दशा में अनुमान लगाया जा सकता है कि कम्पनी के अंगरेजों के अन्याय कितने निष्ठुर, भारत में रहे होंगे।"

देश के व्यापार में कम्पनी की नीति

कम्पनी के विधान में सन् १८१३ में जो संशोधन और परिवर्द्धन हुए, उनमें सब से खास बात यह थी कि इसके पहले तक भारत में व्यापार करने का अधिकार कम्पनी को था, लेकिन सन् १८१३ के नये विधान के अनुसार भारत में व्यापार करने का अधिकार प्रत्येक अंगरेज को हो गया। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि अभी तक जो अन्याय और अत्याचार एक संगठित कमेटी के चन्द आदमी कर सकते थे, वही अन्याय और अत्याचार देश में प्रत्येक अंगरेज के द्वारा होने लगे, इसका विस्तृत द्वार खोल दिया गया।

इंगलैण्ड की पार्लामेण्ट कमेटी की बैठक में जब यह मामला पेश था कि जैसे भी हो इंगलैण्ड का बना हुआ माल अधिक-से-अधिक भारत में खपाया जाय और यह उसी समय सम्भव हो सकता है, जब भारतीय व्यवसाय का अन्त हो जाय, उस समय बैठक में बोलते हुए पार्लामेण्ट के एक सभासद मिस्टर टीरने ने कहा :—

"हमे यह कभी न भूलना चाहिए कि इंगलैण्ड का बना हुआ माल उसी दशा में भारत मे खप सकता है जब वहाँ का व्यवसाय समाप्त हो जाय। इसके लिए अपना माल भारत मे अधिक-से-अधिक भेजा जाय और भारत का माल बिल्कुल अपने देश में न लाया जाय। इसके सिवा, कोशिश की जाय कि भारत के लोग कच्चा माल तैयार करें और उसके तैयार होते ही वह माल उनसे ले लिया जाय। वहाँ के लोगों से कहा जाय कि तुम लोग कपड़ा बुनने का काम छोड़ दो। हमे अपना कच्चा माल दो और हम तुम्हें कपड़ा बुनकर तैयार देंगे।"

देशी और अंगरेजी बना हुआ माल

कम्पनी की पूरी ताकत इस बात पर खर्च होने लगी कि भारत का बना हुआ माल, भारत से लेकर इंगलैण्ड तक बिक न सके और इङ्गलैंड का बना हुआ माल अधिक से अधिक तादाद मे बिके। इसके लिए बहुत-से उपाय काम मे लाये गये और उन उपायों मे कुछ इस प्रकार है :—

१—इंगलैण्ड के बने हुए माल पर कोई महसूल न लिया जाय।

२—भारत के बने हुए माल पर इतना अधिक महसूल वसूल किया जाय, जिससे वह इंगलैण्ड में बिक न सके।

३—भारत में तैयार होने वाले कच्चे माल के साथ ऐसी नीति रखी जाय, जिससे भारत के व्यापारी और कारीगर उसे इंगलैण्ड भेज देने में ही अपना लाभ समझें।

४—भारत में जो अंगरेज व्यापारी और कारीगर काम करें, उनको आर्थिक अधिक सहायता दी जाय।

५—भारतीय व्यापार के गुप्त रहस्य समझे जाँय और उनकी जानकारी अंगरेजी व्यापारियों और अंगरेजी कारीगरों को करायी जाय।

६—माल को आसानी के साथ लाने लिए भारत में रेलगाड़ियों की व्यवस्था की जाय।

७—अंगरेजी माल को खपाने के लिए भारत में बड़ी-बड़ी मण्डियाँ कायम की जाँय।

ऊपर लिखे हुए तथा अन्य उपायों को काम में लाने के लिए अंगरेजों की एक कमेटी बनायी गयी और उसको सभी प्रकार के अधिकार दिये गये, जिनसे व्यापार की इस नीति में सफलता मिल सके।

इस प्रकार की नीति के अनुसार व्यावसायिक माल की चुंगी और महसूल के सम्बन्ध में बड़े-बड़े परिवर्तन किये गये। अंगरेजी व्यापारियों को जितनी ही सुविधायें दी गयीं उतनी ही और कितने ही अर्थों में उनसे भी अधिक निष्ठुरता देश के व्यापारियों के साथ की गयी।

इस नीति के प्रभाव से इंगलैण्ड का माल अधिक खपने लगा क्यों कि देशी बने हुए माल की अपेक्षा भारत मे भी वह सस्ता पड़ता था। इसके साथ-साथ चुंगी और महसूल के बेतहाशा बढ़ जाने के कारण भारतीय माल की बिक्री बराबर घटने लगी। प्रसिद्ध इतिहासकार लैकी के लेख के अनुसार भारत के बने हुए कपड़े उन दिनों में इतने सस्ते, सुन्दर और मजबूत होते थे कि अधिक चुंगी और महसूल लगने के कारण बहुत मंहगे हो जाने पर भी इंगलैण्ड के शौकीन आदमी उसे खरीदते थे। विशेषकर अंगरेज महिलायें भारतीय कपड़े की ही पोशाक बनवाती थीं। इस हालत में इंगलैण्ड में ऐसी कानूनी पाबन्दी लगायी गयी, जिससे भारतीय कपड़ों का खरीदना और उनका इस्तेमाल

करना एक जुर्म हो गया। इस प्रकार के अपराधियों को दण्ड दिये जाने की घोषणा की गयी। इस प्रकार की बहुत-सी बातें मिस्टर लैकी ने अपनी पुस्तक History of England in the Eighteenth Century में लिखी हैं।

भारतीय माल और उस पर महसूल

प्राचीन भारत मे जिस प्रकार व्यावसायिक उन्नति हुई थी, उसका प्रमाण विदेशी इतिहासकारों के बहुत से लेखों से भी मिलता है। उन दिनों में सूती, ऊनी और रेशमी अच्छा से अच्छा कपड़ा इस देश में तैयार होता था। हाथ में लेने की छड़ियाँ जिनकी मूँठे सोने और चाँदी की बहुत नफीस बना करती थीं। चीनी मिट्टी के बरतन, लकड़ी की वस्तुएँ, चमड़े के समान, अच्छी-से-अच्छा वार्निश, नारियल का तेल, सींगों से बने हुए अनेक पदार्थ, मजबूत और खूबसूरत रस्सियाँ, चाय, अरारूट, चटाइयाँ, साबुन और कागज आदि भारतीय व्यवसाय के मुख्य अंग थे। ये सभी चीजें भारत से इंगलैण्ड मे जाया करती थीं।

भारतीय माल की बिक्री को रोकने के लिए जो कानून बना था, वह बहुत समय तक लागू रहा। भारत की कितनी ही चीजों पर १०० फीसदी से भी अधिक महसूल लिया जाता था। यह महसूल बढ़कर कुछ वस्तुओं पर ६०० फीसदी तक पहुँचा था। रिकर्ड नाम के एक अंगरेज ने सन् १८३२ मे पार्लामेण्ट कमेटी के सामने जो बयान दिया था, उसमें उसने साफ बताया था कि भारत की बनी हुई चीजों में किसी-किसी पर तो ३००० फीसदी तक महसूल लिया गया है। इसका मतलब यह होता है कि एक रुपये की कीमत की चीज पर तीस रुपये महसूल के देने पड़ते थे। इस प्रकार की नीति के कारण भारतीय व्यवसाय का नष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

कम्पनी के डाइरेक्टरों की इस नीति का भारत के व्यवसाय के सर्वनाश होने में जो प्रभाव पड़ा और अंगरेजी व्यापार ने जिस प्रकार तरक्की की, उसकी आलोचना करते हुए इतिहासकार विलसन ने बहुत सी रोमाञ्चकारी बातें लिखी हैं।

कपड़े के व्यवसाय के अन्तिम दिन

भारत के प्राचीन व्यवसाय में कपड़े का व्यवसाय प्रमुख था। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने जो नीति अख्तयार की, उसका नतीजा यह हुआ कि भारतीय कपड़े का व्यवसाय छिन्न-भिन्न होने लगा और थोड़े दिनों में वह अंतिम अवस्था में पहुँच गया।

भारत से जो कपड़ा विदेश जाता था, इस नीति के बाद उसका हिसाब बताते हुए सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने सन् १८३४ में लिखा है कि सन् १८१६ में बंगाल से विदेश गये हुए सूती कपड़े का मूल्य १,६५,९४,३८० रुपया था। सन् १८३२ में सिर्फ ८,२२,८९१ रुपये का कपड़ा बाजार गया। इङ्गलैण्ड का बना हुआ कपड़ा सन् १८१४ में ४५००० रुपये का आया। सन् १८१६ मे ३,१७,६०२ रुपये का और सन् १८२८ में ७९,९६,३८३ रुपये का केवल सूती कपड़ा इङ्गलैण्ड से बंगाल में आकर बिका। इसी वर्ष में लगभग ८० लाख रुपये के कपड़े सिवा, ३५,२२,६४० रुपये का सूत इंगलैण्ड से बंगाल में आया। भारत से सन् १८१४ में ३८४२ गाँठें कपड़ों की इङ्गलैण्ड गयी थी, सन् १८२४ में १,८७८ और सन् १८२८ में केवल ४३३ गाठें गयीं।

भारत में इङ्गलैण्ड से जो कपड़े आये उनमें सूती कपड़ा सन् १८१४ मे १६,१५,३१५ रुपये का और सन् १८२८ मे ३,०१,४६,६१५ रुपये का आया। सन् १८१४ में ऊनी कपड़ा जो वहाँ से भारत मे आया, वह ६,७०,६८० रुपये का था। किन्तु उसी वर्ष कपड़े के साथ-साथ लोहा, ताँबा, शराब, कागज और काँच आदि मिलाकर इंगलैण्ड से ६,१४,८७,४७५ रुपये का भारत में आया। सन् १८३० में सभी प्रकार का माल वहाँ से ३०,११,००,३१० रुपये का आया। इसमें से २.१३,८८,७७० रुपये का ऊनी माल और १३,१०,४३,२४० रुपये का सूती माल था।

भारतीय जहाज और दूसरे उद्योग

भारतीय कपड़े का व्यवसाय जिस प्रकार पतन की ओर चला और फिर अन्त हुआ, उसके सम्बन्ध में ऊपर एक साधा-

रण और थोड़े दिनों का हिसाब दिया गया है। उससे इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि देश में व्यवसाय का अन्त कैसे हुआ।

कपड़े के सिवा और भी बहुत-सी चीजों का उद्योग भारत में होता था, जो प्राचीनकाल में बहुत उन्नत था। कम्पनी की घातक नीति के कारण उसे भी जर्जरित होकर अन्त हो जाना पड़ा। सभी चीजों के विवरण अधिक नहीं दिये जा सकते। कुछ बातें संक्षेप में उदाहरण के तौर पर यहाँ लिख कर हम इस विवरण को समाप्त कर देंगे।

अपने व्यवसाय मे भारत ने जहाजों के बनाने में भी काफी उन्नति की थी, उसके बनाये हुए जहाज एशिया के दूसरे देश खरीदा करते थे और व्यावसायिक कामों में भारतीय जहाज ही काम आते थे।

इस देश के बने हुए जहाजों का जिक्र करते हुए डब्लू० एस० लिंडसे ने लिखा है:—"दुनिया के बड़े-बड़े मुल्कों में सभी के पास जहाज होते थे। सन् १८८६ में पुर्तगालियों के पास केवल तीन जहाज थे, उन दिनों में डच लोगों के पास पाँच, फ्राँसीसियों के पास एक, डेनमार्क के पास एक, अमेरिका के पास पन्द्रह और ईस्ट इण्डिया के पास चालीस जहाज थे। इन सब जहाजों के बराबर भारत में केवल अंगरेजी इलाकों में थे। एशिया का सारा व्यापार भारत के बने हुए जहाजों से ही होता था।"

भारत में जहाजों के बनाने का जो व्यवसाय होता था, वह १८ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों तक बराबर चलता रहा। उसके बाद वह अंगरेजों के हाथों में चला गया और फिर उसका अन्त हो गया।

भारत में लोहे का कारबार भी खूब होता था। उत्तम श्रेणी का लोहा भी इस देश में ही तैयार होता था और युद्ध के अस्त्र-शस्त्र बड़ी खूबी के साथ तैयार होते थे।

एक खास बात यह है कि प्राचीनकाल में भारतीय व्यवसाय के बहुत बड़े-बड़े कारखाने न होते थे बल्कि छोटे-छोटे कारखानों में ऊँचे दर्जों का माल तैयार होता था। वेलेण्टाइन बाल ने अपने लेखों

में स्वीकार किया है :—"लोहे को गलाने और उससे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाने के कारखाने भारत के प्रायः सभी गाँव मे थे। लोहे के कारखाने जितने ही बिगड़ते गये, उतने ही वे भट्टियों के रूप में बदलते गये। धीरे-धीरे उसके प्रवीण लोहे के व्यापरियों और कारीगरों का अन्त होता गया।"

इस देश में कागज का व्यवसाय भी था। उसके सम्बन्ध मे सर जार्ज वाट ने लिखा है :—

"बकैनन हेमिल्टन ने भारत के प्राचीन कागजी व्यवसाय का विवरण दिया है और बताया है कि वहाँ पर कागज बनाने मे बहुत कुछ सामग्री सन से ली जाती थी। कागज बनाने के बहुत-से कारखाने देश के तमाम हिन्दुओं और मुसलमानों के हाथों में फैले हुए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बाद वहाँ का यह व्यवसाय धीरे-धीरे गिरने लगा। विशेषकर उस समय जब कि भारत-मन्त्री सर चार्ल्स उड ने एक सरक्यूलर निकाला था कि भारत में जो भी कागज खर्च किया जाय और काम में लाया जाय, वह सब इंगलैण्ड का बना हुआ होना चाहिए।"

अन्यान्य चीजों के साथ-साथ भारत मे चीनी के भी बहुत कारखाने थे। इसी देश की बनी हुई चीनी अनेक बाहरी देशों में भेजी जाती थी। लेकिन अंगरेजी हुकूमत की घातक और हिंसक नीति ने उसका भी अन्त किया। सर जार्ज वाट ने स्वयं लिखा है कि भारतीय चीनी के उद्योग को बहुत बड़ी हानि पहुँची। इंगलैण्ड से जो चीजें खाने-पीने की आती हैं, उनमें ५३-३ फीसदी चीनी होती है। सब से अधिक संख्या में इंगलैण्ड से भारत सूती कपड़ा आता है और उसके बाद दूसरा नम्बर चीनी का है।

इस प्रकार एक-एक करके जितने भी प्राचीन भारत के व्यवसाय थे और जिनके बल पर उसने अपनी महान उन्नति की थी, सभी नष्ट हो गये और जिन्दगी की सभी चीजों के लिए देश, बिदेशों का मुहताज हो गया। यह मुहताजी और बेबसी देश की यहाँ तक बढ़ी कि भारतीय ललनाओं के सोहाग का चिन्ह, उनके हाथों की चूड़ियाँ भी विलायत से बनकर आने लगीं, जिनको पहनकर स्त्रियों को अपना काम चलाना पड़ा।

आज देश की बढ़ी हुई गरीबी और भयानक दरिद्रता अंगरेजी शासन की जिस कूटनीति और हिंसक चालों का परिणाम है, इसका अनुमान लगाने के लिए, इस परिच्छेद में लिखी गयीं बातें केवल सहायता करती हैं। इंगलैण्ड का चमकना ही भारत की भयानक बर्बादी का कारण हुआ है।

इन सभी बातों के प्रमाण अंगरेज इतिहासकारों, अंगरेज लेखकों और निरपक्ष यात्रियों के वक्तव्य और लेख हैं, जिनको स्थान की सुविधा के अनुसार संक्षेप में यहाँ पर दिया जा सका है। जो देश, अंगरेजों के आने के पहले संसार के देशों में सब से अधिक धनवान माना जाता था, वही देश संसार के गरीब देशों में सब से अधिक गरीबी के लिए प्रसिद्ध हुआ।

इकतीसवाँ परिच्छेद

नैपाल के साथ अंगरेजों का युद्ध

नैपाल का राज्य

भारत में नैपाल का स्वतन्त्र शासन था। देश के अधिकांश भाग में अपना शासन कायम कर लेने के बाद भी, अंगरेजी हुकूमत ने नैपाल के साथ किसी प्रकार की छेड़छाड़ न की थी। कम्पनी की शक्तियाँ अब तक दूसरी रियासतों को तोड़ने, मिटाने और उनमें अपना अधिकार कायम करने में लगी थीं। लार्ड हेस्टिंग्स के शासन-काल में कम्पनी की आँखें नैपाल की तरफ भी दौड़ीं।

नैपाल राज्य की सीमा पर सारन और गोरखपुर जिले पड़ते थे। नैपाल और अंगरेजी भारत के बीच, कुछ ऐसे मुकाम भी थे, जो दोनों राज्यों को खटक रहे थे। अंगरेज उनको अपने शासन में रखना चाहते थे और नैपाल उन पर अपना अधिकार समझता था। अभी तक दोनों राज्यों की सीमा का कोई निर्णय न था। इसीलिए कभी-कभी झगड़ा पैदा हो जाता था। लेकिन उन झगड़ों के कारण अभी तक दोनों राज्यों में युद्ध की नौबत नहीं आयी थी। जब कोई इस प्रकार का झगड़ा पैदा होता था तो दोनों राज्यों के दिये हुए कुछ व्यक्तियों का कमीशन निर्णय कर देता था और दोनों ही उसे मान लेते थे। अब तक दोनों के बीच यही सम्बन्ध चलता रहा।

युद्ध का कारण

भारत के दूसरे राजाओं और मुस्लिम नरेशों से अंगरेज बहुत-कुछ छुटकारा पा चुके थे। उनको अब इतना मौका मिला कि वे नैपाल की तरफ भी देखें और राज्य-विस्तार की भूख को शान्त करने की कोशिश करें। इस प्रकार का संयोग उस समय कम्पनी के सामने आया, जब भारत में लार्ड हेस्टिंग्स का शासन शुरू हुआ। नैपाल की

लड़ाई के सम्बन्ध में अंगरेज इतिहासकार प्रोफेसर एच० एच० विल्सन ने History of British India मे साफ-साफ स्वीकार किया है :—

अंगरेजों को भारत में ऐसे मुकामों की जरूरत थी, जहाँ का जल-वायु उनको अधिक अनुकूल साबित होता। इसके लिये देहरादून, कुमाऊँ और गढ़वाल के जिले भी उनकी नजरों में थे। ये जिले अभी तक नैपाल की हुकुमत मे थे।

राज्य-विस्तार की अभिलाषा के साथ-साथ अंगरेजों की एक यह भी जरूरत उनके सामने थी। कम्पनी ने अपनी इस जरूरत की ओर से अपना मुँह मोड़ रखा था, किन्तु अब समय आ गया था, जब वह भारत के इस प्रकार के इलाके भी अपने अधिकार में ले लेने की कोशिश करती। यही सब बातें मिल कर नैपाल और अंगरेजों के बीच युद्ध की कारण हुईं।

युद्ध का आरम्भिक रूप

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि नैपाल और ब्रिटिश भारत के बीच जब कोई झगड़ा पैदा होता था, तो कमीशन के द्वारा उसका निर्णय हो जाया करता था। उस कमीशन का रूप भी कम्पनी की तरफ से बिगाड़ा गया। लार्ड हेस्टिंग्स के आने के पहले ही एक झगड़ा नैपाल और कम्पनी के बीच पैदा हुआ था। वह झगड़ा कमीशन के हाथ में आ गया था, जिस कमीशन के द्वारा उस झगड़े का निर्णय होने को था, उसमें मेजर ब्रेडशा अंगरेजों की ओर से प्रतिनिधि था। मार्च सन् १८१४ की बात है, मेजर ब्रेडशा के द्वारा नैपाल के प्रतिनिधियों का अपमान हुआ। उस घटना के सम्बन्ध में इतिहासकार विल्सन ने स्वयं मंजूर किया है :—

"नैपाली प्रतिनिधि मेजर ब्रेडशा से मिलने गये थे। मेजर ब्रेडशा की ओर से उनके साथ जो व्यवहार किया गया, उसमें पूर्णरूप से अशिष्टता थी। उसे वे सहन न कर सके और वे वापस चले गये।"

नैपाल और कम्पनी के बीच जिन मुकामों का झगड़ा था, वे नैपाल के अधिकार में थे। लार्ड हेस्टिंग्स ने मौका पाकर नैपाल के राजा को एक पत्र लिखा कि जिन मुकामों का झगड़ा कम्पनी और नैपाल के

बीच में चल रहा है, उन मुकामों से आप अपने अधिकार हटा लें। अगर ऐसा न करेंगे तो कम्पनी को मजबूर होकर उन पर अपना कब्जा कर लेना पड़ेगा।

लार्ड हेस्टिंग्स ने उन मुकामों के सम्बन्ध में नैपाल के राजा को पच्चीस दिनों का समय दिया था। महाराज नैपाल ने न तो मेजर ब्रेडशा की अशिष्टता का ख्याल किया और न हेस्टिंग्स के पत्र का। बल्कि लार्ड हेस्टिंग्स को जवाब देते समय शिष्टता से काम लिया और दोनों राज्यों के बीच शान्ति और मित्रता कायम रखने पर जोर दिया।

महाराज नैपाल को पच्चीस दिनों का जो समय दिया गया था, उस समय के बीतते ही कम्पनी की ओर से गोरे सिपाहियों की तीन फौजें रवाना की गयीं। महाराज नैपाल अंगरेजों की मित्रता को तोड़ना नहीं चाहते थे। इसीलिए अंगरेजी फौजों के साथ नैपाल की ओर से कोई लड़ाई नहीं हुई। अंगरेजी फौजों ने कुछ मुकामों पर अपना अधिकार कर लिया और वे वहाँ से लौट आयीं।

अंगरेजी सेनाओं ने नैपाल के उन मुकामों पर जिस प्रकार का प्रदर्शन किया, महाराज नैपाल को उसकी आशा न थी। इसलिए २९ मई सन् १८१४ को नैपाल की सेना ने उन मुकामों पर फिर अपना कब्जा कर लिया, जिनको अंगरेजी सेनाओं ने अपने अधिकार में ले लिया था।

युद्ध की तैयारियाँ

उन मुकामों पर नैपाल का फिर कब्जा हो जाने पर लार्ड हेस्टिंग्स को मालूम हो गया कि नैपाल युद्ध में दबने के लिए तैयार नहीं है। अब उसके सामने दो बातें थीं। एक तो यह कि नैपाल में जो अंगरेज व्यापारी रहते थे, उनको वह सुरक्षित बुला लेना चाहता था और दूसरे यह कि युद्ध के लिए उसको धन का प्रबन्ध करना था।

उन दिनों में कम्पनी की आर्थिक दशा अच्छी न थी। इसलिए मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स ने धन का प्रबन्ध अवध के नवाब से करने का निश्चय किया। गाजीउद्दीन हैदर उन दिनों अवध का नवाब था। हेस्टिंग्स ने लखनऊ जाकर नवाब गाजीउद्दीन से युद्ध के लिए ढाई

करोड़ रुपये कर्ज में लिए। उसके बाद अङ्गरेजों की ओर से नैपाल के खिलाफ युद्ध की घोषणा की गयी।

अङ्गरेजों ने भारत में इतना बड़ा अपना राज्य कायम कर लिया था कि नैपाल का राज्य उसके मुकाबले में बहुत छोटा था। दोनों राज्यों के बीच लगभग ६०० मील की लम्बी सीमा थी। इस सीमा से पाँच सेनाओं के द्वारा नैपाल पर आक्रमण करने की योजना तैयार की गयी। करनल आक्टर लोनी की अधीनता में एक सेना लुधियाने में तैयार हुई। इसमें ६ हजार भारतीय पैदल सैनिक थे। साथ में तोपखाना था। दूसरी सेना मेजर जनरल जीलैस्पी की अधीनता में मेरठ में तैयार हुई। उसको देहरादून, गढ़वाल, श्रीनगर और नाहन पर आक्रमण करना था।

मेजर जनरल वुड की अधीनता में बनारस और गोरखपुर में तीसरी सेना तैयार की गयी। चौथी सेना मेजर जनरल मारले की अधीनता में मुर्शिदाबाद में तैयार हुई। जिसको नैपाल पर हमला करना था। और पाँचवीं सेना मेजर लैटर के स्वामीत्व में तैयार हुई।

नैपाल पर आक्रमण करने के लिए तोपखानों के साथ जो सेनायें तैयार की गयीं उनमें अंगरेजी और भारतीय सैनिक मिलाकर लगभग ३० हजार थे। उनका मुकाबला करने के लिए नैपाल के पास १२ हजार से अधिक सैनिक न थे और न उनके पास युद्ध के आधुनिक हथियार ही थे।

नैपाल में युद्ध और मार-काट

नैपाल की फौजों में नाहन का राजा अमरसिंह थापा एक मशहूर सेनापति था। उसका भतीजा बलभद्रसिंह भी नैपाल का एक सेनापति था। जो देहरादून की रक्षा के लिए ६०० सैनिकों के साथ रहा करता था। मेजर जनरल जीलैस्पी ने अपनी सेना के साथ नैपाल राज्य में जाकर हमला किया। उसका मुकाबिला करने के लिए सेनापति बलभद्रसिंह अपने सैनिकों के साथ तैयार हुआ और देहरादून से लगभग साढ़े तीन मील आगे बढ़कर नालापानी की सब से ऊंची पहाड़ी पर लाकर अपना मोर्चा बनाया। जीलैस्पी के सैनिक देहरादून तक पहुँच गये। इतिहासकारों ने लिखा है कि खीरी के जमीदारों और

बहादुरसिंह के बेटे जीवनसिंह की मदद पाकर अंगरेजी सेना देहरादून तक पहुँची। सेनापति बलभद्रसिंह के साथ बहुत थोड़े सैनिक थे। फिर भी उसने बड़ी बहादुरी के साथ अंगरेजी सेना का मुकाबिला किया। इसी मौके पर बलभद्रसिंह को अंगरेजी सेना का एक पत्र मिला। जिसमें उसको आत्म समर्पण के लिए लिखा गया था। उसने पत्र को फाड़कर अंगरेजी सेना को युद्ध के लिए ललकारा।

जिस पहाड़ी पर बलभद्रसिंह और उसके सैनिक मौजूद थे, उसके चारों ओर २५ अक्टूबर को अंगरेजों की तोपें लगा दी गयीं। पहाड़ी के ऊपर से नैपाली सैनिक अंगरेजी सैनिकों पर गोलियों की वर्षा करते रहे।

अंगरेजी तोपों ने भयानक रूप से पहाड़ी के ऊपर गोले बारी की। उनका जवाब देने के लिए बलभद्रसिंह के पास केवल बंदूकें थीं। अंगरेजी सेना के जो वीर सैनिक पहाड़ी पर जाने की कोशिश करते थे, उनको नैपाली सैनिक अपनी गोलियों से बीच ही में खत्म कर देते थे। एक अंगरेज इतिहासकार ने लिखा है कि जिस पहाड़ी के चारों ओर से अंगरेजों की तोपें चल रही थीं और अंगरेजी सैनिक गोलियों की वर्षा कर रहे थे; उनका जवाब देने में पहाड़ी के ऊपर से नैपाली सैनिकों के साथ-साथ, नैपाली स्त्रियाँ भी अंगरेजी सैनिकों पर पत्थरों के टुकड़ों की वर्षा कर रही थीं। अंगरेजों की गोलियों से जो नैपाली सैनिक मारे गये, उनमें नैपाली युवतियों की भी संख्या थी। अंगरेजी सेना में बहुत-से सैनिकों और अफसरों की भी मौतें हुईं, उन अफसरों में मेजर जनरल जीलैस्पी भी मारा गया।

जीलैस्पी के मारे जाने के बाद करनल माबी अंगरेजी सेना का सेनापति हुआ। उसने अपनी सहायता के लिए अंगरेजी सरकार को पत्र भेजा और एक दूसरी अंगरेजी सेना को पाने के बाद उसने बड़े साहस के साथ पहाड़ी पर आक्रमण किया। परन्तु थोड़े से नैपाली सैनिकों से हारकर उसे पीछे लौटना पड़ा। परन्तु अंगरेजी सेना और उसकी तोपें पहाड़ी के नीचे से गोलियों और तोपों की वर्षा करती रहीं।

पहाड़ी के दुर्ग पर अधिकार

जिस पहाड़ी की चोटी से सेनापति बलभद्र सह अंगरेजी फौज

का सामना कर रहा था, उस पर उसने इन्हीं दिनों में एक छोटा-सा दुर्ग बना लिया था और उसी दुर्ग के भीतर से वह लड़ रहा था। जिसकी बहादुरी के सामने अंगरेजों की इतनी बड़ी सेना दुर्ग के पास जाने में कई बार पराजित हुई।

इतने बड़े युद्ध के बाद पहाड़ी के झरने अंगरेजी सेना के हाथ में आ गये। उन्हीं झरनों के पानी से अब तक नैपाली सैनिक और उनके साथ की युवतियाँ जिन्दा थीं। झरनों से पानी न मिलने के कारण दुर्ग के बहुत-से सैनिक प्यास के मारे तड़प कर मर गये। जिस समय पानी का यह कष्ट बढ़ गया था, उस समय प्यास के मारे युवतियाँ चीखें मार-मार कर जमीन पर गिर रही थीं और पानी की बूदों के बिना उनके जीवन का अन्त हो रहा था। कई दिनों तक पानी का एक बूंद न मिलने के कारण बलभद्रसिंह और ७० नैपाली सैनिकों को छोड़कर दुर्ग के ऊपर सब की मृत्यु हो गयी।

पानी की प्यास से विवश होकर दुर्ग के बचे हुए सैनिकों ने युद्ध बन्द कर दिया। इनमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं। प्यास के मारे मरते हुए इन नैपाली सैनिकों ने दुर्ग का फाटक खोला। इनकी संख्या केवल ७० थी। इन स्त्री पुरुषों के हाथों में नंगी तलवारें थीं। बन्दूकें कंधों पर लटक रही थीं। उनके सरों पर मजबूत फौलाद की टोपियाँ थीं। बलभद्रसिंह के साथ इन ७० स्त्री-पुरुषों ने झरनों का रास्ता पकड़ा। यह समझ कर कि बलभद्रसिंह आत्म-समर्पण के लिए दुर्ग से निकल कर आ रहा है, अंगरेजी सेना ने भी युद्ध रोक दिया। इन नैपाली सैनिको ने झरनों के पास जाकर पेट-भर पानी पिया। उसके बाद, "तुम दुर्ग को विजय न कर सकते थे लेकिन पानी न मिलने के कारण हम लोग स्वयं दुर्ग को छोड़ रहे हैं" कहते हुए बलभद्रसिंह और उनके साथ के नैपाली सैनिक पहाड़ियों में गायब हो गये।

इसके बाद अंगरेजी सेना ने पहाड़ी पर चढ़कर उस दुर्ग में प्रवेश किया, जिसमें मरे हुए स्त्री पुरुषों की लाशों के सिवा, वहाँ और कुछ न था।

नैपाल के दूसरे किलों पर मोर्चे

वीर बलभद्रसिंह अपने सत्तर सैनिकों के साथ, उस दुर्ग से निकल

कर जौंतगढ़ के किले पर पहुँचा। उसने सोचा कि अंगरेजों के हमले से इस नैपाली किले की रक्षा की जाय। इस किले के रक्षक सैनिकों को मिलाकर बलभद्रसिंह के पास लगभग ५०० सैनिक थे। जिस अङ्गरेजी सेना ने उस किले पर हमला किया, उसे हिम्मत हारकर पीछे हट जाना पड़ा।

बलभद्रसिंह व जौंतगढ़ किले की रक्षा के लिये उसके थोड़े से सैनिकों की बहादुरी देखकर करनल माबी की समझ में आया कि नैपालियों का केवल लड़कर मुकाबिला करना कठिन है, इसलिए उनकी शक्तियों को निर्बल बनाने के लिए, करनल कारपेण्टर को उसने नैपाली इलाके की पहाड़ी जातियो को फोड़ने, बहकाने और गुमराह करने के इरादे से भेजा। कारपेण्टर को अपने इस काम में कामयाबी हुई। जिस समय बैराठ के किले पर अंगरेजी सेना ने आक्रमण किया, उसी समय जौनसर इलाके के पहाड़ी नैपालियों में परस्पर विद्रोह हो गया। नतीजा यह हुआ कि बैराठ के किले पर नैपाली सैनिक मोर्चा न ले सके और उनको अपना वह किला छोड़ देना पड़ा।

नैपाल में सिरमौर नामक एक रियासत थी। उसकी राजधानी नाहन थी। करनल माबी वहाँ पर पहुँचा। वहाँ की एक पिछली घटना यह थी कि सिरमौर के राजा को गद्दी से उतार कर अमरसिंह थापा को वहाँ का राजा बनाया गया था। अमरसिंह उन दिनों श्रीनगर के दुर्ग में मौजूद था और उसका लड़का रणजूरसिंह नाहन में ही था। लेकिन अमरसिंह के कहने पर वह जयटक किले पर चला गया और वहाँ की पहाड़ियों को उसने अपने सैनिकों से सुरक्षित बना लिया। रणजूरसिंह के साथ दो हजार नैपाली सैनिक थे। करनल माबी ने सिरमौर के पदच्युत राजा को अपने पक्ष में कर लिया और २५ दिसम्बर सन् १८१४ को जरनल मार टिण्डल ने अंगरेजी सेना को लेकर जयटक के किले पर आक्रमण किया।

रणजूरसिंह के सिवा जयटक के किले पर बलभद्रसिंह भी पहुँच गया था। नैपाली सेना के मुकाबिले में अंगरेजी सेना बहुत बड़ी थी। जयटक किले के ऊपर जो पीने का पानी जाता था वह किले के नीचे के कुओं से आता था। अंगरेजी सेना ने उन कुओं को अपने अधिकार

में लेने की कोशिश की। नैपाली सैनिक और बलभद्रसिंह पानी का कष्ट भोग चुके थे। उन कुओं पर ही नैपाली सेना का अंगरेजी फौज के साथ मुकाबिला हुआ और घमासान युद्ध के बाद गोरखों ने अंगरेजी सेना को बुरी तरह परास्त किया। शत्रु के बहुत से सैनिक और अफसर जान से मारे गये। कुछ अंगरेज सैनिक गिरफ्तार भी किये गये। जीलेस्पी की सेना का जयकट किले पर आखीर युद्ध था।

अमरसिंह की बहादुरी

अंगरेजों की दो सेनायें गोरखपुर और बिहार से रवाना हुई थीं। नैपाल में जाकर काठमण्डू राजधानी पर उन दोनों सेनाओं ने हमला किया। नैपाली सैनिकों ने उनके युद्ध में अपनी उस बहादुरी का परिचय दिया जिससे अंगरेजी सेना की हिम्मत टूट गयी। कुछ मुकामों में दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ और अंगरेजी सेनाओं को युद्ध के मैदानों से भागना पड़ा। अंगरेज इतिहासकारों ने इस बात को मन्जूर किया है कि काठमण्डू के मैदानों में नैपाली सैनिकों के प्रचण्ड युद्ध के सामने बुरी तरह से पराजित होने के कारण अंगरेजी सेनाओं के सेनापति कायर और निकम्में साबित होने पर युद्ध से बुला लिये गये।

नैपाल पर आक्रमण करने के लिए जो पाँच अंगरेजी सेनायें तैयार की गयी थी, उनमें सेनापति आक्टरलोनी को किसी कदर कामयाबी हुई। लुधियाने से अपनी सेना को लेकर इसने नैपाल पर आक्रमण किया। सतलज नदी के किनारे की पहाडियों पर वीर गोरखे सैनिकों ने रामगढ़, नालागढ़ और मालम नामक तीन किले बना रखे थे। आक्टरलोनी को इन्हीं तीनों किलों पर हमला करना था।

आक्रमण करने के पहले आक्टरलोनी ने उन तीनों किलों के आस-पास के इलाकों के लोगों को बहकाने, फोड़ने और अपने साथ मिलाने की कोशिश की। इस कूटनीति में आक्टरलोनी बड़ी ख्याति पर पहुँच चुका था। इसके बाद वह ३१ अक्टूबर सन् १८१४ को उन किलों पर हमला करने के लिए बढ़ा। २ री नवम्बर को नालागढ़ किले के सामने उसने तोपें लगवा दीं। नैपाली सैनिकों की संख्या मुश्किल में ५०० थी। आक्टरलोनी ने ६ हजार सैनिक और तोपों के बल पर

हमला किया और नालागढ़ तथा तारागढ़ के दोनों किलों पर कब्जा कर लिया।

उसके बाद आक्टरलोनी रामगढ़ के किले की ओर बढ़ा। उस किले पर अमरसिंह करीब तीन हजार गोरखे सैनिकों के साथ मौजूद था। सेनापति आक्टरलोनी ने सात हजार सैनिकों की सेना लेकर उस पर हमला किया। लेकिन बहादुर अमरसिंह ने उसके दाँत खट्टे कर दिये और कई बार किले के बाहर दूर तक उसने आक्टरलोनी का पीछा किया।

गोरखे सैनिकों की प्रशंसा करते हुए इतिहास लेखकों ने लिखा है कि विजयी होने पर नैपाली सैनिकों ने अपनी स्वाभाविक उदारता का परिचय दिया और जो अंगरेज सैनिक लड़ाई में मारे गये उनकी लाशों को उठा ले जाने और दफनाने की उन्होंने आज्ञा दे दी।

आक्टरलोनी को अपनी कूटनीति में कामयाबी हुई। नालागढ़ के राजा रामसरनसिंह और अमरसिंह के एक रिश्तेदार को जो विलासपुर के राजा थे अंगरेजों ने अपने साथ मिला लिया और उन दोनों की सहायता पाकर आक्टरलोनी अपना कुछ काम कर सका।

कुमाऊँ और गढ़वाल पर अंगरेजों का कब्जा

अंगरेजों की चौथी सेना का सेनापति आक्टरलोनी और पाँचवीं सेना का मेजर लैटर सेनापति था। आक्टरलोनी को नैपाली सैनिकों के मुकाबिले में कोई अच्छी कामयाबी न हुई। नवम्बर सन् १८१४ से लेकर अप्रैल सन् १८१५ तक आक्टरलोनी ने अमरसिंह की सेना पर बार-बार आक्रमण किये। किन्तु प्रत्येक बार उसे पराजित होना पड़ा। अमरसिंह की इस बहादुरी की प्रशंसा इतिहासकार प्रिन्सेप ने स्वयं की है।

नैपाल राज्य की सीमा पर कुमाऊँ और गढ़वाल पड़ते थे। सरहदी मुकाम होने के कारण उन पर अधिकार करना अंगरेजों को कुछ आसान मालूम हुआ किन्तु जितनी भी सेनाएँ नैपाल पर आक्रमण करने के लिए भेजी गयी थीं वे युद्ध करके कुछ विशेष कामयाब न हो सकी थीं। इसलिए गवर्नर जनरल ने करनल गार्डनर को उन इलाकों में इसलिए भेजा कि वह कूटनीति से काम ले और ऐसा

वातावरण पैदा करे जिससे अंगरेजी सेनाओं को युद्ध में कामयाबी हो सके।

सन् १७९८ में यह गार्डनर महाराज होलकर के यहाँ नौकर था और उसने अंगरेजों की कामयाबी के लिए महाराज के साथ भयानक विश्वासघात किया था। इस प्रकार के कामों में गार्डनर सम्मान पा चुका था। इस काम में उसकी सहायता के लिए एक अंगरेज डाक्टर रथरफोर्ड को भी दिया गया था। इतिहासकारों की राय है कि नैपाल की लड़ाई में अंगरेजों को जो आखीर में कामयाबी हुई उसका श्रेय आक्टरलोनी और डाक्टर रथरफोर्ड की कूटनीति को है। कुमाऊँ और गढ़वाल की छोटी छोटी रियासतें, सूबेदार और सामन्त अंगरेजों से मिल गये। उनको मिलाने में डाक्टर रथरफोर्ड ने कुमाऊँ और गढ़वाल के बहुत-से पण्डितों और दूसरे हिन्दुस्तानियों को लम्बी तनख्वाहें देकर अंगरेजों के पक्ष में और महाराज नैपाल के खिलाफ जो प्रचार कराया था उसमे पूरी कामयाबी हुई।

इस प्रकार का मौका पाकर अंगरेजों ने अप्रैल सन् १८१५ मे एक छोटा-सी सेना करनल निकोल्स के साथ भेज कर कुमाऊँ और गढ़वाल —दोनों पर अपना अधिकार कर लिया। ये दोनों ही प्रान्त नैपाल की पैदावार में एक बड़ी विशेषता रखते थे। उनको अपने अधिकार में करने के लिए अंगरेजों को केवल रुपये का सहारा लेना पड़ा। इन दोनों प्रान्तों के निकल जाने से नैपाल राज्य को एक बड़ा धक्का पहुँचा।

नैपाल और कम्पनी में सन्धि

इतिहासकारों ने इस बात को साफ-साफ मंजूर किया है कि संख्या मे बहुत अधिक होने पर भी अंजरेजी सेनायें नैपाल की सेनाओं को पराजित नहीं कर सकीं। फिर भी नैपाल की सम्पूर्ण लड़ाई मे अंगरेजों को अन्त में अपनी कूटनीति के कारण कामयाबी हुई। नैपाल के पूर्व में मोरङ्ग का प्रान्त, मध्य में कुमाऊँ और गढ़वाल के प्रान्त और पश्चिमी भाग में हिन्दुर और विलासपुर की छोटी मोटी रियासतें अंगरेजों के अधिकार में आ गयीं। देहरादून और नालागढ़ में भी अंजरेजों का कब्जा हो गया।

अंगरेज नैपालियों की वीरता के सामने हिम्मत हार रहे थे और नैपाली अंगरेजों की कूटनीति का कोई बदला न दे सकते थे। इस अवस्था में दोनों ही सन्धि चाहते थे। इसी उद्देश्य से जून सन् १८१५ में युद्ध बन्द हो गया। सन्धि की बात-चीत होने लगी। इसके लिए अंगरेजों की ओर से जो शर्तें पेश की गयीं, वे संक्षेप में इस प्रकार थीं :—

१—अंगरेजों ने नैपाल के जितने इलाकों पर कब्जा किया है, वे अंगरेजों के अधिकार में रहे।

२—नैपाल के सरहदी मुकाम, जिनके कारण झगड़ा पैदा होता है, अंगरेजों को दिये जाँय।

३—राजधानी काठमण्डू मे एक अंगरेजी रेजीडेण्ट रहा करे।

४—नैपाल दरबार के राजनीतिक कार्यों में रेजीडेण्ट को दखल देने का अधिकार रहे।

५—अंगरेज-सरकार की रजामन्दी के बिना महाराज नैपाल योरप निवासियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रख सकें।

अंगरेजों की ये शर्तें कभी भी माननीय न थीं। महाराज नैपाल ने इन शर्तों पर फिर एक बार विचार करने के लिए गवर्नर जनरल को पत्र लिखा। लेकिन उससे कोई लाभ न हुआ।

महाराज नैपाल की उत्सुकता को समझ कर गवर्नर जनरल ने राजनीति से काम लिया। सन्धि की अपनी अभिलाषा को दबाकर और महाराज नैपाल को भयभीत करने के लिए उसने सीमा पर अपनी फौजें जमा करने का काम आरम्भ कर दिया।

सेनापति अमरसिंह इस सन्धि के पक्ष में न था। वह जानता था कि अंगरेजों के साथ सुलह करने में ही खतरा है और सब से बड़ा खतरा उस समय है जब कि अपनी ओर से सन्धि का प्रस्ताव उठता है। मार्च सन् १८१५ मे जब लड़ाई खतम नहीं हुई थी, सेनापति अमरसिंह को महाराज नैपाल के विचारों का पता लग चुका था। आखीर मे उसने महाराज के नाम एक पत्र लिखा था। उस पत्र में उसने जाहिर किया था :—

"अंगरेजों पर विश्वास न करने में ही अपनी भलाई है। सन्धि का परिणाम अच्छा न होगा। कूटनीतिज्ञ अंगरेज सन्धि के बाद

हमको और हमारे सामन्तों को बराबर लड़ाने का काम करेंगे। उससे हमारी शक्तियाँ क्षीण होंगी। काठमण्डू में अंगरेज रेजीडेण्ट को स्वीकार कर लेना बहुत अधिक खतरनाक होगा और नैपाल के सामने वे सभी नौबतें आ जायँगी, जो अब तक भारत के दूसरे नरेशों के सामने आ चुकी हैं और जिनमें उनका अन्त हुआ है। इस प्रकार की सन्धि नैपाल की पराधीनता का कारण बन जायगी।"

अमरसिंह का यह पत्र और प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। लगभग सात महीने तक युद्ध बन्द रहने पर भी कोई सन्धि नहीं हुई और जनवरी सन् १८१६ में नैपाल और अंगरेजों का फिर युद्ध आरम्भ हो गया।

यह युद्ध अधिक दिनों तक चल न सका। मुश्किल से दो महीने बीते होंगे, मार्च सन् १८१६ में सन्धि का प्रस्ताव फिर उठा और सन्धि हो गयी। उस सन्धि में नैपाल की स्वाधीनता तो रही लेकिन लगभग एक करोड़ रुपये की वार्षिक आय, शर्तों के अनुसार नैपाल से अंगरेजों को हुई और नैपाल की राजधानी में अंगरेज रेजीडेण्ट भी रहने लगा।

अमरसिंह और बलभद्रसिंह—दोनों ही सेनापति इस सन्धि के विरुद्ध थे। वे दोनों ही अन्त तक लड़ना चाहते थे। लेकिन नैपाल की स्वाधीनता के सम्मान को नष्ट नहीं होने देना चाहते थे।

बलभद्रसिंह पर इस सन्धि का बहुत दूषित प्रभाव पड़ा। अपने थोड़े से सैनिकों को लेकर वह नैपाल से चला गया और महाराज रणजीतसिंह के यहाँ नौकरी कर ली। अफगान-युद्ध में रणजीतसिंह की ओर से सेनापति बलभद्रसिंह ने वीरतापूर्वक युद्ध किया और युद्ध-क्षेत्र में ही उसका बलिदान हुआ।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

मराठों के साथ तीसरा युद्ध

छोटी रियासतें

भारत में अंगरेजों की नीति अत्यन्त भयानक रूप में काम कर रही थी। वे यहाँ पर किसी भी स्वतंत्र सत्ता को जीवित नहीं देखना चाहते थे। इसीलिए एक-एक करके, वे सभी का संहार कर रहे थे।

नैपाल का युद्ध समाप्त होने के बाद कम्पनी के अधिकारियों की आखें फिर एक बार देशी नरेशों की ओर घूमी। कितने ही हिन्दू और मुस्लिम नरेश अपने अस्तित्व खो चुके थे। जो जीवित थे, उनमें मराठा नरेश ही अपना कुछ अधिक अस्तित्व रखते थे। यद्यपि उनके साथ दो युद्ध पहले लड़े जा चुके थे और अन्त में संधियों के द्वारा उनको बहुत-कुछ क्षत-विक्षत किया जा चुका था। फिर भी देश में पेशवा, भोंसले, सींधिया और होलकर के अस्तित्व जागरित दिखायी देते थे। नैपाल युद्ध के बाद कम्पनी की आँखें इस ओर गयीं। ब्रिटिश भारत में उन दिनों हेस्टिंग्स का शासन चल रहा था।

मराठों के साथ तीसरे युद्ध का वर्णन करने के पहले हम देश की कुछ इनी-गिनी उन छोटी रियासतों पर भी यहाँ प्रकाश डालना चाहते हैं जो किसी कारण से अभी तक स्वतन्त्रता का जीवन बिता रही थीं किन्तु हेस्टिंग्स के शासनकाल में उनकी स्वतन्त्रता का भी विनाश हुआ।

उन रियासतों में कच्छ की रियासत सब से पहले हमारे सामने है उसमें राजपूत राव शासन करते थे। हेस्टिंग्स ने उस पर अपना अधिकार करने का निश्चय किया। कच्छ की रियासत काठियावाड़ के पश्चिम और उत्तर में पड़ती थी। काठियावाड़ के राजा पेशवा और गायकवाड़ के अधीनता में थे। अङ्गरेजों के साथ पेशवा और

गायकवाड़ की संधियाँ थीं। यहीं से कच्छ के आक्रमण का सूत्रपात होता है।

कच्छ पर हमला करने के लिए करनल ईस्ट के साथ एक छोटी-सी अङ्गरेजी सेना भेजी गयी। उसने जाते ही अञ्जार के किले पर अपना अधिकार किया और उसके बाद कच्छ के राजपूत राजा को धमकी दी कि सिंध के मुसलमान अमीर कच्छ पर हमला करने की तैयारी कर रहे हैं। वे अंगरेज सरकार की सहायता चाहते हैं। तुम्हारे साथ अभी तक हमारी कोई सन्धि नहीं है। इसलिए यदि तुम चाहते हो कि अंगरेज सरकार सिन्ध के अमीरों की सहायता न करे और उनके आक्रमण के समय तुम्हारी मदद करे तो तुमको तुरन्त अंगरेजी सरकार के साथ सन्धि कर लेना चाहिए। अन्त में यही हुआ। कच्छ के राजपूत राजा को सन् १८१६ में अंगरेजों के साथ सन्धि करनी पड़ी और उस सन्धि के साथ ही उसकी स्वाधीनता का अन्त हो गया।

गंगा और जमुना के मध्य हाथरस और मुरसान जाटों की दो रियासतें थीं। उन पर भी अपना अधिकार करना अंगरेजी सरकार ने जरूरी समझा। ११ फरवरी सन् १८१७ को अंगरेजों की सेना ने हाथरस के किले को घेर लिया और वहाँ के राजा दयाराम से कहा कि हाथरस के किले का नमूना हम देखना चाहते हैं। लेकिन दयाराम ने इससे इनकार कर दिया। वह अंगरेजों की बातों में न आया।

इसके बाद ही अंगरेजी सेना ने वहाँ के किले और नगर—दोनों पर गोलों और गोलियों की वर्षा आरम्भ कर दी। हाथरस की रियासत छोटी थी। अंगरेजी सेना के आक्रमण को वह सह न सकती थी। राजा दयाराम अपनी राजधानी छोड़कर निकल गया और हाथरस पर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

मुरसान के राजा भगवन्तसिंह ने कच्छ और हाथरस का दृश्य अपनी आँखों से देखा। इसलिए जब अंगरेजों ने मुरसान की ओर अपनी आँखें उठायीं तो भगवन्तसिंह ने अपना किला और राज्य अंगरेजों के हवाले कर दिया।

इस प्रकार जो छोटी-छोटी रियासतें अभी तक जीवित थीं लार्ड हेस्टिंग्स के शासन-काल में उनका इस प्रकार सर्वनाश हुआ।

पिण्डारियों पर आक्रमण

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि नैपाल के युद्ध के बाद लार्ड हेस्टिंग्स ने मराठा नरेशों का अस्तित्व मिटाने पर कमर कसी और सींधिया, होलकर, भोंसले और पेशवा राज्य की सीमाओं पर अंगरेजी सेनाएँ एकत्रित होने लगीं। अंगरेजी-सरकार का उद्देश्य स्पष्ट था। लेकिन उसे छिपाये रखने के लिए, सीमाओं पर फौजों के जमाव का कारण यह जाहिर किया कि पिण्डारी लोग अंगरेजी इलाकों मे लूट मार करते हैं; उनको रोकने के लिए अंगरेजी-सरकार को ऐसा करना पड़ा है।

यहाँ पर पिण्डारियों के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। भारत के दक्षिण में पिण्डारी जाति के लोग रहा करते थे। ये लोग युद्ध करने मे बड़े बहादुर होते थे। शिवा जी के समय से लेकर ये लोग मराठों की सेनाओं में सैनिकों का काम करते रहे। अंगरेज इतिहासकारों ने पिण्डारियों को डाकू, लुटेरे और बदमाशों के नाम से उल्लेख किया है। लेकिन यह बात सत्य न थी। उनकी आबादी नर्वदा नदी के किनारे बहुत दूर तक थी। वे ईमानदार भी थे और लड़ाकू भी। साधारण तौर पर वे खेती करते थे और छोटे-मोटे रोजगार करके काम चलाते थे। जो लोग नौकरी करना चाहते थे, वे मराठा राजाओं के यहाँ जाकर फौजों में सिपाही हो जाते थे।

पिण्डारी लोग वीर और लडाकू थे। वे न चोर थे और न विश्वास-घाती। कम्पनी के अंगरेजों ने जब देखा कि मराठा फौजों में बड़ी संख्या में पिण्डारी लोग सैनिक हैं तो उन्होंने पिण्डारियों को मराठा राजाओं के विरुद्ध भड़काना आरम्भ किया और राज-भक्त पिण्डारियों को झूठे प्रलोभन दे-देकर मारठों से लड़ाना आरम्भ किया। इतना ही नहीं, अंगरेजों के भड़काने से और तैयार करने से उनकी टोलियाँ राज्यों में इधर-उधर-लूट मार का काम भी करने लगीं।

इस प्रकार की बातों में बहुत-से पिण्डारियों की आदतें बिगड़ गयीं। वे मौके-बे-मौके अंगरेजी इलाकों में भी छापा मारने लगे। इस दशा में उनका दमन करने के लिए मेजर फ्रेजर ने कुछ पिण्डारियों पर आक्रमण किया। इसका नतीजा यह हुआ कि पिण्डारियों ने

कृष्णा नदी के किनारे के सभी अंगरेजी इलाकों में खुलकर लूट-मार शुरू कर दी और इस विद्रोह के कारण ही पिण्डारियों का सर्वनाश भी हुआ।

तीसरे मराठा-युद्ध में अंगरेजों की तैयारी

मराठा नरेशों के साथ दो युद्ध पहले हो चुके थे। उनमें जो कमजोरियाँ अंगरेजों को मालूम हुई थीं, उनको वे मिटा देना चाहते थे। मराठा-राज्य की सीमाओं पर कम्पनी की जो सेनाएँ जमा हुईं, उनकी संख्या एक लाख से कम न थी। इसके सम्बन्ध में इतिहास-कारों ने जो लिखा है, उनका भी यही अर्थ होता है कि लार्ड हेस्टिंग्स मराठा नरेशों की स्वाधीनता को नष्ट कर देना चाहता था।

मराठों के साथ पिछले युद्धों में अंगरेजों को भारतीय भूगोल का ठीक-ठीक ज्ञान न था। सन् १८१५ तक यहाँ के जो नकशे थे, वे बहुत-कुछ गलत बने थे। इसलिए अंगरेजों की एक यह भी जरूरत थी कि वे ठीक-ठीक नकशे बनवा लें और उसके बाद युद्ध आरम्भ करें।

सन् १८०६ में करनल जेम्स टाड वहाँ के भूगोल की जाँच के लिए मुकर्रर किया गया था। मध्य भारत का एक सही-सही नकशा तैयार करना उसका काम था। उसने नकशे का काम समाप्त किया और सन् १८१५ में मध्य भारत का विस्तृत और सही नकशा तैयार कर दिया।

नकशे का काम कर चुकने पर जेम्स टाड ने राजपूताने में प्राचीन इतिहास के खोज का काम आरम्भ किया। उसके बाद उसने राज-पूताने पर एक बड़ी पुस्तक लिखी जो टाड राजस्थान, के नाम से प्रका-शित हुई। यह ऐतिहासिक पुस्तक अंगरेजी में लिखी गई थी और अंगरेजी से दूसरी भाषाओं में उसके अनेक अनुवाद हुए।

जेम्स टाड विद्वान होने के साथ-साथ कूटनीतिज्ञ भी था। इसलिए कम्पनी की ओर से वह मेवाड़, मारवाड़ जयपुर, कोटा और बूंदी की पाँच राजपूत रियासतों में प्रचार का काम करने के लिए नियुक्त हुआ। उसका काम यह था कि मुसलमानों में हिन्दुओं के खिलाफ और हिन्दुओं में मुसलमानों के विरुद्ध भावनाएँ उत्पन्न करे। ये दोनों

कौमें जितनी ही एक, दूसरे से बैर और ईर्षा का भाव आपस में रखेंगी, कम्पनी की उतनी ही कामयाबी निश्चित है।

करनल जेम्स टाड को इस कूटनीति के काम मे बहुत सफलता मिली। वह मुसलमानों में, मुसलमानों का खैरख्वाह और हिन्दुओं में हिन्दुओं का पक्षपाती बना। उसका उद्देश्य कुछ और था। न तो वह मुसलमानों का पक्षपाती था और न वह हिन्दुओं का, उसे तो दोनो को मूर्ख बनाना था। सर डेविट आक्टरलेनी ने लिखा है कि करनल टाड को प्रसन्न करने के लिए राजाओं, सामन्तों और सरदारों ने खूब रिश्वतें दी थीं।

सींधिया की सन्धि की अवहेलना

दस वर्ष पहले कम्पनी के साथ सींधिया की जो सन्धि हुई थी, उनकी अवहेलना करके कम्पनी ने जेम्स टाड को राजपूत रियासतों मे एजेण्ट बना कर रखा। पिछली सन्धि मे कम्पनी ने मन्जूर किया था कि जयपुर आदि जो राजपूत रियासतें सींधिया के मातहत में है, उनसे कम्पनी का कोई सम्बन्ध न रहेगा। जेम्स टाड की नियुक्त राजपूत रियासतों में इस शर्त के खिलाफ थी।

मराठों और राजपूतों मे बहुत पहले से प्रेम और मेल चला आ रहा था। दोनों ही एक, दूसरे के मददगार थे। जेम्स टाड ने राजपूत रियासतों में पहुँच कर मराठों के खिलाफ राजपूतों के विचारों को दूषित बना दिया। फल यह हुआ कि पुराना सम्बन्ध भूलकर राजपूत मराठों से घृणा करने लगे। इसी मौके पर जेम्स टाड ने कम्पनी के साथ राजपूत नरेशों की संधियाँ करवा दीं और सींधिया की पुरानी सन्धि की कुछ भी परवाह न की। आश्चर्य की बात तो यह है कि हेस्टिंग्स ने सींधिया से भी कम्पनी के साथ एक नयी सन्धि करवा ली और सींधिया ने चुपचाप उस पर हस्ताक्षर कर दिये।

पुरानी सन्धि के विरुद्ध चलकर और फिर सींधिया से ही नयी सन्धि कर लेना सचमुच एक बड़ा काम था, जिसके सम्बन्ध में लार्ड हेस्टिंग्स ने स्वयं बहुत-कुछ लिखा है। उसका परिचय संक्षेप में यहाँ पर दे देना आवश्यक है।

"सींधिया की पहली सन्धि के अनुसार राजपूत रियासतों से हम

कोई सम्बन्ध न रख सकते थे। इसलिए शर्त तोड़कर भी हमें सींधिया के साथ नयी सन्धि करनी पड़ी। इस बीच में राजपूत राजा कम्पनी के साथ सन्धि के बन्धन में आ चुके थे। ××राजपूत राजाओं की शक्तियाँ बड़ी थीं, लेकिन अपने आपसी झगड़ों के कारण वे कभी मिलकर न रह सकते थे और न कोई संगठित रूप में काम ही कर सकते थे। उनके आपसी झगड़े बहुत मामूली बातों और पुराने विवादों के कारण पैदा होते थे।

× × ×

देशी नरेशों में सींधिया अधिक शक्तिशाली था। यदि उसने हमारे साथ युद्ध छेड़ा होता तो हमारी कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जातीं। ×× सींधिया के साथ नयी शर्तें कम्पनी की ओर से ऐसे ढंग से पेश की गयीं। जिन पर उसने अधिक ध्यान न दिया और सन्धि पत्र पर उसने हस्ताक्षर कर दिये।"

इस प्रकार दौलतराव सींधिया ने कम्पनी के साथ नयी सन्धि कर ली। उसका रहस्य सींधिया समझ न सका और उस सन्धि के अनुसार राजपूत रियासतें सींधिया के हाथ के निकल गयीं और वे सभी कम्पनी के अधिकार में आ गयीं। मराठा नरेशों में सींधिया का प्रश्न इस प्रकार बहुत-कुछ हल हुआ। हेस्टिंग्स के सामने अब तीन मराठा नरेशों का प्रश्न था।

बाजीराव पेशवा की हकीकत

बाजीराव पेशवा को दुबारा गद्दी पर बिठाने में कम्पनी ने कोई भूल न की थी। बाजीराव आखीर तक अंगरेजों के हाथों का खिलौना बना रहा। इतना ही नहीं अपनी अदूरदर्शिता के कारण वह मराठों की शक्ति के सर्वनाश का कारण बना। बाजीराव की जो आदतें देश और जाति के लिए विनाशक और विश्वासघातक थीं, वही अंगरेजों के लिए ईमानदार थीं। जिनकी प्रशंसा अंगरेज अफसर और अंगरेज लेखक बराबर करते रहे। जो बाजीराव इतना जातिद्रोही, देशद्रोही, निबल और अदूरदर्शी था, उसकी प्रशंसा करते हुए बम्बई के चीफ जस्टिस सर जेम्स मैकिन्टाश ने उसको इंगलैण्ड के तीसरे जार्ज और फ्राँस के नैपोलियन बोनापार्ट से अधिक योग्य शासक माना है

और अपने इन विचारों का Poona Gazetter में प्रकट करके जले हुए भारतीय हृदयों पर नमक छिड़का था।

कम्पनी के अधिकारी अंगरेज बाजीराव पेशवा को अङ्गरेजों का मित्र कहा करते थे। फिर भी पेशवा-राज्य और पेशवा-दरबार में उनकी भयानक चालें अपना काम करके पेशवा के अस्तित्व का नाश करती रहीं। पेशवा-दरबार के दरबारियों को अलग-अलग मिलाने, बाजीराव को फोड़ने और गुप्त से गुप्त बातों का पता लगाने में पानी की तरह धन बहाकर रिश्वतें दी जाती थीं।

बाजीराव पेशवा के साथ कम्पनी की सन्धि हुई थी। लेकिन उसका उल्लङ्घन करके अङ्गरेज पेशवा के अधीन रियासतों, सामंतों और सरदारों को भड़काकर और डरवाकर अपने अधिकारों में कर रहे थे। साथ ही बाजीराव की इतनी प्रशंसा कम्पनी की ओर से की जाती थी कि पेशवा को न कुछ सोचने का मौका था और न कुछ विरोध करने का।

जो अङ्गरेज बाजीराव को अपना मित्र मानते थे, और जी-भर उसकी प्रशंसा करते थे, उनकी मित्रता के सुबूत में ऊपर कुछ बातें लिखी जा चुकी हैं। अङ्गरेजों की मित्रता और शत्रुता का अन्तर निकालना साधारण काम न था। इसके सम्बन्ध में यहाँ पर एक ही घटना का संक्षेप में उल्लेख करना काफी होगा :—

सन् १७५१ में पेशवा के साथ गायकवाड़ की एक सन्धि हुई थी। उसमें गायकवाड़ ने स्वीकार किया था कि सवा पाँच लाख रुपये वार्षिक पेशवा को गायकवाड़ की तरफ से दिये जायँगे। इसी प्रकार के कुछ और रुपये देने भी गायकवाड़ ने सन्धि में स्वीकार किये थे। कम्पनी के अधिकारी अङ्गरेजों की शरारत से ही गायकवाड़ ने यह अदायगी पेशवा को न की थी और ताज्जुब तो यह था कि इस अदायगी के लिए बाजीराव पेशवा अपने मित्र और सहायक अङ्गरेजों पर ही विश्वास करता था। सन् १८११ में एलफिन्सटन पूना का रेजीडेण्ट हुआ था। वह बाजीराव की प्रशंसा करता रहा और उसकी कूटनीति पेशवा राज्य की जड़ें काट रही थीं। इसी रेजीडेण्ट के कारण गायकवाड़ का पावना रुका था और उसी पर बाजीराव विश्वास करता था कि वह अदा करा देगा।

अङ्गरेज केवल युद्ध ही न करते थे, उनके बिना अस्त्र के अस्त्र भी काम करते रहते थे। गंगाधर शास्त्री की तरह के न जाने कितने भारतीय अङ्गरेजों की लम्बी रकमें वेतन में लेकर, देश में अगरेजों का हित करते रहते थे। गंगाधर शास्त्री एक गरीब ब्राह्मण था और बड़ौदा एवम् पूना में अङ्गरेजों का गुप्तचर था। देश के साथ विश्वासघात करके वह कम्पनी को जो लाभ पहुँचाता था और अङ्गरेजों के गुप्त कार्य करता था, स्वयम् देशी नरेशों के गुप्त रहस्यों का पता अङ्गरेजों को देता था, उन सबके बदले में प्रशंसा के साथ-साथ, लम्बी रकमें अङ्गरेजों से वसूल करता था। इसको स्वीकार करते हुए एक अङ्गरेज ने लिखा है :

"गंगाधर शास्त्री ने कम्पनी की नौकरी करके एक गुप्तचर के रूप में जो काम किये थे, उनके बदले में तनख्वाहों के सिवा सूरत के चौरासी परगने मे तन्दोल नामक गाँव सदा के लिए उसके और उसके वंशजों के नाम लिख दिया गया था। उस गाँव की आमदनी वार्षिक पाँच हजार रुपये थी।

× × ×

जनवरी सन् १८०५ में गंगाधर शास्त्री की लड़की का ब्याह हुआ था। उस मौके पर बम्बई सरकार ने उसको चार हजार रुपये नकद दिये थे। १५ मई सन् १८०६ को गंगाधर शास्त्री को एक कीमती पालकी दी गयी थी और उसके खर्च के लिए १२ सौ रुपये वार्षिक दिये जाने की आज्ञा हुई थी।"

बड़ोदा और पूना दरबार

बड़ोदा राज्य पेशवा का सामन्त था। पेशवा की सन्धि के अनुसार कम्पनी बड़ोदा के साथ कोई सम्बन्ध कायम न कर सकती थी। लेकिन अङ्गरेज अपनी की हुई सन्धि का मूल्य उसी समय तक समझते थे, जब तक उनको उसकी जरूर मालूम होती थी। पेशवा के साथ भी अङ्गरेजों ने यही किया और बड़ोदा को सन्धि के बन्धन में बाँधने की वे कोशिश करने लगे।

कम्पनी की ओर से सन्धि की जो शर्तें बड़ोदा के सामने पेश की गयीं, उसके लिए वह कभी तैयार न था। लेकिन मेजर ए० वाकर नाम

का एक अङ्गरेज इसीलिए बड़ोदा भेजा गया था कि वह बड़ोदा दरबार को सन्धि के लिए तैयार करे। गंगाधर शास्त्री भी अङ्गरेजों के गुप्तचर के रूप में बड़ोदा में काम कर रहा था। वहाँ के जिन रहस्यों का पता मेजर वाकर को न होता उनका पता लगा लेना गंगाधर के लिए आसान होता। इसलिए कि वह देश का आदमी था और देश के आदमी भी उसे अपना समझकर कभी दुराव न रखते थे। इसके साथ साथ, गंगाधर अपनी बुद्धिमानी से बड़ोदा को समझाने का काम करता कि कम्पनी के साथ सन्धि कर लेने में ही बड़ोदा का लाभ है।

इस सन्धि मे कुछ और बाधाएँ भी पड़ीं। महाराज बड़ोदा की सेना के कुछ अफसर भी इस सन्धि के लिए तैयार न थे। लेकिन अनेक प्रकार के छल और बल से काम लिए गये और अन्त में महाराज बड़ोदा को तैयार हो जाना पड़ा। इस प्रकार बड़ोदा के साथ भी कम्पनी की नयी सन्धि हो गयी।

अंगरेज इतिहासकारों ने इस बात को मन्जूर किया है कि सन्धि के लिए बड़ोदा-दरबार और महाराज बड़ोदा को तैयार करने में कम्पनी को सब से बड़ी सहायता गंगाधर शास्त्री से मिली, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

पूना और बड़ोदा के लोग आमतौर से गङ्गाधर शास्त्री को देशद्रोही समझने लगे थे। बाजीराव पेशवा स्वयं इस बात को न चाहता था कि कम्पनी का गुप्तचर होकर गङ्गाधर पूना में काम करे। लेकिन पूना के अङ्गरेजी रजीडेण्ट ने बाजीराव की परवाह न की और वह १९ अक्टूबर सन् १८१३ को बड़ोदा से पूना भेज दिया गया।

एलफिन्सटन जो पूना का रेजीडेण्ट था, भीतर से पेशवा के विरुद्ध था। गंगाधर शास्त्री के पहुँचने पर उसने पेशवा-दरबार के विरुद्ध अपनी चालें शुरू कर दीं। पूना-दरबार में खुरशेद जी एक पारसी रहा करता था। यह पेशवा-दरबार का शुभचिंतक था और बहुत सी बातों में पेशवा को नेक सलाह दिया करता था। गङ्गाधर ने पहुँचने के बाद ही खुरशेद जी के साथ विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि एलफिन्सटन ने आज्ञा दी कि खुरशेद जी को वहाँ से गुजरात भेज दिया जाय। पेशवा इस बात में इनकार न कर सकता था। लेकिन वह अभी पूना से जा न सका था कि उसे एक दिन जहर दिया गया और

उसकी मृत्यु हो गयी। इस पर भी गङ्गाधर शास्त्री जैसे लोगों ने अफवाह उड़ायी कि पेशवा ने ही खुरशेद जी को विष खिलाकर मार डाला है। यह सभी जानते थे कि रेजीडेण्ट और गंगाधर की कूटनीति को असफल बनाने एवम् पेशवा को सही रास्ते पर चलने के लिए खुरशेद जी काम किया करता था। इसी अपराध के कारण उसकी मृत्यु हुई।

पेशवा-दरबार की ओर से खुरशेद जी के परिवार की सहायता में गुजरात में एक छोटी-सी जागीर दी गयी। ऊपर यह बताया जा चुका है कि गायकवाड़ से सन्धि के अनुसार जो रुपये मिलने चाहिए थे, वे पेशवा को न मिले थे। इसीलिए पेशवा और गायकवाड़ के बीच एक झगड़ा चल रहा था। पूना में गंगाधर के आने का यह भी एक कारण था। गंगाधर ने पूना में पहुँचकर उस झगड़े को खत्म कराने की कोशिश की। लेकिन एलफिन्सटन हृदय से न चाहता था कि यह झगड़ा मिटे। इसके सम्बन्ध में गंगाधर के ढङ्ग और तरीके भी एलफिन्सटन को कभी-कभी खटकने लगे और १४ जुलाई सन् १८१५ को गंगाधर को कत्ल कर डाला गया।

एलफिन्सटन की ओर से यह समाचार उड़ाया गया कि गंगाधर को मारने का अपराध त्रयम्बक ने किया है। त्रयम्बक बाजीराव का मन्त्री था और एलफिन्सटन उससे जला करता था। वास्तव में गंगाधर की मृत्यु इसलिए हुई कि वह अंगरेजों का इशारा ठीक-ठीक न समझ कर जो कुछ कर रहा था, उससे पेशवा और गायकवाड़ के बीच का झगड़ा सुलझ जाने की अधिक आशा थी। एलफिन्सटन इसको सहन न कर सकता था।

त्रयम्बक जी के विरुद्ध षड्यन्त्र

जो लोग परिस्थितियों से परिचित थे, वे खूब समझते थे कि गंगाधर की मृत्यु कैसे हुई। रेजीडेण्ट का एक तो फायदा यह हुआ कि पेशवा और गायकवाड़ के मेल की बात खत्म हो गयी और दूसरा फायदा यह हुआ कि त्रयम्बक के कारण बाजीराव पेशवा की निर्बलता और अयोग्यता का लाभ उठाने में बाधा पड़ती थी। इसलिए गंगाधर के मारे जाने के कारण मन्त्री त्रयम्बक को अपराधी ठहराने का मौका मिला।

इस अपराध की तहकीकात का काम एलफिन्सटन ने स्वयम् किया और उसने निर्णय किया कि गंगाधर की मृत्यु त्रयम्बक के कारण हुई है। इसलिए सारा दोष त्रयम्बक पर ही मढ़ा गया।

एलफिन्सटन पहले से ही त्रयम्बक से इसलिए जलता था कि वह पेशवा का सच्चा सहायक था। एलफिन्सटन को यह भी मालूम था कि मराठा नरेशों के साथ-साथ पेशवा के विरुद्ध भी अंगरेजी-सरकार की योजना क्या है। इसलिए वह पहले से ही चाहता था कि खुरशेद जी और त्रयम्बक जी जैसे आदमी पूना-दरबार में न रह सकें।

एलफिन्सटन ने पेशवा के कहा कि त्रयम्बक जी को तुरन्त अङ्गरेजों के हवाले कर दिया जाय। वास्तव मे यह काम रेजीडेण्ट का न था। साथ ही गंगाधर की मृत्यु का रहस्य भी पेशवा जानता था। इसलिए वैसा करने से उसने इन्कार कर दिया। परन्तु रेजीडेण्ट के धमकी देने पर और अंगरेजों के साथ युद्ध के पैदा होने की सम्भावना बताने पर पेशवा ने अपने विश्वासपात्र मन्त्री निरपराध त्रयम्बक जी को अंगरेजों के हवाले कर दिया। वह अंगरेजों की गिरफ्तारी मे चला गया और पेशवा दरबार एक बार फिर अनाथ दिखायी देने लगा।

पेशवा पर आक्रमण

मराठा राज्यों में पेशवा-दरबार ही अंगरेजों की नज़र में सब से कमजोर था। यद्यपि बाजीराव पेशवा कभी अंगरेजों के विरुद्ध न हुआ था और उन्हीं के इशारे पर अपने तमाम काम करता था, कम्पनी के अंगरेजों ने उसे यद्यपि अपना मित्र मान रखा था, फिर भी उसके सम्पूर्ण राज्य पर हेस्टिंग्स ने अपना अधिकार करने के लिए पूरी योजना तैयार कर ली थी। इसका पता बाजीराव पेशवा को भी लगा। उसने अप्रैल सन् १८१७ में एलफिन्सटन से मुलाकात की और कम्पनी के साथ अपनी शुभकामनायें प्रकट करते हुए शान्ति और मित्रता की रक्षा पर बहुत जोर दिया। परन्तु बाजीराव को कोई आश्वासन न मिला।

रेजीडेण्ट एलफिन्सटन ने पूना में रह कर पेशवा दरबार को निर्बल बनाने में और उसके भीतरी और बाहरी रहस्यों को जानने में भयंकर कूटनीति से काम लिया था। समूचे राज्य मे न जाने कितने देशद्रोही

अंगरेजों के पैसे के बल पर पेशवा राज्य के सर्वनाश का काम कर रहे थे। जिससे राज्य भीतर ही भीतर खोखला हो रहा था और पेशवा कुछ कर न सकता था।

बाजीराव पेशवा के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए अंगरेजों की तैयारी हो चुकी थी। वे किसी मौके की खोज में थे। कोई और बहाना न मिलने पर एलफिन्सटन ने पेशवा से कहा कि त्रयम्बक जी कैद से छूटकर पेशवा राज्य में कहीं आ गया है इसलिए पेशवा उसको एक महीने के भीतर गिरफ्तार करके अंगरेजों को सौंप दे और जब तक ऐसा वह न कर सके, उस समय तक के लिए जमानत के तौर पर पेशवा अपने तीन किले सिंहगढ़, पुरन्धर, और रायगढ़ तुरन्त कम्पनी के हवाले कर दे।

बाजीराव को इन बातों पर आश्चर्य मालूम हुआ। वह अभी कुछ निर्णय न कर सका था, उसी बीच मे पेशवा राज्य में अंगरेजी फौजों के आने की कुछ खबरें उसे मालूम हुईं। पेशवा युद्ध के लिए तैयार न था। उसने घबराकर ८ मई सन् १८१७ को तीनों किले कम्पनी के नाम लिख दिये और उनके संरक्षकों को इसकी सूचना भेज दी।

त्रयम्बक जी के अन्तिम दिन

गिरफ्तारी से छूटकर त्रयम्बक जी के भाग जाने की खबर अंगरेजों ने बिलकुल झूठी उड़ाई थी। उनको तो पेशवा पर कुछ अपराध लगाना था। त्रयम्बक जी जिन्दगी के आखीर तक अंगरेजों की गिरफ्तारी में रहा। उससे कितने ही विदेशी यात्रियों ने मुलाकात की और उन यात्रियों ने अपनी यात्रा के वर्णन में उसके सम्बन्ध मे बहुत कुछ बातें लिखी। यात्रियों ने जो कुछ उसके सम्बन्ध में लिखा है उसका संक्षेप में यहाँ कुछ वर्णन कर देना अनावश्यक न होगा।

पादरी विशप ने सन् १८२४ में त्रयम्बक जी से मुलाकात की और अपनी डायरी मे लिखा :—

"त्रयम्बक जी को मैंने कैदी हालत में देखा। वह सख्त कैद में था। उस पर अंगरेजी और हिन्दुस्तानी—दोनो गारदें पहरा देती थीं। वह अपने स्थान से एक मिनट के लिए भी इधर-उधर हो न सकता था।"

१६ फरवरी सन् १८२९ को एक दूसरा यात्री मेजर आर्चर त्रयम्बक जी को देखने गया था। उसने लिखा है :—

"त्रयम्बक जी कैद में है। उसके कैदी जीवन की कोई सीमा नहीं है। वह जिगर की बीमारी से बहुत अधिक बीमार था। डाक्टरों का कहना है कि उसकी जिन्दगी थोड़े ही दिनों की है। उसकी प्रार्थना थी कि मरने के दिनों में वह काशी भेज दिया जाय लेकिन उसकी प्रार्थना बेकार थी।"

त्रयम्बक जी का केवल इतना ही अपराध था कि वह अपने मालिक पेशवा का हृदय से शुभचिन्तक था। इसीलिए एक असम्भव अपराध सिर पर मढ़ा गया और चुनार के किले के एक कोने मे कैदी बनकर उसे अपने प्राण देने पड़े।

पेशवा पर अपराध

बाजीराव पेशवा पर जो अपराध लगाया गया था और जिसके बदले में उसके तीन प्रसिद्ध किले माँगे गये थे, उन्हें पेशवा ने दे दिया था। अभी तक अंगरेजी सरकार की अभिलाषा पूरी न हुई थी। इसलिए कोई और बहाना न मिलने पर बड़ी खोज के बाद कहा गया कि गंगाधर कम्पनी का नौकर था और कम्पनी की आज्ञा से उसे यहाँ भेजा गया था। गंगाधर शास्त्री के मारे जाने में बाजीराव पेशवा को भी दोषी ठहराया गया और इस अपराध के बदले में पेशवा राज्य के कितने ही उपजाऊ प्रान्त पेशवा से माँगे गये।

इस अपराध के लगाने के साथ ही पेशवा को पूना में घेर लिया गया और संगीनों का भय दिखाकर १३ जून सन् १८१७ को बाजीराव से एक नयी सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिए गये। इस सन्धि के अनुसार पेशवा के अधिकार से गुजरात का सम्पूर्ण प्रान्त कम्पनी के अधिकार में चला गया। कुछ इतिहासकारों ने यह भी लिखा है कि बाजीराव को भय दिखाकर उससे यह भी लिखा लिया गया कि गंगाधर के मारे जाने में मेरा भी हाथ था।

पेशवा की सन्धि

नयी सन्धि पर बाजीराव के हस्ताक्षर ले चुकने के बाद भी अंग-

रेजी सरकार का पेट नहीं भरा। ३० अक्टूबर सन् १८१७ की बात है, एक बड़ी अंगरेजी पलटन ने पूना की छावनी में प्रवेश किया। पेशवा की सेनाओं में बापू गोखले प्रधान सेनापति था। उसने अपनी सेना लेकर अंगरेजी फौज का मुकाबिला किया। बापू गोखले साहसी और वीर सेनापति था। उस युद्ध में बापू गोखले के पराक्रम की प्रशंसा विदेशी इतिहासकारों ने लिखी है।

बापू गोखले के युद्ध-कौशल का लाभ पेशवा राज्य को कुछ मिल न सका। सम्पूर्ण राज्य देशद्रोहियों और विश्वासघातकों से चलनी हो रहा था। देश में न तो कहीं जीवन था और न उसमें कहीं प्राण रह गये थे। सैनिकों में भी अंगरेजी गुप्तचरों के कारण बड़ी संख्या में लोग कम्पनी की रिश्वत खाये बैठे थे। इसलिए युद्ध-क्षेत्र में पेशवा के सैनिकों ने बापू गोखले का साथ न दिया। इसका फल यह हुआ कि युद्ध में अंगरेजों की विजय हुई।

पेशवा-राज्य के अन्तिम दिन

बाजीराव स्वाभाविक निर्बल और कायर था। पेशवा की गद्दी पर बाजीराव के बिठाने का अंगरेजों का अभिप्राय यही था। जो आज सिद्ध हुआ। जून सन् १८१८ में बाजीराव ने सन्धि के लिए सर जान मालकन से बातचीत की। इसलिए कि उसके पास और कोई रास्ता न रह गया था।

अंगरेज परिस्थियों का लाभ उठाना जानते थे। सर मालकन ने गवर्नर जनरल से परामर्श किया। बाजीराव पेशवा को वार्षिक आठ लाख रुपये पेन्शन में देकर उसका सम्पूर्ण राज्य ले लेने का निश्चय हुआ। बाजीराव के सामने इसको मन्जूर करने के सिवा और कोई उपाय न था। अतएव अंगरेजी सरकार ने पेशवा राज्य पर अपना अधिकार किया और बाजीराव को बतौर पेन्शन के आठ लाख रुपये वार्षिक देकर, कानपुर के पास बिठूर में भेज दिया गया। इस प्रकार पेशवा-राज्य समाप्त हुआ।

बिठूर में जाकर बाजीराव ने अपने जीवन के बत्तीस वर्ष पूरे किये और सन् १८५० में ७५ वर्ष की अवस्था में स्वर्ग के लिए प्रस्थान

किया। सन् १८५७ के विप्लव मे जिस नाना साहब ने बड़ी ख्याति पायी थी, वह बाजीराव का गोद लिया हुआ लड़का था।

भोंसला-राज्य का पतन

मराठा-नरेशों को समाप्त करने के लिए अंगरेजी-सरकार ने मराठों के साथ तीसरे युद्ध का श्रीगणेश किया था। सींधिया-राज्य की छीछालेदर इस युद्ध के आरम्भ में ही हो चुकी थी। पेशवा-राज्य का अस्तित्व ही मिट गया। गायकवाड़ पहले से ही अंगरेजों की अधीनता पर चल रहा था। अब केवल दो राज्यों का प्रश्न बाकी था, भोंसला राज्य और होलकर राज्य।

जिन दिनों मे मराठों के साथ दूसरा युद्ध चल रहा था, उन दिनों मे राघो जी भोंसले नागपुर का राजा था। दूसरे युद्ध के बाद एलफिन्सटन रेजीडेण्ट होकर पूना चला गया था। उसके पहले चार साल तक वह नागपुर का रेजीडेण्ट रहा था। उसके अनेक बार प्रयत्न करने पर भी राघो जी भोंसले ने सबसीडियरी सन्धि मन्जूर न की थी।

एलफिन्सटन के घातक कार्य राघो जी के समय सफल न हो सके। यद्यपि उसने बहुत-कुछ सोच रखा था और जनरल वेल्सली के नाम उसने कुछ पत्र लिखे थे, उनसे पता चलता है कि भोंसले राज्य के अन्त करने की उसकी योजनायें कितनी भयानक थीं।

ब्रिटिश भारत मे जो गवर्नर जनरल होकर आते थे, भारतीय रियासतों के साथ उनके उद्देश्य क्या होते थे, उनको समझने के लिए लार्ड हेस्टिंग्स की लिखी हुई पक्तियाँ काफी होंगी। जो उसने अपने रेजीडेण्टों को इशारा देने के लिए लिखी थीं। उन पंक्तियों का विवरण उसके रोजनामचे मे पहली फरवरी सन् १८१४ को लिखा गया था :

"देशी राजाओं के साथ सन्धि करते समय हम उनकी स्वाधीनता स्वीकार कर लेते हैं। सन्धि के साथ ही, हमारा रेजीडेण्ट उनके यहाँ रहता है, जिसका काम होता है, कि उस राज्य में अंगरेजी सत्ता के फूलने-फलने का वह अंकुर पैदा करे। रेजीडेण्ट का उद्देश्य चाहे कुछ भी पहले समझा जाय, लेकिन वह राजाओं के निजी कामों में भी

दखल देने लगता है। रेजीडेण्ट की योग्यता इस बात में होती है कि वह राज्य के विद्रोही लोगों को, राज्य के खिलाफ भड़काने की कोशिश करे। राज्य में जो झगड़े पैदा होते हैं, उनमें रेजीडेण्ट का इशारा पाकर राज्य के विरोधियों की हमें सहायता करनी पड़ती है।"

नागपुर में चार वर्ष तक रह कर एलफिन्सटन भयानक कूटनीति से काम लेता रहा। वह विद्रोहियों को भड़काता था, राज्य के अच्छे आदमियों को रिश्वतें देकर अपने साथ मिला लेता था और राज्य को कमजोर बनाने का काम करता था।

राघो जी की मृत्यु अप्रैल सन् १८१६ में हुई। अब वहाँ का रेजीडेण्ट जेनकिन्स बनाया गया। राघो जी के एक लड़का था, उसका नाम पुरषा जी था। उसे लोग बाला साहब भी कहते थे। वह शासन के बिल्कुल अयोग्य था, अप्पा साहब नामक राघो जी का एक भतीजा था अंगरेजों की कूटनीति के फलने-फूलने का यहीं से मौका मिलता है।

राघोजी के मरने के बाद नागपुर की गद्दी पर बाला साहब बैठा। उस दरबार में रेजीडेण्ट जेनकिन्स ने पहुँच कर अंगरेज सरकार की तरफ से बाला साहब और अप्पा साहब—दोनों को बधाइयाँ दीं।

राघो जी की मृत्यु के बाद हेस्टिंग्स ने जेनकिन्स को एक पत्र लिखा कि यही अवसर है जब सबसीडियरी सन्धि नागपुर में सफल हो सकती है। इस विषय में तुम्हें सब से बड़ी सहायता अप्पा साहब को मिलाने से मिलेगी।

रेजीडेण्ट जेनकिन्स ने कोशिश की और मौका पैदा करके तारीख २४ अप्रैल सन् १८१६ को ठीक आधी रात के समय अप्पा साहब पर जोर डला। उस आधी रात को जिन लोगों मे अप्पा साहब घिरा हुआ था, उनमें उसकी कहने वाला कोई न था। उसकी अवस्था केवल बीस वर्ष की थी।

अप्पा साहब को सभी प्रकार की बातें समझाई गयीं और उसके न तैयार होने पर प्राणघातक भय भी उसे दिखाये गये। इस पाप-कर्म में अप्पा साहब के दो मन्त्री—नागू पण्डित और नारायण पडिण्त भी शामिल थे। उन दोनों ने जेनकिन्स के दाहिने और बायें बाजू होकर काम किया।

विवश होकर, और कुछ न सूझ पड़ने पर अप्पा साहब ने राजा पुरषा जी भोंसले अर्थात् बाला साहब की ओर से सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। उस सन्धि के अनुसार भोंसले राज्य को अपनी सेना बरखास्त कर के, कम्पनी की सेना को राज्य में रखना चाहिए और उसके खर्च के लिए २० लाख रुपये तक वार्षिक कम्पनी को देना चाहिए। सन्धि की इन शर्तों पर अप्पा साहब के हस्ताक्षर हो गये।

जेनकिन्स ने अपने इस कार्य की सफलता की सूचना लार्ड हेस्टिंग्स के पास भेजी। उस पर अंगरेजी सरकार ने बड़ी खुशी मनायी। इस कार्य में राज्य के अफसरों और मन्त्रियों को मिलाने में रेजीडेण्ट को रिश्वतों में बहुत रुपये खर्च करने पड़े। परन्तु राज्य को जलाने के लिए एक आग पैदा कर देने में उसको कामयाबी मिली।

अप्पा साहब को इस पाप-कर्म के लिए जब विवश किया गया था तो विशाल राजमहल के सूने वातावरण में जेनकिन्स और उसके रिश्वती आदमियों ने अप्पा जी को समझाया था कि बाला जी के कोई पुत्र नहीं है। अंगरेजी सरकार बाला जी को गोद लेने न देगी। दूसरे तरीकों से भी यह राज्य अप्पा साहब के हाथों में आ जायगा। इस प्रकार के बहुत से प्रलोभन भी अप्पा साहब को दिये गये थे।

नागपुर-दरबार में इस सन्धि का समाचार फैला। दरबारी लोगों ने उसका विरोध किया। जेनकिन्स को मालूम होने लगा कि बाला साहब की मौजूदगी में कदाचित यह सन्धि काम न कर सकेगी। एक दिन अप्पा साहब नागपुर से बाहर गया था। उसी रात को बाला साहब को कत्ल कर डाला गया।

युद्ध और सन्धि

बाला साहब के बाद, नागपुर की राजगद्दी पर अप्पा साहब बैठा। लेकिन उसके हृदय में प्रसन्नता न थी। बाला साहब की हत्या का उसे हार्दिक दुख था। इसके सिवा रेजीडेण्ट ने जिस सन्धि पर उसके हस्ताक्षर रात को कराये थे, उससे भी वह दुखी था। राज्य की आमदनी कुल साठ लाख के लगभग थी और उसमें से तीस लाख तक, सन्धि के अनुसार वह कम्पनी को देगा। इन दोनों बातों से वह सुखी

न था। गद्दी पर बैठने पर उसने अपनी हकीकत गवर्नर-जनरल को लिख कर भेजी और प्रार्थना की कि राज्य की आर्थिक दशा पर विचार करके उस सन्धि में कुछ संशोधन किये जायँ, लेकिन प्रार्थना बेकार गयी।

अंगरेजी सरकार के साथ अप्पा साहब के विचार दिन-पर-दिन बिगड़ते गये। लेकिन वह अपने को कमजोर पाता था। अंगरेजी नीति घातक रूप से वहाँ पर अपना काम कर रही थी। कितनी ही विरोधी बातों को लेकर अप्पा साहब ने गवर्नर जनरल से शिकायतें कीं लेकिन उनका कोई नतीजा न निकला।

अंगरेजी सरकार ने निश्चय किया कि अप्पा साहब साधारण तौर पर मानने वाला नहीं है, इसलिए भीतर ही भीतर भोंसला राज्य के खिलाफ सैनिक तैयारी होने लगी। जो अप्पा साहब युद्ध के लिए तैयार न था, उसके लिए कम्पनी की ओर से किस प्रकार आक्रमण की तैयारी हुई, इस पर प्रोफेसर विल्सन ने लिखा है :

"भोंसला राज्य पर आक्रमण करने के लिए बरार की सबसीडिअरी सेना युद्ध-क्षेत्र में आ चुकी थी। राज्य से कुछ मीलों की दूरी पर लेफ्टिनेन्ट करनल स्काट की अधीनता में एक बड़ी सेना डेरा डाले पड़ी थी। इस विशाल सेना में मद्रासी, बंगाली और देशी पल्टनों के सिवा अंगरेजी सैनिक भी बड़ी संख्या में थे। तोपखाना भी साथ ही था।"

राजधानी के निकट इन सेनाओं को देखकर भोंसला राज्य के दरबारियों का घबरा जाना स्वाभाविक था। द्वितीय मराठा युद्ध के पहले बरार भोंसला राज्य में ही था, लेकिन दूसरे युद्ध में इस राज्य से उसको अंगरेजों ने लेकर निजाम को दे दिया था। दरबार में कुछ लोग इस युद्ध से बचने के पक्ष में थे और कुछ लोग लड़ने के लिए तैयार थे। परिस्थिति बड़ी नाजुक थी। अप्पा साहब ने कुछ निर्णय न किया था, इसी बीच में उसकी एक सेना ने बिना पूछे ही, अंगरेजी सेना पर हमला कर दिया। लेकिन पहले से कोई तैयारी न रहने के कारण, उसको पीछे हटना पड़ा।

इस घटना से अप्पा साहब और भी घबरा उठा। उसने जेनकिन्स को एक एत्र लिखा कि मेरी बिना राय के राज्य की एक सेना ने जो

युद्ध छेड़ा है, उसके लिए मुझे बहुत दुख है। इस अपराध के लिए जो आप निर्णय करें और तजवीज करें, उसे स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूँ।

जेनकिन्स ने इस पत्र का उत्तर देते हुए लिखा कि यह मामला गवर्नर जनरल के हाथ में चला गया है। फिर भी यदि आप अपनी इस फौज को मैदान से वापस ले लें तो मैं गवर्नर जनरल के निर्णय के आने तक युद्ध स्थगित रखूँगा। अन्त में यही हुआ भी।

युद्ध स्थगित करते हुए जेनकिन्स ने जो पत्र लार्ड हेस्टिंग्स को लिखा था, उसमें उसने स्वयं मन्जूर किया था कि ऐसा करने से हमारा लाभ यह है कि हमारी सेना को विश्राम लेने का मौका मिलेगा, कुछ और सेना बुला लेने का भी अवसर मिलेगा।

अप्पा साहब खुद भी बहुत घबरा रहा था। उसने फिर एक पत्र रेजीडेण्ट को लिखा कि सबसीडियरी सन्धि कायम रखी जाय और राज्य की तकलीफों पर ध्यान दिया जाय। इस बीच मे अंगरेजी सेनायें नागपुर में जाकर जमा होती रहीं। ता० १४ दिसम्बर सन् १८१७ को जेनकिन्स ने अप्पा साहब को नीचे लिखी हुई शर्तें भेजी :

१—राज्य की सेना ने हमला करके जो अपराध किया है, उसके दण्ड में राज्य की अब अपनी सेना कोई न रह सकेगी।

२—राज्य के सैनिक सामान, तोपखाना आदि कम्पनी को दे दिये जायँगे।

३—राजा अपनी सम्पूर्ण सेना को बरखास्त कर दे।

४—नागपुर शहर राजा खाली कर दे और कम्पनी उस पर अपना अधिकार कर ले। बाद में सन्धि हो जाने पर नगर वापस दिया जायगा।

५—जब तक आखीरी निर्णय न हो जाय, राजा अंगरेजी पल्टनों की छावनी में चला जाय और वहीं रहें।

यदि अप्पा साहब इन शर्तों को मन्जूर कर लेंगे—तो अन्त में सन्धि हो जाने पर नागपुर का राज्य अप्पा साहब को दे दिया जायगा और अंगरेज उसके रक्षक बने रहेंगे।

अप्पा साहब की कायरता बढ़ती जा रही थी उसने बिना सोचे-

समझे इन सब शर्तों को मन्जूर कर लिया और अंगरेजों की छावनी में चले जाने के लिए तैयार हो गया। लेकिन उसके दरबार में और सेना में ऐसे आदमी भी थे जो इस प्रकार आत्म समर्पण के लिए तैयार न थे। उन लोगों ने अप्पा साहब को अंगरेजों की छावनी में जाने से भी रोका।

अंगरेजों की भयंकर दगाबाजी

अप्पा साहब में कुछ साहस न था। रोकने पर भी वह अंगरेजों की छावनी मे जाकर भागना चाहता था। उसका अनुमान था कि इस प्रकार सब-कुछ अंगरेजों पर छोड़ देने से वे कुछ हमारे ऊपर रहम करेंगे। उसने रेजीडेण्ट को यह भी लिख कर भेजा कि मैं छावनी में आना चाहता हूँ लेकिन मैं आने नहीं पाता।

किसी प्रकार अप्पा साहब छावनी में चला गया। राज्य की सेना को बहुत इससे दुःख हुआ। वे लड़ कर मर जाना अच्छा समझते थे। उनका कहना था कि हमको एक बार लड़ने का भी मौका न मिला। मुश्किल यह थी कि सेना में कोई योग्य सेनापति न था। राजा शत्रु की छावनी में था। फिर भी राज्य के वीर सैनिक युद्ध के लिए फड़-फड़ा रहे थे।

राज्य की सेना ने अंगरेजी सेना पर हमला किया। न तो कोई योग्य सेनापति था और न राजा का ही उनको भरोसा था। फिर भी राज्य की सेना ने दिल खोल कर युद्ध किया और अंगरेजी सेना, उसको तिल भर भी पीछे न हटा सकी। परन्तु यह सब कितनी देर चलता। अन्त मे राज्य की सेना को निराश होकर अपने खेमों में लौट आना पड़ा।

अंगरेजी छावनी में अप्पा साहब के आजाने के बाद नीचे लिखी हुई शर्तें सन्धि के लिए उसके सामने पेश की गयीं :—

१—नर्बदा नदी के उत्तर और दक्खिन के सारे इलाके कम्पनी को दिये जाँय।

२—राज्य के बाकी हिस्से पर अप्पा साहब का अधिकार हो। लेकिन मन्त्री कम्पनी की मंजूरी पर रखे जाँय।

३—अप्पा साहब का परिवार नागपुर के जिस महल में रहे, वह कम्पनी की सेना की देख-रेख में हो।

४—२४ अप्रैल सन् १८१६ की आधी रात को सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करके अप्पा साहब ने तीस लाख रुपये वार्षिक देने जो मंजूर किये थे, उसका बकाया रुपया अब तक का तुरन्त अदा किया जाय।

५—भोंसले राज्य के किलों पर अंगरेजों का अधिकार हो।

६—राज्य के जिन लोगों पर अंगरेजों को शक होगा, उनको कैद करके अंगरेजों के हवाले किया जाय।

७—सीता बल्दी की पहाड़ियाँ और उसके आस-पास की सब जमीन अंगरेजों को दे दी जाय।

अप्पा साहब के पास अब और रास्ता ही क्या था। उसने शर्तों को स्वीकार कर लिया। ९ जनवरी सन् १८१८ को वह अपने महल में पहुँचा। नगर अंगरेजी सेना के हाथ में था और महल पर अंगरेज सैनिकों का पहरा था।

जिन शर्तों पर अप्पा साहब ने हस्ताक्षर किये, उनके अनुसार, कोई भी काम कर सकना उसके लिए असम्भव था। उसने रेजीडेण्ट से प्रार्थना की कि हमारा बाकी राज्य भी ले लिया जाय और हमारी गुजर के लिए हमें पेन्शन दी जाय। लेकिन इसकी मन्जूरी न हुई।

अप्पा साहब की असहाय अवस्था

अप्पा साहब अपना बाकी राज्य देने के लिए स्वयं तैयार था। लेकिन अंगरेजों ने इस तरीके से लेना नामंजूर कर दिया था। रेजीडेण्ट और लार्ड हेस्टिंग्स में परामर्श हुआ। अप्पा साहब के विरुद्ध एक अपराध तैयार किया गया और कहा गया कि नागपुर के युवक राजा बाला साहब की हत्या अप्पा साहब ने ही करवायी थी। इसी अपराध पर १५ मार्च सन् १८१८ को अप्पा साहब और उसके दो मन्त्रियों को कैद करके जेलखाने भेज दिया गया।

अप्पा साहब को कैद में भेज देने के बाद राघो जी भोंसले का एक दुधमुहाँ नाती राजा बना कर गद्दी पर बिठाया गया और निश्चय किया गया कि वह नया राजा जब तक बालिग नहीं होता, उस समय तक राज्य का प्रबन्ध रेजीडेण्ट के हाथ में रहेगा।

भोंसले राज्य का विभाजन

अप्पा साहब ने शर्तें मंजूर करके जिस नयी सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, वही सन्धि नवीन शिशु राजा के साथ कायम रही। सन्धि की शर्तों के अनुसार राज्य के टुकड़े किये गये और आधा राज्य, अत्यन्त उपजाऊ उत्तम भाग कम्पनी के अधिकार में दिया गया। बाकी राज्य पर रेजीडेण्ट का प्रबन्ध आरम्भ हो गया। भोंसले राज्य में जितने किले थे, उनमें अधिकाँश उत्तम किलों पर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

अप्पा साहब गिरफ्तार करके नागपुर से इलाहाबाद के किले में रखने के लिए भेजा गया था। रास्ते में वह किसी प्रकार छूट कर भाग खड़ा हुआ। कम्पनी की ओर से उसको फिर कैद करने के लिए बड़ी-बड़ी कोशिशें की गयीं, लम्बी लम्बी रकमों के इनामों के एलान किये गये, परन्तु फिर वह गिरफ्तार न हुआ।

बहुत दिनों तक अप्पा साहब छिप कर इधर-उधर रहा। अन्त मे जोधपुर मे एक दिन उसकी मृत्यु हो गयी।

होलकर राज्य पर आक्रमण

दस साल पहले होलकर राज्य के साथ अंगरेजों का युद्ध हो चुका था। उस समय वहाँ का राजा जसवंतराव होलकर था। उस युद्ध के अन्त में सन्धि हुई थी। लेकिन उसके बाद जसवंतराव की मृत्यु हो गयी थी। सन्धि के बाद होलकर राज में जो अंगरेजों की कुटनीति चलती रही, उसके कारण सम्पूर्ण राज्य निर्बल हो चुका था।

होलकर राज्य के बिना किसी अपराध के अंगरेजी सेना ने उस पर आक्रमण किया। २० दिसम्बर सन् १८१७ को दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। होलकर राज्य के सैनिक युद्ध मे कमजोर न थे। लेकिन सम्पूर्ण राज्य में अंगरेजों के गुप्तचरों के कारण राज्य की शक्ति नष्ट हो चुकी थी। परिणाम यह हुआ कि अंगरेजी सेना के मुकाबिले में होलकर को पराजित होना पड़ा, अन्त में सन्धि हुई। होलकर राज्य की स्वाधीनता का अन्त हुआ। उसका बहुत बड़ा इलाका अंगरेजी राज्य मे मिला लिया गया। जो कुछ राज्य का हिस्सा बाकी रहा,

वह सबसीडियरी सन्धि में आ गया। इस प्रकार होल्कर राज्य का अन्त हुआ।

मराठों के साथ अंगरेजों का जो तीसरा युद्ध हुआ। उसमें मराठा साम्राज्य नष्ट हो गया। साम्राज्य के प्रत्येक राज्य की स्वाधीनता समाप्त हो गयी। इस युद्ध को आरम्भ करने के पहले लार्ड हेस्टिंग्स ने जो योजना तैयार की थी, वह पूर्ण रूप में सफल हुई।

मराठों के साथ अंगरेजी सरकार का यह आखिरी युद्ध था। इस युद्ध के द्वारा अंगरेजों के भारतीय राज्य में ५०००० वर्ग मील मे अधिक वृद्धि हुई और अंगरेजी राज्य पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया।

तैंतीसवाँ परिच्छेद

बरमा-युद्ध और भरतपुर का पतन

युद्ध के पहले बरमा

लार्ड हेस्टिंग्स ने भारतीय जीवन के दिन समाप्त किये, ब्रिटिश-साम्राज्य को विस्तार दिया और उसके बाद इंगलैंड के लिए प्रस्थान किया। हेस्टिंग्स के बाद सात महीने के लिए एडम्स भारत का गवर्नर-जनरल होकर आया और वापस गया। पहली अगस्त सन् १८२३ को भारत में गवर्नर जनरल बनाकर लार्ड एमहर्स्ट को भेजा गया।

इंगलैण्ड से जो गवर्नर-जनरल आता था, वह अपने साथ वहीं से एक योजना बनाकर लाता था। उस योजना में इंगलैण्ड के भयंकर कूटनीतिज्ञों की शतरंजी चालें होती थीं और उस योजना को पूरा करने के लिए शतरंज के किसी चतुर खिलाड़ी को ही गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा जाता था।

लार्ड एमहर्स्ट को भारत में आये हुए चौथा महीना था, उसने बरमा के साथ अपना काम शुरू कर दिया। यद्यपि बरमा के साथ अंगरेजों की चालें बहुत पहले ही जारी थी। उस समय तक बरमा एक स्वतन्त्र और विशाल राज्य था। बंगाल प्रान्त के चट्टग्राम जिले से अराकान की सीमा मिली हुई थी। अराकान एक रियासत थी और उसका राजा बरमा के अधीन था। किङ्गबेरिङ्ग नामक एक सरदार अराकान का विद्रोही हो रहा था। यहीं पर अंगरेजों को अपनी चालों का मौका मिलता है। अंगरेजों ने मौका पाकर उस सरदार को अपनी ओर मिला लिया।

उस घटना पर इतिहास लेखक विलसन ने लिखा है कि सन् १७९७ और १७९८ में लगभग चालीस हजार अराकानी अपना देश छोड़कर किङ्गबेरिङ्ग के साथ चट्टग्राम जिले में जाकर बस गये। उनको भारत की अंगरेजी कम्पनी की तरफ से सब प्रकार की सुविधायें

दी गयीं। बिना किसी मुआवजे के जमीनें देकर उनकी सहायता की गयी। कप्तान काक्स नामक एक अंगरेज उनके प्रबन्ध के लिए नियुक्त किया गया और उस मुकाम का नाम जहाँ पर वे अराकानी बसाये गये, काक्स बाजार रखा गया।

चट्टग्राम में आये हुए अराकानियों ने बरमा के इलाकों में हमला करना शुरू कर दिया। वे वहाँ जाकर लूट-मार करते और चट्टग्राम सीमा के भीतर भाग कर चले आते। ये घटनायें सन् १८११ के लगभग की हैं। इन बातों का जिक्र लार्ड मिण्टो के उस पत्र में था जो उसने २३ जनवरी सन् १८१२ को डाइरेक्टरों के नाम लिखा था।

बरमा सरकार ने अंगरेजी-सरकार को इसके सम्बन्ध में लिखा कि वह किङ्गबेरिङ्ग और उसके लुटेरे गिरोह को या तो हमारे हवाले कर दे अथवा बरमा की सेना को अपने यहाँ जाकर उनको गिरफ्तार करने दे। अंगरेज सरकार ने इसके सम्बन्ध मे कुछ न किया लेकिन सन् १८१५ में विद्रोही किङ्गबेरिङ्ग की मृत्यु हो गयी। फिर भी उसके गिरोह के हमले बरमा मे बराबर जारी रहे। लार्ड मिण्टो ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन अराकानियों के हमलों की शिकायत बरमा-सरकार की मुनासिब थी। उसकी माँग न्यायपूर्ण थी। लेकिन भारत की अंगरेजी-सरकार ने जवाब दिया कि चट्टग्राम के आराकानी अब अंगरेज-सरकार की प्रजा हैं, इसलिए उनके साथ ऐसा करना, अंगरेज-सरकार के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

अभी उन दिनों को बीते हुए बहुत दिन न हुए थे, जब अंगरेज-सरकार ने कच्छ राज्य की स्वाधीनता इसलिए खतम की थी कि उसके कुछ डाकुओं ने काठियावाड़ के कुछ मुकामों पर लूट-मार की थी और पिण्डारी लुटेरों के कारण ही मराठा नरेशों के साथ युद्ध किया था। इस बीच मे एक काम और हुआ। कप्तान केनिङ्ग को बरमा की राजधानी मे इसलिए भेजा गया कि वह बरमा सरकार को विश्वास दिलाये कि जो लोग बरमा के इलाकों में उत्पात करते हैं, उनसे अंगरेज सरकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। लार्ड मिण्टो के पत्रों से यह भी मालूम हुआ कि बरमा के साथ ये उत्पात इसलिए प्रारम्भ कराये गये कि बरमा-राज्य को सबसीडियरी सन्धि में लाना था। केनिङ्ग ने बरमा में जाकर अपनी राजनीति शुरू कर दी।

बरमा के साथ युद्ध का कारण

अराकानियों को मिलाकर अपने यहाँ बुलाकर बरमा में जो उत्पात कराये गये, वे सब युद्ध के कारण ही थे। इस पर भी बरमा-सरकार को भुलावे में रखने के लिए कप्तान केनिङ्ग को बरमा में भेजा गया।

झगड़े के और भी कारण पैदा किये गये। उधर केनिङ्ग बरमा-सरकार को अंगरेजों की मित्रता का विश्वास करा रहा था और उधर ऐसे काम बराबर किये जा रहे थे जिससे युद्ध अनिवार्य होता जाता था। अंगरेजी किश्तियाँ माल लादकर बरमा की नाफ नदी से होकर गुजरती और बरमा अफसरों के महसूल माँगने पर महसूल देने से साफ इनकार कर देती। इसी हालत में अंगरेजों की किसी किश्ती के आदमियों से बरमी अफसरों से झगड़ा हुआ और नाव का चलाने वाला मारा गया। हुआ यह कि इस झगड़े के कारण अंगरेजी सेना ने बरमा के एक टापू शाहपुरी पर अधिकार कर लिया। जब बरमा-सरकार को मालूम हुआ तो उधर से सेना ने आकर फिर अपना कब्जा कर लिया।

इस शाहपुरी टापू पर दोनों ओर से झगड़ा बढ़ गया और अन्त में एक कमीशन तय करने के लिए बैठा। अङ्गरेज उस टापू को अपना टापू कहने लगे थे, लेकिन कमीशन से भी उसका निर्णय न हुआ।

बरमा के साथ युद्ध

लार्ड एमहर्स्ट ने अचानक ५ मार्च सन् १८२४ को बरमा-सरकार के विरुद्ध युद्ध का एलान कर दिया और स्थल तथा जल-दोनों मार्गों से बरमा पर हमला करने के लिए अङ्गरेजी सेना रवाना हो गयी। कछाड़ रियासत के मैदान में दोनों ओर की सेनाओं में आमना-सामना हुआ। अङ्गरेजों की विस्तृत सेना ने रंगून पर कब्जा कर लिया। लेकिन अंगरेजी सेना के रंगून पहुँचने के पहले ही वहाँ की प्रजा ने रंगून खाली कर दिया था और वहाँ पर खाली मकानों और दीवारों के सिवा अंगरेजों को कुछ न मिला। खाने-पीने का कोई सामान न मिलने के कारण, एक ओर अङ्गरेजी सेना भूख से मर रही थी और दूसरी ओर बरमी सेना के सैनिक मौका पाकर हमला करते थे।

अङ्गरेजी सेना बड़े संकट में पड़ गयी, नतीजा यह हुआ कि अङ्ग-

रेजों के इस आक्रमण में उनके बहुत से अफसर और बड़ी संख्या में सैनिक मारे गये और बची हुई सेना को पीछे लौटना पड़ा। इस पराजय को स्वीकार करता हुआ चार्ल्स मेटकाफ ने जो ८ जून सन् १८२४ को पत्र लिखा था उससे अंगरेजी-सरकार की परेशानी का खूब अनुमान होता है।

बरमी-सेनाओं को पराजित करने के लिए हिन्दुस्तानी सैनिकों की फौजों को भेजने का निश्चय किया गया। इसलिए कि ऐसे भीषण मौकों पर हिन्दुस्तानी सैनिकों ने सदा अपनी बहादुरी का परिचय दिया था और उसका लाभ अंगरेजों ने भारतीय स्वतन्त्रता के अपहरण में ही उठाया था, जिसका उल्लेख विदेशी और अङ्गरेजी इतिहासकारों ने बराबर अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों में किया है।

बैरकपुर में सैनिक घटना

हिन्दुस्तानी फौजों के बरमा जाने के पहले की बात है। अंगरेज सरकार की ओर से अंगरेज और हिन्दुस्तानी सैनिकों के साथ-साथ एक-सा व्यवहार न होता था। वेतन से लेकर, सैनिक जीवन के साधारण कामों में भी हिन्दुस्तानी सैनिक और अफसर गुलाम की शकल मे व्यवहार पाते थे। काम उनसे खतरों क समय विशेष रूप से लिया जाता था। लेकिन व्यवहार उनके साथ गुलामों की तरह किया जाता था। लेकिन सैनिक जीवन में मानुषिक जीवन नहीं होता और न वे कभी अपने आत्मा से काम ले सकते हैं। वे तो निर्जीव अस्त्र होते हैं जो किसी भी समय काम में लाये जा सकते हैं।

बैरकपुर की छावनी में हिन्दुस्तानी सैनिकों को रंगून जाने की आज्ञा हुई। उन दिनों मे समुद्र-यात्रा भारतीय सामाजिक जीवन के विरुद्ध थी। सैनिकों ने मिलकर अपने बड़े अफसर के पास प्रार्थना-पत्र भेजा और सब बातें बतायीं। लेकिन उनकी सुनवाई न हुई। इस पर सैनिकों ने तुलसी और गंगाजल ले कर शपथ खायी कि हम लोगों में एक भी जहाज पर पैर न रखेगा। इस प्रकार की बातों की खबर अंगरेज फौजी अफसरों को मिली।

पहली नवम्बर को सैंतालीस नम्बर हिन्दुस्तानी पल्टन को परेड के लिए बुलाया गया। परेड पर पहुँचते ही उन भारतीय सैनिकों ने

देखा कि उनके चारों ओर अंगरेजी सैनिक हैं। बरमा जाने का प्रश्न उठा कर उन हिन्दुस्तानी सैनिकों पर गोले बरसाये जाने लगे। सैनिकों को बाद में मालूम हुआ कि उनके पीछे तोपखाना भी लगा था।

इस काण्ड में न जाने कितने वहीं पर ढेर हो गये। जो बचे, वे नदी की ओर भागे। उनमें भी बहुत-से पकड़े गये और उनको फाँसी के तख्ते पर लटकाया गया। इसके बाद सैंतालीस नम्बर हिन्दुस्तानी पलटन का नाम, पलटनों की सूची से निकाल दिया गया। इस घटना के सम्बन्ध में मेटकाफ और हरबर्ट स्पेन्सर की तरह के कितने ही विचारशील और न्यायप्रिय विद्वानों ने अंगरेज सरकार की इस नीति की निन्दा की।

अंगरेजी फौजों के साथ बरमी सेनाओं की अनेक लड़ाइयाँ कितने ही मुकामों मे हुईं। युद्ध के साथ-साथ अंगरेजों की कूटनीति बराबर बरमा में जारी रही। लोगों को मिलाने मे धन, पानी की तरह बहाया गया और रिश्वतों के बल पर कितने ही मोर्चे अंगरेजों ने जीते।

इतना सब होने पर भी बरमी सेनाओं ने अंगरेजी फौजों को कामयाब नहीं होने दिया। इस लिए अंगरेजों की घृणित चालों ने बरमा के इलाकों में झूठी अफवाहें फैलाना आरम्भ किया। अफवाहें उड़ने लगीं कि बरमा में जनता ने महाराज के खिलाफ विद्रोह कर दिया है। ××बरमी सैनिक युद्ध में लड़ने से इनकार कर रहे हैं।× महाराज बरमा, सन्धि के लिए अंगरेजों से प्रार्थना कर रहे हैं। लेकिन अंगरेजों ने इनकार कर दिया है।

इस प्रकार की खबरें उड़ाने में अंगरेजों ने बरमी लोगों को खूब रिश्वतें दीं। इनसे बरमा की संगठित शक्ति को धक्का जरूर पहुँचा। लेकिन अंगरेज कोई विशेष लाभ न उठा सके। अन्त में अंगरेजों की ओर से सन्धि का प्रस्ताव उठाया गया। लेकिन महाराज बरमा ने नामन्जूर कर दिया और युद्ध बराबर जारी रहा। अंगरेज-सरकार युद्ध बन्द करके और सन्धि का स्वाँग रच कर, दूसरे तरीकों से बरमा को शिकस्त देने की कोशिश में थी।

सन्धि की सफलता न मिलने पर अंगरेजों ने बरमा के राजगुरु को मिलाया और रिश्वत देकर कोशिश की कि वह महाराज को सन्धि के लिए तैयार करे। राजगुरु की कोशिश पर महाराज ने सन्धि

करना स्वीकार कर लिया और दोनों ओर से युद्ध बन्द हो गया। लेकिन दोनों पक्ष के प्रतिनिधियों के मिलने पर और कोशिश करने पर भी सन्धि की शर्तें तय न हो सकीं। इसलिए महाराज ने दूसरी बार फिर सन्धि से इनकार कर दिया और युद्ध फिर जारी हो गया।

भरतपुर राज्य का पतन

भरतपुर के युद्ध में अंगरेजों की पराजय का पहले वर्णन किया जा चुका है। सन् १८२५ में महाराज भारतपुर की मृत्यु हो गयी। राजगद्दी के लिए दो चचेरे भाइयों में झगड़ा हुआ। मौका पाकर लार्ड ऐमहर्स्ट ने वहाँ जाकर गद्दी के एक अधिकारी बलवंतसिंह के पक्ष का समर्थन किया और उसकी सहायता में १० दिसम्बर सन् १८२५ को अंगरेजों का पच्चीस हजार सैनिकों की एक फौज और तोपखाना भरतपुर पहुँच गया।

आज का भरतपुर, वह भरतपुर न था, जिसने पहले अंगरेज सैनिकों को बे तरह खदेड़ा था। आज का भरतपुर आपसी झगड़ों का दल-दल हो रहा था। एक भाई, दूसरे भाई के खून का प्यासा था। गद्दी के दोनों अधिकारियो के नाम पर भरतपुर-दरबार और सैनिक-शक्ति दो भागों में थी। बलवन्तसिंह, उसके पक्षपाती, दरबारी और सैनिक शक्ति बलवन्तसिंह की विजय के लिए अंगरेजी सहायता का स्वागत कर रही थी और राज्य के विपक्षी लोगों के सर्वनाश के लिए तैयार थी। आपस की यह शत्रुता लोगों को अन्धा बना चुकी थी।

भरतपुर की पहली लड़ाई में अंगरेजों की पराजय का कारण, भरतपुर का अद्भुत किला था। इन दिनों में अंगरेजों को उस किले के रहस्य का भी पता चल गया था आपस का द्वेष क्या नहीं करा सकता!

बलवन्तसिंह का पक्ष लेकर अंगरेजों ने वहाँ पर युद्ध किया। विपक्षी-दल के हाथ में भरतपुर का किला था। वहाँ पर एक महीने से अधिक दिनों तक युद्ध हुआ। अंगरेजी सेना और भरतपुर में बलवन्तसिंह की पक्षपाती शक्तियाँ एक ओर थीं। करनल मालेसन ने अपनी पुस्तक 'डिसाइसिव बैटल्स आफ इण्डिया' में लिखा है कि भरतपुर के इस युद्ध में अंगरेजों के लगभग ग्यारह सौ सैनिक मारे

गये और जख्मी हुए। लगभग पैंतालीस अफसर मरे और घायल हुए।

इस मौके का लाभ उठा कर अंगरेजों ने भरतपुर को जीता और अपनी जो आर्थिक हानि हुई थी, उसकी पूर्ति उसी राज्य के किसानों से बड़ी बेरहमी के साथ की।

जिन दिनों में भरतपुर राज्य का पतन हुआ, उन्हीं दिनों में कुछ इसी प्रकार के मौके पाकर अंगरेजों ने अलवर राज्य को भी शिकस्त दिया और अपने अधीन बना लिया।

बरमा के साथ सन्धि

यह सही है कि बरमा में अंगरेजों को अपनी कूटनीति की घृणित चालों में कामयाबी हुई। साथ ही भरतपुर की अंगरेजों की कामयाबी का भी बरमा-सरकार पर दूषित प्रभाव पड़ा। अंगरेजों ने रिश्वतों का बाजार गरम कर रखा था। रुपये के बल पर कितने ही बरमी लोग अपने देश के साथ विश्वासघात कर रहे थे। बरमा के किलों के संरक्षक और सैनिक अफसर रिश्वतों के बल पर, कितने ही मिलाये जा चुके थे। इस कूटनीति का विषमय प्रभाव दरबार तक पहुँचा था।

कम्पनी और बरमा के बीच सन्धि का वातावरण उत्पन्न हुआ। दोनों ओर के प्रतिनिधियों ने मिलकर सन्धि पत्र तैयार किया। उस पर दोनों राज्यों की सेनायें वापस बुला ली गयीं।

प्रोफेसर विल्सन ने लिखा है कि—बरमा युद्ध में दोनों ओर से काफी धन और जन की हानि हुई। बरमी सैनिकों की अपेक्षा अंगरेजों के सैनिक अधिक मारे गये और उनके धन की हानि भी अधिक हुई। लेकिन बर्मा के अधीन की कुछ रियासतें सदा के लिए बरमा से जुदा हो गयीं।

चौंतीसवाँ परिच्छेद

अर्द्ध जीवित रियासतों का अन्त

रियासत कुर्ग

मैसूर के पास कुर्ग नाम की एक छोटी-सी रियासत थी। स्वास्थ्य के लिए भारत का यह स्थान सदा प्रशंसनीय रहा है। सन् १७९० में टीपू सुलतान के साथ जब अंगरेज युद्ध की तैयारी कर रहे थे, कुर्ग के राजा के साथ कम्पनी ने एक स्थायी सन्धि की थी।

यह सन्धि इसलिए की गयी थी कि टीपू सुलतान के युद्ध में कुर्ग के राजा टीपू की सहायता न कर सकें। इसलिए मित्रतापूर्वक सम्मान के साथ शर्तों को स्वीकार करके राजा कुर्ग और कम्पनी ने सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। उस सन्धि के पालन के लिए दोनों ओर से प्रतिज्ञा और शपथ का आश्रय लिया गया था।

लार्ड ऐमहर्स्ट के स्थान पर लार्ड विलियम बैण्टिङ्क भारत का गवर्नर-जनरल हुआ। यह पहले मदरास का गवर्नर रह चुका था। सन्धि के बाद से लेकर कुर्ग के राजा ने सदा अपनी मित्रता का अंगरेजों को परिचय दिया था। उसकी तरफ से ऐसा कोई काम न हुआ था, जो सन्धि का विरोधी हो। फिर भी लार्ड वेण्टिङ्क ने रियासत कुर्ग को हजम कर जाने का निश्चय कर लिया।

कुर्ग के राजा वीर राजेन्द्र की मृत्यु हो गयी। उस रियासत की प्रथा के अनुसार राजा की लड़की को राज गद्दी मिलनी चाहिए। मरने के पहले राजा ने इसी नियम का समर्थन भी किया था। लेकिन गद्दी पर राजा की लड़की को बैठने का अवसर न मिला। राजगद्दी उसके एक भाई को दी गयी। अंगरेज सरकार ने उसे राजा स्वीकार भी कर लिया।

लार्ड वेण्टिङ्क ने जब रियासत कुर्ग को हथियाना चाहा तो उसे

बहाना ढूँढ़ने की जरूरत पड़ी। राजा वीर राजेन्द्र की लड़की देवम्मा को बहकाया गया। वह विवाहित थी इसलिए पति और पत्नी—दोनो को तैयार करने की कोशिश की गयी और कहा गया कि रियासत कुर्ग की राजगद्दी का अधिकार देवम्मा जी को है।

अंगरेजों की चाल फली-फूली। अंगरेजों ने देवम्मा जी का समर्थन किया। कुर्ग की राजगद्दी पर झगड़ा पैदा हो गया। वर्तमान राजा के विरुद्ध अंगरेजी सेना भेजी गयी। इसके पहले ही रियासत के मन्त्रियों को मिला लिया गया था।

इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि कुर्ग के राजा को कैद करके बनारस भेज दिया गया। देवम्मा जी और उनके पति से किसी ने कुछ बात न की और कुर्ग की रियासत अंगरेजी राज्य में मिला ली गयी। इस प्रकार कुर्ग की स्वाधीनता का अन्त हुआ।

रियासत कुर्ग को अंगरेजी राज्य मे मिलाने के समय अंगरेज अधिकारियों ने वहाँ की प्रजा के नाम एक घोषणा प्रकाशित की। उसमें कहा गया कि रियासत कुर्ग को अंगरेजी राज्य में इसलिए ले लिया गया कि रियासत की प्रजा अङ्गरेजी राज्य पसन्द करती थी।

रियासत कछाड़

सन् १८२४ में बरमा के साथ युद्ध करने के पहले अङ्गरेज सरकार ने कछाड़ के राजा गोबिन्दचन्द्र नारिन के साथ सन्धि की थी और सन्धि इसलिए की थी कि राजा कछाड़ बरमा सरकार की सहायता न करके अङ्गरेजों की सहायता करे।

सन् १८३० की बात है, राजा गोबिन्दचन्द्र को कत्ल कर डाला गया। राजा के कोई सन्तान न थी। इसी आधार पर कछाड़ की रियासत अङ्गरेजी राज्य में मिला ली गयी।

रियासत मैसूर का कायापलट

टीपू सुलतान की मृत्यु के बाद मैसूर राज्य के साथ अङ्गरेजों ने अनेक प्रकार के खेल खेले थे। माननीय शर्तों के साथ सबसीडियरी सन्धि भी मैसूर में लागू हो चुकी थी और वार्षिक अदायगी भी मैसूर राज्य की ओर से अङ्गरेज सरकार को बराबर होती रही।

होलकर के साथ युद्ध

इतना सब होने पर भी अंगरेजों के लिए काफी न था। इस प्रका की बातें तो किसी भी राज्य को हजम कर जाने की अंगरेज सरकार की सीढ़ियाँ थी। मैसूर के सम्बन्ध में जो आगे की योजन थी, उसमें बाधा यह पड़ती थी निजाम से यह तय हो चुका था कि मैसूर को खतम करते समय आधा राज्य कम्पनी लेगी और आध राज्य निजाम को दिया जायगा।

अब प्रश्न यह था कि निजाम के साथ की गयी वह शर्त रद्द कैसे हो। अङ्गरेजों के लिए यह प्रश्न कुछ कठिन न था। हुआ यह कि मैसूर की हुकूमत में कुछ द्वेष पैदा किये गये और उनकी रचना करक लार्ड वेण्टिङ्क ने निजाम के राजा को एक पत्र लिखा कि आप के राज्य में इस प्रकार के बहुत से दोष पैदा हो गये हैं, जिनको निजाम की प्रजा पसन्द नहीं करती, इस हालत में मैसूर की हुकूमत आपके हाथ से लेकर अंगरेज अफसरों को सौंप दी गयी है। इस अपराध पर मैसूर नरेश को कुछ कहने-सुनने का मौका नहीं दिया गया। अङ्गरेज अफसर राज्य का प्रबन्ध करने के लिए वहाँ पहुँच गये और राजा को चुपचाप बिना किसी शिकायत के राज्य की सत्ता उन अफसरों के हाथों में सौंप देनी पड़ी।

अङ्गरेज अफसर ५० वर्ष सन् १८८१ तक मैसूर मे शासन करते रहे। इसके बाद मैसूर राज्य फिर तोड़ा-मरोड़ा गया, कितनी ही नयी शर्तें उसके साथ जकड़ी गयीं और एक हिन्दू को उसका भार सौंप दिया गया।

जयपुर और जोधपुर

जयपुर राज्य में भी अङ्गरेजों की धींगाधींगी बड़े अनोखे ढङ्ग से हुई। किसी राज्य और रियासत को हड़पने के लिए उसकी सीढ़ियाँ होती हैं। जयपुर के साथ भी अङ्गरेजों की सन्धि थी। लेकिन उसकी परवाह कौन करता है।

जयपुर के राजा को नाम के लिए रखकर, राज्य का कार्य-भार मन्त्री के सिपुर्द किया गया और अङ्गरेजों ने झूँठाराम नामक एक अपना आदमी मन्त्री के स्थान पर नियुक्त कर दिया। यह मन्त्री अङ्ग

रेजी मशीनरी के ग्रामोफोन का रिकर्ड मात्र था। इस प्रकार जयपुर का राजा कोई था, मालिक अङ्गरेज सरकार थी।

जोधपुर-राज्य में भी सबसीडियरी सन्धि चल रही थी। उसका अर्थ यह था कि सेना अङ्गरेजों की थी। रेजीडेण्ट अंगरेज था। राजा केवल हँसता और बोलता हुआ एक चित्र था।

कुछ दिनों से सबसीडियरी रकम जोधपुर में बाकी थी। उसकी सूचना देकर राज्य का साँभर जिला और साँभर झील का उपयोगी भाग कम्पनी के कब्जे में ले लिया गया।

रियासती हुकूमत मे अङ्गरेजों का यह खेलवाड़ चल रहा था। जिससे प्रजा तंग आ चुकी थी। इस हालत में जयपुर की जनता ने अङ्गरेजी रेजीडेण्ड पर आक्रमण किया और उसे जान से मार डाला।

रियासत ग्वालियर

सींधिया की राजगद्दी पर एक बालक राजा था, उसका नाम था जङ्कों जी सींधिया। राजा बालक था और मन्त्री अंगरेजों के हुक्म के ताबेदार थे। सम्पूर्ण रियासत में उपद्रव बढ़ गये थे। स्थान-स्थान पर बदमाश लूट-मार करते थे। रियासत को बरबाद करने के लिए अंग-रेजों के चापलूस, किसानों को लूटा करते थे।

ग्वालियर रियासत मे रेजीडेण्ट का काम यह था कि वह जैसे भी मुनासिब समझे रियासत और महाराजा को हर तरह की आपत्तियों से घेर कर इतना कमजोर बना दे कि रियासत कम्पनी के हाथ में आ जाय और उसके राजा को पेन्शन देकर अलग कर दिया जाय। इन दिनों में ग्वालियर की कुछ ऐसी ही दशा चल रही थी।

झाँसी की रियासत

झाँसी की रियासत मे भी अंगरेजों ने मौका पाकर राजगद्दी के अधिकार का झगड़ा पैदा करा दिया। सन् १८३५ में उसके राजा की मृत्यु हो गयी। उसकी गोद सूनी थी। इसलिए उसने एक लड़के को गोद ले लिया। वही वहाँ का अधिकारी होता था। लेकिन अंगरेजों ने रघुनाथ राव नामक एक व्यक्ति का पक्ष लिया और उसे अपना

आदमी बनाकर झाँसी की गद्दी पर बिठा दिया। गोद लिया हुआ लड़का जो वास्तव में अधिकारी था, राज्य से वञ्चित हो गया।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अंगरेज सरकार की अन्यायपूर्ण नीति के कारण जो रियासतें अभी तक चल रही थीं, उनकी शक्तियाँ भी बिलकुल निर्बल हो चुकी थीं। अंगरेजी राज्य इतना विशाल और शक्तिशाली हो चुका था कि अब उसके सामने इन रियासतों में से किसी के खड़े होने की गुञ्जाइश न रही थी।

इन निर्बल रियासतों के साथ भी अंगरेजों की कूटनीति भयानक रूप में काम कर रही थी। उनमें जो प्राण बाकी रह गये थे, उनको वे जितना ही खतम करते जाते थे, रियासतों का उतना ही भाग वे अंगरेजी राज्य में मिलाते जाते थे।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

अफगानों के साथ पहला युद्ध

अंगरेजो का उद्देश्य

अङ्गरेजों की भारतीय हुकूमत के साथ, अफगान-युद्ध का स्वाभाविक कोई सम्बन्ध न होना चाहिए लेकिन राजनीतिक परिस्थितियाँ उसे इतिहास के इन पन्नों से किसी प्रकार अलग नहीं होने देती। इसी लिए संक्षेप में किन्तु आवश्यकता के अनुसार उसे भी इसके साथ लेना पड़ा है।

ब्रिटिश भारत में शासन करने के लिए जो अङ्गरेज गवर्नर-जनरल हो कर आता था वह ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत बनाने और विस्तार देने के काम में अपनी अद्भुत राजनीति का प्रदर्शन करता था। इसी अर्थ में लार्ड वेण्टिङ्क का शासन-काल भी निराला ही रहा। मार्च सन् १८३५ में उसका शासन भारत में समाप्त हुआ। ठीक एक वर्ष मार्च सन् १८३६ तक चार्ल्स मेटकाफ भारत में गवर्नर-जनरल के पद पर रहा और उसके बाद ही लार्ड आकलैण्ड गवर्नर-जनरल होकर भारत में आया।

उन दिनों में दोस्त मोहम्मदखाँ अफगानिस्तान का बादशाह था। उसके पूर्व शाहशुजा वहाँ का शासक था लेकिन वह राजगद्दी से उतारा गया था। उन दिनों में वह अंगरेजों का अतिथि होकर लुधियाने में उपस्थित था।

पहले से अफगानिस्तान के सम्बन्ध में अङ्गरेजों की एक योजना बन चुकी थी। साफ बात यह थी कि वे भारत के विभिन्न राज्यों की तरह अफगनिस्तान पर भी अपनी हुकूमत करना चाहते थे। इसी योजना के सम्बन्ध में सिन्ध नदी और उसके आस-पास के इलाकों की जाँच-पड़ताल का काम लेफ्टीनेण्ट बर्न्स के हाथों में दिया गया था।

बर्न्स एक बहुत होशियार अंगरेज था, उसकी सहायता के लिए दूसरा अङ्गरेज डाक्टर गेरार्ड भी नियुक्त हुआ था। साथ ही काश्मीरी पण्डित मोहनलाल और एक मुसलमान मोहम्मदअली भी भेजा गया था। इन सब की रवानगी सन् १८३२ में हुई थी। अफगानिस्तान में पहुँचने पर दोस्त मोहम्मदखाँ ने उनकी बड़ी खातिर की। सन् १८३३ में वे लौटकर भारत वापस आ गये। बर्न्स का कार्य क्रम ही अफगान युद्ध में अंगरेजों का पहला कदम था। सन् १८३७ में बर्न्स ने दूसरी यात्रा काबुल की की थी और उसके बाद फिर अपने साथ के लोगों को लेकर भारत लौट आया था। वह जिस उद्देश्य से वहाँ गया था पूरा न हुआ था।

अफगानिस्तान पर आक्रमण

अंगरेजों ने युद्ध की तैयारी मे सब से पहले अपनी कूटनीति का प्रयोग किया। लोगों को मिलाना, बादशाह के खिलाफ लोगों को भड़काना और रिश्वतें देकर उनको तोड़ना वहां पर खूब चला। इन कार्यों में काश्मीरी पण्डित मोहन लाल अंगरेजों के लिए बहुत उपयोगी साबित हुआ।

अफगानिस्तान के विरुद्ध कम्पनी, रणजीतसिंह और शाहशुजा की गुटबन्दी हुई। तीनों के बीच एक सन्धि कायम की गयी। उसमें तीनों ने एक, दूसरे के प्रति कितने ही वादे किये। निश्चय हुआ कि शाहशुजा को अफगानिस्तान की राजगद्दी पर बिठाया जायगा और शाहशुजा अंगरेजों को सन्धि में अमीरो के विरुद्ध मदद देगा। रणजीत सिंह तो बीच में फांस लिया गया।

अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए फौजें रवाना हुईं। बम्बई की सेना सिंध और बलूचिस्तान की ओर चलीं और उत्तरी भारत की अंगरेजी सेनायें पंजाब के रास्ते से रवाना हुई।

सिन्ध और हैदराबाद उन दिनों में अलग-अलग देश माने जाते थे उनकी राजसत्ता बिलकुल स्वतन्त्र थी। अफगानिस्तान के आक्रमण मे उनके साथ अंगरेजों ने कोई निर्णय न किया और उनकी सेना सिन्ध नदी को पार करके अफगानिस्तान की ओर बढ़ी।

अमीर निर्बल थे किन्तु सम्पत्तिशाली थे। सिन्ध के शासक अमीरों

के राज्य में भी कब्जा कर लेने की अङ्गरेजों की योजना थी। इसी मौके पर सिन्ध के अमीरों से कहा गया कि वे अफगानिस्तान में शाहशुजा की मदद करें। उसका प्रभुत्व मानकर उसे तीन लाख रुपये सालाना देने का वचन दें और इस लड़ाई में इक्कीस लाख रुपये खर्च में अदा करें।

सिन्ध के अमीर इन शर्तों के साथ सन्धि करें कि उसके पहले ही सिंध के इलाकों में लूट-मार आरम्भ करवा दी। अफगानिस्तान जाने वाली अङ्गरेजी सेना से वहाँ के लोगों को बहुत भयभीत हो जाना पड़ा। अचानक लोगों को इस विपत्ति का सामना करना पड़ा। लूट पाट करने के सिवा बलूचियों के साथ अङ्गरेजी सैनिकों ने जो व्यवहार किये, वह सर्वथा अमानुषिक थे। अमीर युद्ध के लिए तैयार न थे। युद्ध से होने वाली हानियों का अनुमान लगाकर उन अमीरों ने यही अच्छा समझा कि शाहशुजा का प्रभुत्व स्वीकार करके और कही गयी रकम को अदा करके युद्ध के खतरों से पिण्ड छुड़ाया जाय। शर्तें स्वीकार कर ली गयी और चलताऊ अमीरों के साथ एक सन्धि हो गयी।

अंगरेजी सेना ने काबुल मे प्रवेश किया। अफगानिस्तान के बादशाह दोस्त मोहम्मद खाँ को इस आक्रमण का कुछ पता न था। उसके साथ मित्रता कायम करने के लिए जो अङ्गरेज काबुल और अफगानिस्तान के दूसरे इलाकों में पहुँचे थे, उन्होंने अपनी कूटनीति से अफगानिस्तान की हालत को कमजोर किया था। रिश्वतों के बल पर लड़ने वाले वहाँ के कितने ही सरदारों को अपने पक्ष मे कर लिया था।

अंगरेजों को काबुल में अधिक युद्ध नहीं करना पड़ा। पदच्युत शाहशुजा के नाम पर अफगानों की यह लड़ाई लड़ी गयी, जिसमें कामयाबी हुई।

अफगानों के निकट दोस्त मोहम्मद खाँ और शाहशुजा में कोई विशेष अन्तर न था। उन अफगानों ने शाहशुजा को अभी तक विश्वासघाती और देशद्रोही के रूप में नहीं पहचाना था। इस भ्रम में शाहशुजा के नाम पर अंगरेजों को कामयाबी हुई। दोस्त मोहम्मद कैद

कर लिया गया और उसके स्थान पर शाहशुजा को काबुल के राज सिंहासन पर बिठा दिया गया।

शाहशुजा, बर्न्स और मैकनाटन

दोस्त मोहम्मद खाँ के कैद हो जाने के बाद भी अफगानिस्तान की लड़ाई का अन्त नहीं हुआ। शुरू की कामयाबी के दो कारण थे। एक तो यह कि यह युद्ध शाहशुजा के नाम पर लड़ा गया और दूसरे यह कि अफगानिस्तान के बादशाह, दोस्त मोहम्मद खाँ को धोखे में रखकर, उसके कितने ही सरदारों को मिला लिया गया। झूठी बातों का अन्त जल्दी होता है। अंगरेजों की नीति लोगों को मालूम होने लगी। उनके दिये गये प्रलोभन झूठे साबित हुए। नतीजा यह हुआ कि अफगान युद्ध रंग लाने लगा। दोस्त मोहम्मद खाँ का लड़का अकबर खाँ, पिता के कैद हो जाने के बाद भी, युद्ध करता रहा। अफगानों का जो समुदाय शाहशुजा के नाम पर भ्रम में पड़ गया था, उसने भी खुलकर अकबर खाँ का साथ दिया।

युद्ध के इन दिनों में भी अंगरेजों की कूटनीति तेजी के साथ काम कर रही थी। मुल्क के गिरोह भड़काये जा रहे थे। अंगरेजों का साथ देने वालों को लम्बी रिश्वते दी जा रही थीं। सर्वसाधारण में विद्रोह और कूट के बीज बोये जा रहे थे। लगातार एलान किये जा रहे थे कि वीर अफगान सरदारों को मारने वाले अफगानों को प्रति सरदार नकद दस हजार रुपये इनाम में दिये जायँगे।

अफगानिस्तान, हिन्दुस्तान न था। अंगरेजों की कूटनीति वहाँ अधिक काम न कर सकी। कुछ थोड़े-से आदमी प्रलोभनों में फँसे। लेकिन वह हवा बदल गई। अफगानिस्तान के इलाकों में अंगरेजी फौजों ने जो लूट-मार की, उसके कारण अफगान, अंगरेजों के खून के प्यासे हो उठे।

अफगानिस्तान के निवासियों को देशद्रोही शाहशुजा की असलियत का पता चल गया। देश-भक्त अफगानी, देश-द्रोही का खून करना अपना मजहब समझते थे। ५ अप्रैल सन् १८४२ को एक अफगान के हाथों शाहशुजा की जिन्दगी का अन्त हुआ।

इस युद्ध के आरम्भ होने के पहले लेफ्टीनेण्ट बर्न्स इंगलैण्ड और

अफगानों के बीच मित्रता कायम करने के लिए गया था। अंगरेजों की इस मित्रता के असली रूप को अफगानों ने खूब देखा। जिन अफगानों ने मित्रता का सन्देश लाने वाले बर्न्स की खूब खातिर की थी, उन्हीं अफगानों ने बर्न्स के टुकड़े-टुकड़े करके उसके पापों का पुरस्कार दिया।

अफगानों का खौलता हुआ खून अभी ठण्डा न हुआ था। मैकनाटन के कामों का पुरस्कार भी उनको देना था। अंगरेजों की कूटनीति का नया अस्त्र सामने आया। अकबर खाँ से कहा गया कि अंगरेज, अफगानिस्तान की राजगद्दी दोस्त मोहम्मद खाँ को देने के लिए तैयार हैं। दूसरी ओर आफगान सरदार रिश्वतों के बल पर मिलाये गये थे उनको भड़काने का काम भी किया जा रहा था।

दोस्त मोहम्मद खाँ को फिर राजगद्दी देने के लिए अकबर खाँ और मैकनाटन में परामर्श होना निश्चय हुआ। अंगरेज-सरकार की ओर से एक घोषणा यह भी की गई कि जो अकबर खाँ का बध करेगा, उसको बड़ी-से-बड़ी रकम देकर, उसका सम्मान किया जायगा। मैकनाटन के सामने दो प्रलोभन थे। एक तो अकबर खाँ को मार कर एक अंगरेज की हैसियत से वह अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहता था और दूसरी बात यह थी कि वह उस बड़ी-से बड़ी रकम के पाने का स्वयं अधिकारी होना चाहता था।

अकबर खाँ से मिलने के लिए जाने के पहले ही मैकनाटन ने अपने कुछ सैनिक मौके पर काम करने के लिए तैयार कर लिए और उन्हें मिलने वाले मुकाम के पास ही रुकने का प्रबन्ध कर दिया। जिस समय दोनों में बातचीत हो रही थी, किसी अफगान से अकबर खाँ को मैकनाटन के छिपे हुए सैनिकों और उसके छल की खबर मिली। तुरन्त ही उसने मैकनाटन पर गोली चलाई। मैकनाटन घायल होकर वहीं पर गिर पड़ा।

इसके बाद भी अफगान सैनिकों ने अंगरेजी फौज के सिपाहियों का जिस प्रकार कत्लेआम शुरू किया, उससे घबराकर अंगरेजों को अपने प्राण बचाने के लिए, अकबर खाँ से प्रार्थना करनी पड़ी। अंगरेजों ने वादा किया कि हमें मौका दिया जाय, जिससे हम दोस्त मोहम्मद खाँ को वापस लाकर अफगानिस्तान को दे सकें।

लार्ड आकलैण्ड के स्थान पर लार्ड एलेनब्रू गवर्नर-जनरल बनाकर इन्हीं दिनों में भारत भेजा गया। उसने भारत में आकर अफगान-युद्ध की सही-सही बातों को मालूम किया। उसके सामने प्रश्न यह था कि इस युद्ध का अन्त कैसे हो।

युद्ध का परिणाम

अफगान-युद्ध में अंगरेजों की सभी प्रकार हानि हुई। उनकी कूट-नीति असफल हुई। अंगरेजी फौजें बुरी तरह से काटी और मारी गयीं। आर्थिक हानि भी भयानक रूप से सामने आयी। अफगानों को फोड़ने के लिए अंगरेजों की ओर से रुपयों की वर्षा की गयी थी। युद्ध में पराजित होने के बाद अंगरेजों की आखें खुलीं।

कुछ न सूझने पर अंगरेजों ने फिर एक बार आँखें बन्द कीं। जनरल पोलक ने एक बड़ी सेना लेकर अफगानिस्तान पर आक्रमण किया और काबुल पहुँचते ही लूट-मार करने में उसने भयानक रूप धारण किया। लेकिन अफगान-फौजों का सामना होते ही अंगरेजी सेना ठहर न सकी। अंगरेजों की फिर पराजय हुई।

अन्त में युद्ध बन्द हुआ। अंगरेजों की तरह अफगान सन्धि से इनकार करने वाले न थे। सन्धि हुई। दोस्त मोहम्मद खाँ, अंगरेजों की कैद से आकर अफगानिस्तान की राजगद्दी पर बैठे। अंगरेजों की बची हुई सेना अफगानिस्तान से बिदा होकर चली गयी।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

सिंध पर आक्रमण और अधिकार

अंगरेज और सिंध के अमीर

सिंध में अमीरों का शासन था। वहाँ के विधान के अनुसार राज्य के अधिकारी सभी भाई शासक के रूप में माने जाते थे। इस व्यवस्था के कारण सन् १८०७ में अमीर गुलामअली, अमीर करमअली और अमीर मुरादअली सिंध के राजा थे।

पिछले परिच्छेद में अफगान-युद्ध के पहले सिंध की वर्तमान परिस्थिति पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। अपनी निर्बलता और मजबूरी में सिंध के अमीरों ने इक्कीस लाख रुपये अफगान-युद्ध में और तीन लाख रुपये वार्षिक अदा करने की शर्तों को मन्जूर करके अंगरेजों के साथ सन्धि की थी।

लेकिन वह सन्धि अधिक दिनों तक चल न सकी। अफगान-युद्ध में अंगरेज बुरी तरह से पराजित हो चुके थे। अब उनकी आँखें फिर सिंध की ओर गयीं। सिंध को हड़प जाने की उनकी योजना तो थी ही। वहाँ के अमीरों के साथ कुछ शर्तें पेश करके, सन् १८०७ में एक सन्धि और दूसरी सन् १८०९ में भी की गयी थी। उन सन्धियों में दोनों ओर से मित्रता को स्वीकार किया गया था। सन्धि की शर्तें सदा के लिए स्थायी मानी गयी थीं और भी कितनी ही बातें लिखी जाने के बाद सन्धि-पत्र पर सिंध के अमीरों और कम्पनी के हस्ताक्षर हुए थे। इन सन्धियों के साथ, सिंध के अमीरों और अंगरेजों का सम्बन्ध आरम्भ हुआ था। कुछ पिछली घटनाएँ सामने रखकर वर्तमान संघर्ष में आना अधिक अच्छा होगा।

सिंध का राज्य दो भागों में बँटा था। एक भाग की राजधानी खैरपुर थी। यह हिस्सा सिंध का ऊपरी भाग कहलाता था और शेष

भाग हैदराबाद के शासन में था। खैरपुर और हैदराबाद के अमीरों में बहुत निकटवर्ती सम्बन्ध था।

अफगान-युद्ध आरम्भ होने के पूर्व खैरपुर के अमीर मीर रुस्तम खाँ के साथ, अंगरेजों की एक सन्धि हो चुकी थी। उस सन्धि के अनुसार अंगरेजों ने रुस्तम खाँ से भक्खर का किला अपने अधिकार में इस शर्त पर लिया था कि अफगान-युद्ध के बाद वह किला वापस दिया जायगा। परन्तु अफगान-युद्ध के बाद भी मीर रुस्तम खाँ को वह किला फिर वापस नहीं मिला।

सन्धियों का मूल्य

अंगरेजी राजनीति में सन्धि का उपयोग कूटनीति के एक अस्त्र के रूप में सदा किया गया है। सिंध के अमीरों के साथ भी सन्धि का नाटक आरम्भ हुआ था। बिना किसी कारण के पिछली सन्धि को रद्द करके नयी सन्धियाँ की गयीं और प्रत्येक बार की नयी सन्धि में अंगरेजों की कुछ नयी शर्तें बढ़ती रहीं। २४ दिसम्बर सन् १८३८ को एक नयी सन्धि मीर रुस्तम खाँ के साथ और मार्च सन् १८३९ को हैदराबाद के अमीरों के साथ की गयी थी। इसी प्रकार के किसी मौके पर एक अमीर ने सन्धि का निर्माण करने वाले अंगरेजों से प्रश्न किया था—अच्छा तो आपकी पिछली सन्धियों का क्या मूल्य होगा?

किसी बात का कोई अर्थ न निकला। दोनों सन्धियाँ हो गयी थीं और हो गयी थीं, बड़ी मनोहर शर्तों के साथ, सन्धि के बाद ही तो अंगरेजों को उस देश में प्रवेश करने का मौका मिलता। सिन्ध में भी उनकी चालें आरम्भ हो गयीं। मीर रुस्तमखाँ बूढ़े थे, सीधे और सभ्य थे। उनके एक छोटे भाई मीरअली मुराद को रुस्तम खाँ के खिलाफ तैयार किया गया। हैदराबाद और खैरपुर के अमीर सिंध के ही अमीर कहलाते थे। उन अमीरों पर तरह-तरह के अपराध लगाये जाने लगे और सन् १८३८ में जो सन्धि की गयी थी, उसके लिखाफ चालें जारी हो गयीं। इन्हीं दिनों में ३ दिसम्बर सन् १८४० को हैदराबाद के अमीर नूर मोहम्मद की मृत्यु हो गयी।

भारत में आकर लार्ड एलेनब्रू ने सिंध के अमीरों के सम्बन्ध में

जानकारी प्राप्त की और २२ मार्च सन् १८४३ को ड्यूक आफ वेलिङ्गटन को जो पत्र लिखा, उसमें स्पष्ट रूप से स्वीकर किया था कि सिंध के अमीरों पर जो अपराध लगाये गये हैं, वे वास्तव में निराधार हैं। इतना स्वीकार करने के बाद लार्ड एलेनब्रू ने जनरल नेपियर के अधिकार में एक बड़ी सेना सिंध के लिए रवाना कर दी।

अंगरेजों और मीर रुस्तम खाँ के साथ जो सन्धि हुई थी, उसमें साफ-साफ लिखा गया था कि मीर रुस्तमखाँ के किसी सगे-सम्बन्धी के साथ अंगरेजों को नाता जोड़ने का अथवा किसी प्रकार के सम्बन्ध के स्थापित करने का कोई अधिकार न होगा। सन्धि की इन शर्तों की स्याही भी अभी सूखने न पायी थी कि बूढ़े मीर रुस्तम खाँ को गद्दी से उतारने, उसका राज्य छीनने और अपनी योजना को सफल बनाने के लिए अंगरेजों ने मीर अली मुराद को अपना अस्त्र बनाया। नेपियर की सेना से वहाँ का शान्तिपूर्ण वातावरण अस्थिर और अशान्त हो उठा।

रुस्तम खाँ के खिलाफ न जाने कितनी शिकायत झूठी गढ़ी गयीं और उनके तैयार करने में मीर अली मुराद ने बहुत बड़ा काम किया। कैप्टेन ईस्टविक ने लिखा है :

"जनरल नेपियर ने जाहिरा तौर पर यह मन्जूर किया था कि अमीर को मिटाने के लिए मैं बहानों की खोज में था।"

मीर रुस्तम खाँ का मामला अभी आरम्भ ही हुआ था कि हैदराबाद के अमीर भी चुपचाप न बैठने पाये। उनके विरुद्ध भी बहुत-सी शिकायतों की एक सूची तैयार की गयी। उनके सम्बन्ध में ईस्टविक लिखता है :

"इन अपराधों की जड़ में कुछ न था, सिवाय इसके कि संघर्ष पैदा करने के बहाने ढूँढ़े जा रहे थे।"

मीर रुस्तम खाँ के विरुद्ध तरह-तरह की खबरें उड़ रही थीं। उनमे कहा जा रहा था कि मीर रुस्तम खाँ ने जो अपराध किये हैं, उनके बदले में अंगरेज सरकार ने रोहरी से लेकर सब्जलकोट तक का इलाका अपने कब्जे में कर लिया है। इसी अवसर पर रुस्तम खाँ ने नेपियर को पत्र लिखा और कहा कि मेरे सम्बन्ध में आपको जो बताया गया है, वह

निराधार है। मैं अंगरेजों के साथ की गयी मित्रता को आज भी महत्व देता हूँ।

मीर रुस्तम खाँ को मालूम हुआ कि नेपियर हमारे इलाके को हड़पने के लिए अपने प्रतिनिधि कप्तान स्टेनली को सन्धि के लिये हैदराबाद भेजा है। सन्धि की शर्तें अत्यन्त घातक और अपमानजनक थीं। हैदराबाद के अमीरों ने अपने प्रतिनिधियों के द्वारा सन्धि की शर्तों को तय करना चाहा, लेकिन नेपियर ने इनकार कर दिया।

अंगरेजी सेना का आक्रमण

इसी बीच में जनरल नेपियर ने अपनी सेना खैरपुर मे हमला करने के लिए भेजी। बूढ़ा मीर रुस्तम खाँ अपनी स्त्री और बच्चों को लेकर वहाँ से हैदराबाद की ओर भागा।

नेपियर की सेना ने खैरपुर मे हमला किया और लूट-मार आरम्भ कर दी। वहाँ का किला नष्ट कर दिया। नगर को लूटकर बरबाद किया और उसके बाद नेपियर ने हैदराबाद की ओर अपने कदम बढ़ाये। खैरपुर का यह दृश्य देखकर हैदराबाद के अमीर घबरा उठे। उन्होंने अपने प्रतिनिधियों को सुलह के लिए फिर भेजा और साफ-साफ कहा कि प्रजा का रक्तपान करने से कोई लाभ नहीं है। हम सन्धि को स्वीकार करते हैं।

उन प्रतिनिधियों से हैदराबाद के अमीरों को उत्तर मिला कि अमीर मीर रुस्तम खाँ को, जो खैरपुर से भागा है, अपने यहाँ बुला लो। मेजर ऊटरम को मैं भेज रहा हूँ, दोनों की बात चीत वहीं पर हो जायगी।

अमीर युद्ध न करना चाहते थे। सन् १८४२ को मेजर ऊटरम के पहुँचने पर अमीरों ने अपने हस्ताक्षरों की मोहरें उसके हाथों में दे दी और मेजर ऊटरम से कहा कि सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए, हम लोगों ने अपनी मोहरें आपको दे दी हैं। आप जनरल नेपियर को इसकी सूचना दे दें। जिससे अंगरेजी सेना को हैदराबाद में आने का मौका न मिले।

मेजर ऊटरम ने अमीरों के कहने के अनुसार सब-कुछ किया। लेकिन नेपियर की सेना रुक न सकी। वह बराबर हैदराबाद की ओर

बढ़ती रही, आखीर में मेजर ऊटरम ने अमीरों से कहा कि आप लोग यदि सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दें तो नेपियर निश्चय वापस जायगा, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपके राज्य को लेने का उसका उद्देश्य नहीं है। अमीरों ने वैसा ही किया। नेपियर के भेजे हुए सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये और अपनी मुहरें भी लगा दीं। फिर भी नेपियर की सेना हैदरावाद की ओर बराबर बढ़ती रही।

मीर रुस्तम खाँ जब हैदराबाद पहुँच चुका था। राज्य के बलूची अंगरेजों के इस असह्य व्यवहार को देखकर और जानकर आग की तरह जल रहे थे। इसी बीच मे बलूचियों ने सुना कि अंगरेज सैनिकों ने बिना किसी अपराध के बूढ़े-बलूची सरदार हयात खाँ को हैदराबाद के रास्ते में कैद कर लिया है। इसका प्रभाव बलूचियों पर अच्छा नहीं पड़ा। लेकिन अमीरों की ओर से वे शान्त रहने के लिए बराबर दाबे जा रहे थे।

अमीर शान्ति से काम लेना चाहते थे, लेकिन बलूची लोग लड़ने के लिए तैयार थे। अमीरों के बराबर रोकने पर भी मेजर ऊटरम और उसके साथ के सिपाहियों पर बलूचियों ने आक्रमण किया। किसी प्रकार मेजर ऊटरम बच गया लेकिन उसके कई सिपाही मारे गये। कुछ बलूचियों ने दो अंगरेजों को भी कैद कर लिया और करीब पाँच हजार की संख्या में वे हैदराबाद के बाहर नेपियर की सेना का मुकाबला करने के लिए जमा हो गये।

अमीर यह सब न चाहते थे। दो कैदी अंगरेजों को उन्होंने कैद से छोड़ दिया और उनके खाने-पीने का भी इन्तजाम किया। अमीरों की इच्छा के विरुद्ध पाँच हजार एकत्रित बलूची, अंगरेज-सेना से मोर्चा लेना चाहते थे। हैदराबाद के किले मे करीब बारह-तेरह हजार बलूचियों की सेना भी थी। लेकिन अमीरों को यह विश्वास दिलाया गया था कि अंगरेजी सेना का उद्देश्य, अमीरों का राज्य लेना नहीं है, इसलिए अमीरों ने अपने किले के सैनिकों को युद्ध करने से बराबर रोका।

दोनों ओर से घमासान युद्ध

अंगरेजी सेना के करीब आ जाने पर १७ फरवरी सन् १८४३ को

मियानी नामक मुकाम पर बलूची लोगों के साथ युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ओर से धमासान युद्ध होने लगा। नेपियर के साथ अंगरेजी और हिन्दुस्तानी दोनों फौजें थीं।

बलूचियों ने अपनी बन्दूकें डाल दीं और तलवारों का प्रहार आरम्भ किया। वे ढालों से अपनी रक्षा करते और शत्रु पर तलवारों का वार करते। उस घमासान युद्ध में अंगरेजी सेना के सिपाही और अफसर घायल हो-होकर गिरने लगे। बलूचियों की मार के सामने अंगरेजी सेना को कितनी ही बार पीछे हटना पड़ा। उस युद्ध में उपस्थित मेजर बेडिङ्गटन के अनुसार, जनरल नेपियर को कई बार युद्ध में निराशा हुई। बेडिङ्गटन ने लिखा है कि उस युद्ध में केवल पचास कदम के भीतर जो लाशें गिरी थीं, उनकी संख्या गिनने के बाद, चार सौ निकली थी।

जिन इतिहासकारों ने अमीरों की कायरता की निन्दा की है, उन्हीं ने बलूचियों की बहादुरी की प्रशंसा भी की है। मेजर ऊटरम अब भी अमीरों के साथ सुरक्षित था और उनको समझा रहा था कि अगर अमीर लोग शान्ति से काम लेंगे तो उनका राज्य उन्हीं को मिलेगा। इन्हीं बातों पर विश्वास करके मीर नसीर खाँ ने युद्ध-स्थल पर जाकर लड़ने वाले बलूचियों को युद्ध करने से रोका और यह भी कहा कि हम जिस तरीके से इस संघर्ष का किफ़ायत करना चाहते थे, तुम सबों ने स्वयं उसे बिगाड़ दिया है।

अमीरों की इन बातों की नतीजा यह हुआ कि इतिहासकार टारेन्स के अनुसार, ५००० बहादुर बलूचियों की लाशों को कुचलती हुई अंगरेजी-सेना ने दूसरे दिन हैदराबाद में प्रवेश किया।

शर्तों में छिपी हुई दया

जो दया शर्तों के साथ सामने आती है, वह दया नहीं कहलाती। उसका प्रत्यक्ष उदाहरण यहाँ पर मिलेगा। जनरल नेपियर ने मीर नसीर खाँ से कहा कि सिन्ध के अमीरों का राज्य उन्हीं को दिया जायगा। लेकिन इस शर्त पर कि वे अपने राज्य की सेना को बरखास्त कर दें और इस नगर के भीतर उनमें से किसी को आने न दें।

नसीर खाँ की आँखें अब भी बन्द थीं। अंगरेजों का विश्वास

करने के सिवा उसको कुछ और सूझता ही न था। उसने बलूची सेना को बरखास्त कर दिया। उसके बाद ही नेपियर ने नसीर खाँ, मीर शहदाद खाँ और मीर रुस्तम खाँ को गिरफ्तार करवा लिया और उसके तीसरे दिन नेपियर ने अपनी सेना के साथ हैदराबाद के किले पर धावा किया।

नेपियर के साथ सेना के कुछ अंगरेजी अफसर भी थे। अमीरों के जनानखाने में जाकर; उन सब लोगों ने जिस प्रकार का अत्याचार और बुरा व्यवहार किया, वह सदा अंगरेज जाति को कलंकित करता रहेगा। जनानखानों का विवरण कप्तान ईस्टविक ने जैसा अपनी पुस्तक में किया है, वह अधिक बीभत्स है। उस विस्तृत विवरण को संक्षेप में यहाँ पर दे देना ही पर्याप्त होगा। लेखक ने नेपियर और उसके साथ के अंगरेजों के नामों को छोड़ कर साहब शब्द का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर हमें भी उसी का आश्रय लेना पड़ेगा। उसने लिखा है :

"साहब, अफसरों और सैनिकों के साथ स्वर्गीय मीरकरमअली खाँ के जनानखाने में पहुँचा और हुकुम दिया कि जितना भी धन और जेवर है, हमारे हवाले कर दिया जाय। बेगमों ने प्रार्थना की कि हमसे सब कुछ लेकर कुछ कपड़े हम लोगों को दे दिये जायँ और हमको यहाँ से निकल जाने दिया जाय। साहब ने इसको मन्जूर नहीं किया।

साहब की आज्ञा से सैनिकों ने धन, जेवर, जवाहरात, सोने-चाँदी के बरतनों और कीमती कपड़ों की लूट की। बेगमों के बदन से जबरदस्ती जेवर उतारे गये। वे बेचारी वहाँ से भागकर और शहर से निकल कर पाँच कोस की दूरी पर एक मुकाम में पहुँची।

इसके बाद साहब मीर नूर मोहम्मद खाँ के जनानखाने में गया। वहाँ पर भी उसने वही दशा की। स्त्रियाँ घबराकर वहां से भागीं। फिर मीर मोहम्मद खाँ के जनानखाने में वह गया और वहाँ पर भी वही अत्याचार किये। फतहअली खाँ के जनानखाने में जो कुछ था, सब दे दिया गया। एक स्त्री ने कुछ रुपये अपनी कमर में कर लिए थे, घबराहट में वह ठीक-ठीक उन्हें रख न सकी। वहाँ से निकलते समय उसकी कमर से कुछ रुपये गिरे। उसको रोका गया और उसकी कमर के रुपये सब निकाल लिए गये।

इस प्रकार जनानखानों का बुरा हाल किया गया, कुछ बेगमों के वहाँ से निकल जाने के बाद, उनका जाना भी रोक दिया गया। बची हुई बेगमों को खाना और पानी नहीं मिला। बड़ी कोशिशों के बाद एक मश्क पानी दिया गया जो जनानखाने के पाँच सौ नौकरों, खादिमाओं और बेगमों में बाँटा गया। यह पानी उन लोगों को दवा की तौर पर पिलाया गया। उनके भोजनों की कोई व्यवस्था न थी। एक पहरा बिठा दिया गया, जिसके द्वारा वहाँ से निकलने वाली किसी स्त्री की तलाशी ली जाती थी।"

इस प्रकार अमीरों के जनानखानों का हाल हुआ। उनका सब-कुछ लूटा गया। एक-एक अमीर गिरफ्तार किया गया। कैदी हालत में उनको सजायें दी गयीं। अमीरों के महलों में लूट के माल की कीमत इतिहासकारों ने करीब १८ करोड़ रुपये की मानी है।

सिन्ध का अन्त

सिन्ध पर अंगरेजों ने कब्जा कर लिया। देशद्रोही और विश्वासघाती अलीमुराद को वहाँ का थोड़ा-सा हिस्सा मिला। शेष सम्पूर्ण भाग अंगरेजी राज्य में मिला लिया गया।

विश्वासघात का फल कभी अच्छा नहीं होता। मीर रुस्तम खाँ के भाई अलीमुराद के विश्वासघात करने के कारण सिन्ध का पतन हुआ। लगभग सात वर्ष गुजरे होंगे, अलीमुराद को भी अंगरेजों ने सुख से नहीं रहने दिया। राज्य का जो भाग उसे दिया गया था, अनेक अपराध लगाकर उससे उसे छीन लिया गया और खैरपुर की एक छोटी सी रियासत उसके गुजर बसर के लिए दे दी गयी।

अमीर और उनके परिवार के लोग कैद करके भारत के विभिन्न शहरों को भेजे गये थे, उनके छूटने की नौबत फिर कभी नहीं आयी। जो जिस जेल में भेजे गये थे, उनकी मृत्यु उसी जेल में हुई। महलों से कैद होकर निकलने के बाद कलकत्ता, पूना और सूरत के जेलखाने उनकी आखिरी जिन्दगी के साथी बने। शान्ति की खोज में और रक्तपात को बचाने की अभिलाषा में सिन्ध के अमीरों ने अङ्गरेजों के जिस विश्वास का आश्रय लिया था, जेलों के भीतर बन्दी अवस्था में उनकी स्मृतियाँ ही उनके साथ रह सकीं।

———

सैंतीसवाँ परिच्छेद

बची हुई रियासतें

ग्वालियर

माधो जी सींधिया से लेकर, दौलतराव सींधिया तक, सींधिया हुकूमत के साथ अंगरेज सरकार के खूब युद्ध हो चुके थे। मराठा-राज्यों मे सींधिया शक्तिशाली राज था। उसको समाप्त करने के लिए अंगरेजों ने कोई नीति बाकी न रखी थी। लेकिन अभी तक उसका अस्तित्व चल रहा था।

सींधिया राज्य के राजा जङ्कोजी सींधिया की मृत्यु ७ फरवरी सन् १८४३ को हो गयी। उसके कोई संतान न थी। उसकी रानी विधवा हुई और उस समय उसकी अवस्था लगभग बारह वर्ष की थी। ग्वालियर मन्त्रि मण्डल की सलाह से रानी ने आठ वर्ष के एक बालक भागीरथराव को गोद लिया और वह भागीरथ राव जयाजीराव सींधिया के नाम से सींधिया हुकूमत का शासक बनाया गया। अभी वह नाबालिग था, इसलिए रानी उसकी संरक्षक मानी गयी लेकिन राज्य का प्रबन्ध वहाँ के सुयोग्य मन्त्रियों के हाथ में था।

सींधिया हुकूमत की इन परिस्थितियों में अंगरेजों का जो व्यवहार था, उस पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकार जान होप ने Sketch of the house of Sindia में लिखा है :

"जङ्कोजी सींधिया की विधवा रानी की आयु कम होने के कारण लार्ड एलेनब्रू को फिर सींधिया राज्य मे दखल देने का सुनहला मौका मिला। नाबालिग शासक का संरक्षक रानी को दिया गया था और इसका निर्णय करने का अधिकार वहाँ के मन्त्रियों को था। लेकिन लार्ड एलेनब्रू रानी के स्थान पर, संरक्षक एक ऐसा आदमी बनाना चाहता था कि जिससे उस हुकूमत में उसकी योजना आसानी से

सफल हो सके। देशद्रोह और विश्वासघात के इस काम को करने के लिए अंगरेजों की ओर से मामा साहब नामक एक आदमी चुना गया।"

रानी स्वयं नाबलिग थी। इसलिए उसकी ओर से कोई प्रबन्धक होना चाहिए। दरबारियों ने सर्वसम्मति से दादा खास जी बाला नामक एक व्यक्ति को इसके लिए चुना। सभी लोग उसकी ईमानदारी और योग्यता को मन्जूर करते थे। उसके निर्णय के मौके पर लार्ड एलेनब्रू का एक पत्र दरबार के नाम गया। उसमें लिखा था:

"गवर्नर-जनरल यह जान कर प्रसन्न होगा कि रानी के प्रबन्धक का पद मामासाहब को दिया गया।"

राज्य की दशा अच्छी न थी। दरबार में भी कोई प्रभावशाली आदमी न था। उन दिनों मे सींधिया हुकूमत एक विधवा की हुकूमत थी। किसमें साहस था जो गवर्नर-जनरल के पत्र का बिरोध करे। हुआ यह कि रानी और दरबार की अभिलाषायें मिट्टी में मिल गयीं। मामा साहब को प्रबन्धक का पद दिया गया।

अभी कुछ ही दिन बीते थे। मामा साहब की चालों से सभी दरबारी परेशान थे। वास्तव में इसीलिए तो वह रखा ही गया था। राज्य का इतना बड़ा पद ऐसे विश्वासघाती को देकर, राज्य के पतन का द्वार खोल देना था। वह अंगरेजों का दूत होकर काम करता था और अपने स्वार्थों के लिए घृणित चालें चलता था।

मामा साहब के साथ दरबारियों और रानी का विरोध बढ़ गया। उसे उस पद से हटाया गया और रानी की आज्ञा से ही उसे तुरन्त ग्वालियर छोड़कर चला जाना पड़ा। उसके स्थान पर दादा खास जी बाला को राज्य का मन्त्री बनाया गया।

अंगरेजों का जाल

अंगरेजों की विध्वंसक नीति तो सदा ही काम करती रही। इस मौके पर उनकी चालों का जाल बिछ गया। मामा साहब को राज्य के प्रबन्ध का अधिकारी बनाकर अंगरेजों ने जो मंसूबा गांठा था, वह अधिक सफल न हो सका। मामासाहब के निकाले जाने पर एलेनब्रू ने एक नयी खोज की और कहा कि सींधिया राज्य और अंगरेजी सीमा

के निकट राज्य की अव्यवस्था हो रही है। डाकुओं की संख्या बढ़ती जा रही है और विद्रोहात्मक उत्पात बहुत बढ़ गये हैं। जिनको दमन करने में सींधिया राज्य बिल्कुल असमर्थ है।

इसी बीच में लार्ड एलेनब्रू ने एक काम और किया। सींधिया हुकूमत में जो अभी तक अंगरेजी रेजीडेण्ट था, उसको कूटनीति में कुछ अयोग्य समझकर बुला लिया गया और उसके स्थान पर प्रवीण कूटनीतिज्ञ और भयानक चालबाज स्लीमैन को वहाँ का रेजीडेण्ट बनाकर भेजा गया।

दादा खास जी बाला ने मन्त्री होकर राज्य के सुधार में बहुत से काम किये। बकाया तनख्वाहें अदा की गयीं। सभी के साथ अच्छे व्यवहार किये जाने लगे। अंगरेजों के इशारों पर राज्य के सुयोग्य कार्यकर्ता जो निकाले गये थे, उनको फिर उनके स्थानों पर लिया गया दादा खास जी बाला के इन प्रबन्धों से प्रजा, कार्यकर्ता, अधिकारी, दरबारी और महारानी सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

अंगरेजों को यह कैसे सहन होता कि राज्य की दशा अच्छी हो। दादा के अच्छे कामों को देखकर वे जलने लगे और ऐसे उपाय सोचने लगे कि दादा को राज्य से निकाला जाय। परिणाम यह हुआ कि दादा खास जी बाला पर अपराध लगाया गया कि उसने एलेनब्रू का वह पत्र गायब किया है, जो उसने महारानी के नाम भेजा था। दरबार को लिखा गया कि इस अपराध के कारण दादा को गिरफ्तार करके अंगरेजों को सौंप दिया जाय।

अंगरेजों की इस माँग पर दरबारियों और महारानी को बहुत दुख पहुँचा। महारानी ने अपनी ओर से स्वयं एक पत्र लार्ड एलेनब्रू को भेजा और उस माँग पर एक बार फिर विचार करने की प्रार्थना की। लेकिन उसकी हठ बराबर जारी रही।

अन्त में एलेनब्रू ने एक बड़ी सेना राज्य की सीमा पर भेजकर आक्रमण करने की धमकी दी। रानी घबरा उठी। दरबार भी काँप उठा। दादा खास जी बाला को कैद करके अंगरेजों के सुपुर्द किया गया। इस कैद से खास जी बाला को छूटने की फिर नौबत न आयी। और बनारस में अन्त तक कैद रहकर दस वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

दादा के स्थान पर रामराव फलकिया को राज्य-मन्त्री बनाया गया। उससे एलेनब्रू ने कहा कि दौतलराव सींधिया ने बरहानपुर में अंगरेजों के साथ जो सन्धि की थी, उसमें उसने मन्जूर किया था कि अगर किसी समय सींधिया हुकूमत राज्य के किसी विद्रोह या झगड़े को शान्त न कर सके तो अंगरेज सरकार उसकी सहायता करे। इसी आधार पर राज्य में जो उत्पात हो रहे हैं, उनका दमन करने के लिए अंगरेजी सेना राज्य में जायगी।

एलेनब्रू की यह माँग और सहायता राज्य में किसी की समझ मे न आयी। जिस सन्धि का उसने जिक्र किया, उसके बाद भी न जाने कितनी सन्धियाँ हो चुकी थीं उस दशा में पिछली किसी सन्धि का महत्व ही क्या हो सकता था। लेकिन यह कहने और सुनने वाला कौन था।

ग्वालियर पर आक्रमण

राज्य की सहायता के नाम पर अंगरेजी सेना विद्रोह को दमन करने के लिए रवाना हुई और उसने राज्य में जाकर ग्वालियर पर आक्रमण किया। इस युद्ध के लिए राज्य तैयार न था। फिर भी राज्य की सेना ने मुकाबिला किया। राज्य का मन्त्री रामराव फलकिया और बाकी दरबारी लोगों ने उसके अन्त का रास्ता निकाला। उसके पहले ही अंगरेजी सेना ने ग्वालियर में बड़े बड़े उत्पात किये। राज्य के बहुत-से सैनिकों और अफसरों को धोखा देकर और मकानों में बन्द करके, उन मकानों में आग लगवा दी जिससे वे सब के सब तड़प-तड़प कर मरे।

राज्य पर अधिकार

अन्त में सन्धि हुई। ग्वालियर में सबसीडियरी सेना की तादाद बढ़ाई गयी। युद्ध के खर्च और नुकसान में राज्य के कई इलाके अंगरेजों ने लिये। दरबार को रेजीडेण्ट का निर्णय मानना अनिवार्य किया गया। इस प्रकार दस वर्षों के लिए राज्य का कुल इन्तजाम अंगरेजों के हाथों में चला गया।

रियासत कैथल

करनाल से ३०, ३२ मील कि दूरी पर सिखों की एक रियासत कैथल थी। सन् १८०९ मे उसके साथ कम्पनी की एक सन्धि हुई थी। वहाँ का राजा संतानहीन मरा। उसकी विधवा रानी किसी बालक को गोद लेना चाहती थी। उसी बीच में अंगरेज सरकार की ओर से कुछ सैनिक, वहाँ उत्पात मचाने और रानी को डराने के लिए भेजे गये।

उन सैनिकों के लूटने-मारने और उत्पात करने पर रियासत के सैनिकों और प्रजा के लोगों ने उनका मुकाबिला किया। वे सब भाग कर वापस चले आये। इसके बाद १४ अप्रैल सन् १८४४ को एक सेना तैयार की गयी और १६ अप्रैल को उसने कैथल पर हमला किया।

अंगरेजी सेना को देखते ही रियासत के दरबारी और संरक्षक विधवा रानी को असहाय छोड़कर अंगरेजों से जाकर मिल गये। रियासत पर अंगरेजों का अधिकार हो गया।

पंजाब का राज्य

लार्ड एलेनब्रू के साथ ड्यूक आफ वेलिङ्गटन का जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उससे साफ जाहिर होता है कि पंजाब-राज्य पर अधिकार करने की योजना अंगरेजों की बहुत दिन पहले से चल रही थी और इसी अभिप्राय से पंजाब के भीतर उनकी कूटनीति चल रही थी।

सन् १८३९ में महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु हो गयी थी। उसका लड़का खड़गसिंह पंजाब का राजा हुआ। उसके शासन-काल में राज्य की अव्यवस्था बहुत बढ़ गई और चारों ओर लूट-मार होने लगी थी। इस अव्यवस्था के सम्बन्ध मे लन्दन से प्रकाशित होने वाली 'ब्रिटिश फ्रेण्ड आफ इण्डिया' नाम की पत्रिका में स्पष्ट लिखा गया :

"कम्पनी ने रिश्वतें देकर और लोगों को भड़काकर पंजाब में उत्पात पैदा कराये हैं। ×× कम्पनी की जो नीति वहाँ के सम्बन्ध में चल रही है, उससे मालूम होता है कि लाहौर में कुछ होने वाला है।"

लार्ड एलेनब्रू ने पंजाब को अपने अधिकार में लेने के लिए भया-

नक चालों से काम लिया। वहाँ के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को भड़काया। अपने पत्रों में एलेनब्रू ने लिखा था कि जलालाबाद में सिखों को इसीलिए कब्जा करने दिया कि जिससे लाहौर में हमला करने का मुझे मौका मिले। एक दूसरे अंगरेज ने लिखा था कि पंजाब में जो हमने काम किये हैं, उनसे वहाँ का राज्य शीघ्र ही कम्पनी के हाथ मे आ जायगा। सन् १८४४ में हीरासिंह के खिलाफ वहाँ की सेना को तैयार करने मे रिश्वतें दीं और जम्मू के राजा गुलाबसिंह को भड़काकर तैयार किया।

मई सन् १८४४ में दलीपसिंह लाहौर का शासक था। उन दिनों में राजा दलीपसिंह को शिकस्त देने के लिए अंगरेजों ने अपनी सेना लाहौर भेजी। इस सेना के साथ फीरोजपुर के करीब लाहौर की सेना का युद्ध हुआ। रणजीतसिंह के जब कोई सन्तान न थी, उस समय उसने काश्मीरासिंह लड़के को गोद लिया था। लेकिन जब उसके लड़के हुए और उनमें खड़गसिंह जब पंजाब की राजगद्दी पर बैठा तो अंगरेजो ने काश्मीरासिंह को खड़गसिंह से लड़ाया और काश्मीरासिंह को सैनिक सहायता दी।

इस प्रकार के उपद्रव करने के बाद भी लार्ड एलेनब्रू की मुराद पूरी न हुई। उसे अचानक भारत छोड़कर इंगलैण्ड चला जाना पड़ा।

निजाम, जेतपुर और दिल्ली सम्राट

निजाम की ओर से अंगरेजों का कभी विरोध न किया गया था। जरूरत पड़ने पर, इशारा मिलते ही उसने धन और जन से अंगरेजों की सदा सहायता की थी। इस पर भी अंगरेज, निजाम के न हो सके और उसके पतन के लिए वे बराबर उपाय सोचते रहे।

जरूरतों और बिना जरूरतों पर अंगरेजों ने निजाम से इतना रुपया वसूल किया था, जिससे पूरा निजाम और उसका सरकारी खजाना भीतर ही भीतर खोखला हो रहा था। उसको गरीब और कमजोर बनाकर एलेनब्रू निजाम को कम्पनी के राज्य में मिलाना चाहता था। उसने १३ अगस्त सन् १८४३ के अपने एक पत्र में स्वयं लिखा है :

"निजाम सरकार की आर्थिक दशा इतनी खराब हो गयी है कि

उसके एक पुराने मन्त्री ने अपने काम से इस्तीफा दे दिया है। ऐसे मौके पर मैंने सोचा है कि निजाम को दस लाख रुपये कर्ज में दिये जाँय और उसके बाद निजाम का राज्य अपने हाथों मे ले लिया जाय।"

निजाम के सम्बन्ध में एलेनब्रू ने इस प्रकार की बात सोच रखी थी। दूसरे झगड़ों के कारण वह निजाम के सम्बन्ध में कुछ कर न सका और उसके कुछ ही दिनों बाद उसे भारत से चला जाना पड़ा।

बुन्देलखण्ड में जेतपुर नाम की एक छोटी रियासत थी। एलेनब्रू ने उसको अंगरेजी राज्य में ले लेने का निश्चय किया और २७ नवम्बर सन् १८४२ मे एलेनब्रू ने जेतपुर के किलों पर कब्जा कर लिया और उस रियासत को छीनकर अंगरेजी राज्य में मिला लिया।

अंगरेजों की नजरों में दिल्ली सम्राट खटक रहे थे। लेकिन अभी तक दिल्ली का शासन समाप्त करने का कोई मौका न मिला था। अभी तक यह नियम चला आता था कि दिल्ली सम्राट से जो कोई मिलने जाता, वह सम्राट को नजर में कुछ भेंट किया करता। इस नियम के अनुसार अंगरेजी हुकूमत का जो गवर्नर-जनरल सम्राट से भेंट करता था, वह एक सौ अशर्फी भेंट में दिया करता था। लार्ड एलेनब्रू ने सन् १८४२ में इस भेंट का दिया जाना बिलकुल बन्द कर दिया।

दिल्ली को छीनकर और उसको अंगरेजी राज्य में मिला लेने की योजना भी एलेनब्रू के सामने थी। लेकिन इसके सम्बन्ध में इंगलैण्ड के डाइरेक्टरों का कुछ मतभेद था। इसलिए वह योजना एलेनब्रू अपने शासन-काल में पूरी न कर सका।

भारत में एलेनब्रू ढाई वर्ष गवर्नर-जनरल रहकर १ अगस्त सन् १८४४ को वह इंगलैण्ड चला गया और उसके स्थान पर लार्ड हार्डिञ्ज भारत में गवर्नर-जनरल होकर आया। लार्ड एलेनब्रू के कुछ कामों से इंगलैण्ड के डाइरेक्टर सहमत न थे। उसने अनावश्यक खर्च इतने बढ़ा रखे थे जो अंगरेजी सरकार के लिए एक प्रकार का भार हो रहे थे। कुछ इसी प्रकार के और भी उसके काम थे जिनसे असन्तुष्ट होकर कम्पनी के डाइरेक्टरों को उसे इंगलैण्ड बुला लेना पड़ा।

———

अड़तीसवाँ परिच्छेद

सिखों के साथ पहला युद्ध

युद्ध के पूर्व

जिस सिख युद्ध का आरम्भ गवर्नर-जनरल हार्डिञ्ज के शासन-काल में हुआ, उसका श्री गणेश लार्ड एलेनब्रू के समय में ही हो चुका था। उसने पंजाब में जिस प्रकार उत्पात पैदा कराये थे और स्थान-स्थान पर विद्रोह पैदा करने में उसको सफलता मिली थी, वे सब कारण पंजाब की परिस्थितियों के रूप में, युद्ध में सामने आये।

हार्डिञ्ज ने भारत पहुँचते ही एक बार पंजाब का अध्ययन किया। सतलज नदी के दाहिने तरफ महाराजा रणजीत सिंह के पुत्र दलीप सिंह का राज्य था और बाईं तरफ फीरोजपुर, लुधियाना, अम्बाला और मेरठ अंगरेजी राज्य की छावनियाँ थीं। इन सभी मुकामों में जिस प्रकार अंगरेजी सेनायें और तोपें थीं, उनकी संख्या हार्डिञ्ज ने बढ़ा दी। इस प्रकार उसने अपनी सैनिक तैयारी का काम किया।

इस युद्ध का निश्चय एलेनब्रू के समय में ही हो चुका था, छेड़ छाड़ भी हो चुकी थी। हार्डिञ्ज को उसे आगे बढ़ाना था। अंगरेजों की नीति में युद्ध के लिए सैनिक तैयारी का काम ही मुख्य नहीं रहा। उसके साथ-साथ और बहुत अंशों में, उससे पहले शत्रु को निर्बल बनाना, उसके सहायकों को फोड़ लेना, शत्रु-पक्ष में फूट पैदा करना, और प्रजा में विद्रोह करा देना अंगरेजी राजनीति का सदा से प्रमुख कार्य रहा है।

इसी नीति के अनुसार भारत के प्रत्येक युद्ध में अंगरेजों ने काम किया। सिख युद्ध की तैयारी में भी उन्हें यह सब करना पड़ा। शत्रु

को निर्बल बनाने के लिए अंगरेज पानी की तरह रुपया खर्च करते थे और शत्रु की शक्तियों को खींचकर अपने साथ कर लेते थे। इस कूट-नीति में प्रत्येक अंगरेज इतने कुशल पाये गये, जितने संसार के किसी भी दूसरे देश में कदाचित् ही कुछ लोग मिल सकें।

देशद्रोहियों की खोज

सिख-युद्ध प्रारम्भ करने के पहले अंगरेजों ने देशद्रोहियों की खोज आरम्भ की। इनके द्वारा दो काम होने को थे। एक तो युद्ध का कारण पैदा करना था और दूसरा काम यह कि विश्वासघातियों और देशद्रोहियों को मिला लेने से आक्रमणकारियों को बहुत बड़ी शक्ति मिलनी थी।

राजा दलीपसिंह अभी नाबालिग था। उसकी माता रानी झिन्दाँ राज्य का प्रबन्ध करती थी। राजा लालसिंह राज्य का प्रधान मन्त्री था। दरबारियों पर उसका प्रभाव था और रानी भी उसका विश्वास करती थी।

सिख-राज की राजधानी लाहौर में थी। दरबार के कई आदमियों को फोड़ने में अंगरेजों की कामयाबी हुई। जिन लोगों को मिलाकर अंगरेजों ने अपने पक्ष में किया, उनमें वहाँ का प्रधान मन्त्री राजा लालसिंह प्रमुख था। यह तो निश्चित है कि बड़े-से-बड़े प्रलोभन देकर लालसिंह को मिलाने का काम किया गया। किन्तु वे प्रलोभन क्या थे, इनकी जानकारी ठीक ठीक कहीं से नहीं होती।

सिख-राज्य का दूसरा व्यक्ति जो मिलाया गया, वह राजा दलीप-सिंह की सेनाओं का प्रधान सेनापति था। उसका नाम था तेजसिंह। सहारनपुर जिले का रहने वाला यह एक ब्राह्मण था। पंजाब में तीसरा देशद्रोही जिसे बनाने का काम अंगरेजों ने किया, वह था जम्मू का राजपूत नरेश गुलाबसिंह। इसने अंगरेजों का साथ देकर जाति द्रोह और देशद्रोह का भयानक उदाहरण दिया।

इन देशद्रोहियों को मिलाकर अंगरेजों ने अपनी शक्ति को महान और मजबूत बना लिया और साथ ही शत्रु को निकम्मा कर दिया। उन्होंने यह एक बड़ा काम किया और इतना बड़ा काम जो शत्रु को

पराजित करने के लिए बहुत काफी था। अब प्रश्न यह था कि किस बहाने इस युद्ध का आरम्भ किया जाय। सिखों और अंगरेजों की सीमा लुधियाना शहर पड़ता था। मेजर ब्राडफुट-जनरल की ओर से लुधियाने में एजेण्ट था। पंजाब पर आक्रमण करने का बहाना कैसे पैदा हो, यह कार्य इसी एजेण्ट को सौंपा गया था। वह इस कोशिश में था कि किसी प्रकार कोई ऐसी परिस्थिति पैदा हो, जिससे युद्ध की घोषणा की जा सके।

अंगरेजों की ओर से जितने भी ये कार्य हो रहे थे, उनमें से बहुतों की जानकारी लाहौर-दरबार को थी। लेकिन उस दरबार के भी कुछ आदमी अंगरेजों से मिल चुके थे। इस दशा में जो अभी तक अपने देश के शुभचिंतक थे, वे हैरान भी थे और आश्चर्य में भी। वे जानते थे कि अंगरेजों ने जब जिस बात के लिए आग्रह किया, उसको बराबर पूरा किया गया। लेकिन उन्होंने जिन शर्तों को स्वीकार किया, स्वयं उन्होंने उनका उल्लंघन किया।

इस प्रकार की बातों को लेकर लाहौर-दरबार की अनेक शिकायतें अंगरेजों के खिलाफ थीं। उनमें से एक यह भी थी कि फीरोजपुर, लाहौर-दरबार के अधिकार में था। अंगरेजो के प्रार्थना करने पर कुछ शर्तों के साथ फीरोजपुर उन्हें दे दिया गया था और यह भी तय हो गया था कि वहाँ पर अङ्गरेज एक निश्चित् संख्या से अधिक अपनी सेना न रखेंगे। यह बात शर्तों में तय हुई थी। फिर भी वे फीरोजपुर में अपनी सेनायें बढ़ाते जा रहे थे।

इसी प्रकार की और भी कितनी शिकायतें थी लेकिन लाहौर दरबार युद्ध के पक्ष में न था। उसके कई कारण थे। राजा नाबालिग था। राज्य की देख-भाल विधवा रानी के हाथों में थी। दरबार की भी अवस्था अच्छी न थी। जहाँ पर सिखों के सम्मान का प्रश्न होता था, वहाँ पर भी मतभेद होता था और विरोधी विवाद चला करते थे।

सिखों की सेनाओं की अवस्था भी अच्छी न थी। प्रधान सेनापति तेजसिंह के मिल जाने से दूसरे, सेनापति भी अव्यवस्थित हो रहे थे। असली बात को वे लोग जाहिर न करते थे। किन्तु जिन विश्वासों

और प्रलोभनों पर वे अंगरेजों का साथ देने के लिए शपथ पूर्ण प्रतिज्ञायें कर चुके थे, वे उनको अकर्मण्य बना रहे थे। सेनाओं की अवस्था बहुत दर्दनाक थी। वे देश और कौम के सम्मान पर युद्ध करना चाहती थीं लेकिन सर्वनाश उनके सामने था।

रणजीतसिंह की अदूरदर्शिता

अन्य दूसरे भारतीय नरेशों की भाँति महाराजा रणजीत सिंह ने भी एक बड़ी गलती यह की थी कि उन्होंने अपनी सेना में योरोपियन और अंगरेज अफसरों को नौकर रखा था। ये विदेशी अफसर कभी भी ईमानदार नहीं साबित हुए। अनेक भारतीय नरेशों का सत्यानाश केवल इसीलिए हुआ कि उनकी सेनाओं में विदेशी अफसर थे। लेकिन सिख-सेना की सैनिक कमेटी ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया और अंगरेजों के साथ युद्ध का संघर्ष उत्पन्न होते ही विदेशी सैनिकों और अफसरों को अपनी सेनाओं से बरखास्त कर दिया।

सैनिक कमेटी ने ऐसा करके महाराजा रणजीतसिंह की अदूरदर्शिता और भूल का संशोधन किया। यह भी ठीक है कि यह संशोधन समय पर ही हुआ। लेकिन देश का दुर्भाग्य सिर पर मँडरा रहा था। इसलिए विदेशी विश्वासघातकों का उपाय तो हुआ, लेकिन अपने घरों के ही देशद्रोहियों का कोई इलाज न हो सका।

जिस राज्य के प्रधान मन्त्री शत्रु के साथ मिल चुके हों, प्रधान सेनापति शत्रु के इशारों पर नाच रहा हो और मन्त्रिमण्डल के कितने ही महात्मा अपने आपको शत्रु के हाथों बेच चुके हों; उस देश और राज्य की रक्षा का फिर कोई उपाय नहीं रह जाता।

युद्ध का श्रीगणेश

सिख-सेना से अंगरेज अफसरों के निकाले जाने की खबर मिलते ही गवर्नर-जनरल हार्डिञ्ज ने तारीख १३ दिसम्बर सन् १८४५ को नाबालिग महाराजा दलीपसिंह के साथ युद्ध की घोषणा कर दी और इसके साथ ही सतलज के इस पार के सिख इलाकों पर कब्जा कर लिया।

युद्ध की घोषणा हो जाने पर १८ दिसम्बर सन् १८४५ को मुदकी के मैदान में दोनों तरफ की सेनाओं का मुकाबिला हुआ। इस घमासान युद्ध में सिख सैनिकों ने अपना जिस बहादुरी का परिचय दिया, उसकी प्रशंसा सभी विदेशी इतिहासकारों ने की है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि सिख-राज्य का प्रधान मन्त्री राजा लालसिंह और प्रधान सेनापति तेजसिंह अंगरेजों से मिल चुका है। फल यह हुआ कि मुदकी के युद्ध मे अंगरेजों की जीत हुई।

मुदकी के मैदान में पराजित होने के बाद सिख सेना फीरोज शहर पहुँची। वहाँ पर फिर अंगरेजी सेना के साथ उसका युद्ध हुआ। सिख सैनिकों ने अपनी मुदकी की पराजय का बदला लेने में कोई कसर न उठा रखी। लेकिन विश्वासघाती लालसिंह ने उनको आगे बढ़ने न दिया। फीरोज शहर के युद्ध के सम्बन्ध में इतिहासकार विलियम एडवर्डस ने लिखा है:

"फीरोज शहर के युद्ध मे सिख सेना ने वीरतापूर्वक अंगरेजी सेना का मुकाबिला किया। उस समय मालूम हो रहा था कि उसके मुकाबिले में अंगरेजी सेना ठहर न सकेगी। लेकिन राजा लालसिंह की हिकमतों से अंगरेजी सेना को फिर विजय प्राप्त हुई।"

सिख सेना के पराजित होने पर भी अंगरेज सैनिक और अफसर काफी मारे गये। जो अफसर मरे, उनमें मेजर ब्राडफुट भी था। सिख-सेनाओं का मुकाबिला करने के लिए पूर्वी भारत से जो अंगरेजी सेना आ रही थी उसका रास्ता पटियाला रियासत से होकर था। इसलिए महाराजा पटियाला को मिलाने के लिए विलियम एडवर्ड्स को भेजा गया। उसने वहाँ जाकर महाराजा से मुलाकात की और अंगरेज सरकार की मित्रता का परिचय देते हुए, उसने वादा किया कि अगर आप अंगरेजों का साथ देंगे तो सिखों के युद्ध में जो इलाके जीते जायँगे, उनमें एक भाग आपको भी दिया जायगा और कम्पनी के साथ आपकी मित्रता सदा के लिए चिरस्थायी हो कर रहेगी। महाराजा पटियाला ने एडवर्डस की कही हुई सभी बातों को स्वीकार किया।

सतलज पार करके लाहौर की तरफ बढ़ती हुई अंगरेजी सेना को अलीवाल और सुबराव के मैदानों में सिख-सेना के साथ युद्ध करने पड़े। इन दोनों लड़ाइयों में भी सिखों की पराजय हुई और

बहुत से सिख सैनिक विश्वासघाती सेनापति के कारण मारे गये। विलियम एडवर्डस ने इन लड़ाइयों का वर्णन करते हुए लिखा है :

"मुदकी और फीरोज शहर में पराजित होने के बाद सिख सैनिकों को साफ मालूम हो गया था कि राजा लालसिंह और सेनापति तेज सिंह दोनों शत्रु से मिल गये हैं। इन दोनों विश्वासघातों के कारण सेना के और भी बहुत से अफसर युद्ध में धोखा दे रहे थे, यह भी सिख सैनिकों को मालूम हो गया। वे अब भी एक बार दिल खोल कर अपने देश की रक्षा करना चाहते थे और अंगरेजी सेना के साथ युद्ध करने का हौसला रखते थे। लेकिन उनकी सेना का कोई सेनापति न था। इस दशा में जम्मू के राजा गुलाबसिंह को उन्होंने बुला भेजा और उसके सेनापतित्व में युद्ध करने का निश्चय किया। वह अपनी सेना के साथ लाहौर आ गया। लेकिन वह स्वयं अंगरेजों के हाथों बिक चुका था।"

इतिहासकार कनिङ्घम ने लिखा है कि सिख-सेना के सेनापति और अंगरेजी सेनापति में पहले से ही यह निश्चय हो चुका था कि युद्ध-क्षेत्र में पहुँचते ही, सिख सेनापति अपना कोई काम न करेगा।

इन विश्वासघातों के फलस्वरूप प्रत्येक मैदान में सिख सेना की पराजय हुई और इन देशद्रोही लोगों ने जान-बूझ कर अपनी सेना को अंगरेजी तोपों के हवाले कर दिया। जिससे बहुत बड़ी संख्या में सिख सैनिक जान से मारे गये।

युद्ध का अन्त

सुबराव का युद्ध समाप्त करके १२ फरवरी सन् १८४६ को गवर्नर-जनरल हार्डिञ्ज लाहौर की ओर चला। राजा गुलाबसिंह ने अंगरेजी सेना के इस आगमन में बड़ी सहायता की। देशद्रोहियों के विश्वास-घात करने पर भी सिख-सैनिकों ने जिस वीरता से युद्ध किया था, उसको देख कर उस समय गवर्नर-जनरल ने सन्धि कर लेना ही मुना-सिब समझा।

मार्च सन् १८४६ में लाहौर दरबार के साथ कम्पनी की सन्धि हुई। पंजाब का कुछ इलाका अंगरेजों को दिया गया और लालसिंह अब भी प्रधान मन्त्री के पद पर लाहौर दरबार में डटा रहा।

इस युद्ध में जिन लोगों ने अंगरेज-सरकार का साथ दिया था, सन्धि के बाद कम्पनी की ओर से उनका सम्मान किया गया और पुरस्कार देकर उनको प्रसन्न करने की कोशिश की गयी। गुलाबसिंह ने जिस प्रकार अंगरेजों का साथ दिया था, उसके बदले में उसको काश्मीर का राज्य दिया गया।

राजा लालसिंह को गुलाबसिंह के साथ ईर्षा उत्पन्न हुई। उसके असन्तोष को देखकर पता चलता है कि जो कुछ उसको दिया गया था, उसको वह काफी न समझता था। लालसिंह के विरोधी होने से काश्मीर मे गुलाबसिंह का कब्जा होने में बड़ी बाधाएँ पैदा हुईं।

इन बाधाओं के बढ़ जाने के कारण, लाहोर में जो सन्धि हुई थी, उसे रद्द करके एक दूसरी सन्धि १६ दिसम्बर सन् १८४६ को की गयी। उस सन्धि के अनुसार रानी झिन्दाँ को वार्षिक डेढ़ लाख रुपये की पेन्शन देकर राज्य से अलग किया गया। लालसिंह का मन्त्रीत्व समाप्त हुआ और उसे गिरफ्तार करके देहरादून भेजा गया।

दलीपसिंह अभी नाबालिग था, इसलिए निश्चय हुआ कि उसके नाबालिग रहने के समय तक के लिए आठ सरदारों की एक कमेटी बनायी गयी। इस कमेटी मे तेजसिंह एक सभासद बनाया गया और तय हुआ कि यह कमेटी अङ्गरेजी रेजीडेण्ट की आज्ञाओं के अनुसार राज्य का प्रबन्ध करेंगी। युद्ध के खर्च में एक लम्बी रकम लाहोर दरबार से अङ्गरेजों को दी गयी। दरबार की सेना को बरखास्त किया गया और राज्य मे अङ्गरेजी सेना रखी गई। उसका खर्च राज्य के ऊपर रहा।

१८ जनवरी सन् १८४८ को हार्डिञ्ज भारत से चला गया और उसके स्थान पर लार्ड डलहौजी, गवर्नर-जनरल होकर भारत में आया।

उन्तालीसवाँ परिच्छेद

सिखों के साथ दूसरा युद्ध

मुलतान पर आक्रमण

पिछले परिछेद में लिखा जा चुका है कि सिखों के साथ जो पहला युद्ध हुआ, उसके अन्त में सन्धि हुई। परन्तु प्रधान मन्त्री लालसिंह के असन्तुष्ट और विद्रोही होने के कारण, वह सन्धि रद्द करनी पड़ी और दूसरी सन्धि हुई। उसमे महारानी झिन्दाँ को डेढ़ लाख वार्षिक पेन्शन देकर राज्य से अलग कर दिया गया था और दलीपसिंह के नाबालिग होने के कारण राज्य का काम सञ्चालन करने के लिए एक कमेटी बनायी गयी थी। उस कमेटी का सूत्र-धार अंगरेज रेजीडेण्ट था।

आजकल लाहौर दरबार में सर फ्रेडरिक करी रेजीडेण्ट था। वही वास्तव में वहाँ का शासक हो रहा था। पंजाब को अंगरेजी राज्य में मिला लेने की उसकी खुली नीति थी। अपने इन्हीं विचारों के आधार पर उसने वहाँ का कार्य सञ्चालन किया था। राज्य के प्रत्येक महकमे को उसने उन लोगों के हाथ में रखा था, जो उसके इशारे पर बिना किसी ख्याल के राज्य के साथ विश्वासघात कर सकते थे। इतना ही नहीं उत्तरदायी पदों पर से सिखों को हटाकर उसने अंगरेजों को भरती किया था।

रेजीडेण्ट के इन कामों से अधिकाँश संख्या में लोग असंतुष्ट हो रहे थे। जो लोग केवल अपना स्वार्थ चाहते थे, वे लोग इस अंगरेजी नीति का समर्थन करते थे। लेकिन जिनकी आंखों में देश के सम्मान का प्रश्न था वे रेजीडेण्ट की इस नीति की आलोचना करते थे। पंजाब का भविष्य उनको अन्धकारपूर्ण दिखायी देता था।

सिखों के साथ अंगरेजों का जो दूसरा युद्ध हुआ उसके पहले मुलतान की समस्या सामने आयी। यहाँ पर मुलतान का कुछ विव-

रण देना आवश्यक है। मुलतान एक रियासत थी। सन् १८१८ में महाराजा रणजीतसिंह ने उस पर कब्जा करके अपने साम्राज्य में मिला लिया था। सावनमल को लाहौर दरबार की ओर से वहाँ का दीवान बनाया गया और उसके हाथों में वहाँ का शासन-प्रबन्ध दे दिया गया।

मुलतान की वार्षिक आय ३५ लाख रुपये थी। इसकी आधी रकम दीवान को लाहौर के खजाने में भेजनी पड़ती थी। इसके सिवा वहाँ के शासन में लाहौर-दरबार का और कोई आधिपत्य न था। दीवान सावन-मल ने मुलतान की तरक्की के लिए बहुत-से काम किये थे। वहाँ की प्रजा खुशहाल हो रही थी। कृषि और व्यवसाय तरक्की पर था।

दीवान सावनमाल की मृत्यु हो जाने पर उसका लड़का मूलराज वहाँ का दीवान हुआ। उस मौके पर लाहौर दरबार के प्रधान मन्त्री लालसिंह ने नजराने के तौर पर उससे १८ लाख रुपये की रकम माँगी। मूलराज ने देने का वादा किया। कुछ ही दिनों में उसे लाहौर दरबार का रंग उड़ता हुआ दिखायी पड़ा। अंगरेजों के इशारे पर पंजाब में दंगे और उत्पात बढ़ रहे थे। दरबारी लोगों के साथ भी अंगरेजों की कूटनीति चल रही थी। मूलराज को कुछ संदेह उत्पन्न हुआ। उसने उस रकम की अदायगी रोक दी।

लालसिंह के भाई भगवानसिंह ने एक सेना लेकर उस रकम को वसूल करने के लिए मूलराज पर चढ़ाई की। एक छोटी-सी लड़ाई के बाद समझौते में अपना एक इलाका मूलराज को देना पड़ा।

मुलतान का युद्ध

पंजाब पर आक्रमण करने के पहले ही अंगरेजों ने लालसिंह को अपने हाथ मे कर लिया था। उसे उलटी पट्टी पढ़ाकर अंगरेजी ने मुलतान के दीवान मूलराज को तंग करना आरम्भ किया। अंगरेज इस बात को खूब समझते थे कि पंजाब पर चढ़ाई करने के समय मुलतान सिखों की सहायता करेगा। लेकिन लालसिंह की बुद्धि पर पत्थर पड़ चुके थे।

अंगरेजों के सिखाने से लालसिंह ने मुलतान के खिलाफ सख्तियाँ

आरम्भ की। वहाँ से वार्षिक साढ़े सत्रह लाख रुपये मिलते थे। इस रकम को बढ़ाकर पौने बीस लाख रुपये वर्षिक अदा करने के लिए मूलराज पर जोर डाला गया और दो वर्षों के बाद ही इस रकम को २५ लाख तक पहुँचा दिया गया। कुछ दिनों में उस रकम को और भी बढ़ाया गया।

मुलतान को अपने हाथ मे ले लेने के लिए अंगरेजों ने और भी चालें चली, वहाँ के शासन में हाथ बटाने के लिए कुछ अंगरेजों को कमिश्नर और कलेक्टर बनाकर भेजा गया। स्वाभिमानी मूलराज इन सब बातों को सहन करने के लिए तैयार न था। आवेश मे आकर वह कुछ निर्णय करना चाहता था। लेकिन उन दिनों में कुछ हो न सका।

इन दिनों में सर फ्रेडरिक करी लाहौर का रेजीडेण्ट हो चुका था। उसने प्रधान मन्त्री लालसिंह को उभारकर तैयार किया। मूलराज से इस्तीफा माँगा गया और उसके स्थान पर काहनसिंह नामक एक आदमी को मुलतान का दीवान बनाना तय किया गया।

निश्चय होकर काहनसिंह को कुछ सेना के साथ १८ अप्रैल सन् १८४८ को मुलतान भेजा गया और उसके साथ दो अंगरेज अफसरो को भी भेजा गया। मुलतान के दीवान होने का पद मूलराज के पिता सावनमल को लाहौर-दरबार की ओर से मिला था। इस आधार पर मूलराज को विरोध करने का कोई अधिकार न था। उसने राज्य का प्रबन्ध काहनसिंह के हाथ में दे दिया।

काहनसिंह के साथ जो दो अंगरेज अफसर भेजे गये थे उन्होंने मुलतान में अपना इन्तजाम शुरू किया। स्थान स्थान पर अंगरेजी सैनिक मुकर्रर किये गये। रियासत के सैनिकों को निकालकर अंगरेज सैनिक रखे गये। इसका प्रभाव वहाँ के लोगों पर बुरा पड़ा। फल यह हुआ कि उन दो अंगरेज अफसरों में से एक को मौका पाकर दो मुलतानी सैनिकों ने मार डालने की कोशिश की। लेकिन वह घायल अवस्था में बच गया।

मुलतान में गये हुए दोनों अंगरेज अफसरों को रहने के लिये शहर के बाहर एक सुरक्षित स्थान चुना गया था। मूलराज राज्य का काम काहनसिंह को सौंपकर वहाँ से चला गया था। मुलतान की प्रजा में

इस नये प्रबन्ध के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें होती थीं। सभी दुखी थे। वे जानते थे कि नया शासन लाहौर दरबार का नहीं—अंग-रेजी हुकूमत का है।

मुलतान के जो सैनिक निकाले गये थे उन लोगों ने संगठित होकर इन अंगरेज अफसरों से युद्ध करने का निश्चय किया। दोनों अंगरेजों के स्थानों को मुलतान सैनिकों ने घेर लिया उनकी रक्षा के लिए गोरी सेना ने मुलतानी सैनिकों का मुकाबिला किया। काहनसिंह के साथ देशी सिपाहियों की एक सेना भी थी। वह भी वहाँ पहुँच गयी। उसके सैनिकों की आँखों का पानी सूखा न था। उनके आत्म-सम्मान का अभी तक अन्त न हुआ था। युद्ध के मैदान में अंगरेजों के पक्ष से हटकर वे मुलतानी सैनिकों की ओर चले गये। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। उस युद्ध में दोनों अंगरेज अफसर जान से मारे गये और काहनसिंह को घायल करके कैद कर लिया गया।

महारानी झिन्दाँ की गिरफ्तारी

मुलतान के झगड़े का अभी तक कुछ निर्णय न हुआ था। लाहौर रेजीडेण्ट ने महारानी झिन्दाँ के खिलाफ एक षड़यन्त्र की रचना की। कहा गया कि महारानी ने अंगरेजों के खिलाफ मुलतान में वहां के विद्रोही सैनिकों की सहायता की है। इस पर न तो महारानी के बयान लिए गये और न अपराध पर कोई सुबूत दिया गया। शेखूपुरा के महल से महारानी को कैद करके बनारस भेज दिया गया।

महारानी की कैद का समाचार चारों तरफ फैल गया। पंजाब के सिख महारानी का कैद होना सहन न कर सके, वे रो उठे और चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे—हमारा राजा, दलीपसिंह, महाराणा रणजीतसिंह का पुत्र आज अंगरेजों के हाथों मे है! पंजाब की विधवा महारानी अंगरेज सैनिकों के पहरे में कैद हैं! अब यह युद्ध किसके लिए होगा!!

पंजाब के सिख-सरदारों का खून खौल रहा था। दलीपसिंह की नाबालिगी के कारण राज्य के प्रबन्ध के लिए जो एक कमेटी बनी थी, उसके प्रभावशाली, स्वाभिमानी, सदस्य राजा शेरसिंह ने सारे पंजाब

मे अपनी घोषणा को प्रकाशित किया। उसके जोरदार शब्द इस प्रकार थे :

"पंजाब के समस्त निवासियों को, समस्त सिखों को और सम्पूर्ण संसार को मालूम हो चुका है कि इन अंगरेजों ने स्वर्गीय महाराजा रणजीतसिंह की विधवा महारानी को गिरफ्तार करके अंगरेज सैनिकों के पहरे में रखा है। इससे बढ़कर जुल्म, ज्यादती और जबस्दती कोई दूसरी नहीं हो सकती। X X X महारानी को गिरफ्तार करके अंगरेजों ने सन्धि को तोड़कर सिखों की चुनौती दी है।"

अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मोहम्मद खाँ ने अंगरेज कप्तान को इसी मौके पर पत्र लिखा और उसमें साफ-साफ बताया कि पंजाब की महारानी को कैद करके अंगरेजों ने सिखों में आग लगायी है।

सरदार चतरसिंह, शेरसिंह का पिता था। शेरसिंह की बहन का विवाह महाराज दलीपसिंह के साथ होने जा रहा था। उसकी सगाई हो चुकी थी। रेजीडेण्ट करी ने उस पर एतराज किया और लड़की के पिता सरदार चतरसिंह के पास उसने एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था :

"रेजीडेण्ट की आज्ञा के बिना विवाह नहीं किया जा सकता।"

मुसलमानों को उभारा गया

इलाका हजारा मे मुसलमानों की अधिक बस्ती थी। सभी लोग युद्ध के हथियारों का प्रयोग करते थे। साधारण कोट के आदमी थे। स्वभाव से ही लड़ाकू थे। हिन्दुओं के खिलाफ इन लोगों को भड़काने और उनमें मजहबी जोश पैदा करने का काम कप्तान ऐबट को सौंपा गया था। ऐबट इस प्रकार की कूटनीति मे बहुत प्रवीण था। मुसलमानों को भड़काने मे उसने काफी रुपये खर्च किये।

सिखों और मुसलमानों की पुरानी रन्जिशों को उठा-उठाकर उसने मुसलमानों को तैयार किया और कहा कि अंगरेज सरकार सिख हुकूमत को मिटा कर, मुसलमानों को महत्व देना चाहती है। प्रत्येक मुसलमान को इस्लाम के विरोधी सिखों को दबाने में अंगरेजों की मदद करना चाहिए। इस प्रकार के मौके मुसलमान कौम को बार-बार न मिलेंगे। कप्तान ऐबट की इन बातों का मुसलमानों पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे सब के सब उसकी बातों में आ गये।

राजा शेरसिंह के पिता चतरसिंह हरीपुर में रहते थे। बड़ी संख्या में हथियार बन्द मुसलमानों ने हरीपुर को घेर लिया। चतरसिंह के साथ एक छोटी-सी सेना रहती थी। एक अंगरेज अफसर उनका हाकिम था। उस अंगरेज का नाम था, कैनोरा। चतरसिंह ने उसे आज्ञा दी कि इन बागी मुसलमानों से हरीपुर की रक्षा की जाय। उसने साफ-साफ इससे इनकार किया। इस दशा में वृद्ध सरदार चतरसिंह को अपने सैनिकों की सहायता से विद्रोही मुसलमानों का मुकाबिला करना पड़ा।

सरदार चतरसिंह ने लाहौर के रेजीडेण्ट को सारी कथा बताकर करनल कैनोरा की हरकतों की शिकायत की। परन्तु उन शिकायतों से कोई नतीजा न निकला। सरदार चतरसिंह इससे बहुत निराश हुआ।

इसी बीच में रेजीडेण्ट ने एक और काम किया। उसने लाहौर-दरबार से कहा कि दरबार के सिख सैनिक मुलतान भेजे जाँय और मूलराज को कैद करके उसको सजा दी जाय। दरबार रेजीडेण्ट की आज्ञा को मानने के लिए वाध्य था। दरबार ने चाहा कि सिख सैनिकों को बरखास्त करने के बाद भी जो थोड़ी से सिपाही बाकी रह गये हैं, उनको मुलतान न भेजकर अंगरेजी सेना को भेजा जाय। लेकिन इसके लिए रेजीडेण्ट तैयार न हुआ। वह सिखों के द्वारा ही मुलतान का सर्वनाश करना चाहता था। उसने साफ-साफ कह दिया कि यदि विद्रोही मुलतान को, दरबार अपनी शक्ति से दबा न सकेगा तो पंजाब का राज्य जब्त कर लिया जायगा।

लाहौर-दरबार को विवश होकर, सरदार चतरसिंह के लड़के राजा शेरसिंह के साथ दरबार की अपनी सेना मुलतान भेजनी पड़ी। शेरसिंह के साथ रेजीडेण्ट ने मेजर एडवर्डस को भेजा। इन दिनों में सिखों और हिन्दुओं के खिलाफ मुसलमानों की एक सेना तैयार की गयी थी। वह एडवर्डस के पास पहुँच गयी।

दीवान मूलराज के कुछ झगड़े पहले से ही फतह खाँ के साथ चल रहे थे। अंगरेजों ने फतह खाँ को उभारा और डेरा गाजी खाँ और बन्नू के सिखों को लूटने का इशारा कर दिया। फतह खाँ को फिर

क्या देर थी। लेकिन उसी लूट पाट में बहुत से मुसलमानों के साथ, साहसी सिखों ने फतहखाँ को भी मार डाला।

राजा शेरसिंह और एडवर्डस की सेना के साथ दीवान मूलराज की सेना का युद्ध हुआ उसमें मूलराज की सेना पराजित हुई। एडवडस ने मुलतान को घेरने की आज्ञा दे दी। जब यह खबर फैली तो दीवान मूलराज की सहायता के लिए बड़ी तादाद में हिन्दू और सिख संगठित होने लगे। मूलराज अपने किले मे था। वहाँ पर एकत्रित हिन्दुओं और सिखों ने एडवर्डस की सेना के साथ युद्ध किया। एडवर्डस पराजित होकर वहाँ से भागा। मूलराज के आदमियों ने उसको मार डालने की कोशिश की। लेकिन वह हाथ से निकल गया।

इस युद्ध में एडवर्डस निश्चित् रूप से मारा जाता। इसलिए कि शेरसिंह के साथ आयी हुई सेना भी मूलराज से मिल गयी थी और शेरसिंह स्वयं मूलराज के स्थान पर एडवर्डस की हत्या हृदय से चाहता था।

हजारा के मुसलमानों का झगड़ा हरीपुर में अब भी चतरसिंह के साथ चल रहा था। उसका समाचार पाकर शेरसिंह अपनी सेना के साथ मुलतान छोड़कर अपने पिता की सहायता के लिए चला गया।

सिखों के साथ युद्ध का आरम्भ

मुलतान में संगठित हिन्दू और सिखों ने जो एडवर्वस को पराजित किया। उससे उनका उत्साह बढ़ गया। यह सभी जानते थे कि अङ्गरेज-सरकार अब अपनी पूरी ताकत लगा देगी। इसलिए युद्ध-प्रिय हिन्दू और सिख पहले से भी अधिक संख्या मे सङ्गठित होने लगे। सिखों के साथ दूसरे युद्ध का प्रारम्भ यहीं से होता है।

प्रथम सिख-युद्ध में अङ्गरेजों ने प्रधान मन्त्री लालसिंह, प्रधान सेनापति तेजसिंह और राजा गुलाबसिंह को मिला लेने में जो सफलता पायी थी, वह अब बहुत दूर हो चुकी थी। हिन्दू और सिख अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए लड़कर मरने के लिए तैयार हो चुके थे। वे महारानी झिन्दाँ की गिरफ्तारी और अङ्गरेजों के अत्याचारों

का बदला लेना चाहते थे। इसका समर्थन सर चार्ल्स नेपियर ने अपने एक पत्र में किया है।

अंगरेजों को भली भाँति मालूम हो गया कि अब हिन्दुओं और सिखों पर पंजाब में हमारी कूटनीति का जादू काम न करेगा। पंजाब को जीतने के लिए मुसलमानों को तैयार कर के सिखों से लड़ाना ही एक काम बाकी रह गया है। अंगरेजों ने यही किया।

पंजाब-राज्य और उसकी सीमा पर जितने भी मुसलमान रहते थे, उनको भड़काने की कोशिश की गयी। उनसे कहा गया कि हजारा के मुसलमानों ने चतरसिंह के साथ जो झगड़ा किया है, उसका बदला लेने के लिए हिन्दुओं और सिखों की जोरदार तैयारी हो रही है। अंगरेज-सरकार मुसलमानों की रक्षा करना चाहती है। इसलिए प्रत्येक मुसलमान को युद्ध के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

मुसलमानों ने अङ्गरेजों का साथ दिया। कई स्थानों में हिन्दुओं और सिखों के साथ मुसलमानों और अङ्गरेजी सेनाओं ने मिलकर संग्राम किये। दीवान मूलराज ने प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध किया और राजा शेरसिंह ने अपनी वीरता के द्वारा एक बार अङ्गरेजों के साहस को तोड़ दिया। लेकिन युद्ध बराबर जारी रहा।

चिलियान वाला के मैदान में जनवरी सन् १८४९ में भयंकर युद्ध हुआ। उसमें अङ्गरेजों की हार हुई। इस युद्ध में अङ्गरेजों की ओर जो लोग मारे गये और घायल हुए, उनकी संख्या २३००० से ऊपर पहुँच गयी। छब्बीस अङ्गरेज अफसर जान से मारे गये और लगभग सत्तर जख्मी हुए। पैदल सेनाओं का बुरा हाल हुआ। निरपक्ष इतिहास-कारों ने इस युद्ध में सिखों की बहादुरी का वर्णन किया है।

इतना सब होने पर भी पंजाब का भाग्य अन्धकार में था। इस-लिए अपने ही बहादुर सरदारों के साथ शेरसिंह का मतभेद हुआ। यह मतभेद ईर्षा और द्वेष के रूप में यहाँ तक बढ़ा कि वे आपस में ही एक दूसरे के नाश करने के लिए तैयार हो गये।

अङ्गरेजों को अवसर मिला। आपस की फूट और मतभेद के बढ़ जाने पर अङ्गरेजों ने विरोधी सरदारों को मिला कर अपने साथ कर लिया। इसके बाद दोनों ओर से गुजरात नामक स्थान पर फिर युद्ध

हुआ। सिख सेनाओं की पराजय हुई और यह पराजय पंजाब की पराधीनता का कारण बन गयी।

हिन्दुओं और सिखों ने जो संगठन किया था, आपस की फूट और बढ़ते हुए द्वेष ने उसका नाश कर दिया। सिख-सेनाओं के बहुत-से सैनिक युद्ध में मारे गये। उसके बाद पंजाब इस योग्य न रह गया, जो वह अङ्गरेजी सेनाओं के मुकाबिले में ठहर सकता।

अभी तक मुलतान में दीवान मूलराज अङ्गरेजों का मुकाबिला कर रहा था। उसने और उसके सैनिकों ने लगभग नौ महीने तक बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया। लेकिन शेरसिंह की पराजय के समाचार ने मूलराज के साहस तोड़ दिया। वह घबरा उठा और धैर्य छोड़ उसने अपने आपको अङ्गरेजों के हवाले कर दिया।

पंजाब का युद्ध समाप्त हुआ। सिख-हुकूमत का सदा के लिए अन्त हो गया। अङ्गरेजों की ओर से बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनायी गयीं और पंजाब का राज्य उसके बाद, अङ्गरेजी हुकुमत में मिला लिया गया।

चालीसवाँ परिच्छेद

बरमा पर दूसरा आक्रमण

जबरदस्त की लाठी

बरमा के साथ, अंगरेज सरकार का जो पहला युद्ध हुआ था, उसका विवरण पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है। इन लड़ाइयों का उल्लेख लेखकों ने युद्ध के नाम से किया है। लेकिन मेरी समझ में इन लड़ाइयों को किसी भी प्रकार युद्ध नहीं कहा जा सकता। ये लड़ाइयाँ स्पष्ट रूप से आक्रमण के रूप मे ही सामने आती हैं। आक्रमण की जो कुछ परिभाषा हो सकती है, उसके पूरे विवरण, हमें इन युद्धों में मिलते हैं, बरमा के साथ अंगरेजों का दूसरा युद्ध तो बिना किसी विवाद के, बरमा पर अंगरेजों का आक्रमण था, जो बिना किसी कारण के, बिना किसी विरुद्ध परिस्थिति के छल और दगाबाजी के साथ बरमी लोगों पर किया गया; जिसके फल स्वरूप बहुत बड़ी संख्या में निरपराध स्त्री, पुरुषों और बच्चों का खून हुआ। इसका समर्थन विद्वान काबडेन ने स्वयं अपने लेखो मे किया है।

इस प्रकार के झगड़े और बलात्कार, साधारण समाज में गुण्डों के झगड़ों के नाम से पुकारे जाते हैं। बरमा का दूसरा युद्ध, जिसका उल्लेख हमने आक्रमण के नाम से किया है, अत्यन्त हास्यजनक, आश्चर्य के रूप में और विध्वंसक नीति के साथ, प्रारम्भ होता है।

अंगरेजों का एक जहाज 'मानर्क' नामक मोलमई से रवाना हुआ और जून सन् १८५१ में वह रंगून पहुँचा। शैपर्ड नामक अंगरेज उस जहाज का कप्तान था। रंगून बरमा के राज्य में था।

उस कप्तान के नाम बरमा की अदालत में दो मुकदमें चलाये गये। एक मुकदमा हाजिम नाम के एक आदमी का था। उसमें उसने कहा कि कप्तान शेपर्ड ने मेरे भाई यूसुफ को समुद्र में फेंक दिया है। दूसरा मुकदमा यूसुफ के दूसरे भाई दीवानअली ने दायर

किया कि कप्तान शेपर्ड ने यूसुफ को समुद्र में फेंकने के पहले, उसके पास के पाँच सौ रुपये छीन लिए।

इन दोनों मुकदमों में अदालत ने शेपर्ड को अपराधी ठहराया और १०१ पाउण्ड अर्थात एक हजार रुपये जुर्माने में लेकर कप्तान को छोड़ दिया।

इस प्रकार का एक दूसरा मुकदमा, दूसरे जहाज के कप्तान लुई के खिलाफ बंगाली कुलियों ने प्राण-हत्या का चलाया। उसमें भी ५० पाउण्ड जुर्माना लेकर, अदालत ने लुई को छोड़ दिया।

उन दिनों में बरमा एक स्वतन्त्र राज्य था। इन मुकदमों के सम्बन्ध में अंगरेज सरकार महाराज बरमा से पत्र-व्यवहार कर सकती थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। लार्ड डलहौजी भारत का गवर्नर-जनरल था। उसने बरमा की अदालत के फैसले पर निश्चय किया कि बरमा-सरकार से दोनों कप्तानों को हरजाने के रूप में ९१० पाउण्ड दिलाये जाँय। इस रकम को वसूल करने के लिये अंगरेजों के दो लड़ाकू जहाज कमाण्डर लैम्बर्ट के नेतृत्व में रंगून भेजे गये।

कमाण्डर लैम्बर्ट को महाराज बरमा के नाम एक पत्र दिया गया। इसलिए कि वह रकम रंगून के शासक से यदि न वसूल हो तो दिया हुआ पत्र महाराज बरमा को दे दिया जाय। कमाण्डर लैम्बर्ट दोनों लड़ाकू जहाजों को लेकर नवम्बर सन् १८५१ में रंगून पहुँचा। वहाँ पर बहुत से अङ्गरेज व्यापारी रहते थे। उनकी गढ़ी हुई और कही हुई बहुत-सी शिकायतों को उस कमाण्डर ने अपनी एक डायरी में लिखा। २७ नवम्बर को बरमा के गवर्नर के पास उसने एक पत्र भेजा और दूसरे दिन महाराजा के नाम का पत्र रंगून के गवर्नर की मारफत रवाना कर दिया।

कमाण्डर ने अंगरेज व्यापारियों के कहने के अनुसार सभी शिकायतें गवर्नर को लिखीं। उन शिकायतों का कोई क्रम न था। शिकायत करने वालों के हस्ताक्षर भी न थे और न किसी तारीख एवम् समय का कुछ उल्लेख था। प्रसिद्ध विद्वान काबडेन ने इन शिकायतों का उपहास किया हैं। लार्ड एलेनब्रू ने भी ६ फरवरी सन् १८५२ को इङ्गलैण्ड की पार्लामेंण्ट के सामने स्वीकार किया कि ये शिकायतें विश्वास के योग्य नहीं हैं। फिर भी अंगरेज सरकार ने उनको महत्व दिया।

निश्चित समय के भीतर बरमा के महाराज का उत्तर कमाण्डर लैम्बर्ट के पास आ गया। महाराज बरमा महात्मा बुद्ध के अनुयायी थे। उन्होंने झगड़ा बढ़ाना उचित न समझा। हरजाना अदा करने का उन्होंने वादा किया। शिकायतों के कारण रंगून का गवर्नर बदल दिया गया। महाराज बरमा के पत्र की इन बातों का उल्लेख लैम्बर्ट ने अपने उस पत्र में किया जो उसने अंगरेज सरकार के पास रंगून से भेजा था।

युद्ध या गुन्डापन

रंगून में पहुँचकर कमाण्डर लैम्बर्ट को हरजाने की रकम ही वसूल न करनी थी, बल्कि उसे लार्ड डलहौजी की हिदायतों के बमूजिब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी थी, जिससे बरमा पर अंगरेज सरकार की ओर से आक्रमण हो सके। इसलिए लैम्बर्ट अब इस कोशिश में रहने लगा कि रंगून के नये गवर्नर के साथ झगड़ा कैसे पैदा हो।

एक दिन कमाण्डर लैम्बर्ट ने पाँच अंगरेजों का एक डेपुटेशन रंगून के गवर्नर के पास भेजा। उस डेपुटेशन को गवर्नर से मुलाकात करने में इंतजारी करते हुए पन्द्रह मिनट खराब करने पड़े। लैम्बर्ट ने रंगून के गवर्नर का इतना ही अपराध काफी समझा और उसने झगड़ा करने का निश्चय कर लिया।

रंगून में जो अंगरेज परिवार रहते थे, उनको शहर से निकाल कर अंगरेजी जहाजों पर बुला लिया गया। उसी बन्दरगाह पर बरमा का एक जहाज ठहरा हुआ था। लैम्बर्ट ने उसको अपने कब्जे में ले लिया और रंगून में युद्ध की घोषणा कर दी।

रंगून के निवासियों ने लैम्बर्ट से प्रार्थना की कि बरमा का जहाज छोड़ दिया जाय और जो कुछ शिकायतें हों, उनको शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझा लिया जाय। लैम्बर्ट ने इस प्रार्थना को नामन्जूर कर दिया।

बरमा का जो जहाज पकड़ा गया था, उसको लैम्बर्ट ने उस बन्दरगाह से हटाना चाहा। बरमी नौकरों ने ऐसा करने से अंगरेजों को रोका। लेकिन अंगरेजों के न मानने पर और जहाज को ले जाने की कोशिश करने पर बरमी जहाज के संरक्षकों ने गोलियाँ चलायीं।

उनका जवाब देते हुए अंगरेजी जहाज के ऊपर से रंगून पर गोले बरसाये जाने लने। इससे रंगून के निरपराध स्त्री और पुरुष मारे गये।

इस झगड़े का समाचार लार्ड डलहौजी को मिला। उसने तुरन्त बरमा पर आक्रमण करने के लिए अंगरेजों की एक बड़ी सेना रवाना की। बरमा के महाराज ने चाहा कि यह झगड़ा बढ़े नहीं और किसी भी रूप में शान्त हो जाय। उसने एक पत्र नम्रतापूर्ण डलहौजी के पास भेजा। लेकिन अंगरेजी सेना रवाना हो चुकी थी। उसने रंगून के किनारे पर पहुँचकर गोले बरसाने आरम्भ कर दिये।

बरमी लोगों का सर्वनाश

बरमा के महाराज धार्मिक विचारों के आदमी थे। वे युद्ध न चाहते थे। बिना किसी कारण के अंगरेजों ने जो रंगून पर आक्रमण किया, उसके लिए वे तैयार भी न थे। बरमा की इस दशा मे अंगरेजी सेना ने जिस प्रकार गोले बारी की, उससे वहाँ के बरमी लोगों का सर्वनाश हुआ। अंगरेजों की गोली और गोलों से बरमी स्त्री, पुरुष और बच्चे कीड़ों और पतिंगों की तरह मारे गये। रंगून में जाकर अंगरेजी-सेना के सिपहियों ने भायानक लूट-मार की। अब भी बरमा के महाराज युद्ध न करना चाहते थे। वे किसी प्रकार अंगरेजी सरकार के साथ समझौता करने के पक्ष में थे।

आक्रमण का अन्त

बरमा महाराज के युद्ध न करने पर भी अंगरेजी सेना ने जिस प्रकार रंगून का सत्यानाश किया, उसका उल्लेख सभी विदेशी इतिहासकारों ने सहानुभूति के शब्दों मे किया है। लूट और मार से पेट भर जाने के बाद अंगरेजी सेना का आक्रमण रुका। अन्त मे दोनों ओर से समझौता हुआ। बरमा राज्य से पेगू का इलाका अंगरेजों ने लेकर अपने राज्य में मिला लिया।

प्राचीन काल से पेगू अपने धन और स्वर्ण के लिए प्रसिद्ध रहा था। वहाँ पर सोने और चाँदी की खानें थीं, बरमा साम्राज्य में यही इलाका अधिक सम्पन्न था।

———

इकतालीसवाँ परिच्छेद

अंगरेजों की अपहरण नीति

बिना युद्ध के कब्जा करने का नया अस्त्र

किसी भी मनुष्य की सम्पत्ति का अधिकारी उसका लड़का या निकटवर्ती सम्बन्धी होता है, समाज का यह एक साधारण नियम है। लड़के के अभाव में रियासत के स्वामी स्त्री या पुरुष को भारतीय व्यवस्था के अनुसार, यह अधिकार होता है कि वह नजदीकी रिश्तेदारों में से किसी को गोद ले सके।

अंगरेज-सरकार ने इस व्यवस्था को मिटा कर एक नयी नीति का आविष्कार किया। अभी तक भारतीय रियासतों पर छल, प्रपंच, कूटनीति, संघर्ष और युद्ध के द्वारा अधिकार किये गये थे। लार्ड डलहौजी के शासन-काल में अब इनकी भी जरूरत न रही। बिना रक्तपात और युद्ध के किसी भी रियासत पर अधिकार करने के उपायों का विवेचन हुआ और उन रियासतों पर, जिनके शासकों के कोई लड़का न होता, अंगरेज-सरकार का अधिकार मान लिया गया। इतिहासकारों ने अंगरेज-सरकार की इस नीति का उल्लेख अपहरण नीति के नाम से किया है।

सिखों के साथ दूसरा युद्ध और बरमा पर द्वितीय आक्रमण का संघर्ष समाप्त हो चुका था। भारत के कोने-कोने में अपना आधिपत्य स्थापित करने की कोशिश में अंगरेज पूरे तौर पर थे। लार्ड डलहौजी ने इस नवीन नीति के अनुसार, देश की कितनी ही छोटी और बड़ी रियासतों पर कब्जा किया और उन्हें अंगरेजी राज्य में शामिल कर लिया। इस परिच्छेद में इसी प्रकार की रियासतों के अन्त होने के विवरण दिये जायँगे।

इस अपहरण नीति का सूत्रपात तो कुछ पहले ही, सन् १८३४ में

हो चुका था। लेकिन उन दिनों में खुल कर उससे काम न लिया गया था। भारतीय अंगरेजी सरकार को कम्पनी के डाइरेक्टरों की हिदायत मिल चुकी थी। उसमें लिखा था।

"जब कभी किसी के गोद लेने की समस्या उत्पन्न हो तो, अंगरेज सरकार का यह काम होगा कि उस समय ऐसी नीति काम में लायी जाय, जिससे वह समस्या सुलझ न सके। ऐसे मौकों पर गोद लेना नाभंजूर भी किया जा सकता है।"

इस नीति का आश्रय लेकर डलहौजी के शासन के पहले ही रियासत कोलावा, माण्डवी और अम्बाला पर अंगरेजों का कब्जा हो चुका था। खुल कर उसकी घोषणा न हुई थी। भारतीय शक्तियाँ जितनी ही दीन-हीन और दुर्बल होती जाती थीं, अपहरण नीति उतनी ही खुल कर सामने आती-जाती थी, लार्ड डलहौजी के समय उसकी स्पष्ट घोषणा हुई।

रियासत सतारा

अपहरण नीति के अस्त्र का पहला प्रहार लार्ड डलहौजी ने रियासत सतारा पर किया। यहाँ के राजा शिवाजी के वंशज थे। बाजीराव पेशवा के पेशवा राज्य को समाप्त करने में सतारा के राजा ने अंगरेजों की पूरी सहायता की थी। उस पाप के प्रायश्चित्त में सतारा अपहरण नीति का शिकार हुआ।

सतारा की गद्दी पर राजा प्रतापसिंह जब बैठा था, तो वह नाबालिग था। इसलिए राज्य का कार्य चलाने के लिए एक अंगरेज रेजीडेण्ट सतारा भेजा गया था। बालिग होने पर प्रतापसिंह, बुद्धिमान शासक साबित हुआ। अंगरेज ऐसा न चाहते थे। मूर्ख और अयोग्य भारतीय शासकों की अंगरेज इज्जत करते थे। अंगरेजी सरकार की यह नीति प्रारम्भ से ही ऐसी रही थी।

राजा प्रताप पर अपराध लगाये गये। एक षड्यन्त्र की रचना हुई। राजा प्रताप को कैद करके बनारस भेजा गया और उसके भाई को गद्दी पर बिठाया गया। लगभग सन् १८४८ के प्रतापसिंह की मृत्यु हो गई। उन्हीं दिनों में सतारा की गद्दी पर बैठे हुए, प्रतापसिंह के भाई की मृत्यु का समाचार भी लोगों को मिला।

उन दोनों के कोई सन्तान न थी। लेकिन दोनों की ओर से दो लड़के गोद लिए जा चुके थे। उन दोनों लड़कों में से किसी को गद्दी पर बैठने का अधिकार था। लेकिन लार्ड डलहौजी ने गोद लेने की पुरानी प्रथा को नाजायज करार देकर सतारा की रियासत पर कब्जा किया और उसे अंगरेजी राज्य में मिला लिया।

नागपुर का अन्त

नागपुर के राजाओं में राघोजी भोंसले आखिरी राजा था। यह समझदार था। प्रजा के हित के लिए अपने शासन-काल में उसने कितने ही काम किये थे। इतिहासकारों ने उसके राज्य के प्रबन्ध की प्रशंसा की है।

राघोजी भोंसले की अच्छाइयाँ अंगरेजी-सरकार को काँटे की तरह चुभ रही थीं। साधारण तरीके से उसको बिगाड़ने के लिए अंगरेजों की ओर से चालें चली गईं। परन्तु उनका कुछ अच्छा फल न निकला। इस दशा में अङ्गरेजों ने उसको बदनाम करने की कोशिशें कीं।

राघोजी भोंसले की मृत्यु ११ दिसम्बर सन् १८५३ को हो गयी। उसके कोई लड़का न था। दरबार की सम्मति से विधवा महारानी ने एक लड़के को गोद लिया। उसका नाम था, यशवन्त राव।

नागपुर की गद्दी पर यशवन्त राव बैठने को था। लेकिन अंगरेजी राज्य की ओर से अड़ंगे लगाये गये। साफ-साफ कहा गया कि "गोद लेने की प्रथा को अंगरेजी सरकार मानने के लिए तैयार नहीं है।" इस परिस्थिति में लार्ड डलहौजी ने २८ जनवरी सन् १८५४ को एक घोषणा प्रकाशित की और नागपुर का राज्य कम्पनी के शासन में ले लिया गया।

इस अपहरण के सम्बन्ध में नागपुर की रानी से अंगरेज अधिकारियों ने कोई भी बात करने की जरूरत नहीं समझी। कूटनीति की सीमा का पार तो यहाँ तक किया गया कि जो घोषणा की गयी, उसमें बताया गया कि "रानी स्वयं गोद लिए गये लड़के को राजगद्दी देना नहीं चाहती।" इतिहास के लेखकों ने इस नीति की खिल्ली उड़ाई है और अंगरेजी चालों की अलोचना की है।

नागपुर में इतना ही नहीं हुआ। स्वर्गीय राघोजी भोंसले के महलों में जाकर वहाँ की सम्पूर्ण सम्पति अंगरेजों ने अपने कब्जे में कर ली। जेवर, जवाहरात और कीमती वस्तुएँ भी अंगरेजों के हाथों में चली गयीं।

झाँसी की पराधीनता

राजा रामचन्द्रराव के शासन-काल में, अंगरेजी-सरकार ने झाँसी के साथ एक सन्धि की थी। उसमें स्पष्ट लिखा गया था कि झाँसी की रियासत, राजा के उत्तराधिकारियों के हाथों में ही सदा रहेगी। कम्पनी कभी उसमें दखल न देगी। यह सन्धि सन् १८१७ में की गयी थी।

झाँसी के अन्तिम राजा गंगाधर राव की मृत्यु २१ नवम्बर सन् १८५३ को हुई। कोई सन्तान न होने के कारण, राजा ने दामोदर राव नामक लड़के को, मरने के पहले ही गोद ले लिया था। दामोदर राव, राजा का बहुत नजदीकी लड़का था। इसके सम्बन्ध में मेजर ईवन्स बेल ने लिखा है:

"शास्त्रों और धर्मग्रन्थों में दी गयी व्यवस्था के अनुसार ही, गंगाधर राव ने दामोदर राव को गोद लिया था। उस संस्कार के समय अंगरेज अधिकारी उपस्थित थे। गोद लिए जाने की सूचना रियासत की ओर से अंगरेज सरकार को भी दी गयी थी।"

राजा गंगाधर राव के मर जाने पर दत्तक पुत्र को राजगद्दी पर बिठाने का समय आया। लेकिन लार्ड डलहौजी की ओर से विरोध किया गया और निर्णय किया गया कि दत्तक पुत्र को गद्दी देने का कोई नियम नहीं है।

इस घोषणा के बाद ही १३ मार्च सन् १८५४ को रियासत झाँसी, अंगरेजी राज्य में मिला ली गयी।

सम्बलपुर का खात्मा

अंगरेजों की अपहरण नीति तो चल ही रही थी और कई रियासतें उसके अनुसार अंगरेजी हुकूमत में मिला ली गयी थीं, इस नीति का कहीं पर भी विरोध न हुआ। विरोध करे भी कौन?

बिहार और उड़ीसा में सम्बलपुर नाम की एक रियासत थी। उस रियासत में भी इसी प्रकार की समस्या पैदा हुई। अपहरण नीति की आलोचना करते हुए विदेशी इतिहासकारों ने लिखा है कि जिन दिनों में अंगरेजों की भारत में अपहरण नीति चल रही थी, उन दिनों में संतानहीन राजाओं की मृत्यु अधिक होती थी। इस व्यंग का स्पष्ट कुछ अर्थ होता है।

सम्बलपुर एक छोटी-सी और साधारण रियासत थी। राजा के न रहने पर और राजा के कोई पुत्र न होने के कारण अपहरण नीति के अनुसार, सम्बलपुर को अंगरेजी राज्य में सन् १८४९ में मिला लिया गया।

जेतपुर और तञ्जोर के अन्तिम दिन

रियासत जेतपुर और तञ्जोर का भी यही हाल हुआ। दोनों ही साधारण रियासतें थीं। परन्तु उनके बिना भी अंगरेजी राज्य की पूर्ति न होती थी। इसीलिए अपहरण नीति के अस्त्र का उपयोग किया गया।

बुन्देलखण्ड में जेतपुर की रियासत थी। राजा संतानहीन था। उसकी मृत्यु हुई। अंगरेज तो सोच ही बैठे थे। सन् १८४९ मे अंगरेजों ने जेतपुर में कब्जा किया।

रियासत तञ्जोर की भी यही दशा हुई। उस रियासत के नाम पर दूसरे तरीकों से जो इलाकें बाकी रह गये थे, सन् १८५५ में अंगरेजी शासन में मिला लिए गये।

तञ्जोर की विधवा रानी ने अंगरेजों के इस अधिकार को अनुचित समझा। उसे अंगरेजों की नीति का पता न था। इसलिए उसने मद्रास की सरकार के खिलाफ वहाँ की सुप्रीम कोर्ट में उसने मामला दायर किया और प्रार्थना की कि रियासत तञ्जोर मेरे पति की व्यक्तिगत सम्पत्ति है। इसलिए वह मुझे दिलायी जाय।

संयोग से मद्रास की सुप्रीम कोर्ट ने रानी के पक्ष में फैसला दिया। लेकिन मद्रास-सरकार ने इङ्गलैण्ड की प्रीवी कौंसिल में उसकी अपील की। वहाँ के जजों ने मद्रास-सरकार का पक्ष लिया। रानी की प्रार्थना

को नामन्जूर किया और लिखा कि इस प्रकार के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का सुप्रीम कोर्ट को कोई अधिकार नहीं है।

करनाटक का विनाश

देश के राजाओं, नरेशों और नवाबों के विरुद्ध अंजरेज-सरकार ने जब-जब युद्ध किये थे; तो एक को मिला कर, दूसरे का अन्त कर देने की नीति का पालन किया गया था। अंगरेजों की इन चालों में समय-समय पर सभी नरेश और नवाब शिकार हो चुके थे। कुछ रियासतों और राज्यों ने धन और जन से खुल कर इस विश्वास पर अङ्गरेजों की सहायता की थी कि ऐसा करने से उनके अस्तित्व को कभी धक्का न लगेगा। परन्तु अंगरेजों ने उनको भी मिटाने में जिस भयानक और घृणित नीति से काम लिया। उनके विवरण इस पुस्तक में भली प्रकार दिये जा चुके हैं।

देश के विश्वासघाती राजाओं और नवाबों में करनाटक के नवाब मोहम्मद अली ने भी अंगरेजी सरकार की सहायता करके देश के विरुद्ध कम अपराध न किया था। देशद्रोह और विश्वासघात करके करनाटक की रियासत के सुरक्षित रहने का उसने अपने जीवन-भर स्वप्न देखा था।

नवाब मोहम्मद गौस की मृत्यु सन् १८५५ में हुई। करनाटक का यह आखिरी नवाब था। उसके बाद उस रियासत का उत्तराधिकारी अजीम शाह होता था। लेकिन अंगरेज सरकार ने उसके अधिकार को स्वीकार न किया। नतीजा यह हुआ कि नवाब गौस के बाद करनाटक की पूरी रियासत पर अङ्गरेजों ने कब्जा कर लिया।

बरार पर कब्जा

भारत में जहाँ देशद्रोह करके एक बड़ी संख्या में लोगों ने देशी नरेशों को शिकस्त देने में अंगरेजों का साथ दिया था, वहाँ विश्वासघाती नवाबों और राजाओं ने भी अंगरेजों की सहायता करके मुल्क का कम अहित न किया था। इस प्रकार की रियासतों में हैदराबाद के निजाम का नाम भी अधिक कलंकित था।

बरार का इलाका नागपुर में भोंसले नरेशों के अधिकार में था। मराठा युद्ध में उनसे लेकर अंगरेजों ने अपने मददगार और देश के विश्वासघाती निजाम को देकर खुश किया था। जाहिरा तौर पर अंगरेजों ने निजाम के साथ यह उपकार किया। लेकिन बरार में उनकी नीति ऐसे ढंग से काम करने लगी कि वहाँ की हिन्दू-प्रजा निजाम के प्रति विद्रोह करने पर बराबर उतारू रही। हिन्दुओं और मुसलमानों के साम्प्रदायिक और मजहबी झगड़े जो निजाम में कहीं न होते थे, वे बरार में रोजाना पैदा होते।

निजाम-सरकार के सामने प्रश्न था, बरार के उत्पातों के शांत करने का। निजाम रियासत में सबसीडियरी सेना थी। वह निजाम की जरूरतों के लिए ही रखी गयी थी और जिसका खर्च निजाम के खजाने से ही दिया जाता था। लेकिन निजाम-सरकार के चाहने पर भी वहाँ के अंगरेज रेजीडेण्ट ने सबसीडियरी सेना बरार भेजने के लिए कभी न दी।

बरार के इलाकों में बराबर उत्पात बढ़ते जा रहे थे। उनका दमन करने के लिए अंगरेजों की ओर से निजाम-सरकार पर दबाव डाला गया। लेकिन निजाम-सरकार करती क्या। रियासती सेना को बरखास्त करके अंगरेजों की सबसीडियरी सेना रखी गयी थी।

इस दशा में निजाम से कहा गया कि बरार के उत्पातों का दमन करने के लिए रियासत एक नयी सेना बरार में रखे और वह सेना भी सबसीडियरी सेना होगी। विवश होकर निजाम को ऐसा करना पड़ा। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उसका खर्च भी निजाम को ही अपने खजाने से देना मन्जूर करना पड़ा।

निजाम पर सैनिक खर्च का बोझ इतना अधिक बढ़ गया कि वह उसे पूरा करने में अपने आपको असमर्थ पाने लगा। निजाम की आर्थिक सहायता करने के लिए हैदराबाद में अंगरेजों की ओर से कुछ कम्पनियाँ खोली गयी और उनकी ओर से निजाम को बराबर कर्ज दिये जाने लगे। यहाँ पर यह समझ लेने की जरूरत है कि ये कम्पनियाँ इंगलैण्ड से रुपये लाकर निजाम को न देती थीं। बल्कि

निजाम-सरकार से ही जो रुपये उचित और अनुचित तरीकों से वसूल किये गये और अब भी किये जाते थे, उन्हीं को कर्ज में देकर निजाम को ऋणी बनाया जाता था।

हैदराबाद की अंगरेजी कम्पनियों ने जो रुपये निजाम को कर्ज में दिये, उनके बदले में निजाम सरकार को बरार का पट्टा लिख देना पड़ा। उस समय यह कहा गया था कि निजाम को यह वापस दे दिया जायगा। लेकिन निजाम-सरकार को फिर बरार कभी वापस न मिला और उसे अंगरेजी हुकूमत में सदा के लिए मिला लिया गया। निजाम की सरकार इसके लिए अंगरेज सरकार से भला क्या कह सकती थी। जबरदस्त की लाठी सिर पर!

अवध का विध्वंस

भारत में अंगरेजी शासन कायम होने के पहले अवध मुगल साम्राज्य का एक हिस्सा था। देश मे अंगरेजी शासन जितना ही बढ़ने लगा, मुगल-साम्राज्य उतना ही कमजोर होने लगा और उसका फल यह भी हुआ कि अवध का सम्बन्ध मुगल-साम्राज्य से छिन्न-भिन्न होने लगा। आरम्भ में अंगरेजों ने अवध के नवाब वजीरों के साथ मित्रता पैदा की। मुगल-शासन के साथ उनके सम्बन्ध को निर्बल बनाने में वे सहायक सिद्ध हुए। दोनों एक, दूसरे के दुख-सुख के साथी बने और धीरे-धीरे अवध-राज्य में सहायक का रूप धारण करके अङ्गरेजी-सेना रहने लगी। उस अङ्गरेजी सेना के खर्च में अवध राज्य के खजाने से वर्ष में सोलह लाख रुपये जाने लगे।

अवध में अङ्गरेजी सेना सबसीडियरी सेना के रूप में रहने लगी और उसके खर्च बराबर बढ़ने लगे। इस खर्च में ही अवध राज्य के वार्षिक दो करोड़ रुपये मुनाफे के इलाके अङ्गरेजों के हाथों में चले गये।

अवध का राज्य बहुत सम्पत्तिशाली राज्य था। यही देखकर अंगरेजों ने उसका पल्ला पकड़ा था। भारत में अंगरेजों को जितनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, लगभग सभी में रुपये की जरूरत अवध के

नवाब से पूरी की गयी। अंगरेजों की नजरों में अवध का राज्य रुपये का कुँआ था। उस कुए से जब वे चाहते थे, पानी की तरह रुपये निकाल लेते थे। गनर्नर-जनरल से लेकर, अंगरेज अफसरों और साधारण अंगरेजों तक—सभी की आर्थिक पूर्ति के लिए अवध का राज्य ही एक सुगम स्थान था। यह सब अवध के नवाब को अंगरेजों की मित्रता की कीमत में करना पड़ता था। उचित और अनुचित —किसी भी तरीके से अंगरेजों ने जिन रियासतों और राज्यों से अधिक रुपये वसूल किये, उनमें सब से अधिक अवध का राज्य था और दूसरा करनाटक !

अंगरेजों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति अवध के नवाब करते थे और नवाब को अपनी अवश्यकतायें राज्य की प्रजा से पूरी करनी पड़ती थीं। फिर भी सम्पत्तिशाली राज्य अवध धीरे-धीरे गरीब होने लगा।

अवध-राज्य मे जो अंगरेजी रेजीडेण्ट रहता था, उसके व्यवहार नवाब के ऊपर धीरे-धीरे कठोर होते जाते थे। लेकिन नवाब के सामने कुछ मजबूरियाँ पैदा हो गयी थीं। अंगरेजों ने अवध के नवाबों को भली प्रकार समझा था। मित्रता और शासन-दोनों के नाम पर अंगरेजों के अवध-राज्य से बहुत लाभ उठाये।

आरम्भ से ही अवध के नवाबों का जैसा व्यवहार अंगरेज सरकार के साथ रहा और उसके बाद भी अंगरेज ने जिस नीति का उनके साथ प्रयोग किया, उसकी अलोचना करते हुए सर हेनरी लारेन्स ने लिखा है :

"अंगरेजी-राज्य के भारतीय इतिहास में अवध का परिच्छेद अत्यन्त कलंकित है।×××प्रत्येक स्थान पर अंगरेजों का अनुचित हस्तक्षेप दिखायी देता है।×××यदि किसी शासन को छिन्न-भिन्न और बरबाद करना है तो उसका एक ही उपाय है कि नरेश देशी हो, मन्त्री देशी हों, किन्तु राज्य का कार्य विदेशी सङ्गीनों के बल पर चलता हो और उन विदेशी सङ्गीनों तथा अस्त्रों का संचालन किसी विदेशी रेजीडेण्ट के हाथ में हो !"

भारतीय नरेशों में जिस किसी के साथ भी अंगरेजों की मित्रता

कायम हुई, आगे चलकर वह मित्रता, उस नरेश के माथे पर अंगरेजो की पराधीतना के रूप में ही दिखायी पड़ी। अङ्गरेजों की खुशामद अवध के नवाबों के साथ उस समय तक रही, जब तक नवाबों का सम्बन्ध मुगल साम्राज्य क साथ बना रहा। वह सम्बन्ध जितना ही टूटता गया, अङ्गरेजों का व्यवहार, उतना ही बदलता गया, अन्त में वह दिन सामने आया, जब अङ्गरेजी-सरकार को अवध के शासन मे केवल बुराइयाँ दिखायी देने लगीं।

नवाब वाजिदअली शाह सन् १८४७ म अवध का शासक हुआ। युवक वाजिदअली स्वभावतः बुद्धिमान और राज्य के कार्य में चतुर था। अङ्गरेजों की चालों को वह भलीभाँति समझता था।

वाजिदअली ने राज्य की असंगठित सेना के सुधार के अनेक कार्य किये। वह अनुशासन का बहुत पक्षपाती था। फौजी कवायद के लिए उसने कितने ही कठोर नियम बनाये और उन नियमों का वह स्वयं पालन करता था।

अपनी दूषित नीति के कारण अङ्गरेजों को वाजिदअली की खूबियाँ बुरी मालूम होने लगीं। अङ्गरेज-सरकार तो उससे कुछ कुछ दूसरी ही आशा करती थी। वाजिदअली अङ्गरेजों की चालों से बहुत सावधान रहने की कोशिश करता। यह देखकर अङ्गरेजों ने उसे बदनाम करने की कोशिश की। कम्पनी की ओर से उन लोगों को रुपये दिये जाने लगे, जो वाजिदअली को ऐय्याश और चरित्रहीन मशहूर करते। वाजिदअली की चरित्रहीनता और ऐय्याशी की जितनी बातें सर्वसाधारण में आज तक फैली हुई हैं, वे सब झूठी हैं और अङ्गरेजों की शरारत से फैलाई गयी हैं।

अङ्गरेजों ने इतना ही नहीं किया। वाजिदअली को साफ-साफ कहा जाने लगा कि वह राज्य के कार्य में अयोग्य है। यह भी कहा जाने लगा कि अवध की प्रजा के सुखदुख का उत्तरदायित्व अङ्गरेजी सरकार के ऊपर है। यदि नवाब अच्छा प्रबन्ध नहीं कर सकता तो अंगरेजी सरकार को अवध का शासन अपने हाथ में लेना पड़ेगा। अवध के साथ अङ्गरेजी सरकार की अब तक जितनी भी सन्धियाँ हुई थीं, सभी को मिट्टी में मिलाया जा रहा था।

लार्ड डलहौजी की हिदायत रेजीडेण्ट ऊटरम को मिल गयी। वह एक कागज लेकर वाजिदअली शाह से एक दिन भेंट करने के लिए गया और उस कागज पर वाजिदअली से हस्ताक्षर करने के लिए कहा, जिसमें लिखा था कि मैं अपना अवध का राज्य प्रसन्नता पूर्वक कम्पनी को देता हूँ। उस कागज को पढ़ कर वाजिदअली ने हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। रेजीडेण्ट ने अनेक प्रकार की कोशिशें की, लेकिन उसको सफलता न मिली।

कई दिन बीत गये। एक दिन रेजीडेण्ट ऊटरम अङ्गरेजी सबसीडयरी सेना को लेकर वाजिदअली के महल में पहुँचा। समस्त सन्धियां समाप्त हो गयीं। वाजिदअली को गिरफ्तार करके कलकत्ते भेज दिया गया। महल लूटा गया और अवध का राज्य अंगरेजी शासन में मिला लिया गया।

अङ्गरेजी-राज्य में देश की जो रियासतें शामिल की गयीं, अवध का राज्य उनमें आखिरी राज्य था!

———

बयालीसवाँ परिच्छेद

सन् १८५७ की महान क्रान्ति

स्वाधीनता का पहला युद्ध

भारत में लार्ड उलहौजी का शासन समाप्त हुआ और मार्च सन् १८५६ में लार्ड केनिंग इस देश में गवर्नर-जनरल होकर आया। उसी के शासन-काल में उस महान् विप्लव का जन्म हुआ जिसने भारत में अङ्गरेजी राज्य की सत्ता के पाये एक बार हिला दिये। यदि देशी नरेशों और विशेषकर सिख और गोरखा पलटनों ने अङ्गरेजों का साथ न दिया होता तो भारत से अंगरेजी राज्य का अन्त हो जाता।

लार्ड डलहौजी के शासन-काल तक अंगरेजों का भारतीय साम्राज्य मजबूत हो चुका था। अपहरण नीति के द्वारा कितनी ही रियासतों और राज्यों को कम्पनी के राज्य में मिलाकर उलहौजी ने अंगरेजी साम्राज्य के लिए अपना काम किया और इंगलैण्ड का रास्ता पकड़ा। उसे क्या मालूम था कि उसके इंगलैण्ड पहुँचते-पहुँचते भारत में विप्लव की वह आग जलेगी जो कुछ दिनों के लिए अङ्गरेजों को सुख से देश में शासन न करने देगी!

जिस दिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंगरेजों ने भारत की भूमि पर पदार्पण किया था, उस दिन से लेकर इस क्रान्ति के पहले तक, अंगरेजी राज्य की सत्ता को मजबूत बनाने में अंगरेजों को जितने भी युद्ध करने पड़े थे, वे सब एक ओर थे और १८५७ का विप्लव दूसरी ओर। उन समस्त संग्रामों मे अङ्गरेजी जाति का उतना संहार और सर्वनाश न हुआ था जितना इस विप्लव में।

इस क्रान्ति के पहले ही भारतीय शक्तियाँ नष्ट हो चुकी थीं। देशी राजाओं और नरेशों के अस्तित्व मिटाये जा चुके थे। छोटी-छोटी रियासतों को बिना लड़ाई के ही कम्पनी के राज्य में मिलाया जा चुका था। भारत में अङ्गरेजों का शासन इतना सुदृढ़ हो चुका था

और देश की राज्य-शक्तियों का इतना अधिक क्षय हो चुका था कि अब युद्ध की सम्भावना न रह गयी थी। लेकिन जिस काम को देश की हिन्दू-मुस्लिम राज्य-शक्तियाँ न कर सकी थीं, राजाओं और नवाबों के बस का भी जो कार्य न था, उसको पूरा करने के लिए देश के उन लोगों को कदम उठाना पड़ा, जिनके हृदयों में आग जल रही थी और जो अब सहन करने में असमर्थ हो रहे थे। वे कौन थे जिन्होंने इतना प्रचंड विप्लव अङ्गरेजी शासन के विरुद्ध खड़ा किया, उसके सम्पूर्ण विवरण इसी परिच्छेद में दिये जायँगे।

क्रान्ति के कारण

इस स्थान पर सब से पहले एक प्रश्न पैदा होता है कि इस महान् क्रान्ति के कारण क्या थे? भारत में अङ्गरेजी राज्य के दो सौ वर्षों मे सुनते-सुनते हम इस बात के लिए अभ्यासी हो गये थे कि अंगरेजों ने आकर भारत में जीवन का संचार किया है। कहा जाता है कि अंगरेजी राज्य के पहले मुसलमानों की तलवारों से हिन्दुओं के गले काटे जा रहे थे। अंगरेजी शासनकाल में जो कुछ हमने सुना, यही सुना। पुस्तकों के पन्नों में जितना भी पढ़ा यही पढ़ा। इस विषय मे हमे जो कुछ भी बताया गया, वह कहाँ तक सत्य हो सकता है, इसको सहज ही समझा जा सकता है।

यदि यह बात सही है कि भारत में जीवन का संचार अंगरेजों ने किया और मुसलमानों की तलवारों से उन्होंने हिन्दुओं की रक्षा की तो ऐसी अवस्था में प्रश्न यह होता है कि इतने उपकारी शासकों के विरुद्ध, देश की हिन्दू मुस्लिम जनता को विप्लव करने की फिर क्या आवश्यकता पड़ी? जब मुसलमानों की तलवारों से हिन्दुओं के सिर कलम किये जारहे थे, तो फिर देश के हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर और एक संगठित मोर्चे की रचना करके अंगरेजों को मुल्क से निकाल देने के लिये विप्लव का ज्वालामुखी कैसे खड़ा किया? यदि अंगरेजों ने इस प्रकार की झूठी बातों का प्रचार न किया होता तो उनके हक में बहुत अच्छा होता। बहुत-सी सही बातें अतीत के अन्धकार में छिपी पड़ी रहतीं। लेकिन अंगरेजी प्रचार ने स्वयं अतीत के उस अन्धकार में प्रकाश पहुँचाने का काम किया है।

अधिक मतभेद न था। फिर भी था और जिस कारण को लेकर क्रान्ति का जन्म हुआ, उसमें सिखों का साथ न देना कुछ इसी प्रकार का कारण रखता है।

धार्मिक विप्लव राजनीतिक विप्लव का काम नहीं किया करता। देश की इस क्रान्ति में कारण राजनीतिक था लेकिन लोगों की विद्रोही भावनाएँ धार्मिक थीं। इसी त्रुटि के अभाव के साथ, विक्टोरिया की घोषणा पर उसका अन्त हो जाता है। यद्यपि उसके अन्त होने के और भी कारण थे।

अंगरेजी राज्य के प्रति विद्रोह का भाव देश मे जहाँ-जहाँ उभारा गया वहाँ अंगरेजों से एक बार विप्लव के रूप में मोर्चा लेने की प्रतिज्ञाएँ की गईं। देशी सैनिकों में भी विद्रोही भाव उभारे गये। लेकिन दो त्रुटियाँ आरम्भ से ही साथ चलीं। एक तो यह कि विप्लव का अन्तिम उद्देश्य घोषित नहीं हुआ और दूसरे यह कि क्रान्तिकारी शक्तियों का कोई केन्द्र नहीं बनाया गया, जहाँ से क्रान्ति को प्रेरणा मिलती रहती और क्रान्ति निर्बल न होने पाती। क्रान्ति की जो कुछ भी तैयारी हो सकी थी, उसमें ३१ मई सन् १८५७ का दिन सम्पूर्ण देश में विप्लव के लिए निश्चित किया गया।

क्रान्ति का सूत्रपात

क्रान्ति का श्रीगणेश कारतूसों की घटना से होता है। सन् १८५३ में नये किस्म के कारतूस बनाये जाने का कम्पनी ने भारत में प्रबन्ध किया था। इन नये कारतूसों के बनाने के लिए देश में कितने ही कारखाने खोले गये थे। पहले जो कारतूस चलते थे, वे हाथों से तोड़े जाते थे लेकिन नये किस्म के कारतूसों को दाँतों से काटना पड़ता था। आरम्भ में सिपाहियों को इन कारतूसों का रहस्य मालूम न हुआ। इसलिए वे बिना किसी एतराज के इन नये कारतूसों को काम में लाते रहे।

नये कारतूसों के बनाने के लिए बैरकपुर में जो कारखाना खोला गया था, वहाँ से यह अफवाह उड़ी कि इन नये कारतूसों में गाय और सुअर की चरबी पड़ती है। इस खबर के उड़ते ही सिपाहियों में उसकी आलोचना होने लगी। अन्त में पलटनों के अफसरों से पूछा

गया तो उनकी ओर से जवाब मिला कि यह खबर किसी ने झूठी उड़ायी है। कारतूसों के बनाने में गाय, सुअर की चरबी या ऐसी कोई भी चीज नहीं पड़ती जो हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म के विरुद्ध हो।

अफसरों के सन्तोष देने पर भी सिपाहियों को सन्तोष न हुआ। समय पाकर बैरकपुर में उस कारखाने में जहाँ कारतूस तैयार होते थे, पता लगाया गया, उससे मालूम हुआ कि खबर झूठी नहीं है। इससे हिन्दुओं और मुसलमानों—दोनों में असन्तोष बढ़ने लगा और उनमें बराबर बातें होने लगीं कि हम लोगों को क्या करना चाहिए।

कारतूसों में चरबी की खबर एक पलटन से दूसरी पलटन में और दूसरी से तीसरी में पहुँच गयी। सिपाहियों के जो पत्र एक दूसरे के पास आते-जाते, उनमें उन दिनों में कारतूसों की खबर जोरदार होती। पलटनों मे पहले से ही विद्रोहात्मक प्रचार किया गया था। अब तो उसके लिए एक अच्छा अवसर मिल गया। लेकिन सिपाहियों के इस विद्रोह को क्रान्ति के नेताओं ने उसकी निश्चित तारीख ३१ मई तक रोकने की कोशिश की।

सिपाहियों का विद्रोह कारतूसों की इसी चरबी से आरम्भ हुआ। उस चरबी को अंगरेजी फौजी अफसरों ने झूठा बताया। लेकिन सिपाहियों ने उस पर यकीन न किया। पता लगाने पर भी उनको कारखाने के आदमियों ने साफ बताया कि इन नये कारतूसों में गाय और सुअर—दोनों की चरबी पड़ती है। इस दशा में सिपाहियों के असन्तोष और विद्रोह का बढ़ना स्वाभाविक था।

इस चरबी के सम्बन्ध में यहाँ पर बहुत संक्षेप में प्रकाश डालना ही काफी होगा। नये कारतूसों में चरबी का प्रयोग होता था, यह बात सही थी और उसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि विदेशी प्रामाणिक इतिहासकारों ने स्वयं अपने इतिहासों में इस सत्य को स्वीकार किया है। सर जान के ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक—Indian Mutiny में लिखा है :

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि कारतूसों का चिकना मसाला तैयार करने में चरबी का प्रयोग किया जाता था।"

लार्ड राबर्ट्स भारत में उन दिनों मौजूद था जब १८५७ का विप्लव हुआ था, उसने लिखा है :

"भारतीय अंगरेजी सरकार के कागजों को जाँच करने के बाद भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि कारतूसों के तैयार करने में जो चिकना मसाला पड़ता है, उसमें गाय और सुअर की चरबी का प्रयोग किया जाता था।"

इस चरबी के सम्बन्ध मे दूसरे अंगरेज इतिहासकारों ने भी इस सत्य को मंजूर किया है, लेकिन विस्तार के भय से उनके लेखों को यहाँ पर उल्लेख न किया जायगा। अंगरेजी हुकूमत के दिनों मे भारतीय स्कूलों में जो पुस्तकें पढ़ायी जाती थीं, उनमें इस चरबी की बात को बिलकुल असत्य बताया जाता था और जिन सिपाहियों ने उस पर असन्तोष प्रकट किया था, उनको बेवकूफ और पागल बताया गया था। इसके सम्बन्ध मे इतना ही लिखना पूर्ण होगा कि सभी प्रसिद्ध इतिहास-लेखकों ने अपनी पुस्तकों मे चरबी के सत्य को स्वीकार किया है। सर जान के, लार्ड राबर्ट्स, विलियन लैकी और जस्टिस मेकार्थी आदि प्रसिद्ध इतिहासकारों ने मंजूर किया है कि कारतूसों में चरबी का प्रयोग होता था और यह भी लिखा है कि गाय और सुअर की चरबी हिन्दुओं और मुसलमानों—दोनों के धर्म के विरुद्ध थी, जिसकी अवहेलना की गयी थी। इन इतिहासकारों के समर्थन के बाद यह प्रश्न साफ हो जाता है कि चरबी के कारण को लेकर संशय और असन्तोष करने वाले बेवकूफ और पागल थे अथवा वे मूर्ख और पागल थे जिन्होंने सत्य पर परदा डालने की कोशिश की थी।

समय के पूर्व क्रान्ति

क्रान्ति का सूत्रपात बैरकपुर से हुआ। क्रान्ति के सञ्चालकों ने क्रान्ति प्रारम्भ करने के लिए ३१ मई का दिन निश्चित् किया था, लेकिन कारतूसों की घटना ने उसमे बाधा डाली। यह बहुत आवश्यक था कि निश्चित् तारीख पर ही, एक साथ, देश में क्रान्ति का जन्म होता। लेकिन ऐसा न हो सका।

बैरकपुर की छावनी में १९ नम्बर की पलटन को कारतूस प्रयोग करने के लिए दिये गये। पलटन ने उन कारतूसों को प्रयोग करने से इनकार कर दिया। इस पलटन से हथियार रखा लेने के लिए अंगरेजी पलटन बुलायी गयी और २९ मार्च सन् १८५७ को परेड के लिए १९ नम्बर पलटन को हुक्म दिया गया।

परेड के लिए मैदान में पलटन के आते ही उसके एक सिपाही मङ्गल पाण्डेय ने धर्म विरोधी नारा लगाया। इस पर अंगरेज अफसर सारजेण्ट मेजर ह्यूसन ने मंगल को कैद कर लेने की आज्ञा दी। कोई सिपाही उसको कैद करने के लिए आगे न बढ़ा। मङ्गल ने उसी समय उस अङ्गरेज अफसर पर गोली चलायी और वह खतम हो गया। दूसरा अंगरेज अफसर आगे बढ़ा मंगल ने उस पर भी गोली का वार किया। वह जख्मी होकर गिर पड़ा और मंगल के ही दूसरे वार से खतम हो गया। भारतीय सिपाहियों ने आज्ञा पाने पर भी, मंगल को कैद करने से इनकार कर दिया। इसी समय गोरे सिपाहियों के द्वारा कैद किये जाने का समय उपस्थित होते ही मंगल ने स्वयं अपनी छाती पर गोली मार ली और जख्मी हालत मे वह कैद किया गया। मंगल को फाँसी की सजा दी गयी और फाँसी देने का दिन ८ अप्रैल रखा गया। लेकिन बैरकपुर का कोई मेहतर मंगल को फाँसी देने के लिए तैयार न हुआ तो कलकत्ते से आदमियों को बुलाकर मंगल को फाँसी दी गयी।

३१ मई को होने वाली क्रान्ति में पलटनों के सिपाहियों के साथ हिन्दुस्तानी अफसर भी शामिल थे। ३४ नम्बर पलटन के सूबेदार को उसी बीच में इसलिए फाँसी दी गयी कि उसके यहाँ सिपाहियों की विद्रोहात्मक बातें हुआ करती थीं। जो पलटनें क्रान्ति के लिए तैयार थीं वे केवल ३१ मई का इन्तजार कर रही थीं।

मई का महीना आरम्भ हो गया। ६ मई को बात है परेड के समय ९० सवारों को चरबी वाले कारतूस दिये गये। उनमें ८५ सवारों ने कारतूसों को दाँतों से काटने से इनकार कर दिया, वे ८५ सवार तुरन्त कैद कर लिए और उनको दस-दस वर्ष की सजा दी गयी। फिर भी लोग ३१ मई का इंतजार कर रहे थे।

क्रान्ति का पहला युद्ध

३१ मई के आने में अभी कुछ दिन और बाकी थे, एक-एक दिन सिपाहियों का मुश्किल से बीत रहा था। ९ मई का दिन बीत गया। परिस्थितियों के धक्कों से क्रान्ति की लहरें उठ रही थीं। छावनी में विद्रोह की तैयारियाँ थीं, बाहर ग्रामीण लोग अपने-अपने अस्त्रों के साथ एकत्रित हो रहे थे।

विद्रोह का बाँध टूट गया। १० मई की बात थी। विद्रोह की आग मेरठ से प्रज्वलित हुई। जेलखाने की दीवारें गिरायी गयीं। कैदियों की बेड़ियाँ तोड़ी गयीं। मेरठ में रहने वाले अंगरेजों का सर्वनाश आरम्भ हुआ। हिन्दू और मुसलमान, सिपाही और सवार अङ्गरेजों को खतम करने पर टूट पड़े। अंगरेज मारे जाने लगे। उनके बँगले जलने लगे। दफ्तरों और होटलों में मारकाट शुरू हो गयी।

क्रान्ति की जो योजना बनायी गयी थी, उसके अनुसार कार्य आरम्भ हुआ। तार काट दिये गये। रेलवे लाइनों पर बिप्लवकारियों का पहरा लग गया। अङ्गरेज भाग भागकर प्राण बचाने लगे। मेरठ की छावनी में जो देशी सिपाहियों की पलटनें थीं, वे क्रान्तिकारी हो गयीं। वहाँ पर गोरे सिपाहियों की फौज बहुत थोड़ी थी, इसलिए उसके होश गायब हो गये।

क्रान्ति की बढ़ती हुई आग

मेरठ से दो हजार सवार सिपाही अपने हथियारों के साथ दिल्ली के लिए रवाना हुए और वे ११ मई को आठ बजे सवेरे दिल्ली पहुँच गये। वहाँ के फौजी अफसर करनल रिपले ने ५४ नम्बर की भारतीय पलटन को बुलाकर विद्रोहियों का मुकाबिला किया। ५४ नम्बर के सामने आते ही, विद्रोही सिपाहियों ने नारा लगाया:

अङ्गरेजी राज्य की क्षय। सम्राट बहादुर शाह की जय !!

कानों में इस नारे की आवाज आते ही ५४ नम्बर की पलटन ने विद्रोहियों का स्वागत किया और उनके साथ मिलकर नारा लगाया—'अङ्गरेजी राज्य की क्षय ! सम्राट बहादुरशाह की जय।" करनल रिपले घबरा गया। उसने भागने की कोशिश की लेकिन विद्रोहियों ने उसे वहीं खतम कर दिया। दिल्ली की छावनी में जितने अङ्गरेज

अफसर थे, सब के सब मार डाले गये। दिल्ली के किले पर क्रान्तिकारियों ने कब्जा कर लिया।

मेरठ से पैदल सिपाही और उनके साथ तोपखाना भी रवाना हुआ था। तोपखाने के साथ-साथ पैदल सेना भी दिल्ली पहुँच गयी। लाल किले में प्रवेश करते ही क्रान्तिकारियों की ओर से सम्राट बहादुर शाह की सलामी मे २१ तोपें छुटाई गयीं। हिन्दुस्तानी अफसरों ने सम्राट बहादुरशाह के पास जाकर सलाम किया और मेरठ का पूरा हाल सम्राट को सुनाया।

दिल्ली शहर के निवासियों ने क्रान्तिकारियों का स्वागत किया और बड़ी संख्या में नगर निवासी विद्रोहियों के साथ मिल गये। जहाँ पर जो अङ्गरेज मिल जाता, उसे वहीं समाप्त कर दिया जाता। दिल्ली की अंगरेजी बैङ्क पर क्रान्तिकारियों ने कब्जा कर लिया।

दिल्ली की छावनी में कोई गोरी पलटन न थी। किले मे अंगरेजों का एक बहुत बड़ा मेगजीन था। उसमें लगभग ९ लाख कारतूस, १० हजार बन्दूकें और बड़ी तादाद के गोला-बारूद था। उसकी रक्षा के लिए अंगरेज सैनिक और कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही थे। भारतीय सैनिकों ने लाल किले पर सम्राट बहादुरशाह का हरा झण्डा देखा। वे सिपाही क्रान्तिकारियों में आकर मिल गये। यह हरा झण्डा ही सन् १८५७ की क्रान्ति का झण्डा था।

मेगजीन के संरक्षक ९ अंगरेजों ने कुछ समय तक क्रान्तिकारियों के साथ युद्ध किया। वे मेगजीन विद्रोहियों के हाथों मे न देना चाहते थे। अन्त मे मेगजीन को क्रान्तिकारियों के हाथों में जाते देख कर उन अंगरेजों ने उसमें आग लगा दी। मेगजीन की आग के साथ-साथ उसके संरक्षक ९ अंगरेज जलकर राख हो गये और आक्रमणकारी क्रान्तिकारियों के कुछ सिपाही और किले के करीब के लगभग ३०० नगर निवासी खतम हो गये। मेगजीन की सभी बन्दूकें क्रान्तिकारियों के हाथों मे आ गयीं। दिल्ली शहर के अंगरेज ११ मई से १६ मई तक ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारे गये। १६ मई सन् १८५७ को दिल्ली राजधानी पर क्रान्तिकारियों का कब्जा हो गया और बहादुर शाह को फिर से दिल्ली का सम्राट माने जाने के लिए घोषणा की गयी। क्रान्ति के नेताओं ने सम्राट बहादुरखाह के नाम पर ही क्रान्ति का

झण्डा उठाया था। इसीलिए बहादुरशाह का झण्डा ही उस समय देश के क्रान्तिकारियों का झण्डा था।

दिल्ली के बाद क्रान्ति की आग चारों ओर फैलने लगी। ३१ मई तक उत्तरी भारत में सर्वत्र क्रान्ति की आग जलने लगी। ९ नम्बर के पैदल सिपाही विद्रोही होकर अलीगढ़, मैनपुरी, इटावा और बुलन्द शहर मे फैल गये थे।

२२ मई को मैनपुरी मे क्रान्ति की आग भड़की और वहाँ के सिपाही गोला, बारूद और हथियारों को ऊँटों पर लादकर दिल्ली के लिए रवाना हो गये। मैनपुरी में क्रान्तिकारियों का झण्डा घूमने लगा।

क्रान्ति की लहरें बराबर फैलती जा रही थीं, इटावे में हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने २३ मई को वहाँ के खजाने पर कब्जा कर लिया। जेल-खाने तोड़ डाले गये। वहाँ का कलेक्टर एक स्त्री का रूप बनाकर चोरी से भाग निकला और इटावा से चला गया।

अजमेर के निकट नसीराबाद की छावनी में हिन्दुस्तानी और गोरी-दोनों फौजें रहा करती थीं। २८ मई को वहाँ की छावनी के हिन्दुस्तानी सिपाही बिगड़े। गोरी सेना के साथ उनका युद्ध हुआ, उसमे गोरी सेना की पराजय हुई।

रुहेलखण्ड की राजधानी बरेली मे थी। ३० मई तक वहाँ शान्ति रही, ३१ मई को पूर्व निश्चय के अनुसार वहाँ पर भी सिपाहियों ने क्रान्ति कर दी। अंगरेज अफसरों के बँगले जलाये गये और अंगरेजों को मारना शुरू हो गया। शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, बदायूँ, आजमगढ़ और गोरखपुर मे भी क्रान्ति की लपटें उठने लगीं। सिपाहियों के साथ साथ शहरों के निवासियों ने भी क्रान्ति में दिल खोलकर भाग लिया।

भारत की इस क्रान्ति को देखने के लिए गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग के पास काफी अङ्गरेजी सेना न थी। इसलिए उसने बरमा और रंगून से गोरी पलटनों को बुलाकर क्रान्ति के दमन का प्रबन्ध किया। ३१ मई को बनारस में भी क्रान्ति का भीषण रूप था। गोरे सिपाहियों की एक बड़ी सेना जनरल नील के साथ बनारस भेजी गयी।

जनरल नील ने अङ्गरेजी और सिखों की विशाल सेना लेकर क्रान्तिकारियों का सामना किया। बनारस के नागरिक क्रान्तिकारियों का साथ दे रहे थे। परन्तु बनारस के राजा चेतसिंह और उनके अनुयायियों ने अङ्गरेजों का साथ दिया। क्रान्तिकारी मैदान से हट गये और इधर-उधर फैल गये।

५ जून को जौनपुर में और ६ जून को इलाहाबाद में भी क्रान्तिकारियों के झण्डे घूमने लगे। प्रत्येक स्थान पर नागरिकों ने क्रान्तिकारियों के साथ मिलकर काम किया। इलाहाबाद किले में गोरी पलटन के साथ सिख पलटन भी थी। यहाँ पर भी सिख सैनिकों ने अङ्गरेजों का ही साथ दिया। नागरिकों ने क्रान्तिकारियों की ताकत को बहुत बढ़ा दिया। जेलखाना तोड़ डाला गया। कैदी सब छोड़ दिये गये। रेलगाड़ी की पटरियाँ उखाड़ डाली गयीं, तार काट दिये गये और खजाने पर कब्जा कर लिया गया।

———

तेतालीसवाँ परिच्छेद

क्रान्ति और दमन का जोर

रक्तपात और अग्निकाण्ड

सन् १८५७ की महान् क्रान्ति मेरठ में आरम्भ हुई और दिल्ली मे पहुँचकर बड़ी तेजी के साथ देश के दूसरे शहरों में फैलने लगी। क्रान्तिकारियों ने विद्रोह की एक योजना बना रखी थी। उस योजना के अनुसार सम्पूर्ण देश में ३१ मई को क्रान्ति का आरम्भ होना चाहिए था। परन्तु परिस्थितियों के कारण उसका प्रारम्भ कुछ दिन पहले ही हो गया।

देश में तैयारी तो कुछ थी ही। अंगरेजी राज्य से लोग जले-भुने बैठे थे। क्रान्ति की आग लगते ही, उसकी चिनगारियों के फैलने में और दूसरे शहरों में लपटों के उठने में देर न लगी।

लार्ड कैनिंग चुपचाप न था। क्रान्ति को दबाने के लिए उसने बाहर से अंगरेजी सेनाएँ मंगायी थीं। सिखों की पलटनों को उसने अपने अनुकूल बना लिया था। मदरासी सैनिक भी अंगरेजों के पक्ष में थे। इस प्रकार कैनिंग ने देश मे दमनचक्र आरम्भ करने के लिए गोरों, सिखों और मदरासी सैनिकों का संयुक्त मोर्चा तैयार किया। सिखों की पलटनों से उसने बड़ी बुद्धिमानी के साथ काम लिया।

बनारस में अंगरेजी सेना

बनारस के विद्रोह को दबाने के लिए जनरल नील की अध्यक्षता में एक बड़ी सेना रवाना की गयी थी। उसने मार्ग में गाँव और कस्बों में जो अत्याचार किये, उनका वर्णन अंगरेज इतिहासकारों की पुस्तकों में भली प्रकार मिलता है, मार्ग में मिलने वाले स्त्री-पुरुषों और बच्चों को अंगरेजी-सेना के सिपाही जान से मार डालते। जो दूर होते उनको गोलियों से खतम कर देते। जहाँ कहीं भी सेना का मुकाम होता,

वहाँ बिना किसी विचार के लोगों की हत्यायें की जातीं। इस प्रकार नर-संहार करती हुई नील की सेना रवाना हुई। विदेशी इतिहासकारों ने बिना किसी पक्षपात के इस प्रकार की घटनाओं के विवरण अपनी पुस्तकों में दिये हैं।

जनरल नील की सेना ने सैकड़ों गाँवों को वीरान बना दिया। स्त्री, बच्चों और पुरुषों को जान से मारकर घरों को लूटकर और गाँव में आग लगाकर भीषण काण्ड करती हुई अंगरेजी सेना बराबर आगे बढ़ती रही।

बनारस पहुँचते ही अंगरेजी सेना ने नागरिकों पर गोलियाँ बरसायीं। बड़ी संख्या में लोगों को कैद किया गया और उसके बाद कैदी लोगों को पेड़ों पर लटका कर फाँसियाँ दी गयीं। बनारस में इन भीषण अत्याचारों के बाद जनरल नील अपनी सेना के साथ इलाहाबाद के लिए रवाना हुआ।

इलाहाबाद में अत्याचार

सिख सेना के साथ अंगरेजी सेना ने १८ जून को इलाहाबाद शहर में प्रवेश किया। सिपाहियों ने जहाँ जिसको पाया, वहीं उसे खतम कर दिया। छोटे-छोटे लड़कों को इसलिए जान से मारा और फाँसी पर लटकाया कि वे हरा झण्डा लिए घूम रहे थे।

सर विलियम रसल ने कमाण्डर-इन-चीफ सर कानिल कैम्पबेल को एक पत्र लिखा था, उसमें बताया था कि इलाहाबाद में एक अंगरेज व्यापारी रहा करता था, भारतीय व्यापारियों का बहुत-सा कर्ज उसके ऊपर था। क्रान्ति के दिनों में जनरल नील की अंगरेजी सेना के इलाहाबाद पहुँचने पर वह अंगरेज व्यापारी जो कर्जी था, क्रान्ति के सम्बन्ध में एक अफसर बनाया गया, विद्रोहियों को कैद कराने और सजा दिलाने का काम उसे सौंपा गया, उसने उन सभी भारतीय व्यापारियों को कैद करा के फाँसी दिलवा दी, जो उसके महाजन थे और जिनका वह कर्जी था।

इलाहाबाद शहर में अंगरेज और सिख सैनिक सशस्त्र घूमते और किसी को देखते ही या तो कैद कर लेते अथवा उसके कुछ दूर होने पर, उसे गोली का शिकार करते। अपराधी और निरपराधी का कोई

विचार उनके निकट न था। कई दिनों तक शहर में यही हालत बराबर बनी रही और लगभग आठ सौ आदमियों को तो केवल फाँसी दी गयी।

अंगरेजी सेना के इन अत्याचारों से घबराकर जो लोग नावों पर बैठकर भागते उन पर गोलियाँ चलायी जाती और वे सब के सब वहीं पर ढेर कर दिये जाते। अंगरेजी सेना के क्रूर सिपाहियों ने जिस प्रकार के अत्याचार किये, उनके वर्णन स्वयं उनके अफसरों ने किये हैं। इस प्रकार के वर्णन सभी देने से क्रान्ति के विवरण का विस्तार हो जायगा, इस भय से उनको अनावश्यक कहकर हमने छोड़ दिया है। नमूने के तौर पर कुछ बातों को नीचे संक्षेप में दे देना चाहते हैं। उसने लिखा है : "क्रान्ति के दिनों में हम लोग बड़े मजे की यात्रायें करते थे। × × × उन दिनों में जो अङ्गरेज मारे गये थे, उनका बदला लेने के लिए मेरा खून खौल रहा था। देहातों में जाकर हम लोग लूट-मार करते और उनके बाशिन्दों को गोलियों या तलवारों से खतम कर देते। गाँवों में आग लगा देते और जलने वालें घरों की लपटें जब खूब ऊंची उठतीं तो हम लोगों को बहुत अच्छी मालूम होती। × × × जब मैं हिन्दुस्तानियों का कत्लेआम अपनी आँखों से देखता तो क्रान्तिकारियों से बदला लेने का सुख मालूम होता।"

ऊपर का विवरण Indian Mutiny नामक पुस्तक से लिया गया है जो एक अङ्गरेज की ही कलम से लिखी गयी है और लाखों तथा करोड़ों अङ्गरेजों में सुख और सन्तोष के साथ पढ़ी गयी है।

बिना किसी विचार और विवेचना के इलाहाबाद में नर-संहार किया गया। नागरिकों का धन लूटा गया और स्थान-स्थान पर मकानों की होलियाँ जलायी गयीं। इन घटनाओं के वर्णन में इतिहासकार होम्स के हृदय में जिस दया का प्रादुर्भाव हुआ, उसे वह छिपा न सका। उसकी लिखी हुई पुस्तक Sipoy War के कुछ शब्द इस प्रकार हैं :

"स्त्रियों, बच्चों और बूढ़े आदमियों ने हम अङ्गरेजों की कोई हानि न की थी, लेकिन अङ्गरेजी सेना ने उनका भी उसी प्रकार संहार किया, जिस प्रकार विद्रोहियों का।"

चार्ल्स बाल ने लिखा है कि—"एक स्थान पर ही हिन्दुस्तानी पाँच-

छः हजार से कम नहीं मारे गये। समूचे भारत में भी उतने अङ्गरेज नहीं मारे गये थे, जितने भारतीय केवल इलाहाबाद में मारे गये।"

सर जार्ज कैम्प वेल ने अपनी कलम से स्वयं लिखा है :

"इलाहाबाद में आँखें बन्द करके अङ्गरेजी सेना ने कत्लेआम किया। × × × हिन्दुस्तानियों ने जो कुछ किया था उससे कई गुना बढ़कर जनरल नील और उसकी सेना ने हिन्दुस्तानियों के साथ किया।"

जनरल नील ने बनारस के बाद इलाहाबाद में भी अपना कब्जा कर लिया। यह जरूर था कि गाँवों के आदमियों ने सभी प्रकार उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ रखा था। मुर्दों और घायलों को ले जाने के लिए अङ्गरेज अफसरों को हिन्दुस्तानी किसी प्रकार न मिलते थे। खाने-पीने का कोई सामान अङ्गरेजों को न देता था। वे लूटकर ही अपना काम चलाते। चार्ल्स बाल ने लिखा है कि अगर कोई हिन्दुस्तानी अङ्गरेजों के काम आता तो हिन्दुस्तानी उसकी नाक काट डालते। इस बात का उनका ढिंढोरा भी पिट गया था।

इलाहाबाद शहर में खुसरोबाग पर अङ्गरेजी सेना के साथ क्रान्तकारियों का प्रारम्भ में ही घमासान युद्ध हुआ था लेकिन अङ्गरेजी सेना बहुत बड़ी संख्या में थी। इसलिए क्रान्तिकारियों को वहाँ से हट जाना पड़ा था और ३० लाख रुपये का खजाना साथ में लेकर वे कानपुर की ओर चले गये थे।

कानपुर का दृश्य

नाना साहब, उसके दो भाई बाला साहब और बाबा साहब, भतीजा राव साहब और अजीमुल्ला खाँ कानपुर-क्रान्ति के नेता थे। उन दिनों में मराठा सेनापति तात्या टोपे कानपुर में नाना साहब का सहायक हो गया था और कुछ समय से वह भी बिठूर में ही रहा करता था।

कानपुर में जो अङ्गरेजी सेना थी, उसका सेनापति था सर ह्यू व्हीलर। दिल्ली के विद्रोह का समाचार पाने पर उस सेनापति ने कानपुर को सुरक्षित रखने का प्रबन्ध किया। नाना साहब सन् १८५७ की क्रान्ति के जन्मदाताओं में से एक था। लेकिन ऐसे ढंग से वह काम

कर रहा था कि अभी तक अङ्गरेज उसका विश्वास मानते थे। इसी-लिए सेनापति व्हीलर ने कानपुर के खजाने का रक्षा का भार नाना साहब को सौंपा। नाना साहब अभी तक ३१ मई के इन्तजार मे था। नाना साहब ने खजाने की रक्षा का काम प्रसन्नता के साथ अपने हाथों में ले लिया और अपने दो सौ सिपाहियों का पहरा खजाने पर लगा दिया।

कानपुर की हिन्दुस्तानी फौज भी क्रान्ति का इन्तजार कर रही थी। उनके दो अफसर सूबेदार टीकासिंह और सूबेदार शम्सुद्दीन अपनी सेना की क्रान्ति के नेता थे।

कानपुर की छावनी मे ४ जून की रात के १२ बजे तीन फायरें हुई। क्रान्ति प्रारम्भ करने के लिए यही एक सूचना थी जो पहले से निश्चित थी। इन फायरों के होने के बाद ही सूबेदार टीकासिंह अपने घोड़े पर सवार होकर बाहर आया। क्रान्ति का बिगुल कानपुर में भी बजा। अंगरेजों के बंगलों पर हमले शुरू हो गये। अंगरेजी झण्डों को हटाकर हरे झण्डे लगाये गये। क्रान्तिकारियों के हाथों में मेगजीन और खजाना ५ जून को आ गया था।

कानपुर के किले में शहर के समस्त अंगरेज और उनके परिवार मौजूद थे। ६ जून को सायंकाल क्रान्तिकारियों ने किले को घेर लिया और नाना साहब की तोपों ने वहाँ पर गोले बरसाने आरम्भ किये। इससे बहुत से अंगरेजों की जाने गयीं।

क्रान्तिकारियों की ओर से २१ दिनों तक किले पर गोला बारी होती रही। किले के बाहर अंगरेजों, उनकी स्त्रियों और बच्चों का निकलना बन्द रहा। वे सब के सब ऐसी हालत में थे कि अपना कोई संदेश किले के बाहर भेज न सकते थे।

कानपुर में नाना के साथ चार हजार क्रान्तिकारियों की सेना थी। इन सैनिकों के लिए आस-पास के जमीदारों से धन एकत्रित करने का कार्य नाना साहब के हाथ में था। इस कार्य के लिए अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सभी लोग नाना साहब को सहायता देते थे।

अंगरेजी सेना के साथ १८ जून और २३ जून को क्रान्तिकारियों के दो युद्ध हुए। अंगरेजी सेना के सेनापति जनरल व्हीलर ने शांति का

सफेद झण्डा ऊँचा किया। नाना साहब ने युद्ध बन्द कर दिया और अंगरेजी सेनापति को लिखा :

"जो अंगरेज युद्ध बन्द करके आत्म-समर्पण करेंगे, उनको सुरक्षित इलाहाबाद भेज दिया जायगा।"

किले के भीतर जो अंगरेज और उनके परिवार मौजूद थे, उन सब ने नाना साहब के सामने सिर झुकाया और आत्म-समपण कर दिया। किले पर नाना का कब्जा हो गया। खजाना भी हाथ में आ गया। समर्पण करने वाले अंगरेजों और उनके परिवारों को नावों पर बिठा कर और मार्ग के लिए खाने का सामान देकर इलाहाबाद रवाना कर दिया गया।

जो अंगरेज स्त्रियाँ कैद की गया थीं, उनके प्रति नाना साहब का व्यवहार प्रारम्भ से ही अच्छा रहा। जिसके सम्बन्ध में अंगरेज इतिहासकारों ने नाना साहब की प्रशंसा की है।

झाँसी मे क्रान्ति

झाँसी का राज्य अंगरेजा राज्य में जिस प्रकार मिलाया गया था, उसका विवरण पहले दिया जा चुका है। झाँसी की विधवा रानी लक्ष्मी बाई की अवस्था लगभग बीस वर्ष की थी। झाँसी का राज्य ले लेने के बाद लक्ष्मी बाई को कम्पनी की ओर से पाँच हजार रुपये वार्षिक दिये जाने की बात हुई थी। लेकिन लक्ष्मी बाई ने अस्वीकार कर दिया था।

४ जून सन् १८५७ को झाँसी में क्रान्ति आरम्भ हुई। क्रान्ति होते ही किले के मेगजीन और खजाने पर विद्रोहियों ने कब्जा कर लिया। रानी लक्ष्मी बाई ने अपने महल से निकल कर क्रान्तिकारियों का नेतृत्व स्वीकार किया। रानी की अधीनता में क्रान्तिकारियों ने किले पर आक्रमण किया। किले के भीतर की भारतीय सेना क्रान्तिकारियों के साथ हो गयी। उसमें लगभग सत्तर अंगरेज मारे गये।

लक्ष्मी बाई ने दामोदर नाम का एक बालक को गोद ले रखा था। झाँसी के क्रान्तिकारियों ने उस बालक को अपना राजा घोषित किया और उसकी संरक्षक की हैसियत से लक्ष्मी बाई के हाथ में सम्पूर्ण

प्रबन्ध आया। रानी ने बुद्धिमानी के साथ कार्य संचालन आरम्भ किया।

क्रान्ति की आग

यह बताया जा चुका है कि क्रान्ति का दिन ३१ मई निश्चित् किया गया था। लेकिन कारणवश कहीं पर कुछ पहले और कहीं पर कुछ बाद में उसका जन्म हुआ। उसके बाद वह अपने आप इधर-उधर बढ़ने लगी। सन् १८५७ की क्रान्ति की लड़ाइयाँ सबसे अधिक अवध में लड़ी गयीं। इस क्रान्ति में अवध के सभी जमीदारों, वहाँ की पुलीस और भारतीय सेना के साथ-साथ सम्पूर्ण जनता ने दिल खोल-कर साथ दिया। यहाँ के निवासियों को अंगरेजी राज्य से असन्तोष बहुत था और क्रान्ति के पहले विद्रोह की तैयारी भी यहाँ पर अधिक हुई थी।

लखनऊ में ३० मई की रात को क्रान्ति की लहर उठी और दूसरे दिन सबेरे तक सारे शहर में फैल गयी। सर हेनरी लारेन्स अवध का चीफ कमिश्नर था। उस समय तक हिन्दुस्तानी ७ नम्बर की पलटन अंगरेजों के पक्ष में थी। सर हेनरी ने कुछ गोरे सैनिकों के साथ ७ नम्बर की पलटन लेकर क्रान्तिकारियों पर आक्रमण किया। लेकिन युद्ध-स्थल पर पहुँचते ही ७ नम्बर पलटन क्रान्तिकारियों के साथ हो गयी और सर हेनरी अपने गोरे सिपाहियों के साथ वहाँ से भागकर रेजीडेन्सी पहुँचा।

३१ मई की शाम तक ४८ और ७१ नम्बर पलटन भी क्रान्तिकारियों के साथ आ गयी। इस प्रकार लखनऊ में सात, अड़तालीस और इकहत्तर नम्बर पलटनों के भारतीय सिपाहियों की संगीनें क्रान्ति-कारियों के साथ घूमने लगीं।

लखनऊ के बाद सीतापुर और फरुखाबाद में भी विद्रोह की आग धधक उठी। प्रत्येक क्रान्तिकारी अंगरेजी राज्य के खिलाफ जैसे पहले से ही तैयार बैठा था। प्रत्येक अंगरेज के विरुद्ध नङ्गी तलवारें घूमने लगीं। फरुखाबाद में अंगरेजों ने कुछ युद्ध किया। लेकिन अन्त में क्रान्तिकारियों का किले पर कब्जा हो गया।

अवध के दूसरे शहरों में विद्रोह की आग के फैलने में देर न लगी।

बहराइच, गोंडा, भालन, मोहम्मदी, सिकरोरा और मेलापुर में भी १० जून के भीतर ही क्रान्ति हो गयी। अवध के बहुत से जमीदारों और और तालुकेदारों ने खुल कर क्रान्ति में भाग लिया, लेकिन ऐसे जमीदारों की भी कमी न थी जो अंगरेजों को अपने यहाँ शरण देकर अपनी दया का परिचय देते थे।

फैजाबाद और सुलतानपुर भी उस क्रान्ति में पीछे न रहा। क्रान्ति की एक योजना पहले से ही तैयार थी। उसी के अनुसार प्रत्येक स्थान पर क्रान्तिकारी अपना काम करते थे। हिन्दू और मुसलमान एक हो रहे थे और क्रान्ति को सफल बनाने की पूरी कोशिश में थे। इस सहयोग का यह परिणाम था कि क्रान्ति की आग बराबर बढ़ती जाती थी और जहाँ पर क्रान्ति की तैयारी न थी उन, साधारण मुकामों में भी विद्रोह आरम्भ हो जाता था।

भारत के सभी स्थानों से अवध की क्रान्ति अधिक बलवान सिद्ध हो रही थी।

———

चौवालीसवाँ परिच्छेद

दमन के प्रलयकारी दृश्य

विश्वासघात और देशद्रोह के भयानक चित्र

सन् १८५७ की महान क्रान्ति दिल्ली के सम्राट बहादुर शाह को प्रभुत्व देकर संगठित हुई थी। यही कारण था कि दूसरे शहरों से क्रान्तिकारियों के दल दिल्ली में आकर एकत्रित हो रहे थे।

इस क्रान्ति को दबाने के लिए अंगरेजी गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग पूरी कोशिश में था। उसने मद्रास, रङ्गून और बंगाल की सेनाओं को मिला कर एक बड़ी सैनिक शक्ति तैयार की। जनरल नील के सेनापतित्व में उसने एक विशाल सेना बनारस भेजी थी, जिसने अपने दमन के द्वारा बनारस और इलाहाबाद में नर-संहार किया था और अपना आधिपत्य कायम कर लिया था। इसके सिवा दिल्ली के क्रान्तिकारियों को परास्त करने के लिए कैनिंग ने दूसरी सेना कमाण्डर इन-चीफ ऐनसन के साथ दिल्ली रवाना कर दी।

हिन्दुस्तानी पलटनों के विद्रोह को रोकने के लिए कैनिंग ने दूसरी नीति से काम लिया। विद्रोही सैनिकों को सन्तोष देने के लिए उसने घोषणा की कि अगरेजी सरकार का उद्देश्य किसी के धर्म में दखल देने का नहीं है। हिन्दुस्तानी सिपाही अपने इस्तेमाल के लिए कारतूस स्वयं तैयार कर सकते हैं। हम चाहते हैं कि पलटनें विद्रोहियों का साथ छोड़ कर अपने-अपने स्थान पर आ जायँ।

क्रान्ति को दबाने के लिए अंगरेजी सरकार ने केवल युद्ध का ही आश्रय नहीं लिया, अपने अमोघ अस्त्र कूटनीति का प्रयोग पूरी शक्ति के साथ उसने किया। उसके इस जादू का प्रभाव पञ्जाबी फौजों पर पड़ा और वे अंगरेजी सरकार के लिए अन्त तक लड़ीं।

सिखों और पंजाबियों को अपने पक्ष में रखने के लिए मुसलमानों

के विरुद्ध विष उगला गया। ऐसे गुप्तचर हिन्दुस्तानी बनाये गये जो हिन्दू और मुसलमान थे और सम्राट बहादुर शाह की तरफ से प्रचार करते थे कि इस क्रान्ति में अंगरेजों और सिखों का अन्त कर देना है।

अंगरेजों की इस कूटनीति और उनके प्रचार का प्रभाव न केवल सिखों और पंजाबियों पर पड़ा। बल्कि सिखों और पंजाबी रियासतों और राजाओं को उन्होंने मूर्ख बना लिया। पंजाब की ये सारी शक्तियाँ अंगरेजों के हाथ में आ गयीं।

अंगरेजी कूटनीति के अस्त्र कई रूप में काम कर रहे थे। सरहदी मुसलमानों को मिलाने के लिए हिन्दू क्रान्तिकारियों के विरुद्ध वातावरण तैयार किये जाते थे। मुसलमान मुल्ला बड़ी-बड़ी तनख़्वाहों पर नौकर रखे गये और उनके द्वारा प्रभावशाली मुसलमानों को लम्बी रिश्वतें देकर अंगरेजों के पक्ष में प्रचार करवाया गया।

हिन्दुओं में मुसलमानों के विरुद्ध और मुसलमानों मे हिन्दुओं के खिलाफ प्रचार की वर्षा की गयी। इस प्रचार मे साधारण हिन्दू और मुसलमान लाखों और करोड़ों की संख्या मे फँस गये। उनको सही बातों का ज्ञान न होने पाया। हुआ यह कि उनको भ्रम में डालकर अंगरेजी सरकार ने बहुत लाभ उठाया और इस कूटनीति से अंगरेजों को बहुत बल मिला।

क्रान्ति के आरम्भ होने के पहले पंजाब की पलटनें भी क्रान्ति के अनुकूल थीं, लेकिन अंगरेजों ने अपने प्रचार के बल पर धार्मिक और साम्प्रदायिक विष उत्पन्न कर दिया। इससे क्रान्ति को बहुत बड़ी क्षति पहुँची और अंगरेजों ने उसका लाभ उठाया।

दमन का आरम्भ

अंगरेजों ने सैनिक शक्ति मजबूत बना ली और अपनी कूटनीति से क्रान्तिकारियों को बहुत-कुछ निर्बल कर दिया। इसके बाद दिल्ली भेजी गयी अंगरेजी सेना ने अत्याचार का अपना रूप धारण किया।

कुछ हिन्दुस्तानी पलटनें अभी तक दुबिधा मे थीं। ऐसी पलटनों से हथियार रखा लेने में अंगरेजों को कामयाबी हुई। ५५ नम्बर की

देशी पलटन से हथियार ले लेने का उद्योग किया गया। लेकिन उसके बहुत-से सिपाही इसके लिए तैयार न थे। एक गोरी पलटन को यह काम सौंपा गया। ५५ नम्बर के बहुत से सिपाही भागे, गोरी पलटन ने उनका पीछा किया। कुछ लोग पकड़ गये और उनका बुरा हाल हुआ। कैदी सिपाहियों में बहुतों को तोप के मुँह पर लगा कर उड़ा दिया गया।

एक अङ्गरेज इतिहास लेखक ने स्वीकार किया है कि ५५ नम्बर की पलटन विद्रोही न थी। लेकिन अविश्वास करके जब हथियार रखने के लिए उससे कहा गया तो उसके बहुत-से आदमी भाग गये।

अङ्गरेजों के झूठे प्रचार के पहले पंजाब की देशी पलटनें भी क्रान्ति चाहती थीं, इसी आधार पर जलंधर, फिलौर और लुधियाने की पलटनों ने विद्रोह किया। इन पलटनों के विद्रोह का मुकाबला करने के लिए गोरी सेना, सिखों की सेना और नाभा नरेश की फौज तैयार की गयी। इन सेनाओं ने सतलज नदी पर उन क्रान्तिकारी सैनिकों पर गोले बरसाये।

दोनों ओर से मोर्चा हुआ। क्रान्तिकारी सेना ने डटकर युद्ध किया। संख्या में वे थोड़े थे। उनके पास तोपें न थीं। युद्ध की अधिक सामग्री थी काफी न थी, लेकिन वे खूब लड़े। अङ्गरेजी सेना के कमाण्डर विलियम के सीने पर एक क्रान्तिकारी सैनिक की गोली लगी और वह उसी समय खतम हो गया।

अङ्गरेजी सेना ने सहज ही में क्रान्तिकारियों को पराजित करने की उम्मीद की थी। परन्तु उसकी उम्मीदें पूरी न हुईं। क्रान्तिकारियों के मुकाबिले में अङ्गरेजी और सिखों की सेना को मैदान से हट जाना पड़ा।

देशद्रोही सिख नरेश

सतलज नदी पर क्रान्तिकारियों और अंगरेजी तथा सिख सेना के साथ जो युद्ध हुआ, उसमें क्रान्तिकारियों की विजय हुई। परन्तु पंजाब की देशी रियासतों ने अंगरेजों का ही साथ दिया। पटियाला, नाभा और झींद के राजाओं ने अंगरेजों की सैनिक सहायता भी की और आवश्यकतानुसार धन भी दिया।

इस प्रकार की सहायता पाने पर पंजाब में अंगरेजों की शक्तियाँ बढ़ गयीं। कूटनीति के प्रचार से पंजाबी पलटनों के विद्रोह नष्ट-भ्रष्ट हो गये और दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए अंगरेजों को सुअवसर प्राप्त हुए।

कमाण्डर-इन-चीफ ऐनसन अपनी विशाल सेना को लेकर दिल्ली की तरफ चला। उसके साथ गोरे सिपाहियों की सेना, सिख पलटन और पंजाब के नरेशों की फौजें थीं। दिल्ली पहुँचने के पहले ही करनाल में ऐनसन हैजे से पीड़ित हुआ और उसकी मृत्यु हो गयी।

जो अंगरेज सेना दिल्ली की ओर जा रही थी, उसने मार्ग मे मिलने वाले हिन्दुस्तानियों के साथ भयानक अत्याचार किये। गाँव जला दिये जाते और लोगों को जान से मार दिया जाता।

दिल्ली मे अंगरेजी सेना के साथ युद्ध

दिल्ली शहर में क्रान्तिकारियों का अधिकार था। अंगरेजी सेना के दिल्ली के निकट पहुँचने पर क्रान्तिकारियों की सेना ने युद्ध का बिगुल बजाया। १२ जून को दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध हुआ। इस युद्ध में अंगरेजी सेना के साथ के कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही क्रान्तिकारियों से जाकर मिल गये। उस युद्ध में अंगरेजी सेना को अधिक हानि उठानी पड़ी।

दिल्ली के बाहर अंगरेजी सेना का मुकाम था और शहर में क्रान्तिकारियों ने कब्जा कर रखा था। इस बीच में गोरखा पलटन भी अंगरेजी सेना मे आकर मिल गयी थी। मौका पाकर दोनों ओर की सेनायें एक दूसरे पर आक्रमण करतीं और फिर हट जातीं। इन दिनों दोनों ओर से जो लड़ाइयाँ हुईं, उनमें १७, २० और ३० जून के युद्ध बहुत जोरदार थे।

अंगरेजी सेना को सहायता के लिए पंजाब से भारतीय पलटनें आ रही थीं और क्रान्तिकारी सेनाओं की संख्या भी बढ़ती जाती थी। २ जुलाई सन् १८५७ को मोहम्मद बख्त के साथ क्रान्तिकारियों की सहायता के लिए रुहेलखण्ड की एक सेना आयी। दिल्ली पहुँचने पर सम्राट की ओर से उसका स्वागत हुआ। मोहम्मद बख्त ने सम्राट

से मुलाकात की। मिरजा मुगल सम्राट की ओर से क्रान्तिकारी सेनाओं का सेनापति था। वह सम्राट का लड़का था। किन्तु सेनापति के योग्य न था। इसलिए उसको हटाकर मोहम्मद बख्त को सेनापति बनाया गया।

मोहम्मद बख्त वीर और साहसी सैनिक था। सेनापति का पद पाकर बड़ी बुद्धिमानी के साथ उसने अपनी सेनाओं की व्यवस्था की और अंगरेजी सेना पर आक्रमण करके अपनी बहादुरी का उसने परिचय दिया।

ग्वालियर, इन्दौर और आगरा

उन दिनों में जयाजी राव सींधिया ग्वालियर का शासक था। १४ जून को ग्वालियर की सेना ने अपने यहाँ विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया। क्रान्तिकारियों की योजना के अनुसार ग्वालियर में भी अंगरेज मारे गये। उनके स्थान और बँगले जलाये गये। लेकिन जयाजी राव सींधिया न तो क्रान्ति के पक्ष मे था और न उसने क्रान्तिकारियों का साथ दिया। राज्य की सेना के विद्रोह करने पर वह निरुपाय हो गया और अपनी बेबसी में सब-कुछ देखता रहा।

रियासत इन्दौर के महाराजा होलकर की वही हालत थी जो जयाजी राव सींधिया की थी। १ जुलाई को इन्दौर की सेना ने क्रान्ति का झण्डा उठाया। लेकिन वहाँ पर अंगरेजों की जान का नुकसान नहीं हुआ। इन्दौर में जो अंगरेज रहते थे, उनको इतना मौका दिया गया कि वे भागकर अपनी जान बचा सकें।

जयपुर और जोधपुर के नरेश भी ग्वालियर और इन्दौर के राजाओं की तरह देशद्रोही साबित हुए। उनके निर्बल आत्मा अंगरेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह के लिए तैयार न हुए। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी सेनाओं को अंगरेजों की मदद करने के लिये आज्ञा दी। लेकिन उनकी सेनायें इसके लिए तैयार न हुईं।

भरतपुर के राजा ने देशद्रोह का कम परिचय नहीं दिया। क्रान्तिकारी सेनाओं ने जब आगरे मे अंगरेजी सेना पर आक्रमण किया तो भरतपुर के राजा ने अंगरेजों की सहायता के लिए अपनी सेना की

तैयारी की, परन्तु राज्य की सेना ने क्रान्तिकारियों के साथ लड़ने और अंगरेजों की सहायता करने से इनकार कर दिया।

कानपुर में अंगरेजी सेना के अत्याचार

कानपुर की क्रान्ति के समाचार जब इलाहाबाद पहुँचे तो जनरल नील ने अपनी एक सेना मेजर रिनाड के साथ कानपुर भेजी और उसके बाद ही जनरल हैवलाक के साथ उसने दूसरी सेना भी कानपुर के लिए रवाना कर दी। इन सेनाओं में गोरे और सिख सैनिक थे। साथ में काफी तोपखाना था।

कानपुर के रास्ते में अंगरेजी सेना ने भयानक उत्पात और अत्याचार किये। क्रान्तिकारी अंगरेजों के साथ जो अमानुषिक अत्याचार न कर सकते थे; अंगरेजी सैनिकों के लिए वे साधारण कार्य थे।

कानपुर में अंगरेजी सेना के पहुँचने के पहले क्रान्तिकारियों की ओर से जो घटनाएँ हुईं, उनमें मेमोरियल वेल की घटना को बहुत महत्व दिया गया। कहा जाता है कि कानपुर के इस कुए में १२५ अङ्गरेज पुरषों, स्त्रियों और बच्चों को मारकर डाल दिया गया। कलकत्ते के ब्लैक होल की घटना भी इसी प्रकार कही गयी थी। परन्तु अङ्गरेज लेखकों के आधार पर ही वह गलत सिद्ध हुई। कानपुर के मेमोरियल वेल की दुर्घटना भी कुछ अङ्गरेजों की कल्पना थी। उसको सजीव बनाकर प्रचार किया गया। लेकिन किसी न्याय प्रिय इतिहासकार ने उस घटना का समर्थन नहीं किया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मेमोरियल वेल की कथा भी झूठी गढ़ी गयी।

इलाहाबाद से कानपुर के लिए जो दो सेनाएँ रवाना की गयी थीं, वे रास्ते में मिल गयीं और १० जूलाई को कानपुर के करीब पहुँच गयीं। नाना साहब ने क्रान्तिकारियों की एक सेना लेकर उसका मुकाबिला किया। दोनों के बीच घमासान युद्ध हुआ। अङ्गरेजी सेना की तोपों के गोलों के सामने क्रान्तिकारी ठहर न सके। इसलिए नाना साहब को अपनी सेना के साथ बिठूर चला जाना पड़ा।

१७ जुलाई को अंगरेजी सेना ने कानपुर शहर में प्रवेश किया और उसने भयानक नर-संहार किया। बड़ी से बड़ी संख्या में लोग जान से मारे गये। हजारों आदमी कैद करके फाँसी पर चढ़ा दिये

गये। इन अत्याचारों का वर्णन अङ्गरेज लेखकों ने स्वयं अपनी पुस्तकों में किया है।

दिल्ली में सर्वनाश

अभी तक अङ्गरेजी सेना दिल्ली के बाहर थी। उसके साथ क्रान्तिकारियों की मुठभेड़ बार-बार होती और फिर एक दूसरे से वे अलग हो जाते। शहर से बाहर आकर विप्लवकारी अङ्गरेजी सेना पर आक्रमण करते थे, लेकिन पराजित करके उसको वहाँ से भगा न सके थे। यही अवस्था अङ्गरेजी सेना की भी थी। वह बाहर से भीतर जाकर क्रान्तिकारियों को जीत न सकती थी, बल्कि जब-जब उसने इसके लिए उद्योग किया और विप्लवकारियों का पीछा किया। तब-तब उसको अत्यधिक हानि उठानी पड़ी।

दिल्ली में सम्राट बहादुरशाह की तरफ जो अभाव थे, उनमें एक यह भी था कि वहाँ के क्रान्तिकारियों को व्यवस्थित रखने और सुसङ्गठित अङ्गरेजी सेना से युद्ध करने के लिए प्रभावशाली कोई नेता न था। सम्राट वृद्ध था। मोहम्मद बख्त केवल सेनापति था। नेता और सेनापति के कार्य एक दूसरे से कुछ भिन्न हुआ करते हैं। नेता सेनापति नहीं हो सकता और सेनापति नेता की पूर्ति नहीं कर सकता।

एक बात और थी। इस देश का यह एक पुराना और संस्कार दोष है कि उच्च कुल मे ही उत्पन्न किसी व्यक्ति का प्रभाव समाज पर पड़ सकता है। साधारण कुल में अथवा साधारण परिस्थिति के घर में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति समाज का संचालक नहीं हो सकता। मोहम्मद बख्त के साथ एक यह बात भी लागू थी।

अहंकार, स्वाभिमान और ईर्षाभाव

दिल्ली मे अनेक शहरों की जो क्रान्तिकारी सेनाएँ आकर एकत्रित हुई थीं, उनके सेनापति—हिन्दू हों या मुसलमान—राजघराने के थे। उनके दिलों से अपने बड़प्पन की बू न गई थी। इसी दोष के कारण उनमें से अधिकांश एक, दूसरे की परवाह न करते थे और कभी-कभी वे अपना-अपना वैभव भी प्रकट करते थे। सम्राट ने अपनी इन सभी सेनाओं का सेनापति मोहम्मद बख्त को बनाया था। वह एक साधा-

रण घराने का मुसलमान था। इसीलिए उसका प्रभाव बहुत कम काम करता था।

इस प्रकार की बातों का प्रभाव यह बढ़ता जाता था कि क्रान्तिकारियों में सेनापति की आज्ञा का पालन जैसा होना चाहिए, वैसा न होता था। अनुशासन का अभाव सेना में एक बड़ा अभाव होता है। यह अभाव धीरे-धीरे क्रान्तिकारियों में निर्बलता के रूप में बदलने लगा।

दिल्ली में क्रान्तिकारियों की जो सेनाएँ मौजूद थीं, उनमें दो प्रमुख थीं। उनमें से एक बरेली से आयी थी और दूसरी नीमच से। दोनों ही सेनाएँ पराक्रमी और लड़ाकू थीं, देश के दुर्भाग्य से दोनों में ईर्षा-भाव का जन्म हुआ और वह धीरे-धीरे बढ़ता रहा।

मोहम्मद बख्त ने अपनी सेनाओं को लेकर २५ अगस्त को अङ्गरेजी सेना पर आक्रमण किया। ठीक युद्ध के समय बरेली और नीमच की सेनाएँ आपस के ईर्षा भाव को रोक न सकीं। यह ईर्षा-भाव यहाँ तक बढ़ा कि वे एक, दूसरे को नीचा दिखाने के लिए तैयार हो गयीं। नतीजा यह हुआ कि उस आक्रमण में मोहम्मद बख्त को पराजित होकर लौटना पड़ा।

विश्वासघाती मिरजा इलाही बख्श

अङ्गरेजी सरकार की ओर से गुप्तचर बनाने और लोगों को मिलाने का कार्य पहले से ही चल रहा था। क्रान्ति के इन दिनों में लार्ड कैनिंग ने इस गुप्तचर विभाग को बहुत महत्व दे रखा था और लोगों को बहकाने, फोड़ने तथा मिलाने में पानी की तरह धन बहाया जाता था। अंगरेजों के इस विभाग का हडसन प्रधान था। वह इस कार्य में बहुत प्रवीण था। उसने क्रान्तिकारियों के कितने ही शहरों में ऐसे व्यक्तियों को धन के द्वारा मिला रखा था, जो छिपे तौर पर विप्लवकारियों की शक्ति के नष्ट करने का काम करते थे। इस प्रकार के व्यक्ति प्रभावशाली अंगरेजों को मिल गये थे। विद्रोहियों को उनका पता न था।

दिल्ली में जो लोग अंगरेजों से मिल गये थे, उनमें मिरजा इलाही बख्श मुख्य था। यह सम्राट बहादुर शाह का समधी था और सम्राट

के साथ ही रहा करता था। सम्राट की कोई बात—महलों से लेकर बाहर तक उससे छिपी न थी।

सम्राट बहादुरशाह मिरजा इलाही बख्श के इस विश्वासघात को जानता न था। मिरजा क्रान्तिकारियों के गुप्त रहस्यों को जानता था और उनकी सूचना वह अंगरेजी सेनापति के पास भेजा करता था। इस कार्य में अंगरेजों ने उसे इस बीच में सम्राट तथा क्रान्तिकारियों के साथ अधिक घुल-मिलकर रहने की नसीहत दे रखी थी। इसीलिए मिरजा क्रान्ति के संचालकों की चापलूसी करके अपने लिए सब दरवाजे उसने खुलवा रखे थे।

सम्राट मिरजा का विश्वास करता था। मिरजा ने अपनी चापलूसी और खुशामद से सम्राट को प्रसन्न कर रखा था। वह मौका पाकर, ढङ्ग और तरीके से क्रान्तिकारियों की निर्बलता को सामने रखकर सम्राट का दिल तोड़ने का काम किया करता था।

अंगरेजी सेना का आक्रमण

क्रान्तिकारियों मे उत्साह की कमी न थी। लेकिन कई बातों मे उनमे कमजोरियाँ थीं। उनको दूर करने वाला कोई प्रभावशाली आदमी उनके साथ न था। इसके सम्बन्ध मे ऊपर लिखा जा चुका है।

शहर के भीतर विप्लवकारियों की मोर्चेबन्दी का पता अंगरेजी सेनापति को मिल जाता था। उसने शहर मे प्रवेश करने और विद्रोहियों को पराजित करने की पूरी तैयारी की। ७ सितम्बर से अंगरेजी सेना के आक्रमण आरम्भ हुए। परन्तु शहर के भीतर जाने मे उसको सफलता न मिली।

अंगरेजी सेना ने अपनी पूरी शक्ति के साथ १४ सितम्बर को फिर एक बार आक्रमण किया। इस बार उसने अपनी विशाल सेना को अनेक टुकड़ों में बाँट दिया था और छोटी-छोटी कितनी ही सेनायें उसने बना दी थीं। उन सभी सेनाओं ने दिल्ली शहर पर चारों ओर से आक्रमण किया। सभी के रास्ते अलग-अलग थे।

अंगरेजी सेना का यह भयानक आक्रमण कई दिनों तक चलता रहा। इस आक्रमण के सिलसिले मे जामे मस्जिद पर घमासान युद्ध हुआ। दोनों ओर के सैनिक मारे गये। अंगरेजी सेना को विशेष

सफलता न मिली। इतना जरूर था कि वह अब शहर के भीतर घुसकर युद्ध करने लगी थी।

लगातार कुछ दिनों तक युद्ध करने और धन तथा जन की बहुत बड़ी हानि उठाने के पश्चात अंगरेजी सेना ने दिल्ली शहर के तीन चौथाई भाग पर अपना कब्जा कर लिया। अंगरेजों की इस सफलता से विप्लवकारियों के उत्साह को बहुत क्षति पहुँची।

इन दिनों में अंगरेजों ने मिरजा इलाही बख्श को लम्बे प्रलोभन में फँसाकर तैयार किया कि वह सम्राट को दिल्ली के बाहर लाकर कहीं पर रोके। मिरजा इस बात पर तैयार हो गया।

मिरजा सम्राट को अनेक प्रकार की बातें समझाने लगा। वह खुशामद और चापलूसी करना खूब जानता था। सम्राट उस पर विश्वास करता रहा। मोहम्मद बख्त की योग्यता पर भी सम्राट प्रसन्न था। मिरजा ने मोहम्मद बख्त के खिलाफ तरह-तरह की बातें कहनी आरम्भ की और कोशिश की कि उसकी तरफ से सम्राट की तबीयत हट जाय।

एक दिन सबेरे सम्राट हुमायूँ के मकबरे पर गया। मिरजा ने सम्राट को मकबरे पर रोकने की कोशिश की और कुछ बातों के सिलसिले में उसे रोक रखा। इसी बीच में उसने अंगरेजी सेना को खबर दी। कुछ अंगरेजी सिपाहियों के साथ हडसन मकबरे पर आया और सम्राट को, मौका पाकर कैद कर लिया। सम्राट को इसके समझने में देर न लगी कि मिरजा इलाही की सहायता से मैं कैद किया गया हूँ। कैद होकर जाने के समय उसने मिरजा के लिए कुछ कड़वे शब्द कहे भी। सम्राट के साथ-साथ बेगम जीनत महल और शाहजादे जवांबख्श को भी कैद किया गया। ये गिरफ्तारियाँ मकबरे पर ही हुई और कैदियों को लाल किले में बन्द कर दिया गया।

सम्राट को गिरफ्तार कराने के बदले में मिरजा को बहुत रुपये इनाम में दिये गये और उसको तथा उसके बंशजों के लिए बारह सौ रुपये मासिक पेन्शन में दिये जाने की व्यवस्था अंगरेजी सरकार ने कर दी।

सम्राट के कैद हो जाने के बाद मोहम्मद बख्त का साहस टूट गया। उसकी पीठ ठोंकने वाला भी अब कोई न रहा। अपनी बची हुई

सेना को लेकर वह दिल्ली से कब चला गया और कहाँ चला गया इसका पता किसी को न मिला।

सम्राट की गिरफ्तारी के बाद उसकी बेगम और एक लड़का तो कैद हो ही गया था मकबरे में सम्राट के दो बेटे और एक पोता बाकी रह गया था। मिरजा ने उनकी सूचना भी हडसन को दी और वे भी तीनों कैद कर लिए गये। इन तीनों शाहजादों को कत्ल किया गया और उनके सिर काटकर हडसन ने लाल किले पर सम्राट और बेगम के सामने उपस्थित करके कहा :

"कम्पनी ने बहुत दिनों से आपका नजराना बन्द कर रखा था, इसलिए वह नजराना मैं आपको देने आया हूँ।"

सम्राट ने तीनों शाहजादों के सिर देखे। एक आह भरी और साहस के साथ कहा :

"अलहम्दोलिल्लाह ! तैमूर की औलाद इसी सुर्खरू के साथ अपने बाप-दादों के सामने आया करे !"

इन शाहजादों के सिर खूनी दरवाजों के सामने लटकाये गये और उनके धड़ों को कोतवाली के सामने ऊँचाई पर टाँगा गया।

उजाड़ दिल्ली

दिल्ली शहर पर अंगरेजी सेना ने कब्जा कर लिया। बचे-बचाये विद्रोही सैनिक इधर-उधर हो गये। अंगरेजी सिपाहियों ने नगर में लूट-मार आरम्भ कर दी। इतने दिनों तक क्रान्ति के नाम पर हिन्दू और मुसलमानों ने जो कुछ किया था, उसका बदला लेने के लिए गोरे सिपाही उन्मत्त होकर जुटे। जो दिखायी पड़ा गोली से उड़ा दिया गया। मकानों में आग लगायी गयी। खुशहाल घरानों को लूट लिया गया। इस प्रकार कई दिनों तक दिल्ली में कत्लेआम होता रहा। जिसके कारण दिल्ली बीरान हो गयी।

सम्राट बहादुरशाह उसकी बेगम जीनत महल और उसके प्यारे बेटे जवाँबख्श को कैदी हालत में दिल्ली के लाल किले से निकालकर रंगून भेज दिया गया। वहाँ पर सन् १८६३ में कैदी हालत में सम्राट की मृत्यु हो गयी।

———

पैंतालीसवाँ परिच्छेद

अवध और बिहार में क्रान्ति की लपटें

लखनऊ मे विद्रोह का रूप

नवाब वाजिदअली शाह कैदी था और उसका लड़का बिरजीस कदर लखनऊ की गद्दी पर था। वह अभी नाबालिग था, इसलिए उसकी माँ हजरत महल राज्य का काम करती थी।

लखनऊ में विप्लव की लपटें उठ रही थीं और वहाँ के समस्त अंगरेज रेजीडेन्सी के भीतर थे। लखनऊ के क्रान्तिकारियों ने २० जुलाई सन् १८५७ से रेजीडेन्सी पर आकमण आरम्भ कर दिये थे। इन्हीं हमलों में अवध का चीफ कमिश्नर सर हेनरी लारेन्स मारा गया था, यह पंजाब के चीफ कमिश्नर सर जान लारेन्स का भाई था। उसके स्थान पर मेजर बैंक्स आया, लेकिन वह भी मारा गया।

अपनी सेना के साथ हैवलाक कानपुर में था, लखनऊ के समाचारों को सुनकर वह २९ जुलाई को कानपुर से लखनऊ के लिए रवाना हुआ।

कानपुर से लखनऊ तक का रास्ता भी सुरक्षित न था। रास्ते के गाँवों में भी विद्रोह की आग जल रही थी और हिन्दू-मुसलमानों के गिरोह सशस्त्र घूम रहे थे। हैवलाक को उन्नाव पहुँचते ही विप्लवकारियों से युद्ध करना पड़ा। वहाँ से आगे बढ़ते ही बशीरतगञ्ज के क्रान्तिकारियों ने उसे रोका और वहाँ पर भी जमकर लड़ाई हुई। यहाँ पर अंगरेजी सैनिक अधिक संख्या में मारे गये। इस दशा में हैवलाक को पीछे की ओर लौटना पड़ा। उसने मगरवारा में कई दिन रुककर लखनऊ के लिए फिर प्रस्थान किया। बशीरतगञ्ज में उसकी सेना फिर रोकी गयी। वहाँ पर उसे फिर युद्ध करना पड़ा।

इधर नाना साहब ने एक सेना लेकर कानपुर के अंगरेजों पर

आक्रमण किया। जनरल नील अपनी सेना के साथ, उस समय कानपुर में था। नाना के आक्रमण की खबर पाकर हैवलाक कानपुर लौट आया। उसने नाना साहब की सेना पर आक्रमण किया और लखनऊ तथा कानपुर के समाचार उसने कलकत्ते भेजे। उन समाचारों में उसने अपनी मुसीबतें बतायीं और सहायता के लिए तुरन्त सेना भेजने के लिए लिखा।

सर जेम्स ऊटरम एक बड़ी सेना के साथ कानपुर भेजा गया और वह १५ सितम्बर को कानपुर पहुँच गया। अब कुछ सेना कानपुर की रक्षा के लिए छोड़कर बाकी सेना लखनऊ के लिए रवाना की गयी। रास्ते में लड़ते-भिड़ते वह २३ सितम्बर को लखनऊ के आलमबाग में पहुँची। वहाँ क्रान्तिकारियों के साथ उसका युद्ध हुआ। उसके बाद अंगरेजी सेना और आगे बढ़ी। लखनऊ के कई मुकामों पर क्रान्तिकारियों के साथ अंगरेजी सेना को युद्ध करने पड़े और दोनों ओर से घमासान संग्राम हुए। कानपुर से जनरल नील भी अपनी सेना लेकर लखनऊ गया था। आलमबाग के बाद होने वाली लड़ाइयों में नील जान से मारा गया। लेकिन अंगरेजी सेना रेजीडेन्सी तक पहुँच गयी।

इन्हीं दिनों में सर कालिन कैम्पबेल अंगरेजी सेनाओं का कमाण्डर इन-चीफ होकर १३ अगस्त को कलकत्ते आया, उसने लखनऊ के समाचार सुने। वह लखनऊ के लिए रवाना हो गया।

सर कैम्पबेल ३ नवम्बर को कानपुर पहुँचा। यहाँ पर उसने अपनी सेना की व्यवस्था की और उसको बढ़ाने का भी प्रयत्न किया। उसके बाद जनरल ग्राण्ट और उसकी सेना को लेकर वह लखनऊ के लिए चला। नवम्बर की ९ तारीख को वह आलमबाग पहुँच गया।

अभी तक क्रान्तिकारियों के आक्रमण रेजीडेन्सी पर हो रहे थे और उसके भीतर की अंगरेजी सेना जवाब दे रही थी। १४ नवम्बर को कैम्पबेल की सेना रेजीडेन्सी के करीब पहुँच गयी। उसके साथ कई प्रसिद्ध सेनापति थे और गोरी सेना के साथ-साथ पंजाबी और सिखों की पलटनें भी थीं।

कैम्पबेल की सेना ने १६ नवम्बर को सिकन्दर बाग पर आक्रमण किया। क्रान्तिकारी सेना ने वीरतापूर्वक उसका मुकाबिला किया।

अंगरेजी सेना बहुत बड़ी थी और युद्ध की सामग्री भी उसके साथ अधिक थी। लेकिन क्रान्तिकारियों को पीछे हटाना, उसके लिए कठिन हो गया।

सिकन्दर बाग के युद्ध में क्रान्तिकारियों ने जिस साहस और पराक्रम का परिचय दिया, उसकी प्रशंसा करते हुए इतिहासकार विद्वान मालेसन ने लिखा है :

"सिकन्दरबाग का युद्ध एक भयानक युद्ध था, जिसमें खून के नाले बहे। क्रान्तिकारियों ने जिस वीरता का परिचय दिया, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।"

सिकन्दर बाग के बाद दिलखुश बाग, आलम बाग, शाहनजफ और मोतीमहल में भी भयानक संग्राम हुए। इसी बीच में कैम्पबेल को मालूम हुआ कि नाना साहब की सेना ने कानपुर में फिर कब्जा कर लिया है। यह सुनकर उसने ऊटरम को लखनऊ में छोड़ा और वह कानपुर के लिए रवाना हो गया।

कैम्पबेल अपनी सेना के साथ कानपुर के करीब पहुँचा ही था कि नाना साहब के मराठा सेनापति तात्या टोपे ने अपनी सेना लेकर कैम्पबेल की सेना पर आक्रमण किया। दोनों ओर से खूब युद्ध हुआ। तात्या टोपे के साथ ग्वालियर की जो सेना थी, वह पीछे हटने लगी। इसी समय मौका पाकर अंगरेजी सेना आगे बढ़ी। टोपे को अपनी पराजय का अनुमान हुआ। वह तुरन्त पीछे हटा और अपनी सेना के साथ दक्खिन की ओर चला गया।

अंगरेजी सेना ने टोपे का पीछा किया। शिवराजपुर के मैदान में दोनों ओर की सेनाओं में फिर युद्ध हुआ। लेकिन विशाल अंगरेजी सेना के मुकाबिले मे टोपे का ठहर सकना मुश्किल हो गया। उसके पास सेना बहुत कम थी। अपनी बची हुई सेना के साथ वह कालपी की ओर चला गया। कैम्पबेल की सेना ने कानपुर में फिर अपना अधिकार कर लिया।

इसी बीच में एक छोटी-सी लड़ाई इटावा में और उसके बाद फरुखाबाद की राजधानी फतहगढ़ में हुई। फतहगढ़ को विजय करके अंगरेजी सेना ने वहाँ के नवाब को कैद कर लिया और उसे फाँसी दे दी गयी।

लखनऊ में अंगरेजी सेना का जोर

कानपुर से कैम्पबेल फिर लखनऊ के लिए लौटा। उसके साथ इस बार बहुत बड़ी सेना थी। १७००० पैदल सिपाही थे, ५००० सवार थे और १३५ तोपें थीं। इतनी बड़ी सेना भी लखनऊ के क्रान्तिकारियों को दबाने के लिए शायद काफी न थी। इसलिए अंगरेजी सेना को अपनी सहायता के लिए नैपाल की गोरखा पलटन भी मँगानी पड़ी।

नैपाल के राजा का यह खुल्लमखुल्ला देश द्रोह था। लेकिन इस देशद्रोह की आड़ में एक ईर्षा-भाव छिपा हुआ था। नैपाल-युद्ध के समय अवध के नवाब ने ढाई करोड़ रुपये देकर अंगरेजों की मदद की थी। आज अवध की राजधानी लखनऊ पर आकमण करने के लिए अंगरेजों की सहायता में गोरखा पलटन भेज कर नैपाल के राजा ने अवध के नवाब से अपना बदला लिया। अवध के नबाब ने ढाई करोड़ रुपये देकर देश के प्रति पाप किया था, जिसके प्रायश्चित में अंगरेजों ही के कारण अवध में खून की नदियाँ बहीं! नैपाल के राजा ने गोरखा पलटन भेजकर देश के प्रति महान पाप किया; जिसका प्रायश्चित्त भी महान होगा और नैपाल को ही उसका भोग करना पड़ेगा।

कानपुर से कैम्पबेल के साथ जो विशाल सेना आ रही थी, लखनऊ के करीब वह नैपाल से आने वाली गोरखा पलटन के साथ ११ मार्च सन् १८५८ को मिल गयी।

लखनऊ में क्रान्ति के अन्तिम दिन

अभी तक लखनऊ शहर क्रान्तिकारियों के अधिकार में था। शहर के बाहर आलमबाग में अंगरेजी सेना ने अपना मुकाम बना रखा था। ६ मार्च से ऊटरम की सेना के सिपाही बराबर आकमण कर रखे थे। लखनऊ पहुँचकर कैम्पबेल की सेना के हमले भी आरम्भ हो गये। यह तीसरा मौका था जब लखनऊ में भीषण संग्राम हुआ और सम्राट को गिरफ्तार करने वाला हडसन मारा गया।

दिल्ली की तरह लखनऊ की क्रान्ति का भी अन्त हुआ।

अन्तिम दिनों में अंगरेजी सेना को जितने मोर्चे लड़ने पड़े, उन सभी में अंगरेजों की जीत हुई, इस जीत के कितने ही कारण थे:

(१) क्रान्तिकारियों की कोई व्यवस्था न थी और न व्यवस्था देने वाला कोई प्रभावशाली आदमी था।

(२) क्रान्तिकारी सेनाओं में अनुशासन की बड़ी कमी थी। सभी अपना बोलबाला चाहते थे।

(३) पंजाबी, सिखों और गोरखों की पलटनों के मिल जाने से अंगरेजों की ताकत बढ़ गयी थी।

(४) अंगरेजी गुप्तचर विभाग के द्वारा अच्छे कार्य कर्त्ता और प्रभावशाली आदमी, नागरिकों और गाँवों के लोगों को बहकाने तथा उनके दिलों को तोड़ने का काम कर रहे थे। लोगों में भ्रम बढ़ता जाता था।

(५) अंगरेजी सेनाओं के अत्याचारों से लोगों में भय बहुत बढ़ गया था।

(६) क्रान्ति का श्रीगणेश सम्राट बहादुर शाह के नाम से हुआ था और सम्राट गिरफ्तार हो चुका था। इससे भविष्य की आशायें मिट चुकी थीं।

इस प्रकार के कितने ही कारणों से लखनऊ की क्रान्ति का भी पतन हुआ। अपने नाबालिग लड़के बिरजीस कदर के साथ बेगम हजरत महल लखनऊ शहर से निकलकर चली गयीं। लखनऊ क्रान्ति का प्रमुख नेता मौलबी अहमद शाह ने भी शहर छोड़ दिया। लखनऊ में फिर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

बिहार मे विप्लव

दिल्ली में क्रान्तिकारियों के शिकस्त हो जाने के बाद भी लखनऊ के क्रान्तिकारी कई महीने तक अंगरेजों के साथ युद्ध करते रहे और लखनऊ का विप्लव जब ठण्डा पड़ गया था तो भी बिहार मे स्वाधीनता का युद्ध चलता रहा।

यह बात सही है कि अवध और दिल्ली में विप्लव का संगठन जितना मजबूत हुआ था, उतना बिहार में न था। फिर भी जहाँ पर जितना था, उतना मजबूती के साथ था।

विहार के प्रमुख नगरों में क्रान्ति की योजना थी। उन्हीं नगरों से छोटे मुकामों के विप्लव का सम्बन्ध था। विप्लव की योजना सम्पूर्ण देश की एक थी।

क्रान्ति का धुआँ तो उड़ ही रहा था, ३ जुलाई को पटने में विद्रोह हुआ इधर-उधर कुछ घटनायें भी घटीं, लेकिन सिख सेना के द्वारा विद्रोहियों को दबा दिया गया। मीरअली नामक एक मुसलमान पटना की क्रान्ति का नेता था। वह गिरफ्तार कर लिया गया और उसे फाँसी दे दी गयी।

दानापुर की छावनी में अंगरेजों की देशी और गोरों की पलटनें थीं। देशी सैनिकों ने क्रान्ति की घोषणा की और वे जगदीशपुर की ओर रवाना हुईं। जिला शाहाबाद में जगदीशपुर नाम की एक छोटी-सी रियासत थी। लार्ड डलहौजी के शासनकाल में वह रियासत अंगरेजी राज्य में मिला ली गयी थी। उसका राजा कुँवरसिंह अब भी वहीं रहता था, अपने इलाके मे सभी लोग उसका सम्मान करते थे। बिहार मे जो क्रान्तिकारी नेता थे, उनमे कुँवरसिंह भी एक था।

कुँवरसिंह वृद्ध था, लेकिन बहादुर और युद्ध-कला मे निपुण था। दानापुर की विद्रोही सेना ने जगदीशपुर पहुँच कर कुँवरसिंह के नाम का नारा लगाया। कुँवरसिंह की प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा। अब वह अपने महल में रुक न सका। कपड़े पहने, शस्त्र उठाये और क्रान्तिकारी सेना मे जाकर मिला। सैनिकों ने सैनिक सलामी दी। कुँवरसिंह ने प्रोत्साहन देने वाली कुछ बातें कहीं और उनका नेतृत्व स्वीकार किया।

सेना के साथ, कुँवर सिंह आरा की तरफ चला। वहाँ पहुँचने पर उसने आरा का खजाना अपने कब्जे में कर लिया। जेलखाने के कैदी छोड़ दिये गये। अंगरेजी आफिस गिरा दिये गये। आरा के किले में अंगरेजों की एक छोटी-सी सेना थी, कुँवरसिंह ने अपनी सेना को लेकर किले को घेर लिया।

विहार के विप्लव का समाचार पाते ही अंगरेजों ने अपनी तैयारी की। २९ जूलाई को दानापुर में गोरों और सिखों की एक छोटी-सी सेना तैयार हुई और कुँवरसिंह पर आक्रमण करने के लिए वह आरा के लिए रवाना हुई। आरा के करीब अंगरेजी सेना के साथ पहुँचकर

कुँवरसिंह की क्रान्तिकारी सेना का युद्ध हुआ। कप्तान डनबर की अधीनता में यह अंगरेजी सेना आरा पहुँची थी, कुँवरसिंह के मुकाबिले में अंगरेजी सेना की पराजय हुई। उसके पचास सिपाहियों को छोड़कर बाकी सब मारे गये। इन बचे हुए सिपापियों को लेकर कप्तान डनबर दानापुर लौट गया।

कुँवरसिंह ने आरा शहर पर अपना कब्जा कर लिया था। कप्तान डनबर के पराजित होकर लौटने पर एक बड़ी अंगरेजी सेना लेकर जनरल आयर आरा के लिए चला। बीबीगंज के मैदान में दोनों ओर की फौजों का कठिन युद्ध हुआ। अंगरेजी सेना बहुत बड़ी थी और उसके साथ तोपें भी थीं, इसलिए अन्त में कुँवरसिंह को पराजित हो कर हटना पड़ा। अंगरेजी सेना ने आरा शहर पर फिर अपना कब्जा कर लिया।

आरा से कुँवरसिंह की सेना जगदीशपुर की ओर चली गयी। मेजर आयर ने उसका पीछा किया। दोनों में फिर युद्ध हुआ, किन्तु विशाल अंगरेजी सेना के मुकाबिले में कुँवरसिंह को फिर हारना पड़ा। अंगरेजी सेना ने १४ अगस्त को जगदीशपुर में कुँवरसिंह के महल पर कब्जा कर लिया। कुँवर ने अपने महल को पहले ही छोड़ दिया था और सेना को लेकर कहीं अन्यत्र मुकाम किया।

अंगरेजों की हार-पर-हार

जगदीशपुर छोड़कर कुँवरसिंह ने अपने ठहरने के लिए अतरौलिया में मुकाम बनाया। अंगरेजों को इसकी खबर मिली। मिलमैन के सेनापतित्व में अतरौलिया के लिए एक सेना भेजी गयी। वहाँ के मैदान में दोनों सेनाओं का मोर्चा हुआ। जोरदार युद्ध हुआ। अंगरेजी सेना बड़ी थी, लेकिन कुँवरसिंह ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। वह पीछे हटता गया। अंगरेजी सेना ने यह समझ लिया कि कुँवरसिंह यहाँ पर भी हारा। अंगरेजी सेना जैसे ही लौटी, कुँवरसिंह ने उसी समय उस पर आक्रमण किया। भयानक मार-काट हुई और अन्त में अंगरेजी सेना की हार हुई। पराजित अंगरेजी सैनिक आजमगढ़ की ओर चले गये। उनकी बहुत-सी युद्ध सामग्री और कुछ तोपें कुँवरसिंह के कब्जे में आ गयीं।

मिलमैन की सहायता के लिए बनारस से अंगरेजी सेना करनल डेम्स के साथ आजमगढ़ आयी और दोनों अंगरेजी सेनाओं ने कुँवरसिंह की सेना पर आजमगढ़ से कुछ दूरी पर आक्रमण किया किन्तु फिर भी विजय कुँवरसिंह की ही रही।

उन दिनों में लार्ड कैनिंग इलाहाबाद में था। अंगरेजी सेनाओं की पराजय के समाचार उसने सुने। उसने एक बड़ी सेना कुँवरसिंह को शिकस्त देने के लिए रवाना की। ६ अप्रैल को इस अंगरेजी सेना के साथ भी कुँवरसिंह को युद्ध करना पड़ा। अस्सी वर्ष का बूढ़ा कुँवरसिंह बहुत दिनों से अंगरेजों के ऊपर विष के घूँट निगल रहा था। अपने सैनिकों से उसने जिस प्रकार युद्ध का काम लिया, इसे लिखा नहीं जा सकता। कुँवरसिंह की वीरता की प्रशंसा अंगरेजी इतिहासकारों ने स्वयं की है।

युद्ध मे अंगरेजी सेना की यहाँ भी पराजय हुई। वह पराजित होकर आजमगढ़ की तरफ बढ़ी। वह सेना आजमगढ़ के किले मे चली गयी और कुँवरसिंह ने उस किले पर घेरा डाल दिया।

इस बीच में कुँवरसिंह ने कई अंगरेजी सेनाओं को पराजित किया। इस विजय से कुँवरसिंह और उसके सैनिकों का उत्साह बहुत बढ़ गया। अभी तक जगदीशपुर मे अंगरेजों का कब्जा चल रहा था और और उसके महल पर भी अंगरेजों ने अधिकार कर लिया था।

कुँवरसिंह कुछ सोचकर जगदीशपुर की ओर चला। रास्ते में एक नयी अंगरेजी सेना उसे मिली, जो उसके साथ युद्ध करने के लिए आ रही थी। कुँवरसिंह की सेना को उस अंगरेजी सैन्य दल के साथ भी युद्ध करना पड़ा। वह सैन्यदल विशाल था। लेकिन कुँवरसिंह ने हिकमत से काम लिया। पहले वह पराजित के रूप में वहाँ से हटा, लेकिन उसने शत्रु को धोखे में डालकर अचानक हमला किया और उस विशाल सैन्य दल पर भी वह विजयी हुआ।

इसके बाद डगलस के सेनापतित्व में एक और नयी सेना आयी। नघई नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का सामना हुआ। युद्ध की कला और शत्रु को पराजित करने की तरकीबें कुँवरसिंह खूब जानता था। उसने अपनी सेना के तीन हिस्से किये। एक हिस्सा अंगरेजी सेना के

साथ लड़ता रहा। दो दल आगे बढ़ गये। उनके दूर निकल जाने पर जो दल कुँवरसिंह का लड़ रहा था, वह पीछे हटने लगा। अङ्गरेजी सेना ने लगातार उसका पीछा किया। बहुत दूर निकल जाने पर कुँवरसिंह के बाकी दोनों दलों ने बगलों से आकर हमला किया। अङ्गरेजी सेना को बहुत हानि उठाना पड़ा और वह घबराकर युद्ध से भागी।

पराजित डगलस की सेना ने फिर एक बार कुँवरसिंह की सेना पर आक्रमण किया और क्रान्तिकारी सेना को हार जाना पड़ा। अङ्गरेजी और क्रान्तिकारी सेना में इस प्रकार कई युद्ध हुए। डगलस स्वयं एक सेनापति था, और युद्ध मे निपुण माना जाता था।

इन लड़ाइयों में कुँवरसिंह के दाहिने हाथ में गोली लगी, जिससे वह हाथ निकम्मा हो गया। कुँवरसिंह ने यह समझकर कि विष सारे शरीर में न फैल जाय, अपने बायें हाथ में तलवार लेकर उसने अपना दहिना हाथ काट डाला। कटे हुए स्थान पर उसने कपड़ा लपेटा और फिर उसने वहीं पर अपना कब्जा कर लिया;

जब यह समाचार अङ्गरेजों को मालूम हुआ कि कुँवरसिंह ने जगदीशपुर में फिर से अधिकार कर लिया तो आरा से लीग्रैण्ड के साथ एक अङ्गरेजी सेना जगदीशपुर मे हमला करने के लिए रवाना हुई। कुँवरसिंह का दाहिना हाथ कट चुका था उसके पास सेना भी अब बहुत कम थी। जो बाकी थी, वह लगातार अब तक युद्ध करते-करते थक गयी थी। जो बूढ़ा कुँवरसिंह खुद भी विश्राम चाहता था। किन्तु उसने अङ्गरेजी सेना के होने वाले आक्रमण का समाचार सुना। उसने हिम्मत से काम लिया और अपनी सेना को लेकर उसने अङ्गरेजी सैनिकों का सामना किया।

कुँवरसिंह की सेना कई बार अङ्गरेजी सेनाओं पर विजयी हो चुकी थी। उसके हौसले बढ़े हुए थे। कुँवरसिंह की सेना ने लीग्रैण्ड की सेना को भी पराजित किया। एक अंगरेज अफसर ने कुँवरसिंह की विजय और अपनी पराजय का विवरण लिखते समय साफ-साफ लिखा है कि कुँवरसिंह बूढ़ा होने पर भी कितना बहादुर और युद्धकला में किस प्रकार प्रवीण था।

भारत में अंगरेजों को बहुत लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। लेकिन

कुँवरसिंह के मुकाबिले में जितनी उनकी जिल्लत हुई, उतनी कदाचित किसी दूसरे मौके पर न हुई थी। प्रसिद्ध विद्वान इतिहासकार व्हाइट ने लिखा है :

"कुँवरसिंह के मुकाबिले में अंगरेजों को लगातार और बुरे तरीके पर पराजित होना पड़ा।

कुँवरसिंह की मृत्यु

अपनी योग्यता और बहादुरी के कारण कुँवरसिंह ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जगदीशपुर में अपना अधिकार कर लिया था। उसका कटा हुआ दाहिना हाथ अच्छा न हो सका और उसी के कारण कुँवरसिंह की मृत्यु २६ अप्रैल सन् १८५८ को जगदीपुर में हो गयी।

जगदीशपुर का अन्त

कुँवरसिंह के मरने के बाद उसका छोटा भाई अमरसिंह जगदीशपुर की गद्दी पर बैठा। कुँवरसिंह की तरह अमरसिंह भी वीर और साहसी था। क्रान्तिकारियों की सेना का निर्माण करके अंगरेजों के साथ उसने युद्ध बराबर जारी रखा। सैनिक शक्ति निर्बल और कम होने पर भी बहुत दिनों तक वह अङ्गरेजों के साथ युद्ध करता रहा लेकिन उसकी पराजय न हुई।

सेनापति डगलस अमरसिंह के पीछे पड़ गया। उसने अमरसिंह को परास्त करने के लिए कई युद्ध किये और हर तरीके से कोशिशें कीं। अमरसिंह की सेना के अधिकाँश सैनिक विश्राम न मिलने के कारण बराबर थकावट अनुभव कर रहे थे। सैनिकों की संख्या भी बहुत कम थी। इस अवस्था में डगलस की सेना ने जगदीशपुर को चारों ओर से घेर लिया।

इस मौके पर अमरसिंह के साथ बहुत थोड़े सैनिक रह गये थे। इसलिए युद्ध छोड़ कर उसको हट जाना पड़ा। लखनऊ का पतन हो चुका था। क्रान्ति की आग देश में ठन्डी होती जा रही थी, अंगरेजों की शक्तियाँ बढ़ रही थीं। देशी नरेशों की सेनायें खुल कर अंगरेजों का साथ दे रही थीं। अन्त में अमरसिंह कैमूर के पहाड़ों की तरफ चला गया। उसके बाद उसका फिर पता न चला। जगदीशपुर में अंगरेजों का कब्जा हो गया।

शाहजहाँपुर का युद्ध

अवध की क्रान्ति के अन्तिम दिन थे। नाना साहब और मौलवी अहमदशाह शाहजहाँपुर पहुँच गये थे। अपनी सेना ले कर सेनापति कैम्पबेल ने शाहजहाँपुर को घेर लिया। कैम्पबेल नाना और अहमदशाह को कैद करने की कोशिश में था, लेकिन वह कैद न कर सका।

क्रान्ति के कई नेता इन दिनों में बरेली मे मौजूद थे। कैम्पबेल अपनी सेना लेकर बरेली की ओर रवाना हुआ। ५ मई को अंगरेजी सेना ने बरेली शहर को घेर लिया। यहाँ पर क्रान्तिकारियों के साथ अंगरेजी सेना का एक युद्ध भी हुआ किन्तु विद्रोही ठहर न सके।

शाहजहाँपुर और बरेली में अंगरेजी सेना के साथ क्रान्तिकारियों की छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हुई और अन्त में उनमें अंगरेजों की ही विजय हुई।

जो क्रान्तिकारी नेता अभी तक युद्ध कर रहे थे, उनको अपनी निर्बलता का ज्ञान हुआ। इसलिए अन्त में उनको युद्ध करने की अपेक्षा अपनी और अपने साथ के आदमियों की रक्षा की अधिक चिन्ता हुई।

अंगरेजी सेनाओं ने लखनऊ क्रान्ति के नेता अहमदशाह को पकड़ने की बहुत कोशिश की परन्तु इसमें कामयाबी न हुई। अहमदशाह अंगरेजी सेना का सामना करने के लिए एक बार फिर कोशिश करना चाहता था। वह किसी प्रकार क्रान्तिकारियों के संगठन की कोशिश में था।

अहमदशाह अपनी कोशिश में लगा था। इसी बीच में पवन नामक एक रियासत के राजा जगन्नाथसिंह के पास वह अपनी योजना को लेकर गया। वहाँ पर उसके साथ विश्वासघात किया गया। अहमदशाह गोली का शिकार हुआ और ५ जून सन् १८५८ को अहमदशाह के जीवन का अन्त हुआ। राजा जगन्नाथसिंह को इस कार्य के इनाम में अंगरेजी सरकार की ओर से पचास हजार रुपये इनाम दिये गये।

छियालीसवाँ परिच्छेद

लक्ष्मी बाई और तात्या टोपे

झाँसी की क्रान्ति

सन् १८५७ की क्रान्ति में जिन नेताओं और देश के जिन सपूतों ने अपनी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता प्राप्त करने और विदेशी हुकूमत को मिटाने के लिए अपने जीवन की आहुतियाँ दीं, उनमें झांसी की रानी, युवती विधवा लक्ष्मी बाई का नाम प्रमुख है।

देश की इस क्रान्ति की योजना में लक्ष्मी बाई का हाथ था। देश की स्वतन्त्रता के नाम पर होने वाले विप्लव को सफल बनाने में लक्ष्मी बाई की प्रतिज्ञा थी। उसमें भावुकता न थी, परतन्त्रता की पीड़ा थी। उसका जीवन वीरता और साहस का जीवन था!

अंगरेजी राज्य का सेनापति सर ह्यू रोज एक विशाल सेना को साथ में लेकर विप्लव को दबाने और स्वाधीनता के उठते हुए भावों को निर्मूल करने के लिए घूम रहा था। उसके साथ गोरे सैनिकों की सेना थी, हैदराबाद, भोपाल और दूसरी रियासतों की सेनायें भी उसके साथ थीं। रायगढ़, सागर, चंदेरी और बानापुर आदि शहरों को मिटाते, बरबाद करते और अपना शासन कायम करते हुए सर ह्यू रोज २० मार्च सन् १८५८ को झाँसी के करीब पहुँचा।

क्रान्ति के उन दिनों में झाँसी अपने आस-पास के इलाकों में केन्द्र हो रही थी। वहीं से पड़ोसी क्रान्तिकारी स्थानों को संचालित करने की योजना थी। क्रान्तिकारियों के इकट्ठा होने के लिए आस-पास के इलाकों में झाँसी एक निश्चित स्थान था। इसलिए कई एक विप्लव के नेता भी वहाँ मौजूद थे। उनमें बानापुर के राजा मरदानसिंह और कई एक दूसरे राजा भी थे।

अंगरेजी सेना का आक्रमण होगा, इसका ख्याल लक्ष्मी बाई और

उसके सहायकों को पहले से था। इसलिए झाँसी के आस-पास दूर तक उजाड़ कर दिया गया था और वहाँ के निवासियों को उनके स्थानों से हट जाने की आज्ञा दे दी गयी थी।

अंगरेजी सेना झाँसी की ओर बढ़ रही थी। झाँसी मे क्रान्तिकारियों की युद्ध की तैयारी होने लगी। क्रान्तिकारी सेना का सेनापतित्व लक्ष्मी बाई को सौंपा गया। २४ मार्च सन् १८५८ को अंगरेजी सेना के साथ झाँसी की विद्रोही सेना का सामना हुआ। झांसी की सेना ने अंगरेजी सेना पर गोले बरसाने आरम्भ किये। उसके बाद एक सप्ताह तक युद्ध होता रहा।

बहुत बड़ी तादाद में युद्ध की सामग्री को लेकर, अंगरेजों की विशाल सेना ने झाँसी पर आक्रमण किया था। उसके सामने झाँसी की सेना बहुत कम और सामग्री में भी निर्बल थी। उस बीच मे तात्या टोपे जमुना के उत्तर ओर क्रान्तिकारी सेना के संगठन के लिए घूम रहा था। टोपे ने चरखारी के राजा के पास जाकर स्वाधीनता के आन्दोलन में भाग लेने के लिए कहा। राजा ने साफ़ इनकार कर दिया। राजा के इस रूखे व्यवहार को देखकर टोपे को बहुत रंज हुआ। उसने अपनी सेना को चरखारी पर हमला करने की आज्ञा दी। साधारण मारकाट के बाद ही चरखारी की कितनी ही तोपें तात्या टोपे के हाथों मे आ गयीं। राजा के होश भी ठिकाने हो गये। टोपे ने चरखारी राज्य से ३ लाख रुपये युद्ध के खर्च के लिए वसूल किये और वह कालपी की ओर रवाना हुआ।

तात्या टोपे अभी कालपी पहुँचा भी न था। उसे लक्ष्मी बाई का एक पत्र मिला। उसको पढ़कर वह झाँसी के लिए रवाना हो गया। अंगरेजी सेना के मुकाबिले में क्रान्तिकारियों की दो सेनायें हो गयीं। लक्ष्मी बाई की सेना तो युद्ध कर ही रही थी; तात्या टोपे की सेना भी उसकी सहायता के लिए पहुँच गयी। लेकिन टोपे की सेना को युद्ध मे कुछ सफलता न मिल सकी। उसकी युद्ध सामग्री अंगरेजों के हाथो मे आ गयी।

अंगरेजी सेना ने ३ अप्रैल को झाँसी पर बहुत जोरदार आक्रमण किया। लक्ष्मी बाई अपने सफेद घोड़े पर सवार थी और युद्ध के लिए अपने सैनिकों को ललकार रही थी। अंगरेजी सेना का जोर बढ़ता

जाता था। लेकिन लक्ष्मी बाई के साहस में जरा भी अन्तर न पड़ा। दो अंगरेज अफसर आगे बढ़े और अपने सैनिकों को आगे बढ़ने के लिए ललकारा। उसी समय दोनों अफसरों को गोलियाँ लगीं और वे दोनों वहीं पर खतम हो गये। उनके स्थान को दूसरे दो अंगरेजों ने पूरा किया और वे भी जैसे ही आगे बढ़े, मार दिये गये। इतिहासकार लो ने लिखा है कि झाँसी की दीवारों से गोलियों की वर्षा इतनी भीषण हो रही थी कि अंगरेजी सेना को युद्ध से एक बार हटना पड़ा।

उत्तर की ओर के सदर दरवाजे से अंगरेजी सेना को जब कोई कामयाबी हुई तो उसने दक्खिनी दरवाजे पर भी आक्रमण किया और किसी प्रकार उसके सैनिक नगर के भीतर पहुँच गये। अब उस विशाल सेना को रोक सकना बहुत कठिन हो गया। अंगरेजी सेना ने नगर मे घुसकर भयंकर मारकाट की। यह दृश्य देखकर लक्ष्मी बाई अपने एक हजार सैनिकों के साथ अंगरेजी सेना पर टूट पड़ी। दोनों ओर से तलवारों का घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। बहुत से सैनिक दोनों ओर के मारे गये और अंगरेजी सेना को पीछे हटना पड़ा।

इसी समय लक्ष्मी बाई को समाचार मिला कि सदर दरवाजे के संरक्षक सरदार खुदाबख्श और तोपखाने के संरक्षक सदर गुलाम गौस—दोनों मारे गये। लक्ष्मी बाई का साहस इस समय टूट गया। उसने झाँसी छोड़ दी और उसके हटते ही झाँसी पर अंगरेजों का कब्जा हो गया।

झाँसी छोड़ने के पहले लक्ष्मी बाई ने एक बार झाँसी की ओर देखा, अपने महलों पर उसने नजर डाली और फिर उसके बाद अपने साथ कुछ सवारों को लेकर कालपी की ओर रवाना हुई। चलते समय सिर झुकाकर झाँसी को उसने प्रणाम किया और अपने जीवन की आखिरी नजरों से देखकर उसने कालपी का रास्ता पकड़ा।

अपने कुछ सवारों के साथ एक अंगरेज अफसर ने लक्ष्मी बाई का पीछा किया। लेकिन वह पा न सका। झाँसी से कालपी तक, एक सौ दो मील की लम्बी यात्रा लक्ष्मी बाई ने अपने कुछ सवारों के साथ पार की। लेकिन उसका घोड़ा इतना थक गया कि कालपी

पहुँचते ही वह गिरकर मर गया। दूसरे दिन तात्या टोपे और नाना साहब के भतीजे राव साहब के साथ लक्ष्मी बाई की बातें हुईं।

कालपी का युद्ध

क्रान्तिकारियों के नेताओं से कालपी में जब लक्ष्मी बाई परामर्श कर रही थी, उस समय वहाँ पर राव साहब, तात्या टोपे, बाँदा का नवाब, शाहगढ़ और बानापुर के राजा उपस्थित थे। लेकिन लक्ष्मी बाई को छोड़कर उनमें कोई नवाब तथा राजा युद्ध के लिए उपयोगी न था। जो कुछ ये लोग थे उनमें भी कोई एक नेता न था, देश की इस क्रान्ति में यह अभाव सभी स्थानों पर पाया गया। झांसी मे भी यही अवस्था थी।

बहुत-सी बातों के परामर्श होने के बाद लक्ष्मी बाई को अपने साथ के लोगों में कोई दिखाई न पड़ा। कालपी से उसने एक सेना अपने साथ ली और कञ्चगाँव मे सर ह्यू रोज की सेना का उसने मोर्चा लिया। क्रान्तिकारी सेना के लोग संख्या मे भी कम थे और सैनिक शिक्षा की उनमें कमी थी। इसलिए क्रान्तिकारी सेना की हार हुई।

इसके बाद सर ह्यू रोज ने कालपी पर आक्रमण किया। लक्ष्मी बाई ने अपनी पराजित सेना को लेकर अंगरेजी सेना का फिर मुकाबिला किया। दोनों ओर से करारा युद्ध हुआ। अन्त मे यहाँ पर भी अंगरेजी सेना की जीत रही। अंगरेजी सेना २४ मई को कालपी के भीतर पहुँची। वहाँ के किले में अंगरेजों को युद्ध की बहुत-सी सामग्री भी प्राप्त हुई। अपने कुछ आदमियों के साथ लक्ष्मी बाई कालपी से भी चली गयी।

क्रान्तिकारी : सैनिक शक्ति : अगले युद्ध

क्रान्तिकारियों की अवस्था अब बहुत निर्बल हो रही थी। उनके पास न तो कोई लड़ने वाली सेना थी और न लड़ाई के सामान ही थे। इस निर्बल परिस्थिति में लक्ष्मी बाई और तात्या टोपे के पास केवल साहस था। तात्या टोपे कालपी छोड़कर ग्वालियर पहुँचा और वहाँ की सेना को अपने पक्ष में करके फिर लौटा। तात्या टोपे और

लक्ष्मी बाई ने ग्वालियर को जीतकर अपने कब्जे में करने की कोशिश की। इसी आधार पर ग्वालियर में युद्ध हुआ। अन्त में क्रान्तिकारियों की जीत हुई और वहाँ का मेगजीन और खजाना क्रान्तिकारियों के हाथों में आ गया।

ग्वालियर में ३ जून को एक बड़ा दरबार हुआ। उसमें राज्य के सभी सरदारों और सामन्तों ने प्रसन्नता के साथ भाग लिया। अरब, रुहेला, राजपूत और मराठा पलटनों को मिलाकर एक बड़ी सेना तैयार की गयी, तात्या टोपे उस सेना का प्रधान सेनापति बनाया गया।

सर ह्यू रोज ने ग्वालियर के राजा को अपने साथ मिला लिया और ग्वालियर की क्रान्तिकारी सेना पर आक्रमण करने की तैयारी की। दोनों ओर से घमासान युद्ध आरम्भ हुआ। ग्वालियर की क्रान्तिकारी सेना लड़खड़ाती हुई दिखाई पड़ी। लक्ष्मी बाई ने बड़ी कोशिश के साथ मोर्चे को सम्हाला। उसके साथ उसकी दो सहेलियां मन्दरा और काशी बाई भी शत्रु से युद्ध कर रही थीं। सेनापति जनरल स्मिथ लक्ष्मी बाई के मुकाबिले के लिए आगे बढ़ा। लेकिन उसे फिर पीछे हटना पड़ा। कई बार यही हुआ। इतिहासकारों ने लिखा है कि उन दिन प्रातः काल से लेकर सायंकाल तक घोड़े पर सवार लक्ष्मी बाई ने अंगरेजी सेना के साथ भीषण युद्ध किया।

लक्ष्मी बाई की बहादुरी के कारण ही ग्वालियर की लड़खड़ाती हुई सेना मैदान में डटी रही। जनरल स्मिथ का एक बार साहस छूट गया और उसे पीछे हट जाना पड़ा। इस प्रकार १७ जून को लक्ष्मी बाई की विजय रही।

जनरल स्मिथ ने १८ जून को विशाल सेना लेकर फिर चढ़ाई की और उसकी सेना उसी स्थान पर पहुँची जहां से वह पिछले दिन पीछे हटा था। अंगरेजी सेना के साथ जनरल स्मिथ और सर ह्यू रोज—दोनों थे।

लक्ष्मी बाई ने जिस साहस और वीरता के साथ युद्ध किया, उसकी प्रशंसा एक बार शत्रु के मुँह से भी निकलती है। अंगरेज इतिहासकारों ने स्वयं लक्ष्मी बाई की शूरता की प्रशंसा की है।

युद्ध की गोद में लक्ष्मी बाई

इसी बीच में ग्वालियर की सेना इधर-उधर होने लगी। उसके साथ आयी हुई ग्वालियर की तोपों ने काम करना बन्द कर दिया। अपने थोड़े से सवारों को छोड़कर लक्ष्मी बाई के साथ कोई सेना न रह गयी। ग्वालियर की सेना की इस कमजोरी को पहले से लक्ष्मी बाई को कुछ पता न था। लक्ष्मी बाई ने अपना घोड़ा बढ़ा कर अपनी सेना को फिर एक बार ललकारने और युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को सोचा। उसके उस ओर बढ़ते ही अंगरेज सवारों ने उसका पीछा किया। कुछ दूरी पर एक नाला मिला। कोशिश करने पर भी लक्ष्मी बाई का घोड़ा नाले को लांघ न सका।

इसी मौके पर अङ्गरेजी सवार लक्ष्मी बाई के करीब पहुँच गये। वह अकेली थी, फिर भी घूमकर उसने सवारों का मुकाबिला किया। परन्तु कुछ ही देर के युद्ध में लक्ष्मी बाई घायल होकर घोड़े से गिर पड़ी। इसी मुकाम के करीब गङ्गादास बाबा की कुटी थी, वहां पर रामचन्द्रराव नामक एक आदमी रानी का अत्यन्त शुभचिन्तक और प्रशंसक मौजूद था। रानी को उठाकर कुटी के सामने ले गया। अभी तक लक्ष्मी बाई के प्राण बाकी थे। बाबा ने लक्ष्मी बाई को पानी पिलाया। कुछ मिनट और बीते होंगे, लक्ष्मी बाई का अन्त हो गया और उसका शरीर ठन्डा पड़ गया।

उसी कुटी के निकट रामचन्द्र राव ने घास-फूस और लकड़ियों की एक चिता बनायी। उसी चिता पर लक्ष्मी बाई का शरीर रखा गया और उसमें आग लगाई गई। रानी की चिता धक-धक करके जलने लगी। जिस समय लक्ष्मी बाई की चिता तेजी के साथ जल रही थी, उस समय चिता के पास कुटी का बाबा और रामचन्द्र राव के सिवा और कोई न था।

झाँसी और उसके आस-पास के इलाकों में जो क्रान्ति की तेजी थी, उसमें लक्ष्मी बाई का तेज और प्रताप था। उसके साहस, शौर्य, उत्साह और स्वाभिमान की प्रशंसा कितने ही इतिहास लेखकों ने मुक्तकंठ से की है। The Oxford Student's History of

India में विन्सेण्ट ए० स्मिथ ने सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में रानी लक्ष्मी बाई को सब से योग्य क्रान्ति का नेता माना है।

कुछ अन्य स्थानों की क्रान्तियाँ

भारत के उत्तरी जिलों, नगरों और कस्बों में ही क्रान्ति की तेजी रही। दूसरे भागों में जहाँ कहीं उसकी आग सुलगी भी, वहाँ तुरन्त बुझा दी गयी। १३ जुलाई को कोल्हापुर में भारतीय पलटन ने विद्रोह किया। लेकिन अंगरेजी सेना के भयानक दमन करने पर वह विद्रोह तुरन्त दब गया। दिसम्बर के महीने में कोल्हापुर में फिर विद्रोह की आग भभकी। कुछ उत्पात भी हुए। लेकिन उसके बाद ही वह ठन्डी हो गयी।

यही हालत बेलगाँव में भी हुई। विद्रोह का भी गणेश हुआ। लेकिन अधिक चल न सका। बम्बई और नागपुर की देशी पलटनों में भी क्रान्ति की तैयारी थी। लेकिन उन पलटनों को कुछ काम करने का मौका न मिला और भीषण दमन के साथ उनको कुचल दिया गया।

जबलपुर में राजा शंकरसिंह और उसका लड़का क्रान्ति के पक्ष में था। वहाँ पर ५२ नम्बर की देशी पलटन का झुकाव क्रान्ति की ओर हुआ। कुछ घटनायें भी हुई। लेकिन उसको अधिक उभरने का का अवसर न मिला। इस दशा में ५२ नम्बर की पलटन विद्रोही होकर जबलपुर से चली गयी और दूसरे स्थानों के क्रान्तिकारियों से मिल गयी।

सन् १८५७ के जून और जुलाई महीने में हैदराबाद में क्रान्ति के लक्षण जाहिर हुए। कितने ही मौलवियों ने अंगरेजों के विरुद्ध फतवे निकाले और लोगों को तैयार भी किया। लेकिन निजाम और उसके वजीरों ने अंगरेजों का साथ दिया। जो क्रान्ति की लहर में आ चुके थे, उनको अंगरेजों के हवाले किया गया। अंगरेजों ने उनको फाँसियाँ दीं। इस प्रकार हैदराबाद की उठती हुई क्रान्ति ठन्ढी हो गयी।

हैदराबाद के निकट जोरापुर नाम की एक छोटी सी रियासत थी। उसका युवक राजा क्रान्ति का पक्षपाती था। अंगरेजों से लड़ने के लिए उसने अरब और रुहेल पठानों की एक सेना तैयार की। फर-

वरी सन् १८५८ में वह हैदराबाद मिलने गया। वहाँ पर उसके साथ विश्वासघात हुआ और उसको कैद करके अंगरेजों को सौंप दिया गया।

जोरापुर के युवक राजा को फाँसी नहीं दी गई। बल्कि काले पानी की सजा हुई। काले पानी जाने से पहले ही उसने अंगरेज पहरेदार से किसी प्रकार पिस्तौल ले ली और अपने ऊपर गोली मारकर वह मर गया।

अवध में फिर विप्लव

अहमदशाह ५ जून सन् १८५८ को मारा गया। उसकी हत्या के बाद अवध में विद्रोह की फिर आग धधक उठी। नाना साहब, बाला साहब, विलायतशाह और अली खाँ मेवाती के नेतृत्व में क्रान्तिकारियों का फिर संगठन हुआ। राजा नरपतसिंह, राजा रामबख़्श, बहुनाथसिंह, चन्दासिंह, गुलाबसिंह, भूपालसिंह, हनुमन्तसिंह आदि कितने ही राजा अपनी सैनिक शक्तियों को लेकर अंगरेजों के विरुद्ध तैयार हो गये। राजा बेनीमाधव लखनऊ पर आक्रमण करने के लिए तैयारी करने लगा।

क्रान्तिकारियों की सेना, लखनऊ के निकट नवाबगंज में जमा हुई। १३ जून सन् १८५८ को दोनों ओर की सेनाओं मे युद्ध आरम्भ हुआ। भीषण युद्ध के बाद अन्त में अंगरेजी सेना विजयी हुई।

राजा बेनीमाधव के साथ भी शंकरपुर में अंगरेजी सेना का युद्ध हुआ। अंगरेजी सेना संख्या में अधिक थी और अच्छे अंगरेज सेनापतियों के नेतृत्व में युद्ध के लिए आती थी। कोई भी छोटी-मोटी देशी सेना उसके सामने ठहर न सकती थी। यही दशा राजा बेनीमाधव की सेना की भी हुई। लेकिन अन्त तक बेनीमाधव ने अंगरेजों के सामने अपना आत्म-समर्पण नहीं किया।

विक्टोरिया की घोषणा

सन् १८५७ की क्रान्ति आरम्भ हुई और अठारह महीने तक देश के किसी न किसी भाग में चलती रही। उसके बाद उसका अन्त हुआ। उस अन्त में विप्लव की सफलता के दर्शन नहीं हुए। फिर भी जिस

उद्देश्य को लेकर और जो नारा लगाकर क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ, उसमें किसी सीमा तक सफलता मिली।

इस क्रान्ति का कारण प्रमुख रूप से कम्पनी के अत्याचार थे। अनाचारों और असह्य व्यवहारों के कारण ही इस क्रान्ति का देश में जन्म हुआ। इस रूप में यह क्रान्ति कम्पनी के राज्य के विरोध में हुई थी। उसके अन्त के साथ-साथ इंगलैण्ड की सरकार को कम्पनी की अनीति स्वीकार करनी पड़ी और कम्पनी की हुकूमत को बदल देना ही अंगरेज सरकार ने भारतीय अंगरेजी सरकार के हित में अच्छा समझा।

भारतीय राजाओं और प्रजा के नाम महारानी विक्टोरिया की एक घोषणा प्रकाशित हुई। भारत में कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया।

"हिन्दुस्तान की हुकूमत मैंने अपने हाथ में ले ली है। जो लोग विद्रोह और हत्याओं के अपराधी हैं, उनके सिवा बाकी सभी लोग हथियार रख देने के बाद क्षमा के अधिकारी होंगे। धार्मिक विचारों में राज्य की ओर से कोई बाधा न डाली जायगी। नरेशों के साथ कम्पनी की जो संधियाँ हैं, उनका पालन किया जायगा। किसी की रियासत अपहरण न की जायगी। राज्य की ओर से एक भारतीय और अंगरेज में भेद-भाव न रखा जायगा।"

विक्टोरिया की इस घोषणा के प्रकाशित होते ही, उसके उत्तर में बेगम हजरत महल की ओर से अवध की प्रजा के नाम एलान जारी किया गया। उस एलान में साफ तौर पर बताया गया कि महारानी विक्टोरिया की घोषणा विश्वास के योग्य नहीं है। अंगरेजी घोषणा पर विश्वास करने से बड़े खतरे सामने आवेंगे और फिर उसका कोई इलाज न हो सकेगा। इस प्रकार जो एलान बेगम साहिबा का जारी हुआ, वह बहुत लम्बा था। लेकिन उसका सारांश यही था।

परिणाम यह हुआ कि विक्टोरिया की घोषणा के बाद भी अवध में क्रान्ति की चिनगारियाँ बराबर उठती रहीं। धीरे-धीरे छः महीने और बीत गये। शंकरपुर, दुँढ़िया खेरा, रायबरेली और सीतापुर में बराबर क्रान्ति के नाम पर कुछ न कुछ होता रहा। आक्रमण के रूप में क्रान्तिकारी, अंगरेजी सेना से बराबर युद्ध करते रहे।

नाना साहब ने नैपाल के राजा जंगबहादुरसिंह से पत्र-व्यवहार किया था और प्रार्थना की थी कि नेपाल से स्वाधीनता के इस युद्ध में सहायता मिलनी चाहिए। जंगबहादुरसिंह ने इससे इनकार किया। इसके बाद नाना साहब ने लिखा कि भारतीय विप्लवकारियों को नैपाल में रहने की आज्ञा मिले। महाराज जंगबहादुरसिंह ने दूसरी बात के मानने से भी इनकार कर दिया। उसके बाद नाना साहब के सम्बन्ध में फिर कुछ पता नहीं चला।

तात्या टोपे और अंगरेज

क्रान्ति में तात्या टोपे के दो मुख्य सहायक थे, लक्ष्मी बाई और नाना साहब। अब टोपे अकेला ही रह गया था।

बाँदा के नवाब रावसाहब और बाकी क्रान्तिकारियों को लेकर कोटा की तरफ तात्या टोपे जाना चाहता था। जौरा अलीपुर के मुकाम में अंगरेजी सेना ने टोपे को घेर लिया। लेकिन तात्या किसी प्रकार निकल गया और अंगरेज उसे पकड़ न सके।

तात्या टोपे भरतपुर जाना चाहता था। लेकिन वहाँ पर भी उसने अपने लिए रक्षा का स्थान नहीं पाया। इस अवस्था में वह जयपुर की तरफ चला। परन्तु वहाँ पर भी अंगरेजी सेना पहुँच चुकी थी। इसलिए उसकी अभिलाषा पूरी न हुई।

जयपुर के रास्ते से घूम कर तात्या टोपे टोंक पहुँचा, वहाँ के नवाब को जब मालूम हुआ तो उसने तात्या के मुकाबिले के लिए अपनी सेना भेजी। वह सेना युद्ध-क्षेत्र में पहुँचते ही टोपे से मिल गयी और अपनी तोपों के साथ-साथ बाकी सामग्री भी उसने टोपे को सौंप दी।

तात्या टोपे इसी प्रकार इन्द्रगढ़, बूँदी, नीमच, नसीराबाद होता हुआ भीलवाड़ा नामक स्थान में जाकर ठहरा। अंगरेजी सेना ने वहाँ पर भी जाकर टोपे को घेर लिया। लेकिन कुछ समय तक युद्ध करके टोपे अपने सैनिकों और सामान के साथ वहाँ से निकलकर उदयपुर की रियासत में कोटरा नामक स्थान पर चला गया।

कोटरा में १४ अगस्त को अंगरेजी सेना के साथ टोपे की सेना का युद्ध हुआ। लेकिन इन दिनों में वह युद्ध के योग्य अपने साथ

सेना न रखता था। इसलिए उसे कोटरा में पराजित होकर अपना सामान छोड़कर चला जाना पड़ा।

वहाँ से चलकर टोपे अपने सैनिकों के साथ झालरापट्टन की ओर पहुँचा, वहाँ के राजा ने अपनी सेना को टोपे से युद्ध करने के लिए भेजी। लेकिन वह सेना मैदान में पहुँचकर तात्या टोपे के सैनिकों से मिल गयी और अपना सामान भी उसने टोपे के सैनिकों को दे दिया।

जिन दिनों में तात्या टोपे एक स्थान से दूसरे स्थान को अंगरेजों से बचता हुआ जा रहा था, उन दिनों में बाँदा का नवाब और राव साहब—दोनों उसके साथ थे। टोपे का उद्देश्य यह था कि क्रान्तिकारियों को संगठित करके अंगरेजों से मोर्चा लिया जाय। लेकिन उसका यह उद्देश्य कहीं सफल न हुआ।

टोपे अपने साथ के सैनिकों और मित्र के साथ जिस प्रकार अलौकिक यात्रा कर रहा था, और अंगरेजी सेनाओं से घिर जाने पर भी जिस प्रकार वह अपने आदमियों के साथ सुरक्षित रूप में निकल आता था; उसकी प्रशंसा विदेशी इतिहासकारों ने अपनी पुस्तकों में की है।

इस यात्रा में नागपुर टोपे का आखिरी मुकाम था। नागपुर के मराठों से टोपे को कुछ भी सहायता न प्राप्त हुई। नागपुर में टोपे के के पहुँचने का समाचार पाकर अंगरेजी सेना ने वहाँ जाकर घेरा डाला। टोपे ने किसी प्रकार वहाँ से निकाल कर उस हालत में बड़ौदा जाने का इरादा किया।

टोपे बड़ौदा अभी पहुँचा न था. कुछ कारणों से उसको अपना रास्ता बदल देना पड़ा। इसी मौके पर बाँदा के नवाब ने अंगरेजों के सामने आत्म-समर्पण किया। अब टोपे के साथ केवल रावसाहब रह गया। इस अवसर का विवरण देते समय इतिहासकार मालेसन ने लिखा है :

"तात्या और रावसाहब अकेले रह गये। परिस्थिति कठिन और भयानक थी। परन्तु दोनों ही शांत और अन्त तक साहसी बने रहे।"

रावसाहब के साथ तात्या टोपे उदयपुर की तरफ जा रहा था। रास्ते में अंगरेजी सेना ने आक्रमण किया। लेकिन यहाँ से भी बचकर टोपे अपने आदमियों के साथ जंगल में चला गया। प्रतापगढ़ के करीब एक दूसरी अंगरेजी सेना उसे मिली। टोपे ने उसका मुकाबिला किया और उसको छिन्न-भिन्न करता हुआ वह आगे निकल गया।

बाँसवाड़ा के जङ्गल से होकर १५ दिसम्बर सन् १८५८ को वह गुजर रहा था। उसी मौके पर शाहजादा फीरोज शाह से उसकी भेंट हुई। फरोज शाह अपनी सेना को लेकर टोपे की सहायता के लिए रवाना हुआ था। यहाँ से तीनों तात्या टोपे, राव साहब और फीरोजशाह देवास की तरफ चले।

अंगरेजी सेनायें तात्या टोपे की खोज में थीं। १६ जनवरी सन् १८५९ को देवास में तीनों नेता बैठे हुए बातें कर रहे थे। उसी समय कुछ अंगरेजों ने वहाँ पहुँचकर आक्रमण किया और टोपे को कैद कर लेने की कोशिश की। लेकिन वे तीनों ही वहाँ से निकल भागे और फिर उनका पता न चला।

देवास से चलकर टोपे अपने मित्रों के साथ अलवर की तरफ चला गया, तात्या टोपे अपनी कोशिशों में अब बिलकुल निराश हो चुका था। वह इतना थक चुका था कि बिना विश्राम किये वह अब अधिक चल न सकता था। इसी अभिप्राय से वह सेना के साथ रावसाहब और फीरोज शाह को छोड़कर मानसिंह से मिलने के लिए गया।

टोपे को इस बात का पता न था कि मानसिंह इस बीच में अंगरेजों से मिल गया है और अंगरेजों ने इस शर्त पर उसकी रियासत वापस देने का वादा किया था कि वह क्रान्ति के नेताओं को कैद करने में अंगरेजों की सहायता करे।

तात्या टोपे मानसिंह के पास पहुँचा। उसने बड़ी खातिर से लिया और अंगरेजी सेना को खबर देकर उसने तात्या टोपे को कैद करा दिया। १७ अप्रैल सन् १८५९ की वह रात थी, जब कि टोपे अंगरेजों के हाथों में गिरफ्तार हुआ।

तात्या टोपे को फाँसी देने के लिए १८ अप्रेल सन् १८५९ का दिन निश्चित हुआ। फाँसी के स्थान पर अंगरेजी सेना का पहरा था। खुले मैदान में टोपे को फाँसी पर लटकाया जा रहा था। हजारों दर्शकों ने टोपे को देख कर श्रद्धा के साथ प्रणाम किया।

तात्या टोपे ने हँसते हुए फाँसी का फन्दा अपने गले में डाला। तख्ता खिंचा। टोपे का शरीर फाँसी पर लटक गया।

रावसाहब और फीरोज शाह कुछ दिनों तक अंगरेजों से लड़ते रहे। उसके बाद दोनों ने अपने भेष बदले और जङ्गलों को निकल गये। कई वर्ष तक फीरोज शाह भारतीय जङ्गलों में रह कर अरब चला गया और हिन्दुस्तानी फकीरों में जाकर मिल गया। रावसाहब गिरफ्तार किया गया और २० अगस्त सन् १८६२ को कानपुर में रावसाहब को फाँसी दी गयी।

———

सैंतालीसवाँ परिच्छेद

विप्लव के असफल होने के कारण

अंगरेजों के साथ युद्ध

अंगरेजी कम्पनी ने जिस दिन भारत की भूमि पर कदम रखे थे, उस दिन से लेकर सन् १८५७ के विप्लव तक अंगरेजों के साथ युद्ध करने के दो ही अवसर भारतवासियों के सामने आये। एक तो उस समय, जब अंगरेजों ने व्यापार की कला का राजनीतिक अधिकारों के प्राप्त करने में प्रयोग किया और उसके लिए उनको भारत के राजाओं, नरेशों और नवाबों से युद्ध करना पड़ा। दूसरा अवसर वह आया जब कम्पनी के अत्याचारों से ऊब कर सन् १८५७ मे हिन्दुस्तानियों ने विप्लव किया। यही दो अवसर ऐसे आये थे, जब अंगरेजों और भारतवासियों के बीच में युद्ध हुए और रक्त के नाले बहे।

पहले अवसर में अंगरेजों के साथ राजाओं, नरेशों और नवाबों के युद्धों को पढ़कर, दूसरे लोगों ने क्या समझा मुझे उसका पता नहीं लेकिन मुझे तो 'दिन में स्वप्न' देखने की भाँति वे सारे युद्ध मालूम होते हैं। अथवा यों कहा जाय कि उन युद्धों की घटनायें बिलकुल ऐयारी के उपन्यासों की घटनाओं के समान मालूम होती हैं। किसी राजा या नवाब पर चढ़ाई करना, उसके पड़ोसी राजा को मिलाकर अपने पक्ष में कर लेना, आक्रमण के पहले ही उसके सरदारों, सामन्तों, पलटन के अफसरों और सेनापतियों को मिलाकर अपनी कूटनीति को जंजीरों में ऐसा बाँध लेना कि वह फिर कभी उसके विरुद्ध सोच न सके और मुक्त न हो सके। उसके बाद ही आक्रमण करके विजय पाना, सन्धि करना, सन्धि में भी ऐयारी की चालों का प्रदर्शन करना और मनमानी शर्तों में जकड़ देना आदि सम्पूर्ण लड़ाइयाँ एक ही नाटक के रूप मे दिखायी पड़ती हैं।

यदि उस समय के राजा और नवाब इसी योग्य थे कि अंगरेजों ने जैसा चाहा, उनके साथ खेल खेला, न वे कुछ समझ सकते थे, न वे आपस में एक दूसरे के सहायक हो सकते थे, न वे स्वयं लड़ सकते थे और न अपनी शक्तियों को वे संगठित कर सकते थे तो फिर उसका जो परिणाम हुआ, उसमें आश्चर्य ही क्या है। उन दिनों में एक-दो मौके छोड़कर, बाकी किसी को भी युद्ध नहीं कहा जा सकता। उनमें केवल नाटककार की कल्पना मालूम होती है।

दूसरा अवसर अंगरेजों के साथ युद्ध करने का विप्लव के दिनों में देश के सामने आया। उन युद्धों में कुछ विप्लवकारिणी पलटनें थी, समाज था और इने-गिने हिन्दू मुस्लिम नेता थे। न तो युद्ध के साधन थे और न युद्ध करने का परिस्थितियाँ थी, फिर भी अहमदशाह, नाना साहब, कुँवरसिंह और लक्ष्मी बाई ने अपनी जिस वीरता का प्रदर्शन किया और देश की स्वाधीनता के नाम पर अपनी जो कुर्बानियां कीं, उन्होंने उनके नामों को उस समय तक के लिए अमर बना दिया, जब तक इस देश का अस्तित्व पृथ्वी पर है।

विप्लव का कारण

विप्लव की सफलता और असफलता की मीमांसा करने के पहले उसके दूसरे पहलुओं पर विचार कर लेना आवश्यक है। उन पहलुओं में विप्लव का कारण भी एक है। देश की पराधीनता के विरुद्ध कोई उस समय कहीं आवाज उठी हो, ऐसी बात न थी। न यही सच है कि जन साधारण में राजनीतिक जागरण का जन्म हुआ था। सर्वसाधारण में स्वतन्त्रता की भावनाओं का बिलकुल अभाव था।

कम्पनी के अधिकारियों ने असह्य अत्याचार देश में कर रखे थे। उन अत्याचारों का सम्बन्ध साधारण लोगों से लेकर रियासतदारों, सरदारों और राजाओं तक था। जिस देश के सरदारों नवाबों और राजाओं में भी स्वाधीनता और स्वाभिमान की भावनाएँ न पायी जाती हो, उस देश का सार्वजनिक जीवन कितना गिरा हुआ हो सकता है। इसके बताने की जरूरत नहीं है।

कम्पनी के राज से सभी लोग दुखी थे। लेकिन विप्लव में प्रमुख रूप से वही शामिल हुए, जिनकी रियासतें छीनकर कम्पनी के राज्य

में मिला ली गयी थीं। इसी प्रकार के लोगों में से कुछ नेता के रूप में विप्लव में सामने आये।

उनके सिवा विप्लव में काम करने वाले हिन्दुस्तानी पलटनों के सैनिक थे। उनके विद्रोह के कारण थे, नये तरह के बनाये गये कारतूस जिनके निर्माण में गाय और सुअर की चरबी का प्रयोग होने लगा था।

इन कारतूसों से धार्मिक विचारों को क्षति पहुँचती थी और उन विचारों पर विश्वास करने के कारण पलटनों में विद्रोह की आग धुआँ दे रही थी। क्रान्ति के नेताओं ने उस धुआँ देने वाली आग को सुलगाने का काम किया।

दिल्ली-सम्राट बहादुरशाह के यहाँ विद्रोहात्मक बातें होती और वहीं पर अनेक प्रकार के कार्यक्रम तैयार किये जाते। इतनी ही बातों को लेकर क्रान्ति की तैयारी हो रही थी। अनेक जिलों और शहरों में उनके कार्यकर्ता बनाये जा चुके थे। सभी कम्पनी के राज्य के विरोधी थे। यह विचारधारा सार्वसाधारण में भी फैल चुकी थी। देहली के सम्राट-दरबार में क्रान्ति की तारीख भी निश्चित हो गयी थी और यह भी निश्चय हो गया था कि एक ही तारीख और एक ही समय में सभी स्थानों में विद्रोह आरम्भ हो।

असफलता का कारण

यह सही है कि विप्लव असफल हुआ और वहीं तक असफल हुआ, जहां तक उसका सम्बन्ध और सम्पर्क देश की स्वाधीनता के साथ था। सन् १८५७ का विप्लव देश में स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध कहा जाता है और इतिहासकारों ने भी इसी रूप में उसे स्वीकार किया है। इस अवस्था में उसके असफल होने में कुछ भी मतभेद नहीं हो सकता।

इसके सम्बन्ध में हम पहले भी लिख चुके हैं और यहाँ पर भी हमें स्वीकार करना चाहिये कि इस विप्लव का मूलाधार राजनीतिक था, परन्तु उसके जन्मकाल की परिस्थितियाँ धार्मिक थीं। गाय और सुअर की चरबी से बने हुए कारतूसों को मुँह से काटने पर सिपाहियों का धर्म नष्ट होता था, यहीं से विद्रोह का जन्म हुआ।

विप्लव आरम्भ होने के समय देश की जैसी अवस्था थी उसके देखते हुए काफी दिनों तक उसका जीवन रहा। असफल अवस्था में उसके अन्त होने के अनेक कारण हैं। उनमें मुख्य यह भी है कि विप्लव निश्चित समय से पहले आरम्भ हो गया और सभी स्थानों में एक साथ नहीं हुआ।

संगठन, नेतृत्व और अनुशासन

उस क्रान्ति में इन तीनों बातों की कमी थी। विदेशी हुकुमत के विरुद्ध देश में न तो कोई जागृति थी और न उस जागरण के लिए कोई सार्वजनिक कार्य किया गया था। राजाओं और नवाबों का युग था। उनके राज्य और सिंहासन छीने जा चुके थे। फिर भी राजा और नवाब थे।

कोई भी क्रान्ति उस अवस्था में सफल होती है, जब उसके उद्देश्य को लेकर सार्वजनिक जागृति उत्पन्न की जाती है। विप्लव के पहले और बाद में भी लोगों ने एक धर्म की ही बात को समझा और यह भी समझा कि कारतूसों को मुँह से काटने से धर्म-क्षय होता था। इसी प्रकार की कुछ अधार्मिकता की भावनाओं से प्रेरित होकर देश में क्रान्ति की लहर उत्पन्न हुई और समय पा कर वह देश के अनेक स्थानों में फैल गयी।

विप्लव में नेतृत्व का सर्वथा अभाव था। यद्यपि देहली के सम्राट बहादुर शाह को विप्लव का सम्मान देकर क्रान्तिकारियों ने अपना युद्ध आरम्भ किया था और सब से बड़ा आदमी उस क्रान्ति का यदि था तो वह सम्राट बहादुरशाह था। लेकिन सम्राट बूढ़ा था। वह क्रान्ति का नेता न हो सकता था। शाही खानदान में जन्म लेने वाला और साम्राज्य के सिंहासन पर बैठकर राज्य करने वाला सम्राट क्रान्ति का नेता नहीं हो सकता।

नेतृत्व के अभाव में इतनी ही बात न थी। जो लोग क्रान्ति के नेता के रूप में आये, वे सभी स्थानीय होकर रहे। किसी एक नेता का नेतृत्व अथवा संगठनात्मक नेतृत्व देश को प्राप्त न था। यही कारण हुआ कि विप्लव आरम्भ हो जाने पर एक स्थान से दूसरे स्थान का सहायक न बन सका। उन्हीं दिनों में विद्रोह को दबाने के लि

सम्पूर्ण भारत का अंगरेजी राज्य एक सूत्र में बँधा था। किसी एक स्थान की कमजोरी को दूसरे स्थान की ताकत से दूर किया जाता था। शत्रु की एक ही ताकत थी और आवश्यकता के अनुसार कहीं पर भी उसका उपयोग होता था। क्रान्तिकारियों की शक्तियाँ बिखरी हुई थीं। "अपनी अपनी बाँसुरी, अपना-अपना राग" उनके सामने था। यही कारण था कि देहली की क्रान्ति बुझने के बाद फिर उसमें धुआँ उठने की नौबत न आयी।

क्रान्ति की इस असंगठित अवस्था में उसको दबाने के लिए अंगरेजों को बड़ी सुविधा मिली। यदि क्रान्ति की सभी शक्तियों का एक केन्द्र होता और उनका संचालन संगठित रूप में होता तो अंगरेजों के लिए उसका दबाना कठिन हो जाता।

विप्लव की असफलता का एक और कारण था, अनुशासन का अभाव। आरम्भ से लेकर अन्त तक क्रान्तिकारियों में कहीं पर भी अनुशासन न था। देहली, लखनऊ और झाँसी की क्रान्तियाँ भी इसी अभाव में समय से पहले ही खत्म हो गयीं। अनुशासन के अभाव का मुख्य कारण यह था कि पदच्युत राजा और नवाब ही अपने-अपने इलाकों में क्रान्ति के नेता थे। ईर्षा द्वेष और अभिमान को अपने जन्म के साथ वे लेकर संसार में आये थे। यदि उनमें एकता और शिष्ठता होती और अपने जीवन में अनुशासन के महत्व को उन्होंने कभी मान दिया तो मुट्ठी भर विदेशी अंगरेज हिन्दुस्तान का राज्य छीन कर अपने कब्जे में न कर लेते। उनके जीवन की यह एक बड़ी निर्बलता थी।

भारत में विदेशियों का भाग्य इसीलिए जागा कि यहाँ के नवाब और राजा आपस मे मिलकर रहना और विपद में एक दूसरे के काम आना न जानते थे। हिन्दुस्तान मे अंगरेजों की कामयाबी की आलोचना करते हुए एक विद्वान इतिहासकार ने लिखा है :

"अंगरेजों की कामयाबी का एक ही कारण था कि भारत के राजा और नरेश एक दूसरे से मिल न सकते थे।"

देश की इन निर्बलता का लाभ अंगरेजों ने उठाया और यहाँ की राजनीतिक सत्ता को छीनकर अपने अधिकार में कर लिया। आश्चर्य तो यह है कि उसके बाद भी इन राजाओं और नरेशों की

आँखें न खुलीं। वे मिट गये लेकिन उनका द्वेष और अभिमान न मिट सका।

सम्राट बहादुर शाह ने अपने लड़के मिरजा मुगल को हटाकर दिल्ली की सेनाओं का प्रधान सेनापति मोहम्मद बख्त खाँ को बनाया था। इसलिए कि उनकी आँखों में वह एक योग्य सेनापति था। परन्तु दिल्ली में क्रान्तिकारियों की जितनी भी सेनाएँ आकर जमा हुई थीं, उनके नेता नवाब और राजा, मोहम्मद बख्त खाँ की उपेक्षा इसलिए करते थे कि वह शाही खान्दान का आदमी न था और एक साधारण घराने में उसने जन्म लिया था। इसी कारण से लखनऊ में अहमद शाह को और मराठों में तात्या टोपे को पूर्ण सफलता न मिल रही थी।

परतन्त्रता की जंजीरों में देश यहाँ तक जकड़ गया था कि उसे साँस लेना कठिन हो रहा था; फिर भी राजाओं और नवाबों का खानदानी अभिमान उनके दिमागों से दूर न हो रहा था। दिल्ली में अंगरेजों के साथ एक भीषण युद्ध में सेनापति मोहम्मद बख्त की पराजय केवल इसलिए हुई थी कि उसकी सेना में कई छोटी-छोटी सेनायें थीं और वे भीषण युद्ध के समय भी आपस के द्वेष की आग मे जल रही थीं। वे शत्रु को पराजित करने की अपेक्षा एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश में उस समय भी थीं जब कि शत्रु के साथ उनका भयानक युद्ध हो रहा था।

यह सब-कुछ इसलिए था कि उनमें अनुशासन का पूर्ण रूप में अभाव था और इस अभाव के कारण क्रान्तिकारियों की शक्तियाँ निर्बल हो रही थीं। ग्वालियर की सेना मे अनुशासन का अभाव होने के कारण ही लक्ष्मी बाई युद्ध में मारी गयी थी। अनुशासन का अभाव क्रान्तिकारियों मे एक बड़ा अभाव था।

देश के इस विद्रोह में कोई प्रभावशाली ऐसा नेता न था जो क्रान्ति की कड़ियों को जोड़कर एक अटूट जंजीर बना देता और छोटे-से-लेकर बड़े तक—क्रान्ति के सभी लोगों में अनुशासन की रक्षा करता।

देशद्रोही नरेश

इस देश में विदेशी हुकूमत का बहुत बड़ा कारण इसके निवासियों

का देशद्रोह और विश्वासघात है। अंगरेजों ने इस देश में कदम रखते ही इन दुर्गुणों को समझ लिया था। एक ओर रक्त के नाले बह रहे थे और दूसरी ओर स्वार्थी और अकर्मण्य, देशद्रोह और विश्वासघात कर रहे थे।

इन दुर्गुणों के कारण ही देश के राजाओं और नवाबों की रियासतों का अन्त हुआ और इन्हीं के कारण सन् १८५७ की महान क्रान्ति विफल हुई। सार्वजनिक जीवन में जितना ही देश प्रेम और स्वाभिमान था, राजाओं और नवाबों में उतनी ही निराशा और अकर्मण्यता थी। इस विप्लव में यदि राजाओं और नरेशों ने देश का साथ दिया होता तो पराधीनता के अन्त हो जाने में सन्देह न था।

विप्लव के दिनों का दृश्य तो यह था कि एक ओर देश की स्वाभिमानी पलटनों के सिपाही अपने जीवन की आहुतियाँ देकर स्वाधीनता की पूजा कर रहे थे और दूसरी ओर अनेक बड़े-बड़े राजा और नरेश देश की पराधीनता को स्थायी और मजबूत बनाने का काम कर रहे थे! इन परिस्थितियों में विद्रोह का विफल होना स्वाभाविक ही था।

पहले भी मराठों के साथ युद्ध में सिखों ने अंगरेजों का साथ दिया था और सींधिया के विशाल राज्य के पतन के वे कारण बने थे। विप्लव के दिनों में भी सिख सेनाओं ने शुरू से लेकर आखीर तक अंगरेजों का ही साथ दिया और उनकी तलवारें तथा गोलियाँ क्रान्तिकारियों के अन्त करने में खर्च हुई! देश का कितना बड़ा दुर्भाग्य था।

सिखों के विरोधी होने का एक कारण था। विप्लव का श्रीगणेश दिल्ली-सम्राट बहादुर शाह के नाम पर हुआ था। सिखों और मुसलमानों के बीच मे वैमनस्य, मुस्लिम काल से चला आता था। अंगरेजों ने इससे बराबर लाभ उठाया। विप्लव के नेताओं की त्रुटियाँ ये थीं कि प्रारम्भिक योजना में सिखों के किसी प्रभावशाली आदमी को अपने साथ नहीं लिया गया। अंगरेजों को मौका मिल गया। उन्होंने पंजाबियों और सिखों को भड़काया कि "भारत में फिर मुस्लिम हुकूमत कायम होने जा रही है। यह सारा विप्लव मुस्लिम हुकूमत कायम करने के लिए चल रहा है।"

इधर विप्लव की रूप-रेखा भी कुछ इसी प्रकार की थी। क्रान्ति में हरे झण्डे को ही अपना झण्डा माना गया था और सम्राट बहा-

दुर शाह के नाम पर सम्पूर्ण क्रान्ति का संग्राम लड़ा जा रहा था। यदि पहले से विद्रोह की कोई योजना बनी होती और उसमें सभी नरेशों और नवाबों को शामिल करके देश की स्वाधीनता का झण्डा उठाया गया होता तो अंगरेजों को देश छोड़कर भाग जाना पड़ता और क्रान्ति का अन्त भी अत्यन्त सफलता के साथ होता। ये त्रुटियाँ थीं जो क्रान्ति के आरम्भ से ही साथ में चलीं और देश के सपूतों का संहार होने के बाद भी जिन्होंने भारत-भूमि को विदेशी हुकूमत से स्वतन्त्र न होने दिया। सिखों और गोरखा पलटनों ने क्रान्तिकारियों के विरुद्ध संग्राम लड़े और अंगरेजी राज्य की जड़ों को अनिश्चित काल के लिए स्थायी बना दिया।

विप्लव सार्वजानिक न था

क्रान्ति की असफलता के जितने भी कारण थे, ऊपर संक्षेप में उनका बयान किया गया है। अब उसका एक ही पहलू बाकी रह गया है। इस महान और व्यापक विप्लव में एक यह भी खामी थी कि वह सार्वजनिक विप्लव न था। जिनकी रियासतें छीनी गयी थीं, और कम्पनी की ओर से जिनके साथ असह्य अन्याय किया गया था, उनमें से ही कुछ हिन्दू और अधिकांश मुसलमान क्रान्ति के नेता बने, साथ ही उन भारतीय पलटनों ने क्रान्ति किया जो चरबी के कारतूसों को दाँतों से काटना अपने धर्म के विरुद्ध समझते थे। देश में दो प्रकार के लोग इस विप्लव में अधिकार रूप से काम करते रहे और उन्हीं तक वह सीमित भी रहा।

इसका यह अर्थ नहीं है कि विप्लव के साथ सार्वजनिक समर्थन न था। था और खूब था। लेकिन विप्लव का उद्देश्य ही दो बातों में प्रधानता रखता था। अपनी रियासतों से वंचित होने वाले राजा और नवाब एवम् देश की विद्रोही पलटनें इस क्रान्ति के अङ्गों के रूप में थी। इसीलिए उन पलटनों के सिवा विप्लव के इतिहास के पाठक, प्रमुख रूप में सम्राट बहादुरशाह, हजरत महल, कुँवरसिंह, लक्ष्मी बाई, नाना साहब, तात्या टोपे, मौलवी अहमदशाह और मोहम्मद बख्त खाँ को ही जान पाते हैं। सार्वजनिक हितों की घोषणा न तो कहीं क्रान्ति की योजना में रही और न अन्त में ही महारानी विक्टोरिया की

घोषणा में उसे कोई स्थान मिला। यद्यपि अङ्गरेजी सेनाओं के आक्रमणों से कीड़ों और पतिङ्गों की भाँति प्रजा का संहार हुआ। इस नर-संहार और सर्वनाश में अपराधी और निरपराधी समान रूप से मारे गये।

विप्लव का मूल्य और महत्व

इतना सब होने पर भी विप्लव का मूल्य और महत्व कम नहीं रहा। संसार का इतिहास बताता है कि दुनिया की किसी भी कौम का मूल्य और महत्व उस समय तक नहीं समझा गया जब तक उसने अपने जीवन का बलिदान नहीं किया। संसार की किसी भी कौम के मूल्य को उसके बलिदान पर ही आंका जाता है। जो जातियां बलिदान से डरती हैं वे कभी भी स्वाधीनता का हक नहीं प्राप्त करतीं। सच्ची बात यह है कि जो जाति जितनी ही कुर्बानी कर सकती है, उसका मूल्य और महत्व उतना ही अधिक संसार में माना जाता है।

इस देश में राजाओं और नरेशों ने कुर्बानियाँ से डर कर अपनी रक्षा के जितने ही स्वप्न देखे, उतने ही वे मिटाये गये। जो स्वयं मरने और मिटने से डरता है। वह पतित होकर ही जीवित रह सकता है। सन् १८५७ की क्रान्ति में बलिदान होने वालों ने देश के मूल्य और महत्व की रक्षा की, साथ ही जिन बातों पर उनकी हठ थी उनके सम्मुख अंगरेजी सरकार को सिर झुकाना पड़ा।

यद्यपि अठारह महीने के बाद क्रान्ति का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, फिर भी अंगरेजी सरकार को कम्पनी के अत्याचारों को स्वीकार करना पड़ा और अंगरेजी साम्राज्य की ओर से विक्टोरिया की घोषणा प्रकाशित करके नवीन शासन की रचना करनी पड़ी।

भारतीय निर्बलता का प्रमुख कारण यह था कि सम्पूर्ण देश रियासतों, राजाओं और नवाबों में बँटा हुआ था। वे अपनी अलग-अलग सत्ता रखते थे। उन सब को मिलाकर संगठित सत्ता का कोई एक केन्द्र न था। कुछ छोटी रियासतें बड़ी रियासतों को मालगुजारी देती थीं। यह एक सम्बन्ध अंगरेजों के साधारण धक्के से टूट जाता। देश की राज सत्ता का सैकड़ों भागों में विभाजित होना देश की निर्बलता का सब से बड़ा कारण होता है।

भारतीय क्रान्ति के बाद ही प्रसिद्ध तत्व वेत्ता अंगरेज हरबर्ट स्पेन्सर ने जापानी राजनीतिज्ञों का ध्यान जापान की राजनीतिक परिस्थितियों की ओर आकर्षित किया था और योरप तथा अमेरिका से सावधान रहने का संकेत किया था। बात यह था कि १८५७ तक जापान का देश भी लगभग तीन सौ छोटी-बड़ी रियासतों में बंटा था उन रियासतों में रोज ही ईर्षाजनित पारस्परिक लड़ाइयाँ हुआ करती थी। उन दिनों का जापान भारत से किसी प्रकार अच्छी दशा में न था। भारत की तरह उसकी रियासतें भी देश को दिन प्रति-दिन निर्बल बनाने का काम कर रही थीं।

इन परिस्थितियों में जापान पर योरप और अमेरिका की आंखें लगी थी और भविष्य की आवान्छनीय सम्भावनाओं को लक्ष करके ही हरबर्ट स्पेन्सर ने जापान पर अपने विचार प्रकट किये थे। जापानी राजनीतिज्ञों का ध्यान उस ओर गया और देश के नेताओं ने जापानी २७३ रियासतों को मिटाकर सन् १८६८ में एक शासन की व्यवस्था की। इस परिवर्तन के बाद ही छोटा सा-जापान देश अपनी शक्तियों का संचय कर सका और थोड़े ही दिनों के भीतर वह शक्तिशाली राज्यों में गिना जाने लगा।

यदि देश में सन् १८५७ का विप्लव न हुआ होता तो कम्पनी के अंगरेजों के अत्याचार देश में कहाँ तक बढ़ते और किस रूप में पहुँचते इसका अनुमान लगाना असम्भव है। उन अत्याचारों और अन्यायों को रोकने मे विप्लव को पूर्ण रूप से सफलता मिली। इस हिसाब से विप्लव का मूल्य और महत्व कम नहीं रहा। विप्लव के अन्त हो जाने और विक्टोरिया की घोषणा के बाद कम्पनी का शासन, अंगरेजी शासन के रूप में आ गया। राजाओं और नवाबों के साथ जिस प्रकार की अपहरण नीति चल रही थी, वह खतम हो गयी। इस प्रकार कितने ही परिवर्तन अंगरेजी राज्य में तुरन्त किये गये और उन सुधारों का प्रदर्शन भी हुआ। इस दृष्टि से १८५७ का विप्लव और उसका भीषण बलिदान व्यर्थ नहीं गया।

अड़तालीसवाँ परिच्छेद

अंगरेजी राज्य पर विप्लव का प्रभाव

कम्पनी के शासन का अन्त

भारत में कम्पनी को राज्य करते हुए लगभग एक सौ वर्ष बीत
के। सन् १८५७ की क्रान्ति के पहले कम्पनी को देश के राजाओं,
रेशों और नवाबों का ही अनुभव था। इन सभी ने जिस प्रकार अपनी
ायरता का परिचय दिया था, कम्पनी के अधिकारियों से लेकर, इंग-
एड के बड़े-बड़े अंगरेजों को केवल उन्हीं की जानकारी थी। लेकिन
स क्रान्ति के द्वारा देश ने जिस विरोधी वातावरण को उत्पन्न किया,
समें अंगरेजी सरकार की एक लम्बी क्षति ही नहीं हुई। बल्कि भार-
ोय अंगरेजी राज्य की सत्ता खतरे में मालूम हुई।

क्रान्ति के दिनों में अंगरेजी कूटनीति उतनी सफल नहीं हुई,
ातनी कि वह पहले कामयाब हुई थी। अंगरेज इस बात को भली
ाँति जानते थे कि भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना का श्रेय
गरेजों की बहादुरी को नहीं है, बल्कि उनकी कूटनीति को अधिक
। उनकी वह कूटनीति विप्लव के दिनों में बहुत-कुछ असफल सिद्ध
ई।

देश का विप्लव यद्यपि अपनी कई कमजोरियों के कारण असफल
आ, फिर भी अंगरेजों को उससे कम सबक नहीं मिला, उन्होंने इस
ात को खूब समझा कि अगर भविष्य में सावधानी से काम न लिया
या तो भारत की परिस्थितियाँ कभी भी भीषण हो सकती हैं।
ीलिए राज्य में कुछ उलट-फेर करने की घोषणा का आधार लिया
या।

इंगलैण्ड की मलका एलिजाबेथ ने सन् १६०० ईसवी में ईस्ट
ण्डया कम्पनी की स्थापना की थी और प्रत्येक बीस वर्ष के बाद

कम्पनी के कायदे-कानूनों में परिवर्तन हुआ करते थे। यह बात सही है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यावसायिक कम्पनी थी जिसमें इंग-लैण्ड के बहुत से बड़े-बड़े अंगरेज हिस्सेदार थे। उन हिस्सेदारों में अधिकाँश लोग हाउस आफ लार्डस के मेम्बर थे। उनके कारण इंग-लैण्ड की हुकूमत के साथ कम्पनी का गहरा सम्बन्ध था।

सन् १८१७ की क्रान्ति के अन्त में इगलैण्ड की अंगरेजी सरकार ने भारत में कम्पनी के राज्य को खतम करने की घोषणा की। इसका इतना ही कारण न था कि घोषणा करने वालों की नजरों में कम्पनी भारत में राज्य करने के काबिल न थीं, बल्कि उसकी जड़ मे कुछ और भी बातें थीं। भारतीय व्यवसाय और राज्य के द्वारा आम तौर पर उन्हीं का लाभ अधिक था, जो उसके हिस्सेदार और डाइरेक्टर थे। उनकी अंधाधुन्ध सम्पत्ति की-लूट देखकर, इंगलैण्ड के दूसरे अंगरेज भी भारत से लाभ उठाना चाहते थे।

भारत में वारन हेस्टिंग्स के शासन-काल में इंगलैण्ड की पार्लामेण्ट के फाक्स नामक एक प्रभावशाली सदस्य ने पार्लामेण्ट के सामने एक प्रस्ताव पेश किया था कि भारत में कम्पनी ने जो राज्य कायम किया है उसका शासन प्रबन्ध पार्लामेण्ट को अपने हाथों में ले लेना चाहिए। हाउस आफ कामन्स ने इसे स्वीकार भी कर लिया था। लेकिन कम्पनी के अधिकाँश डाइरेक्टर हाउस आफ लार्डस के सदस्य थे। वे इस प्रस्ताव के विरोधी थे। वे अपने स्वार्थों का हनन स्वीकार करने के लिए तैयार न थे, नतीजा यह हुआ कि वह प्रस्ताव हाउस आफ लार्डस में स्वीकृत न हो सका।

उस समय से यह समस्या पार्लामेण्ट में बराबर चल रही थी। जो पार्लामेण्ट के सदस्य उस प्रस्ताव पर असफल हुए थे, वे किसी मौके की खोज में थे। सन् १८५७ की क्रान्ति में उन्हें फिर मौका मिला। उस प्रस्ताव को फिर से उठाया गया और कम्पनी के डाइरेक्टरों के विरोध करने पर भी क्रान्ति का कारण दिखाकर भारतीय अंगरेजी राज्य की बागडोर कम्पनी के हाथ से ले ली गयी। सन् १८५८ में कम्पनी के राज्य का अन्त किया गया और भारतीय राज्य की हुकूमत इंगलैण्ड के पार्लामेण्ट के हाथों में आ गयी।

सुधारों और परिवर्तनों की घोषणा

उन दिनों में इंगलैण्ड की राजगद्दी पर मलका विक्टोरिया थी। विप्लव के पूर्ण रूप मे समाप्त होने के पहले ही मलका विक्टोरिया के नाम से भारत में घोषणा की गयी। उस घोषणा में रईसों, सरदारों, राजाओं, और नवाबों के साथ-साथ देश की प्रजा को अनेक प्रकार के विश्वास दिलाये गये। उसमें बताया गया कि भारत की अंगरेजी हुकूमत में ऐसे कितने ही सुधार और परिवर्तन किये जा रहे हैं, जिनके कारण कभी किसी को कष्ट न होगा।

उस घोषणा में बहुत-सी बातें थीं। उसके विस्तार की यहाँ जरूरत नहीं है। संक्षेप मे भारतवासियों को विश्वास दिलाया गया कि :

१—राजाओं और नवाबों के साथ कम्पनी की जो सन्धियां हुई है, इंगलैण्ड की अंगरेजी सरकार इनका बराबर पालन करेगी।

२—कभी किसी के धर्म और मजहब मे किसी प्रकार का दखल न दिया जायगा।

३—देश की उन्नति के लिए बहुत-से काम राज्य की ओर से किये जायँगे, जिनसे प्रजा लाभ उठा सके।

४—भविष्य में इस प्रकार का शासन किया जायगा, जिससे मुल्क की तरक्की हो सके।

५—इंगलैण्ड की अंगरेजी सरकार भारत के सभी लोगों को खुश-हाल बनाने की कोशिश करेगी।

इस घोषणा का प्रभाव देश पर पड़ा। कम्पनी की हुकूमत इंग-लैण्ड की सरकार के हाथों में चले जाने से लोगों को बहुत-कुछ सन्तोष मिला। बहुत अंशों मे लोगों ने इस बात पर विश्वास किया कि जिस प्रकार के अत्याचार कम्पनी के द्वारा देश मे होते थे, उनका अब अन्त हो जायगा।

विप्लव की बुझती हुई आग जो अभी तक कुछ बाकी थी, उसका अब खात्मा हो गया। क्रान्ति के बाद लार्ड कैनिङ्ग भारत का पहला वाइसराय बनाया गया। उसने देश के राजनीतिक द्वेष को मिटाने की कोशिश की और विक्टोरिया की घोषणा के महत्व को देश के सामने

रखा। उसने इस बात का भी प्रभाव डाला कि घोषणा के द्वारा होने वाले सुधारों और परिवर्तनों के बदले में अंगरेजी हुकूमत का बफादार होना देश के प्रत्येक आदमी का कर्त्तव्य है।

यह सब कुछ हुआ। घोषणा भी हो गयी। सुधारों की दुहाइयाँ भी दी जाने लगीं। मुल्क को राज-भक्त बनाने के जितने उपाय हो सकते थे, वे सब काम में लाये जाने लगे। परन्तु इंगलैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा की थी, उसका वास्तव में मूल्य क्या था; इस पर सक्षेप मे यहाँ पर प्रकाश डालना जरूरी है।

उस घोषणा के सम्बन्ध में एक सीधी-सी बात जान लेने की जरूरत यह है कि इंगलैण्ड की राज व्यवस्था के अनुसार, राजा को अथवा महारानी को ऐसा कोई अधिकार प्राप्त न था, जिससे इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री अथवा मन्त्रि-मण्डल राजा की ओर से की गयी किसी घोषणा को मानने के लिए वाध्य हो। वह घोषणा महारानी विक्टोरिया की ओर से की गयी। इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री की ओर से वह घोषणा न थी। वहाँ की शासन व्यवस्था के अनुसार, शासन का उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री और मन्त्रि मण्डल पर था। न कि महारानी विक्टोरिया के ऊपर। इस हालत में महारानी विक्टोरिया की घोषणा भारतीय लोगों को फुसलाने के सिवा और कुछ न थी। यही कारण था कि उस घोषणा को मारक्विस आफ सैलिसबरी ने एक राजनीतिक चाल (Political hypocrisy) के नाम से ही सम्बोधित किया है और इसी प्रकार की आलोचना उस घोषणा के सम्बन्ध में करते हुए भारतीय अंगरेजी सरकार के ला मेम्बर सर जेम्स स्टीफेन ने साफ-साफ कहा था—"इस घोषणा की कोई कीमत नहीं, सिवा इसके कि वह झूठ मूठ लोगों को तसल्ली दे सके, क्योंकि उसके द्वारा इंगलैण्ड के मन्त्रि मण्डल पर कोई भी प्रतिबन्ध आयद नहीं होता।"

यही कारण था कि महारानी बिक्टोरिया की घोषणा पहली नवम्बर सन् १८५८ को लार्ड कैनिङ्ग के द्वारा इलाहाबाद में सुनायी गयी। परन्तु अंगरेजी हुकूमत के व्यवहारों में उसको कोई महत्व न दिया गया।

भारतीय पलटनों का नया निर्माण

क्रान्ति के बाद भारतीय पलटनों का फिर से संगठन हुआ। अंगरेजी सरकार ने यह समझ लिया था कि सन् १८५७ की क्रान्ति में भारतीय सिपाहियों ने ही विशेश रूप से भाग लिया था और उनके विद्रोह करने से ही क्रान्ति ने इतना भीषण रूप धारण किया था। इसलिए अंगरेजी सरकार के सामने यह एक समस्या थी कि भारतीय फौजों का निर्माण ऐसे ढङ्ग से किया जाय जिससे भविष्य में भारतीय पलटनें किसी प्रकार की क्षति न पहुँचा सकें।

इस समस्या को हल करने और भारतीय फौजों का फिर से संगठन करने के लिए एक रायल कमीशन मुकर्रर हुआ। उस कमीशन में जितने सदस्य थे, सभी ने तरह-तरह की अपनी सलाहें पेश की थीं और अन्त में यह निश्चय हुआ था, कि भारतीय फौजों के अफसरों को भी उत्तरदायित्व के अधिकार न दिये जायँ।

कमीशन के इसी निर्णय के अनुसार, भारतीय फौजों का नया निर्माण हुआ। उसमे अंगरेजी सैनिकों और भारतीय सैनिकों के बीच बड़ी भेद-नीति से काम लिया गया। भारतीय फौजो मे भी सबसे बड़े अफसर अंगरेज ही बनाये जाने लगे। अंगरेजी सिपाहियों को जिस प्रकार के अस्त्र दिये जाते, वे देशी सिपाहियों को न मिलते। तोपखाने मे जो देशी सिपाही रखे जाते, उनका भी विश्वास न किया जाता। इस प्रकार फौज की प्रत्येक बात मे अंगरेजी सिपाहियों के मुकाबिले में देशी सिपाहियों का स्थान मामूली बनाकर रखा। अंगरेजी राज्य की रक्षा के लिए अपनी जान की कुर्बानी करने वाले देशी सिपाहियों को वह श्रेय न मिलता, जो अंगरेजी सिपाहियों को प्राप्त होता।

फूट और शासन

महारानी विक्टोरिया की घोषणा मे इस बात का भी विश्वास दिलाया गया था कि शासन के प्रबन्ध में किसी प्रकार की भेद-नीति से काम न लिया जायगा। लेकिन खूब लिया गया।

कम्पनी की हुकूमत मे अंगरेजों को भारतीय मनोवृत्ति के समझने का काफी मौका मिला था। प्रजा से लेकर राजाओं और नवाबों तक सब की कमजोरी को वे समझ-चुके थे। उनको इस बात के जानने की

अब कोई जरूरत न रह गयी थी कि भारत में कुशलता पूर्वक शासन कैसे किया जा सकता है। अंगरेजों ने इस बात को खूब समझा था कि भारत की हुकूमत हिन्दू मुसलमानों की फूट पर निर्भर है। वे यह भी जानते थे कि राजाओं, नरेशों और नवाबों में किसी प्रकार की एकता नहीं है और न वे कभी एक होकर रह सकते हैं।

साधारण समाज के लोगों की कमजो -रयों को भी अंगरेज खूब समझ चुके थे। वे जानते थे कि देश के निवासियों में राजनीतिक ज्ञान का बहुत बड़ा अभाव है। उनके जीवन में भी एकता नहीं है और न उनके सामने ऐसा कोई एक प्रश्न है जिसमें वे सबके सब एक हो सकें।

इन परिस्थितियों के साथ-साथ भारत के निवासियों को गुलामी की जञ्जीरों में जकड़े रखने के लिए सब से बड़ा अस्त्र यह है कि उनमें आपसी फूट सदा बनायी रखी जाय। अंगरेज इस बात का खूब अध्ययन कर चुके थे।

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सर जान मैलकम ने पार्लामेण्ट की एक, कमेटी के सामने कहा था :

"भारत में अपना साम्राज्य कायम रखने के लिए सब से सुगम उपाय यह है कि देश के एक राजा को दूसरे राजा से, एक कौम को दूसरी कौम से और छोटी जातियों को बड़ा जातियों से लड़ाया जाय, इसलिए कि इस देश में बहुत सी जातियाँ हैं और उनमें आपस में भयानक मतभेद है। जब तक उनके मतभेद कायम रहेंगे, उस समय तक हमारे साम्राज्य की सत्ता को जरा भी धक्का पहुँचने की सम्भावना नहीं है।"

कम्पनी की हुकूमत के बाद इस देश में जो अंगरेजी शासन आरम्भ हुआ, उसमें इसी नीति से काम लिया गया। प्रत्येक अधिकारी अंगरेज ने इस भेद-नीति से फायदा उठाने की चेष्टा की। एक अंगरेज अफसर ने साफ-साफ लिखा था :

"हुकूमत करने का सबसे आसान तरीका यह है कि फूट पैदा करायी जाय और हुकूमत की जाय।"

इसी नीति का आश्रय लेते हुये मेजर जनरल सर लिओनेल स्मिथ ने कहा था—भारत में अंगरेजी राज्य की जड़ मजबूत करने में हमें

देश में फैले हुए साम्प्रदायिक और धार्मिक झगड़ों से बड़ी सहायता मिली है।

सन् १८५७ की क्रान्ति के बाद करनल जान कोक ने लिखा था :

"हिन्दुस्तान के विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों की पारस्परिक फूट जितनी ही बढ़ेगी, हमारी हुकूमत की जड़ उतनी ही मजबूत होगी। इसलिए यहां पर शासन का जाल इस प्रकार हमें बिछाना चाहिए, जिससे इस देश के रहने वालों की फैली हुई फूट कभी कम न हो सके।"

इस तरीके से क्रान्ति के बाद अंगरेजी शासन जो आरम्भ हुआ, उसमें फूट बढ़ाने वाली राजनीति से बहुत अधिक काम लिया गया।

राष्ट्रीय भावों का नाश

यों तो देखने में अंगरेजी शासन, कम्पनी की हुकूमत के मुकाबिले में सीधा और सरल मालूम हुआ और इसमें भी संदेह नहीं कि कम्पनी के शासन काल में जिस प्रकार के जुल्म रोजाना देश के कोने-कोने में हुआ करते थे, उनमें बहुत-से सुधार और परिवर्तन हुए। परन्तु क्रान्ति के बाद शासन में जिस घातक नीति का प्रयोग किया गया, उससे देश के जातीय और राष्ट्रीय जीवन का सर्वनाश हुआ। इससे किसी प्रकार इनकार नहीं किया जा सकता।

क्रान्ति के पहले देश में जिस प्रकार का शासन था उसमें आर्थिक सर्वनाश ही बहुत-कुछ था। जातीयता और राष्ट्रीयता के जीवन का क्षय नहीं हुआ था। क्रान्ति के बाद देश के राष्ट्रीय जीवन को मिटाने की पूरी कोशिश की गयी और उसमें देश मिटा भी।

ब्रिटेन के बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञों ने इस देश में उस प्रकार के शासन का सूत्रपात किया, जिसमें देश के जातीय जीवन की जड़ काटी गयी।

इंगलैण्ड के शासकों में बहुत दिनों तक इस बात पर विवाद चलते रहे कि हिन्दुस्तान को सदा सर्वदा के लिए गुलाम कैसे बनाये रखा जा सकता है। इस समस्या को हल करने के लिए इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों ने बड़ी दूरंदेशी से काम लिया और निश्चय किया कि इसके लिए दो उपाय किये जा सकते हैं। एक तो यह कि भारत में ईसाई-धर्म का

प्रचार किया जाय और देश के हिन्दू, मुसलमानों को बड़ी से बड़ी संख्या में ईसाई बनाया जाय। दूसरे यह कि वहाँ पर अंगरेजी शिक्षा का प्रचार किया जाय। इस नीति से हमारे भारतीय साम्राज्य की जड़ें सदा के लिए मजबूत होंगी और इन दोनों उपायों से हिन्दुस्तान की जातीयता और राष्ट्रीयता का अन्त होगा। अभी तक वहाँ के लोग धार्मिक पक्षपात को अधिक महत्व देते हैं और अंगरेजी हुकूमत से केवल इसीलिए विद्रोह करते हैं कि ईसाई धर्म के साथ उनका बहुत बड़ा मतभेद है। इसलिए यदि हम हिन्दुस्तान मे ईसाई धर्म का अधिक प्रचार कर सके और वहाँ पर अधिक संख्या में लोगों को ईसाई बना सके तो उनके विद्रोह का हम बहुत कुछ अन्त कर देंगे।

नतीजा यह हुआ कि भारत में आकर ईसाई धर्म का प्रचार करने वालों को सभी प्रकार की सुविधायें दी गयीं। अंगरेजी शिक्षा के प्रचार में भी अंगरेज अधिकारियों ने अपनी छिपी हुई धारणा से ही काम लिया।

सन् १८५८ में क्रान्ति के बाद महारानी विक्टोरिया की जो घोषणा देश में की गयी थी; उसमें साफ-साफ बताया गया था कि अंगरेजी हुकूमत में किसी मजहब के साथ पक्ष-पात से काम न लिया जायगा। इस घोषणा के बाद भी हिन्दू धर्म और मुसलिम मजहब को मिटा कर देश में ईसाई धर्म के प्रचार में जिस नीति से काम लिया गया वह नीति पक्षपातहीन इतिहासकारों से किसी प्रकार छिपी न रह सकी।

इस प्रकार की घातक नीति का आश्रय लेकर अंगरेजी हुकूमत ने केवल देश पर ही शासन नहीं आरम्भ किया। बल्कि भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के दिलों और दिमागों पर भी कब्जा रखने के लिए हुकूमत की शुरूआत की और जिन तरीकों से भी हो सका, मुल्क में अंगरेजियत की इज्जत बढ़ायी।

अंगरेजों की इस शासन सत्ता के सामने हिन्दुओं और मुसलमानों को अपने जीवन का विस्मरण हुआ और वे दो के दोनों आँखें बन्द करके अंगरेजी शासन काल मे अपने जीवन के दिन पूरे करने लगे।

द्वितीय भाग

स्वतन्त्रता के दूसरे युद्ध का प्रारम्भ

पहला परिच्छेद

विद्रोह के पहले और पीछे का जीवन

अंगरेजी शासन और नीति

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व्यापार के उद्देश्य से भारत में पदार्पण किया था और अत्यन्त विनम्रता के साथ उसने इस देश में अपने ठहरने का स्थान प्राप्त किया था। उसके बाद उसने किस प्रकार देश के बड़े-बड़े हिस्सों पर कब्जा किया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश मे किस प्रकार उसने अपना शासन कायम किया, इसका विवेचनात्मक इतिहास प्रथम भाग में लिखा जा चुका है। भारत में कम्पनी के शासन का इतिहास, उसकी भीषण दगाबाजियों, कूटनीतियों और काली करतूतों का इतिहास है; जिससे ऊब कर सन् १८५७ में व्यापक विद्रोह का देश में जन्म हुआ था। उसका पूरा विवरण लिखा जा चुका है।

कम्पनी के शासन में भारत के निवासियों के साथ जिस प्रकार अत्याचारपूर्ण व्यवहार हुआ था, उसमें देश एक निराशा का जीवन बिता रहा था। फिर भी देश में जीवन था और वह किसी-न-किसी रूप में अपनी संजीदगी का समय-समय परिचय देता था। यह संजीदगी विद्रोह के पहले भी देश में थी। यद्यपि कम्पनी की हुकूमत ने अपनी समझ में उसके प्राण बाकी नहीं रखे थे, परन्तु उसका अन्त न हुआ था। विद्रोह के बाद देश में संजीदगी रही।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालन के लिए इंगलैण्ड में उसके डाइरेक्टरों के नाम से संचालकों की एक कमेटी थी। उसकी सभी बातें ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जन्म और परिचय के साथ लिखी जा चुकी हैं। सन् १७७२ के बाद ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के शासन पर देख-भाल आरम्भ की। भारत में कम्पनी को काम करने के लिए बीस वर्ष की एक अवधि मिला करती थी और उसके समाप्त होते-होते

फिर बीस वर्ष का जीवन उसे मिल जाया करता था। अब ब्रिटिश सरकार का इसमें भी हाथ रहने लगा।

भारत में कम्पनी के शासन की सत्ता जितनी ही बढ़ती जाती थी, इंगलैण्ड की सरकार का सम्बन्ध उतना ही उसके साथ नजदीक होता जाता था। कम्पनी के कार्यों में जो उसकी देख-रेख होती थी, उसका कोई लाभ भारत में न पड़ता था। यह बात जरूर थी कि इंगलैण्ड के सभी अंगरेज कम्पनी के डाइरेक्टरों की तरह न थे। उनमें से कुछ ऐसे भलेमानुस भी थे जो भारत मे कम्पनी के व्यवहार को अच्छा नहीं समझते थे और इसीलिए वे कम्पनी के अनेक कारनामें ब्रिटिश-पार्लामेण्ट के सामने पेश किया करते थे। कुछ इसी प्रकार की बातों के फलस्वरूप वारन् हेस्टिंग्स पर मुकदमा चलाया गया था। यद्यपि उसका कोई अच्छा परिणाम न निकला। फिर भी उसके कार्य सभी के सामने साफ-साफ आ गये थे।

कम्पनी के सम्बन्ध में कई बार यह निश्चय किया गया था कि उसके अधिकारी अपने-अपने इलाकों के बनाने मे अब आगे कोई काम न करें। परन्तु इस प्रकार की हिदायतों का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा और अधिकारी सदा मनमानी करते रहे।

सन् १७७४ में कम्पनी के सम्बन्ध मे एक ऐक्ट पास किया गया। और कम्पनी के संचालकों पर नियंत्रण रखने के लिए एक कौंसिल बनायी गयी। यह नियंत्रण बराबर बढ़ता रहा और सन् १८८५ मे एक दूसरा कानून पास किया गया। सन् १८३३ मे जो कानून पास हुआ था, उसमे हिन्दुस्तानियों को कम्पनी के शासन मे नौकरियाँ देने का प्रलोभन भी था।

अंगरेजी शिक्षा का प्रचार

इन्हीं दिनों मे व्यापार सम्बन्धी अधिकार कम्पनी को प्राप्त हो चुके थे और वह देश मे पूर्ण रूप से शासक बन चुकी थी। अंगरेजों की नीति भारत में स्थायी रूप से शासन करने की चल रही थी। वे चाहते यह थे कि इस देश में अंगरेजी हुकूमत सदा के लिए स्थायी हो कर रहे। इसीलिए उन सभी नीतियों से काम लिया जा रहा था, जो शासन की सत्ता को मजबूत बनाती हैं।

इस प्रकार की नीतियों में अंगरेजी प्रचार की भी एक योजना थी। भाषा, शिक्षा और साहित्य बदल देने से कोई भी जाति अपने गौरव को भूल जाती है। अंगरेज देश के स्वाभिमान को मिटा देना चाहते थे। स्वाभिमान ही किसी भी परतंत्र जाति को स्वतंत्रता के लिए किसी समय उभार सकता है। इसलिए बड़ी दूरंदेशी के साथ अंगरेजों की वह योजना देश के सामने आयी, जिसमे अंगरेजी शिक्षा का विस्तार प्रमुख था।

इस योजना में अंगरेजों की विभिन्न रायें थीं। लेकिन जो लोग इसे आवश्यक समझते थे, उनमें मेकाले का नाम प्रमुख था। वह अपने विचारों के अनुसार, भारत में अंगरेजी शिक्षा का प्रचार अत्यन्त आवश्यक मानता था। देश में भी कितने ही विचारों के लोग थे। कुछ लोग अंगरेजी भाषा के समर्थक थे। लेकिन देश की एक बहुत बड़ी संख्या उसका विरोध करती थी, समर्थकों मे राजा राममोहन राय का प्रमुख नाम था। वे चाहते थे कि भारत मे अंगरेजी शिक्षा की योजना चालू की जाय और उसके लिए स्कूल और कालेज खुलें। देश के युवक अंगरेजी के विद्वान बनें।

राजा राममोहन राय देश के शुभचिंतकों और सहायकों मे से एक थे। दूरंदेशी के आधार पर ही वे अपनी विचारधारा कायम करते थे। अंगरजी शिक्षा का प्रचार उन्होंने बहुत-कुछ सोच समझ कर स्वीकार किया था। जो अंगरेज अंगरेजी की योजना के पक्ष में थे, राजा राममोहन राय के पूर्ण समर्थक बन गये। परिणाम यह हुआ कि देश में अंगरेजी शिक्षा की नींव पड़ी और वह धीरे-धीरे मजबूत होने लगी।

उन दिनों में जो अखबार इस देश में निकलते थे, उनका संचालक और प्रकाशक कोई भारतीय न था। सभी अंगरेजों के द्वारा निकलते थे। वे अखबार कभी-कभी सरकारी नीति की खरी आलोचना करते थे और आलोचना के कारण ही, उनमें से कितने ही पत्रों के संचालकों और संपादकों को देश निकाले की भी सजा दी गयी थी। भारत के अंगरेज शासक यह न चाहते थे कि कोई अखबार सही सही बात कहे। लेकिन गवर्नर जनरल लार्ड बिलियम बेण्टिक का शासन इस प्रकार की बातों को देखते हुए अच्छा रहा। क्योंकि उसने जिस नीति

से काम लिया था, उसमें सुधारों की गुञ्जाइश थी। सर चार्ल्स मेटकाफ ने अखबारों से, वे सभी नियंत्रण उठा लिए थे, जो उनकी आलोचनाओं को रोकने के लिए उन पर लगाये गये थे।

भीषण लूट

सन् १८३३ से १८५३ तक कम्पनी की हुकूमत शासन के रूप मे नहीं—लूट की शकल में चली। लार्ड डलहौजी की नीति देश के लिए अधिक भयानक हो गयी। लावारिस होने के कारण रियासतों पर कब्जा करना, इन्तजाम ठीक न होने के कारण राजाओं और नवाबों के इलाकों पर अधिकार कर लेना और जहाँ कहीं खजाना देखा, उसका अपहरण कर लेना डलहौजी के शासन का काम था। इन सभी बातों के विवरण लिखे जा चुके है। परिणाम यह हुआ कि अनेक मजबूरियों के बाद भी, देश मे बढ़ती हुई गरीबी और विनाश के कारण जो भीतर-ही-भीतर धुँआ उठ रहा था, सन् १८५७ मे भीषण विप्लव के रूप में फैला और भयानक रक्तपात के बाद उसका अन्त हुआ। कम्पनी का राज्य समाप्त हुआ और भारत की हुकूमत का सम्बन्ध सीधे इंगलेण्ड की सरकार से हुआ।

यह विद्रोह कम्पनी की हुकूमत के खिलाफ हुआ था और विद्रोह के सफल न होने पर भी, कम्पनी की हुकूमत साफ हो गयी। इस घोषणा से भारत के निवासियों को कुछ संतोष मिला। उनके आंसू किसी प्रकार रुके। इस बात की आशा हुई कि देश में अब शासन की शकल बदलेगी। लोगों की हालतों में परिवर्तन होगा और सभी लोग संतोष की साँस ले सकेंगे। इङ्गलैण्ड की महारानी विक्टोरिया के नाम से जो घोषणा की गयी, उसके अर्थ कुछ इसी प्रकार के थे। लेकिन देश के शासन में—उसके तरीकों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जो घोषणा की गयी थी, वह थोड़ी देर के लिए संतोष देकर गायब हो गयी। हुकूमत अपना काम करती रही। इतना जरूर हुआ कि उसके बाद लार्ड डलहौजी की-सी डकैती सदा के लिए बन्द हो गयी।

अङ्गरेजों मे कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो अपनी आँखों से अङ्गरेजी शासन के अन्याय को बराबर देखते थे और उनको दूर करने के लिए अङ्गरेज अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करते थे। इस प्रकार के

अंगरेजों में मि० ह्यूम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सन् १८३३ के स्वीकृत व्यवस्था के अनुसार, भारतवासी, सरकारी नौकरियों के पाने के अधिकारी घोषित किये गये थे। फिर भी उनको वे नौकरियाँ नहीं मिलीं, जिनके लिए बढ़-बढ़ कर बातें अंगरेज अधिकारियों की ओर से कही गयी थीं। कानून के बाद भी ऐसा वातावरण तैयार किया गया, जिससे देश के लोगों को उन अधिकारों से वञ्चित रहना पड़ा।

अंगरेजी शासन और सहानुभूति

विद्रोह के बाद भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथ में आ गया था। इसलिये शान्ति और संतोष के नाम पर कानूनों और घोषणाओं की कमी न थी। पर शासन और सहानुभूति में बड़ा अन्तर होता है। शासन में सहानुभूति की पुट देना अंगरेज जानते हैं। अधिकारियों ने अपने प्रस्तावों, कानूनों और समय-समय पर घोषणाओं से हिन्दुस्तानियों को खुश करने का प्रयत्न किया। किन्तु अपने शासन से उन्होंने देश को इस काबिल बनाने की सदा कोशिश की कि वह कभी सिर उठाने के योग्य न हो सके।

मेटकाफ ने देश के समाचार पत्रों की परिस्थिति को बदला था। बागडोर ढीली की थी और उन पर जो नियन्त्रण लगे थे, उन्हें अलग करके हिन्दुस्तानियों के मुँह से प्रशंसा पायी थी। लेकिन लार्ड लिटन का शासन आरम्भ होते ही, अखबार वालों की सुविधायें छीन ली गयीं और उनको फिर नियंत्रण की कठोरता में जीवन व्यतीत करने के लिए वाध्य होना पड़ा। इतना ही नहीं उन्हीं दिनों एक ऐसा कानून भी पास हुआ, जिससे हिन्दुस्तानियों के अस्त्र छीन लिए गये और वे सदा के लिए निकम्मे तथा बेकार बना दिये गये।

इस प्रकार देश के सामने ब्रिटिश शासन था, जिसमें एक ओर अधिकारियों के शासन की मीठी तलवारें चल रही थीं और दूसरी ओर अकाल का प्रकोप था। मुल्क के सामने दोनों समस्याएँ भयानक थीं और देश दिन-पर-दिन वीरान होता जा रहा था। किसानों की हालतें बहुत खराब हो रही थीं।

मि० ह्यूम देश की इस भीषण परिस्थिति को सावधानी के साथ देख रहे थे। वे जानते थे कि निकट भविष्य में अगर इसका इलाज न

किया गया तो परिणाम अच्छा न होगा। इसीलिए वे अंगरेज अ
कारियों से प्रायः बातें करते थे और समय-समय पर उनका ध्य
मुल्क की खराबी की ओर आकर्षित करते थे।

सर आकलैण्ड कोलविन को मि० ह्यूम ने पत्र लिखा और उस
देश के किसानों की बरबादी का चित्र खींचा। उसमें उन्होंने सा
साफ लिखा कि: "पुलिस की रिश्वत और ज्यादती बहुत बढ़ गयी
अदालत का तरीका अच्छा नहीं है। अन्न कानून से किसानों
बहुत नुकसान पहुँच रहा है। पुलिस संरक्षक के स्थान पर विना
कारी साबित हो रही है। हथियारों का कानून बहुत जल्दी ढी
करके अमल में लाने की जरूरत है।"

सरकार की ओर से इन बातों में कोई सुधार नहीं हुआ। बल्
अधिकारियों का ढङ्ग यह था कि जब कभी सुविधाओं की मं
होती थी तो उसका उलटा परिणाम होता था और पहले से
अधिक शासन की कठोरता में जकड़ दिया जाता था, सरकार
इस नीति को सर विलियम वेडरनर्न ने साफ-साफ स्वीकार किया है
उन्होंने लिखा है:

"एक ओर भीषण कानून का प्रहार था और दूसरी ओर पुलि
के व्यवहारों में रूस का-सा दमन था। मुल्क की हालत लार्ड लिट
के शासन काल में इतनी भयानक हो गयी थी कि अचानक किर
क्रान्ति की सम्भावना असम्भव न थी। लेकिन मि० ह्यूम के प्रयत्
ने उसे दबाने में बहुत बड़ा काम किया।"

लार्ड लिटन का कठोर शासन देश को विद्रोह की शरण लेने
लिए मजबूर कर रहा था। इसके मजबूत प्रमाण मि० ह्यूम के पा
थे। यद्यपि किसी विद्रोह की आग के भड़कने का वातावरण
था। परन्तु लोगों का असन्तोष बहुत बढ़ा हुआ था। अपनी मजबू
में लोग कुछ-न-कुछ कर डालना चाहते थे। शासन की कठोरता
चोरी और डाके देश में बढ़ गये। लूट-मार का बाजार गरम हो
लगा। बम्बई इलाके के दक्षिणी मुकामों में किसानों के कितने ही दं
हो चुके थे। वे देश में बढ़ती हुई अशान्ति का प्रमाण देते थे।

———

दूसरा परिच्छेद

काँग्रेस का जन्म

कॉंग्रेस के जन्मदाता मि० ह्यूम की दूरदर्शिता

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में काँग्रेस को महान गौरव और उच्च स्थान प्राप्त हुआ है और यह भी कम महत्व और आश्चर्य की बात नहीं कि जिस अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लगातार साठ वर्षों तक काँग्रेस ने भयानक रूप से लड़ाई लड़ कर स्वाधीनता प्राप्त किया उसका जन्मदाता भी मि० ह्यूम सरीखा स्वतन्त्र देश का निवासी एक अंगरेज हो।

मि० ह्यूम अंगरेजी कौम के शुभचिंतक थे और भारतीय अस्तित्व की भी रक्षा चाहते थे। वे जानते थे कि देश का शान्त वातावरण हुकूमत के लिए भी अच्छा होता है। उनसे यह बात छिपी न थी कि लार्ड लिटन ने देश के वातावरण को अशान्त बना दिया है! इस दशा में कोई प्रयत्न ऐसा होना चाहिए जो देश को अवान्छनीय मार्ग की ओर ले चलने से रोके और इस शुभकामना के लिए अंगरेज शासकों को भी सही रास्ते पर लाने में सहायक हो सके। मि० ह्यूम की यह चिन्तना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

मि० ह्यूम ने बड़ी खोज के बाद निश्चय किया कि देश में एक ऐसी राष्ट्रीय सभा की जरूरत है जो सरकार और भारतवासियों के बीच सदा शान्त वातावरण कायम करने का काम करे। इसके आधार पर उन्होंने १ मार्च सन् १८८३ को कलकत्ता-विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट युवकों के नाम एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने अपनी सोची हुई राष्ट्रीय सभा का कार्य संचालन करने के लिए जो अभिलाषा जाहिर की वह इस प्रकार थी :

"देश में एक राष्ट्रीय सभा की अत्यन्त आवश्यकता है। उसका

कार्य संचालन करने के लिए पचास ऐसे युवकों की जरूरत है। जो सच्चे, स्वार्थहीन और आत्म संयमी हों। साथ ही उनके अन्तःकरण में परोपकार की भावना हो, वे राष्ट्रीय सभा का कार्य कर सकते हों यह सभा देश के लिये बड़ी शुभचिन्तक साबित हो सकती है। यदि इस प्रकार आत्म-संयमी युवक न मिलेंगे तो यही समझना होगा कि देश में जो वर्तमान शासन चल रहा है, उससे अच्छे शासन की भावना देश के हृदयों में नहीं है।"

मि० ह्यूम ने अपने उसी पत्र में आगे लिखा : "यदि देश में राष्ट्रीय कार्यों के लिए इस प्रकार के युवक नहीं मिलते तो यह समझा जाना चाहिये कि देश बहुत पद दलित किया गया है और वह आज के वर्तमान शासन से योग्य व्यवहार के लायक भी नहीं है। प्रत्येक देश अपनी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार सरकार प्राप्त कर लेता है। यदि आपकी तरह के शिक्षित देश के युवक अपने स्वार्थों का त्याग नहीं कर सकते और देश की स्वाधीनता के लिए आगे नहीं बढ़ सकते तो इस बात का विश्वास करना पड़ेगा कि मेरी तरह के आपके मित्र गलतियों पर हैं। साथ ही विरोधियों के ख्याल सही हैं। जो लोग देश के पक्ष की बातें सोच रहे हैं वे निष्फल साबित होंगी। ××× यदि आप लोग इसके लिए तैयार नहीं होते तो वर्तमान शासन की बातों को लेकर आप को आलोचना भी न करना चाहिये।"

अपने पत्र को मि० ह्यूम ने अभी समाप्त नहीं किया। उन्होंने आगे लिखा "यदि हमारी अभिलाषा पूरी नहीं होती तो फिर आपको किसी प्रकार का विरोध करने का मौका न रहेगा। आप इस बात की शिकायत न कर सकेंगे कि आपके ऊपर शासन करने का अधिकार अंगरेजों को क्यों मिला हुआ है। इसलिए कि आपके हृदयों में सार्वजनिक सेवा की भावना नहीं है और न देश-हित के लिए आप वह अभिलाषा ही रखते हैं जिसके सामने व्यक्तिगत स्वार्थ कोई महत्व नहीं रखते। आपके दिलों में देशभक्ति की कामनाएँ नहीं है, ऐसी अवस्था में यह मान लेना बेजा न होगा कि अंगरेजों का आपके देश में शासक बन जाना स्वाभाविक ही है। इतना ही नहीं वे भविष्य में भी आपके अधिकारी बने रहेंगे।"

परिस्थितियों का अध्ययन

मि० ह्यूम भारत में जिस राष्ट्रीय सभा की नींव डालना चाहते थे, उसके सम्बन्ध में आगे लिखने के पहले संक्षेप में कुछ उन बातों पर प्रकाश डालने की जरूरत है; जो स्वाभिमान और सामाजिक जीवन के रूप में उन दिनों में भी मौजूद थीं, जब देश परतन्त्रता की जंजीरों मे भीषण रूप से जकड़ा हुआ था।

यद्यपि राजनीतिक पराधीनता ने देश के आत्मा को निर्जीव बना डाला था; फिर भी देश में उन लोगों का अभाव न था जो सार्वजनिक कार्यों की भावना रखते हैं। सन् १८५१ में 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन' नाम की एक संस्था कायम हुई थी, लगभग पचास वर्षों तक इस संस्था ने बड़ी संजीदगी के साथ कार्य किया। इसी प्रकार बम्बई में 'बाम्बे एसोसिएशन' के नाम से एक सार्वजनिक सभा थी। जब तक वह रही, उस समय तक उसने अच्छा काम किया। स्वर्गीय दादा भाई नौरोजी और जगन्नाथ शंकर सेठ ने उसकी स्थापना की थी। मद्रास में भी इस प्रकार का सार्वजनिक कार्य बराबर होता रहा। महाराष्ट्र प्रान्त में पूना की सार्वजनिक संस्था का जन्म भी इसी प्रकार के उद्देश्य से हुआ था।

सन् १८७६ में 'इण्डियन एसोसिएशन' की प्रतिष्ठा हुई थी। उसके कार्य कर्ताओं मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बसु का नाम उल्लेखनीय है। सन् १८५७ के विद्रोह काल मे करीब ४७५ अखबार देश में प्रकाशित होते थे। इनमें अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं में निकलते थे। सन् १८७७ में प्रसिद्ध दिल्ली दरबार हुआ था, उसमें देश के प्रसिद्ध पुरुषों और राजाओं के आगमन को देख कर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को इस बात का ख्याल हुआ था कि देश में राजनीतिक संगठन की जरूरत है।

इन्हीं दिनों में लार्ड लिटन का शासन काल आरम्भ होता है। सन् १८७८ में लिटन का कठोर शासन प्रान्तीय भाषा के अखबारों के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। लिटन के बाद लार्ड रिपन का शासन-काल आया। उसने अनेक सुधार के कार्य किये। प्रान्तीय

भाषाओं के लिए लार्ड लिटन के समय में जो प्रेस ऐक्ट बना था, वह रद्द किया गया। कुछ और भी इसी प्रकार के काम हुए।

राजनीतिक संगठन के लिए मि० ह्यूम के सिवा देश के जिन लोगों के सामने भावनाएँ थीं, उनमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भी एक नाम है। कलकत्ते की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी और थियासोफिकल कनवेन्शन में भी, जो दिसम्बर सन् १८८५ में मद्रास में हुआ था, देश की राजनीतिक संगठन की बात उठी थी। इस प्रकार भारत में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो रहा था, जिसके अनुसार राजनीतिक संगठन की जरूरत मालूम होती थी।

मि० ह्यूम अपने विचारों में आगे बढ़े। उन्होंने २३ मार्च सन् १८८५ में अपना एक वक्तव्य प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने बताया कि आगामी दिसम्बर में पूना मे राजनीतिक संगठन के लिए अधिवेशन किया जायगा।

देश के सामाजिक क्षेत्रों मे और भी कार्य हो रहे थे। महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में पूना में प्रार्थना समाज के नाम से एक संस्था सामाजिक सुधारों का आन्दोलन कर रही थी। समाज के सुधार के कार्यों में रानाडे का पहला स्थान है। उस समय सुधार के जो कार्य हो रहे थे, उनमें रूढ़िवादी विचारों के प्रति विद्रोह की भावना थी। इस प्रकार के कार्यों में राष्ट्रीय भावनाएँ भी विकसित हो रही थीं।

देश में सुधारों का कार्य और भी अनेक संस्थाओं के द्वारा हो रहा था। उत्तर-पश्चिम में आर्य-समाज के द्वारा और मद्रास में थियासोफिकल सोसाइटी के द्वारा कितने ही सुधार के कार्य हुए थे। इन सुधारों में भारतीय पवित्र संस्कृति की आभा थी। इस प्रकार के आन्दोलनों में जाहिरा तौर पर सामाजिक और धार्मिक कार्य था। परन्तु उनके अन्तरतर में राष्ट्रीय प्रेरणा भी थी।

काँग्रेस की स्थापना

पिछले परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि देश में राजनीतिक संगठन के लिए एक वातावरण तैयार हो रहा था। यह भी लिखा जा चुका है कि मि० ह्यूम ने पूना में देश के प्रतिनिधियों की एक सभा का निश्चय कर लिया था।

अभी उस सभा का समय दूर था। मि० ह्यूम ने उसकी रूप-रेखा तैयार करने का काम किया। उन्होंने निश्चय किया कि पूना में देश के प्रतिनिधियों की जो सभा हो, वह 'आल इण्डिया नेशनल यूनियन' के नाम की एक राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करे। इन्हीं दिनों में लार्ड डफरिन भारत के गवर्नर जनरल होकर आये थे। मि० ह्यूम ने उनसे इस विषय में परामर्श किया। लार्ड डफरिन ने जो अपनी राय दी, वह इस प्रकार है :—

"मेरी समझ में यह ख्याल कि जो सभा आप कायम करने जा रहे हैं, अंगरेजी गवर्नर उसका सभापति हो, ठीक न होगा। इसलिए कि इस देश का सार्वजनिक जीवन इंगलैण्ड की तरह नहीं है। यद्यपि यहाँ के अखबार देश के लोकमत का प्रदर्शन करते हैं, परन्तु वे किसी संस्था के रूप में नहीं है। यहाँ पर जो अंगरेज अधिकारी हैं उनको इस बात का पता नहीं कि उनकी नीति के सम्बन्ध में लोगों का ख्याल क्या है। अच्छा तो यह होगा कि सरकार और इस देश की जनता—दोनों के हितों का ख्याल करके एक ऐसी संस्था का निर्माण किया जाय, जिसका वर्ष में एक अधिवेशन हुआ करे और उस संस्था के कार्य-कर्त्ता सरकार को बताया करें कि शासन में क्या-क्या दोष और कमजोरियाँ हैं और किन सुधारों की जरूरत है। इस प्रकार की जो संस्था हो उसका सभापति कोई गवर्नर न होना चाहिए। इसलिए कि जिसके शासन की अलोचना की जायगी, उसी का सभापति होना उचित नहीं मालूम होता।"

मि० ह्यूम ने लार्ड डफरिन की राय को सुना और मन्जूर किया। लार्ड डफरिन ने यह भी कहा था कि जब तक मैं इस देश में हूँ, उस समय तक यह न जाहिर होना चाहिए कि इसके सम्बन्ध में मुझसे सलाह ली गयी है। मि० ह्यूम ने इसे भी मन्जूर कर लिया था।

बहुत दिनों से मि० ह्यूम के अन्तःकरण में जिस कार्य की भावना थी, उसका सजीव रूप बम्बई के जलसे में सामने आया और उस अधिवेशन में देश का राष्ट्रीय कार्य सम्पादन करने के लिए कांग्रेस का जन्म हुआ।

देश की जिन परिस्थितियों से मि० ह्यूम के मन में एक प्रेरणा उत्पन्न हुई थी। उसको पिछले परिच्छेद में बताया जा चुका है।

उस समय से लेकर वे बराबर किसी ऐसे मार्ग की खोज में रहे जिससे वर्तमान शासन में आवश्यक सुधार किये जा सकें इसके लिए उन्होंने जो रास्ता बनाया, वह ठीक ही था। मि० ह्यूम का एक यह उद्देश्य भी प्रशंसनीय रहा कि वे इस देश मे जो राष्ट्रीय सभा कायम करना चाहते थे, उसका सब से पहले परामर्श, उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड डफरिन के साथ किया।

गवर्नर-जनरल ने मि० ह्यूम के प्रस्ताव पर जो अपनी सम्पति दी, वह कांग्रेस के लिए आशीर्वाद के रूप मे थी। ह्यूम साहब का उत्साह इससे बढ़ा और उन्होंने इस कार्य की तैयारियाँ निश्चित् रूप से आरम्भ कर दीं। उनको सफलता भी मिली और बम्बई के अधिवेशन मे कांग्रेस का जन्म हुआ।

कांग्रेस का प्रारम्भिक जीवन

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके व्यवस्थापक और कार्य-संचालक देश के अधिकांश वह शिक्षित और अंगरेजी पढ़े-लिखे आदमी थे, जो सार्वजनिक कार्यों की भावना रखते थे और कुछ काम करना चाहते थे। उस समय का कार्य-क्षेत्र वहीं तक था, जहाँ तक देश के राजनीतिक जीवन में परिस्थितियाँ अनुकूल और सुविधाजनक थीं।

यह लिखा जा चुका है कि कांग्रेस की स्थापना मे मि० ह्यूम की तरह के अंगरेजों का ही हाथ न था बल्कि उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन भी उसके समर्थक थे और इंगलैण्ड में जाकर मि० ह्यूम वहाँ के विशेष राजनीतिज्ञों से भी परामर्श कर चुके थे। इस प्रकार के वातावरण मे कांग्रेस का जन्म हुआ था। जिन परिस्थितियों मे और जिस प्रकार की आवश्यकताओं में उसका कार्य आरम्भ हुआ था, उसका पहले ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अंगरेज शासक भी सन् १८५७ के विद्रोह की देश में पुनरावृति न चाहते थे, मि० ह्यूम बीच के आदमी थे और देश के जो लोग कांग्रेस के कार्य-कर्ताओं के रूप मे सामने आये, सार्वजिनिक क्षेत्र में कुछ काम करना चाहते थे। उस समय का यही वातावरण था जिसमें कांग्रेस का कार्य आरम्भ हुआ।

कांग्रेस के आरम्भिक कार्यों में सुधारों की ही माँग थी। शासन की व्यवस्था में कुछ बातें ऐसी थीं, जिनको बदलने से भारतीय जनों का हित हो सकता है, लोगों की वह भावना थी। अधिकारियों को इस प्रकार की आलोचना में किसी प्रकार की आपत्ति न थी। वे समझते थे कि देश की राष्ट्रीय भावनायें यदि इसी प्रकार के कार्यों के द्वारा अधिकार में रखी जा सकती हैं तो भी वह अभीष्ट ही है।

आरम्भ में कांग्रेस के जीवन में प्राणों का अभाव था। फिर भी उसने विधानात्मक शासन के लिए जोर दिया और ऐसी व्यवस्था के लिए लगातार प्राथना की जिसमें प्रजा के हितों का भी समावेश था। यद्यपि उन दिनों कांग्रेस में उन शक्तियों का पूर्ण रूप से अभाव था। जिनसे उसकी प्रार्थनाओं को पूरा करने के लिए अंगरेज सरकार को मजबूर होना पड़ता। अधिकारियों के सामने सुधारों और संशोधनों की मांग पेश करके ही उस समय की काँग्रेस अपने कर्तव्य का पालन करती रही।

काँग्रेस ने अपने प्रस्तावों के द्वारा उन माँगों पर जोर देना आरम्भ किया जिनके द्वारा सरकारी व्यवस्था में निर्वाचित सदस्य भी जाते और शासन के कार्यों में सुधार कराने का उनको अधिकार प्राप्त होता। अपनी माँगों में काँग्रेस ने प्रार्थना की कि प्रान्तीय कौंसिलों के चुनाव का कार्य म्युनिसिपैलिटी, स्थानीय बोर्डों, व्यावसायिक संगठनों और विश्वविद्यालय के द्वारा हो और प्रान्तीय कौंसिलों को बड़ी कौंसिल के सदस्यों के चुनने का अधिकार हो। कुछ परिस्थितियों में, काँग्रेस ने यह भी स्वीकार कर लिया था कि कौंसिलों के निर्णय को नामंजूर करने का अधिकार भी सरकार को रहेगा।

जितने ही दिन आगे चलते गये। कांग्रेस में उसी प्रकार जान आती गयी। उसको इस बात का खूब पता था कि हमारी माँगों की पूर्ति के लिए सरकार किसी प्रकार तैयार नहीं है। कांग्रेस अपनी नरम पालिसी भी जानती थी और सरकार के उपेक्षा-भाव से भी पूर्ण परिचित थी। इसीलिए सन् १८९१ के अधिवेशन में काँग्रेस ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि जब कौंसिलों में हमारी आवाज का मूल्य न होगा, और उसके सदस्य जब तक प्रजा के निर्वाचित न होंगे, उस समय तक शासन में किसी प्रकार के सुधार की सम्भावना नहीं है। उस समय

की काँग्रेस और भारतीय अंगरेजी शासन में राजनीतिक दांव-पेंच चल रहे थे। सन् १८९१ के अधिवेशन के रुख को देखकर ब्रिटिश-सरकार ने कौंसिलों के सुधार के सम्बन्ध में लार्ड क्रास का "इण्डियन कौंसिल ऐक्ट" पास किया।

सन् १८९२ तक शासन-व्यवस्था का कोई विधान न था। म्युनिसिपैलिटी, स्थानीय बोर्डों और विश्वविद्यालय आदि की ओर से निर्वाचित सदस्यों की जो माँग की गयी थी, उसके द्वारा प्रजा का कोई हित न था। इस प्रकार का अधिकार उस समय केवल नुमायशी था, क्योंकि उनके द्वारा जो सदस्य निर्वाचित होकर कौंसिलों मे जाते, वे नामजद सदस्यों से कुछ विशेषता न रखते थे। वे सरकार की नीति का विरोध करेंगे, इसकी सम्भावना न थी और यदि विरोध कहीं पर करते भी तो उनके विरोधों को मानने के लिए कोई नियम सरकार को मजबूर न करता था। इसके लिए सरकार पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थी।

सन् १८९२ में जो 'इण्डियन कौंसिल ऐक्ट' पास हुआ, उसमें लोगों को कौंसिलों के लिए अपने सदस्यों के चुनने का अधिकार न था। सन् १९०५ में राजनीतिक सुधारों के लिए कांग्रेस ने जोर दिया और सन् १९०६ के अधिवेशन मे उसने मांग पेश की कि भारत में भी औपनिवेशिक शासन की व्यवस्था की जाय।

उन दिनों में कांग्रेस ब्रिटिश-पार्लामेण्ट की खिलौना थी। किसी अधिवेशन में कांग्रेस के अधिक जोर करने पर ब्रिटिश पार्लामेण्ट का कोई लार्ड ऐसा निकल आता जो भारतीय काँग्रेस की माँगों का आदर करता और सुधारों के नाम पर एक नयी योजना वह पेश करता। उस योजना में सुधारों और परिवर्तनों का वह कच्चा किन्तु अत्यन्त चमकीला रंग होता, जिसके सामने होते ही भारतीय काँग्रेस के कर्त्ता धर्ता एक बार प्रसन्न हो उठते और उस योजना की प्रशंसा होती। किन्तु थोड़ी सी धूप के पड़ते ही वह चमकीला कच्चा रंग उड़ ही न जाता; बल्कि पहले का जो रंग था, उसे भी भद्दा और अप्रिय बना देता। इसी प्रकार के सुधारों में, 'मार्ले मिण्टो-सुधार-योजना' भी थी, जिसकी दस वर्षों तक धूम रही।

देश का राजनीतिक संगठन करने के लिए ह्यूम साहब ने सब से पहले भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड डफरिन से परामर्श किया था और

उन्होंने इस विचार को पसन्द किया था। उन्होंने उसकी एक बड़ी आवश्यकता बतायी और यह भी कहा था कि हम अंगरेजों को इस बात का पता ही नहीं चलता कि हमारी कौन-सी नीति देश के लोगों को पसन्द नहीं है। इसलिए एक ऐसी संस्था की जरूरत है जो शासन की त्रुटियों को लेकर समय-समय पर आलोचनाएँ करे।

मि० ह्यूम कांग्रेस का कार्य-क्षेत्र, बहुत-कुछ सामाजिक बनाना चाहते थे। लेकिन लार्ड डफरिन ने उसका विरोध किया और कहा था कि उसका कार्य-क्षेत्र सीधा राजनीतिक होना चाहिए। उनकी स्पष्ट धारणा यह थी कि राजनीतिक आलोचनाओं के बिना शासन कभी भी विशुद्ध हो नहीं सकता। आपके साफ-साफ शब्द यह थे कि शासन और जनता के बीच एक आलोचक राजनीतिक और संगठित संस्था की बड़ी जरूरत होती है।

इसी आधार पर कांग्रेस का जन्म हुआ था और भविष्य में यही उद्देश्य उसके सामने था। यही लार्ड डफरिन थे, जिन्होंने आशीर्वाद के रूप में ये सभी बातें कही थीं और सन् १८८६ में काँग्रेस का उन्होंने स्वागत किया था। लेकिन उसके बाद ही नौकरशाही की आँखें बदलीं और युक्तप्रान्त के सर आकलैण्ड जैसे प्रान्तीय शासक कांग्रेस को सन्दिग्ध नेत्रों से देखने लगे।

अंगरेजी सरकार की वह रहस्यपूर्ण नीति आसानी से समझ में नहीं आ सकती। जो कांग्रेस अपने जन्म के समय खतरनाक न थी, वह दो-तीन वर्षों के भीतर ही भयानक कैसे हो गयी! कोई भी न्याय प्रिय व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेगा कि जन्म से लेकर सन् १९१४ तक कांग्रेस के जीवन में था ही क्या! जिस जिन्दगी के साथ वह आरम्भ हुई थी, उसी के साथ वह चल रही थी। जब कि श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की तरह के उसके नेता चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि हम ब्रिटिश-सरकार की प्रजा हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उस समय तक ब्रिटिश-सरकार की प्रजा होने में भारत अपना गौरव समझता था और कांग्रेस स्वयं राजभक्ति की शपथ का महत्व स्वीकार करती थी। उस अवस्था में वह अङ्गरेज सरकार के प्रति विद्रोही और भयानक कैसे हो गयी, यह एक महत्व पूर्ण प्रश्न है।

भेद भाव की नीति

कांग्रेस की कोशिश यह चल रही थी कि भारत की ऊँची नौकरियों में भारतीयों की नियुक्ति की जाय और किसी भी मौके पर हिन्दुस्तानी तथा अङ्गरेजी भेद न रखा जाय। सरकार की ओर से संतोष देने के लिए कुछ नौकरियों के सम्बन्ध मे यह नियम बना दिया गया कि बिना किसी भेद भाव के वे हिन्दुस्तानियों को भी दी जा सकेंगी।

सरकार ने इसे स्वीकार तो कर लिया, लेकिन स्वीकार कर लेना और संतोष दे देना और बात है किन्तु ईमानदारी के साथ उसे अमल मे लाना और बात है। यही हुआ भी। पहली बात तो यही पैदा हुई कि उनकी योग्यता की एक ओर समता थी तो दूसरी ओर उनकी श्रेणी मे अन्तर रखा गया था। जिन स्थानों पर हिन्दुस्तानियों के लिए जाने की बात थी, उन स्थानों पर उनकी नियुक्ति ही न हुई। जो नियुक्तियाँ हुई भी उनके अधिकार कम करके रखे गये और उनके वेतन मे भी बहुत कमी कर दी गयी।

जिस समय सरकार ने उन नौकरियों को हिन्दुस्तानियों के लिए निश्चित किया था, उस समय तक यह बात नहीं जाहिर की गयी थी कि उनके अधिकारों और वेतनों मे कमी की जायगी। उस समय सीधी बात यह जाहिर हुई थी कि उन स्थानो पर भारतीयों की नियुक्तियाँ होगी इसीलिए सरकार के इस निश्चय पर प्रसन्नता प्रकट की गयी थी। स्वीकार करने के बाद भी उसे अमली जामा पहनाना भी तो सरकार के ही हाथों मे था।

अंगरेजों और हिन्दुस्तानियों के बीच इस प्रकार की विषमता के रखने का उद्देश्य क्या था? सिवा इसके कि वे स्वतंत्र थे और हिन्दुस्तानी परतन्त्र थे। वे भारत पर हुकूमत करते थे और भारतवासी उनकी हुकूमत मे थे। इस गुलामी का ही यह अभिशाप था कि हिन्दुस्तानी अपने देश और अपने घरों पर भी अनधिकारी बनाकर रखे जाते थे और जो विदेशी सैकड़ों कोस की दूरी से समुद्र पार करके आते थे वे योग्य थे, अधिकारी थे। इसका एक ही कारण था कि वे स्वतंत्र थे और भारतीय गुलाम थे।

तीसरा परिच्छेद

बंग-भंग का आन्दोलन

अंगरेजी सरकार के आक्रमण

लार्ड कर्जन के पहले कांग्रेस और सरकार के बीच विरोधात्मक नीति का वातावरण न था। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कांग्रेस अंगरेजी शासन पर विश्वास रखकर केवल राजनीतिक सुधार चाहती थी और वर्ष के अन्त में अधिवेशन के दिनों में अपने प्रस्तावों का प्रदर्शन कर देती थी।

बीसवीं शताब्दी के पूर्व, लार्ड कर्जन के पांच वर्ष, दमनकारी कानूनों के साथ गुजरे, उन कानूनों में बंगाल के टुकड़े करने का जो आयोजन देश के सामने आया, वह लार्ड कर्जन की विषैली हुकूमत का एक नमूना था। अभी तक कांग्रेस राजनीतिक संस्था होने पर भी—ब्रिटिश राज्य की राज-भक्त थी। लेकिन लार्ड कर्जन के शासन-काल में देश की परिस्थितियां बदलीं और बंग-विच्छेद की नौबत सामने आते-आते देश की राज-भक्ति को एक जोरदार धक्का लगा।

बंगाल के टुकड़े करके सरकार ने उस योजना को बंगाल के भीतर ही सीमित रखने का प्रयत्न किया था। लेकिन उस योजना की चोट केवल बंगाल की चोट न थी, सम्पूर्ण देश पर वह योजना आक्रमण के रूप में सिद्ध हुई। अंगरेजी सरकार अपनी जरूरतों को देखती थी। उसकी किसी योजना से देश के किस भाग को अथवा सम्पूर्ण प्रजा को क्या क्षति पहुँच सकती है, इस प्रश्न से उसका कोई सरोकार न था। लार्ड कर्जन का शासन तो इस प्रकार के अंधेर के लिए बहुत प्रसिद्ध हुआ।

बंग-विच्छेद की योजना में सरकार ने चटगाँव के जिले को बंगाल प्रान्त से हटाकर, आसाम प्रान्त में शामिल करने का पहले-पहल

निश्चय किया। इस निश्चय और योजना को जानकर बंगाल की प्रजा को एक असह्य ठेस पहुँची। उस प्रान्त के निवासी यह परिवर्तन न चाहते थे। इसलिए उस योजना के विरुद्ध बंगाल में विरोधी आवाजें उठने लगीं। उस विच्छेद के सम्बन्ध में जब सरकार का पक्का इरादा मालूम हुआ तो बंगाल की प्रजा ने एक व्यापक आन्दोलन का सहारा लिया।

इस जोरदार विरोध ने एक बार सरकार का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया। परन्तु कर्जन का शासन उग्र नीति के लिए प्रसिद्ध था। वंग-भंग की योजना में परिवर्तन हुआ। अभी तक केवल चटगाँव को बङ्गाल से अलग किया जा रहा था। जोरदार अन्दोलन उठने के कारण, चटगाँव जिले के साथ-साथ ढाका और दार्जलिंग के जिलों को भी बङ्गाल से अलग करने का निश्चय हुआ। इन जिलों को लेकर और आसाम के कुछ भाग को इनके साथ मिलाकर एक नया प्रान्त बना डालने की योजना सरकार ने गढ़ डाली।

इस दूसरी योजना का प्रभाव और भी अधिक घातक रूप में बंगाल के सामने आया। सम्पूर्ण बङ्गाल प्रान्त ने उसका घोर विरोध करने की प्रतिज्ञा की और सार्वजनिक आन्दोलन के रूप में उसका विरोध उठ खड़ा हुआ। बङ्गाल के नेताओं ने अधिकारियों से मिलकर उस योजना को रोकने की कोशिश की। परन्तु उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। इन सभी बातों से बङ्गाल की वेदना बराबर बढ़ती गयी। सरकार की ओर से बङ्ग विच्छेद का जितना कार्य क्रम चल रहा था. बङ्गाल प्रान्त उसके विरोध में उतना ही आगे बढ़ रहा था।

सरकार के कुछ ध्यान न देने पर आन्दोलन का रुख दिन पर दिन व्यापक होने लगा। शान्तिपूर्ण उपायों से सरकार को विवश करने के लिए जितने भी साधन हो सकते थे, वे सभी काम में लाये जाने लगे। बङ्गाल के इस आन्दोलन को दबाने के लिए सरकारी नये-नये कानून और हुक्म निकलने लगे। जो लोग आन्दोलन में भाग ले रहे थे, उनके साथ, कठोर से कठोर शासन और व्यवहार किये जाने लगे।

काँग्रेस का २१ वाँ अधिवेशन सन् १९०५ में धूमधाम के साथ भारत की पुण्य नगरी काशी में हुआ। उस अधिवेशन में बङ्ग-भङ्ग की योजना का विरोध किया गया।

कांग्रेस के इस अधिवेशन में अनेक भाषण बंग-भंग के सम्बन्ध में हुए। उन सभी भाषणों में भली प्रकार यह बताया गया कि बंग-विच्छेद से बंगाल की सम्पूर्ण प्रजा को असह्य व्यथा पहुँच रही है। यदि सरकार ने उसकी ओर ध्यान न दिया और इस नाजायज कानून को वापस न लिया तो बङ्गाल का प्रान्त उसे सहन न कर सकेगा। बङ्ग-विच्छेद के सम्बन्ध में जो भाषण दिये गये, उनमें यह भी बताया गया कि बङ्ग-भंग केवल बंगाल का प्रश्न नहीं है वह सम्पूर्ण भारत का प्रश्न है। यदि सरकार अपनी उस योजना को रद्द नहीं करती तो बंग भंग का आन्दोलन देश का व्यापक आन्दोलन हो जायगा।

सन् १९०६ में विदेशी वहिष्कार का प्रस्ताव पास करते ही कांग्रेस में मतभेद हुआ। उसके कुछ नेता स्वदेशी आन्दोलन के पक्ष में तो थे, लेकिन वे विदेशी वहिष्कार के लिए बिल्कुल तैयार न थे। इसलिए सूरत में होने वाले काँग्रेस के अगले अधिवेशन में उसके दो टुकड़े हो गये। जो लोग वहिष्कार के पक्ष में थे, वे गरम दल के नाम से और जो लोग उसके विरोधी थे और विदेशी वहिष्कार न चाहते थे, वे नरम दल के नाम से उसके सामने आये।

आन्दोलन और दमन

नरम दल के विरोधी होने पर भी कांग्रेस ने वहिष्कार का समर्थन किया। फल यह हुआ कि बंग-भंग का आन्दोलन, बंगाल की सीमा से बाहर हुआ और वह देश के दूसरे प्रान्तों में जोरों के साथ फैला। सरकार को पहले से इस बात का विश्वास न था। बंगाल से लेकर भारत के दूसरे प्रान्तों तक बंग विच्छेद की आग जिस प्रकार फैली और उसने विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार का आन्दोलन खड़ा किया, यह सरकार के सामने पहला आन्दोलन था। जिसके ठोस कार्यों ने एक बार सरकार की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न किया।

सरकार अब भी अपनी हठधर्मी छोड़ने के लिए तैयार न थी। आन्दोलन को मिटाने के लिए सरकारी कानूनों का आश्रय लिया गया। प्रजा के विरोध को दबाने के लिए सरकार जितना ही कठोर शासन करती थी, विरोधियों में उतना ही उसका उलटा असर पड़ता था। सरकारी दमन से आन्दोलन लगातार गम्भीर होने लगा। वहिष्कार

की भावना दिन-पर-दिन तीव्र होने लगी। देश में जितना ही दमन चक्र चल रहा था, सरकार के विरोध में उतना ही आन्दोलन बढ़ रहा था।

सन् १९०७ मे देश ने उस जीवन का प्रदर्शन किया, जिसकी सम्भावना सरकार को पहले न थी। राष्ट्र ने प्रस्तावों का विश्वास छोड़ दिया। स्वदेशी आन्दोलन देश मे बढ़ने लगा चारों ओर राष्ट्रीय शिक्षा का क्रियात्मक कार्य-क्रम चलने लगा। देश के नेता खुलकर सरकारी नीति का विरोध करने लगे। प्रत्येक प्रान्त में राष्ट्रीय स्कूल और कालेज बड़े जोरों के साथ खुलने लगे। स्वदेशी का आन्दोलन जितना ही बढ़ता जाता था। विदेशी बहिष्कार का आन्दोलन उतना ही जोर पकड़ता जाता था। सम्पूर्ण देश में हाथ के कपड़ों का उद्योग बढ़ने लगा। इन दिनों में देश के वातावरण में नवीन जीवन का संचार हो रहा था। एक ओर सरकारी दमन का दौरदौरा था और दूसरी ओर राष्ट्रीय भावनायें उत्तेजित हो रही थीं।

आन्दोलन को सफल बनाने के लिए जुलूस निकलते थे सभायें होती थीं और दूसरे प्रदर्शन भी किये जाते थे। सरकार की ओर से इन सभी बातों की रोक के लिए दमनकारी कानून चल रहे थे। स्थान-स्थान पर हड़तालें होती थीं। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी सरकार के विरोध में प्रदर्शन करते थे। चारों ओर गिरफ्तारियों की धूम थी। बड़ी कठोरता के साथ लोगों को सजायें दी जाती थीं। शिक्षा-संस्थाओं पर कठोर पाबन्दियाँ लगा दी गयी थीं। सरकारी कानूनों के द्वारा विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेने से रोक दिया गया था। नागरिकों को भयभीत करने के लिए तरह-तरह की घोषणायें सरकार की ओर से होती थीं। सरकारी पलटनें आन्दोलनों के स्थानों पर चक्कर लगाती थीं। परन्तु देश का व्यापक आन्दोलन निर्भीकता पूर्वक काम कर रहा था।

इन दिनों में बंगाल के दो प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने आन्दोलन को जीवन देने के लिए बहुत काम किया। एक तो विपिनचन्द्र पाल और दूसरे अरविन्द घोष ने आन्दोलन की शक्तियों को बहुत बढ़ा दिया। अरविन्द बाबू का जन्म इङ्गलैण्ड में हुआ था। अंगरेजी वातावरण में ही उन्होंने पालन-पोषण पाया था और अङ्गरेजी वातावरण

में ही उन्होंने शिक्षा पायी थी। इतना होने पर भी सार्वजनिक सेवा की भावना उनमें बहुत अधिक थी। वे अटूट प्रतिभा शाली व्यक्ति थे।

बंग-भंग का आन्दोलन जितनी पराकाष्ठा पर पहुँचा, सरकार को उसका पहले से आभास न था। इस आन्दोलन ने सरकारी विरोध की मर्यादा को सीमा तक पहुँचा दिया था। शान्तपूर्ण आन्दोलन तो चल ही रहा था कुछ इसी प्रकार की भावनाओं से प्रेरित होकर राजनीतिक हत्यायें भी होने लगी थीं। इस प्रकार के हत्याकाण्डों में सन् १९०७ में सर कर्जन वाइली की हत्या थी जो लण्डन की एक सभा में की गयी थी। यह हत्या मदनलाल धींगरा ने की थी और इस अपराध में उसको फाँसी दी गयी थी। मदनलाल को बचाने में लाल काका नाम के एक पारसी ने कोशिश की थी। इस जुर्म में उसे भी फाँसी की सजा हुई थी। इसी प्रकार की हत्या में नासिक के कलेक्टर मि० जेक्सन की हत्या थी।

बंग-भंग को रद्द करने की घोषणा

बंग-भंग विरोधी आन्दोलन का उद्देश्य रक्तपात न था। परन्तु यदाकदा जब उस प्रकार की कोई घटना हो जाती थी तो उसके सम्बन्ध में कांग्रेस के नेता बराबर शोक प्रकट करते थे। देश की परिस्थिति बहुत नाजुक हो गयी थी। इस बात की कोई आशा न रह गयी थी कि जब तक बंग विच्छेद की योजना रद्द नहीं होती, उस समय तक देश मे शान्ति कायम हो सकती है। बढ़ते हुए विरोध और विद्रोह को देखकर सरकार अपनी हठ को तोड़ना चाहती थी लेकिन उसके लिए कोई अनुकूल वातावरण सामने न था। यद्यपि सरकार ने उस समय कोई ऐसी बात न कही थी, फिर भी जो आसार थे, उनसे साफ मालूम होता था कि बंग-भंग की योजना के खतम होने का समय अब दूर नहीं है, यह भी मालूम होता था कि नौकरशाही उसके सम्बन्ध में किसी मुनासिब मौके की खोज में है।

यही हुआ भी, लार्ड मिण्टो से स्थान पर लार्ड हार्डिङ्ग आये। देश की परिस्थितियां बदलीं। नयी-नयी बातों के सुझाव भी रखे गये। लार्ड क्र भारत के मन्त्री बने। उन्हीं दिनों में जार्ज पञ्चम का राज्या-

अभिषेक महोत्सव भारत में हुआ। इस मौके से सरकार ने लाभ उठाया, बंग-भंग के रद्द करने की घोषणा की गयी और भारत की राजधानी कलकत्ते से देहली चली गयी।

समाचार पत्रों पर प्रहार

प्रत्येक युग में समाचार पत्र सर्व साधारण के लिए आँखों का काम करते हैं। किसी भी देश और राष्ट्र की जागृति उन्हीं के द्वारा होती है। आज के युग मे उस देश का कोई जीवन नहीं होता जिसके समाचार पत्र मार्ग—प्रदर्शन का काम नहीं करते।

उन दिनों में भी भारतीय अखबार अपना कार्य करते थे यद्यपि राजनीतिक जीवन में उग्रता न थी। केवल जागरण-काल था। फिर भी पत्र उसका संचालन कर रहे थे। कांग्रेस के कार्य और सन्देश को सर्व साधारण तक पहुँचाना देश के पत्रों का ही काम था।

सरकार इसे देख न सकी, उसकी दमन नीति समाचार पत्रों पर आरम्भ हुई, देश की जागृति में समाचार पत्र कुछ काम न कर सकें, इसके लिए नये-नये कानून बनाये जाने लगे और उन कानूनों का प्रहार उन पर प्रारम्भ हुआ। जो पत्र सर्व साधारण की जागृत के कारण थे, वे ब्रिटिश सरकार के शिकार बने!

उन दिनों के भारतीय जीवन मे 'युगान्तर', 'संध्या' और 'बन्दे-मातरम्' के द्वारा बहुत-कुछ काम हो रहा था। वे तीनों बन्द कर दिये गये। 'संध्या' के सम्पादक देश भक्त श्री ब्रह्मबांधव उपाध्याय का जीवन ही समाप्त हुआ। उनका प्राणान्त अस्पताल में हुआ। श्री अरविन्द घोष पर जो कि 'बन्देमातम्' का सम्पादन करते थे, मुक-दमें चलाये गये, उनको अनेक प्रकार की कठिनाइयों मे डाला गया। अन्त में उन्हें देश-निकाले की सजा हुई और वे अपनी जननी जन्मभूमि को छोड़कर सदा के लिए पाण्डुचेरी चले गये। वहाँ पर वे आश्रम बनाकर रहने लगे।

स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई युवक भूपेन्द्रनाथ दत्त के सम्पा-दकत्व में 'युगान्तर' प्रकाशित होता था। सरकार की कठोर नीति को सहन न कर सकने के कारण युवक-हृदय ने 'युगान्तर' में हिंसावाद का आश्रय लिया और प्रचार आरम्भ किया। उसकी गिरफ्तारी हुई

और मुकदमा चलाने के बाद जब उसे लम्बी सजा दी गयी तो उसकी वीर माता ने हर्ष प्रकट करते हुए अपने लड़के को आशीर्वाद दिया। भूपेन्द्रनाथ के जेल जाने पर बंगाल की लगभग ६०० उच्च घराने की सुयोग्य और शिक्षित स्त्रियाँ बधाई देने के लिए उसके घर पर आयीं।

'बन्देमातरम्' के सम्पादक श्री अरविन्द घोष पर भी इसीलिए कड़े-से-कड़े मुकदमे चलाये गये थे कि उनके सम्पादन में 'बन्देमातरम्' हिंसावाद को प्रोत्साहन देता है। उन दिनों मे बंगाल में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी और इन्हीं पत्रों के द्वारा उनकी संख्या दिन-पर दिन बढ़ती जाती थी। सरकार का दमन जितना ही बढ़ता था, लोगों का भय उतना ही कम होता जाता था और वे सरकार के विद्रोही होते जाते थे।

देश की राष्ट्रीय जागृति को दबाने के लिए सरकार ने अखबारो के बंधन बहुत कठोर कर दिये। यद्यपि इन बंधनों का प्रभाव जन-समुदाय को रोक सकने मे समर्थ न हो रहा था। फिर भी प्रेस-ऐक्ट लगातार कठोर होता जाता था। सन् १९०८ में प्रेस-ऐक्ट की पाबन्दियाँ अत्यन्त भयानक हो गयी थीं। आगे चलकर सरकार ने उस प्रेस-ऐक्ट को सन् १९१० मे स्थायी कानून बना दिया।

माण्टफोर्ड सुधारों के लागू होने के बाद और बंग-भंग समाप्त हो जाने पर करीब-करीब सभी कानून जो दमन के लिए नये चलाये गये थे, वे बन्द हो गये लेकिन प्रेस ऐक्ट की कठोरता बराबर अपना काम करती रही।

राजद्रोह के मुकदमे

राष्ट्रीय जागृति के इन दिनों में सरकार की नजरों में वे सभी लोग खटकने लगे थे, जो देश भक्त थे और राष्ट्रीयता के जागरण में काम कर रहे थे। सरकार राज-विद्रोह से ही न डरती थी। देशभक्ति भी उसकी निगाहों में, राजद्रोह से कम भयानक न थी।

जो लोग जागरण के इन दिनों में जरा भी उस तरफ ध्यान देते और कुछ काम करते हुए नजर आते, वे सरकार की नजरों में खटक जाते और उन पर कोई-न-कोई प्रहार हो जाता। इस प्रकार के अप-

राधों में जो लोग गिरफ्तार हुए और जिनको सजायें मिलीं, उन सबके विवरण देना यहाँ पर सम्भव नहीं है। इसलिए संक्षेप में इतना ही लिखना काफी होगा कि सरकार ने पूर्ण रूप से राष्ट्रीय कार्यों को बन्द करने के अभिप्राय से शासन की कठोरता का प्रयोग कर रखा था। इसी सिलसिले में स्थान-स्थान पर गिरफ्तारियाँ भी होतीं और उनमें सजायें दी जातीं।

काँग्रेस के नेताओं में लोकमान्य तिलक सरकार को बहुत खटक रहे थे। इन्हीं दिनों में १३ जुलाई सन् १९०८ को वे गिरफ्तार किये गये और पाँचवें दिन की सुनवाई में उनको ६ महीने के लिए देश निकाले की सजा दी गयी। उसी बीच में आन्ध्रप्रान्त के श्री हरिसर्वोत्तमराव और कई एक आदमी गिरफ्तार हुए। सर्वोत्तमराव को नौ महीने की सजा दी गयी। सरकार की नजरों में यह सजा काफी न थी। उसकी समझ में सर्वोत्तमराव का अपराध बड़ा था। इसीलिए उनकी सजा को बढ़ाने के लिए सरकार की ओर से हाई कोर्ट में अपील की गयी। वहाँ से उनकी सजा को बढ़ाकर, नौ महीने के तीन वर्ष कर दिये गये।

इस प्रकार की गिरफ्तारियाँ और सजायें तो सरकार के लिए मामूली बातें थीं। जिनके खिलाफ राजद्रोह के सुबूत न थे, उनको ये सजायें दी जाती थीं। लेकिन जो युवक जोश में आकर जरा भी बहक जाते थे, उनको गिरफ्तार करके पाँच-पाँच वर्ष के लिए सजा में भेज देना भी सरकार के लिए उन दिनों में बहुत आसान हो गया था।

सरकार का यह दमन जोरों से देश में चल रहा था और देश का सार्वजनिक जीवन उत्तरोत्तर उत्तेजित हो रहा था। यद्यपि जाहिर तौर पर दमन की कठोरता में सार्वजनिक जीवन क्षीण हो रहा था, फिर भी उसकी विद्रोह की आग समय-समय पर अपना काम कर जाती थी। इस प्रकार की घटनाओं में प्रमुख घटना यह है कि लार्ड हार्डिङ्ग जिस समय हाथी पर बैठ कर देहली की नयी राजधानी में पहुँच रहे थे, उसी समय उन पर बम फेंका गया था और वे मृत्यु से बाल-बाल बच गये थे।

खुदीराम बोस को फाँसी

बंग-भंग की योजना से पीड़ित होकर बंगाल में सरकार का विरोधी जो आन्दोलन पैदा हुआ था, वह देश के सभी प्रान्तों में फैल गया था। बंगाल ही नहीं, सारे देश की प्रजा बंग-भंग का विरोध कर रही थी। लेकिन सरकार हठ पूर्वक बङ्गाल के टुकड़े करने के लिए तुली हुई थी। लोकमत विरोधी था। परन्तु सरकार उसकी परवाह न कर रही थी और देश की पवित्र भावनाओं को कुचलने के लिए उसने कठोर-से-कठोर कानूनों का प्रयोग किया था।

बंग-भंग के सम्बन्ध में पूरा विवरण पहले दिया जा चुका है। सरकार के कठोर दमन के कारण, देश में आन्दोलन तो चल ही रहा था, इधर-उधर क्रान्तिकारी भावनाएँ भी काम कर रही थीं। यद्यपि कांग्रेस इस प्रकार के विचारों की विरोधिनी थी। फिर भी कुछ युवकों का खून बे-तरह खौल रहा था। जिसके फलस्वरूप देश में इधर-उधर कुछ दुर्घटनाएँ भी हुई थीं।

क्रान्तिकारी विचारों के समर्थक युवकों ने कुछ मुकामों में अनर्थकारी बमों का प्रयोग किया था। ३० अप्रैल सन् १९०८ को मुजफ्फरपुर में दो स्त्रियाँ इसी प्रकार के बमों से जख्मी हुई थीं। वे बम जिला जज किंग्स फोर्ड को मारने के लिए प्रयोग में आये थे। इस अपराध मे खुदीराम बोस की गिरफ्तारी हुई थी। वह अठारह वर्ष का एक युवक था। उसके इस अपराध में उसे फाँसी की सजा दी गई थी।

यद्यपि देश में क्रान्तिकारियों का आन्दोलन किसी राजनीतिक संस्था के द्वारा न चल रहा था। फिर भी शासन की कठोरता और दमन के कारण लोगों का झुकाव उस ओर हो रहा था। इसका सब से बड़ा प्रमाण यह था कि सरकार ने जब खुदीराम बोस को फाँसी दी थी, उस समय खुदीराम के चित्र बाजारों में बड़े सम्मान के साथ बिके थे और उन चित्रों को खरीद कर लोगों ने अपने घरों पर लगा कर एक बड़े गौरव को अनुभव किया था।

सरकार के दमन का संक्षेप मे यहाँ जो वर्णन किया गया है, उसके सम्बन्ध में यह जान लेना जरूरी है कि जिन दिनों में सरकार ने इस प्रकार का दमन किया था, उन दिनों में देश ने कोई ऐसा काम नहीं

किया था, जिससे सरकार को इस प्रकार के कानूनों का आश्रय लेना पड़ता। राजनीतिक संगठन के लिए कांग्रेस ही एक संस्था थी और वह फूँक-फूँक कर पैर रख रही थी। सरकार के विरोध में उसने उस समय तक कभी भी गैरकानूनी और राजद्रोहात्मक कदम उठाने की कल्पना भी न की थी। फिर भी उन दिनों में सरकार ने जिस प्रकार दमन नीति से काम लिया; उसका स्पष्ट अर्थ यह था कि वह देश में राष्ट्रीय जागृति देख न सकती थी और कोई कारण न था।

सरकार के उस दमन को संसार का कोई भी राजनीतिज्ञ प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देख सकता। कारण यह है कि सरकार ने दमन करके और कठोर-से-कठोर कानूनों का प्रयोग करके राष्ट्रीयता को दबाने में सफलता न पायी। बल्कि एक राजभक्त देश को राजद्रोह की ओर मुखातिब होने के लिए उसने कारण पैदा कर दिये।

उन दिनों के दमन का इतना ही अर्थ निकलता है। आरम्भ में भारत के गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन जैसे अंगरेजी अधिकारियों ने काँग्रेस का समर्थन करके भारत को सदा के लिए राजभक्त बनाये रखने के लिए सफल प्रयत्न किया था। यदि सरकार ने आगे चलकर कठोर दमन से काम न लिया होता तो राजभक्ति की मोह निद्रा भारत की न टूटती। स्वतन्त्रता के प्रति पैदा होने वाली भावनाओं को कुचलने में दमन को कभी भी कामयाबी नहीं मिलती। यह प्रकृति का नियम है।

इस आधार पर सरकार का सम्पूर्ण दमन, उसकी बुद्धिमानी न थी—दूरदर्शिता भी न थी, एक राजनीतिक भूल थी। इसी भूल का परिणाम यह था कि बंग-विच्छेद की योजना को अंत में मजबूर होकर उसे वापस लेना पड़ा। देश के जाग्रत लोकमत के मुकाबिले में सरकार की यह करारी हार थी, जिसे कोई भी राजनीतिज्ञ स्वीकार करेगा।

चौथा परिच्छेद

साम्प्रदायिकता का विष

प्रथकता की नीति

काँग्रेस और सरकार की विरोधी भावनायें, लार्ड कर्जन के समय जागृत हुईं और बंग-भंग के आन्दोलन में वे खुलकर एक दूसरे के सामने आयीं। देश की परिस्थितियों का अध्ययन अंगरेजी शासकों ने भली भाँति किया था। अपने अनुभव और अध्ययन के द्वारा वे समझ चुके थे कि भारत को दबाने, गुलाम बनाने और उस पर हुकूमत करने के लिए सब से सीधा उपाय, उसकी साम्प्रदायिकता को अपने हाथ में रखना है और समय समय पर उसी को उभार कर उसे अपना अस्त्र बना लेना है।

अंगरेजों का यह अध्ययन उसी समय आरम्भ हुआ था, जब वे पहले-पहल व्यापारी के रूप में आये थे और गरीब परदेशी की हैसियत से उन्होंने अपने टिकने के लिए स्थान माँगा था। इस देश में रह कर और यहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन करके उनको बदलने में देर न लगी। सबसे पहले उन्होंने खुशामद की। जादू का सहारा लिया और उसके बाद उन्होंने मुल्क की साम्प्रदायिकता का लाभ उठाया। हिन्दुओं के खिलाफ मुसलमानों से सहायता ली और मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुओं से काम लिया। उनकी नीति के कारण, साम्प्रदायिकता का विष दोनों को ही पीना पड़ा और दोनों का उचित और अनुचित उन्होंने लाभ उठाया।

प्रारम्भ में जब कम्पनी के अधिकारी देश की राजनीतिक सत्ता अपने अधिकार में ले रहे थे, उस समय भी उनके पास बहुत कुछ इसी अस्त्र का सहारा था। वे मिलना जानते थे, बात करना जानते थे और एक दूसरे के विरुद्ध, एक दूसरे को बहकाना जानते थे।

इन्हीं गुणों के कारण उनके हाथों में भारत की सत्ता का आना आरम्भ हुआ और उन्हीं के बल पर वे यहाँ के—इस देश के शासक भी बने।

जिस जातीयता और साम्प्रदायिकता के विष से हमारा सर्वनाश आरम्भ हुआ था। अंगरेजी शासन के अन्त तक उसी का पान करना पड़ा। परतन्त्रता के बंधनों के टूटने और स्वतन्त्रता के प्राप्त होने के समय तक उसका विषैला प्रभाव देश के प्राणों के लिए नाशकारी सिद्ध हुआ। यह विष आज का नहीं है। भारत का सम्पूर्ण अंगरेजी इतिहास, इसी विष की कहानियों से ओत-प्रोत है। प्रारम्भ में कम्पनी की चालों ने जिस प्रकार इससे लाभ उठाया है, उसके विवरण प्रथम भाग में, सन् १८५७ की क्रान्ति के पहले दिये जा चुके हैं।

राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता

भारत में राष्ट्रीयता के आन्दोलन के लिए काँग्रेस का जन्म हुआ था। उसमें हिन्दू और मुसलमान का कोई भेद-भाव न था। दोनों का एक ही हित था और एक ही अहित था। अंगरेजी-शासन के सुधारों को दोनों ही चाहते थे। उनके अभाव में दोनों को पीड़ा थी, इसीलिए दोनों ही देश का उद्धार चाहते थे।

काँग्रेस का जन्म अंगरेजी शासन का तख़्त उलटने के लिए न हुआ था। देश को शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के लिए मि० ह्यूम की एक योजना थी। इसीलिए उस योजना के अनुसार जिन दिनों में काँग्रेस अपना काम रही थी, उन्हीं दिनों में सर आकलैण्ड कालविन जैसे दूरदर्शी अंगरेजों ने साम्प्रदायिकता के विष की नींव डाल रखी थी। सन् १८८८ में सर आकलैण्ड संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर थे। उन्हीं दिनों यह आवाज उठायी गयी थी कि मुसलमान काँग्रेस के विरोधी हैं।

यद्यपि ऐसी कोई बात न थी और न देश के सामने ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न हुई थी जिससे यह कहा जा सकता कि मुसलमान काँग्रेस के विरोधी हैं। फिर भी मि० कालविन जैसे अधिकारी अंगरेजों को उसकी गंध मालूम हो गयी थी। जिसके जन्म दाता वे स्वयं

थे और वे देश में हिन्दू-मुस्लिम प्रवृत्ति पैदा करने की कोशिश कर रहे थे।

काँग्रेस ने देश में जिस राष्ट्रीयता को जन्म दिया था और जिसकी जमीन पर हिन्दू और मुसलमान बिना किसी भेद के चल रहे थे; उसको मिटाने के लिए लार्ड कर्जन ने नीव डाली थी। बंग-भंग की योजना के द्वारा जो एक नया प्रान्त बनने जा रहा था, उसमें मुसलमानों का बहुमत बनाने की चेष्टा हो रही थी। इस प्रकार के कार्यों के द्वारा देश के मुसलमानों में प्रेरणा पैदा की जा रही थी। यद्यपि बंग-भंग की चेष्टा असफल हुई और लार्ड कर्जन ने जो कुछ सोचा था, उसमें उनको कामयाबी न हुई।

लार्ड मिण्टो की कूटनीति

सर आकलैण्ड कालविन ने जिस साम्प्रदायिकता की भावना पैदा करने की कोशिश की थी और लार्ड कर्जन ने जिसकी नीव डाली थी, उसकी इमारत बनाने का कार्य भारत मे लार्ड मिण्टो ने किया। 'मिण्टो-सुधार योजना' मे मुसलमानों को अलग निर्वाचन का अधिकार दिया गया था। उसके साथ-साथ संयुक्त-निर्वाचन में भी उनके हक कायम रखे गये थे। उस योजना में देश की जातियों को निर्वाचन के अधिकार अलग से देकर एक बड़ी अजीब बात पैदा की गयी थी। देश के मुसलमानों को अपने अधिकार में लेने के लिए सरकार की यह एक अद्भुत चाल थी।

उस सुधार-योजना मे मुसलमानों को बहकाने के लिए जो रास्ते निकाने गये थे, वे आश्चर्य जनक थे। उनकी कुछ बातें इस प्रकार थीं :

एक मुसलमान को मत-दाता होने का अधिकार है, यदि वह तीस हजार रुपये की वार्षिक आमदनी रखता है।

एक गैर-मुस्लिम अर्थात् हिन्दू उसी अवस्था मे उसका अधिकारी हो सकता है, जब उसकी वार्षिक आमदनी तीन लाख रुपये अथवा इससे अधिक हो।

एक मुस्लिम ग्रेजुएट तीन साल के बाद मत-दाता हो सकता है, अर्थात् ग्रेजुएट होने के बाद उसके तीन वर्ष बीत चुके हों।

एक गैर-मुस्लिम अर्थात् हिन्दू ग्रेजुएट उसी दशा में मत-दाता हो सकता है जब कि ग्रेजुएट होने के बाद उसके तीस वर्ष पूरे बीत चुके हों।

इस प्रकार 'मिण्टो-सुधार-योजना' थी। मुसलमानों के साथ जिस पक्षपात से काम लिया गया था, उसके लिए ऊपर लिखे हुए उदाहरण काफी हैं। एक ओर तीन हजार रुपये और दूसरी ओर तीन लाख रुपये। एक ओर तीन साल और दूसरी ओर तीस साल! लार्ड मिण्टो की यह नीति थी और उन्हीं की पेश की हुई सुधार-योजना थी। साम्प्रदायिकता की जड़ किसी ने भी डाली हो, लेकिन उसकी इमारत बनाने का कार्य लार्ड मिण्टो ने किया था।

सन् १९१० में साम्प्रदायिकता का मसला अधिक बढ़ गया। उस समय प्रश्न यह पैदा हुआ कि आखिरकार अब उपाय क्या होना चाहिए? अन्त में एक परिषद बनाकर इस भेद-भाव को मिटाने की कोशिश की गयी। उन दिनों म्युनिसिपैलिटियों और लोकल बोर्डों में पृथक चुनाव होने जा रहा था। संयुक्त प्रान्त में कुल आबादी का एक बटा सात मुसलमान थे। फिर भी संयुक्त-निर्वाचन जिला-बोर्डों मे १८९ मुसलमान और ४४५ हिन्दू चुने गये। म्युनिसिपैलिटियों में मुसलमान ३१० और हिन्दू ५६२ निर्वाचित हुए। श्रीयुत जिन्ना ने स्थानीय संस्थाओं में होने वाले पृथक चुनावों का विरोध किया था। उसी बीच में एक सरक्यूलर प्रकाशित हुआ था जिसमें जाहिर किया गया था कि मुसलमानों को निर्वाचन का पृथक अधिकार दिया जाय। साथ ही संयुक्त-निर्वाचन में भी उनके अधिकार सुरक्षित रहें। ऐसा करने से दोनों जातियों के प्रेम में कोई फरक न पड़ेगा।

इस प्रकार की बातों से ऊब कर सन् १९११ की कलकत्ता-काँग्रेस के सभापति पंडित बिशन नारायण दर ने कहा था—"मजहब और साम्प्रदायिकता के आधार पर अलग अलग सदस्य निर्वाचन के अधिकार देश की राष्ट्रीयता के लिये घातक है। मैं इतना ही कहूँगा कि हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता हमारे सामने जितनी अधिक होती जाती है, सरकार हमारे मार्ग में उतनी ही अधिक बाधायें खड़ी करती जा रही है।"

साम्प्रदायिकता के नाम पर एक तरफ यह छीछालेदर चल रही थी और दूसरी तरफ काँग्रेस के नेता राष्ट्रीय हितों की ओर हिन्दू-मुसलमानों का ध्यान आकर्षित कर रहे थे। सन् १९१३ की कराची काँग्रेस में इस प्रकार की बहुत सी बातें कही गयी थीं। स्वर्गीय भूपेन्द्र नाथ वसु ने कहा था—हम हिन्दू-मुसलमान-दोनों को मिलकर अपने आदर्श की ओर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि आज का हिन्दुस्तान न तो हिन्दुओं का है और न मुसलमानों का और न इस मुल्क की किसी दूसरी जाति का। यह हिन्दुस्तान उन सब का देश है, जो उसमें रहते हैं। पिछले दिनों की भूलों को हमें मिटा देना चाहिये। भविष्य का भारत आज के मुकाबिले में ज्यादा बलवान, ज्यादा महान् और ज्यादा ऊँचा होगा। इतना ही नहीं, वह उस भारतवर्ष से भी कहीं उज्वल और ऊँचा होगा, जो अशोक के समय में था और अकबर के उस हिन्दुस्तान से भी बड़ा होगा, जिसकी उसने एक बहुत बड़ी कल्पना कर रखी थी।

हिन्दू और मुसलमानों के दिलों को एक करने के लिए उस समय काँग्रेस के नेताओं ने कम कोशिश नहीं की थी। श्रीयुत वाचा ने कहा था—"काँग्रेस का भविष्य अत्यन्त आशा पूर्ण है। हम सब एक नवीन जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। उस जीवन में हमें एक नया संसार, एक नया आदर्श और एक नया प्रकाश मिलेगा।"

काँग्रेस के मंच पर इस प्रकार के आदर्श बराबर पेश किये जाते रहे। परन्तु जातीयता और साम्प्रदायिकता की जो भावना पैदा की गयी थी, उसकी हस्ती में किसी प्रकार कमी नहीं आयी।

साम्प्रदायिकता को मिटाने का प्रयत्न

बिगाड़ना आसान होता है, बनाना कठिन होता है। देश में साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया गया, उसकी लहर उठी। मुस्लिम कौम उससे प्रभावित हुई। शासन सम्बन्धी सुधारों में काग्रेस प्रतिनिधि सत्तात्मक व्यवस्था की ओर कदम बढ़ा रही थी। सरकार ने उसे बीच में ही काट देने का प्रयत्न किया। मिण्टो मार्ले योजना के अनुसार, जातिगत प्रतिनिधित्व को प्रोत्साहन दिया गया। जिस देश

में अनेक जातियाँ रहती हों और वे विभिन्न सम्प्रदाय की मानने वाली हों उस हालत में उनको अलग अलग निर्वाचन करने और अपने अपने प्रतिनिधियों को चुनकर भेजने का अधिकार देकर, एक संगठित राष्ट्रीयता को चकनाचूर कर देना है। इस प्रकार की भावना में राष्ट्रीयता कभी पनप नहीं सकती। अंगरेजी सरकार का भला इसी में था। जातिगत वैमनस्य जितने ही देश में पैदा हों, सरकार का उतना ही लाभ था। इस चाल में उसे सफलता मिली। परन्तु उससे देश की राष्ट्रीयता को बचाने के लिए उपाय क्या था?

काँग्रेस के नेताओं ने निश्चिय किया कि इस जातीयता और साम्प्रदायिकता का विष मिटाने के लिए एक ही उपाय है कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर बीच का और एक मुनासिब रास्ता निकाल लें, जिससे राष्ट्रीय प्रगति को किसी प्रकार का धक्का न पहुँचे। नेताओं का यह भी विश्वास था कि जब हम दोनो जाति के लोग स्वयं जातीय और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को न मानेंगे तो सरकारी योजना का महत्व ही क्या होगा! इसी आधार पर निश्चय हुआ कि काँग्रेस और मुस्लिम लीग—दोनों के प्रतिनिधि किसी एक स्थान पर मिलें और इसके लिए कोई एक रास्ता निकालें। इसके लिए कलकत्ता निश्चय हुआ और तय हुआ कि नवम्बर सन् १९१६ को निश्चित् तारीखों पर बैठक की जाय।

इस बैठक का उद्देश्य यह था कि काँग्रेस और लीग के प्रतिनिधि आपस में समझौता कर लें और जो निश्चय करें, उसके अनुसार कांग्रेस और लीग एक योजना बना ले, देश उसी योजना का अनुगमन करे और सरकार के पैदा किये हुए दलदल में न फँसे। कांग्रेस इस उसूल पर एक निर्णय करने की धुन में थी और उधर मुस्लिम लीग ने राजनीतिक अधिकारों पर अपना प्रभुत्व रखने की एक नीति बना ली थी।

योरप में जो महायुद्ध चल रहा था, उसमे 'आत्म-निर्णय' को महत्व दिया जा रहा था। उसी का आश्रय लेकर अपने देश में भी आत्मनिर्णय की भावनायें फैल रही थीं। योरप के युद्ध ने राष्ट्रों के नाम पर उसको महत्व दिया था। भारत में उसका उपयोग जातिगत

और सम्प्रदायगत हो रहा था। इस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियाँ बहुत-कुछ जटिल होती जा रही थीं। इस जटिलता का प्रभाव देश के बड़े-बूढ़े नेताओं पर यह पड़ा कि वे भारत की साम्प्रदायिकता को मिटाने में अपने आपको असमर्थ पाने लगे।

भारत की साम्प्रदायिकता की आड़ ही ब्रिटिश-सरकार के लिये एक ढाल थी। जिन दिनों में काँग्रेस ने सरकार के साथ सीधा संग्राम घोषित किया, उस समय साम्प्रदायिकता के आश्रय के सिवा सरकार के सामने कोई दूसरा सहारा ही न था। अन्त में भारत छोड़ने के समय भी, साम्प्रदायिकता का अस्त्र ब्रिटिश सरकार के हाथों का एटम बम बना।

पाँचवाँ परिच्छेद

स्वतन्त्रता संघर्ष चाहती है

प्रवासी भारतवासी

जो लोग अपने देश में परतन्त्रता का जीवन बिताते हैं, उनके साथ दूसरे देशों में मनुष्यत्व से परे व्यवहार किया जाता है। यह एक साधारण बात है। इसी आधार पर, दक्षिण अफ्रिका में जो भारत-वासी रहा करते थे, उनके साथ अमानुषिक व्यवहारों की सीमा बढ़ती जा रही थी।

दक्षिण अफ्रिका के नेटाल में जो भारतीय, शर्तबन्दी मियाद के साथ गये थे, उनके सम्बन्ध मे सन् १८९६ में एक कानून इस आशय का पास हुआ कि शर्त बन्द भारतीयों की मियाद जब खत्म हो तो वे या तो अपने इकरारनामों को फिर नये बनवावें अथवा अपनी वार्षिक आमदनी का आधा भाग उसके मुआवजे मे अदा करें।

इस प्रकार का कानून कितना अमानुषिक और अन्याय से भरा हुआ था, यह बताने की जरूरत नहीं है। नेटाल के शर्तबन्द कुली भारतीय उसके सम्बन्ध में क्या कर सकते थे। उनकी हस्ती ही क्या थी। अगर हिन्दुस्तान अंगरेजों का गुलाम न होता और वह स्वत-न्त्रता के जीवन में होता तो इस प्रकार के कानूनों का बनना सम्भव न था और यदि बनना भी तो उसका जवाब स्वतन्त्र भारत देता। लेकिन परतन्त्रता की भारतीय परिस्थितियाँ इसके लिए समर्थ न थी। न तो अभागे प्रवासी कुली भारतीय कुछ कर सकते थे और न उनका देश—भारत ही कुछ कर सकने की ताकत रखता था। देश की इस विवश अवस्था में डाक्टर मुंजे की तरह के भारतीयों के मुँह से इतना ही निकला कि : हमारे शासक, हमें मनुष्य नहीं समझते।

डाक्टर मुँजे के शब्दों में कितनी वेदना थी और किस पीड़ा के साथ उनके मुँह से ये शब्द निकले थे। वास्तव में ये शब्द डाक्टर मुंजे

के मुँह से निकले थे, लेकिन वह पीड़ा, भारतमाता की पीड़ा थी, जिसकी संतान को सदा—सर्वदा गुलामी की जंजीरों में जकड़े रखने के लिए ब्रिटिश सरकार को उस प्रकार का अत्याचार से भरा हुआ अमानुषिक कानून बनाना पड़ा था।

दक्षिण अफ्रिका में रहने वाले भारतीयों का देश का अपना प्रश्न था और उनके आत्म सम्मान की समस्या देश की स्वतन्त्रता की समस्या थी। स्वाधीनता की परिभाषा मे इस प्रकार की समस्यायें बहुत महत्व रखती हैं। स्वतन्त्रता के मार्ग पर चलने वाले राष्ट्रों को उनके लिए संघर्ष करना ही पड़ता है। भारत को भी यही करना पड़ा।

महात्मा गांधी और प्रवासी भारतवासी

दक्षिण अफ्रिका में प्रवासी भारतवासियों के प्रति इस प्रकार का व्यवहार चल रहा था। उनके प्रति काँग्रेस की सदा सहानुभूति रही और विरोध मे लगातार प्रस्ताव पास किये गये। लेकिन उन प्रस्तावों का क्या महत्व था, कोई भी प्रस्ताव तो उसी दशा में महत्व रखता है, जब उसके पीछे कोई शक्ति होती है।

वहाँ प्रवासी भारतीयों के मसलों को लेकर गाँधी जी ने सन् १९०१ की काँग्रेस, कलकत्ता में एक प्रस्ताव पेश किया। लेकिन कोई सुनवाई न हुई। सन् १९०२ मे उसी समस्या पर एक डेपूटेशन भारत-मन्त्री के पास गया और न्यायपूर्ण अधिकारों की माँग की। लेकिन कोई परिणाम न निकला। सन् १९०३ और १९०४ में काँग्रेस ने फिर अपने प्रस्ताव को दुहराया और ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की कि प्रवासी भारतवासियों के साथ न्याय से काम लिया जाय। परन्तु सब-कुछ निष्फल हुआ और सन् १९०५ में प्रवासी भारतीयों की दशा पहले से भी खराब कर दी गयी।

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह

सन् १९०९ की शुरूआत से ही काँग्रेस ने इस बात को स्वीकार किया कि उसने अब तक जितने प्रस्ताव पास किये, जितने आवेदन और निवेदन किये, वे सब बेकार साबित हुए।

इस वर्ष की काँग्रेस के अधिवेशन में श्री गोखले ने प्रस्ताव पेश करके श्री गाँधी जी के नेतृत्व में आरम्भ होने वाले दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह संग्राम की सफलता पर प्रकाश डालते हुए बताया :

"दक्षिण अफ्रिका के मामलों में जितने भी प्रयत्न किये गये थे, वे सबके सब असफल हुए। हमारी तमाम प्रार्थनाओं के बदले में अधिकारियों ने विश्वासघात से काम लिया। अब प्रार्थनाओं का समय खतम हो चुका है और प्रभावकारी आन्दोलन का समय है। इसी लिए गाँधी जी ने दक्षिण अफ्रिका के अमानुषिक कानूनों के विरोध मे निष्क्रय प्रतिरोध का संग्राम आरम्भ किया है।"

अपने प्रस्ताव के सिलसिले में श्री गोखले ने बताया कि निष्क्रय प्रतिरोध अर्थात सत्याग्रह किसे कहते हैं। प्रस्ताव पास होने के बाद १८०००) का चन्दा भी एकत्रित हुआ। इस रकम के अलावा सर जमशेद जी ताता के दूसरे पुत्र श्री रतन ताता ने प्रवासी भारतीयों के कष्टों की सहायता में २५०००) दिये।

शर्तबन्दी कुली-प्रथा का अन्त

उन दिनों लार्ड हार्डिङ्ग वाइसराय थे। दक्षिण अफ्रिका में गांधी जी के नेतृत्व में पूरी शक्ति के साथ सत्याग्रह संग्राम चल रहा था। भारत में काँग्रेस उसका पूर्ण रूप से समर्थन कर रही थी।

गाँधी जी के सत्याग्रह की शक्ति के सामने ब्रिटिश शक्तियां डगमगाने लगीं। कुछ दिनो तक सत्याग्रह और चला। कुछ आंशिक सुधार भी किये गये, परन्तु उन सुधारों में जीवन न था। गांधी जी हिमालय पर्वत की भांति अपने सत्याग्रह में अटल और अविचल थे। सरकार की विरोधिनी शक्तियों का अन्त करीब आ गया था। लेकिन सत्याग्रह अब भी तेजी पर था। अन्त में लाचार होकर सन् १९१३ में शर्तबन्दी कुली प्रथा के तोड़ देने की घोषणा सरकार की ओर से की गयी।

शासन और न्याय

कानूनों के द्वारा न्याय होता है। कानून बनाना शासन का काम है। लेकिन जब न्याय करने वाले ही कानूनों के बनाने वाले होते हैं तो

उस अवस्था में न्याय दलदल में पड़ जाता है। अंगरेजी हुकूमत में कानून और न्याय के अस्तित्व अलग-अलग न थे। इसलिए प्रजा को न्याय पाने में बड़ी गड़बड़ी होती थी।

काँग्रेस ने इस विषय में भी विरोध किया था और सरकार से सिफारिश की थी कि न्याय को शासन से अलग रखने की व्यवस्था की जाय। ऐसा न होने से देश में न्याय का रूप विकृत हो रहा है। कानून बनाने वालों के हाथों में ही जब न्याय का काम भी होता है तो किसी भी मौके पर न्याय नहीं हो पाता। न्याय करने वालों पर शासकों का अधिकार न होना चाहिए।

इस प्रकार के सुधारों का श्रीगणेश राजा राममोहन राय के द्वारा हुआ था। वे अत्यन्त सुलझे हुए विचारशील और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने इस प्रकार के कितने ही सुधारों के लिए कोशिश की थी। राजा राममोहन राय के आवेदन-पत्र में जिन सुधारों और संशोधनों की माँग थी, उनमें एक यह भी थी कि भारत में न्याय को शासन से अलग किया जाय। इस माँग के सम्बन्ध में केवल काँग्रेस ही कोशिश न कर रही थी। मुस्लिम लीग ने भी सरकार से जोरदार शब्दों में सिफारिश की थी।

आश्चर्य की बात तो यह थी कि काँग्रेस की इस माँग का समर्थन गवर्नर-जनरल लार्ड डफरिन, भारत मन्त्री लार्ड क्रास, लार्ड किम्बर ली और भारतीय सरकार के होम मेम्बर सर हार्वे एडम्सन ने भी भिन्न-भिन्न मौकों पर किया था। लेकिन उसका कोई नतीजा न निकला।

शासन और न्याय को एक दूसरे से अलग करने के लिए बराबर कोशिश होती रही। व्यक्तिगत रूप से सार्वजनिक रुप से और राजनीतिक प्लेटफार्म से सभी प्रकार कोशिश हुई और सरकार से अनुरोध किये गये। सरकार के इस ओर ध्यान न देने पर एक कमेटी ने उस कार्य को अपने हाथ में लिया। उस समय राजा राममोहन राय की मृत्यु उनकी अस्सी वर्ष की अवस्था में इंगलैण्ड में हो चुकी थी।

शासन और न्याय को एक दूसरे से अलग करने के लिए जो कमेटी बनी, उसमें दादाभाई नौरोजी प्रमुख थे। उसकी सफलता के लिए बंगाल; मद्रास और बम्बई में केन्द्र बनाये गये। काँग्रेस के जन्म के पहले का यह आन्दोलन था। जिसे राजा राममोहन राय ने आरम्भ

किया था। उसके बाद कांग्रेस ने इस प्रश्न को अपने हाथ में ले लिया था।

कांग्रेस की नजरों मे यह अत्यन्त आवश्यक था कि देश में न्याय के लिए उसको शासन से पृथक किया जाय। इसीलिए उसने अपना पूरा जोर लगाकर, उसके सम्बन्ध मे काम किया।

इतने पर भी सरकार ने कुछ ध्यान न दिया। सरकार की हठधर्मी का इससे बड़ा और क्या सुबूत हो सकता है कि उसके जुम्मेदार गवर्नर-जनरल और अनेक लार्डों के समर्थन करने पर भी वह न ध्यान देना चाहती थी और न किसी प्रकार के सुधार और संशोधन के लिए वह तैयार थी।

सरकार का बराबर उपेक्षा-भाव कायम रहा। देश का आन्दोलन विरोध मे बराबर चलता रहा। स्वर्गीय मदन मोहन घोष ने इसके सम्बन्ध में बहुत काम किया। शासन और न्याय का पृथक करना न केवल भारत की प्रजा के द्वारा समर्थन पा रहा था, बल्कि इंगलैण्ड में भी उसका समर्थन हो रहा था। भारतीय लोकमत का ही इंगलैण्ड पर प्रभाव पड़ा था। इस पर भी सरकार ने कुछ न किया।

उसके पश्चात् भारत की इस मांग को अत्यन्त आवश्यक मानकर इस देश के कई प्रसिद्ध अंगरेज न्यायाधीशों और भारत के प्रमुख व्यक्तियों ने भारत-मन्त्री के पास एक पत्र भेजा, उसमें अनुरोध किया गया कि सरकार के इधर ध्यान न देने से न्याय में बड़ी बाधा पड़ रही है। इसलिए देश की इस न्यायोचित मांग को तुरन्त पूरा किया जाय। परन्तु कोई फल न निकला।

छठवाँ परिच्छेद

अंगरेजों द्वारा अंगरेजी हुकूमत की आलोचना

जान ब्राइट और मि० फासेट

भारतीय स्वतन्त्रता का दूसरा युद्ध, काँग्रेस के सुधारों के साथ आरम्भ हुआ था। काँग्रेस के उन कार्यों में जिन अंगरेज अधिकारियों ने भारत में दमन करने और देश को स्थायी रूप से गुलाम बनाये रखने का प्रयत्न किया था, उनकी निन्दा करना हमारे लिए जितना स्वाभाविक है, उतना ही यह भी स्वाभाविक है कि जिन प्रतिष्ठित अंगरेजों ने भारत की राष्ट्रीयता के जागरण में हमारा साथ दिया और प्रयत्न किया था, उनकी हम प्रशंसा करें।

लगभग दो सौ वर्षों तक अंगरेजों ने भारत में हुकूमत की और इस देश के शासन से उन्होंने वे सभी लाभ उठाये, जो एक शासक जाति को उठाने चाहिए। इन दो सौ वर्षों में जहाँ अधिकाँश अंगरेज अधिकारी हमें ऐसे मिले थे, जिन्होंने इस देश को अपना गुलाम बनाया था और भविष्य में भी उसे गुलाम बनाये रखने की उन्होंने कोई कोशिश उठा न रखी थी, वहाँ कुछ ऐसे अंगरेजों का भी देश को सम्पर्क प्राप्त हुआ था जो भारत के साथ सहानुभूति रखते थे और जिन्होंने भारत की राजनीतिक जागृति के लिए बहुत से काम किये थे।

इस प्रकार के प्रतिष्ठित अंगरेजों में जान ब्राइट का एक नाम है। आपने सन् १८४७ में इंगलैण्ड की पार्लमेंट में कदम रखा था। उसी समय से आपकी सहानुभूति भारत के साथ जाहिर हुई थी।

जान ब्राइट स्वतन्त्र देश के एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इंगलैण्ड की सरकार के एक अंग होने पर भी आप दूसरी जातियों और देशों के साथ मनुष्यता का व्यवहार करना पसन्द करते थे। एक स्वतन्त्र व्यक्ति की स्वतन्त्रता का यही अर्थ होता है कि वह दूसरों की

स्वतन्त्रता का भी सम्मान करे। इसी अर्थ मे जान ब्राइट महोदय भारत की परिस्थितियों के साथ सदा अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे।

जान ब्राइट के बाद फासेट साहब का व्यवहार भी शुरू से लेकर आखीर तक ऐसा रहा, जिसकी बड़ी-से-बड़ी प्रशंसा की जा सकती है। सन् १८६५ में आप पार्लमेंट के सदस्य चुने गये थे। उसकी सदस्यता का अभी चौथा ही वर्ष था, जब आपने कोशिश की थी कि भारत की उच्च कोटि की नौकरियों की परीक्षाएँ न केवल इंगलैण्ड में होनी चाहिए बल्कि भारत और इंगलैण्ड मे वे साथ-साथ हों, इसकी व्यवस्था होनी चाहिए।

भारतीय परिस्थितियों के साथ फासेट साहब को स्वाभाविक प्रेम था। इसका एक बड़ा प्रमाण यह था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट मे जब भारत विरोधी कोई प्रस्ताव आता था तो ईमानदारी के साथ आप भारतीय पक्ष का समर्थन करते थे।

इसी प्रकार के मौकों मे अबीसीनियाँ की लड़ाई का सम्पूर्ण खर्च भारत के ऊपर लादा जा रहा था। फासेट साहब की समझ में ऐसा करना न्याय संगत न था। इसीलिए आपने उसका विरोध किया था और उसका परिणाम यह हुआ था कि वह खर्च आधा भारत के हिस्से में डाला गया और आधा इंगलैण्ड के हिस्से मे। इस प्रकार के प्रायः मौके आते थे, जिनमे आप जहाँ तक सम्भव होता था, भारत का साथ देते थे। इस प्रकार के कार्य आपकी स्वाभाविक न्यायप्रियता के प्रमाण थे।

मि० ह्यूम के कार्य

कांग्रेस का जन्म देने में मि० ह्यूम ने जिस प्रकार का काम किया था और उनके जिस अथक प्रयत्न से उसकी प्रतिष्ठा हुई थी, उस पर आरम्भ में ही प्रकाश डाला जा चुका है। आप भारत की राष्ट्रीयता के सदा समर्थक रहे और सरकार की ओर से जब कोई अनुचित बात कही जाती थी तो साहस पूर्वक और ईमानदारी के साथ भारत की ओर से आप उसका जवाब दिया करते थे।

भारत के राष्ट्रीय जागरण में मि० ह्यूम का जितना बड़ा सम्पर्क

रहा, उसको संक्षेप में किन्तु स्पष्ट विवरण के साथ यहां पर कुछ लिखना आवश्यक है। वे भारत की उन सभी बातों मे पक्षपाती थे. जिनकी आवश्यकता अपने विकास के लिए भारत को थी। इस प्रकार की बातों में मि० ह्यूम भारत में शिक्षा-प्रचार चाहते थे। पुलिस के कार्यों में वे बहुत-कुछ सुधार की आवश्यकता अनुभव करते थे। भारत जैसे गरीब देश के लिए वे मदिरा बहुत हानिकारक समझते थे और भारतीय भाषाओं में जो समाचार-पत्र प्रकाशित होते थे, वे हृदय से उनकी उन्नति चाहते थे।

देश की इन सभी जरूरतों में मि० ह्यूम भारत के लिए बराबर कार्य करते रहे। उनके विचारों का मन्थन करने से सहज ही इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि वे भारतीय जनता के शुभचिंतक और समर्थक थे।

अंगरेजी सरकार के शासन के रुख को देखकर मि० ह्यूम ने कहा था : "अस्त्रों के बल पर हुकूमत करना और बात है किन्तु इस प्रकार जो शासन किया जा सकता है, वह अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रह सकता। एक स्वतन्त्र और सभ्य सरकार का कर्त्तव्य यह होता है कि वह अपनी प्रजा में बौद्धिक विकास करे और वह उसे इस योग्य बनावे कि प्रजा अपनी सरकार के योग्य शासन को स्वयं पसन्द करे।"

मि० ह्यूम की सूझ और बूझ बहुत ऊँचे दर्जे की थी। वे प्रजा के समर्थक थे किन्तु सरकार के वे विद्रोही भी न थे। वे सदा बीच का एक रास्ता खोजकर निकाला करते थे जो दोनों के लिए कल्याण प्रद हो। यद्यपि इस प्रकार का कार्य कठिन हुआ करता है। फिर भी ह्यूम साहब की सदा यह नियत रहा करती थी।

मि० ह्यूम कलेक्टर के पद पर काम करते थे। २८ जनवरी सन् १८५९ में सरकार की ओर से उनको हिदायत मिली थी कि कलेक्टर को इस बात की कोशिश न करना चाहिए कि लोग अपने लड़कों को स्कूलों में पढ़ने को भेजें।

ह्यूम साहब भारत की जिन बातों को सोचते थे; उनमें वे बड़ी ईमानदारी से काम लेते थे। कलेक्टर होने पर भी, वे इस बात को बार-बार अनुभव करते थे कि पुलिस के कार्यों में सुधारों की बहुत

जरूरत है। जब तक उसमें आमूल परिवर्तन नहीं किये जाते, तब तक उसके द्वारा प्रजा का सच्चा हित नहीं हो सकता। मि० ह्यूम अंगरेजी शासन की अनेक खराबियों को समझते थे और उनके सम्बन्ध मे उन्होंने एक बार लिखा भी था "इस प्रकार की बातों में अभी तो मुझे सुधार की कोई आशा नहीं मालूम होती। लेकिन मुझे विश्वास है कि यदि मैं कुछ वर्ष और जिन्दा रहा तो भारतीय शासन से अपने कलंक को एक सच्चे ईसाई की हैसियत से धुला हुआ देख सकूँगा।"

सन् १८५९ में 'पीपुल्स फ्रेण्ड' नाम का भारत में एक पत्र प्रकाशित किया गया। इसके प्रकाशन और संचालन में मि० ह्यूम की बहुत बड़ी सहायता थी। उस पत्र की छः सौ प्रतियाँ संयुक्त प्रान्त की सरकार स्वयं खरीदा करती थी। उस पत्र की विशेषता यह थी कि वह प्रजा के हितों का समर्थक था किन्तु भारत के वाइसराय भी उसे पसन्द करते थे और उस पत्र को महारानी विक्टोरिया के पास इंगलैण्ड मे भेजने की व्यवस्था की गयी थी।

ह्यूम साहब इस देश मे भी उन व्यवस्थाओं को पसन्द करते थे, जो किसी भी स्वतन्त्र देश मे स्थान पाती हैं। उनमे से कुछ प्रमुख बातें ऐसी थीं, जिनके लिए वे प्रायः जोर दिया करते थे। उनका कहना था कि छोटे बच्चों के अपराध करने पर उन्हें सजा देना; सदा के लिए उन्हें अपराधी बना देना होता है। इस लिए इस प्रकार के अपराधी बच्चों के सुधार के लिए 'सुधार-गृह' बनवाये जाने चाहिए।

भारत के किसानों को प्रोत्साहन देने के लिए भी ह्यूम साहब बहुत-सी बाते कहा करते थे। सन् १८७९ में उन्होंने कृषि-सुधार के सम्बन्ध में एक योजना भी तैयार की थी। परन्तु उसमें कुछ काम नहीं हो सका। देश में जो मुकदमेबाजी चलती थी, उसका सुधार भी मि० ह्यूम चाहते थे और उसके सम्बन्ध में वे तरह-तरह की बातें सोचा करते थे।

इस देश के देहातों में जो पञ्चायतें हुआ करती थीं, उनके सम्बन्ध में ह्यूम साहब कहा करते थे :

"जो लोग देहातों से भलीभांति परिचित हैं, वे खूब इस बात को जानते हैं कि अदालतों में आने वाले आदमी जितनी बातें अदालत के सामने कहते हैं, उनमें एक भी सच नहीं होती। किंतु इसी प्रकार के

आदमियों के द्वारा जब देहातों में पञ्चायतें होती हैं तो उन लोगों को झूट बोलने की हिम्मत नहीं पड़ती।"

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि ह्यूम साहब की नजरों में अदालतों के मुकाबिले में पंचायतों का कितना बड़ा सम्मान था। वे कहा करते थे कि देहाती पंचायतों के सामने लोग इसलिए नहीं झूठ बोल सकते कि वहाँ के सभी लोगों को मामले की जानकारी होती है।

सन् १८७० में ह्यूम साहब की नियुक्ति भारत-मंत्री के पद पर हुई थी और वे बड़ी योग्यता के साथ इस पद पर काम करते रहे। सन् १८७९ तक वे भारत मन्त्री रहे। लेकिन ब्रिटिश सरकार उनके कार्य से सन्तुष्ट न रही। इसका कारण यह था कि वे भारत के प्रति अधिक ईमानदार थे और अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण सरकार की नीति का पालन न कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे १८७९ के बाद उस पद से हटा दिये गये। उनका अयोग्यता का कारण उनकी सच्चाई, उदारता और स्वतन्त्रता थी।

भारत-मन्त्री के पद से हटाने के बाद भी सरकार उनके प्रति अधिक समय तक अवहेलना न कर सकी। इसलिए उनको लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर बनाने का प्रस्ताव हुआ। लेकिन मि० ह्यूम ने इसे नामन्जूर कर दिया। उसके बाद भी सरकार ने उनको होम मेम्बर बनाने का निश्चय किया, लेकिन उस समय मि० सेल्सबरी ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के प्रधान मन्त्री थे। वे ह्यूम साहब की नीति को बिल्कुल पसन्द न करते थे। इसलिए वह निश्चय भी बेकार हो गया। ह्यूम साहब को यह बरदाश्त था, लेकिन वे अपनी स्वतन्त्रता और सच्चाई को किसी प्रकार छोड़ देने के लिए तैयार न थे।

सर विलियम बेडरबर्न

सर विलियम बेडरबन की प्रकृति में भी वही स्वाभाविक सच्चाई और स्वतन्त्रता थी, जो एक ईमानदार राजनीतिज्ञ में होनी चाहिये। अपने इसी स्वभाव के कारण वे भारत के साथ बड़ी सहानुभूति से काम लेते रहे। उनके उदार व्यवहार और स्वभाव के कारण ही भारतीय लोकमत ने उनको दो बार कांग्रेस का सभापति चुना था। पहली बार वे सन् १८७९ में बम्बई कांग्रेस के प्रेसीडेण्ट बने और

दूसरी बार सन् १९१० में वे इलाहाबाद कांग्रेस के सभापति बनाये गये।

दूसरी बार जब बेडरबर्न कांग्रेस के सभापति चुने गये, उस समय भारतीय प्रजा और ब्रिटिश-सरकार के बीच बड़ा संघर्ष चल रहा था। सन् १९०८ के आस-पास तो सरकार ने अपने पूरे दमन से काम ले रखा था। १९१० में परिस्थितियां कुछ सुधार पर थीं, लेकिन ब्रिटिश पार्लमेण्ट के राजनीतिज्ञ भारत के राष्ट्रीय लोकमत से बहुत असंतुष्ट थे। इस प्रकार के दिनों मे बेडरबर्न का अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के लिए सभापति चुना जाना एक असाधारण बात थी।

मि० ब्रैडला

भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास में जिन स्वतन्त्रता-प्रेमी अंगरेजों के नाम आते हैं, उनमे रैमजे मैक्डानल्ड का नाम भी विशेषता रखता है। उनकी स्वाभाविक सहृदयता सदा भारत के साथ रहती थी और इसीलिए सन् १९११ की कांग्रेस में उनको सभापति के रूप में चुना गया था। लेकिन अपनी पत्नी की मृत्यु के कारण वे उस अवसर पर भारत आ न सके।

ऐसे मौके पर चार्ल्स ब्रैडला का नाम भी नहीं भुलाया जा सकता। सन् १८८९ में उनका भारत मे जिस प्रकार स्वागत हुआ था, उसमे बहुत बड़ी विशेषता थी। ब्रैडला साहब के इस प्रकार स्वागत का कारण यह था कि वे आत्म-निर्णय का सिद्धान्त सभी के लिए जरूरी समझते थे। वे स्वयं स्वतन्त्र थे और दूसरे की स्वतन्त्रता का आदर करते थे। उनके इन गुणों का सम्मान करना भारत के लिए स्वाभाविक था।

भारत में आकर मि० ब्रैडला ने जो बातें कहीं, उनसे उनके विचारों का पता लगता है। आपने अंगरेजी सरकार के शासन की आलोचना की और साफ-साफ शब्दों में कहा—जहाँ आँखें मूँदकर समर्थन किया जाता है, वहाँ सच्चाई नहीं होती। इस प्रकार का समर्थन कभी-कभी उसे विनाश की ओर ले जाता है। राजभक्ति और

प्रजा-भक्ति—दोनों साथ-साथ चला करती हैं। इन दोनों में एक अकेली कभी नहीं रहती।

ब्रैडला साहब भारतीय लोकमत का बहुत आदर करते थे। उनकी यह प्रबल अभिलाषा थी कि अंगरेजों के भारतीय शासन मे भारत के लोकमत को स्थान मिले। अपने इस अभिप्राय की पूर्ति के लिए उन्होंने सन् १८८९ में भारतीय कौंसिलों के सुधार पर एक बिल तैयार किया था। इस बिल मे भारत के लोकमत की भावनाओं का प्रदर्शन था।

ब्रैडला साहब का यह बिल ब्रिटिश पार्लामेण्ट में पेश हुआ। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने उस बिल का विरोध किया। मि० ब्रैडला ने अपनी पूरी ताकत के साथ उसका पक्ष-समर्थन किया और इस बात की कोशिश की कि वह पास हो जाय। लेकिन पार्लमेण्ट ने उसे मन्जूर न किया और ब्रैडला साहब को अपना वह बिल वापस लेना पड़ा।

भारतीय कौंसिलों के सम्बन्ध में एक दूसरा बिल भी पार्लमेण्ट में पेश था। वह बिल भारतीय, लोकमत का बिलकुल विरोधी था। मि० ब्रैडला ने उसका विरोध किया। बड़ी गरमा गरम बहसें हुईं। लेकिन ब्रैडला साहब ने उस विरोधी बिल को भी पास नहीं होने दिया। नतीजा यह हुआ कि यह बिल भी वापस लिया गया। अगर वह विरोधी बिल पास हो गया होता तो उससे भारतीय हितों को कितनी क्षति पहुँचती, इसके बताने की जरूरत नहीं है।

विलियम राबर्ट ग्लैडस्टन

अन्य भारत-हितैषी अंगरेजों के साथ, विलियम राबर्ट ग्लैडस्टन का नाम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अपने उच्च विचारों के लिए वे इंगलैण्ड में विख्यात थे और भारत मे भी उनकी लोकप्रियता सम्मान के साथ मानी जाती थी।

मि० ग्लैडस्टन भारतीय काँग्रेस के प्रत्यक्ष समर्थक थे। इस देश की राष्ट्रीय उन्नति उनको प्रिय थी। ब्रिटिश कूटनीति की वे प्रायः आलोचना किया करते थे। सन् १८८८ मे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था :

"विशाल भारत की राष्ट्रीय आकाँक्षाओं के प्रति न तो तिरस्कार किया जा सकता है और न उसकी अवहेलना ही की जा सकती है। ऐसा करने से ब्रिटेन का काम न चलेगा। तिरस्कार और उपेक्षा से भारत की अपेक्षा ब्रिटेन की अधिक हानि है।"

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में यही विलियम राबर्ट ग्लैडस्टन थे, जिन्होंने आयरलैण्ड की स्वाधीनता का समर्थन किया था और उन्होंने खुलकर भारतीय अधिकारों को भी स्वीकार किया था, यही कारण है कि भारत-हितैषी अंगरेजों में विलियम राबर्ट ग्लैडस्टन का नाम प्रमुख रूप से आता है।

राष्ट्रों की स्वतन्त्रता मे समाचार-पत्रों की स्वाधीनता प्रमुख मानी जाती है। इसीलिए संसार का कोई भी निष्पक्ष राजनीतिज्ञ अखबारों, की स्वतन्त्रता को बिना स्वीकार किये नहीं रह सकता। यही कारण था कि विलियम राबर्ट ग्लैडस्टन भारतीय समाचार-पत्रों की स्वाधीनता को पूर्ण रूप से स्वीकार करते थे। सन् १८९४ की काँग्रेस में विद्वान अर्डले नार्टन ने उनके शब्दों को दुहराते हुए कहा था :

"जिस कानून को पास करके भारतीय समाचार-पत्रों की स्वाधीनता को नष्ट किया गया है, उसे पार्लमेण्ट से छिपाकर और देश को बिना जाहिर किये पास किया गया है, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं यह भी मानता हूँ कि इस प्रकार के भारतीय शासन के कानून ब्रिटिश साम्राज्य को कलंकित करते हैं।"

नार्थ ब्रुक और ड्यूक साहब

अंगरेजी कौम ने अगर प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ पैदा किये हैं तो लोकप्रिय व्यक्तियों को जन्म देने में भी इसने ख्याति पायी है। जहाँ कुछ अंगरेज, अंगरेजी नीति को कलंकित करते हैं, वहाँ इंगलैण्ड के अनेक सर्वप्रिय नेता, इंगलैण्ड का मस्तक ऊंचा भी करते है। इसी प्रकार के विख्यात और लोकप्रिय अंगरेजों में लार्ड नार्थ ब्रुक और मि० ड्यूक का भी नाम है।

नार्थ ब्रुक महाशय ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट के सामने एक बार साफ-साफ कहा था "होम चार्जेज के नाम पर भारत के खजाने से जो

अत्यधिक सम्पत्ति खींची जा रही है। उसे बन्द किया जाय। इस अन्याय को कोई भी न्याय नहीं कह सकता।"

ब्रुक महाशय ने बड़े आवेश के साथ इस प्रकार के वाक्य पार्लमेण्ट के सामने कहे थे। उनके वाक्यों में इतनी सच्चाई थी कि उनकी इस अपवादपूर्ण बात का उत्तर देने के लिए पार्लमेण्ट के विरोधी मेम्बरों को साहस से काम लेना पड़ता था। नार्थ ब्रुक की इस ईमानदारी के लिए सन् १८९३ के कांग्रेस-अधिवेशन में कृतज्ञता का प्रस्ताव पास किया था।

ड्यूक आफ आर्जाइल ने भारतीय कष्टों को भली-भांति अनुभव किया। वे अपनी सहानुभूति को रोक न सके थे और अपनी अनुभूतियों को प्रदर्शित करते हुए उन्होंने कहा था: "भारतीय अपनी मुसीबतों को महसूस करें, उससे पहले ही उन मुसीबतों को दूर कर देना अंगरेज अधिकारियों का काम है।"

मि० ड्यूक की सहानुभूति भारत के देहातों की गरीबी के सम्बन्ध में कितनी अधिक थी, इसका पता उस समय चलता है, जब उनके मुंह से, पीड़ा के साथ निकले हुए शब्दों को पढ़ने और सुनने को मिलता है:

"हिन्दुस्तान के देहातों में जितनी भयानक गरीबी और दरिद्रता फैली हुई है और उन देहातों के निवासी भारतीयों का जीवन इतना अधिक पतित हो गया है, जिसकी समता संसार के किसी भी देश में न मिलेगी। × × भारत में अंगरेजों ने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया और न उन्होंने अपने वादों को ही पूरा करने की कभी कोशिश की।"

लार्ड स्टैनले

भारत के शुभचिन्तक अंगरेजों में लार्ड स्टैनले का नाम कम महत्व नहीं रखता। समय-समय पर उन्होंने निष्पक्ष होकर ब्रिटिश-पार्लमेण्ट की आलोचना की थी और अपने स्वतन्त्र विचारों का परिचय दिया था।

स्टैनले महाशय के विचारों में भारतीय परिस्थितियों के साथ पूरी सहानुभूति थी। न्याय के नाम पर वे पक्षपात से काम लेना न जानते

थे। इसीलिए जब कभी मौका पड़ता था तो वे निर्भीक हो कर ब्रिटिश-नीति की आलोचना करते थे। भारत के साथ उनकी इस सहानुभूति का कारण यह था कि उन्होंने अपनी जिन्दगी का एक बड़ा भाग भारत में व्यतीत किया था और भारतीय हितों के लिए प्रयत्न करने में उन्होंने सुखों का अनुभव किया था।

सन् १८९४ में भारत-मन्त्री और उसकी कौंसिल की आलोचना करते हुए स्टैनले साहब ने कहा था: "अगर भारतमन्त्री का काम, उसकी कौंसिल के सदस्यों को ही करना पड़ता है और भारतमन्त्री स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता तो उसका पद तोड़ देना अधिक अच्छा होगा। साथ ही अगर भारतमन्त्री की कौंसिल पर उसके मन्त्री का शासन ही काम करता हो तो कौंसिल का तोड़ देना लाजिमी मालूम होता है। आज का यह दोरुखी शासन न केवल बेकार है, बल्कि भयानक और अपव्यय के रूप में भी है।"

भारत-मन्त्री और उसकी कौंसिल की आलोचना करते हुए स्टैनले महाशय ने कितनी निर्भीकता के साथ ये वाक्य कहे थे, इसके बताने की जरूरत नहीं है। उन्होंने अपनी आलोचना में कौंसिल की अयोग्यता के कितने ही सुबूत भी दिये थे।

इस प्रकार भारतीय परतन्त्रता के दिनों में कुछ अंगरेज देश के सामने आये, जो इस देश में ऊँचे पदों पर रहे अथवा ब्रिटिश पार्लमेण्ट के सदस्य की हैसियत से भारतीय शासन से सम्बन्ध रखते रहे। लेकिन हिन्दुस्तानियों के राजनीतिक अधिकारों को सदा स्वीकार करते रहे। इतना ही नहीं, बल्कि सम्मानपूर्ण सहायता भारत को समय-समय पर प्राप्त होती रही और उनका सम्पर्क एवम् साहाय्य मिलने के कारण भारत सदा उनके प्रति अपनी सहानुभूति को प्रदर्शित करता रहा।

जिन अंगरेजों ने भारतीय जीवन को इस प्रकार प्रोत्साहन दिया, उनमें से कितने ही लोगों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अधिकारी सदस्यों की कठोर नीति उनके साथ बर्ती गयी और उसके कारण कई लोगों को कितने ही प्रकार की क्षति भी उठानी पड़ी। इसका सबसे बड़ा सुबूत जैसा कि पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है मि० ह्यूम जैसे अंगरेज हैं जो

स्वतन्त्रता को महत्व देते थे और प्रत्येक मनुष्य जाति और देश के साथ ईमानदारी का व्यवहार अदा करने में आत्मिक सुख अनुभव करके थे। इसी ईमानदारी के कारण वे भारत मन्त्री के पद से अलग कर दिये गये थे।

उनके साथ किया गया व्यवहार क्षति के रूप में ही न था। अपमानपूर्ण भी था। जिसकी पूर्ति भारत ने अपने हृदय का सम्मान देकर की थी। भारतीय परतन्त्रता के इतिहास में इस प्रकार के न्यायप्रिय अंगरेजों के सद्व्यवहार, न्याय और उपकार को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

सातवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय संगठन और आन्दोलन

दो विरोधी धारायें

योरप के प्रथम महायुद्ध का दूसरा वर्ष था। ब्रिटिश साम्राज्य की ओर से भारतीय सैनिक उस भीषण युद्ध मे शामिल हुए थे और फ्राँस के मैदानों मे उन्होंने जर्मन-सेनाओं के आक्रमणों का बर्फीली सरदी में जिस प्रकार जवाब दिया था, उसमें उनकी बहादुरी और युद्ध की कुशलता को सभी बड़े-बड़े देशों ने स्वीकार किया था।

उस युद्ध में धन और जन से भारत ने ब्रिटिश सरकार की जो सहायता की थी, उसमे इस देश के नेताओं की दो विचार धारायें थीं। कुछ लोग ब्रिटेन से उसके पुरस्कार की आशा रखते थे और कुछ लोग देश के राजनीतिक अधिकार चाहते थे। श्रीमती बेसेण्ट सन् १९१४ में कांग्रेस में शामिल हुई थीं। यद्यपि उसके पहले भी उन्होंने भारतीय जनों की कई प्रकार से सेवा और सहायता की थी। उनके जीवन में उत्साह की कमी न थी। वे बड़ी-बड़ी योजनायें रखती थीं। उन्हीं के आधार पर एक नया जीवन लेकर वे काँग्रेस के क्षेत्र में आयी थीं। उनकी योग्यता और उनके व्यक्तित्व से संसार के बहुत बड़ी संख्या में स्त्री और पुरुष चिर-परिचित थे।

नेतृत्व का अभाव

सन् १९१५ में देश की राष्ट्रीय प्रगति विक्षुब्ध अवस्था को पहुँच चुकी थी—१९ फरवरी सन् १९१५ को गोखले का स्वर्गवास हो चुका था। देश सर फिरोजशाह मेहता को भी खो चुका था। दीनशा वाचा बुढ़ापे के आक्रमण से लगातार निर्बल होते जाते थे, वे प्रशंसनीय विद्वान थे, परन्तु उनकी सेवायें मन्त्री-पद के योग्य ही थी। सर नारायण चन्दावरकर राजनीतिक क्षेत्र में उस शक्ति के समान थे, जो

अपनी अवस्था की क्षीण गति में पहुँच जाती है। हेरम्बचन्द्र मैत्र, मुधोलकर और सुब्बाराव काँग्रेस के उच्च कोटि के कार्य कर्त्ता थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी में प्रतिभा थी, परन्तु उनके कार्यों का दृष्टिकोण काँग्रेस की जरूरत के लिए काफी न था।

सन् १९१५ में इस प्रकार के जो स्तम्भ थे, वे साधारण नेताओं के रूप में थे। काँग्रेस को एक विशेष नेता की आवश्यकता थी, जिसके नेतृत्व में राष्ट्र के नेता काम कर सकें। उस प्रकार के नेता का और नेतृत्व का कांग्रेस के सामने अभाव था। जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय जीवन के तार टूट रहे थे और देश के राजनीतिक जीवन में अन्धकार फैल रहा था।

काँग्रेस के अधिकारियों में कुछ और भी लोग थे। लोकमान्य तिलक मण्डाले से जून १९१४ को सजा काटकर लौटे थे। श्रीनिवास शास्त्री का व्यक्तित्व बहुत साधारण रूप में काम कर रहा था। पण्डित मदनमोहन मालवीय का नेतृत्व भी काँग्रेस को न मिल रहा था। उसके दो कारण थे। काँग्रेस नरम दल वालों के हाथ में थी और स्वयं मालवीय जी के जीवन में दृढ़ता का अभाव था। गांधी जी को देश में लौटे हुए बहुत थोड़े दिन बीते थे। उन्होंने अभी तक देश के सार्वजनिक जीवन में पूर्ण रूप से भाग भी न लिया था। गांधी जी ने गोखले को गुरू के रूप में स्वीकार किया था और इस समय उन्हीं के संकेत पर चल रहे थे। इस प्रकार गांधी जी के सामने देश की अवस्थाओं का अध्ययन कार्य था।

देश की परिस्थिति उन दिनों में बहुत नाजुक हो रही थी। लाला लाजपत राय अपने प्रान्त और देश की हालत से बहुत खिन्न हो चुके थे और अमेरिका में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे। कुछ और भी लोग थे जिनका मेल दूसरे कार्य कर्ताओं के साथ न बैठता था। इस अवस्था में काँग्रेस का जीवन उत्तरोत्तर निर्बल हो रहा था। नरम दल के लोग लगातार नरम होते जा रहे थे और काँग्रेस नौकरशाही के हाथ का खिलौना बन रही थी।

इन परिस्थितियों में देश का, काँग्रेस का—कोई नेता न था। ऐसा नेता जो सभी नेताओं को एक संगठन के सूत्र में बाँध सकता

और काँग्रेस के सामने काम की कोई योजना रख सकता। अभाव की इस निर्बल अवस्था में राष्ट्रीय जीवन असहाय हो रहा था।

काँग्रेस के असफल वर्ष की कहानी

वर्तमान कांग्रेस के नेताओं में विरोधी विचार चल रहे थे। गरम दल के नेताओं के विचार नरम दल के लोगों के साथ मिलते न थे। इसीलिए लोकमान्य तिलक अपने विचारों के अनुसार देश का संगठन करने के लिए होमरूल का आश्रय ले रहे थे।

काँग्रेस की इस परिस्थिति में कुछ नेताओं का यह भी ख्याल था कि जैसे भी हो सके, दोनों दल के लोगों में फैली हुई फूट दूर की जाय और कोई ऐसी सूरत पैदा की जाय, जिससे मिलकर कुछ काम किया जा सके। इसीलिए कुछ कोशिशें भी इस तरह की हो रही थीं। तिलक बीच का एक ऐसा मार्ग खोज रहे थे, जिससे विरोधी पार्टी के लोगों को सहयोग में आने का मौका मिल सके।

लोकमान्य तिलक एक रचनात्मक कार्य की योजना बना रहे थे। काँग्रेस के चुनाव में भी वे कुछ संशोधन चाहते थे। फिर भी, नरम दल के लोग किसी कार्यक्रम में अधिक दिलचस्पी न ले रहे थे। श्रीमती बेसेण्ट स्वयं समझौता चाहती थीं और इस बात को भली भाँति समझती थीं कि यदि दोनों दलों में समझौता न हो सका तो कोई भी कार्यक्रम चल नहीं सकता। इसीलिए वे अलग दौड़ धूप कर रही थीं। श्रीमती बेसेण्ट अपने इसी अभिप्राय से पूना गयीं और वहाँ पर वे लोकमान्य तिलक, गोखले तथा अन्य कुछ नेताओं से मिलीं परन्तु कोई सफलता प्राप्त न हुई। यह बात उस समय की है जब गोखले जीवित थे। उसके बाद सन् १९१५ के आरम्भ में ही उनकी मृत्यु हो गयी।

काँग्रेस की कमजोरी को दूर करने के लिए बराबर प्रयत्न जारी रहे। लेकिन सफलता की आशा कहीं दिखायी न देती थी। पूना में राष्ट्रीय विचारों के लोगों की एक सभा हुई। उसमें नरम दल के लोग शामिल न हुए। उनका सम्मेलन बाद में अलग से हुआ। उसमें लार्ड विलिंगडन भी शामिल हुए। पूना की सभा और नरम दल के

लोगों के सम्मेलन के दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से एक दूसरे के विरोधी थे।

आरम्भ से लेकर सन् १९१४ तक काँग्रेस जिस प्रकार काम कर थी, उसमें इस वर्ष अनेक बाधायें पड़ गयी थीं; उसके सदस्य प्रतिनिधि और नेता दो दलों में विभक्त हो गये थे। वे दोनों दल नरमदल और गरम दल के नाम से काम कर रहे थे। सन् १९१५ की काँग्रेस नरमदल की काँग्रेस हो गयी थी और इस समय उसमें गरमदल के लोगों के लिए कोई स्थान न रह गया था। जो लोग उस समय की काँग्रेस से सन्तुष्ट न थे, वे अपने उपायों में लगे थे और किसी प्रकार अपना क्षेत्र तैयार करना चाहते थे।

———

आठवाँ परिच्छेद

देश में राष्ट्रीयता की लहर

मान्टेगु-घोषणा

सन् १९१५ में कांग्रेस जिस प्रकार निर्बल हो चुकी थी। पिछले परिच्छेद में उस पर प्रकाश डाला जा चुका है। आपस में फूट थी, नरमदल का बोलबाला था, गोखले और मेहता जैसे नेताओं की मृत्यु हो चुकी थी। लोकमान्य तिलक अभी तक बिलकुल बाहर थे। इस प्रकार की अनेक परिस्थितियों से काँग्रेस प्राणहीन जीवन बिता रही थी।

लोकमान्य तिलक की शिक्षा-दीक्षा, योग्यता, सेवा और त्याग साधारण न था। कांग्रेस की इन परिस्थितियों में वे चुपचाप न बैठ सकते थे। उनके हृदय में राष्ट्रीय कार्यों की जो तीव्र भावना थी, उससे प्रेरित होकर, उन्होंने २३ अप्रैल सन् १९१६ को होमरूल लीग की स्थापना की।

सरकार लोकमान्य तिलक के प्रभाव से अपरिचित न थी। उनके प्रचार-कार्य को देखकर नौकरशाही सरकार सावधान होने लगी। पंजाब सरकार अधिक इन्तजार न कर सकी। उसने आज्ञा देकर लोकमान्य तिलक को देहली और पंजाब के भीतर प्रवेश करने की मनाही कर दी।

काँग्रेस की इस परिस्थिति के साथ सन् १९१६ का वर्ष प्रारम्भ हुआ। उसे एक नेता की जरूरत थी। श्रीमती बेसेण्ट का जीवन क्षेत्र पहले धार्मिक था लेकिन उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। लोकमान्य तिलक ने होमरूल लीग की स्थापना की थी। उसके छः महीने बाद श्रीमती बेसेण्ट ने भी अपनी होमरूल लीग कायम की और उसको शक्तिशाली एवम् लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया।

सन् १९१५ में बम्बई कांग्रेस में कांग्रेस और मुस्लिमलीग का एक सम्मेलन करने का निश्चय किया था। उसका उद्देश्य था कि दोनों के प्रतिनिधि मिलकर एक ऐसी योजना बनावें, जो कांग्रेस और लीग-दोनों को मन्जूर हो। उस योजना के द्वारा राष्ट्रीय कार्यों में हिन्दुओं और मुसलमानों की मित्रता कायम हो। साथ ही वह योजना ऐसी हो, जिसके द्वारा अंगरेजी सरकार से राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त किया जा सके।

बम्बई कांग्रेस ने यह भी तय किया था कि कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधियों का सम्मेलन, जो योजना तैयार करे, वह १९१६ की काँग्रेस और मुस्लिम लीग के सामने पेश की जाय। यही हुआ। दोनों संस्थाओं के प्रतिनिधियों की बैठकें हुई और उस निश्चय के अनुसार उनका कार्य आरम्भ हो गया।

काँग्रेस और मुस्लिम लीग

देश के सामने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न सदा से घातक रूप में रहा था। इसका लाभ अंगरेजों ने सदा उठाने की कोशिश की और अनेक मौकों पर वे इसमें कामयाब भी हुये। कांग्रेस के आन्दोलन में जब जब सरकार के दूसरे अस्त्र निकम्मे हो जाते थे, तो उसे हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का ही आश्रय लेना पड़ता था।

देश का यह दुर्भाग्य था कि हिन्दू और मुसलमान राजनीतिक प्रश्नों में भी एक होकर न चल सकते थे। दोनों ही अंगरेजों के गुलाम थे। दोनों पर अंगरेजों का शासन था और दोनो ही हुकूमत की खराबियों के शिकार हो रहे थे। फिर भी दोनों एक होकर अपने भाग्य का निर्णय न कर सकते थे। इसमें उन दोनों का उतना अपराध न था। जितना बड़ा अपराध अंगरेजी सरकार की कूटनीति का था।

जिस साम्प्रदायिकता के नाम पर हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के शत्रु हो जाते थे, उसका जन्म काँग्रेस के बाद लार्ड मिण्टो के जमाने में हुआ था। मिण्टो ने इस बात को खूब समझा था कि हिन्दुस्तान पर अंगरेजी शासन कायम रखने के लिए सबसे सीधा रास्ता यह है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का मतभेद बढ़ाया जाय और इन दोनों जातियों को कभी एक न होने दिया जाय।

देश के राजनीतिक आन्दोलन में साम्प्रदायिकता ही सबसे बड़ी बाधा थी। काँग्रेस की बुद्धिमानी का सबसे महत्व पूर्ण सुबूत यह है कि उसने आरम्भ से ही साम्प्रदायिकता को मिटाने की कोशिश की। और जिन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उसका कार्यक्रम चल रहा था, उसकी पूर्ति के लिए उसने हिन्दू मुस्लिम मैत्री को प्रधानता दी।

सन् १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में हिन्दू-मुस्लिम मैत्री कायम हुई दश की इन दो महान जातियों का सम्मिलन देश की राजनीतिक मांगों के लिए गढ़ के रूप में तैयार हुआ। सन् १९१७ में इसी मित्रता की किले-बन्दी के कारण देश के राष्ट्रीय जागरण में आशातीत सफलता मिली। इस मित्रता से सरकार को भयभीत होकर दमन का आश्रय लेना पड़ा।

सरकारी दमन

एक ओर देश में काँग्रेस का कार्य चल रहा था और दूसरी ओर होमरूल लीग का प्रचार चल रहा था। देश मे चारों ओर उसकी शाखायें फैल गयी थी। समाचार-पत्र इस प्रचार-कार्य में अपनी उपयोगिता का प्रमाण दे रहे थे।

होमरूल लीग का कार्य देश में जिस प्रकार फैला उससे राष्ट्रीय जाग्रति में बिजली दौड़ गयी। सरकार को घबराकर दमन से काम लेना पड़ा। उसका पहला आक्रमण समाचार पत्रों पर हुआ। प्रेस-ऐक्ट को और भी अधिक कठोरता के साथ उपयोग किया गया। दमन का दूसरा हमला विद्यार्थियों पर हुआ और उनको राजनीतिक कार्यों में भाग लेने से रोक दिया गया। लेकिन सार्वजनिक जागृति में इससे कोई रुकावट न पड़ी। लीग के इस प्रचार-कार्य से काँग्रेस का क्षेत्र तैयार हो रहा था।

जिन कठोर कानूनों से सरकार ने काम लिया उनका कोई प्रभाव न देखकर अधिकारियों को आगे कदम बढ़ाने पड़े। श्रीमती बेसेण्ट, अरण्डेल और वाडिया साहब को नजर बन्द कैद की सजा का हुकुम हुआ। राजनीतिक और सार्वजनिक कार्यों में त्याग और बलिदान का अधिक महत्व होता है। तीन नेताओं की नजर बन्दी कैद के कारण

होमरूल लीग की लोकप्रियता दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। मि० जिन्ना भी उसी दायरे में आ गये और लीग के साथ-साथ काम करने लगे।

इन दिनों में होमरूल लीग का कार्य देश में बड़ी तेजी के साथ चल रहा था। सरकारी अधिकारी जितना ही दमन करते थे देश की जनता में उतना ही उत्साह बढ़ता जाता था। उसको दबाने के लिए सरकार के पास कठोर कानूनों के सिवा और कोई उपाय न था।

होमरूल लीग के तीन नेताओं की गिरफ्तारी और कैद पर विरोध प्रकट करने के लिए बंगाल में डा० रासबिहारी घोष के सभापतित्व में एक सार्वजनिक सभा की योजना की गयी। लेकिन सरकारी अधिकारियों ने उस पर रोक लगा दी और दूसरे कई तरीकों से अनेक प्रकार के अत्याचार किए। इसका देश में घोर विरोध किया गया। लेकिन कोई नतीजा न निकला। लार्ड चेन्सफोर्ड की आखों मे भारतवर्ष इन दिनों बहुत खतरनाक दिखायी दे रहा था। और इस खतरे से बचने के लिए उनको दमन का ही एक सहारा दिखायी देता था। सरकार को यह भी दिखायी देने लगा कि भारत के इस प्रकार विरोधी वातावरण में जर्मनी का छिपे तौर पर हाथ है।

इन दिनों में जिस प्रकार सार्वजनिक जोश फैल रहा था उसको दबाने में सरकार को बार-बार दमन करने की धमकी देनी पड़ी। उसका भी कोई नतीजा न निकला। परिस्थिति बराबर नाजुक होती जाती थी। सर माईकेल ओडायर ने घबराकर कहना आरम्भ किया : "शासन-सुधार के रूप में भारत की जो माँग है, वह पूर्ण रूप से क्रान्तिकारी है और ब्रिटिश-शासन का तख्त भारत में उलट देने वाली है।"

मांटेगु-घोषणा

सरकारी नीति और दमन के विरोध में आन्दोलन करने के लिए कितनी ही बातें सोची गयीं। प्रस्ताव भी हुए और उनको अमल में लाने के लिए लोकमत की परीक्षा ली गयी। इस प्रकार की परिस्थिति में एक प्रस्ताव सत्याग्रह करने का भी था। उसके अन्तिम निर्णय के

पहले प्रान्तीय काँग्रेस कमेटियों पर छोड़ा गया उनके निर्णय भी भिन्न-भिन्न रूप मे आये।

ब्रिटिश-सरकार इन सब बातों से अपरिचित न थी। वह दमन करना न चाहती थी। बल्कि समय के अनुसार अपनी पालिसी को बदल देने और परिस्थिति के मुताबिक स्वयं बदल जाने की ताकत भी उसमे थी। इसी आधार पर भारत की परिस्थितियों पर मि० माण्टेगु की घोषणा प्रकाशित हुई। इस घोषणा के सामने आते ही देश के वातावरण मे परिवर्तन हुआ। जिस समय काँग्रेस की प्रान्तीय शक्तियाँ सत्याग्रह का निर्णय करने जा रही थी उसी समय यह घोषणा ब्रिटिश सरकार की ओर से की गयी और देश का ध्यान उसकी ओर चला गया।

मि० माण्टेगु चार वर्ष तक लगातार भारत-उपमन्त्री रहकर मन्त्री के पद पर पहुँच चुके थे। उप मन्त्रीत्व काल में मि० माण्टेगु ने भारत के साथ अपना सहानुभूति का परिचय दिया था। इसीलिए जब वे भारत-मन्त्री बनाये गये उसी समय से भारत के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को उनसे बहुत कुछ आशा हो रही थी। मन्त्री के पद पर पहुँचकर २० अगस्त को मि० माण्टेगु ने जो घोषणा प्रकाशित की वह भारतीय माँगों पर ब्रिटिश नीति का उत्तर था। घोषणा का आशय इस प्रकार था :

"ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया है कि भारतीय शासन के सम्पक मे भारतीय जनों को आना चाहिए और भारत मे उत्तरदायी शासन का विकास होना चाहिए। इस विकास का सीधा अर्थ यह है कि भविष्य मे भारत अपनी राज्य व्यवस्था के लिए स्वयं योग्य हो जाय। ब्रिटिश सरकार ने यह भी निर्णय कर लिया है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक निश्चित कार्य क्रम के साथ काम करने की जरूरत है।"

अपनी इस घोषणा को स्पष्ट करते हुए मि० माण्टेगु ने आगे फिर लिखा "भारत के सम्बन्ध में ब्रिटिश-सरकार ने जिस नीति का निर्णय किया है, उसकी क्रमशः उन्नति होगी। यह विकास समय, सुविधा और क्षमता के ऊपर निर्भर है और बहुत कुछ निर्भर है, भारत-सरकार और भारतीयों पर। उत्तरोत्तर तरक्की भारतीयों की जुम्मेदारी की

अदायगी पर आश्रित है। ब्रिटिश सरकार को आगे कदम बढ़ाने में जरा भी संकोच न होगा। लेकिन उसे देखना होगा कि शासन के सम्बन्ध में भारतीयों पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है।"

उस घोषणा में भी बताया गया कि इस उद्देश्य की पूर्ति और शासन में नया कार्यक्रम बनाने के लिए भारत मन्त्री भारत में आवेंगे, वे वाइसराय से बातें करेंगे और देश के उन नेताओं से भी बातें करेंगे जो शासन सुधार में दिलचस्पी रखते हैं। मि० माण्टेगु की यह घोषणा २० अगस्त को प्रकाशित हुई थी और १६ सितम्बर को श्रीमती बेसेण्ट और उनके साथी छोड़ दिये गये थे।

देश का वातावरण

काँग्रेस और मुस्लिम लीग के द्वारा जो योजना तैयार की गयी थी, उसके अनुसार देश में चारों ओर लोगों के हस्ताक्षर कराये जाने लगे। श्रीमती बेसेण्ट नजर बन्दी से छूट चुकी थीं। उन्होंने वाइसराय से मिलने के लिए कई बार प्रार्थना की। लेकिन इसके लिए उनको आज्ञा नहीं मिली। सत्याग्रह का कार्य क्रम रोक दिया गया था। श्रीमती बेसेण्ट उसके पक्ष में स्वयं न थीं।

मि० माण्टेगु ने भारत की यात्रा की और देश के प्रमुख स्थानों का दौरा किया। वे भारत की मांगों के सम्बन्ध में लोगों से परामर्श कर रहे थे और देश की परिस्थिति का अध्ययन कर रहे थे। इन दिनों में होमरूल लीग का आन्दोलन विस्तार पर पहुँच चुका था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग अपना अलग काय कर रहा थी। बिहार में किसानो के साथ गोरो की जो शिकायतें थीं गांधी जी अपने कुछ मित्रों को लेकर उसकी जाँच कर रहे थे। देश के दूसरे कार्यों के साथ उनका कोई सम्बन्ध न था।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने जो योजना बनायी थी, उसके सम्बन्ध में निश्चिय किया गया कि योजना का देशी भाषाओं में अनुवाद कराया जाय और उसके सम्बन्ध में देश व्यापी आन्दोलन किया जाय। साथ-साथ, योजना के समर्थन में लोगों के हस्ताक्षर भी कराये जांय। इस निर्णय के अनुसार काम किया गया और लोगों के जो हस्ताक्षर कराये गये, उनकी संख्या दस लाख से ऊपर पहुँच गयी।

कई वर्षों से योरप का महायुद्ध चल रहा था। ११ नवम्बर १९१८ को सुलह की घोषणा हुई और उस युद्ध का अन्त हुआ। इस युद्ध मे अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने प्रत्येक राष्ट्र के 'आत्म-निर्णय' के अधिकार के नाम पर जो राष्ट्रीय संगठन किया था, उसका हवाला देकर, काँग्रेस ने राष्ट्रपति विलसन, और इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री मि० लायड जार्ज तथा दूसरे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को बधाई देने के साथ, प्रत्येक राष्ट्र को आत्म-निर्णय का अधिकार देने की प्रार्थना की और कहा कि अभी तक जो दमनकारी कानून चल रहें हैं वे रद किये जांय।

कांग्रेस का अगला अधिवेशन अमृत सर में होने जा रहा था। महायुद्ध समाप्त हो चुका था। काग्रेस ने बधाई देने के साथ आत्म निर्णय का अधिकार लागू करने और दमनकारी कानूनों के रद करने की प्रार्थना की थी। उसकी आवाज पहुँचते ही ब्रिटिश सरकार ने भारत में लागू होने के लिए 'रौलटबिल' पास किया, जिसके कारण देश को दिल्ली और वीरमगांव के गोली काण्ड, जलियांवाला-बाग का गोली-काण्ड और पंजाब का मार्शल ला देखना पड़ा!

नवाँ परिच्छेद

रौलट बिल

देशव्यापी विरोध की चिनगारियाँ

सन् १९१४ में योरप का जो प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ था, भारत ने उसमें दिल खोलकर सहायता की थी। ब्रिटिश-सरकार की विजय के लिए इस देश ने धन और जन की सहायता करने मे कुछ उठा न रखा था। गरीबों की झोपड़ियों से लेकर सम्पत्तिशालियों, जमीदारों और देशी राजाओं के महलों तक—स्थान-स्थान से धन एकत्रित होकर ब्रिटिश सरकार के लिए गया था। देश के बहादुर सैनिकों ने सरकार की सफलता के लिए अपने खून का बलिदान किया था। ये सब इसलिए किया गया था कि भारत वर्ष ब्रिटिश सरकार का राजभक्त था। यह सब इसलिए किया गया था कि इस बलिदान के बदले मे देश सरकार से अपने अधिकारों के प्राप्त करने की अभिलाषा रखता था।

युद्ध का अन्त हुआ। बलिदान होने के बदले में भारत को जो कुछ मिला उसका विवरण इसी परिच्छेद मे दिया जायगा। उसके पहले सन् १९१८ में देश की जो परिस्थिति थी उस पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डालना जरूरी है।

सन् १९१७ की काँग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो चुका था। उसके निर्णय के अनुसार कार्य करने के लिए धन की जरूरत थी। इसलिए काँग्रेस की एक बैठक की गयी। देश में काँग्रेस लीग-योजना का प्रचार किया गया। मि० माण्टेगु को मदरास में नौ लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर देकर यह बताया गया कि देश में उस योजना की माँग कितने जोरों के साथ है।

पर जोर दिया गया कि सरकार जिम्मेदारी के साथ इस बात की घोषणा कर दे कि योरप का युद्ध समाप्त होने पर भारत को उत्तरदायी शासन दिया जायगा। इन दिनों के श्रीमती बेसेण्ट की सेवायें बड़े खतरे में पड़ गयी थी। वो सरकार की नजरों में अत्यन्त उग्र मानी जा रही थी और जनता की आँखों में बहुत कमजोर साबित हो रही थीं। नतीजा यह हुआ था कि श्रीमती बेसेण्ट न तो सरकार के साथ थी और न जनता ही उनके नेतृत्व को स्वीकार करती थी।

देश में दूसरी ओर "भारत-रक्षा-कानून" का दमन चल रहा था। लेकिन आन्दोलन को दबाने में उसे सफलता न मिल रही थी। बम्बई के गवर्नर ने महायुद्ध के सम्बन्ध में एक सभा की। उसमें देश के सभी नेता एकत्रित हुए। लोकमान्य तिलक ने उस सभा में बोलते समय भारत के राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न उपस्थित किया। वे अभी कुछ अधिक कह भी न पाये थे कि उनको बोलने से रोक दिया गया। उसी सम्बन्ध में वाइसराय ने एक सभा दिल्ली में की। उसमें गाँधी जी को बुलाया गया था। पहले तो गाँधी जी ने जाने से इनकार कर दिया इसलिए कि उस सभा में लोकमान्य तिलक और श्रीमती बेसेण्ट को नहीं बुलाया गया था लेकिन बाद में गाँधी जी उसमें जाने के लिए राजी हो गये।

गाँधी जी ने लोकमान्य तिलक को भी दिल्ली की उस सभा में आने के लिए तार दिया। सन् १९१७ में लोकमान्य तिलक को दिल्ली और पंजाब में प्रवेश करने की मनाही का सरकारी नोटिस मिल चुका था। उसका हवाला देकर तिलक ने अपनी मजबूरी जाहिर की और वे न जा सके।

माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-योजना

मि० माण्टेगु की घोषणा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अपने निश्चय के अनुसार मि० माण्टेगु ने भारत की यात्रा की और उसके बाद जून १९१८ में माण्टेगु चेम्सफोर्ड योजना के नाम से उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस योजना में राजनीतिक कला का प्रदर्शन था। वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा तैयार की गयी थी। भारत को स्वाराज्य के योग्य बनाने और उनको अधिकारों के देने के सम्बन्ध में सुललित

भाषा के द्वारा ब्रिटिश-सरकार के भावों का समावेष करते हुए योजना को ऐसे ढङ्ग से तैयार किया गया था कि उसको पढ़ते ही ब्रिटिश ईमानदारी और उदारता का चित्र खड़ा हो जाता था। उस योजना में भारत के सुधारों का समर्थन किया गया था। भारत के औपनिवेषिक स्वराज्य का माँग का सुन्दर किन्तु निराकार चित्र भी उस योजना में था। यह योजना देखने और सुनने में सुन्दर और आकर्षक थी। इसलिए उसके भुलावे में देश के नेताओं का आजाना बहुत साधारण था। नतीजा यह हुआ कि उस योजना के सम्बन्ध मे चारों ओर तारीफें होने लगी।

देश के नेता अपनी-अपनी रायें उस योजना पर जाहिर करने लगे। सर शंकरन् नायर ने उसे स्वीकार किया। श्रीमती बेसेण्ट ने भी उसे मन्जूर किया। इस प्रकार एक-एक करके देश के कितने ही नेताओं ने, कुछ घुमा फिरा कर उसका समर्थन कर दिया। पण्डित मोतीलाल नेहरू का कहना था कि यदि बीस वर्ष मे उत्तरदायी शासन मिल जायगा तो उनको पूर्ण सन्तोष होगा। चित्तरंजन दास उसकी सफलता पर विश्वास न करते थे। वे पांच वर्ष के भीतर ही उत्तर-दायी शासन चाहते थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के समर्थन मे कोई बाधा ही न थी।

इस प्रकार उस योजना का देश मे स्वागत हुआ। नरमदल के नेताओं से लेकर गरमदल के नेताओं तक-सभी ने अपनी-अपनी राय उस पर जाहिर की। एक प्रकार से उसका देश मे स्वागत ही हुआ। नेताओं के सिवा दूसरी श्रेणी के लोगों और संस्थाओं मे भी उसकी आलोचनायें हुई।

उस योजना के सम्बन्ध मे लोगों के कुछ दूसरे विश्वास भी थे। लोगों का ख्याल था कि योजना का बहुत सा हिस्सा जेम्स मेस्टन और मि० मैरिस का लिखा हुआ है। इसके सम्बन्ध मे कुछ ही आगे चलकर एक रहस्य खुला और उस रहस्य के सम्बन्ध मे समाचार-पत्रों में कुछ बातें प्रकाशित भी हुईं। पत्रों मे प्रकाशित होने के बाद उस योजना में नौकरशाही की चालों का रहस्य खुल गया और उसके कारण अधिकारियों के कोप का ठिकाना न रहा। राष्ट्रीय विचार के

लोगों और अधिकारियों के बीच एक कशमकश की अवस्था पैदा हो गयी।

देश की माँग

माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-योजना देश के सामने आ गयी। उसका चमकीला किन्तु कच्चा रंग भी किसी से छिपा न रहा। उस पर विचार करने के लिए बम्बई मे काँग्रेस का विशेष अधिवेशन किया गया। उस अधिवेशन में कई एक पुराने नेता सम्मिलित नहीं हो सके। चार दिनों के बाद-विवाद के बाद उसमें निर्णय किया गया कि भारत औपनिवेषिक स्वराज्य से कम में किसी प्रकार राजी नहीं हो सकता।

११ नवम्बर सन् १९१८ की अस्थायी सन्धि के पश्चात योरप के महायुद्ध का अन्त हो गया। इस युद्ध मे मित्र राष्ट्रों की सफलता हुई और राष्ट्रपति विल्सन, लायड जार्ज तथा मित्र राष्ट्रों के अन्य राज नीतिज्ञों के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार करके सभी देशों के लिए घोषणा की थी।

देहली-कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास करके ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट की और योरप के उस महायुद्ध की विजय पर जो संसार की स्वाधीनता के लिए लड़ा गया था, बधाई दी।

बलिदानों का पुरस्कार

योरप के महायुद्ध में भारत जो धन और जन देकर ब्रिटिश सरकार की सहायता के नाम पर, बलिदान हुआ था और जिसके पुरस्कार के रूप मे भारत ने बड़ी बड़ी आशायें बाँध रखी थीं, वह पुरस्कार रौलट-बिल के नाम से महायुद्ध के समाप्त होते ही देश के सामने आ गया। योरप के युद्ध के बाद सरकार ने भारत को अधिक दिनों तक प्रतीक्षा में रखना आवश्यक नहीं समझा। अपनी पूरी उदारता के साथ उसने रौलट बिल के रूप में पहला मुकाम बड़ी कौंसिल में किया। फरवरी १९१९ का महीना था, उसमें दो बिल थे। एक अस्थायी था। उसका उद्देश्य यह था कि भारत में जब भारत रक्षा

कानून समाप्त होजायगा, तो जो स्थिति देश में उत्पन्न होगी, उसके द्वारा उसका सामना किया जायगा। देश की जिस भयानक परिस्थिति को उत्पन्न करने के लिए यह बिल बड़ी कौंसिल मे पेश था, उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :

क्रान्तिकारियों के मुकदमों को तीन जजों की अदालत में फैसले के लिए पेश किया जाय और जल्दी उनके निर्णय किये जाँय। जिन स्थानों पर क्रान्तिकारियों के अपराध अधिक संख्या में पाये जांय उन स्थानों में क्रान्तिकारी अपराधियों की अपील न हो सके। जिस पर सरकार के विरुद्ध अपराध करने की आशंका हो, उससे जमानत ले ली जाय। प्रान्तीय सरकार को इस बात का अधिकार दे दिया जाय कि जिस किसी पर सरकार के प्रति अपराध करने का सन्देह उत्पन्न हो, उसे कैद कर लिया जाय और किसी निश्चित स्थान में बंद कर दिया जाय। उस पर और भी आवश्यक पाबन्दियाँ लगायी जा सकेंगी। खतरनाक आदमियों को बिना किसी मियाद के जेलों में रोका जा सकेगा।

दूसरा बिल भी इसी प्रकार और कुछ बातों में इससे भी अधिक कानूनों की पाबन्दियाँ देश मे लागू करने का था। रौलट बिल के द्वारा जो नये कानून भारत पर लादे जा रहे थे उनका साफ-साफ मन्शा यह था कि "देश की राजनीतिक जागृति को कुचल दिया जाय" और मुल्क को उस हालत मे पहुँचा दिया जाय कि फिर वह कभी सुधारों और अधिकारो का नाम न ले सके। इन कानूनों के द्वारा व्यक्तिगत स्वाधीनता का नाश होता था। सार्वजनिक जीवन सदा के लिए अस्त होता था।

रौलट-बिल का विरोध

६ फरवरी १९१९ को रौलट बिल नाम के दोनों बिलों को बड़ी कौंसिल में पास करने के लिए पेश कर दिया गया। गाँधी जी ने उसके बाद ही २४ फरवरी को घोषणा की कि अगर इन बिलों को पास किया जायगा तो शीघ्र ही सत्याग्रह आरम्भ हो जायगा।

अपनी घोषणा के बाद गाँधी जी ने देश का दौरा किया। चारो

ओर उनका आदर हुआ। १८ मार्च को गांधी जी ने रौलट बिल के विरोध में एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित किया :

"ईमानदारी के साथ मैं इस बात को मन्जूर करता हूँ कि इण्डियन क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट बिल नं० १ और क्रिमिनल इमरजेन्सी पावर बिल नं० २ न्याय के प्रतिकूल हैं। इनसे स्वतन्त्रता का नाश होता है। व्यक्तिगत अधिकारों की जड़ कटती है। इसलिए सपथ पूर्वक मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इन बिलों को कानूनों की शकल में लाया गया तो उस समय तक जब तक इनका वापस न लिया जायगा, मैं इन कानूनों को भी जिन्हें कि हमारी कमेटी उचित समझेगी, नम्रता के साथ मानने से इनकार कर दूँगा। मैं इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस युद्ध में मैं ईमानदारी के साथ सचचाई का व्यवहार करूँगा और किसी के जान और माल को किसी भी तरीके से हानि न पहुँचाऊंगा।"

रौलट-बिल के विरोध मे गांधी जी ने इस प्रकार आन्दोलन आरम्भ कर दिया। देश-भर मे जीवन आगया। शुरू में बगाल शान्त रहा था। इस आन्दोलन के पहले दिन को गांधी जी ने उपवास का दिन निश्चित किया था। ३० मार्च १९१९ का दिन हड़ताल के लिए निश्चित किया गया था। गांधी जी ने बताया था कि उस दिन लोग उपवास करेंगे, ईश्वर से प्रार्थना करेंगे और सार्वजनिक सभायें करेंगे।

यहाँ पर यह जान लेना जरूरी है कि जो दो बिल बड़ी कौंसिल मे पेश किये गये थे और जो रौलट बिल के नाम से विख्यात हुए; उनमें से पहला बिल माच के तीसरे सप्ताह मे पास हो गया। और दूसरा बिल वापस ले लिया गया।

हड़ताल के लिए जो ३० मार्च मुकर्रर की गयी थी उसको बदल-कर ६ अप्रैल रखी गयी! लेकिन इसकी सूचना समय पर दिल्ली न पहुँच सकी। इसलिए वहां पर पहले कार्यक्रम के अनुसार ३० मार्च को ही हड़ताल हुई और जुलूस निकाला गया। उस जुलूस के नेता स्वामी श्रद्धानन्द थे। अधिकारियों ने गोली चलाने का हुक्म दिया।

गोली चली भी। दिल्ली स्टेशन पर भी झगड़ा हुआ। अधिकारियों के गोली चलवाने पर पाँच आदमी मरे और कितने ही घायल हो गये।

६ अप्रैल को सम्पूर्ण देश में गाँधी जी का कार्य क्रम पूरा किया गया। हिन्दू और मुसलमान भेद-भाव को भूल गये थे। चारों ओर अंगरेजी सरकार के विरुद्ध आवाजें उठ रही थीं और रौलट बिल के विरोध मे नारे लगाये जा रहे थे।

दसवाँ परिच्छेद

पंजाब-हत्या-काण्ड

भीषण दमन—गोलियों की वर्षा

सर माइकेल ओडायर पंजाब का गवर्नर था। वह अपने प्रान्त में काँग्रेस के आन्दोलन को न देखना चाहता था। सन् १९१९ की काँग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में होने वाला था। लेकिन उसके पहले ही रौलट बिल के कारण देश की परिस्थिति नाजुक हो गयी। अब प्रश्न यह था कि काँग्रेस का यह अधिवेशन अमृतसर में किया जाय या नहीं ?

अधिवेशन के लिये अमृतसर का निश्चय तो था ही। डा० किचलू और डा० सत्यपाल काँग्रेस की ओर से काम कर रहे थे। अमृतसर के जिलाधीश ने उनको अपने बँगले पर बुलाकर किसी अज्ञात स्थान के लिए दोनों आदमियों को भेज दिया। इस घटना के मालूम होते ही बड़ी तेजी के साथ सनसनी फैल गयी।

लोग एकत्रित होकर अपने दोनों नेताओं के सम्बन्ध में बेचैनी जाहिर करने लगे। एक बड़ी भीड़ जिला मजिस्ट्रेट के बँगले पर जाकर पूछ ताछ करने के लिए रवाना हुई। फौजी सैनिकों ने उस भीड़ को रोका। लोगों में जोश तो था ही। फौजी सिपाहियों के गोली चलाने पर कई लोग मरे और बहुत लोग घायल हुए। मरे हुए लोगों का जुलूस शहर में होकर गुजरा। उस समय सर्वसाधारण की पीड़ा को रोक सकना कठिन हो गया। नतीजा यह हुआ कि नेशनल बैङ्क की इमारत में आग लगा दी गयी और उसके अंगरेजी मैनेजर को जान से मार डाला गया और भी पाँच अंगरेज मारे गये। कई सरकारी स्थान जला दिये गये सारा शहर फौज के हाथों में सौंप दिया गया।

पंजाब के दूसरे मुकामों में भी भयानक उत्पात हुए। कसूर नाम के शहर में भी खून खराबी हुई। १२ अप्रैल को एक भीड़ ने रेलवे स्टेशन पर हमला किया। तेल के एक गोदाम को जला दिया। तारों को काट डाला। एक रेलगाड़ी पर हमला किया। उस गाड़ी में योरोपियन कुछ सिपाही थे। उनमें से दो को जान से मार डाला। एक पोस्ट आफिस मे हमला किया। लूटा और जलाया भी। मुन्सिफी कचहरी में आग लगायी गयी और कितने ही मुकामों को नुकसान पहुँचाया गया।

गुजरान वाला में भी कुछ इसी प्रकार का काण्ड हुआ। १४ अप्रैल को एक रेलगाड़ी पर हमला किया गया। एक रेलवे पुल को जला दिया गया और दूसरे पुल को तोड़ डाला गया। इसके सिवा तार-घर डाकखाना और रेलवे-स्टेशन में भी आग लगायी गयी। कलेक्टरी कचहरी, एक गिरजा घर, एक स्कूल और रेलवे गोदाम जला दिया गया।

पंजाब के छोटे-छोटे मुकामों में भी कुछ इसी प्रकार से उत्पात हुए। उनमें तारों को काटा गया। रेलगाड़ियों पर पत्थर फेके गये और स्टेशनों में आग लगायी गयी। इस प्रकार सरकारी दफ्तरों और इमारतों को नुकसान पहुँचाया गया। पंजाब के बाहर भी कुछ शहरों और मुकामों में भी काण्ड हुए। कलकत्ते में भी इसी प्रकार की कितनी ही दुर्घटनाये हुईं। लाहौर में अशान्ति बहुत बढ़ गयी और गोलियाँ भी चली।

गांधी जी इन घटनाओं को सुनकर पंजाब के लिए रवाना हुए। वे दिल्ली जा रहे थे। उनको पंजाब और दिल्ली न जाने के लिए सरकारी नोटिस मिला। गाँधी जी ने उसको मानने से इनकार कर दिया। वे कैद कर लिये गये और एक स्पेशल ट्रेन में बिठाकर १० अप्रैल को उन्हे बम्बई भेज दिया गया।

गाँधी जी की गिरफ्तारी के बाद उत्पात और भी बढ़ गये। अहमदाबाद, बीरमगाँव, नड़ियाद, कलकत्ता और दूसरे मुकामों में भी अनेक प्रकार के उपद्रव हुए। स्थान-स्थान पर हिन्दुस्तानी अफसर और अंगरेज जान से मारे गये। गोलियाँ चली। लोग मरे और जख्मी हुए।

इन उपद्रवों के कारण गाँधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। वे हिंसा के पक्षपाती न थे। किसी भी अवस्था में वे अपने सिद्धान्तों की रक्षा चाहते थे।

जलियांवाला बाग

यों तो पंजाब के कई स्थानों में हत्याकाण्ड हुए। लेकिन अमृतसर के जलियां वाला बाग मे जो कुछ हुआ वह पराकाष्ठा को पूरा कर गया था। अमृतसर मे एक सार्वजनिक सभा की घोषणा की गयी और उसके अनुसार जलियां वाला बाग मे सभा हुई। बहुत बड़ी संख्या मे जनता वहाँ उपस्थित थी। शहर का यह खुला हुआ स्थान था चारों ओर मकानों की चहार दीवारी थी। उसका दरवाजा बहुत तंग था। इतना तंग कि उसमे एक गाड़ी नहीं निकल सकती थी। सभा के समय बीस हजार से अधिक आदमी मौजूद थे। उनमें पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे भी थे।

सभा का कार्य आरम्भ हो चुका था। अपने साथ, एक सौ हिन्दुस्तानी फौजी सिपाहियों और पचास गोरे सैनिकों को लेकर जनरल डायर ने उस बाग मे प्रवेश किया। सभा के करीब पहुँच कर लोगों को भागने की आज्ञा दी गयी और उसके साथ ही गोलियों की वर्षा होने लगी। बाग के उस तंग दरवाजे से बीस हजार आदमियों का जल्दी भाग सकना असम्भव था। सैनिकों ने उस समय तक बराबर गोलियां चलायीं, जब तक उनके कारतूस खतम नहीं हो गये। कुल सोलह सौ फायर किये गये। सरकारी रिपोर्ट का कहना है कि उस गोली काण्ड मे चार सौ आदमी जान से मरे और लगभग दो हजार आदमी घायल हुए।

इस गोली-काण्ड का सबसे अधिक शोचनीय दृश्य यह था कि जो लोग जख्मी हुए थे, उनको सारी रात वहीं पड़े रहना पड़ा। न उन्हें पीने को पानी दिया गया और न उनकी डाक्टरी का कोई प्रबन्ध किया गया। सोचने की बात है कि उस छोटे से स्थान में जहाँ चार सौ मरे हुए आदमी पड़े हों; और दो हजार के करीब जख्मी आदमी चिल्ला रहे हों, वहां का दृश्य कितना भयानक रहा होगा! डायर का कहना यह था कि अगर मेरे पास कारतूस होते तो मैंने और

भी गोली चलवाई होती। सोलह सौ फायर करने के बाद इसलिए गोलियों का चलना बन्द हुआ कि सैनिकों के पास कारतूस खतम हो गये थे।

जनरल डायर के अत्याचार

जलियाँ वाला बाग में जिसने गोली चलवाई थी, उस जनरल डायर के अत्याचारों को भारतीय इतिहासकार कभी भुला न सकेंगे। सभा में एकत्रित निहत्थे लोगों पर गोलियों की वर्षा करवा कर, उसने अपने जिन काले कारनामों का सुबूत दिया, उसकी कभी कोई कल्पना नहीं कर सकता। उसके बाद भी अमृतसर में जो अत्याचार किये गये, उन्हें सुनकर और जानकर कोई भी आदमी उसकी निंदा किये बिना नहीं रह सकता।

उस बाग की सभा में जो लोग शामिल हुए थे, केवल वही लोग अपराधी न थे। अमृतसर के समस्त स्त्री और पुरुष सरकार की नजरों में अपराधी हो गये थे और वे छोटे-छोटे बच्चे भी नौकरशाही के शत्रु माने गये जो अबोध थे, जो न बोल सकते थे और न कुछ समझ सकते थे। इसीलिए एक तरफ से सब को सजा देने के लिए अमृतसर में जो दृश्य उपस्थित किये गये। वे नरक की यातनाओं से भी आगे बढ़ गये।

अमृतसर में नलों का पानी बन्द कर दिया गया जिससे बिना मौत छोटे और बड़े सभी मर जायँ। रात मे लोगों को रोशनी न मिले, इसके लिए बिजली काट दी गयी। बिना किसी विचार और निर्णय के लोगों को सब के सामने बेंतों की सजा मामूली बात थी। सड़कों पर पेट के बल रेंगकर निकलने और चलने के लिए लोगों को मजबूर किया गया। किले के नीचे लोगों को नङ्गा कर दिया जाता और सरे आम बेंत लगवाये जाते। लोगों को अपराधी बनाकर एक विशेष अदालत से उनको सजायें दिलायी गयीं। सङ्गीन अपराधों मे २९८ आदमियों पर मार्शल-ला-कमीशन के सामने मुकदमे चलाये गये। इन मुकदमों में कोई तरीका मुकदमेबाजी का न था, न कोई सफाई और न कोई बहस। २१८ आदमियों को सजायें मिलीं। ५१ आदमियों को फाँसी की सजा दी गयी, ४६ आदमियों को जीवन-भर के

लिए काला पानी हुआ। दो आदमियों को दस-दस वर्ष की सजायें दी गयीं। ७९ आदमियों को सात-सात वर्ष की सजा मिली। १० आदमियों को पाँच-पाँच साल की, १२ आदमियों को तीन-तीन वर्ष की और ११ आदमियों को कुछ कम सजायें दी गयीं। फौजी अदालत भी कायम की गयी थी, उसमें जो सजायें दी गयीं, उनकी संख्या, इनमें शामिल नहीं है। इन सब के साथ-साथ १०५ आदमियों को मजिस्ट्रेट की अदालतों ने सजायें दीं।

इस प्रकार अमृतसर में जो वीभत्स दृश्य उपस्थित हुआ। वह कदाचित किसी सभ्य देश में कभी किसी ने न देखा होगा। हन्टर-कमेटी के सदस्य जस्टिस रैंकिन को उत्तर देते समय जनरल डायर ने साफ-साफ बताया कि :

"बाग में गोली चलाकर, मैंने गलती नहीं की, एक जरूरी कर्त्तव्य का मैंने पालन किया है। मैं चाहता था कि मैं गोली चलाऊँ और इतनी गोली चलाऊँ कि फिर ऐसे मौकों पर कभी गोली न चलानी पड़े। मैं इस बात को जानता हूँ कि बिना गोली चलाये भी सभा भंग की जा सकती थी, लेकिन अगर मैं ऐसा करता तो सभा तो भंग हो जाती, लेकिन लोग मेरी हँसी उड़ाते। इसीलिए मैंने गोली चलवाई और खूब कसकर—जी-भरकर गोलियों की वर्षा करायी।" जिस जनरल डायर ने अमृतसर में यह भयानक दृश्य उपस्थित किया था, उसको धन्यवाद देते हुए पंजाब के गवर्नर सर माइकेल ओडायर ने तार देकर कहा था—तुम्हारा काम बिल्कुल ठीक रहा।

नौकरशाही के अत्याचारों का अन्त यहीं तक न था। वकीलों, व्यापारियों और दलालों को आज्ञा दी गयी थी कि वे शहर के बाहर कहीं नहीं जा सकते। जिनके मकानों पर फौजी आर्डर के नोटिस चिपकाये गये थे, उनको आज्ञा दी गयी थी कि वे उनकी रक्षा करें। अगर वे फाड़े गये तो उसकी सजा उनको दी जायगी, जिनके मकानों पर वे चिपकाये गये हैं। यद्यपि रात के समय लोगों को मकानों के अन्दर रहने की आज्ञा दी गयी थी। स्कूलों और कालेज के विद्यार्थियों को आज्ञा दी गयी थी कि वे दिन में चार बार रोज फौजी अफसरों के सामने आकर हाजिरी दिया करें। जो सवारियाँ किराये पर चलती

थीं, उनके मालिकों को रोजाना शहर के बाहर जाकर फौजी अफसरों को सलाम करना पड़ता था।

एक कालेज की एक दीवार में फौजी कानून का नोटिस लगाया गया था। किसी प्रकार वह फटा हुआ मिला। उस अपराध में कालेज के नौकरों से लेकर, प्रिन्सिपल तक—सब-के-सब कैद कर लिए गये और उन्हें फौजी सिपाहियों के पहरे में कवायद कराते हुए किले तक लाया गया और उनको तीन दिन तक कैद रखा गया।

गुजरानवाला, कसूर और शेखपूरा में भी उसी प्रकार की सख्तियाँ काम में लायी गयीं, जैसी कि अमृतसर और लाहोर में लायी गयी थीं। इन अत्याचारों की जाँच के लिए जो हन्टर-कमेटी मुकर्रर की गयी थी, उसके सामने करनल ओब्रायन, कैप्टेन डोवटन और करनल जानसन ने अपने बयानों में उन सभी अत्याचारों को स्वीकार किया, जो उनके द्वारा अलग-अलग शहरों और कस्बों में किये गये थे। सभी स्थानों के सम्पूर्ण अत्याचारों पर, स्थानाभाव के कारण पूरा प्रकाश नहीं डाला जा सकता। संक्षेप में कुछ बातें यहाँ लिखी गयी हैं। कोड़े लगवाना, जुर्माना करना और अमानुषिक तरीकों से लोगों पर अत्याचार करना उस समय एक मामूली काम हो गया था। न्याय का नाम मिट गया था।

जिस प्रकार के राक्षसी व्यवहार लोगों के साथ किये गये थे, उनके सम्बन्ध में उदाहरण के तौर पर कुछ घटनाओं का उल्लेख कर देना यहाँ पर जरूरी मालूम होता है। रास्ता चलते हुए सभी श्रेणी के नागरिकों को बिना किसी अपराध के पकड़ कर मालगाड़ी के एक डिब्बे में उसी तरीके से भरा गया, जिस प्रकार भूसा और लकड़ी अथवा इसी प्रकार का कोई दूसरा सामान भरा जाता है। स्टेशन तक उनको पैदल ले जाया गया था। धूप के कारण प्यास और थकावट से लोग बेचैन हो रहे थे। उन लोगों को मालगाड़ी के डिब्बों में भरकर लाहोर भेज दिया। पेशाब और पाखाने के लिए न डब्बे में स्थान था और न उनको आज्ञा मिल सकी। चवालीस घण्टे तक वह डिब्बा बराबर बन्द रखा गया। इस हालत में डिब्बे के भीतर के लोगों की दशा कितनी भयानक हो गयी होगी। इसका अनुमान लगाया जा सकता है :

रास्ता चलते हुए इस प्रकार जो लोग कैद होते थे, उनके साथ इसी प्रकार के बराबर व्यवहार किये गये। उनके स्थानों में इस प्रकार जो हिन्दू मुसलमान कैद होते थे, उनको हथकड़ियों और जंजीरों मे बाँधकर लाया जाता था। एक बूढ़ा किसान केवल इस अपराध में कैद किया गया कि वह यह बात बता नहीं सका कि उसके दोनों लड़के कहाँ हैं। इसी अपराध में उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और यह हुकुम दिया गया कि जो कोई उसको खाने-पीने मे सहायता करेगा, उसको गोली से उड़ा दिया जायगा।

बढ़ती हुई अशान्ति और उसका उपाय

रौलट-बिल के विरोध में गाँधी जी ने जिस सत्याग्रह की घोषणा की थी और उसका जो कार्य क्रम बनाया था, उससे जो देश में अशान्ति पैदा हो गयी, उसने गाँधी जी के हृदय को एक बड़ी वेदना पहुँचायी। उन्होंने यह स्वीकार किया कि मैंने बहुत बड़ी भूल की है। सत्याग्रह की घोषणा करने पर श्रीमती बेसेण्ट ने उनको चेतावनी दी थी कि अगर आपने देश में इस प्रकार का कोई आन्दोलन आरम्भ किया तो उससे बहुत बड़े उत्पातों के पैदा हो जाने की निश्चित सम्भावना है। गांधी जी को उनकी इस चेतावनी का स्मरण हुआ। अपनी भूल स्वीकार करके गाँधी जी ने अपने सत्याग्रह को स्थगित कर दिया।

अभी तक पंजाब में फौजी शासन बराबर चल रहा था। उसका क्रम ११ जून तक ज्यों-का-त्यों बराबर चला। सम्पूर्ण पंजाब में बड़ी कठोरता के साथ सेंसर बिठा दिया गया था। मि० एण्डरूज को पंजाब जाने की मनाही कर दी गयी थी। पंजाब के मुकदमों मे पैरवी करने के लिए मि० ई० नार्टन बैरिस्टर पंजाब जाना चाहते थे, लेकिन उनको जाने की इजाजत न मिली थी। सभी दलों के नेता पंजाब के अत्याचारों का जांच करने के लिए एक कमीशन बिठाये जाने की माँग कर रहे थे। लाला हरकिशन लाल पंजाब के प्रसिद्ध कांग्रेस कार्यकर्ता थे और सम्पतिशाली थे। उनको आजन्म काले पानी की सजा मिली थी और उनकी सम्पूर्ण सम्पति जो लगभग ४० लाख रुपये के थी, सरकार ने जब्त कर ली।

इस समय देश की परिस्थिति बहुत नाजुक हो रही थी। जो समाचार-पत्र सरकारी नीति की आलोचना करते थे। उन पर कठोर कानूनों का आक्रमण होता था। नेताओं में जो पंजाब जाने की कोशिश करता था, उसे तुरन्त रोक दिया जाता था। मि० एण्डरूज को मनाही का आर्डर हुआ और अन्त में वे उसी अपराध में कैद करके अमृतसर की जेल भेज दिये गये। मि० हार्निमैन जो भारत के शुभ चिन्तक थे। उनको देश निकाले की सजा दी गयी। १९ और २० जुलाई को कलकत्ते में काँग्रेस की बैठक हुई। उसमें यह तय किया गया कि १९१९ का अधिवेशन कहां किया जाय। अन्त मे काँग्रेस की उस बैठक मे. अमृतसर में ही काँग्रस का अधिवेशन करने का निश्चय किया गया। गाँधी जी ने २१ जुलाई को अपना एक वक्तव्य प्रकाशित किया और अपना सत्याग्रह स्थगित कर दिया। वक्तव्य का साराँश इस प्रकार है।

"मुझे सरकार की ओर से एक चेतावनी दी गयी है कि सत्याग्रह आरम्भ करने से परिणाम भयानक हो सकता है। बम्बई के गवनर ने मुझे बुलाया था और उस समय यह चेतावनी फिर मुझे दी गयी। मैंने फिलहाल सत्याग्रह स्थगित कर दिया है। गरम-दल के मेरे मित्रों ने भी मुझे यही सलाह दी है। सरकार की चेतावनी पर ध्यान न देना मेरा कर्त्तव्य है। सरकार की सलाह मान लेना सत्याग्रह का मेरा एक पाठ है। इस मौके पर पंजाब के उत्पात में जो पाड़ित हैं अथवा जिनको अन्याय पूर्वक सजा दी गयी है अथवा जिनकी सम्पत्ति जब्त की गयी है, मैं उनकी सेवा कर सकूँगा। मेरे ऊपर दोष लगाया गया है कि उत्पात में आग मैंने ही लगायी थी। अब जब कभी मैं सत्याग्रह आरम्भ करूँगा तब मेरा आग लगाना होगा। अगर मेरा सत्याग्रह आग लगाना हो सकता है तो रौलट-बिल को कानून बनाना भी आग लगाना है। भविष्य में सत्याग्रह न किया जाय। इसका सीधा उपाय यह है कि रौलट-बिल वापस लिया जाय। उस बिल के समर्थन मे सरकार ने जो दलीलें दी हैं उन पर देश की जनता को सन्तोष नहीं है।" अपने वक्तव्य को समाप्त करते हुए गाँधी जी ने अपने सत्याग्रही मित्रों को हिन्दू-मुसस्लि एकता को बढ़ाने और स्वदेशी का प्रचार करने का परामर्श दिया।

पंजाब के अत्याचारों की जांच

काँग्रेस के निर्णय के अनुसार पण्डित मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्द पंजाब की दुर्घटनाओं की जाँच के लिए पंजाब गये। निषेधाज्ञा के हट जाने के बाद गाँधी जी भी १७ अक्टूबर को पंजाब पहुँच गये। सरकार की ओर से जाच करने के लिए हन्टर-कमेटी का काम भी पंजाब में आरम्भ हो गया।

काँग्रेस के नेताओं ने हण्टर-कमेटी के साथ मिलकर जाँच करना चाहा। लेकिन उसमें अनेक प्रकार की बाधायें उत्पन्न हुईं। इसलिए उन्होंने अलग होकर अपना कार्य आरम्भ किया। बंगाल से चित्तरञ्जन-दास भी पंजाब पहुँच गये। इसी बीच में यह भी तय हुआ कि जलियाँवाला बाग में शहीदों का एक स्मारक बनवाया जाय।

ग्यारहवाँ परिछेच्द

देश व्यापी असहयोग

'असहयोग' पर गाँधीजी के प्रस्ताव की रूप रेखा

सन् १९१९ के अन्त के साथ-साथ, काँग्रेस की अनेक बातों का अन्त हो गया। जन्म-काल से लेकर काँग्रेस, प्रार्थना और अनुरोध के साथ चल रही थी। १९१९ मे उन दोनों बातों का अन्त हुआ। रौलट-बिल के सामने आते ही गाँधी जी ने सत्याग्रह की घोषणा की। यह घोषणा उन बिलों का विरोध ही नहीं करती थी, बल्कि देश के वर्त-मान शासन मे स्पष्ट रूप से अपनी माँगे पेश करती थी।

सन् १९२० का आरम्भ हुआ। शासन-सत्ता में देश ने अपने कदम आगे बढ़ाये। अब प्रार्थनाओं का युग बीत चुका था। चापलूसी का अन्त हो चुका था। इसलिए जो प्राथनाओं और चापलूसी पर ही जिन्दा रहना चाहते थे, उनके लिए काँग्रेस के क्षेत्र में कहीं स्थान न रह गया था। श्रीमती बेसेण्ट की तरह के नेताओं को अपने लिये रास्ते ढूँढ़ने पड़े। नरम-दल के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने काँग्रेस से अलग होने मे ही अपनी अच्छाई समझी। जिनके दिलों में कम-जोरी थी वे काँग्रेस के क्षेत्र के दूर हो गये और जो स्वतंत्रता के नाम पर कुर्बान होने के लिए तैयार थे, वे काँग्रेस के युद्ध क्षेत्र मे पैंतरे बदलते हुए दिखाई देने लगे। अब काँग्रेस पूर्ण रूप से अंगरेजी हुकूमत के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए तैयार हो गई।

काँग्रेस में भी सभी युद्ध-प्रेमी न थे। इसलिए जो केवल व्याख्यानों और प्रस्ताओं से देश की स्वाधीनता चाहते थे, वे काँग्रेस के रण-बाँकुरों के साथ बहकी-बहकी बातें करने लगे। हुआ यह कि उनके और असली नेताओं के बीच एक गहरी खाई दिखाई देने लगी। गाँधी जी सत्याग्रह स्थगित कर चुके थे, लेकिन १९२० के आरम्भ होते ही उन्होंने बृटिश सरकार से मोर्चा लेने के लिये 'असहयोग'

की शंख ध्वनि की। देश मे चारों ओर क्रान्ति की बिजली दौड़ गयी।

इसी बीच मे एक बात और हुई। योरप के महायुद्ध के दिनों मे प्रधान मन्त्री मि० लायड जार्ज ने भारत के मुसलमानों से मदद माँगी थी और उनको कुछ आश्वासन दिये थे। उन पर विश्वास करके मुसलमानों ने उस युद्ध में ब्रिटिश-सरकार की सहायता की। युद्ध का अन्त हो गया। लेकिन भारत के मुसलमानों को जो वचन दिये गये थे, उनका कोई अर्थ न निकला। भारत के मुसलमानों के साथ ब्रिटिश-सरकार का यह खुला विश्वासघात था।

अमृतसर की काँग्रेस के समय काँग्रेसी और मुस्लिम लीगी नेताओं ने इस विषय मे विचार-विनिमय किया और गाँधी जी के नेतृत्व मे खिलाफत-आन्दोलन करने की प्रतिज्ञा की। डाक्टर अन्सारी के नेतृत्व मे एक डेपूटेशन वाइसराय महोदय के पास भेजा गया और उनको स्थिति साफ-साफ बतायी गयी, लेकिन उनका उत्तर पूर्ण रूप से निराशाजनक था। इसके परिणाम स्वरूप मुसलमानों में एक विरोधी लहर फैल गयी।

मौलाना मुहम्मद अली के नेतृत्व में एक डेपूटेशन इंगलैण्ड भी भेजा गया, लेकिन उसका भी कोई नतीजा न निकला। अन्त मे निराश होकर भारत के मुसलमानों की ओर से गाँधी जी ने खिलाफत-आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ मे ले ली और आन्दोलन का पहला दिन १९ माच सन् १९२० निश्चित किया गया। उस दिन कार्य-क्रम के अनुसार, लोगों ने उपवास किया, ईश्वर-प्राथनायें की गयीं और व्यापक रूप से हड़ताल मनायी गयी।

सन् १९१९ की घटनायें ६ अप्रैल से आरम्भ हुई थीं और १३ अप्रैल को जलियाँवाला बाग काण्ड के रूप मे उनका अन्त हुआ। इसलिए आगामी वर्ष, १९२० मे ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया। टर्की के साथ जो सन्धि हुई, वह १४ मई १९२० को प्रकाशित हुई। उसके बाद भारतीय मुसलमानों ने खुलकर उसका विरोध किया और गांधी जी ने उसके संशोधन और सुधार कराने के लिए संकल्प किया। यहीं से असहयोग आन्दोलन का आरम्भ होता है।

इसी मौके पर गांधी जी होमरूल लीग के सभापति चुने गये और उसमें उन्होंने जो भाषण दिया। उसका कुछ अंश इस प्रकार है :

"स्वराज्य प्राप्त करने का सीधा रास्ता है स्वदेशी, हिन्दू-मुस्लिम एकता, हिन्दुस्तानी भाषा को राष्ट्र-भाषा मानना और प्रान्तीय भाषाओं के आधार पर, प्रान्तों का नया निर्माण करना।

×××मैं किसी दल से सम्बन्ध नहीं रखता और न कभी रखूंगा। काँग्रेस किसी एक दल या समाज की संस्था नहीं है। ब्रिटिश-पार्लमेण्ट में कभी किसी दल का प्रभाव काम करता है और कभी किसी दल का। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी एक दल का संगठन है। मैं उम्मेद करता हूँ कि देश के सभी दल काँग्रेस को एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था बनाना चाहेंगे जिसके द्वारा वे देश के राष्ट्रीय प्रश्नों को आसानी के साथ हल कर सकें।

×××भारत के राजनीतिक जीवन में सत्य और ईमानदारी पैदा की जा सकती है। मैं होमरूल लीग से इस बात की उम्मेद नहीं रखता कि वह सत्याग्रह-आन्दोलन में मेरा साथ दे सकेगी।×××मैं अपनी पूरी ताकत लगाकर इस बात की कोशिश करूंगा कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय कार्यों मे सत्य और अहिंसा से काम लिया जाय।"

टर्की के साथ होने वाली शर्तें जिन दिनों में प्रकाशित हुईं, उन्हीं दिनों मे हण्टर-कमेटी की रिपोर्ट भी देश के सामने आ गयी। खिलाफत-कमेटी की बैठक बम्बई मे हुई। २८ मई १९२० को उस बैठक में असहयोग-आन्दोलन का निश्चय हो गया। ३० मई को बनारस में काँग्रेस की बैठक हुई, उसमें हण्टर कमेटी की रिपोर्ट और टर्की के साथ सन्धि की शर्तों पर वाद-विवाद हुआ। निश्चय हुआ कि असहयोग का निर्णय करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन किया जाय।

२८ मई १९२० को हण्टर-कमेटी की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही देश में निराशा फैल गयी। उस कमेटी के कुछ सदस्य हिन्दुस्तानी थे और कुछ अंगरेज। हिन्दुस्तानियों और अंगरेजों मे मतभेद था। भारतीय सदस्य साफ-साफ जनरल डायर को अपराधी करार देते थे।

सरकार की ओर से उसमें लीपा-पोती की गयी थी। मि० माण्टेगु ने यह भी कहा कि जनरल डायर की समझ में जैसा आया वैसा किया, यह बात जरूर है कि परिस्थिति को समझने मे उनसे भूल हुई।

असहयोग-आन्दोलन को खिलाफत-कमेटी के स्वीकार कर लेने पर गांधी जी ने इलाहाबाद मे २ जून १९२० को नेताओं की एक बैठक करके इस बात की कोशिश की कि असहयोग को स्वीकार किया जाय। यही हुआ भी। एकत्रित नेताओं ने उसे स्वीकार कर लिया और उसका कार्य-क्रम बनाने के लिए गांधी जी तथा कुछ मुसलमानों की एक कमेटी बनायी गयी।

असहयोग और लोकमान्य तिलक

असहयोग-आन्दोलन के सम्बन्ध मे लोकमान्य तिलक के विचारों को जाहिर करते हुये गांधी ने एक स्थान पर लिखा था :—

असहयोग के सम्बन्ध मे लोकमान्य तिलक मुझसे एक बार बातें कर चुके थे। उसी को फिर दुहराते हुए उन्होंने मुझसे कहा कि असहयोग के कार्य क्रम मे मेरा कुछ भी विरोध नहीं है। लेकिन इस विषय मे जिस आत्मत्याग की जरूरत है, उसे देश पूरा कर सकेगा, इसमें मुझे संदेह है। मैं हृदय से आप की सफलता चाहता हूँ। यदि आप जनता को इसके लिए तैयार कर सकें तो मेरा पूरा समर्थन आपको मिलेगा।"

असहयोग का स्वीकृत प्रस्ताव

कलकत्ते का विशेष अधिवेशन ४ सितम्बर १९२० को आरम्भ हुआ और ९ सितम्बर को समाप्त हुआ। जनरल डायर की काली करतूतों को ब्रिटिश-सरकार अस्वीकार न कर सकी, लेकिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञ उस पर परदा डालना चाहते थे। वे मीठी-मीठी बातें करके संतोष देने की कोशिश कर रहे थे। कामन सभा मे काफी समय तक वाद-विवाद हुए, लेकिन उनका कोई परिणाम होने वाला न था। गांधीजी द्वारा उपस्थित प्रस्ताव में असहयोग की सार्थकता मे बताया गया कि :

"सरकारी उपाधियाँ त्याग दी जाँय। सरकारी बोर्डों से लोग

इस्तीफे दे दें। सरकारी कार्यों में सहयोग न दिया जाय। सरकारी सहायता पर चलने वाले स्कूलों और कालेजों का वहिष्कार हो और विद्यार्थियों के पढ़ाने के लिए राष्ट्रीय विद्यालय और कालेज खोले जाँय। अदालतों का वहिष्कार हो और पंचायतों द्वारा आपस के झगडों को तय किया जाय। सरकार-द्वारा संचालित कार्यों को करने में लोग इनकार कर दें। कौंसिलों में जाने से लोग इनकार करें और जो उम्मेदवार खड़े हों, जनता उनको वोट न दें। बिदेशी माल का वहिष्कार किया जाय।"

यह तो ठीक ही है कि अंगरेजी सरकार का सारा काम हिन्दुस्तानियों के सहयोग और सहायता पर चलता रहा है और इसमें भी सन्देह नहीं कि मुट्ठी भर अंगरेजों के मातहत मे काम करने वाले सरकारी कमचारी और सरकार को सहयोग देने वाले जनता के करोड़ों आदमी यदि एक मिनट के लिये भी अपना हाथ खींच लेवें तो राज काज का सारा काम बन्द हो जाय और सरकार एक मिनट भी नहीं टिक सकता। यही सोच समझ कर बहुत दूरदर्शिता पूर्वक गांधी जी ने जनता के सामने असहयोग के प्रस्ताव को रक्खा।

कलकत्ता अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया लेकिन सभी नेताओं का समर्थन बाद में भी न मिल सका। बंगाल और महाराष्ट्र प्रान्त मे उसके प्रति एक बड़ी उदासीनता फैल रही थी। लोकमान्य तिलक के मित्र गणेश श्री कृष्ण खापर्डे ने अपनी लिखी हुई एक पुस्तक प्रकाशित की उसमें उन्होंने बताया कि "असहयोग-आन्दोलन से देश को उस दिशा मे ले जाने की कोशिश की जा रही है जो राजनीतिक दृष्टि से भविष्य मे एक बड़ी भारी भूल साबित होगी। इस आन्दोलन के अनुसार काँग्रेस ने जिन वहिष्कारों की अपील की है वे न केवल व्यर्थ हैं बल्कि हानिकारक भी हैं। असहयोग-आन्दोलन के प्रस्ताव का जिस प्रकार निर्णय हुआ है, उससे पता चलता है कि कांग्रेस व्यक्तिगत सत्ता की ओर अधिक झुकी हुई है। उस सत्ता में चाहे जितनी नैतिकता हो लेकिन वह पूर्ण रूप से आपत्ति जनक है।" लेकिन नागपुर-कांग्रेस ने हृदय खोलकर असहयोग-आन्दोलन का समर्थन किया।

असहयोग का कार्यारम्भ

ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के बीच 'रौलट बिल' विरोधी भावना को लेकर सामने आया। जनरल डायर ने देश को विद्रोही बनाने का कार्य किया। हण्टर-कमेटी ने देश के जख्मों पर नमक छिड़कने का काम किया। खिलाफत आन्दोलन की परिस्थितियां देश की सहायक बन गयीं। गाँधी जी ने सत्याग्रह का बिगुल बजाया और उसके बाद उन्होंने असहयोग की शंखध्वनि की।

सरकारी कर न देने की अपील शुरू हो गयी। विदेशी माल का व्यापार बन्द करने की व्यापारियों से अपीलें आरम्भ हो गयीं। सरकार की दी हुई उपाधियां वापस करने के लिए लोगों से अनुरोध किया जाने लगा। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के लिए लोगों से प्रार्थनायें की जाने लगी, विदेशी वस्त्रों के स्थान पर हाथ के बुने और कते कपड़ों के प्रयोग पर जोर दिया जाने लगा। बोर्डों और कौंसिलों के लोग इस्तीफे दें; इसके लिए अनुरोध किये गये। राष्ट्रीय स्कूलों और कालेजों के खोलने के काम आरम्भ हो गये। देश में असहयोग की बिजली दौड़ गयी। सारा देश नये जीवन में दिखायी देने लगा। सरकारी नौकरों से प्रार्थना की गयी कि वे राष्ट्रीय कार्यों में सहायता करें। देश में चारों ओर असहयोग की आंधी आरम्भ हो गयी।

विद्रोह की बढ़ती हुई आँधी

सन् १९२१ में नये युग का आरम्भ हुआ। पुराने युग का अन्त हुआ। उसके साथ-साथ और भी बहुत-सी बातों का अन्त हुआ। देश की बुजदिली का अन्त हुआ। प्रार्थनाओं और प्रार्थना-पत्रों का भी अन्त हुआ। सन् १९२१ का वर्ष राजनीतिक अधिकारों का प्रातः काल था। इसीलिए देश में जागरण के चिन्ह स्पष्ट दिखायी देने लगे थे। भारतवासियों की मानसिक व्यथाओं को शांत करने के लिए सम्राट पञ्चम जार्ज के चाचा ड्यूक आफ कनाट भारत भेजे गये। उन्होंने भारत में आकर अपने भाषण के सिलसिले में कहा :

"मैं भारत का एक पुराना और शुभचिन्तक मित्र हूँ। पुराने जख्मों को भरने की मेरी अभिलाषा है और जो लोग दूर हो गये है मेरी

तबीयत है कि मैं उन्हें फिर से मिलाऊँ। एक शुभचिन्तक की हैसियत से मैं अप ल करूँगा कि आप लोग गुजरी हुई बातो को भूल जावें और जो बातें माफ करने के योग्य हों उनको माफ कर दें, मैं चाहता हूँ कि आप लोग कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करें जिससे आशाओं की पूर्त्ति हो सके।"

जनरल डायर को दण्ड

ड्यूक साहब ने भारत में आकर जो कुछ कहा उस पर कुछ वाक्य ऊपर दिये जा चुके हैं। वे भारत के मित्र भी बने और शुभचिंतक भी। साथ ही कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करने की उन्होंने अपील भी की। अतीत काल की बातों को भूल जाने के लिए भी कहा और यह भी कहा कि जो बातें क्षमा के योग्य हों उन्हे क्षमा भी करें। लेकिन जनरल डायर ने अमृतसर में जो कुछ भी किया उस पर उन्होंने एक शब्द भी न कहा।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने बड़ी पालिसी से काम लिया। बड़ी कौंसिल में पंजाब-हत्या-काण्ड का मसला जब पेश किया गया तो सरकार की ओर से सर विलियम विसेण्ट ने बहस करते हुए कहा—"भविष्य में इस प्रकार की दुघटनाओं की अब सम्भावना नहीं रही।"

सम्पूर्ण देश ने जनरल डायर की निंदा की और उसके काण्ड के कारण ही असहयोग करके देश ने अपने विद्रोह का परिचय दिया। इतना सब होने पर भी, जनरल डायर को उसके पद से केवल हटा दिया गया और कुछ नहीं किया गया। पदच्युत होने के कारण निर्दयी डायर को अपनी पेंशन से वन्चित होना पड़ा। उसके इस नुकसान को पूरा करने के लिए भारत में रहने वाली अंगरेज महिलाओं ने चन्दा एकत्रित किया और २०००० पाउण्ड जमा करके उन्होंने जनरल डायर को भेंट में दिये। निर्दयता पूर्वक जिसने अमृतसर मे गोलियों की वर्षा करायी थी, उसके आदर मे इतना ही नहीं किया गया, बल्कि पुरस्कार-स्वरूप उसको एक तलवार भी भेंट मे दी गया।

पंजाब-हत्या-काण्ड में जनरल डायर के बाद दूसरा अपराधी कर्नल जानसन था। उसे भी उसके पद से अलग किया गया, लेकिन भारत में ही उसे ऐसा मौका दिया गया, जिससे उसकी क्षति की

पूर्त्ति ही न होती थी, बल्कि पहले से भी अधिक उसे सम्पत्ति और सम्मान मिला।

देश में नया जीवन

अदालतों के बहिष्कार में भी एक बड़ी सफलता प्राप्त हुई। बहुत से वकीलों ने वकालत का पेशा बन्द किया और कांग्रेस में आकर काम करने लगे। जो वकील अपने स्वार्थ के लिए बदनाम थे कांग्रेस के क्षेत्र में कदम रखते ही उन्होंने अपने परिश्रम के द्वारा अपनी देश सेवाओं का बहुत बड़ा प्रमाण दिया।

यही अवस्था सरकारी स्कूलों और कालेजों की भी हुई। गांधी जी ने अपील की थी कि विद्यार्थी सरकारी स्कूलों और कालेजों को छोड़ें, जो विद्यार्थी पढ़ना चाहते हों, उनके लिए राष्ट्रीय विद्यालय और कालेज खोले जायँ। इसके साथ-साथ विद्यार्थियों का एक पवित्र कर्त्तव्य यह है कि इस प्रकार के संकटकाल में वे देश का साथ दें और देश के राजनीतिक कार्यों में भाग लें।

गांधी जी की अपील का देश के विद्यार्थियों पर प्रभाव पड़ा। सभी सरकारी स्कूल और कालेज बन्द तो नहीं हो गये लेकिन बहुत से विद्यार्थियों ने पढ़ना बन्द कर दिया और राष्ट्रीय कार्य में वे आगे बढ़े। इसी बीच में कितने ही राष्ट्रीय विद्यालय खोले गये और सरकारी शिक्षा-संस्थाओं को छोड़-छोड़ कर विद्यार्थी उनमें जाने लगे।

अदालतों के बहिष्कार में एक बात और हुई। देहातों में पंचायतों का श्रीगणेश हुआ। ईमानदार पञ्चों के द्वारा देहातों के रहने वाले अपने झगड़ों का निर्णय कराने लगे। देश में पंचायतों का काम जितना ही बढ़ने लगा, अदालतों का काम उतना ही ढीला होने लगा।

इन दिनों में स्वदेशी का प्रचार बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा था और विदेशी माल का बहिष्कार अपने आप होता जाता था। स्वदेशी का प्रचार कार्य, बंग-भंग के समय आरम्भ हुआ था। लेकिन उन दिनों में उसको उतनी सफलता न मिली थी, जितनी कि सन् १९२१ में उसे मिलने लगी। विदेशी सस्ती चीजों को छोड़कर देश की बनी हुई, अधिक दाम देकर भी लोग खरीदने में अपना गौरव समझने लगे।

विदेशी कपड़ों के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। देश का बना हुआ कपड़ा महँगा होने पर भी देश में अपनाया जाने लगा। विदेशी वस्त्रों को पहनने में देश के स्त्री और पुरुष झेंप और लज्जा को अनुभव करने लगे। अब भी लोग एक बड़ी संख्या में विदेशी वस्त्र पहनते थे। लेकिन ऐसा करने में वे अपने जीवन का एक अपराध अनुभव करने लगे।

सरकारी कानून

असहयोग के कार्य-क्रम के अनुसार, देश में काम आरम्भ हो गया था। नेताओं के दौरा बराबर हो रहे थे। देश मे जिस प्रकार जागृति बढ़ रही थी, उससे सरकार अपरिचित न थी। परन्तु उसको रोकने के लिए उसके पास कोई उपाय न था, सिवा इसके कि वह कठोर कानूनों का उपयोग करे।

इस प्रकार असहयोग का कार्य क्रम बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा था। अभी तक उसका ऐसा कोई प्रोग्राम न था, जिसमें सरकार अपने कानूनों का प्रयोग कर सकती। फिर भी लोगों को भयभीत करने के लिए और बढ़ती हुई जागृति को रोकने के लिए सरकारी अधिकारियों ने दफा १४४ और १०८ के द्वारा अपना काम शुरू कर दिया। देश-बन्धु दास, बाबू राजेन्द्र प्रसाद और मौलाना मजहरुल हक जैसे नेताओं के कामों में रुकावट डालने के लिए अधिकारियों ने कानूनों का प्रयोग किया। असहयोग से सम्बन्ध रखने वाली सभाओं पर प्रतिबन्ध लगाये गये और कांग्रेस के कार्य-क्रम मे बाधा डाली गयी।

इसी बीच में ननकाना-काण्ड का भी जन्म हुआ, वहां पर सिखों का गुरु द्वारा था। मार्च के पहले की बात है। अत्यन्त शान्तिमय बातावरण में सिख लोग उस गुरु द्वारे में एकत्रित होने लगे। बिना किसी कारण के अधिकारियों ने उस गुरु द्वारे पर आक्रमण किया और गोलियां चलायी गयीं। उस गोली-काण्ड में १९५ आदमी मरे। परन्तु सरकार ने मरने वालों की संख्या केवल ७० मन्जूर की। यहां पर गोली चलाने का कोई भी सबब न था।

दमन का जोर

असहयोग की गति जितनी ही बढ़ती जाती थी, दमन की तेजी

उतनी ही कठोर होती जाती थी। सरकार इस दमन से देश की शक्तियों को नष्ट करने का प्रयास करती थी, लेकिन उसका परिणाम उलटा होता था। शासन और कानूनों की कठोरता ने देश मे असहयोग की वह लहर उत्पन्न कर दी, जिसका दबाना और जिसे काबू मे रखना सरकारी अधिकारियो के बस के बाहर हो गया।

दमन का जोर सारे देश मे जोर पकड़ रहा था। युक्त प्रान्त में तो उसकी भयानक आंधी चल रही थी। सरकार आंखें बन्द करके अत्याचार करने पर उतारू थी। लोगों को एकत्रित देखकर पुलीस का सहज ही आक्रमण होता था। लोगों के शान्त रहने पर भी सरकार की ओर से युक्तप्रान्त मे अनेक स्थानों पर गोलियां चलवाई गयीं। लोगों की गिरफ्तारियां बड़े जोर से हो रही थीं। जो लोग कैद किये जाते थे, उनके मुकदमों की सुनवाही न की जाती और कैद किये गये लोगों को जेलो म ठूस दिया जाता।

स्थान-स्थान पर लोगों को उत्तेजित करने के अभिप्राय से सरकार की ओर से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की जाती, जिससे लोगों को उभरने का मौका मिलता, लेकिन फिर भी लोगों ने शान्ति से काम लिया और आत्म-त्याग करा पूरा परिचय दिया। इसके लिए काँग्रेस ने सवसाधारण को धन्यवाद दियाऔर उनकी कुर्बानियों की लगातार प्रशंसा की। देश मे अहिंसात्मक भावना उत्पन्न करने के लिये कांग्रेस बराबर कोशिश कर रही थी। गांधी जी के भाषणों का लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ रहा था और हँस-हँसकर लोग वलिदान हो रहे थे। सरकार ने उन्मत्त होकर धारवाड़ मे गोलियां चलवायीं। अधिकारियों की कारवाई से मोपला उत्पात को सृष्टि हुई, इन दुर्घटनाओं की बाकायदा जांच की गयी। सितम्बर के प्रथम सप्ताह के अन्त मे काँग्रेस की एक बैठक हुई। उसमे मोपला उत्पात के सम्बन्ध में हिंसा की निंदा की गयी—

इन दिनों मे खिलाफत और असहयोग का देश में बहुत जोर था। चारों ओर नेताओं के दौरा हो रहे थे और उनमें काँग्रेस के कार्यक्रम को पूरा करने की अपीलें बड़ी तेजी के साथ की जा रही थीं। उन्हीं दिनों में, मुहम्मद अली और शौकतअली—दोनों भाई गिरफ्तार किये गये। जब यह मालूम हुआ कि मोहम्मदअली को उन्हें करांची वाले

भाषण के कारण गिरफ्तार किया गया है, तो गांधी जी ने स्वयं उनका भाषण, त्रिचनापल्ली की सभा मे दोहराया।

गांधी जी ने असहयोग का प्रस्ताव उपस्थित करके बारह महीने मे स्वराज्य प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की थी। देश की परिस्थितियों बड़ी तेजी के साथ बदल रही थीं। स्वराज्य प्राप्त करने की अवधि मे केवल एक महीना और बाकी रह गया था। नेताओ की गिरफ्तारियां पर देश ने जिस शान्ति और आत्म त्याग का सुबूत दिया, वह असहयोग की सफलता का बहुत बड़ा प्रमाण था। ५ नवम्बर १९२१ को काँग्रेस कार्य समिति की एक बैठक दिल्ली मे की गयी और उस बैठक मे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को उनकी जिम्मेदारी पर सत्याग्रह करने का अधिकार दे दिया गया।

सरकारी कूटनीति की असफलता

देश के आन्दोलन मे हिन्दू-मुस्लिम एकता एक बड़ी शक्ति का काम कर रही थी। ब्रिटिश सरकार ने भली भांति इसका अध्ययन किया। भारत मे शासन करने का आधार अंगरेजों के निकट एक मात्र साम्प्रदायिक मतभेद था। आरम्भ से लेकर अन्त तक सरकार ने सदा इसी मतभेद का आश्रय लिया था और लाभ उठाया था। वास्तव में ब्रिटिश सरकार की भारत में यही एक शक्ति थी। अपनी कूटनीति के कारण ब्रिटिश सरकार की सत्ता इस देश मे कायम हुई थी। सुधारों और राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस ने पिछले दिनों जो प्रयत्न किया था उसको असफल करने के लिए सरकार समय समय पर हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का ही सहारा लेती थी। वह कभी हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को उत्तेजित करती थी और कभी मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं को उभारती थी। ब्रिटिश-सरकार की यही कूटनीति भारत मे अंगरेजी राज्य की जड़ जमाये थी।

अंगरेजी-राज्य को कमजोर करने के लिए गांधी जी ने उसकी कूटनीति को असफल करने की कोशिश की। सत्याग्रह और असहयोग की घोषणा करने के साथ साथ गांधी जी ने हिन्दू मुस्लिम मित्रता को मजबूत बनाया और ऐसे कारण पैदा किये, जिससे उसका बन्धन ढीला न पड़ सके। काँग्रेस हिन्दू और मुस्लिम-दोनों की संस्था थी;

इसलिए कांग्रेस के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने की पूरी कोशिश की गयी। इसी बीच में खिलाफत का मसला पैदा हुआ। उसने ब्रिटिश-सरकार के साथ, भारतीय मुसलमानों के सम्बन्ध को विच्छेद किया। गाँधी जी के नेतृत्व में खिलाफत का आन्दोलन आरंभ हुआ। उसने हिन्दू मुस्लिम मैत्री को और भी अधिक मजबूत बना दिया।

भारत मे शासन करने के लिए अब अंगरेजी-सरकार के पास एक ही उपाय बाकी रह गया था और वह यह कि सरकार देश मे हिन्दू मुस्लिम फूट पैदा करे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने फिर एक बार अपनी कूटनीति का आश्रय लिया। फल स्वरूप मोपलों और हिन्दुओं में झगड़े की आग पैदा हुई। मोपले भारत के वे मुसलमान है जिनके पूर्वज अरब में रहते थे और वे मालावार मे आकर बसे थे। यहां के मोपले अधिकतर खेती का काम करते थे।

सरकार ने मालावार के इन मोपले मुसलमानों को बहकाना आरम्भ किया। उनको तरह तरह के प्रलोभन दिये गये। सरकार ने छिप छिपकर वहां के हिन्दुओं को भी भड़काया। हिन्दू समझते थे कि सरकार हमारे साथ है और मोपले सरकार की मदद का पूरा भरोसा रखते थे। ब्रिटिश कूटनीति का उन दोनों को पता न था। नतीजा यह हुआ कि दोनों आपस मे लड़ाई झगड़े पर आमादा हो गये और दोनों एक दूसरे के जानी दुश्मन बन गये।

इन परिस्थितियों मे दोनों दलों ने हिंसा से काम लिया और दोनों ओर के बहुत से आदमी जान से मारे गये। सरकार दोनों ओर हाथ लगा रही थी। इस उपद्रव में जो सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई उसमें मोपलों को अपराधी ठहराया गया। इस कूटनीति का उद्देश्य यह था कि मोपलों के उत्पात से देश में हिन्दू मुस्लिम मार काट आरम्भ हो जायगी और गांधी जी का सत्याग्रह तथा असहयोग खतम हो जायगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। गांधी जी ने हिन्दू मुस्लिम मित्रता की जड़ इतनी मजबूत बनायी थी कि उस पर मोपलों के उत्पात का कोई प्रभाव न पड़ा और खिलाफत तथा आन्दोलन का कार्यक्रम बराबर आगे बढ़ता रहा। ब्रिटिश-सरकार की कूटनीति की देश में यह एक बड़ी पराजय थी।

युवराज का वहिष्कार

१७ नवम्बर १९२१ को भारत में युवराज का आगमन हुआ। देश में असहयोग की लहर बड़े जोरों से चल रही थी। उनके आने के पहले ही कांग्रेस ने निश्चय कर लिया था कि युवराज के आगमन में देश किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखेगा। उनकी खुशी में जो उत्सव मनाये जायँगे, कांग्रेस की ओर से उनका वहिष्कार किया जायगा।

भारत में युवराज के कदम रखते ही बड़े जोरों के साथ विरोध हुआ। किन्तु सरकारी अधिकारियों ने कितने ही स्थानों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये। जनता में विरोधी भावनायें तो थी ही अधिकारियों के उत्तेजित करने पर दंगे हुए। सरकार तो इस प्रकार के मौकों को तलाश मे थी ही; युवराज के बम्बई पहुँचने पर भयानक मार-काट आरम्भ हो गयी। उनमें सरकार ने कितने ही अमानुषिक अत्याचार किये। उत्तेजित सर्वसाधारण भी पीछे न हटना चाहते थे। बम्बई के झगड़ों को शान्त करने के लिए श्रीमती सरोजिनी देवी और गाँधी जी को स्वयं वहां जाना पड़ा। उनके बहुत कोशिश करने पर भी बम्बई के दंगे रुक न सके। इस रक्तपात मे बेशुमार आदमी घायल हुए। दंगों को शान्त करने मे जब सफलता न मिली तो गांधी जी ने उपवास आरम्भ किया और वह पांच दिनों तक बराबर चलता रहा।

जिन दिनों में देश अंगरेजी राज्य से असहयोग कर रहा था, उन दिनों में युवराज का भारत में आना कुछ विशेष अर्थ रखता था। लेकिन उसमें भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को सफलता न मिली। देश के कोने-कोने में युवराज के आगमन का वहिष्कार किया गया। स्थान स्थान पर विदेशी कपड़ों की होलियां जलायी गयी। इस प्रकार के दृश्यों का युवराज ने न केवल कानों से सुना बल्कि अपनी आंखों से देखा भी।

समझौते की बात चीत

सन् १९२१ असहयोग का पहला वर्ष था। फिर भी वह पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। सरकारी और गैर सरकारी जिन लोगों ने असहयोग को उपहास की दृष्टि से देखा था, उनको इस बात का विश्वास न था कि वह सफल हो सकता है और अपने आरम्भिक दिनों में ही वह देश में इतना व्यापक हो सकता है जितना कि वह हो सका।

न तो काँग्रेस की ओर से किसी प्रकार का ढीलापन था और न सरकार ने ही खिलाफत तथा असहयोग को दबाने और निर्मूल करने के लिए दमन मे कोई कसर उठा रखी थी। दोनों ओर की शक्तियाँ बराबर संघर्ष में आगे बढ़ रही थीं। असहयोग अंगरेजी सरकार को विवश और मजबूर बना देना चाहता था और अंगरेजी सरकार उसकी जड़ को मिटा देना चाहती थी। अभी तक की परिस्थितियों में कोई भी सिर झुकाने के लिए तैयार न था। सरकार के कठोर कानून जोरों के साथ दमन कर रहे थे और खिलाफत तथा काँग्रेस के कार्य-कर्त्ता तथा नेता अपने आत्म त्याग का परिचय देते हुए स्वतंत्रता के गीतों के साथ जेलों का ओर रवाना होते थे। सम्पूर्ण देश में एक अजीब उत्साह बढ़ रहा था।

इन्हीं दिनों में काँग्रेस और सरकार के बीच समझौते की बात उठी। भारत के वाइसराय लार्ड रीडिंग इन दिनों कलकत्ते में थे। मि० जिन्ना और पण्डित मदनमोहन मालवीय लार्ड रीडिंग से मिले। समझौते का प्रस्ताव पेश किया गया। लार्ड रीडिंग ने आसानी के साथ उसे मन्जूर कर लिया।

काँग्रेस के करीब-करीब सभी नेता जेलों में थे। गाँधी जी अहमदाबाद मे थे। तार-द्वारा गाँधी जी से बात चीत की गयी। सरकार इस बात पर राजी हो गयी कि सत्याग्रह के कैदियों को छोड़ दिया जाय और आगामी मार्च के महीने मे समझौते की बैठक की जाय।

समझौते का निर्णय करने के लिए २५ दिसम्बर का निश्चय किया गया था और २१ दिसम्बर से उसकी कोशिशें आरम्भ हुई थीं। गांधी जी ने समझौते के लिए बातचीत करने में भी अपनी कुछ शर्तें पेश कीं। सारी बातचीत तारों के द्वारा हो रही थी। अभी तक कुछ निर्णय न हो सका था कि २५ तारीख का समय निकल गया और समझौते की बातचीत असफल होकर बीच में ही समाप्त हो गयी।

इसी बीच मे युवराज का कलकत्ते में आगमन हुआ। समझौता समाप्त हो चुका था। कार्य कर्ता और नेता जेलों में बन्द थे। फिर भी युवराज के आगमन का कलकत्ते मे भी जोरों के साथ बहिष्कार किया गया।

बारहवाँ परिच्छेद

बारडोली का सत्याग्रह

वाइसराय के नाम पत्र

इसी अवसर पर गांधी ने वाइसराय को एक पत्र लिखा और उस पत्र में बताया कि कांग्रेस-कार्य-समिति के निर्णय के अनुसार बारडोली सत्याग्रह होने जा रहा है। यह पत्र वाइसराय के नाम गांजी जी ने १ फरवरी १९२२ को रवाना किया।

बारडोली-सत्याग्रह से गांधीजी का उद्देश्य यह था कि वे सामूहिक सत्याग्रह का प्रथम प्रयोग अपनी देख रेख मे करना चाहते थे। बारडोली के कितने ही लोग दक्षिण अफ्रिका मे गांधी जी के सत्याग्रह में काम कर चुके थे। वे सत्याग्रह की कार्य प्रणाली से बहुत कुछ जानकार थे।

गांधी जी चाहते थे कि देश के दूसरे भागों के लोग बारडोली-सत्याग्रह को देखे और उसका अध्ययन करने के बाद अपने आपको इस योग्य बनावें कि वे सफलता पूर्वक सत्याग्रह कर सकें। इसीलिए वे बारडोली सत्याग्रह की स्वयं तैयारी कर रहे थे और अपना उद्देश्य देश के सामने उन्होने स्पष्ट भी कर दिया था।

१ फरवरी १९२२ को बारडोली सत्याग्रह के सम्बन्ध में जो पत्र गांधी जी ने वाइसराय के पास भेजा उसकी कुछ बातें इस प्रकार हैं :

"बम्बई प्रान्त के सूरत जिले मे बारडोली एक छोटा-सा ताल्लुका है। उसकी जन संख्या सब मिलाकर ८७००० है। ×× इस सत्याग्रह का उत्तरदायित्व मैंने अपने ऊपर ले लिया है। इसलिए मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं उन परिस्थितियों को आप के और जनता के सामने साफ कर दूँ जिनमें इसका निर्णय करना पड़ा है।

इन दिनों में भारत सरकार की रजामन्दी से बंगाल, आसाम, युक्त प्रान्त, पंजाब, दिल्ली और विहार आदि मे घोर दमन चल रहा है। उसके अनुसार सम्पत्ति का लूटना, बिना किसी अपराध से लोगों पर हमला करना, जेलों में राजनीतिक कैदियों के साथ अमानुषिक व्यवहार करना, उनको कोड़े लगवाना आदि अत्याचारों को कभी भी सभ्यता-पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

××आन्दोलन के सम्बन्ध में काँग्रेस की आज्ञानुसार जो लोग शान्ति पूर्ण वातावरण मे काम कर रहे हैं उनके साथ सरकारी अधिकारियों के जो अन्याय पूर्ण व्यवहार हो रहे हैं वे कभी भी न्यायपूर्ण नहीं कहे जा सकते।

×××अपनी मांगों को पूरा करवाने के लिए अहिंसात्मक उपायों को छोड़कर देश के सामने और कोई तरीका नहीं है।×× आपने जिस प्रारम्भिक नीति से काम लिया था, वह यह थी कि जब तक असहयोगी अपने कार्यों में अहिंसात्मक रहें उस समय तक सरकार उन पर कोई प्रतिबन्ध कायम न करे।

जिस प्रकार गैर कानूनी दमन नीति का आश्रय सरकार ने लिया है, उसके कारण सत्याग्रह का कार्य-क्रम इतनी शीघ्रता के साथ आरम्भ करना पड़ रहा है। इस दमन ने मजबूर किया है कि सामूहिक सत्याग्रह तुरन्त आरम्भ कर दिया जाय। सब से पहला सत्याग्रह बारडोली में आरम्भ होगा।

बारडोली सत्याग्रह आरम्भ करने के पहले मैं आप से एक बार फिर अनुरोध करता हूँ कि आप अपनी नीति को बदलें और उन सभी असहयोगी कैदियों को छोड़ दें, जिनको अहिंसात्मक होने पर भी जेलों मे भेजा गया है। अथवा कैद किया गया है।

×××मैं आपसे यह भी अनुरोध करता हूँ कि जब तक असहयोगी अपने कार्यों मे अहिंसा की शर्त का पालन करें आपको तटस्थ रहने की घोषणा करना चाहिए। ××× प्रेसों पर प्रतिबन्ध न लगाया जाय और राजनीतिक कैदियों पर जो जुर्माने किये गये हैं वे वापस किये जांय।"

गाँधी जी ने वाइसराय को जो पत्र भेजा उसका उत्तर देते हुए भारत सरकार का जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ, वह इस प्रकार था :

"आन्दोलन के सिलसिले में बम्बई जैसे शहरों मे जो दंगे हुए, कितने ही स्थानों में गैर कानूना प्रदर्शन किये गये और स्वयंसेवकों के कार्यों और व्यवहारों मे जिस प्रकार हिंसात्मक मनोवृत्ति काम करती है उसके बदले में सरकार को कानूनी कारवाई करनी पड़ी। सरकार की जो नीति प्रारम्भ मे थी वही अब भी है। उस समय भी यह बात स्पष्ट कर दी गयी थी कि राजद्रोह को दबाने के लिए जब जैसे कानूनों की जरूरत होगी, उनका प्रयोग किया जायगा।"

गाँधी जी के पत्र का उत्तर देते हुए सरकार की ओर से जो कुछ लिखा गया, उनमे किसी बात में भी जीवन न था। गांधी जी ने जो अनुरोध किये थे उनका कोई स्पष्ट उत्तर न था।

चौरी चौरा काण्ड

बारडोली सत्याग्रह की तैयारियाँ बड़े जोर के साथ हो रही थीं। देश की आंखे उसी तरफ लगी थीं। कार्यकर्ताओं मे उत्साह बढ़ रहा था। सार्वजनिक जीवन मे सत्याग्रह की भावना तीव्र हो रही थी। सरकारी दमन की परवाह किसी को न थी। आमतौर पर सभी लोग सामूहिक सत्याग्रह चाहते थे। लेकिन उसके लिए बारडोली सत्याग्रह की पाबंदी लगी थी।

इसी बीच में चौरी चौरा काण्ड हुआ। गोरखपुर जिले के अंतर्गत चौरी चौरा मे ५ फरवरी को कांग्रेस का एक जुलूस निकाला गया। इस जुलूस मे सभी श्रेणी के लोग शामिल थे। उसके कार्यक्रम मे पुलीस हस्तक्षेप करने के ख्याल से अपना इन्तजाम कर चुकी थी। जन-समूह पुलीस का हस्तक्षेप न चाहता था।

जुलूस के विस्तृत समूह पर अधिकार रखना कठिन हो गया। पुलीस के दारोगा और इक्कीस सिपाही आगे बढ़े। लोगों को सब्र न हुआ। एक आवाज उठी और जुलूस का जन समूह पुलीस पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो गया। फिर क्या था, लोग बढ़े और पुलीस का पीछा करके थाने तक ले गये और वहाँ जाकर आग लगा दी जिससे वे सबके सब जलकर मर गए। इसी बीच में १३ जनवरी को मदरास में भी उसी प्रकार का दङ्गा हुआ। वह करीब-करीब वैसा

ही था जैसा कि बम्बई में नवम्बर के महीने में हो चुका था। मदरास की दुघटना युवराज के पहुँचने पर हुई।

चौरी चौरा काण्ड पर विचार करने के लिए वहीं पर १२ फरवरी को काँग्रेस कार्य-समिति की बैठक की गयी। घटना को सुनने और पूर्ण रूप से समझने के बाद सामूहिक रूप से सत्याग्रह करने का विचार स्थगित कर दिया गया। लोगों से अनुरोध किया गया कि उन्हें गिरफ्तार होने के लिए किसी को भी सरकार के विरुद्ध काम न करना चाहिए।

जो लोग केवल गाँधी जी पर विश्वास करते थे, वे भी ठण्डी सांसें लेने लगे और जो स्वराज्य एवम् सत्याग्रह के सपने देख रहे थे, वे काँग्रेस और गाँधी जी दोनों की मनमानी आलोचनाएँ करके तबीयत को शान्त करने लगे।

नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने गांधी जी की आलोचना की और सभी प्रकार की बातें आमने-सामने कही गयी। लोग सामूहिक सत्याग्रह के रोकना न चाहते थे। सवसाधारण से लेकर नेताओं तक-सभी को हौसले जो उमड़ रहे थे, एकाएक ठंडे हो गये और इससे उनको एक आंतरिक पीड़ा होने लगी। कार्य समिति में बंगाल और महाराष्ट्र के जो सदस्य थे वे तो बेहद अधीर और अशांत हो रहे थे किसी भी दलील से उनको शान्ति न मिल रही थी। डा० मुञ्जे ने तो गांधी जी के विरुद्ध एक निन्दात्मक प्रस्ताव कार्य समिति में उपस्थित किया और कुछ लोगों ने उसके समर्थन में भाषण भी दिए। परन्तु इस विरोधी वातावरण का गांधी जी पर कोई प्रभाव न पड़ा। एक तूफान उठा और निकल गया। गांधी जी ज्यों के त्यों अटल और अचल बने रहे।

गांधी जी की कैद और सजा

सरकार ने गांधी जी को गिरफ्तार करने का निर्णय फरवरी के अन्तिम दिनों में ही कर लिया था लेकिन वे गिरफ्तार किये गये १३ माच १९२२ को। १८ मार्च को अहमदाबाद में उनका मुकदमा आरम्भ हुआ।

दुबले पतले गांधी जी ने अपने भक्त और सहयोगी श्री शंकर

लाल बैङ्कर के साथ अदालत में प्रवेश किया। सभी लोग उनके सम्मान में उठकर खड़े हो गये। मुकदमें को आरम्भ करते हुए, गाँधी जी के लिखे हुए तीन लेख पढ़े गये। गाँधी जी और बैङ्कर ने अपने-अपने अपराधों को स्वीकार किया। अदालत ने राज द्रोह का मुकदमा कायम किया। उसके बाद अपना लिखा हुआ गाँधी जी ने निम्न-लिखित बयान पढ़ा।

राज-भक्त से राज-द्रोही

गांधी जी ने अपना बयान पढ़कर सुनाया। उसमें उन्होंने बताया कि मैं आज राज-द्रोही हूँ। लेकिन इसके पहले मैं राज-भक्त था। मेरे राज-द्रोही होने का एक इतिहास है। उसे मैं अदालत के सामने साफ-साफ रखना चाहता हूँ :

"मेरा सार्वजनिक जीवन सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रिका में आरम्भ हुआ था। हिन्दुस्तानियों के नागरिक अधिकारों के लिए ब्रिटिश-सरकार के साथ मुझे संघर्ष करना पड़ा।

मैं सरकार का सहयोगी था। लेकिन उसके दोषों की आलोचना भी खूब करता था। मेरी भावना सरकार के विनाश के लिए कभी नहीं रही। सन् १८९० में जब बोअरों और सरकार के बीच संघर्ष आरम्भ हुआ तो मैंने सरकार की पूरी सहायता की थी। घायलों की सेवा के लिए मैंने एक स्वयंसेवक-दल तैयार किया था।

सन् १९०६ के इसी प्रकार के मौके पर मैंने सरकार की सेवा और सहायता की थी। इन सेवाओं के बदले में मुझे ब्रिटिश-सरकार से पदक मिले थे और मेरी प्रशंसा की गयी थी। दक्षिण अफ्रिका के मेरे कार्यों के बदले में लार्ड हार्डिङ्ग ने मुझे कैसर-ए-हिन्द का पदक दिया था।

सन् १९१४ में इंगलैण्ड और जर्मनी के युद्ध में मैंने सरकार की सेवा की थी और हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों का एक स्वयंसेवक-दल आवश्यक कार्यों के लिए तैयार किया था। सन् १९१७ में सरकार की सहायता करने लिए मैंने रङ्गरूटों की भरती का काम किया था। उसमें मेरा स्वास्थ्य तक खराब हो गया था।

उस समय तक मेरा विश्वास ब्रिटिश सरकार पर बराबर बना

रहा। योरप के पहले युद्ध के समाप्त होते ही भारत के लिए रौलट-बिल तैयार किया गया। ब्रिटिश सरकार की ओर से मुझे यह पहला धक्का लगा। रौलट-बिल भारतीयों की स्वतन्त्रता के विनाश के लिए तैयार किया गया था। मैंने उसके खिलाफ आवाज उठायी।

उसके बाद पंजाब का भयानक काण्ड हुआ। उसमें जिस प्रकार गोलियों की वर्षा की गयी और उसके पश्चात् जिस प्रकार सर्व-साधारण के साथ अत्याचार किये गये उनको सहन करने के लिए मैं अब समर्थ न था। ×× मेरे सामने मुसलमानों की खिलाफत का प्रश्न भी आया। ब्रिटिश सरकार के प्रधान मन्त्री ने भारतीय मुसलमानों के साथ विश्वासघात किया था।

इन सब बातों के साथ-साथ देश की गरीबी जोरों के साथ बढ़ रही थी। सरकारी नीति और उसके कानून देश को लगातार दरिद्र बनाने का काम कर रहे थे। ×× हमारे देश में जिन कानूनों का प्रयोग होता है, उनसे विदेशी सम्पत्तिशाली बनते जा रहे हैं और देश भयानक गरीबी को पहुँच रहा है।

भारत के साथ इङ्गलैण्ड की हुकूमत का जो अप्राकृतिक रूप चल रहा है, उसे बदलने के लिए मैं अपने असहयोग के साधनों पर विश्वास रखता हूँ। जिस प्रकार अच्छी बातों के साथ मेरा कर्त्तव्य है, उसी प्रकार बुरी बातों से असहयोग करना भी मेरा एक महत्व पूर्व कर्त्तव्य है। परन्तु बुराइयों को बदलने के लिए मेरे असहयोग में हिंसा को कहीं स्थान नहीं है। अहिंसात्मक भावना स्थायी प्रेम की परिचायक है। मेरे आज के असहयोग में, मेरे कर्तव्य की प्रेरणा है। उसके बदले में बड़ा से बड़ा दण्ड मैं प्रसन्नता के साथ स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ।

इस सेशन अदालत के आप जज हैं। आपके और आपके असेसरों के सामने मेरे इस मुकदमे के अन्त में दो ही मार्ग हैं। यदि आप इस बात का विश्वास करते हैं कि मेरे काम और मेरा आन्दोलन देश और जनता के अहित के लिए है तो मुझे बड़ा से बड़ा और कठोर-से-कठोर दण्ड दें। लेकिन अगर आप यह समझते हैं कि मेरे काम और आन्दोलन से देश और जनता का कल्याण है और इस मामले में जिन कानूनों का प्रयोग करने के लिए आपको राय दी गयी है, वे बुरे हैं तो

आपके सामने एक ही मार्ग रह जाता है कि आप और आपके असेसर अपने अपने पदों से इस्तीफा दे दें।"

जज साहब ने गांधी जी के बयानों को ध्यानपूर्वक सुना। मुकदमे का निर्णय करते समय लोकमान्य तिलक का उदाहरण दिया और गांधी जी को ६ वर्ष की सजा दी। उसके बाद श्री शंकर लाल बेङ्कर को एक वर्ष की सजा और एक हजार रुपये जुर्माने की सजा सुनायी। जुर्माना न देने पर ६ महीने की और सजा का हुक्म दिया गया।

तेरहवाँ परिच्छेद

कौन्सिलों का प्रलोभन

दोमुखी भावनायें

गाँधी जी के जेल जाने के बाद काँग्रेस पर पहला प्रभाव इस बात का पड़ा कि उसके कुछ कार्य-कर्त्ता और नेता कौंसिलों की तरफ आकर्षित हुए। असहयोग और सत्याग्रह गांधी जी के अस्त्र थे। सभी लोग उनके संघर्ष में गांधी जी के आश्रित थे। उनके हटते ही भीषण संघर्ष काल में देश का संचालन कौन करे, यह एक विकट प्रश्न सामने आया।

जो नेता जेलों से लौटकर वापस आ गये थे, उन्होंने देश की परिस्थिति का अवलोकन किया। सार्वजनिक जीवन को नेता की जरूरत थी। उस नेतृत्व की पूर्त्ति कैसे हो, यह एक असाधारण प्रश्न था। नेताओं ने अपने-अपने दृष्टिकोण से आन्दोलन के भविष्य को समझने की कोशिश की। देश के सामने एक विकट समस्या थी।

इस समस्या के कारण सार्वजनिक जीवन निर्बल होने लगा था। हिन्दू-मुस्लिम मैत्री की गांठ भी कुछ ढीली पड़ गयी थी। १९२२ में खिलाफत का प्रश्न खतम हो चुका था। हिन्दू-मुस्लिम मतभेद पैदा कराने में सरकार की कूटनीति को इन दिनों में कुछ सफलता मिल रही थी। उसी के परिणाम स्वरूप १९२२ में हिन्दू और मुसलमानों के बीच मुलतान में एक जोरदार दङ्गा हो चुका था। १९२३ में भी मुहर्रम के मौके पर बङ्गाल और पंजाब में साम्प्रदायिक दंगे हुए।

देश की इन परिस्थितियों ने राजनीतिक वातावरण को कमजोर बनाने का काम किया। जो नेता जेलों से बाहर थे उनके पास देश की बिगड़ती हुई परिस्थितियों का कोई इलाज न था। बलिदान होने के लिए वे अपने जीवन में प्रतिज्ञा कर चुके थे। देश की परतंत्रता मिटाना ही उनके बाकी जीवन का काम रह गया था। इस हालत में

देश स्वतन्त्रता के मार्ग में कैसे आगे बढ़े, इसकी चिन्तनायें उन नेताओं के सामने कम न थी जो इस समय कांग्रेस के सम्पर्क में थे।

कोई रास्ता सूझ न पडने पर लोगों के सामने कौंसिलों का मार्ग दिखायी देने लगा। वे समझने लगे कि जिस दमन के द्वारा सरकार हमारे सार्वजनिक जीवन को नष्ट कर रही है कौंसिलों मे जाकर उस दमन को रोका जा सकता है। इसके साथ-साथ और भी ऐसे काम किये जा सकते है जिनसे सरकार की शक्तियाँ क्षीण होंगी और कांग्रेस के राजनीतिक जीवन को बल मिलेगा। इसी प्रकार की बातों को लेकर काँग्रेस के कुछ नेताओं के सामने कौंसिलों का प्रलोभन पैदा हुआ।

पिछले वर्ष गया कांग्रेस में कौंसिल वादियों ने कोशिश की थी कि कांग्रेस कौंसिलों में जाने का प्रस्ताव मन्जूर कर ले। लेकिन गांधी जी ने देश मे जो जीवन पैदा किया था, वह इतना निर्बल न था कि आसानी से उसे दबाया जा सकता। इसीलिए पण्डित मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु दास जैसे नेताओं के जोरदार प्रयत्नों के बाद भी गया-कांग्रेस ने कौंसिलों का प्रवेश स्वीकार न किया।

कौंसिलों में जाने और उसका पक्ष मजबूत करने के लिए कौंसिल वादियों ने स्वराज्य-पार्टी कायम की थी। देशबन्धु दास उसके एक प्रमुख नेता थे और इसीलिए उन्होंने पिछली कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया था।

देश की परिस्थितियां

इस समय देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ बहुत नाजुक हो रही थीं। गांधी जी ने जिस असहयोग का झण्डा ऊँचा किया था और उसकी कामयाबी के लिए देश मे जो जीवन पैदा किया था वह अन्धकार मे पड़ गया। गांधी जी जेल मे बन्द थे। दमन जोरों के साथ चल रहा था। बहुत बड़ी संख्या मे कांग्रेस के कार्य-कर्त्ता भी जेलों में बन्द थे। जो लोग बाहर थे, उनके सामने भी कोई मार्ग न था।

सरकार साम्प्रदायिक दङ्गों के लिए हिन्दुओं और मुसलमान दोनों को बहका रही थी। काँग्रेस में आज कोई ऐसा नेता न था जो

इन परिस्थितियों को सुलझा सकता और सरकार की कूटनीति को असफल बनाने में, कामयाब होता। इसमें सन्देह नहीं कि देश के सार्वजनिक जीवन को बल देने के लिए ही कुछ नेता कौंसिलों का आश्रय लेना चाहते थे। लेकिन देश का जन-समूह, जैसा कि गाँधी जी ने उसको तैयार किया था, कौंसिलों में जाना अच्छा न समझता था। इस प्रकार देश की परिस्थितियाँ इन दिनों में बड़ी भयानक हो रही थीं।

इन्हीं दिनों में १ मई १९२३ को नागपुर में राष्ट्रीय झण्डे का सत्याग्रह हुआ। अधिकारियों ने झण्डे के साथ जुलूस निकालने में रुकावट पैदा की थी। जुलूस के संचालक अपने झण्डे के साथ आगे बढ़ने के लिए तैयार हो गये थे। नतीजा यह हुआ कि अधिकारियों की सख्तियाँ आरम्भ हुईं। खूब गिरफ्तारियाँ की गयीं और लोगों को सजायें दी गयीं। इस प्रकार नागपुर में जो संघर्ष पैदा हुआ, वह झण्डा-सत्याग्रह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। और इसने एक छोटे-से आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

लगातार गिरफ्तारियों के होने पर भी झण्डा-सत्याग्रह बराबर जारी रहा। सत्याग्रही अपने झण्डे के अधिकार को खोना न चाहते थे। वे शांति पूर्वक बराबर गिरफ्तार होते रहे। अन्त में १८ तारीख को जुलूस अपने झण्डे के साथ निकला। अधिकारियों ने गिफ्तारियाँ बन्द कर दीं।

दिल्ली के विशेष अधिवेशन में कौंसिलों में जाने का प्रस्ताव किसी प्रकार पास हो गया। उस अधिवेशन के बाद जो लोग कौंसिलों में जाना चाहते थे, वे अपना कार्य-क्रम बनाने लगे।

कौंसिल-प्रवेश और गाँधी जी

सन् १९२४ के आरम्भ में देश के सार्वजनिक जीवन में बड़ी घबराहट और चिन्ता पैदा होगयी थी। इसका कारण था जेल में अचानक भयानक रोग में गाँधी जी का बीमार हो जाना। देश के सौभाग्य से वे धीरे-धीरे सेहत हुए और ५ फरवरी १९२४ को वे बिना किसी शर्त के छोड़ दिये गये। जेल से बाहर आने के बाद गाँधी जी ने नीचे लिखा हुआ अपना एक वक्तव्य प्रकाशित किया—

"कौंसिलों में जाने के प्रश्न पर, मैंने अपने स्वराजी मित्रों के साथ बातें कीं। मुझे अफसोस है कि मैं उनसे सहमत न हो सका। ×××देश के कुछ परम आदरणीय और प्रभावशाली नेताओं का विरोध करना मेरे लिए कभी भी सुखदायी नहीं हो सकता।×× परन्तु कोशिश करने और इच्छा रखने पर भी मैं उनकी दलीलों को समझ न सका। मेरा अब भी यही विश्वास है कि कौंसिलों में जाना व्यर्थ है। मेरी मजबूत धारणा है कि देश के हित के लिए कौंसिलों के बाहर रहकर काम करना अधिक लाभ कारक है। समझने पर भी मैं अपने मित्रों को अपने विश्वास पर न ला सका।"

इसी प्रकार का एक वक्तव्य स्वराज्य-पार्टी के नेता देशबन्धुदास और पडिण्त मोती लाल नेहरू की ओर से भी प्रकाशित किया गया—

"हमे बहुत अफसोस है कि कौंसिलों मे जाने के सम्बन्ध मे स्वराज्य पार्टी की उपयोगिता हम गांधी जी को समझा न सके। हम नहीं समझ सके कि नागपुर काँग्रेस के असहयोग के अन्तर्गत कौंसिल प्रवेश क्यों नहीं है। हमें तो प्रत्येक अवस्था मे अपने राष्ट्रीय-जीवन को तरक्की देना है। हमारा ध्येय तो अपने उद्देश्य की ओर होना चाहिये। फिर उसके साधन कुछ भी हों। हर सूरत मे देश को आत्मनिर्भरता की जरूरत है। जिससे राष्ट्रीयता को शक्ति मिले और स्वराज्य के रास्ते में नौकरशाही की जो बाधायें हों, उनका सामना किया जा सके।

×××× हमने जिस अड़ङ्गा शब्द का प्रयोग किया है, उसका सीधा मतलब यह है कि जिन रास्तों और तरीकों से सरकार की नीति हमे आगे बढ़ने में रोकती है, हम उन्हें व्यर्थ और बेकार बना दें।"

स्वराज्य-पार्टी के वक्तव्य का यह छोटा सा रूप है। इसके साथ-साथ पार्टी ने अपने उस कार्य-क्रम को भी प्रकाशित किया, जिसे लेकर सदस्य कौंसिलों में प्रवेश कर रहे हैं। कौंसिलों के बाहर गाँधी जी के कार्य क्रम को पूरा करना, और हृदय से उसका समथन करना भी पार्टी ने अपना उद्देश्य बताया।

इक्कीस दिनों का अनसन

सन् १९२४ का वर्ष हिन्दू मुस्लिम दङ्गों के नाम पर बहुत बुरा गुजरा। गाँधी जी ने जिस विषैले वृक्ष की जड़ काटी थी, उसमें अकुंर तो पहले ही निकल चुके थे। इस वर्ष वह कटा हुआ वृक्ष फिर हरा दिखायी देने लगा। दिल्ली, गुलबर्मा, कानपुर, लखनऊ, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद और जबलपुर साम्प्रदायिक झगड़ों के केन्द्र बन गये। कोहाट का दङ्गा तो पराकाष्ठा को पहुँच गया।

इन साम्प्रदायिक दङ्गों की जांच करने और उनको सुलझाने का सही मार्ग निकालने के लिए गांधी जी और मौलाना शौकतअली की एक कमेटी बनायी गयी। इस कमेटी ने कुछ समय बाद अपनी रिपोर्ट पेश की लेकिन दोनों की एक राय न थी। इन दङ्गों में अपराधी कौन है-हिन्दू या मुसलमान ? इसके निर्णय में गांधी जी और शौकत अली में मतभेद रहा।

साम्प्रदायिक दङ्गों की हालत दिन पर दिन खराब होती जा रही थी। उनके सुलझाने का कोई रास्ता दिखायी न पड़ने पर गाँधी जी ने अनशन आरम्भ किया और वह २१ दिनों तक बराबर चलता रहा। उस अनशन में गांधी जी ने सम्प्रदायिक दङ्गों का अपराधी अपने आप को बताया और जाहिर किया कि यह अनशन उसी के प्रायश्चित के निमित्त है।

गाँधी जी ने यह अनशन मौलाना मुहम्मद अली के मकान पर आरम्भ किया। बाद में वे एक दूसरे स्थान पर लाये गये। गाँधी जी का यह अनशन देश की चिन्ता का कारण बन गया। सभी जातियों और दलों के नेताओं की एक बैठक २६ सितम्बर १९२४ को आरंभ हुई और २ अक्टूबर तक बराबर होती रही। एकत्रित महानुभावों ने प्रतिज्ञा की और गाँधी जी को विश्वास दिलाया कि हम सभी लोग साम्प्रदायिक एकता के लिए पूरी कोशिश करेंगे और किसी मौके पर हिन्दूमुस्लिम उत्तजना पैदा होने पर उसको दबाने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार का विश्वास प्राप्त करने पर गांधी जी ने अपना अनशन समाप्त किया।

———

*

चौदहवाँ परिच्छेद

कौन्सिलों में संघर्ष

गाँधी जी का महान् व्यक्तित्व

सरकारी दमन की कठोरता, नौकरशाही के डगमगाते हुए पैरों का सुबूत दे रही थी। गांधी जी ने संघर्ष आरम्भ किया था उसकी सफलता का ज्ञान सरकार को अधिक था। परन्तु देश के भाग्य में अभी परतन्त्रता लिखी थी। कौंसिलों का प्रश्न उपस्थित हुआ और नेताओं में मतभेद हो गया। सभी प्रकार के प्रयत्न किये गये। लेकिन जिन्हें कौंसिलों का मोह हो गया था, उनके विचारों मे अन्तर न पड़ा। असहयोग की तेजी का वहीं से अन्त हुआ और धीरे-धीरे राजनीतिक वातावरण निर्बल होता चला गया।

सन् १९२५ का वर्ष कौंसिलों के संघर्ष मे ही बीता। उनके बाहर देश के जीवन मे लगातार ठंढक बढ़ती जाती थी। सम्पूर्ण राजनीतिक हलचल कौंसिलों में केन्द्रित हो रही थी। स्वराज्य पार्टी के नेताओं ने अपनी पूरी ताकत सरकार के विरोध मे लगा रखी थी और उनका यह मोर्चा कौंसिलों के भीतर चल रहा था। यद्यपि इस बात का निश्चय हो चुका था कि कौंसिलों के साथ साथ बाहरी कार्यक्रम जो देश के सामने हैं, बदस्तूर खूबी के साथ पूरा हो और उसमे किसी प्रकार की कमजोरी न आने पावे। परन्तु इसकी सीमा निश्चय करने तक ही रही। जहां तक मन्जूर करने का प्रश्न था, उसमें कोई भी फरक न पड़ा, लेकिन आगे उनकी तरफ कुछ काम न हो सका।

कौंसिलों का संघर्ष काँग्रेसी सदस्यों के संतोष के रूप में चल रहा था। उनमें दो दल बराबर काम करते हुए नजर आते थे। एक सरकारी दल था, जो आँखें मूँदकर सरकार का समर्थन करता था और दूसरी स्वराज्य पार्टी की संगठित सेना थी जो सरकार की उन चालों को व्यर्थ बनाने में लगी थी। इस मोर्चेबन्दी से देश और राष्ट्र

का कितना हित हो रहा था इसकी नाप तौल कौंसिलों के भीतर कांग्रेसी सैनिकों के पास कुछ न थी। इन दिनों में उनको एक नशा था जो सरकारी प्रगति को रोकने में व्यवहृत हो रहा था और इसी को वे अपना संतोष माने हुए काम कर रहे थे। इन प्रहारों और आक्रमणों का क्रम किस प्रकार चल रहा था, उसका विस्तार पूर्वक विवरण देने की यहाँ पर जरूरत नहीं है। देश का उनसे न तो कोई लाभ हो रहा था और न उनका कोई दूसरा ही महत्व था। सही बात यह थी कि जो त्याग और तपस्या के मार्ग में अधिक दिनों तक न चल सकते थे और नौकरशाही के दमन से अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रखना चाहते थे वे कौंसिलों में पहुँचकर सन्तोष प्राप्त कर रहे थे। इसके सिवा और कुछ नहीं था।

कौंसिल-पार्टी के नेताओं का भ्रम

कौंसिलों के संघर्ष में किस दल की विजय दिखायी देती थी, इसका निर्णय आसानी से न किया जा सकता था। साधारण आँखों से उसका निरूपण सम्भव भी न था। जो लोग दोनों ओर से दाँव-पेंच देखकर प्रसन्न हो सकते थे, उनको अधिक लाभ चाहे न हो, लेकिन सन्तोष और कुछ सुख तो मिलना था। लेकिन जिनके नेत्रों में दिव्य-दृष्टि थी, वे जानते थे कि इन दाँव-पेचों से सरकार की शक्ति को कभी भी निर्बल नहीं बनाया जा सकता।

इस अवस्था में भी कौंसिल पार्टी के काँग्रेसी नेताओं की आँखें चकाचौंध होने लगीं। या तो वे इस संघर्ष से भी थक गये थे अथवा उनके नेत्र उनको धोखा दे रहे थे। बिना किसी परिणाम के कौंसिलों में जो मोर्चा चल रहा था, उसके फलस्वरूप हमारे नेताओं को मालूम होने लगा कि अब सरकार की नीति में परिवर्तन दिखायी देता है और हमारी राष्ट्रीय माँगों के सामने वह झुकने के लिए तैयार हो जायगी।

इस अनुमान और अन्दाज का इजहार करते हुए देशबन्धु दास ने स्टेट्समैन के प्रतिनिधि से बातों के सिलसिले में कहा था—'सरकार के मनोभावों में जो परिवर्तन हुआ है, उसके स्पष्ट चित्र सर्वत्र दिखायी दे रहे हैं। इस प्रकार की स्थितियों में सरकार के साथ समझौता हो

सकना बिलकुल स्वाभाविक है। आज के संघर्ष से अगर हम थक गये हैं तो सरकार भी थक गयी है।'

अपनी इसी भावनाओं से प्रेरित होकर दास बाबू ने ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों को सन्बोधन करते हुए कहा था—"आप एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं जो हम दोनों के लिए सम्मानपूर्ण हो।" दास बाबू के अन्तःकरण में इस प्रकार की भावनायें जागरित हो चुकी थीं और यह भी सही है कि इस तरह के अनुमान देश के उन दूसरे नेताओं के सामने भी काम कर रहे थे जो कौंसिलों में बड़ी-बड़ी आशायें लेकर गये थे और अपनी पूरी शक्तियों के साथ उनमें संघर्ष कर रहे।

कौंसिलों के संघर्ष से उत्पन्न हुई थकान और असफलता भी हमारे नेताओं से छिपी न थी। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने उसी के आधार पर कहा भी था—"बड़ी तेजी के साथ हमारे सामने वह नाजुक घड़ी आने वाली है जो हमारे प्रयत्नों को ब्यर्थ साबित करने का काम करेगी इसलिए हम सब को ठोस कार्य क्रम की ओर ध्यान देने की जरूरत है।"

स्वराज्य-पार्टी का मोर्चा

जो लोग कौंसिलों में जाकर काम करने पर विश्वास रखते थे, काँग्रेस ने उन्हें इजाजत दे दी थी और उसी आधार पर स्वराज्य पार्टी का संघर्ष सरकार के साथ कौंसिलों में चल रहा था। पार्टी के नेताओं ने कौंसिलों में जाकर बहुत-कुछ करने की उम्मेदें रखी थी। इसमें सन्देह नहीं कि सरकार का मोर्चा लेने में उन लोगों ने कौंसिलों में बहुत कुछ काम किया। परन्तु उसके द्वारा देश की राष्ट्रीयता को कुछ बल मिलेगा, इसकी आशा सपने के समान बिलकुल खाली साबित हुई।

जेल से लौटने के बाद कौंसिलों में जाने के सम्बन्ध में स्वराज्य पार्टी के नेताओं के साथ गांधी जी की जो कुछ बातें हुई थीं, उन पर उन्होंने अपना एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। कौंसिलों के सम्बन्ध में देश की आँखें खोलने के लिए वह वक्तव्य किसी भी अर्थ मे पर्याप्त न था। फिर भी गांधी जी ने लिखा था कि हमारे मित्रों को कौंसिलों

में जाकर अगर अपने उद्देश्य में कामयाबी हो सकेगी तो मैं अपनी भूल स्वीकार करूँगा।

गांधी जी ने अपने उस वक्तव्य मे जो कुछ कहा था और लिखा था, उससे अधिक और क्या कहा जा सकता था। स्वराज्य पार्टी ने कौंसिलों में अपनी ताकत लगाने मे कुछ उठा न रखा। परन्तु उनके द्वारा और हो ही क्या सकता था। कौंसिलों के संघर्ष के विस्तृत विवरण हमने देने की आवश्यकता नहीं समझी। हमें देखना यह है कि इतने दिनों के संघर्ष के बाद कौंसिलों से देश को ताकत क्या मिली। सत्याग्रह और असहयोग की घोषणा पर नौकरशाही सरकार के पैर काँप उठे थे। उस घबराहट मे उसे दमन के सिवा और कुछ न सूझा था। कौंसिलों का संघर्ष सरकार के नजदीक शतरंज के खेल से अधिक न रहा। उसका हिलता हुआ शासन अब फिर मजबूती के साथ चलने लगा था! कौंसिलों के समारोह का इतना ही परिणाम न निकला। इन दिनों में देश के राष्ट्रीय जीवन को गभीरतापूर्वक अवलोकन करने के बाद देश की राष्ट्रीय शक्तियों का अनुमान करने मे कोई बड़ी परेशानी नहीं होती।

मरने के पहले देशबन्धु दास ने सरकार के मनोभावों पर अपने जो विचार जाहिर किये थे, उनसे स्वराज्य पार्टी की ताकत का पता लगता था और उसके बाद ही, दास बाबू के जीवन काल मे पण्डित मोतीलाल नेहरू ने अपनी चिन्तना का जिस प्रकार इजहार किया था, वह तो और भी हमारी राष्ट्रीय शक्तियों का स्पष्ट चित्र था।

देश के दुर्भाग्य से दास बाबू की मृत्यु हो चुकी थी उनके न रहने से स्वराज्य पार्टी की गाड़ी का एक जरूरी अंग ही टूट गया। इसके परिणाम स्वरूप; कौंसिलों मे जो संघर्ष चल रहा था, उसमें अपनी शक्तियां और भी निर्बल हो गयीं। उस निर्बलता का एक बड़ा प्रमाण यह था कि स्वराज्य पार्टी के लोगों में, जो कौंसिलों में संघर्ष कर रहे थे, कितने ही छिप छिपकर सरकार के ऊंचे अफसरों से मिलने-जुलने लगे थे।

पार्टी के लोगों का सरकार से इस प्रकार छिप कर मिलना-जुलना पार्टी की कमजोरी का एक बड़ा सुबूत देता है। इस कमजोरी की

जड़ काटने के लिए स्वराज्य पार्टी ने कुछ प्रतिबन्ध लगाये थे, जिनका समर्थन करते हुए गाँधी जी ने अपने एक वक्तव्य में कहा था :—

"स्वराज्य पार्टी के सदस्यों को पार्टी की अनुमति लिए बिना सरकारी अफसरों से मिलने में जो प्रतिबन्ध लगाया गया है वह जरूरी है।"

देश के राष्ट्रीय जीवन में भीतर-ही-भीतर जो इस प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न हो रही थीं, उनसे साफ-साफ इस बात का पता चलता है कि कौंसिलों के संघर्ष में लड़ने वाले हमारे नेता अब अपनी थकान को अनुभव करने लगे थे। एक ओर देश की यह परिस्थिति थी और दूसरी ओर सत्याग्रह तथा असहयोग से देश में जो नव-जीवन पैदा हुआ था, कौंसिलों के कार्य क्रम से वह ठंढा हो गया था।

१९२५ की कांग्रेस का अधिवेशन कानपुर में हुआ। श्रीमती सरोजिनी नायडू उसके अध्यक्ष के स्थान पर निर्वाचित हुईं नेताओं के लम्बे-चौड़े भाषण हुए। कितने ही प्रस्तावों को पास करके कांग्रेस के सिर पर एक बोझ लाद दिया गया। लाखों की संख्या में देश के स्त्री पुरुषों का एक अनोखा जमघट कानपुर में रहा। लेकिन उसके आकाश व्यापी शोरगुल में गांधी जी का एक छोटा-सा भाषण नहीं, वक्तव्य ही महत्वपूर्ण था, जो देश के सूखते हुए प्राणों में जीवन का संचार करता था। गांधी जी केवल पाँच मिनट तक बोले। उनके वाक्यों को सुनकर लाखों की संख्या में एकत्रित स्त्री पुरुषों को अनुभव हुआ, जैसे स्वर्ग-लोक का संदेश उन्हें दिया जा रहा हो। गांधी जी ने कहा :

"अपने पाँच वर्षों में मैंने काँग्रेस के सामने जो कुछ रखा है, उसमें एक भी बात मुझे ऐसी नहीं मालूम होती जिसे वापस लेने अथवा रद्द करने की जरूरत मालूम होती हो। अगर मुझे विश्वास हो जाय कि लोग सही रास्ते पर चलने के लिये तैयार हैं तो मैं आज भी सत्याग्रह आरम्भ कर सकता हूँ। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि देश इसके लिए आज भी तैयार नहीं हैं।"

———

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

सत्याग्रह-संग्राम

पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव

कौंसिल-प्रवेश के परिणामस्वरूप देश में जो राजनीतिक शीतलता उत्पन्न हुई, उसमे दिन-पर-दिन बीतकर सन् १९२९ का वर्ष भी समाप्त होने पर पहुँचा। इन दिनों में साइमन-कमीशन क वहिष्कार को छोड़ कर और कोई विशेष काम नहीं हुआ।

३ री फरवरी १९२८ को ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ साइमन-कमीशन भारत मे आया और सब से पहले वह बम्बई मे उतरा। उस दिन सम्पूर्ण देश मे हड़ताल मनायी गयी। इसी हड़ताल के सम्बन्ध मे मद्रास मे पुलिस ने गोलियाँ चलाईं; उन गोलियों से कुछ लोग मरे और बहुत-से घायल हुए। कुछ इसी प्रकार का संघष कलकत्ते में भी विद्यार्थियों और पुलिस के बीच मे हुआ।

बम्बई के बाद कमीशन देहली और लाहौर पहुँचा। वहाँ पर भी उसका वहिष्कार किया गया। लाहौर मे भीड़ के साथ-साथ लाला लाजपत राय भी पुलिस के प्रहार से घायल हुए।

लाहौर के बाद कमीशन लखनऊ होकर पटना पहुँचा। वह जहां जहां गया, सवत्र उसका सफलता के साथ वहिष्कार किया गया। इस विरोध और वहिष्कार को रोकने के लिए सरकार को अनेक प्रबन्ध करने पड़े और कठोर-से-कठोर दमन का भी उपयोग हुआ। लेकिन उसका परिणाम कुछ अच्छा न निकला।

कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार देश के सभी दलों को मिला कर सर्वदल सम्मेदल किया गया, उसकी पहली बैठक देहली मे हुई। कुल मिलाकर उसकी २५ बैठकें की गयीं। १९ मई को डाक्टर अन्सारी के सभापतित्व मे सर्वदल-सम्मेलन की जो बैठक हुई, उसमे निश्चय हुआ कि भरतीय विधान के सिद्धान्तों का मसविदा तैयार

करने के लिए एक कमेटी बना दी जाय और उसके अध्यक्ष पण्डित मोतीलाल नेहरू नियुक्त किये जाँय। यह कमेटी १ जुलाई तक अपनी रिपोर्ट तैयार करके दे दे।

पण्डित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारतीय विधान का मसविदा तैयार करने लिए जो कमेटी बनायी गयी थी, उसने अपना काम समाप्त कर दिया। उसने जो रिपोर्ट तैयार की, वह नेहरू कमेटी की रिपोर्ट के नाम से जाहिर हुई। उस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए २८, २९, ३० अगस्त १९२८ को लखनऊ मे बैठकें की गयी और फिर वही रिपोर्ट ४, ५ नवम्बर को दिल्ली की बैठक मे पेश हुई। वह रिपोर्ट स्वीकार की गयी और नेहरू कमेटी रिपोर्ट का साम्प्रादयिक निर्णय भी स्वीकार किया गया।

नेताओं के महत्वपूर्ण भाषणों और प्रस्तावों के साथ-साथ, इस अधिवेशन मे विशेषता इस बात की थी कि उसमें नेहरू रिपोर्ट पेश की गयी थी। भारतीय माँगों का निर्णय करने के नाम पर ब्रिटिश-सरकार हमेशा बहाना करती थी कि तुम सब लोग मिलकर कोई एक मांग नहीं पेश करते। इसका अभिप्राय यह कि साम्प्रदायिक मतभेद का आश्रय सरकार के लिए एक बड़ा सहारा था।

सरकार को सदा इस बात का विश्वास रहा कि भारत मे सभी दल और सम्प्रदाय एक होकर अपनी मांगों मे समझौता कर ही नहीं सकते। उसमें इस बहाने को भी खतम करने के लिए कांग्रेस ने सर्व-दल-साम्मेलन का प्रस्ताव किया था। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट को १९२८ की कलकत्ता काँग्रेस मे स्वीकार किया गया।

सर्वदल-सम्मेलन, काँग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार किया गया। लेकिन उसमे सफलता न मिली। मुसलमानों के सिवा अल्प-संख्यक जातियों ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की निंदा की। मि० जिन्ना अभी हाल मे ही इंगलैण्ड से लौट कर आये थे। उन्होंने नेहरू रिपोर्ट के खिलाफ आग उगलना आरम्भ कर दिया। ऐसी अवस्था मे गाँधी जी के प्रस्ताव के अनुसार, सर्वदल-सम्मेलन अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया गया।

सन् १९२९ मे जब काँग्रेस का अधिवेशन लाहौर मे हुआ, उस समय भारतीय माँगों के सम्बन्ध में लार्ड अर्विन की घोषणा की चर्चा

चल रही थी। लाहौर-कांग्रेस में पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने जो भाषण दिया था, उसका महत्व कभी भी और किसी भी समय कम नहीं हो सकता। इसलिए उनके भाषण के महत्वपूर्ण अंश यहां पर दे देना आवश्यक मालूम होता है।

पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि :—"वाइसराय लार्ड अर्विन की घोषणा देखने-सुनने मे समझौते के प्रताव के रूप मे मालूल होती है। उनका इरादा नेक और उनकी भाषा मेल मिलाप की भाषा है। लेकिन अपनी जरूरतों मे इन मीठी बातों से हमारा कोई लाभ नहीं होता। हम कोई जल्दबाजी नहीं करना चाहते। समझौते का दरवाजा खुला हुआ है। लेकिन कैप्टेन वेजवुडवेन का स्वराज्य हमारे लिए स्पष्ट एक जाल है। हम तो कलकत्ते के प्रस्ताव के साथ हैं। हमारा स्वराज्य, पूर्ण स्वधीनता का स्वराज्य है।"

अध्यक्ष की हैसियत से पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने आगे कहा—"मैं साम्यवादी और प्रजातंत्रवादी हूँ।×हिंसा का नतीजा कभी कभी बड़ा भयानक और उलटा होता है। भारत की वह नीति नहीं हो सकती।×यह तो नहीं कहा जा सकता कि सफलता कब तक होगी। क्योंकि वह अपने काबू की चीज नहीं है। लेकिन यह निश्चित है कि विजय और सफलता उन्हीं को मिला करती है जो साहस से काम लेना जानते हैं। जो परिणाम को सोचकर भयभीत होते हैं, सफलता और विजय उन कायरों के लिए नहीं होती।"

लाहौर-काँग्रेस मे पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास करते हुए निश्चय किया गया कि—गत वर्ष कलकत्ते के अधिवेशन के निश्चय के अनुसार, यह काँग्रस घोषणा करती है कि काँग्रेस-विधान मे स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता का होगा।

स्वाधीनता की घोषणा

सन् १९२९ समाप्त हो गया। नेहरू-रिपोर्ट को स्वीकार करने के लिए गाँधी जी ने ब्रिटिश सरकार को जो समय दिया था। उसका अन्त हो गया। उस समय यह भी कहा गया था कि यदि सरकार ने उसे मन्जूर किया तो कांग्रस अपने उद्देश्य की ओर से बढ़ेगी। इसी आधार पर कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक २ जनवरी १९३० को की

गयी। उसमें दो निर्णय बड़े उत्साह के साथ किये गये। एक तो यह कि कौंसिलों का पूर्ण रूप से बहिष्कार किया जाय और जो लोग कौंसिलों में हैं, वे अपने-अपने इस्तीफे दे दें। इसके अनुसार २७ सदस्यों ने एसेम्बली से इस्तीफे दे दिये।

दूसरा निर्णय यह किया गया कि सम्पूर्ण देश में स्वाधीनता-दिवस मनाया जाय और उसके लिए २६ जनवरी का दिन निश्चित् किया गया और बताया गया कि प्रत्येक गांव और शहर में निर्धारित घोषणा-पत्र पढ़कर सुनाया जाय।

'स्वाधीनता-दिवस' में जिस घोषणा-पत्र के सुनाये जाने का निश्चय हुआ, वह इस प्रकार था:

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें। अपने परिश्रम का फल हम स्वयं भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधायें प्राप्त हों जिससे हमें भी विकास का पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी अधिकार है। अंगरेजी सरकार ने भारतवासियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका [illegible] गरीबों के रक्त शोषण पर है और उसने अपने आर्थिक, राजनैतिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतवर्ष का नाश कर दिया है। अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंगरेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिये।"

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिए जाते हैं उनका २० फीसदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फीसदी गरीबों से नमक कर के रूप में वसूल किया जाता है!"

"हाथ-कताई आदि ग्राम उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी जाती रहने से उनकी बुद्धि भी मन्द हो गई और जो

उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये उनके स्थान पर दूसरे देशों की भांति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये गये हैं।"

"चुङ्गी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया। हमारे देश मे बाहर का माल अधिकतर अंगरेजी कारखानों से आता है। चुङ्गी के महसूल में अंगरेजी माल के साथ साफ तौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबों का बोझा हलका करने मे नहीं किया जाता। बल्कि एक अत्यन्त अपव्ययी शासन को कायम रखने मे किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे स्वेच्छाचारी ढंग से निश्चित की गयी है कि जिससे देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।"

"राजनीतिक दृष्टि से भारत का दरजा जितना अंगरेजी राज में घटा है, उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ मे वास्तविक राजनीतिक सत्ता नहीं आयी है। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आजादी से जाहिर और आजादी से मिलने जुलने के हमारे हक छीन लिए गये हैं और हमारे बहुत से देशवासी निर्वासित कर दिये गये हैं। हमारी शासन की सारी प्रतिभा मारी गयी है और सवसाधारण के गांवों के छोटे छोटे ओहदों और मुंशीगिरी से सन्तोष करना पड़ता है।"

"संस्कृति के लिहाज से, शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है, उससे हम अपनी गुलामी की जन्जीरों को ही प्यार करने लगे है।"

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबरदस्ती छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया है। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुकाबिले की भावना को बड़ी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलों मे यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न बिदेशी आक्रमण से देश की रक्षा कर सकते हैं।"

"इतना ही नहीं चोर, डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल बच्चों और जान माल को नहीं बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस प्रकार सर्वनाश किया है, उसके आधीन रहना

हमारी राय में मनुष्य और भगवान दोनों के प्रति अपराध है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश-सरकार से यथा सम्भव स्वेच्छा पूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय-अवज्ञा एवम् करबन्दी तक के लिए तैयार रहेंगे। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि हम उत्तजना मिलने पर भी हिंसा किये बगैर कर देना बन्द कर सकें तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। अतः हम शपथ-पूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के हेतु काँग्रस समय समय पर जो आज्ञायें देगी उनका हम पालन करते रहेंगे।"

सरकार का रुख और गांधी जी

२ जनवरी के निर्णय के अनुसार २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस सम्पूर्ण देश मे बड़े उत्साह के साथ मनाया गया और स्थान स्थान पर घोषणा-पत्र सर्व साधारण को सुनाया गया। इसी बीच मे वाइसराय का भाषण प्रकाशित हुआ। जो २५ जनवरी को उन्होंने एसेम्बली मे भारतीय माँगों के सम्बन्ध मे दिया था। अपने भाषण मे लार्ड अर्विन ने कहा—

"स्वराज्य का अधिकार रखने वाले दूसरे उपनिवेशों के समान भारत को कई अधिकार दिये जा चुके हैं। लेकिन भारतीय लोकमत ने उनको महत्व नहीं दिया। ×× ब्रिटिश सरकार जो गोलमेज परिषद बुलावेगी, वह ठीक वैसी ही न होगी, जैसी भारतवासी चाहते हैं। भारतीय माँग तो यह है कि उसका लोकमत जो चाहे और जैसा वह बनाये। पार्लमेण्ट उसे ज्यों का ज्यों मन्जूर कर ले। ××और सरकार की ओर से जिस गोलमेज परिषद की व्यवस्था की जायगी, उसमें देश के विभिन्न मतों, सम्प्रदायों और जातियों का सरकार के साथ सम्मेलन होगा। योजना बनाना और पार्लमेण्ट के सामने पेश करना सरकार का ही काम है।"

सरकार की इन नीति को स्पष्ट करते हुए लार्ड अर्विन ने जो भाषण दिया, उसका उत्तर देते हुए गाँधी जी ने लिखा—"भारत ने जिस औपनिवेषिक स्वराज्य की माँग की है, उसकी सरकार को क्या

परवाह है। × इस माँग की प्रतीक्षा देश को उस समय तक करनी पड़ेगी, जब तक उसका एक-एक करोड़पति सात पैसे रोज की मजदूरी वाला भिखारी न बन जाय। कांग्रेस अपने किसानो को पेट भर खाना ही नहीं देना चाहती, बल्कि उनको करोड़पति बनाना चाहती है। × किसानों को जब इस बात का ज्ञान हो जायगा कि उसकी दरिद्रता का कारण वर्तमान शासन है तो वे उसके खिलाफ संगठित होकर हिंसा और अहिंसा को भी भूल जायँगे और सब-कुछ करेंगे। ऐसी अवस्था मे उनको सच्चा मार्ग बताना काँग्रेस का काम है।" इसके बाद गाँधी जी ने अपनी ग्यारह शर्तें भी लार्ड अर्विन को लिखीं, जिन्हें वे सुधार के रूप में चाहते थे। अपनी उन शर्तों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने साफ कहा कि अगर सरकार इनकी भी पूर्त्ति नहीं कर सकती तो सत्याग्रह होगा।

कौंसिलों का स्वप्न

कौंसिलवादियों ने कौंसिलों में जाकर राष्ट्र की भलाई का जो स्वप्न देखा था, उसकी व्यर्थता अब पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुका थी। कांग्रेस-कार्य-समिति ने फिर से कौंसिलों के बहिष्कार का निर्णय कर दिया था। उसके बाद ही सरकारी नीति की घोषणा करते हुए लार्ड अर्विन ने जो एसेम्बली मे भाषण दिया, उससे देश की आँखें और भी खुलीं। नतीजा यह हुआ कि पण्डित मदनमोहन मालवीय और उनकी राष्ट्रीय पार्टी के कितने ही कौंसिल-सदस्यों ने इस्तीफे दे दिये।

देश मे फिर से राष्ट्रीय भावनाओं की आँधी उठी। अंगरेजी-नीति से लोग दबे थे। वे कोई मौका चाहते थे। कार्य समिति ने अपना निर्णय कर ही दिया था। वाइसराय लार्ड अर्विन का भाषण भी देश की राष्ट्रीयता को चुनौती देने के लिए कम न था। स्वाधीनता दिवस मनाने मे देश ने उसके प्रति अपने अद्भुत प्रेम का परिचय दिया।

अपनी स्वतन्त्रता के लिए, देश बलिदान होने को तैयार था, और ब्रिटिश-सरकार अपने कठोर दमन से उन्हें निर्मूल कर देना चाहती थी। देश में गिरफ्तारियाँ शुरू हुईं और लोगों को जेलों में बन्द करने का कार्य आरम्भ हो गया। सन् १९३० के फरवरी तक

कौंसिलों के १७२ सदस्यों ने इस्तीफे दे दिये। कार्यकर्ताओं और नेताओं के कौंसिल के छोड़ते ही और बाहर आते ही देश में स्वाधीनता के नारे लगने लगे।

नमक-सत्याग्रह

फरवरी १९३० में कार्य-समिति की बैठक साबरमती में हुई। इस बैठक में सत्याग्रह के प्रस्ताव पर मुख्य रूप से विचार करना था। निश्चय यह किया गया कि सत्याग्रह उन्हीं लोगों के द्वारा आरम्भ होगा जो देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए अहिंसा पर विश्वास रखते होंगे। इसलिए बैठक में गाँधी जी के सत्याग्रह-सम्बन्धी प्रस्ताव का स्वागत किया गया और निश्चय किया गया कि जो लोग अहिंसा पर पूर्ण विश्वास रखते हों वहाँ जब और जिस स्थान से चाहें सत्याग्रह आरम्भ कर दें।

सत्याग्रह की तैयारियाँ होने लगीं। गाँधी जी के विचारों से यह जाहिर हो चुका था कि नमक-सत्याग्रह आरम्भ किया जायगा और नमक के कारखानों पर हमला होगा। लोगों में स्फूर्ति और उत्साह की अपूर्व वृद्धि हो रही थी।

इसी सिलसिले में लोगों का ध्यान नमक कर के इतिहास के सम्बन्ध में गया। खोजने के बाद मालूम हुआ कि सन् १८८८ में एक सरकारी नमक-कमीशन बैठा था। उन दिनों में देश का बना हुआ नमक देश में बिका करता था। उस कमीशन की सिफारिश के अनुसार, अंगरेजी नमक की बिक्री का प्रबन्ध किया गया और देशी नमक की बिक्री में कर लगाया गया।

नमक सत्याग्रह का समय आ गया। योजना इस प्रकार थी कि गाँधी जी साबरमती-आश्रम के निवासियों को साथ में लेकर सत्याग्रह के लिए रवाना होंगे। वर्धा आश्रम के लोगों को उस समय तक रोका गया, जब तक गाँधी जी गिरफ्तार न हो जांय।

सत्याग्रह पर वाइसराय को पत्र

नमक सत्याग्रह के लिए रवाना होने के पहले गाँधी जी ने वाइसराय लार्ड अर्विन के नाम एक पत्र भेजा उसमें उन्होंने सत्याग्रह की

रवानगी की सूचना दी और बताया कि मैं ऐसा क्यों करने जा रहा हूँ। गाँधी जी का यह पत्र लम्बा है किन्तु इतना महत्व पूर्ण है कि उसकी अवहेलना कभी भी नहीं की जा सकती। मनुष्य के नैतिक जीवन का यह पत्र बहुत बड़ा आधार है। स्वतन्त्रता की लड़ाई का महत्व एक दिन कम हो सकता लेकिन इस पत्र का महत्व कभी भी कम नहीं हो सकता। विस्तृत होने के कारण उसके आवश्यक अंश यहाँ पर दिये जाते हैं, वे इस प्रकार है :

"कई सालों से सत्याग्रह का प्रश्न मेरे सामने है उसको शुरू करने से पहले आप के पास तक पहुँचा कर किसी निर्णय तक पहुँचने में मुझे प्रसन्नता होगी।

अहिंसा पर मेरा व्यक्तिगत विश्वास है। जान-बूझकर मैं किसी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता। चाहे जितना मेरा और मेरे आदमियों का आहित क्यों न हो। अंगरेजी शासन को अभिशाप समझने पर भी मैं किसी अंगरेज को हानि नहीं पहुँचा सकता।

मेरी बात स्पष्ट है। भारत म ब्रिटिश शासन को मैं विनाशकारी मानता हूँ। इस कारण को लेकर मैं सभी अंगरेजों को बुरा नहीं समझता। बहुत से अंगरेज मेरे मित्र हैं। अंगरेजी शासन की बहुत-सी बुराइयाँ मैंने अनेक अंगरेज मित्रों से ही जानी हैं।

फिर भी अंगरेजी-राज्य को बुरा समझने का कारण है। इस हुकूमत ने भारत को कंगाल बना दिया है। × राजनीतिक दृष्टि से हमारी दशा गुलामों से अच्छी नहीं है। इस हुकूमत में हमारी संस्कृति नष्ट हो गयी है। अस्त्र छीनकर हमें कायर बना दिया गया है। हमारा आत्म-बल नष्ट किया गया है।

× यदि आपने औपनिवेषिक स्वराज्य का उपयोग गम्भीरता के साथ समझकर किया है तो आपको पूर्ण स्वराज्य से घबराने की आवश्यकता नहीं है। मैंने ठीक इस बात को समझा है कि ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ कभी भी भारत को औपनिवेषिक स्वराज्य नहीं देना चाहते।

× यदि वर्तमान नीति का अन्त नहीं किया जाता तो भारत दिन-पर-दिन गरीब होता जायगा। × जमीन का लगान, असह्य बोझ के रूप में है। उससे थोड़े जमीदारों को लाभ है। किसानों की दशा शोचनीय है।

×नमक अमीरों से गरीबों में अधिक खपता है। इसलिए नमक का बोझ गरीबों पर ही अधिक है।×मादक पदार्थों से भी गरीबों का ही अधिक नुकसान होता है।×भारत के नाम पर जो कर्ज लिया गया है, वह एक घातक नीति देश के सामने है।

विदेशी शासन को कायम रखने के लिए अनेक अन्याय किये जाते हैं। आप अपना वेतन ही देखिए। अनेक दूसरी सुविधाओं के साथ-साथ आप को २१ हजार रुपये मासिक दिये जाते हैं।×भारत-वासियों की औसत आमदनी दो आने से भी कम है और आपका वेतन सात सौ रोजाना से भी अधिक पड़ता है।

×एक अंगरेज की आमदनी का औसत दो रुपये रोजाना है और वहाँ का प्रधान मन्त्री १८० रुपये रोज के हिसाब से पाता है। मेरी प्रार्थना है कि इस भयानक नीति पर आप जरा गौर कीजिए। आप का उदाहरण मैंने इसलिए दिया है कि उससे आपको समझने में आसानी होगी। व्यक्तिगत रूप में आपके लिए मेरे हृदय मे बहुत आदर है। मैं जानता हूँ कि आपको इतना अधिक वेतन की जरूरत नहीं है।×इसलिए जिस हुकूमत में इस प्रकार की प्रणाली हो, उसे तो जड़-मूल से उखाड़कर फेंक देने की जरूरत है।

×यदि इस देश को जिन्दा रहना है और तड़प-तड़प कर मिट नहीं जाना है तो उसको कोई रास्ता खोजना ही पड़ेगा। समझौता-सम्मेलन से वह रास्ता नहीं निकल सकता। उसके लिए तो एक बराबर की ताकत पैदा करनी पड़ेगी।

×मेरा यह विश्वास दिन पर दिन मजबूत होता जाता है कि ब्रिटिश सरकार की संगठित हिंसा को अहिंसा ही पराजित कर सकती है। मैं अहिंसा की शक्ति के द्वारा ब्रिटेन की संगठित हिंसा का मुकाबिला करना चाहता हूँ।×अहिंसा की विजय पर मेरा यह अटल विश्वास है।

यह अहिंसा सत्याग्रह के रूप में सामने आवेगी। आरम्भ में आश्रम के लोग ही उसमें भाग लेंगे। बाद में दूसरे लोग, जो इसकी मर्यादा समझ लेंगे, इसमें शामिल होते जायँगे।×अहिंसात्मक संग्राम को आरम्भ करने मे खतरा है। लोग इसे पागलपन समझेंगे। परन्तु सत्य की विजय प्रायः खतरों को पार करने पर ही होती है।

×मैं अंगरेजों की उतनी ही सेवा करना चाहता हूँ, जित हिन्दुस्तानियों की आँखें बन्द करके सन् १९१९ तक मैंने उन सेवा की है। जब मेरी आँखें खुलीं तो मैंने असहयोग की आव उठाई। उस समय भी मेरा उद्देश्य, उनकी सेवा का ही रहा। जि अस्त्र का प्रयोग मैंने अपने प्रियजनों के साथ किया है, उसी प्रयोग मैंने सरकार के साथ भी किया है। अंगरेजों के साथ भी अ मेरा प्रेम उतना ही है, जितना हिन्दुस्तानियों के लिए तो इस साबित होने के लिए बहुत दिन न लगेंगे। मेरे प्रेम को समझने लिए मेरे परिवार के लोगों को वर्षों परीक्षा करनी पड़ी है।

×इस हुकूमत से हम सम्बन्ध इसलिए तोड़ना चाहते हैं उसमें बुराइयाँ हैं। उनको दूर करने के बाद, दोनों के सामने मित्र का नाता खुल जायगा।×इसलिए अगर आप उन बुराइयों को नहीं कर सकेंगे और मेरे पत्र का आपके ऊपर असर न होगा इस महीने की ११ तारीख को आश्रम के मित्रों के साथ नमक-का तोड़ने के लिए मैं निकलूँगा।

×मैं जानता हूँ कि आप मुझे गिरफ्तार करके मेरी कोशिशों बेकार कर सकते हैं। लेकिन मेरे बाद, हजारों आदमी इस काम लिए आगे बढ़ेंगे और नमक के निर्दय कानून को तोड़ने के कारण सजायें मिलेंगी, उन्हें वे खुशी के साथ सहन करेंगे।

×इस पत्र का उद्देश्य धमकी देना नहीं है। एक सत्याग्रही तो अपना मार्ग साफ रखना ही चाहिये। इसी लिए इस पत्र एक खास अंगरेज के हाथ से आपके पास भेज रहा हूँ, जो भारत पक्ष का समर्थन करते हैं और अहिंसा पर उनका पूरा विश्वास है विधाता ने इस काम के लिए उन्हें मेरे पास भेजा है।"

रेजिनाल्ड रेनाल्ड नामक एक अंगरेज युवक कुछ दिनों तक आश्र में गाँधी जी के साथ रह चुका था। वही उस पत्र को लेकर वाइसर के पास गया। वाइसराय ने तुरन्त उसका उत्तर दिया और लिखा आप ऐसा काम करने जा रहे हैं, जिससे कानून और शांति भ होगी। गाँधी जी ने उस पत्र का भी उत्तर दिया। उनके उस पत्र मालूम होता था कि एक सत्याग्रही में किस प्रकार का साह नम्रता और स्पष्ट वादिता होना चाहिए।

सत्याग्रह के लिए रवानगी

नमक सत्याग्रह करने की सभी तैयारियाँ हो चुकी थीं। जहाँ पर पहुँचकर यह सत्याग्रह आरम्भ होने को था, वह स्थान समुद्र के किनारे दण्डी नामक एक गाँव था। गाँधी जी को वहाँ पहुँचना था। उन्होंने अपने साथ सत्याग्रह के लिए चुने हुए आश्रमवासी ७९ आदमियों को लिया और दण्डी के लिये प्रस्थान किया।

एक ओर सत्याग्रह की यह रवानगी हो रही थी और दूसरी ओर देश में सरकारी नौकर, अपनी नौकरियों से इस्तीफे दे रहे थे। १२ मार्च १९३० को सुबह गांधी जी और उनके ७९ साथी सत्याग्रही दण्डी के लिए रवाना हुए। यह स्थान गांधी जी के आश्रम से दो सौ मील की दूरी पर समुद्र के किनारे था।

गाँधी जी दण्डी के लिए रवाना हुए। वे आगे-आगे चल रहे थे और उनके पीछे उनके ७९ सत्याग्रही चल रहे थे। अपने सहारे के लिए गांधी जी के हाथ मे एक लकड़ी थी। रास्ते मे स्थान-स्थान पर लोगों की भीड़ें स्वागत और दर्शन के लिए खड़ी थीं। गाँधी जी की रवानगी के समय अहमदाबाद मे दो मील लम्बा जुलूस निकला था। इतनी बड़ी भीड़ सत्याग्रहियों को रवाना करने के लिए पीछे-पीछे चली थी। रास्ते भर गांधी जी की जय के नारे लग रहे थे। आरम्भ से लेकर अन्त तक, रास्ते में उत्सुकजनों की भीड़े इतनी अधिक मिलीं कि रास्ते चलने के लिए न मिल रहे थे।

गाँधी जी की गिरफ्तारी

५ अप्रैल को गाँधी जी अपने सैनिकों के साथ दण्डी पहुँच गये। सवेरे नमक कानून को तोड़ने के लिए निकले और कानून को भङ्ग करने के बाद गाँधी जी ने अपने वक्तव्य मे कहा :

"नमक कानून टूट गया। अब जो लोग इस सत्याग्रह में शामिल होना चाहें, वे अपनी सुविधा के अनुसार जहाँ चाहें, नमक बनाने का काम कर सकते है। मेरी सलाह यह है कि सभी स्थानों पर कार्यकर्ता नमक बनाने का काम करें। × × लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि इसमें सजा मिलेगी और दूसरे तरीकों से भी सख्तियाँ की जायँगी।

इसलिए जो लोग इसके लिए तैयार हों और अहिंसा से काम ले सकें, वही लोग इसमे कदम बढ़ावें।"

गाँधी जी ने अपने वक्तव्य में बहुत सी बातें कहीं। कार्य करने का तरीका बताया। सरकारी व्यवहारों पर बहुत सी बातें बतायीं।

उसके बाद गाँधी जी ने वाइसराय को दूसरा पत्र लिखा उसमें बताया कि सूरत जिले के दूसरे कारखानों धारासना और छरसाड़ा पर धावा करके अधिकार करने का मेरा इरादा है।

५ अप्रैल को रात के १ बजकर १० मिनट पर गाँधी जी गिरफ्तार कर लिए गये और वे यरवदा-जेल में भेज दिये गये। उनकी गिरफ्तारी के बाद, सम्पूर्ण देश में हड़ताल मनायी गयी। कई कारखानों में मजदूरों ने काम करने से इनकार कर दिया। सरकारी नौकरों ने नौकरियों से इस्तीफे दिये। सरकार से मिली हुई उपाधियाँ लोगों ने वापस देकर, गाँधी जी की गिरफ्तारी पर संतोष प्राप्त किया। कई स्थानों पर दुर्घटनायें भी हुईं। शोलापुर मे ६ पुलिस की चौकी जलायी गयीं फलस्वरूप गोलियाँ चलीं और २५ आदमी जान से मर गये। करीब एक हजार आदमी घायल हुए।

गाँधी जी के स्थान पर अब्बास तैय्यब जी नमक सत्याग्रह के लिए नायक बने और वे भी १२ अप्रैल को कैद कर लिये गये। अब सरकारी कानूनों का दमन आरम्भ हो गया था। नमक कानून तोड़ने वालों की संख्या भी लगातार बढ़ती जाती थी। इन हालतों में लोग गिरफ्तार ही न होते थे बल्कि पुलिस ने लाठियों का प्रहार भी आरम्भ कर दिया था। उससे कितने ही लोगों को चोटें पहुँची थीं।

अब नमक के मुकामों पर पहुँचने के रास्ते बन्द हो चुके थे। ३ जून को २०० स्वयंसेवकों के दल उंटडी की छावनी से धरसाना की तरफ चले। पुलिस ने रास्ता बन्द कर रखा था। स्वयंसेवकों के आगे बढ़ते ही पुलिस ने लाठियाँ चलाईं। घायल स्वयंसेवकों को अस्पताल भेज दिया।

देश में दमन का जोर

सम्पूर्ण देश में घटनाओं का ऐसा क्रम जारी हुआ कि उनकी कोई सीमा न रही। सारा देश, ब्रिटिश-सरकार का विद्रोही हो रहा था। चारों तरफ कूच की आवाजें उठ रही थीं। हजारों की संख्या में स्त्रियां

मैदान में आगयीं। स्त्रियों ने आगे बढ़कर शराब की दूकानों और विदेशी कपड़ों की बिक्री के स्थानों पर धरना देना आरम्भ किया। १४ अप्रैल को जवाहर लाल भी गिरफ्तार कर लिए गये थे। राष्ट्रीय झण्डे पर पुलिस ने अनेक स्थानों पर झगड़े किये। अधिक सख्ती के साथ सजायें दी जाने लगीं, मुकदमों के फैसले मे जुर्माने अधिक होते।

सरकार ने आँखें बन्द करके देश में दमन शुरू कर दिया। लोगों का कैद होना, जेल में जाना, उन पर मार पड़ना आदि तो मामूली बातें हो गयी थीं। समय ऐसा हो गया था कि खद्दर पहनकर और गाँधी टोपी लगाकर बाहर निकलना कठिन हो रहा था। सहज ही ऐसे आदमियों को पीटा जाता। उनके साथ बुरा व्यवहार होता और अनेक दूसरे उपायों से उनको तङ्ग किया जाता।

देश में विद्रोह की हवा फैलती जा रही थी। काँग्रेस गैरकानूनी संस्था करार दे दी गयी थी। पण्डित मोतीलाल नेहरू को ३० जून १९३० को गिरफ्तार किया गया और छः महीने की सजा दी गयी।

मि० ब्रेल्सफोर्ड ने इन्हीं दिनों में भारत की यात्रा की थी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के पाशविक अत्याचारों को अपनी आंखों से देखा था। उसी आधार पर उन्होंने १२ जनवरी १९३१ को 'मैंनचेस्टर गार्जियन' में एक लेख लिखा था। उस लेख में ब्रेल्सफोर्ड ने साफ-साफ लिखा था कि "भारत में इन दिनों लोकमत के खिलाफ ब्रिटिश-सरकार किस प्रकार दमन कर रही है।"

१२ नवम्बर १९३० को समझौता परिषद की गयी। उसमें कोशिश की गयी कि सरकार और कांग्रेस के बीच किसी प्रकार कुछ समझौता हो जाय। उस परिषद में १६ प्रतिनिधि भारत की रियासतों से लिए गये थे। ५७ ब्रिटिश भारत से और १३ इङ्गलैण्ड के कुछ राजनीतिज्ञ थे। कुल ८६ प्रतिनिधि थे।

परिषद में एकत्रित महानुभावों के देश की परिस्थिति पर भाषण हुए और धीरे धीरे उसे खींचकर उन्हीं पुरानी चालों पर उसका निर्णय किया गया जिन चालों से ब्रिटिश-सरकार अब तक काम लेती रही है। २१ जनवरी १९३१ को कांग्रेस की बैठक हुई। कांग्रेस कमेटी ने स्वाभिमान पूर्वक उसे ना मन्जूर कर दिया।

———

सोलहवाँ परिच्छेद

लन्डन का लटका

गोलमेज परिषद मे भारत

इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री ने भारतीय समस्या पर १९ जनवरी १९३१ को एक वक्तव्य दिया था। उसी के आधार पर वाइसराय लार्ड अर्विन ने २५ जनवरी को घोषणा करते हुए बताया कि काँग्रेस के प्रमुख नेता जो जेलों में बन्द हैं, इसलिए छोड़े जायँगे कि जिससे वे प्रधान मन्त्री के वक्तव्य पर आपस में मिलकर भली प्रकार बात चीत करके एक निर्णय कर सकें।

प्रधान मन्त्री की प्रतिध्वनि करते हुए लार्ड अर्विन ने आगे कहा—

"नेताओं की रिहाई बिना किसी शर्त के की जायगी। इसलिए कि देश में शान्तिपूर्ण वातावरण पैदा किया जाय और नेता आपस में आज़ादी के साथ बातें कर सकें। सद्भावना से प्रेरित होकर हमने यह कार्यवाई की है। इसलिए कि प्रधान मन्त्री ने जो जुम्मेदारी ली है उसकी पूर्ति हो सके।"

वाइसराय के वक्तव्य पर काँग्रेस के नेताओं के छुटकारे की आज्ञा निकल चुकी थी और २६ जनवरी तक छूट जाना था। जेल से छूटते ही गाँधी जी ने देश की जनता से कहा—

"जेल से मैं कोई राय कायम करने नहीं आया। न तो किसी के साथ मेरा द्वेष है और न किसी से ईर्षा-भाव। प्रत्येक परिस्थिति को सामने रखकर प्रधान मन्त्री के वक्तव्य पर विचार करने के लिए मैं तैयार हूँ।"

जेल से निकल कर गांधी जी पण्डित मोती लाल नेहरू को देखने के लिए प्रयाग गये, जहाँ वे बीमार पड़े थे। पण्डित मोती लाल नेहरू की यह बीमारी जेल में ही आरम्भ हुई थी और बीमारी के सिलसिले में ही वे मियाद के पहले ही छोड़ दिये गये।

मोतीलाल नेहरू की बीमारी दिन-पर-दिन बिगड़ती गयी और वे अच्छे न हो सके। गाँधी जी की उपस्थिति में ही पण्डित मोती लाल जी ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर के अमरलोक की यात्रा की। उनके निधन से देश को बड़ा धक्का पहुँचा।

वाइसराय से गाँधी जी की मुलाकात

वाइसराय के वक्तव्य के बाद राजनीतिक कैदी छोड़े तो गये और बिना किसी शर्त के उनकी रिहाई हुई। लेकिन देश की राजनीतिक परिस्थिति बड़ी भयानक हो रही थी। एक ओर इंगलैण्ड में समझौते की आवाज बड़े जोर से उठ रही थी और दूसरी ओर भारत में शासन-सम्बन्धी दुर्व्यवहार बराबर चल रहा था। काँग्रेस के नेताओं की समझ में यह न आया कि इसका क्या रहस्य है।

देश की हालत यह थी कि सम्पूर्ण देश मे दमन चक्र चल रहा था। निर्दोष आदमियों पर बराबर आक्रमण हो रहे थे। बिना किसी अपराध के लोगों की सम्पत्ति जब्त की जा रही थी। स्त्रियों के जुलूस पर अत्याचार हो रहे थे। जुलूस में शामिल होने वाली स्त्रियों के साथ मार-पीट तक की नौबत आती थी। अनेक स्थानों पर स्त्रियों को उनके बाल पकड़कर घसीटा गया था। अधिकारियों के ये व्यवहार बराबर देश में चल रहे थे। काँग्रेस के नेता तो छोड़ गये थे लेकिन राजनीतिक कैदी अब भी जेलों में थे और गिरफ्तारियाँ बराबर हो रही थीं।

गाँधी जी ने सरकारी दमन पर वाइसराय लार्ड अर्विन को एक पत्र भी लिखा। लेकिन उसका कुछ परिणाम न निकला। मालूम हो रहा था कि समझौते की बात का अन्त हो गया। इसके बाद गाँधी जी ने मुलाकात करने के लिए लार्ड अर्विन को एक पत्र भेजा फलस्वरूप १७ फरवरी को गाँधी जी ने वाइसराय से मुलाकात की और चार घंटे तक बराबर बातचीत होती रही।

६ मार्च १९३१ को वाइसराय के साथ गांधी जी की फिर मुलाकात हुई। उस समय देशी और विदेशी अनेक पत्रकार वहां पर मौजूद थे। इस मुलाकात में वाइसराय ने बहुत देर तक अनेक प्रकार के प्रश्न किये और गांधी जी ने बड़ी गम्भीरता के साथ उन प्रश्नों के उत्तर दिये। सम्पूर्ण बात चीत मे वातावरण आशापूर्ण रहा। लार्ड अर्विन ने

गाँधी जी की उसी प्रकार प्रशंसा की, जिस प्रकार गाँधी जी ने लार्ड अर्विन की, की थी।

काँग्रेस के साथ समझौता करने के लिए सरकार की ओर से अत्यंत मीठी बातें की गयीं। काँग्रेस ने भी उन पर बराबर विश्वास किया और उसके संबंध मे आवश्यक बातों का निर्णय किया। लेकिन जून के बाद और जूलाई के आरंभ मे ही गाँधी जी को सरकार की नीति पर कुछ अविश्वास होने लगा। कारण यह था कि देश के साथ सरकार के व्यवहारों मे क्रूरता बढ़ती जाती थी। पुलिस के व्यवहारों मे आतंक का प्रदर्शन बदस्तूर जारी था। लोगों पर अब भी बराबर मार पीट हो रही थी। स्थान-स्थान पर किसानों पर जुल्म किये जारहे थे।

देश के इस वातावरण की शिकायतें गाँधी जी ने भारत-सरकार तक पहुँचाईं और साफ कहा कि जो अस्थायी सन्धि की गयी है, यह वातावरण उसका बिलकुल विरोधी है। लेकिन इस पर सरकार की ओर से जो जवाब मिले, वे संतोष जनक न थे। देश की इस परिस्थियों से काँग्रेस और गाँधी जी के सामने एक चिन्ता पैदा हो रही थी। क्योंकि ऐसी बातें भविष्य के लिए शुभ लक्षण न रखती थीं।

गाँधी जी के परिषद मे जाने का प्रश्न

देश की परिस्थितियाँ तो चारों ओर खराब हो रही थीं। लेकिन संयुक्त प्रान्त के किसानों के साथ जो सरकारी व्यवहार किये जा रहे थे, वे तो किसी दशा मे सहन न हो सकते थे। इसलिए चिंतित होकर गाँधी जी ने संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली को एक तार भेजा, लेकिन उसका उत्तर संतोषजनक न था।

इन सब बातों से गाँधी जी के सामने यह प्रश्न पैदा हुआ कि अब उन्हें गोलमेज परिषद में जाने की मन्जूरी देना चाहिए या नहीं! देश की परिस्थिति को वे भारत-सरकार से एक बार समझ लेना चाहते थे, इसलिए गांधी जी ने वाइसराय को नीचे लिखा हुआ तार भेजा—

"अत्यन्त दुख के साथ मैं आपको सूचित कर रहा हूँ कि बम्बई-सरकार का अभी-अभी जो मुझे पत्र मिला है, उसने मेरा लण्डन जाना एक प्रकार असम्भव कर दिया है। उस पत्र में साफ-साफ लिखा है कि सरकार ही प्रत्येक अवस्था में निर्णय करने की अधि-

कारिणी है। जब सरकार ही अभियोग लगाये और सरकार ही उसका निर्णय करे, यह परिस्थिति सामने हो तो काँग्रेस सरकार उसे किसी भी दशा में मन्जूर न करेगी।

बम्बई-सरकार का पत्र, सर मालकम हेली का तार और देश के साथ अत्याचारों पर जब मैं ध्यान देता हूँ तो मैं सोचता हूँ कि कि मुझे लण्डन न जाना चाहिये। मैंने आपसे वादा किया था कि अन्तिम निर्णय के पहले मैं आपको लिखूंगा, इसीलिए यह तार भेज रहा हूँ और आप के उत्तर का इन्तजार करूँगा।"

गाँधी जी को तार देते हुए वाइसराय ने लिखा—"आपने जो कारण बताये है, मुझे खेद है कि मैं उनको उचित मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। मेरा ख्याल है कि सरकार की नीति को ठीक-ठीक न समझने के कारण ही इस प्रकार का सन्देह पैदा हुआ है।

×मैं आपका ध्यान [illegible] ने २१ जूलाई के पत्र की ओर आकर्षित करता हूँ, उसमे मैंने विश्वास दिलाया था कि समझौते के सम्बन्ध में मैं खुद बहुत दिलचस्पी ले रहा हूँ।+मेरा विश्वास था कि आप समझौते के द्वारा भारत की सेवा से वन्चित न होंगे। क्योंकि उस परिषद में एक महत्वपूर्ण निश्चय का पूर्ण आशा है। यदि आपका निश्चय अन्तिम है तो आपके न जाने की सूचना मैं प्रधान मन्त्री को तुरन्त दे दूँगा।"

गाँधीजी ने लण्डन जाने से इनकार करते हुए वाइसराय को लिखा—

"आपके आश्वासन का तार मिला, धन्यवाद, देश की वर्तमान घटनाओं को सामने रखकर मुझे आपके आश्वासन का अर्थ लगाना चाहिए। यदि आप इन घटनाओं को समझौते की शर्तों के बाहर नहीं पाते तो उसका साफ मतलब यह है कि आपके और हमारे समझौते के सिद्धान्तों के दृष्टिकोण में अन्तर है। वर्तमान परिस्थितियों में खेद के साथ मुझे निश्चय करना पड़ता है कि मैं उस परिषद में शामिल होने के लिए न जा सकूंगा। मैंने जाने का प्रयत्न किया लेकिन असफल रहा। आप कृपा करके प्रधान मन्त्री को इस की सूचना दे दें।"

गाँधी जी की यह सूचना पाकर वाइसराय ने प्रधान मन्त्री को लिख दिया कि परिषद में जाने से गांधी जी ने इनकार कर दिया है।

गाँधी जी ने जाना मन्जूर किया

जिस प्रकार के वातावरण में गांधी जी ने परिषद में जाना नामंजूर किया, वह स्पष्ट सामने था। गांधी जी को लक्षण उलटे जाहिर हो रहे थे और वाइसराय ने उत्तर में एक ही प्रलोभन सामने रखते हुए लिखा था कि गोलमेज परिषद में काँग्रेस का शामिल न होना समझौते के उद्देश्य को असफल बनाना है। इसके बाद भी गाँधी जी ने जाने से इनकार कर दिया था।

लेकिन परिस्थितियों मे फिर परिवर्तन हुआ। गांधी जी ने अपने कई मित्रों के साथ वाइसराय से शिमला मे मुलाकात की। वातावरण अनुकूल दिखायी देने लगा। गांधी जी स्पेशल ट्रेन से रवाना किये गये। क्योंकि उनको २९ अगस्त को रवाना होने वाले जहाज पर जाना था।

वाइसराय ने प्रधान मन्त्री को लिखा कि गांधी जी गोलमेज परिषद मे कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करेंगे। गांधी जी २९ अगस्त सन् १९३१ को बम्बई से लण्डन के लिए रवाना हो गये।

लण्डन में गाँधी जी

गांधी जी परिषद में भाग लेने के लिए भारत से रवाना हो गये। वे आशावादी थे। लेकिन जिस आशा को लेकर उनकी रवानगी हुई थी, उसमे सफलता की वे आशा न करते थे।

मार्सेलीज पहुँचने पर श्री रोम्यां रोला की बहन मैडलीन रोलां ने स्वागत सत्कार किया। वे इसके इन्तजार में थीं। रोला बीमार होने के कारण स्वयं न आ सके थे। लण्डन पहुँचने पर ठहरने के लिए गांधी जी को अनेक निमन्त्रण मिले। लेकिन गरीबों की आबादी में मिस म्यूरियल लिस्टर के यहां किंग्सले हाल में गांधी जी ठहरे। उनकी ये सभी बातें उनके सरल और निष्ठावान स्वभाव का परिचय दे रही थीं।

गांधी जी का अनोखा जीवन लण्डन में भी अनोखा ही रहा। उन्होंने वेस्ट एण्ड की अपेक्षा ईस्ट-एण्ड को, ब्रिटिश सरकार के आतिथ्य की अपेक्षा मिस म्यूरियल लिस्टर के आतिथ्य को और सम्पत्तिशालियों के सम्पर्क की अपेक्षा दरिद्रों के सम्पर्क को ही पसन्द किया। उनके पैरों में हिन्दुस्तानी चप्पल थे। सिर नङ्गा था। बदन मे न कमीज थी और न कुरता। एक चादर ओढ़े थे। इसी रूप रेखा में वे उस

मुहाल के बच्चों के मित्र बन गये थे और सुबह होते ही उनके पास आकर वे उनको घेर लेते थे। इसी मामूली पोशाक में गांधी जी ने लण्डन की यात्रा की। इसी पोशाक मे वे लोगों से मिले और उसी पोशाक में उन्होंने सम्राट से भेंट की।

समझौता सम्मेलन

गोलमेज परिषद में भारत से अनेक लोग प्रतिनिधि की हैसियत से गए थे। लेकिन गांधी जी ही ऐसे प्रतिनिधि थे, जो भारतीय स्थिति का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उन्होंने परिषद में कांग्रेस के जन्मदाता मि० ह्यूम के प्रति अपना श्रद्धा अर्पित की। कांग्रेस के जीवन और ब्रिटिश सरकार की हुकूमत पर प्रकाश डाला। कराची के कांग्रेस प्रस्ताव को पढ़ा और उसको स्पष्ट किया। भारत की वर्तमान आवश्यकताओं पर बड़ी गम्भीरता के साथ उन्होंने प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि मैं ब्रिटिश सरकार का राजभक्त था और फिर बताया कि मैं उसका विद्रोही कैसे बन गया। देश और कांग्रेस की एक-एक बात को लेकर गांधी जी ने निर्भीकता पूर्वक परिषद के सामने रखा।

अल्प संख्यकों की मीटिंग मे बोलते हुए गांधी जी ने स्पष्ट रूप से कहा कि भारत की विभिन्न जातियों को पूरी ताकत के साथ अपनी-अपनी मांग पेश करने के लिए तैयार किया गया है। गांधी जी ने कहा कि हमारे सामने यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि भारत में स्वदेशी शासन की व्यवस्था कैसे की जाय। गांधी जी ने कहा—क्या प्रतिनिधियों को ६००० मील की दूरी से इसलिए बुलाया गया है कि वे यहाँ आकर साम्प्रदायिक प्रश्नों को हल करें! हमें लण्डन में इसलिए बुलाया गया है कि भारत का स्वतंत्रता का नकशा तैयार हो चुका है और उस पर पार्लमेण्ट की मन्जूरी लेनी बाकी रह गयी है।

इसी परिपद के कार्य में सर ह्यूबर्ट कार ने अल्प संख्यक जातियों की जो योजना बनायी थी, उस पर बोलते हुए गांधी जी ने कहा—सर ह्यूबर्टकार और उनके मित्रों को उनकी योजना से जो सुख और सन्तोष प्रात हुआ है, उसे मैं छीनना नहीं चहता। लेकिन इतना जरूर कहूँगा कि उनका यह कार्य मुर्दे की चीर-फाड़ के सिवा और कुछ नहीं है। यह तो साफ तौर पर जाहिर हो चुका है कि इस परिषद का कार्य

स्वराज्य-निर्माण के लिए नहीं किया गया। बल्कि नौकरशाही सरकार की सत्ता को स्थायी बनाने के लिए किया गया है। उनको सफलता मिले। लेकिन कांग्रेस इससे बिलकुल अलग रहेगी। अछूत कहे जाने वाले लोगों के सम्बन्ध में मैं एक बात कहकर चुप हो जाऊँगा. अल्प संख्यक जातियों के दावे कुछ भी हों, लेकिन अछूतों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा रहा है, वह तो मेरे शरीर का एक भयानक जखम है। उसका अर्थ यह है कि भारत मे अस्पृश्यता का कलंक, अल्प संख्यक जातियों की तरह सदा रहेगा। मैं नहीं चाहता कि अछूतों का एक टुकड़ा बनाया जाय और उसे अलग किया जाय। सिख, सदा के लिए सिख, मुसलमान सदा के लिए मुसलमान और ईसाई सदा के लिए ईसाई रह सकते हैं। लेकिन क्या अछूत भी सदा अछूत होकर रहेंगे? अस्पृश्यता को जीवित रखने की अपेक्षा मैं अधिक अच्छा समझूँगा कि हिंदू-धर्म ही मिट जाय। जो लोग अछूतों के राजनीतिक अधिकारों की बात करते हैं वे नहीं जानते कि भारत क्या है और हिन्दू-समाज की व्यवस्था कैसे हुई है। इसलिए अगर इसका विरोध करने वालों मे मैं अकेला होऊँगा तो अपने प्राणों की बाजी लगाकर मैं इसका विरोध करूंगा।

समझौता-सम्मेलन मे गांधी जी और इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री में मतभेद यह था कि गांधी जी मुसलमानों और सिखों का पृथक प्रतिनिधित्व स्वीकार करने के लिए तैयार थे; लेकिन प्रधान मन्त्री महोदय, प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व अलग अलग चाहते थे। गाँधी जी को यह स्वीकार न था। इस विषय में प्रधान मन्त्री ने एक प्रश्न किया था :

"आप मे से प्रत्येक कमेटी का एक सदस्य साम्प्रदायिक प्रश्न को हल करने के लिए हमारे पास एक प्रार्थना पत्र देगा और जो निर्णय किया जायगा, उसे सब के सब स्वीकार करेंगे?"

यह प्रश्न प्रधान मन्त्री का था। परिषद के सभी सदस्यों की ओर से यह नहीं कहा गया था। इसलिए वह प्रधान मन्त्री का एक प्रस्ताव मात्र रहा। परिषद के सभी सदस्य एक ही विचार के न थे। कुछ ऐसे भी थे, जो उस नीति का विरोध कर रहे थे। परन्तु अल्प संख्यकों का अस्तित्व ही कितना होता है।

गोलमेज परिषद के खुले अधिवेशन मे गांधी जी ने सब-कुछ कह डाला। उन्होंने बताया कि काँग्रेस ८५ फीसदी भारत की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था थी और अब तो वह सम्पूर्ण देश की राजनीतिक संस्था है। दूसरी संस्थाओं के लोग जो यहाँ पर आये हैं, उनके अपने-अपने गिरोह हैं। किसी गिरोह के साथ काँग्रेस का सम्बन्ध नहीं है। काँग्रेस पूर्ण स्वराज्य चाहती है। उसी के लिए उसने अब तक कष्ट भोगे हैं और आगे भी वह उनके लिए तैयार है। पूर्ण स्वराज्य से कम कोई देन काँग्रेस को संतोष न दे सकेगी।

लण्डन से गाँधी जी की वापसी

१ दिसम्बर १९३१ को लण्डन में परिषद का अन्त हुआ। गांधीजी ने सभापति को धन्यवाद का प्रस्ताव पेश करते हुए कहा—"मनुष्य जीवन का महत्व तो इसमे है कि वह जिन्दगी की आंधियों से टक्कर ले। परिषद समाप्त हो गयी। अब हमे अलग-अलग रास्तों पर जाना होगा। मैं नहीं जानता कि मेरा रास्ता किस तरफ है। लेकिन मुझे उसकी फिक्र नहीं है। अगर मेरा रास्ता आप के बिलकुल उलटे भी गया तो भी आप मेरे धन्यवाद के अधिकारी है।" इन शब्दों के साथ गांधी जी वहां से बिदा हुए।

लण्डन जाने के पहले गाँधी जी ने देश की जो शोचनीय अवस्था छोड़ी थी और जिसके सम्बन्ध मे वाइसराय ने अनेक संतोष की बातें कही थीं, उनमे किसी अच्छाई का परिवर्तन न हुआ। बल्कि बारडोली, संयुक्त प्रान्त और बंगाल की हालत और भी खराब हो गयी। गांधी जी ने इस बात पर विश्वास किया था कि सरकार का दमन बन्द हो जायगा। लेकिन वह विश्वास झूठा निकला। दमन पहले से भी क्रूर बना दिया गया। गांधी जी के लौटने के पहले देश के प्रमुख कार्यकर्त्ता और नेता उठाकर जेलों में बन्द कर दिये गये। देश की इस अवस्था में गाँधी जी लण्डन से लौटकर भारत में आये और २८ दिसम्बर सन् १९३१ को जहाज से बम्बई मे उतरे। अभी तक उनको देश की इस परिस्थिति का कुछ भी पता न था।

सत्रहवाँ परिच्छेद

ब्रिटिश सरकार का विश्वासघात

अत्याचारों की भीषणता

लण्डन में गोलमेज परिषद् का नाटक रचा गया और उसका अन्त भी हो गया। गाँधी जी जैसे गये थे, वैसे ही वे वापस लौट आये। न वे साथ में कुछ लेकर गये थे, और न साथ में कुछ लेकर वे लौटे। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की घोषणा को आजमाने के लिए वे लण्डन गये और अपने तथा देश के तप और त्याग की फिर परीक्षा लेने के लिए वे लौटे। इस आने और जाने का इतना ही रहस्य रहा।

भारत में आकर गांधी जी ने उन सब परिस्थितियों को देखा और समझा जो सरकारी दमन के फलस्वरूप देश में पैदा हुई थीं। संयुक्त प्रान्त के किसानों की दुरवस्था, बंगाल मे किये गये अत्याचार, बारडोली की कहानियाँ और सीमा प्रान्त के दृश्य सभी-कुछ गाँधी जी के सामने आये। कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी तथा नौकरशाही की विध्वंसक नीति ने उनके शांत हृदय को विक्षुब्ध बना दिया।

अत्यंत नम्रता के साथ गाँधी जी ने सारी बातें वाइसराय को लिखी और उनको समझने की उन्होंने कोशिश की।

परन्तु गाँधी जी की उन सभी बातों का उत्तर वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेट्री के द्वारा मिला। लण्डन जाने से पहले वाइसराय का जो रुख था। वह रुख गाँधी जी के वहाँ से लौटने पर न रहा।

गाँधी जी ने जितनी बातें वाइसराय को लिखी थीं, उनके उत्तर देते हुए सारे दोष कांग्रेस के ऊपर लगाये गये। सरकारी अधिकारियों को निर्दोष साबित किया गया और साफ लिखा गया कि अराजकता और अव्यवस्था को बढ़ते देखकर प्रत्येक प्रान्त में ऐसा करने के लिए सरकार को मजबूर होना पड़ा है। गाँधी जी को वाइसराय के इस प्रकार के लेख पर आश्चर्य मालूम हुआ। उन्होंने नम्रता पूर्वक किन्तु

अत्यंत निर्भयता के साथ सारी बातों क। साफ करने और समझने की कोशिश की। लेकिन वाइसराय के लेखों में जान-बूझकर काँग्रेस को दोष लगाये जा रहे थे। वाइसराय का स्पष्ट कहना था कि काँग्रेस देश में अराजकता और अव्यवस्था पैदा करने की कोशिश मे है।

दोनों ओर से कई बार तार आये और गये। लेकिन गाँधी जी ने जो आशा की थी, वह पूरी न हो सकी। इसी बीच मे कांग्रेस की कार्य समिति की बैठक हुई। उसमे गांधी जी की लण्डन-यात्रा, गोलमेज परिषद की कहानी और लौटने पर वाइसराय के साथ लिखा-पढ़ी पर विचार किया गया। अनेक प्रस्ताव पास हुए। देश की उन दिनों में जो नाजुक परिस्थिति हो गयी थी। उस पर वाइसराय से प्रार्थना की गयी कि गम्भीरता पूर्वक वे फिर से विचार करें। साथ ही उसमें यह भी तय हुआ कि यदि भारत-सरकार से संतोष जनक उत्तर न मिलेगा तो सत्याग्रह आरम्भ करने के लिए फिर राष्ट्र से अनुरोध किया जायगा और उस सत्याग्रह में लगान गन्दी भी शामिल होगी।

सरकार के भीषण आक्रमण

४ जनवरी १९३२ को सरकारी आक्रमण एक साथ आरम्भ हो गये। मालूम यह हुआ कि सरकार इसके लिए तैयार बैठी थी, कांग्रेस और उससे सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक संस्था देश में गैर-कानूनी करार दे दी गयी। कांग्रेस-कार्य-कर्त्ताओं की एक ओर से गिरफ्तारियां आरम्भ हो गयीं। स्थान-स्थान पर लाठियों के प्रहार होने लगे। ४ जनवरी को ही गांधी जी और बल्लभ भाई पटेल भी गिरफ्तार कर लिये गये। खान साहब और पण्डित जवाहर लाल नेहरू तो जेल में पहले से ही थे।

देश में चारो ओर हाहाकार मच गया। कार्य कर्ता बराबर क्षेत्र में आ रहे थे और लगातार उनकी गिरफ्तारियां हो रही थीं। सरकार के इस कठोर दमन के बावजूद भी देश में सत्याग्रह की धूम मच गयी। स्थान-स्थान पर हजारों सत्याग्रही काम करने लगे और उनके कैद हो जाने पर दूसरे लोग उनके स्थानों की पूर्त्ति करने लगे। सन् १९२१ में सत्याग्रहियों की संख्या जेलों में ३० हजार पहुँची थी। १९३० और ३१ में दस महीने के भीतर ही ९० हजार सत्याग्रही

जेलों में पहुँच गये थे। उनके अलावा कितने लोग मारे गये और कितने लाठियों से जख्मी हुए, उनकी कोई संख्या न थी। जेलों में राजनीतिक कैदियों पर मार-पीट होने लगी।

इतना सब होने पर भी देश ने पीठ न दिखायी। जितना ही दमन बढ़ता जाता था, सरकार के विरुद्ध उतना ही विद्रोह देश में होता जाता था।

ब्रिटिश सरकार के दमन का भारत मे जो जवाब दिया गया, सरकार को उसका अनुमान न था। नौकरशाही का ख्याल था कि नेताओं और कर्यकर्ताओं के कैद हो जाने पर सारे खुराफात ठंडे हो जांयगे। लार्ड विलिंगडन ने तो ६ सप्ताह में भारत के विद्रोह को ठीक कर देने का गर्व किया था। उन्हें गांधी जी के द्वारा पैदा की हुई कुर्बानी की, देश की ताकत का पता न था। देश के सर्वसाधारण में जो वहिष्कार का भयंकर तूफान उठा, उसने नौकरशाही और ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों को एक बार चकित कर दिया।

गाँधी जी का अनशन और रिहाई

लण्डन में गोलमेज-परिषद के अवसर पर दिये गये भाषणों में गाँधी जी ने अनेक बातें महत्वपूर्ण कही थीं, लेकिन उनमें सब से अधिक प्रभावशाली और हृदय विदारक उनकी विवेचना थी अछूतों की समस्या पर। परिषद में दलित जातियों के पृथक निर्वाचन की आवाज सुनते ही गाँधी जी के हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे। उन्होंने अपनी पीड़ा को सम्हाल कर और गम्भीरता पूर्वक सब्र से काम लेकर कहा था कि दलितों का पृथक निर्वाचन मेरे जीवन का एक ऐसा जख्म है, जिसका बिरोध करने के लिए मैं प्राणों के साथ बाजी लगाऊँगा।

गोलमेज-परिषद के अन्त होने पर ब्रिटिश-सरकार ने भारत के व्यापक सत्याग्रह को असफल बनाने के लिए लोथियन-कमेटी का निर्माण किया और वह कमेटी भारत के लिए इसलिए रवाना हुई कि वह यहाँ पर साम्प्रदायिकता और जातीयता को उभारने का काम करे। जातिगत और सम्प्रदायगत निर्वाचन का कार्य उस लोथियन-कमेटी का भारत में कार्यक्रम था, जिसमे अछूतों को पृथक-निर्वाचन का अधिकार देकर सदा के लिए उनको हिन्दुओं से अलग करना था।

लोथियन-कमेटी ने यहाँ आकर अपना काम आरम्भ कर दिया। गाँधी जी के प्राण विक्षुब्ध-हो उठे। अछूतों का पृथक निर्वाचन रोकने के लिए उनको कोई उपाय न सूझा तो जेल के भीतर से ही उन्होंने प्रधान-मन्त्री सर सेम्युअल होर को एक पत्र ११ मार्च को भेजा। उसमें उन्होंने लिखा कि अगर सरकार ने अछूतों का पृथक निर्वाचन कायम रखा तो मैं आमरण अनशन करूँगा और मेरा यह अनशन २० सितम्बर १९३२ के तीसरे पहर से आरम्भ होगा।

गांधी जी के इस पत्र पर ब्रिटिश-प्रधान मन्त्री ने अपनी कूटनीति का परिचय दिया और इस बात का प्रचार किया कि गांधी जी अछूतों के शत्रु हैं। वे नहीं चाहते कि भारत के अछूत राजनीतिक अधिकारों को पा सकें। गांधी जी के उस पत्र का कोई परिणाम न निकला। अपनी प्रतिज्ञानुसार निश्चित समय पर गांधी जी ने अपना अनशन आरम्भ कर दिया। इससे सारा देश घबरा उठा। संसार के अनेक स्थानों में क्षोभ और चिन्ता के भाव पैदा हो गये।

देश के बिभिन्न दलों के नेताओं के सामने यह प्रश्न था कि गांधी जी के प्राणों की रक्षा होनी चाहिए और उन सभी लोगों ने तय किया कि उसका एक मार्ग है और वह यह कि हम लोगों का एक आपसी निर्णय किया जाय। सबसे पहले अछूतों के नेता राय बहादुर एम० सी० राजा ने आगे कदम बढ़ाया और पूरी शक्ति के साथ उन्हों ने अछूतों के पृथक-निर्वाचन की जोरदार निंदा की। सर सप्रू ने अपने मित्रों की सहायता को लेकर गांधी जी के छुटकारे का प्रयत्न किया। कांग्रेस के आदमियों ने देश-भर में दौरा करके अछूतों के पृथक निर्वाचन में एक मत होकर उसका विरोध किया। इंगलैण्ड में दीनबन्धु एण्डरूज, मि० पोलक और मि० लेन्सबरी ने परिस्थिति की गम्भीरता की ओर अंगरेजों का ध्यान आकर्षित किया। इंगलैण्ड में एक अपील अंगरेजों से की गयी। सम्पूर्ण भारत में गाँधी जी के प्राणों की रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थनायें की गयीं।

देश के विभिन्न दलों के नेताओं की परिषद पूना में हुई। एकत्रित महानुभावों ने एक मत होकर अस्पृश्यता को मिटाने की प्रतिज्ञा की और अछूतों के पृथक निर्वाचन के विरोध मे निर्णय किया। अछूत दल के नेताओं ने भी इसमें साथ दिया। अछूतों के नेताओं के लिए

सन्तोष की बात यह थी कि प्रधान मन्त्री के द्वारा जितनी सीटें चुनाव में मिल रही थीं, आपसी निर्णय में उनसे दूनी अछूतों को दी गयी। पूना के इस समझौते के अनुसार सरकार ने मन्जूरी दे दी और अछूतों के पृथक-निर्वाचन का प्रश्न समाप्त हो गया।

सत्य की खोज और सत्याग्रह

अछूतों का पृथक निर्वाचन खतम हुआ। ६ तारीख की शाम को सवा पांच बजे गांधी जी ने अनशन तोड़ा। उनके प्राण बचे और देश से लेकर बाहर तक, सभी को संतोष मिला।

८ मई १९३३ को गांधी जी कैद से छोड़ दिये गये। छुटकारा पाते ही उन्होंने ६ सप्ताह के लिए सत्याग्रह स्थगित करने की सिफारिश की। १९ मई को कांग्रेस की ओर से गांधी जी की सिफारिश के अनुसार, ६ सप्ताह के लिए सत्याग्रह स्थगित करने की घोषणा की गयी।

५ अप्रैल १९३४ को गांधी जी ने अपना एक विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित किया। उसमे उन्होंने सत्याग्रह सम्बन्धी अनेक बातों पर प्रकाश डाला। वक्तव्य के एक स्थान पर उन्होंने लिखा :

"अपने मित्रों से बातें करने के बाद मैंने अनेक परिस्थितियों पर गम्भीरतपूर्वक विचार किया और अन्त में मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह करने में मुझे काँग्रेस के आदमियों को रोकना चाहिए। किसी खास शिकायत के लिए सत्याग्रह करना और बात है। जैसा आज सत्याग्रह चल रहा है, उसे मुझे अपने ऊपर ले लेना चाहिये। इसके लिए किसी भी आदमी को आगे न बढ़ना चाहिये जब तक वह इसकी सभी बातों का पूरा ज्ञान न रखता हो।"

काँग्रेस-कार्य-समिति की बैठक मई मे पटना में हुई। काँग्रेस के सत्याग्रह बन्द करने के निश्चय पर कार्य समिति की बैठक में सत्याग्रह बन्द करने की आज्ञा प्रकाशित की गयी। पटना के निर्णय के बाद काँग्रेस का कार्य क्षेत्र बदल गया, सत्याग्रह बन्द हो गया और कौंसिलों मे जाने का कार्यक्रम आरम्भ हो गया।

———

अठारहवाँ परिच्छेद

संघर्ष के कुछ वर्ष

दमन की तेजी

गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने देश की स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ जो युद्ध चालू किया था, उसमें भारतीय जनों के पास शान्ति और अहिंसा अस्त्रों के रूप में थी। कांग्रेस ने सत्याग्रह के द्वारा सरकार को पराजित करने की चेष्टा की थी और सरकार ने कूट-नीति और दमन से कांग्रेस को असफल बनाने के लिए अपनी कोई शक्ति उठा न रखी थी। यह संघर्ष अरसे तक चला, जिसका विवेचन पिछले परिच्छेदों में किया जा चुका है।

इन दिनों देश की राजनीतिक अवस्था बड़ी संकट पूर्ण हो रही थी। देश के अन्तर्गत हिन्दू मुस्लिम मनोवृत्तियां दिन पर दिन दूषित हो रही थीं। ब्रिटिश सरकार का दमन जोर से चल रहा था। स्व-तन्त्रता के प्रेमी बलिदान होने के लिए तैयार थे। इस प्रकार हमारे भीतरी जीवन में कितने ही संघर्ष चल रहे थे।

योरप का राजनीतिक वातावरण भी बहुत पहले से तेजी के साथ अशान्ति की ओर जा रहा था। शक्तिशाली राष्ट्र, निर्बल राष्ट्रों को निगल जाना चाहते थे। वहां की इन परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप इटली ने अबीसीनिया पर सन् १९३५ में आक्रमण कर दिया था। जिसके कारण वहां का वातावरण अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठा था। प्रत्येक देश योरप में अपनी सामरिक तैयारियों में लगा हुआ था। वहाँ की इस दूषित परिस्थिति से प्रेरित होकर ब्रिटिश सरकार ने भारत पर जो प्रकोप जाहिर किया था, उसके फलस्वरूप इस देश की नागरिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी थी। एक बड़ी संख्या में लोग जेलों में बन्द थे। गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार से देश में क्रिमिनल

ला एमेण्डमेंट चल रहा था। जिन राष्ट्रीय अखबारों से जमानतें मांगी गयी थीं, उनकी संख्या लगभग पांच सौ के थी। उसके कारण करीब साढ़े तीन सौ अखबार बन्द हो गये थे।

सरकार ने कांग्रेस को असफल बनाने के लिए, इन दिनों में भयानक अत्याचार कर रखा था। लेकिन देश की स्वतन्त्रता की प्यास कम न हो रही थी। रूस ने गुलामी की जञ्जीरों को तोड़कर जो अद्भुत उन्नति की थी देश की आंखें बार बार उसी तरफ जाती थीं। वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक अवस्था इस देश को बार-बार आकर्षित करती थी। जिन दिनों में ब्रिटिश सरकार भारत को विध्वंस करने में लगी थी, उन दिनों में भी रूस और यूक्रेन से प्रेरणा लेकर भारतीय जन अपने देश का सार्वजनिक जीवन निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे थे।

योरप में महायुद्ध के जो बादल मँडरा रहे थे, वे इन दिनों योरोपियन राष्ट्रों के बहुत करीब आ गये थे और ऐसा मालूम हो रहा था कि वहां पर किसी भी दिन युद्ध की आग भड़क सकती है इसलिए फैजपुर कांग्रेस ने यह निर्णय किया था कि अगर योरप में लड़ाई आरम्भ हो और उसमें ब्रिटिश सरकार भारत से धन और जन ले जाने का प्रयत्न करे तो उसको रोकना चाहिये। उस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि होने वाले युद्ध में न कोई चन्दा दे, न कर्ज दे और न किसी प्रकार की कोई दूसरी सहायता दी जाय।

कौंसिलों में पद-ग्रहण

कौंसिलों के चुनाव में भाग लेने का इरादा कांग्रेस का था ही, चुनावों में विजय पाने की पूरी आशा काँग्रेस को थी और उसके बाद कौंसिलों में मन्त्री के पदों का प्रश्न था। चुनाव समाप्त हो जाने पर प्रान्तीय गवर्नरों ने अपनी-अपनी धारा सभा के कांग्रेसी नेताओं को इसलिए आमन्त्रित किया कि वे अपने-अपने मन्त्रि-मण्डल बनावें। इसमें कांग्रेस को कोई एतराज न था। लेकिन गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकार के कारण धारा सभाओं में कांग्रस के मन्त्री कुछ काम कर सकेंगे, इसमें पूरा सन्देह था। इसलिए कांग्रेस की ओर से इस बात की माँग पेश की गयी कि कौंसिलों के निर्णय को रद करने

के लिए गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार का प्रयोग न करेगा, इसका आश्वाशन मिलना चाहिए।

कांग्रेस और सरकार के बीच इस प्रश्न को लेकर बहुत-कुछ कशमकश रही। जिस प्रकार का आश्वासन कांग्रेस चाहती थी, सरकार किसी प्रकार उसके लिए तैयार न थी। बार-बार दोनों ओर से परिस्थितियों को साफ करने की चेष्टा की गयी। लेकिन बिना आश्वासन के काँग्रेस आगे कदम उठाना नही चाहती थी। और सरकार किसी भी अवस्था में आश्वासन देने के लिए तैयार न थी।

यह संघर्ष बराबर चलता रहा। ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि काँग्रेसी नेता धारा सभाओं में मन्त्रि-मण्डल बनावें और इन दिनों मे कांग्रेस का झुकाव भी इस ओर था। लेकिन आश्वासन की एक बाधा पड़ रही थी। कौंसिलों के इस प्रलोभन को कांग्रेस ने इस आधार पर स्वीकार किया था कि महासमिति ने चुनाव-सम्बन्धी जो घोषणा-पत्र प्रकाशित किया है, उसी के अनुसार कौंसिलों मे जाने वाले कांग्रेस के कार्यकर्त्ता और नेता धारा सभाओं मे काम करेंगे। उस घोषणा-पत्र मे दो बातें प्रमुख थीं, एक तो सरकारी विधान के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति और दूसरी कांग्रेस रचनात्मक कार्यक्रम की प्रतिष्ठा।

सरकार की ओर से कोई आश्वासन ऐसा दिया तो नहीं गया। जिससे काँग्रेस को सन्तोष होता, लेकिन उसकी पूर्ति में गवर्नर जनरल की ओर से भाषण में बहुत-सी ऐसी बातें कही गयीं, जिनको सुनकर काँग्रेस को सन्तोष करना पड़ा। हुआ यह कि पद-ग्रहण स्वीकार किया गया और इस प्रकार का निर्णय कांग्रेस की कार्यकारिणी कमेटी ने किया। उसके बाद काँग्रेसी नेताओं ने धारा सभाओं में मन्त्रि-मण्डल बनाये और फलस्वरूप देश के ग्यारह प्रान्तों में से आठ प्रान्तों में नेताओं को सफलता मिली।

राजनीतिक कैदियों की रिहाई

कौंसिलों के चुनावों के सम्बन्ध में कांग्रेस ने जो घोषणा-पत्र तैयार किया था, उसमें दूसरी बातो के सिवा इसका भी उल्लेख किया गया था कि धारा सभाओं में कांग्रेस के नेता जाकर उन राज-

नीतिक कैदियों को मुक्त करें, जिनको सरकार ने अपने दमन के द्वारा जेलों में बन्द कर रखा है।

गवर्नरों ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को धारा सभाओं में मन्त्रि मण्डल बनाने के लिए जब आमन्त्रित किया था, उस समय उनको मालूम था कि कांग्रेस के घोषणा-पत्र मे राजनीतिक बन्दियों को रिहाई देने का कार्यक्रम है। सरकार घोषणा-पत्र की इन बातों से अपरिचित न थी। फिर भी उसने आमन्त्रित किया था और कांग्रेस ने उस निमन्त्रण को स्वीकार किया था। दोनों ही समझ बूझ कर आगे बढ़े थे।

काँग्रेस के प्रतिनिधि धारा सभाओं में पहुँचे। उन्होंने अपने मन्त्रि मण्डल बनाये और अपने घोषणा-पत्र के अनुसार उन्होंने राजनीतिक बन्दियों को छोड़ना आरम्भ किया। गवर्नरों ने काँग्रेसी मन्त्रियों के इस निर्णय का कोई विरोध तो न किया। लेकिन कैदियों को छोड़ने मे टाल मटूल होने लगी। छोड़ने की आज्ञा देना मन्त्रियों के अधिकार मे था। लेकिन जिनको छोड़ना था, वे गवर्नरों के हाथ मे थे। फैजपुर की कांग्रेस मे इस बात का निर्णय हो चुका था कि राजनीतिक बन्दियों को छोड़ने की आज्ञा देने पर यदि गवर्नर हस्तक्षेप करें तो कांग्रेसी मन्त्री धारा सभाओं से इस्तीफा दे दें।

प्रान्तीय गवर्नरो और धारा सभाओं के कांग्रेसी मन्त्रियों के बीच कुछ दिनों तक काम चलता रहा। इन दिनों में कांग्रेस के जो अधिवेशन हुए, उनमें कांग्रेस ने कोई नया कदम नहीं उठाया। राजनीतिक कैदियों की रिहाई के प्रश्न को लेकर कोई बड़ा संघर्ष नहीं हुआ। उन दिनों में धारा सभाओं के कार्यक्रम को छोड़कर कांग्रेस के सामने देश की गुलामी को मिटाने के लिए कोई ठोस कार्यक्रम न था। दबी हुई परिस्थितियों के भीतर अंगरेजी सरकार के साथ देश का संघर्ष चलता रहा।

धीरे-धीरे सन् १९३९ का वह समय आ गया, जब ब्रिटिश सरकार को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। कांग्रेस ने पहले ही देश के निवासियों से अपील की थी कि गुलाम देश की हैसियत से भारत अंगरेजी सरकार को युद्ध में सहायता न कर

सकेगा। १ सितम्बर १९३९ को युद्ध की घोषणा हुई। योरप के दूसरे महायुद्ध में इङ्गलैण्ड को भी शामिल होना पड़ा।

युद्ध के आरम्भ होते ही भारत से धन और जन की सहायता लेने का कार्य आरम्भ हुआ। इसी बीच में १४ सितम्बर १९३९ को युद्ध से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति पर विचार करने के लिए काँग्रेस कार्य-समिति का बैठक हुई। उसमें निर्णय किया गया कि यदि सरकार युद्ध में भारत से सहायता लेना चाहती है तो उसे भारत के भविष्य के सम्बन्ध मे स्थिति को साफ करना चाहिये और जो निर्णय किया जाय, उसका अमली रूप भी शुरू होना चाहिए।

कांग्रेस कमेटी ने उसी बैठक मे जोरदार शब्दों में इस बात की घोषणा की कि जब तक परिस्थिति स्पष्ट न की जायगी, तब तक देश सरकार के साथ सहयोग न करेगा। कांग्रेस के इस अनुरोध के बाद भी सरकार की ओर से स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं किया गया।

जिस युद्ध में इङ्गलैण्ड को कूदना पड़ा, उसमे कांग्रेस और गाँधी जी की सहानुभूति ब्रिटिश सरकार के साथ थी। लेकिन प्रश्न था, भारत के आत्म-निर्णय का। काँग्रेस और गांधी जी की राय मे इस समय भारत की परतन्त्रता का निर्णय हो जाना जरूरी था। गांधी जी ने इस बीच में वाइसराय से कई बार मुलाकात की और उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बताया कि देश अब अरसे तक गुलाम न रह सकेगा। परन्तु इस प्रकार के प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकला।

बार-बार असफल होने पर काँग्रेस-कार्य-समिति की बैठक में निर्णय किया गया कि यदि धारा सभाओं के निर्णय के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार भारतीय शक्ति का युद्ध में उपयोग करे तो कांग्रेस के प्रतिनिधियों को इस्तीफे देकर धारा सभाये छोड़ देना चाहिए। यह भी कहा गया कि ये इस्तीफे ३१ अक्टूबर १९३९ तक दे दिये जायँ।

काँग्रेस कार्य-समिति के निर्णय करते ही धारा सभाओं में सनसनी पैदा हुई और आठ प्रान्तों के कांग्रेसी मन्त्रि मण्डलों ने एक साथ इस्तीफे दे दिये। धारा सभाओं में कांग्रेसी प्रतिनिधियों के पहुँचने से जो जीवन उत्पन्न हुआ था, वह एक साथ समाप्त हो गया।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

स्वाधीनता का सीधा मोर्चा

देश फिर सत्याग्रह की ओर

बहुत दिनों के प्रयत्नों के बाद काँग्रेस और ब्रिटिश-सरकार के बीच जिस रूप में सहयोग की प्रतिष्ठा हुई थी, वह थी धारा सभाओं मे राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के द्वारा पदों की स्वीकृति। सन् १९३९ के सितम्बर में योरप के द्वितीय महायुद्ध के जोर पकड़ते ही काँग्रेस ने भारत के आत्म निर्णय का प्रश्न उठाया उस समय उसके पास एक ही अस्त्र था और वह यह कि यदि सरकार इसके लिए उदारता का कदम नहीं उठाती तो भारत युद्ध में कोई सहायता न करेगा। संसार का कोई भी न्यायप्रिय किन्तु निष्पक्ष आदमी भारतीय काँग्रेस की मांग का समर्थन करेगा।

ब्रिटिश सरकार टस-से-मस न हुई। ब्रिटिश पार्लामेण्ट से लेकर भारत के वाइसराय तक, वही राग अलापे गये, जिनको भारतीय जनो ने सन् १८५७ के बाद सैकड़ों बार सुना था। इसीलिए भारत के वाइसराय अथवा किसी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ के मनमोहक भाषण का सही अर्थ समझने मे अब उन्हें देर न लगती।

काँग्रेस और गाँधी जी की अनेक कोशिशों के बाद नौकरशाही सरकार की ओर से जो कुछ कहा गया, उसका कोई प्रभाव भारतीय नेताओं पर नहीं पड़ा। वे स्थिति का स्पष्टी करण चाहते थे और चाहते थे कि भारत के भविष्य का निर्णय किया जाय लेकिन उसको अमल में लाना अभी से आरम्भ किया जाय। कांग्रेस के इस रुख को देखकर और समझकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को इस बात का विश्वास हो गया कि आज का भारत सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ का भारत नहीं है, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी इंगलैण्ड छोड़कर हिन्दुस्तान

में आयी थी और व्यवसाय करने के नाम पर अपना खूनी पंजा उसने उस पर मारा था।

धारा सभाओं के पहले और पीछे

सन् १९३६ के बाद धारा सभाओं में कांग्रेसी प्रतिनिधियों के पहुँचने के पहले और इस्तीफे देकर वहां से चले आने के बाद की जो अवस्थायें थीं, उन पर संक्षेप में यहाँ पर दृष्टिपात करना आवश्यक मालूम होता है। देश के सत्याग्रही, निरन्तर युद्ध चलने के कारण, एक लम्बी थकान को अनुभव करते थे। इसीलिए सन् १९३५ में होने वाली काँग्रेस की स्वर्ण जयन्ती के पहले ही देश के सामने सत्याग्रह का वास्तव में युद्ध न रहा था। सैनिकों की अपेक्षा, सत्याग्रह के अधिकारी अधिक थकान को अनुभव करते थे। यह थकान कई अर्थों में थी। सत्याग्रही के नाते उनको जीवन की जो यातनाएँ सहनी पड़ी थीं और जीवनोत्सर्ग के क्षेत्र में जिस प्रकार वे आगे बढ़े थे, उसके द्वारा उनकी थकान उतनी नहीं उत्पन्न हुई थी, जितनी कि कूटनीतिज्ञ ब्रिटेन के कलुषित कारनामों के द्वारा उत्पन्न की हुई हिन्दू-मुस्लिम शत्रुता का सामना करने से पैदा हुई थी।

देश की इसी अवस्था में सत्याग्रह स्थगित था। लेकिन कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार—दोनों ओर से पूरी सावधानी काम में लायी जा रही थी। पराधीनता में जितने ही दिन बीत रहे थे, भारत के निवासी उतना ही उससे ऊब रहे थे और किसी प्रकार गुलामी की जंजीरों को तोड़कर वे स्वतन्त्र होना चाहते थे। इन्हीं दिनों में ब्रिटिश-शासकों की उदारता का दरवाजा खुला और काँग्रेस के नेताओं को धारा सभाओं में आमन्त्रित किया गया। कांग्रेस ने पचास वर्षों में स्वाधीनता के लिए जो प्रयत्न किया था, उसमें यह पहला मौका था जब सरकार और काँग्रेस के बीच सहयोग की स्थापना को महत्व मिला। लेकिन दोनों के मतभेद दूर न हुए थे। भारत स्वतन्त्रता चाहता था और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ बातों में रखना चाहते थे, परिणाम यह हुआ कि सहयोग का वह छोटा सा पौदा थोड़े ही दिनों के बाद सूख गया।

लेकिन धारा सभाओं में पहुँचने का परिणाम अच्छा ही निकला।

उत्पन्न होने वाली थकान मिट चुकी थी। धारा सभाओं में कुछ महीने रहकर ब्रिटिश सरकार की नैतिक शक्तियों का बहुत कुछ अन्दाज भी देश के नेताओं को लग चुका था। हुआ यह कि इस्तीफे देकर धारा सभाओं के बाहर निकलते ही कांग्रेस ने फिर एक बार सत्याग्रह की शंखध्वनि की।

पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा

सन् १९४० में काँग्रेस ने स्वाधीनता की ओर आगे अपने कदम बढ़ाये और घोषणा की कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत औपनिवेशिक अथवा इस प्रकार के कोई दूसरे अधिकार भारत को स्वीकार न होंगे देश के सामने एक मात्र आत्म निर्णय का ही प्रश्न है। उसके द्वारा ही देश की परतन्त्रता मिटेगी, साम्प्रदायिकता का विष समाप्त होगा और देश सुखी हो सकेगा।

ब्रिटिश-सरकार ने भारत के सम्बन्ध में जो रास्ता इख्तियार कर रखा था, उसका चित्र खींचते हुए, रामगढ़ अधिवेशन के मनोनीत सभापति मौलाना आजाद ने अपने भाषण के सिलसिले मे कहा—

××चार साल बीत गये, संसार प्रजातन्त्र और स्वाधीनता की आवाजों से गूंज रहा है। इङ्गलैण्ड और योरप के दूसरे राष्ट्रीय नेताओं ने इस विषय मे जो कुछ कहा है, वह हमे खूब याद है, लेकिन भारतीय आत्म निर्णय के प्रश्न के उठते ही उन आवाजों की असलियत छिप न सकी। अब तो हमसे स्पष्ट कहा जाता है कि यह लड़ाई राष्ट्रों की आजादी को सुरक्षित रखने के लिए लड़ी जा रही है। लेकिन उस उद्देश्य का सम्बन्ध योरप की भौगोलिक सीमाओं तक ही है। इसका मतलब यह कि एशिया और अफ्रीका के निवासियों को उससे कोई आशा न रखनी चाहिये।

मौलाना आजाद ने अपने भाषण मे आगे कहा—हमारा रास्ता बिलकुल साफ है। हम ब्रिटिश-साम्राज्य को मजबूत और ताकतदार देखने के लिए तैयार नहीं है। अगर हम ऐसा करते हैं तो इसके यह माने है कि हम अपनी गुलामी की सीमा को बढ़ा रहे हैं।×सन् १९३७ मे हमने जो अस्थायी और आँशिक सहयोग के लिये अपना हाथ बढ़ाया था, उसे हमने युद्ध की घोषणा होते ही खींच लिया।

ऐसा करके हमने साफ कर दिया कि हमारा सहयोग ब्रिटिश सरकार के साथ नहीं है।

व्यक्तिगत सत्याग्रह का निर्णय

लोग आन्दोलन चाहते थे और सत्याग्रह के लिए तैयार थे। बहुत-कुछ कहने-सुनने के बाद गांधी जी ने बहुमत का आदर किया और सत्याग्रह स्वीकार किया। लेकिन सामुहिक सत्याग्रह नहीं, व्यक्तिगत सत्याग्रह।

कांग्रेस के किसी प्रस्ताव का उतना महत्व न था, जितना गाँधी जी के मुँह से कुछ निकल जाने पर उसका महत्व देश के राजनीतिक वातावरण में होता था। इसी आधार पर लोगों को रामगढ़—अधिवेशन में उस समय कुछ सन्तोष मिला, जब गाँधी जी ने अपने भाषण में सत्याग्रह मन्जूर किया और उसके सम्बन्ध में इजाजत देते हुए उन्होंने अपने भाषण में कहा—

×इस अधिवेशन के बाद सामुहिक सत्याग्रह के स्थान पर, व्यक्तिगत सत्याग्रह का मार्ग खुल रहा है।×अब उसकी हिदायतों की बातों को सुनिए। प्रत्येक काँग्रेस-कमेटी की सत्याग्रह कमेटी बन जाना चाहिए और अपने-अपने इलाकों मे उनको सत्याग्रहियों की फेहरिस्त तैयार करना चाहिए। व्यक्तिगत सत्याग्रही भी वही हो सकते हैं, जो अपना पूरा विश्वास कांग्रेस के रचनात्मक कायक्रम पर रखते हों और सत्य एवम् अहिंसा का पालन करते हों।×इस प्रकार देश-भर में जो सत्याग्रह-कमेटियां बनेंगी, उनकी व्यवस्था रखने में अखिल भारतीय महासमिति पूरी सावधानी से काम लेगी।×मैं यह आशा करता हूँ, कि महासमिति इस प्रकार सत्याग्रह-समितियों का जो संगठन करेगी, उसकी समय-समय पर रिपोर्ट मेरे पास पहुँचती रहेगी। ×अगर यह कार्य सन्तोषजनक रूप मे आगे बढ़ा तो भविष्य का कार्यक्रम बनाने मे हमको बड़ी सहायता मिलेगी।

अंगरेजी-राजनीति

अंगरेजों की राजनीति और पालिसी का समझना कितना कठिन है, इसका अन्दाज बहुत-कुछ उन्हें हो सकता है, जिन्होंने धैर्य पूर्वक

भारतीय कांग्रेस का इतिहास पढ़ा है और उनकी बदलती हुई चालों को समझने की कोशिश की है। उनकी बदलने वाली चालें कहां किस ओर जायँगी, इसका भी कोई अन्दाज नहीं हो सकता।

देश की इस भयानक परिस्थिति का अंगरेजी सरकार ने अध्ययन किया। लार्ड जेटलैण्ड अपना स्थान छोड़कर विश्राम लेने जा रहे थे। अपनी रवानगी के पूर्व उन्होंने रङ्ग बदला और कहना आरंभ किया—

"हम भारत पर जबरदस्ती कोई भार लादना नहीं चाहते। हमारा यह उद्देश्य कभी नहीं रहा। समझौते के द्वारा ही हम आगे बढ़ना चाहते हैं। भारत के लिए किस प्रकार का विधान उपयुक्त होगा, इसे भारत ही समझ सकता है। इसलिए स्वयं उसे ऐसा कोई विधान तैयार करना चाहिए।"

"×दो सौ वर्षों से भारत के साथ ब्रिटिश-सरकार का जो सम्बन्ध रहा है, उसे एक कायदे से ही छोड़ना होगा। उस नाते को नहीं तोड़ा जा सकता। भारत की कितनी जिम्मेदारियाँ ब्रिटिश-सरकार के ऊपर हैं, इसे हमारी सरकार खूब समझती है और उसको अन्जाम देना चाहती है।"

"देशी राजाओं का प्रश्न हमारे सामने है। उनकी रक्षा का भी प्रश्न है। अल्प संख्यकों की भी एक समस्या है। आठ करोड़ मुसलमानों की जिम्मेदारी भी हमारी सरकार के ऊपर है।

×इन सब बातों के साथ-साथ भारत में ब्रिटिश-सरकार का अपना हित भी है। यही सब प्रश्न हैं, जिनको सुलझाने की जरूरत है। ×इतना सब होने पर भी अगर काँग्रेस ने सत्याग्रह आरम्भ किया तो सरकार को मजबूर होकर उसका सामना करना पड़ेगा।"

देश में एक ओर से सत्याग्रह की तैयारियाँ हो रही थीं और दूसरी ओर से सरकार भयानक दमन पर विश्वास किये बैठी थी। दोनों ओर की यह भीतरी अवस्था थी। लेकिन बाहरी अवस्थायें भी दोनों पक्षों की अलग-अलग थीं। गांधी जी शन्ति पूर्ण समझौते का सदा रास्ता देखते थे और ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ अपने सुनहले वक्तव्यों को जाहिर करके अपनी नेकनीयती का परिचय देने में लगे थे। दोनों के सामने अलग-अलग मार्ग थे। दोनों ही अपने-अपने मार्गों में प्रवीण थे।

२४ मई, १९४० को इङ्गलैण्ड में साम्राज्य दिवस मनाया गया, उसमें इङ्गलैण्ड के सम्राट ने जो अपना भाषण ब्राडकास्ट किया, उसमें भारतीय स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया था। उसको सुनकर भारतीय नेताओं को अपनी रही-सही आशाओं से भी हाथ धोना पड़ा। श्री एमरी के भाषण से पहले ही निराशा हो चुकी थी। लेकिन इसी बीच में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने जो भाषण दिया था, उसमें भारत के प्रति सहानुभूति की एक हलकी सी किरण मालूम पड़ती थी। इस प्रकार दोनों ओर से देश की अवस्था डावाँडोल हो रही थी।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स का सुझाव

पहले यह बताया जा चुका है कि भारत की राजनीतिक परिस्थितियों मे तूफान आ रहा था और उसका सब से अधिक अध्ययन रामगढ़ अधिवेशन के दिनों में हुआ। ब्रिटिश-शासकों की ओर से गढ़े हुए कितने ही वक्तव्य समय-समय और स्थान-स्थान पर दिये गये, लेकिन उनमे भारत के लिए निराशा के सिवा और कुछ न था। एक सर स्टैफर्ड क्रिप्स का भाषण ही ऐसा सामने आया जो कुछ संतोष और सुधार की ओर प्रकाश डालता था। उनके सम्बन्ध मे ऊपर संकेत किया गया है। लेकिन उनके भाषण के कुछ अंशों को यहाँ देना आवश्यक मालूम होता है। सन् १९३९ की सर्दियों मे सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत से लौटकर इङ्गलैण्ड गये थे और कामन-सभा में उन्होंने भाषण दिया था। वहाँ पर उन्होंने भारत का जिक्र करते हुए कहा—

"×मेरे विचार से भारतीय काँग्रेस ने जो वक्तव्य दिये हैं, वे उचित और सामयिक मालूम होते हैं। काँग्रेस के नेताओं ने उसी दृष्टिकोण से काम लिया है, जिस पर उनका विश्वास है। ×वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के दिनों में जो परिस्थिति उत्पन्न हुई और जो साधन हमारे सामने उसकी रक्षा के लिए हैं, उनमें भारतीय समस्या इङ्गलैण्ड के लिए एक कसौटी के रूप में हैं।

"सभा में कहा गया है कि भारतीय साम्प्रदायिकता के कारण उसका कोई संतोष जनक हल निकालना कठिन हो गया है। लेकिन यही बात पोलेण्ड के सम्बन्ध में कही जा सकती थी, जहां पर रूसी, यहूदी, जर्मन और पोल रहते हैं और यही बात चेकोस्लोवाकिया

के लिए भी कही जा सकती थी, जहाँ सुडेटन, चेक और स्लोवाक रहते हैं। लेकिन मेरी समझ में यह बात नहीं आती। अल्पसंख्यकों की रक्षा के नाम पर बहुसंख्यक जाति को उसके उचित अधिकारों से वन्चित कैसे किया जा सकता है।×इसे न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता कि हम अल्प संख्यकों की रक्षा का दावा करते हैं। अगर हम ऐसा करते हैं तो बहुमत को अल्पमत में बदलने का हम काम करते हैं।"

"अगर आप प्रजातन्त्रवाद के समर्थक हैं तो अल्पमत के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह बहुमत का शासन स्वीकार करे।× आपको यह भी मानना पड़ेगा कि आज ब्रिटिश भारत में काँग्रेस का बहुमत है।"

"×भारत की समस्या को सुलझाने के लिए मैं एक जरूरी बात बताना चाहता हूँ। अगर हम भारत को स्वराज्य देने में इस समय इन-कार करते हैं तो उसका प्रभाव योरप की परिस्थिति पर अच्छा न पड़ेगा।×आजादी की रक्षा के नाम पर इस युद्ध में लड़ने के लिए जो कुछ हमारी ओर से कहा जाता है उस पर हमारे ही लोगों का अवि-श्वास पैदा होगा। जिससे हमारे संगठन में बहुत बड़ी कमी आ जायगी। उसका दूसरा प्रभाव यह पड़ेगा कि इस युद्ध में जो देश हमारे संगठन मे आए हैं और आ रहे है, उनमें और विशेषकर अमेरिका में मे जहाँ बहुत से लोग भारत की समस्याओं में गहरी दिलचस्पी रखते हैं, हमारे प्रति सन्देह पैदा हो जायगा, और उन देशों मे आज भी जो ब्रिटिश-विरोधी प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं, उनको प्रोत्साहन मिलेगा।"

"तीसरा प्रभाव यह पड़ेगा कि योरप के वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के दिनों में असहयोगी भारत एक ऐसा अखाड़ा बन जायगा, जिसकी रक्षा हमारे लिए मुश्किल हो जायगी।"

"इन परिस्थतियों में मेरा प्रस्ताव यह था कि अगर हम यह दावा करते हैं कि वर्तमान युद्ध प्रजातन्त्र और आजादी के लिए लड़ा जा रहा है और फिर भी हम अपने ही साम्राज्य मे अपने दावे के प्रति विश्वासघात करते हैं तो हमारी आवाज का और हमारे दावे का क्या मूल्य रहेगा। इसलिए हमें ईमानदारी के साथ भारत की समस्या

का निर्णय करना चाहिए। क्योंकि हमारे ही राजनीतिज्ञों ने स्वीकार किया है कि भारत स्वराज्य के योग्य हो चुका है। अगर हमने ऐसा किया तो समूचा भारत हमारा एक शक्तिशाली सहयोगी राष्ट्र बन जायगा और भविष्य में उसी की मित्रता हमें प्राप्त होगी।"

कामन्स-सभा की उस बैठक में सर स्टैफर्ड क्रिप्स का भाषण हुआ। परन्तु ब्रिटिश-पार्लामेण्ट में उसका क्या प्रभाव पड़ा, इसका उत्तर भविष्य देगा। देश की हालत जैसी चल रही थी, वैसी ही चलती रही। न तो काँग्रेस पीछे हटने के लिए तैयार थी और न ब्रिटिश सरकार ही सत्ता को छोड़ना चाहती थी। दोनों तरफ से अपनी-अपनी शक्तियों की देख-भाल हो रही थी। अगस्त महीने के अन्त में पण्डित जवाहर नेहरू ने घोषणा करते हुए कहा—

"देश के सामने अब एक ही रास्ता है कि वह रामगढ़-अधिवेशन के निर्णय पर अमल करे और त्याग, कष्ट और बलिदान के रास्ते पर साहस के साथ आगे बढ़े।"

गाँधी जी की दुविधा

इन दिनों में देश की हालत कुछ ऐसी हो रही थी, जिसका समझना और उसके भविष्य का अनुमान लगाना बहुत कठिन मालूम होता था। राष्ट्रीय नेता समझते थे कि भारत के लिए मैदान में उतर आने का अवसर है। ऐसे ही मौकों पर कुछ देश के लिए किया जा सकता है। १५ सितम्बर को बम्बई में महासमिति की बैठक हुई। उस समय देश के युवक अपना असन्तोष प्रकट कर रहे थे और आसानी से यह समझ रहे थे कि कांग्रेस अपनी कमजोरी का सबूत दे रही है।

परन्तु काँग्रेस के सामने एक बड़ी जिम्मेदारी थी, गांधी जी के नेतृत्व में वह इन दिनों में ब्रिटेन की कठिनायों को अनुभव करने के लिए विवश हो रही थी। योरप का युद्ध दिन-पर-दिन भयानक होता जा रहा था। गाँधी जी का इस समय एक दृष्टिकोण यह भी था कि ऐसे मौके पर ब्रिटेन को परेशान करना उचित न होगा जब कि फ्राँस का पतन हो चुका है और जर्मनी, इंगलैण्ड को नेस्तनाबूद करने की बात सोच रहा है।

इस संदिग्ध अवस्था में कांग्रेस के सामने सुविधा की बात यह थी कि उसने सत्याग्रह आरम्भ करने के लिए किसी तारीख का निश्चय नहीं किया था। इसीलिए समय की रफ्तार को देखकर वह चल रही थी और उसके एक मात्र प्रतिनिधि गांधी जी भीतरी और बाहरी परिस्थितियों का अध्ययन कर रहे थे।

गाँधी जी के हृदय में इंगलैण्ड के लिए जो सहानुभूति थी, वह इंगलैण्ड से भी छिपी न थी। फिर भी ब्रिटिश अधिकारियों के पास भारत का निर्णय करने के लिए पुराने गानों को छोड़ कर और कुछ न था। सरकार को मालूम था कि भारत की साम्प्रदायिकता ही ऐसी समस्या है जिसका कोई इलाज कांग्रेस के पास बाकी नहीं रहा। इसी लिए ब्रिटिश-सरकार ने देश की साम्प्रदायिकता को अपनी रक्षा के लिए एक अकाट्य अस्त्र बना लिया था।

सत्याग्रह की शंखध्वनि

जिस सत्याग्रह की प्रतीक्षा में देश अधीर हो रहा था, उसका समय धीरे-धीरे आया और १७ अक्टूबर को उसकी देश में शंखध्वनि हुई। सारे देश में उत्साह की बिजली दौड़ गयी और स्थान-स्थान पर उसकी चर्चा होने लगी।

बहुत दिनों तक तो इसी प्रश्न का निर्णय न हो सका था कि यह सत्याग्रह किस नाम से प्रारम्भ हो। उसकी रुकावट का एक यह भी कारण हो रहा था और दूसरा कारण यह था कि विश्वव्यापी युद्ध के द्वारा उत्पन्न होने वाली विपद के दिनों में गाँधी जी ब्रिटिश-सरकार के विरुद्ध कोई आन्दोलन नहीं करना चाहते थे। लेकिन जब इसका कोई रास्ता न निकला तो मजबूर होकर, काँग्रेस को सत्याग्रह आरम्भ करना पड़ा और उसका श्रीगणेश १७ अक्टूबर को हुआ।

यह सत्याग्रह लिखने और बोलने का स्वतन्त्रता पर आरम्भ हुआ। गाँधी जी ने बड़ी सावधानी के साथ उसे आरम्भ किया। सत्याग्रह के सारे प्रदर्शन उन्होंने रोक दिये और शान्तिपूर्वक—बिना किसी शोर-गुल के लोगों को गिरफ्तार हो जाने की इजाजत दी।

इस सत्याग्रह के पहले सत्याग्रही श्री विनोबा भावे माने गये और दूसरे सत्याग्रही के स्थान पर गांधी जी ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू

का नाम चुना। इस चुनाव का कार्य उन्होंने अपने ही हाथों में रखा। इसलिए कि जिसमें सत्याग्रह जरा भी कहीं अनियमित न होने पावे। श्री विनोबा को तीन महीने की और पण्डित नेहरू को चार साल की सजा दी गयी। इसके बाद सत्याग्रह की चाल धीरे-धीरे बढ़ने लगी। १७ नवम्बर को सरदार पटेल को हिरासत मे ले लिया गया। गाँधी जी ने सभी प्रकार के दिखावे बन्द कर रखे थे। लोग नियमानुसार कैद होते और जेल चले जाते। नवम्बर के आखीर तक काँग्रेस के करीब-करीब सभी प्रमुख कार्यकर्ता, मन्त्री और नेता जेलों में बन्द हो गये।

राष्ट्र के प्रतिनिधि लगभग सभी बन्दी हो चुके थे, देश की अवस्था इस समय कुछ ऐसी हो रही थी कि जिसका अनुमान लगाना कठिन था। भारत में कुछ और भी दल थे जो सहानुभूति के साथ राष्ट्र के इस बलिदान को देख रहे थे और हृदय से सरकार और कांग्रेस के बीच समझौते का एक रास्ता चाहते थे। इसी प्रकार की परिस्थिति मे नरम दल के नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया गया और मार्च, १९४१ में उसकी बैठक बम्बई में हुई। उस सम्मेलन में अनेक प्रकार के भाषण हुए और प्रस्ताव भी पास किये गये। जिनका अभिप्राय था, सरकार और कांग्रेस के बीच समझौते के लिए कोई शांतिपूर्ण रास्ता निकालना।

श्री एमरी को अपने पद पर काम करते हुए अभी थोड़े दिन बीते थे, लेकिन उतने ही दिनों में उन्होंने भारत के प्रश्न को लेकर अनेक भाषण दिये। भाषा की दृष्टि से वे भाषण बड़े खूबसूरत थे। तर्कों से भी बहुत-कुछ काम लिया गया था। लेकिन उनमें कोई ऐसी सामग्री न थी, जिनसे भारत की समस्या सुलझ सकती। इतना ही नहीं उन भाषणों मे राजनीति की चालें भी खूब थीं।

बीसवाँ परिच्छेद

ब्रिटिश शासन का रंग मंच

द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता

भारत के सामने दो परिस्थितियाँ थी, उसके भीतर सत्याग्र आन्दोलन चल रहा था और बाहर, समुद्रपार योरप का दूसरा यु हो रहा था। दोनों के साथ भारत का सम्बन्ध था। योरप के युद्ध इच्छा न होने पर भी, इंगलैण्ड का गुलाम होने के कारण उसे शामि होना पड़ा था। इस प्रकार उसके सामने दो परिस्थितियाँ थी और दो ही संघर्ष बराबर देश मे चल रहे थे।

विश्वव्यापी द्वितीय युद्ध की हालत अच्छी न थी। जर्मनी ने रू के विरुद्ध आक्रमण किया था और उस युद्ध मे जर्मन सेनायें लेनिनग्रा की बस्तियों के करीब पहुँच गयी थीं, जिससे रूस के विशाल नग लेनिनग्राड को खतरा पैदा हो गया था।

वर्तमान युद्ध में हिटलर के हौसले बहुत बढ़े चढ़े थे। फ्राँस जै शक्तिशाली राष्ट्र को पराजित करना उसने अपने लिए खेल समझा थ और रूस पर आक्रमण करने के समय उसे अधिक सोचना नहीं प था। हिटलर की आँखों में कौन-कौन देश खटक रहे थे और निक भविष्य में किनका सर्वनाश होने को था, इन बातों का कोई निश्चि पता न चलता था। फिर भी योरप का कोई ऐसा देश न था जो उ दिनों में हिटलर के आतंक से घबरा न रहा हो। इन्हीं परिस्थितियों उससे इंगलैण्ड और अमेरिका को जो खतरा पैदा हो गया था। व किसी से छिपा न था। इस प्रकार इस विनाशकारी युद्ध को चलते हु दो वर्ष बीत चुके थे।

वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध की स्थिति उत्तरोत्तर भयानक होती जा थी। योरप के शक्तिशाली राष्ट्र अपनी अपनी शक्तियों के सञ्चय लगे थे। रूस के बाद जर्मनी का आक्रमण इंगलैण्ड पर होगा, इस

अन्दाज लगाये जा रहे थे। इन्हीं दिनों में ब्रिटिश-सरकार के विरुद्ध भारत में जो आन्दोलन चल रहा था, वह जोरदार सत्याग्रह के रूप में था और उसके एक वर्ष के पूरे होने में भी कुछ दिन बाकी थे।

चर्चिल का प्रलाप

उन दिनों में मि० चर्चिल इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री थे। वे अपनी नीति के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जाहिर थे। भारत के आन्दोलन और सत्याग्रह पर वे प्रसन्न न थे। लेकिन गांधी जी को इसकी परवाह न थी कि उनके सत्याग्रह के लिए इंगलैण्ड में कौन क्या कहता है। जिस स्वतंत्रता के लिए भारत अपने जीवन का बलिदान कर रहा था, उसके सम्बन्ध में इन दिनों चर्चिल क्या सोच रहे थे, इस पर उनकी कही हुई बातों के यहाँ पर कुछ उदाहरण देना जरूरी मालूम होता है।

दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो चुका था। मि० चर्चिल ने कामन सभा में उन्हीं दिनों एक भाषण दिया और भारत के सम्बन्ध मे अपने विचारों को जाहिर करते हुए, उन्होंने कहा—

"भारत के थोड़े से अनधिकारी राजनीतिज्ञों को वहाँ का उत्तर-दायित्व सौंप देना हमारी एक गैर जिम्मेदारी होगी। और एक शर्म-नाक कार्यवाही भी। मेरी समझ में यह एक कायरतापूर्ण और अप-मान जनक कार्य होगा।"

"ब्रिटिश राष्ट्र का इरादा नहीं है कि वह भारतीय जीवन और उसकी प्रगति से अपना नियन्त्रण उठा ले। हमारे सम्राट के मुकुट का वह चमकता हुआ और अधिक कीमती हीरा है, जिसे हम कभी छोड़ना नहीं चाहेंगे। इसलिए कि भारत पर जब तक हमारा शासन है, उस समय तक ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा है।"

इस प्रकार मि० चर्चिल ने भारत के सम्बन्ध में प्रायः अपने विचार जाहिर किये हैं। २९ मार्च, १९३३ को उन्होंने कामन सभा मे बोलते हुए कहा था—

"हमारे इस देश में १ करोड़ ५० लाख आदमी ऐसे हैं जो हमारे विदेशी शासन के बिना जीवित नहीं रह सकते। मेरा अन्दाज है कि

भारत के ऊपर हमारे देश के जिन लोगों की जीविका आश्रित है, उनकी संख्या ३० लाख से कम नहीं है।"

गाँधी जी से जब पूछा गया कि मि० चर्चिल के भाषण पर उनकी क्या राय है तो उन्होंने अपनी राय देने से इनकार किया। इसका अर्थ यह होता है कि मि० चर्चिल के भाषण पर उनका मौन रहना ही, उनका सब से श्रेठ उत्तर है।

देश व्यापी सत्याग्रह

व्यक्तिगत सत्याग्रह के नाम से देश में जो आन्दोलन चल रहा था, १७ अक्टूबर १९४१ को उसका एक वर्ष पूरा हो चुका था। लिखने और बोलने की स्वतन्त्रता पर यह सत्याग्रह आरम्भ हुआ था और उसका उपयोग योरप के वर्त्तमान युद्ध के सम्बन्ध में किया जा रहा था।

जो लोग गांधी जी से सत्याग्रह करने का आदेश पाते थे, वे अपने स्थानों से निकल कर योरप की युद्ध-विरोधी बातों का प्रचार करते थे। वे साफ-साफ कहते थे कि योरप के इस युद्ध में किसी प्रकार की अंगरेजों की सहायता करना, भारत के लिए पाप है। इसी आधार पर सरकार की ओर से उनकी गिरफ्तारियाँ होती थीं और गिरफ्तार होने वाले हँसते हुए जेल जाते थे।

परतन्त्रता से त्रस्त भारतीय जनता स्वतन्त्रता के नाम पर किस प्रकार अपने जीवन का बलिदान कर सकती थी, इसको संसार कई बार देख चुका था, सन् १९२१ के आन्दोलन में ३०,००० देशभक्त गिरफ्तार कर के जेल में रखे गये। सन् १९३० में ६०,००० और १९३२-३३ मे १,२०,००० व्यक्ति भारतीय जेलों मे बन्द कर दिये गये। इसलिए देश के सामने बलिदान होने वालों की संख्या का प्रश्न न था। प्रश्न था उनकी शिष्टता का—उनके जीवन की सैनिक उपयोगिता का।

दमन का मुकाबिला

सत्याग्रह जब आरम्भ न हुआ था। कांग्रेस ने उसके सञ्चालन का केवल निर्णय किया था, उसी समय ब्रिटिश-सरकार के जुम्मेदार

अधिकारियों ने यह कहना आरम्भ किया था कि अगर काँग्रेस की ओर से सत्याग्रह आरम्भ किया गया तो सरकार मजबूर होकर उसका मुकाबिला करेगी ! उसके बाद योरप के दूसरे महायुद्ध की शुरुआत हुई और उसके भयानक दृश्य ने गान्धी जी को असमंजस में डाल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि—'इंगलैण्ड की बरबादी के साथ भारतीय स्वतन्त्रता की रचना नहीं की जा सकती।' गान्धी जी की यह घोषणा और उनका यह निर्णय पत्थर को पिघलाने वाला था, एक विरोधी अगर इतनी बड़ी सहानुभूति रखता है तो उससे अधिक फिर कोई मित्र नहीं हो सकता।

गान्धी जी ने अर्से तक सत्याग्रह को टाला। देश के लोग उतावले हो रहे थे, लेकिन गान्धी जी की आंखें इंगलैण्ड की ओर देख रही थीं। ब्रिटिश-सरकार की ओर से सहानुभूति और उदारता के कदम नहीं बढ़ाये गये। मि० एमरी भारत की उसी नस को पकड़ने की कोशिश करते, जहाँ पर उसकी एक असह्य पीड़ा छिपी थी। मि० चर्चिल आजीवन अंगरेजों का उसे गुलाम बना कर रखने के लिए मजबूत लोहे की जंजीरें तैयार कर रहे थे। आखिरकार, गान्धी जी को व्यक्तिगत सत्याग्रह का सञ्चालन करना पड़ा।

कुछ दिनों तक ब्रिटिश-सरकार के बदलते हुए पैंतरें दिखाई पड़े। दमन के सिवा सरकार के पास और कोई अस्त्र न था। लेकिन गान्धी जी के सत्याग्रह और आन्दोलन में अत्याचार और दमन को अकर्मण्य बनाने की कितनी बड़ी ताकत थी, इसे संसार को स्वीकार करना पड़ा। व्यक्तिगत सत्याग्रह को आरम्भ हुए अभी थोड़े ही दिन बीते थे, दमन का कच्चा रंग उड़ने लगा। अधिकारियों के हाथ-पैर फूलने लगे और कैद करने की तेजी धीरे-धीरे धीमी पड़ने लगी।

सजा की मियाद को समाप्त करके सत्याग्रही गान्धी जी के आश्रम में विजेता सैनिकों के रूप में आ-आकर एकत्रित होने लगे। सत्याग्रह की सफलता, गान्धी जी के जीवन की अपनी सफलता थी। आने वाले सत्याग्रही अपनी कथायें सुनाते और गान्धी जी उनको सत्याग्रह के पवित्र सिद्धान्त का उपदेश करते। यह जान कर भी कि सरकार की ओर से गिरफ्तार करने का कार्य लगातार धीमा पड़ रहा है, गान्धी जी ने २१ अक्टूबर को अपने जोरदार शब्दों में घोषणा की—

"जेल से छूटकर आने वाले सत्याग्रहियों को एक सप्ताह के भीतर ही फिर सत्याग्रह करना चाहिए। वे अपने कार्यक्रम को अधिक व्यापक और शिष्ट बनाने की कोशिश करें।"

गान्धी जी के शब्द, लोगों के अन्तरात्मा को स्पर्श करते थे, उनके बोलते ही देश में स्फूर्ति उत्पन्न होने में देर न लगती। लोग तो यह चाहते ही थे। सत्याग्रह की प्रगति तेजी पकड़ने लगी। लोग उसी उत्साह के साथ सत्याग्रह के लिए आगे बढ़ने लगे, जिस प्रकार वे पहले बढ़े थे।

राजनीतिक बंदियों की छूट

छूटने के बाद, सत्याग्रहियों को फिर सत्याग्रह करना चाहिए, इसकी घोषणा २१ अक्टूबर को गान्धी जी कर ही चुके थे। सत्याग्रह की गति तेज हो रही थी और उनको गिरफ़्तार किये जाने के कार्य में बड़ी कमजोरी आ गयी थी। ऐसा क्यों हो रहा है, इस रहस्य का कोई पता न चलता। गान्धी जी उसको जानने के लिए उत्सुक न थे और सरकार की ओर से कोई बात प्रकाश में न आ रही थी।

अचानक २७ अक्टूबर, १९४१ को सम्पूर्ण देश मे यह बात फैल गयी कि वेलौर सेन्ट्रल जेल से कुछ कैदी छोड़े जा रहे हैं। यह समाचार देश में फैल ही रहा था कि १ नवम्बर को कैदियों की रिहाई हुई। परन्तु उसके सम्बन्ध में सरकार की ओर से कोई घोषणा न थी। देश के राजनीतिक क्षेत्र में यह एक प्रश्न था कि सरकार ऐसा क्यों कर रही थी और भविष्य मे उसके सामने कार्यक्रम क्या है? लेकिन निश्चित रूप में, इसके सम्बन्ध में कोई बात मालूम न हुई।

काँग्रेस और सरकार के बीच एक अनिश्चित अवस्था चल रही थी, २७ अक्टूबर के पहले भी यह अफवाह फैल रही थी कि सरकार कुछ संख्या में कैदियों को छोड़ने के सम्बन्ध में सोच विचार कर रही थी। किस प्रकार के कैदी छोड़े जायंगे और किनको जेलों में रखा जायगा, इसका ठीक पता न चलता था, जो कुछ बातें मालूम भी होती थीं, वे अफवाहों के रूप में। सरकार की ओर से इस बात का स्पष्टीकरण न था।

ब्रिटिश-सरकार के चुप होने का एक गम्भीर कारण था। वह स्वयं

अभी तक कोई निर्णय न कर सकी थी कि इस विषय म आखिर उसे क्या करना चाहिए। कामन्स-सभा के कितने ही सदस्य बार-बार यह आवाज उठा रहे थे कि पण्डित जवाहर लाल नेहरू और काँग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद को छोड़ा जाय, जिससे काँग्रस और सरकार के बीच समझौते का कोई रास्ता निकाला जा सके। इस प्रकार की आवाज पर सरकार कोई निर्णय न कर सकी थी, इसीलिए उसकी ओर से कोई घोषणा न थी, फिर भी उन आवाजों का ही यह प्रभाव था कि दमन शिथिल पड़ चुका था। गिरफ्तारियाँ बंद थीं और कैदियों की छूट हो रही थी। साथ ही यह अफवाह लोगों में फैल रही थी कि सरकार सभी कैदियों को छोड़ने की बात सोच रही है।

कैदियों की इस छूट से राजनीतिक क्षेत्रों मे प्रसन्नता न थी। उसका कारण यह था कि बिना किसी निश्चय और आधार के कैदी छोड़े जा रहे हैं, उनकी रिहाई का कोई एक उद्देश्य नहीं है। इसका प्रभाव देश के ऊपर अनुकूल भी पड़ सकता है और प्रतिकूल भी। इसीलिए राष्ट्रीय नेता इससे प्रसन्न न थे।

गांधी जी की चिन्ता

नवम्बर के दिन बीत रहे थे। सरकार की ओर से सभी बातें अनिश्चित चल रही थीं। इसका परिणाम यह था कि सर्व साधारण में अनेक बातें अफवाह के रूप में फैल रही थीं। उन अफवाहों पर कैसे विश्वास किया जाय और होता यह है कि कभी कभी इस प्रकार की अफवाहें ही सही निकलती है।

जो अफवाहें उड़ रही थीं, उनमें यह भी कहा जाता था कि सरकार पण्डित जवाहरलाल नेहरू को जेल से छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। इस समाचार का कोई आधार न था, फिर भी वह फैल रहा था। नवम्बर के तीसरे सप्ताह मे गान्धी जी को भी इस बात का विश्वास हो गया कि जवाहर लाल नेहरू को जेल से मुक्त न किया जायगा। इससे उनकी चिन्तायें बढ़ने लगीं।

काँग्रेस के नेता जो रिहा होकर जेलों से आ रहे थे, उनके साथ आश्रम में बैठ कर गाँधी जी परामर्श करते और सत्याग्रह के भविष्य के रूप का निर्णय करते। गान्धी जी इस बात पर तुले हुए थे कि

सत्याग्रह बराबर जारी रहना चाहिए। श्री भूलाभाई देसाई के साथ गान्धी जी ने तीन दिनों तक माथापच्ची की। श्री देसाई ने अपनी कोई दलील उठा न रखी लेकिन गान्धी जी टस-से-मस न हुए। चौथे दिन श्री राजगोपालाचारी ने भी उसमें भाग लिया। गान्धी जी का एक ही दृष्टिकोण था कि सत्याग्रह बराबर चालू रहे। क्योंकि वे जानते थे और उन्हें विश्वास भी हो रहा था कि जवाहर लाल नेहरू छोड़े न जायँगे।

श्री भूलाभाई देसाई के लाख प्रयत्न करने पर भी गान्धी जी ने अपने विचार को नहीं बदला। वे केवल आग्रह नहीं करते थे। अपने सहयोगियों के तर्क को वे बड़ी सावधानी के साथ सुनते और फिर गम्भीरता के साथ विचार करते और अन्त में एक सही रास्ता निकालने की वे कोशिश करते। गान्धी जी की यह पुरानी आदत थी उन्होंने अन्त में सत्याग्रह जारी रखना ही निश्चित रखा।

अभी तक जवाहर लाल नेहरू जेल में थे। दूसरे नेताओं के साथ गाँधी जी के कुछ मतभेद भी चल रहे थे। वे एक बार जिस बात का निर्णय कर लेते थे, उससे उनका डिगना कठिन नहीं, बल्कि असम्भव हो जाता था। उनके जीवन की सबसे बड़ी महानता इसी में थी तर्कनाओं के द्वारा उनको पराजित करना आसान काम न था।

देश की अवस्था इसी उधेड़ बुन में चल रही थी। इसी मौके पर अचानक भारत-सरकार ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। उसमें बताया गया—

"भारत-सरकार इस बात का विश्वास करती है कि इस देश के सभी जिम्मेदार आदमी युद्ध में विजय प्राप्त होने के समय तक सहायता करने का निर्णय रखते हैं। इस दशा में सरकार इस नतीजे पर पहुँची है कि सत्याग्रह आन्दोलन के साँकेतिक कैदियों को छोड़ दिया जाय। जो कैदी छोड़े जायंगे, उनमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आजाद भी शामिल हैं।"

सरकार की इस विज्ञप्ति के प्रकाशित होने के बाद पण्डित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आजाद को छोड़ दिया गया। इन नेताओं के छुटकारे के बाद गांधी जी ने एक वक्तव्य दिया। उसमें उन्होंने अपनी स्थिति को साफ करते हुए कहा—

"कांग्रेस की भावी नीति का निर्णय अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति और कार्य समिति ही करेगी।"

दूसरे राजनीतिक कैदियों के साथ-साथ पण्डित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आजाद भी छोड़ दिये गये। लेकिन गांधी जी को इसके रहस्य का कोई पता न चला। दिल्ली से जो विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी थी, उसका उनकी नजरों में कोई मूल्य न था। इसलिए कैदियों के छुटकारे के सम्बन्ध मे उन्होंने अपना एक वक्तव्य दिया और उसमे उन्होंने बताया—

"मैं पहले भी कह चुका हूँ और आज फिर कहता हूँ कि मैं इस छुटकारे को पसन्द नहीं करता।"

"अपने विद्यार्थी जीवन से मैं अंगरेजों को अपना मित्र मानता हूँ, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं अपने देश के लिए अंगरेजों की गुलामी मन्जूर कर लूँ।"

"हमारे जीवन मे गुलामी के घाव तो अरसे से हैं लेकिन मि० एमरी के भाषणों से वे हरे होते हैं। मि० एमरी ने हमारे जख्मों पर बार-बार नमक छिडकने की कोशिश की है।"

"अगर भारत-सरकार को विश्वास है कि देश के उत्तरदायी लोग युद्ध मे सहायता करने का निश्चय किये हुए हैं तो उसका सीधा रास्ता यह है कि सत्याग्रह के कैदियों को जेलों मे बन्द करके रखा जाय। मेरी आंखों मे कैदियों को छोड़े जाने का अर्थ यह है कि उनके विचार बदल जांय। इसके लिए सरकार को निराश होना पड़ेगा।"

'कैदियों को छोड़ने के सम्बन्ध मे सरकार ने जिस नीति से काम लिया है, वह स्वयं घातक और संदेह जनक है। अब भी बहुत से कैदी जेलों मे बन्द हैं। इसमे कुछ साफ-साफ रहस्य मालूम होता है।"

जेल से छूटने के बाद पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने अपने सहयोगियों और मित्रों के नाम जो संदेश दिया। वह अत्यन्त हृदयस्पर्शी था। इसलिए यहां पर उसका कुछ अंश दे देना अनावश्यक न होगा।

"××अपने पुराने मित्रों, परिचितों और दूसरे सज्जनों का जोरदार स्वागत देखकर खुशी होना स्वाभाविक है। दूर-दूर तक फैले हुए खेतों, लोगों से भरे हुए रास्तों और देश के दूसरे चित्रों को देख-

कर खुशी होती ही है। परन्तु एक विदेशी हुकूमत के कहने पर जेल जाना और उसके छोड़ने पर जेल से बाहर आने मे मुझे कोई खुशी नहीं मालूम होती। जेल की तङ्ग चारदीवारी में से निकल कर भारत के एक बड़े कैदखाने मे आ जाना कोई खुशी की बात नहीं है।"

किसी प्रश्न के उत्तर में जबाब देते हुए गान्धी जी ने कहा—"हमारा सत्याग्रह आन्दोलन जारी रहना चाहिए।"

ब्रिटेन में भारतीय पक्ष का समर्थन

इन दिनों मे देश की अवस्था फिर भयानक हो उठी थी, व्यक्तिगत सत्याग्रह में जो लोग गिरफ्तार किये गये थे, उनमे से बहुत से बिना किसी आधार के छोड़ दिये गये थे और उन्हीं मे से कुछ लोग अभी जेलों में बन्द थे। सरकार की इस नीति का अर्थ समझ में न आता था।

योरप का विश्वव्यापी युद्ध तेजी के साथ बढ़ रहा था। उसकी जोरदार लपटें वहां के प्रत्येक राष्ट्र के लिए खतरनाक साबित हो रही थीं। इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों का ध्यान उन लपटों से अपने देश को बचाने की तरफ था और भारत के राष्ट्रीय नेता अपनी परतन्त्रता के जंजीरों को तोड़ने के लिए उतावले हो रहे थे।

इन दोनों परिस्थितियों में गांधी जी का अस्तित्व बीच में था। वे देश को स्वतंत्र करना चाहते थे। परन्तु योरप की विषम परिस्थितियों मे वे इंगलैण्ड को धक्का न पहुँचाना चाहते थे। निःसन्देह, दोनों देशों की परिस्थिति बड़ी नाजुक हो रही थी। इस अवस्था में इंगलैण्ड को सुभचिंतकों और राजनीतिज्ञों मे से कौन क्या कह रहा था, इसका यहाँ पर संक्षेप मे, उल्लेख करना आवश्यक है।

इसके पहले एक बात और हुई। कैदियों की रिहाई के बाद देश की आसन्तोष जनक अवस्था को बदलने के लिए नरम दल के नेताओं का सम्मेलन हुआ। उसमें जोरदार भाषण दिये गये और लम्बे-चौड़े शब्दों, मे सरकार और काँग्रेस के बीच की दीवार को गिराने की कोशिश की गयी। लेकिन देश के इस प्रकार के प्रयत्न इस लिए बेकार थे कि न तो सरकार पर ही उनका कोई प्रभाव था और न काँग्रेस ही उनके प्रस्तावों को मानने के लिए तैयार थी।

इन्हीं दिनों में कार्य समिति की एक बैठक की गयी और उसमें भारत की वर्तमान समस्या को सुलझाने के लिए एकत्रित नेताओं ने चेष्टा की।

भारत के प्रश्नों को लेकर इंगलैण्ड में बार-बार विवाद उठ रहे थे। जिसकी समझमें जो आता था, कहता। उनमें से सभी लोगों की एक राय न थी। कुछ लोग पक्ष में भी थे और कुछ लोग विपक्ष मे। उन वक्तव्यों का संक्षेप में यहाँ पर उल्लेख किया जाता है।

भारत-मन्त्री ने ९ जनवरी, १९४२ को कामन्स-सभामें भाषण देते हुए कहा—

"दिसम्बर के अन्त मे भारतीय नेताओं ने जो प्रस्ताव पास किये हैं, मेरा ध्यान उधर आकर्षित हुआ है। लेकिन मुझे खेद है कि वहां वाइसराय ने भारतीय जनता से सहयोग और एकता की जो अपील की थी, उसका कोई सन्तोष जनक उत्तर नहीं दिया गया।"

२२ जनवरी, १९४२ को कामन्स-सभा मे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए मि० एमरी ने कहा "मैं भारत की राजनीतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहता।"

२७ जनवरी, १९४२ को कामन्स-सभा मे मि० पेथिक लारेंस ने कहा—'वर्तमान महायुद्ध को लड़ने के लिए हम जिन शक्तियों का सञ्चय कर रहे हैं, उनमें से एक महत्व की बात यह होगी कि हम भारतीय समस्या का कोई सन्तोषजनक निर्णय कर डालें।"

कामन्स-सभा में बहस के मौकों पर भारत के विषय मे मि० एडगर ग्रेनविल ने कहा—"मैं आशा करता हूँ कि सरकार भारत के प्रश्नों को हल करने की कोशिश करेगी और प्रधान मन्त्री इस बात की घोषणा करेंगे कि दूसरे स्वतंत्र उपनिवेशों की तरह का प्रतिनिधि भी इंगलैण्ड के युद्ध कालीन मन्त्रि-मण्डल मे लिया जायगा।"

२ फरवरी को लार्ड-सभा मे भारत के प्रश्नों को लेकर बहुत जोरदार बहस हुई। उसमे लार्ड फैरिंगटन ने भारत का पक्ष लिया और कहा

"सरकार में एक अनोखी भावना घर करती जा रही है और परिस्थिति रोज-की-रोज नाजुक हो रही है। मैं स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि सम्राट की सरकार ने भारत को स्वराज्य देने का जो वादा किया

था, उसमें वह असफल हुई है।× इधर कुछ महीनों से एक बड़ा खतरा पैदा हो गया है। मलाया से जो खबरें आ रही हैं, उनसे मालूम होता है कि देश की जनता कोई दिलचस्पी युद्ध में नहीं ले रही है। इस दशा में भारत का वर्तमान रुख और भी खतरनाक साबित होगा।"

लार्ड फैरिंगटन ने आगे कहा—"मेरा अनुरोध है कि सरकार भारत को भविष्य में नहीं, तुरन्त स्वराज्य देने की घोषणा कर दे।× सरकार ने यह घोषणा की है कि यदि भारत के दोनों दलों में समझौता हो जाय तो सरकार उसका समर्थन करेगी। मेरे ख़याल से ऐसा कहना बहुत अनुचित है।×सत्य यह है कि मुस्लिम लीग भारत के सभी मुसलमानों की प्रतिनिधि नहीं है। इस लिए ब्रिटेन को उग्र विचार वाले मुसलमानों के हाथों का खिलौना बनकर भारत के समझौते के मार्ग में रुकावट नहीं पैदा करना चाहिए। सही बात यह है कि मुस्लिम लीग, जिन मुसलमानों की प्रतिनिधि है, उनकी संस्था बहुत अधिक नहीं है। इसलिए देश के विभाजन की योजना अव्यावहारिक और तर्कहीन है।"

लार्ड हेली ने अपने विचारों को जाहिर करते हुए कहा—"सीरिया की तरह हमें भारत के सम्बन्ध में भी कोई साफ-साफ घोषणा कर देना चाहिये। यह कहना कि युद्ध-काल में कोई वैधानिक परिवर्तन नहीं हो सकते, महत्वपूर्ण नहीं है। सन् १९१८ में भी ऐसे काम किये गये थे। जब योरप का पहला महायुद्ध खतरनाक साबित हो रहा था।"

भारत के प्रश्न पर ड्यूक ने जो भाषण दिया था, वह कुछ दूसरे ही ढङ्ग का था। उन्होंने काँग्रेस के मुकाबिले में मुस्लिम लीग के प्रभाव को अधिक साबित करने की कोशिश की थी। आप ने कहा—

"ऐसा मालूम होता है कि भारत में मुस्लिम लीग का प्रभाव और उसकी ताकत निश्चित रूप से बढ़ रही है और इन दिनों में काँग्रेस की ताकत घटती जा रही है। लीग ने कांग्रेस के दावे को चुनौती दी है और भारत में मुस्लिम जाति सदा महान होकर रही है।"

मि० एमरी के भाषणों में सदा से एक सी बात रही है। उनके शब्द आगे-पीछे चाहे भले हो जाते रहे हों। बाकी भारत के प्रश्न पर

एक ही बात को उन्होंने सदा बदल-बदल कर कहने की कोशिश की। इसलिए उनके वक्तव्यों का यहां पर बार-बार दोहराना आवश्यक नहीं है।

इन्हीं दिनों में डी० वैलरा ने कहा था—"ब्रिटेन की सदा से यह नीति रही है कि जहां पर कोई मतभेद न हो, वहां पर भी वह पैदा करा दे। सन् १८६० और १८६५ के बीच की बात है, उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका की रियासतों में गुलामों के व्यापार के प्रश्न पर गृह-युद्ध आरम्भ हो गया तो ब्रिटेन और ग्लैडसटन ने दक्षिणी अमेरिका का पक्ष लिया था जो कि दास-प्रथा को कायम रखने का समर्थन कर रहा था। आयरलैण्ड मे भी इसी प्रकार का सवाल अलस्टर और बाकी आयरलैण्ड के बीच पैदा हुआ था। भारत मे भी इसी प्रकार के मतभेद एक सम्प्रदाय के दूसरे सम्प्रदाय के साथ पैदा किये गये हैं। वहाँ की रियासतों के साथ भी यही किया गया है। बर्मा की आजादी के सम्बन्ध मे, मि० एमरी का कहना था कि बर्मा की रियासतें स्वयं, बर्मा को स्वराज्य देने के प्रतिकूल है। इस प्रकार की ब्रिटेन की नीति, उसकी पुरानी नीति है।"

अंगरेजों में सभी कूटनीति और दमन के पक्षपाती न थे। ब्रिटिश पार्लामेण्ट में भी ऐसे उदार और ईमानदार सदस्य रहे हैं, जो किसी भी विषय मे न्यायपूर्ण ही अपना उत्तर देते थे। भारत के प्रश्न पर भी न्यायप्रिय और निष्पक्ष अंगरेज राजनीतिज्ञों की सम्मतियां भी समय समय पर प्रकाशित हुई हैं। प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल जहां अपनी बहकी हुई बातें करते थे और मि० एमरी भारत के प्रश्न के नाम पर अपना पुराना राग आरम्भ कर देते थे, वहां कई एक विष्पक्ष अंगरेजों ने भी सही सही बातें कही थी। मि० एडवर्ड एम्सन प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल पर बड़ा विश्वास रखते थे। लेकिन भारत की समस्या पर उन्होंने मि० चर्चिल का समर्थन नहीं किया और स्पष्ट कहा—

"भारत के सम्बन्ध मे कोई भी निर्णय करने के पहले यह कहना कि वहां के विभिन्न सम्प्रदायों मे समझौता और एकता हो जाय, न्याय की बात नहीं है। × भारत की समस्या पर एक कमेटी बनायी जानी चाहिये जो तुरन्त भारत के लिए एक औपनिवेशिक ढङ्ग का विधान तैयार करे। अगर ऐसा किया जाय तो मेरा विश्वास है कि

कांग्रेस की उदारता के कारण मुस्लिम लीग का कोई झगड़ा बाकी न रहेगा।"

इसी सिलसिले मे मि० एडवर्ड एम्सन ने कहा --"मैं आग्रह पूर्वक मि० चर्चिल से कहना चाहता हूँ कि वे भारत के प्रश्न पर इसी प्रकार का एक अपना वक्तव्य दें। उन्हें उस देश को अपनी बराबरी का एक राष्ट्र समझकर अपना वक्तव्य देना चाहिए। अगर ऐसा किया जाय तो हमारा सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि अमेरिका और दूसरे देशों में जो हमारे विरोधी लोग है, उनको हमारे ऊपर कीचड़ उछालने का फिर मौका न मिलेगा।"

कर्नल यंग हस्बैण्ड ने जो ब्रिटेन के एक विख्यात पुरुष थे और जिनकी अवस्था उस समय करीब ९० वर्ष की थी, १५ अक्टूबर के लण्डन टाइम्स मे अपना एक लेख प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने लिखा—

"भारत के सम्बन्ध मे हमने बड़ी भूल की है। एक तरफ तो हम यह कहते हैं कि संसार के प्रत्येक देश को हम स्वतन्त्र करना चाहते हैं और दूसरी तरफ भारत की स्वतन्त्रता पर हमारी बातें दूसरी होती हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि भारत के हिन्दू और मुसलमान—दोनों ही हम पर अविश्वास करने लगे हैं। हमारे हृदय में डर क्यों है यही न कि अगर हमने भारत की बागडोर ढीली कर दी तो उसके टुकड़े टुकड़े हो जायंगे! लेकिन हमको इस प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए। भारत के लोग भी तो बुद्धि रखते हैं। वे चीनियों, जापानियों और रूसियों की तरह राजनीतिक और बुद्धिमान हैं। भारत के लोग आत्माभिमानी होते हैं।× अंगरेजों के लिए यह मुनासिब नहीं है कि वे किसी को भी, उसकी तबीयत के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्य मे रहने के लिये मजबूर करें। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं भारत में ही पैदा हुआ और पिछले ५९ वर्षों से भारतीय जनों के साथ मेरा गम्भीर सम्पर्क रहा है। इस दशा मे मेरे लिए यह लज्जा की बात है कि हम भारतवासियों के साथ उदार मित्रों और सहयोगियों का सा व्यवहरा न करें।× इसलिए हमे वहां के प्रश्न में अधिक बवाल पैदा करने की जरूरत नहीं है। महान त्याग और उदार नीति से हमें काम लेना चाहिये।× इङ्गलैण्ड के नाम पर कोई धब्बा न लगे। संभव है कि

ऐसा करके भारत को हम अपने हाथों से खो दें। परन्तु हमें यह संतोष तो होगा कि हमारा आत्मा पवित्र और साफ है।"

अपने पद से इस्तीफा देते हुए मि० ब्यूइल ने लिखा—"भारत में एक मिश्नरी की हैसियत से जाने के पहले मुझसे एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया था। उसका अभिप्राय यह था कि मैं उस देश में रहकर ब्रिटिश-सरकार के विरुद्ध कोई काम न करूँगा। उस देश के लिए रवाना होने के पहले मैंने मेथोडिस्ट चर्च के पादरी के रूप मे यह प्रतिज्ञा की कि मैं ईसामसीह के सिद्धान्तों और उद्देश्यों के अनुसार, अपने आत्मा के अनुसार काम करूँगा। वहाँ जाकर मैंने भली प्रकार अनुभव किया कि ब्रिटिश-सरकार को जो मैंने वादा किया, उसका पालन करके मैंने उस प्रतिज्ञा का उलंघन किया जो मुझे अपने ईश्वर के सामने करनी पड़ी। इसलिए उस देश की सरकार के वादे को मैं पूरा नहीं कर सकता।"

"भारत में रहकर मैंने जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बुराइयाँ देखी हैं, उनके प्रति कुछ न कहना अपने आत्मा की पुकार की अवहेलना करना है। मेथोडिस्ट चर्च के सामाजिक धर्म में यह बताया गया है कि अन्याय और अत्याचार को देखकर चुप बैठे रहना, ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करना है। यहाँ पर मैं उसके अन्याय को देखते हुए चुप नहीं रह सकता जो यह दावा करता है कि वह सभी के अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहा है। ××उसने ५ हजार भारत के नेताओं को जेलों में बन्द कर रखा है। उनका अपराध यही है कि वे देश की स्वतंत्रता चाहते हैं। ऐसी दशा में मेरे लिए चुप रहना कठिन हो गया है। मुझे स्पष्ट बात कहना चाहिए। मैं जानता हूँ कि बहुतदिनों से विदेशी शासन में रहने के कारण भारत के तीन करोड़ आदमी भूख से मर रहे हैं।×किसी भी अन्याय को देखकर चुप रहना धर्म और ईश्वर के विरुद्ध है। मेरे सामने दो ही रास्ते हैं। एक तो वह कि मैं अपने वादे को पूरा कर सकता हूँ और दूसरा यह कि अपने पद से इस्तीफा देकर मैं अमेरिका वापस जा सकता हूँ। मैंने बहुत सोचकर निर्णय किया है कि अपने प्रभु ईसा के प्रति विश्वासपात्र बने रहने के लिए इस्तीफा दे देना मेरे लिए जरूरी है।"

सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने साफ-साफ शब्दों में कहा था, "मेरा तो

विश्वास है कि ब्रिटेन को युद्ध के बाद तुरन्त ही भारत को आजादी दे देनी चाहिए।"

अपने वक्तव्य को स्पष्ट करते हुए सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने बताया—"अगर हम लड़ाई के बाद भारत को स्वराज्य देने का वादा कर दें तो मेरा विश्वास है कि हमारी वर्तमान कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी और इस लड़ाई में भारत हमारी सब प्रकार सहायता करेगा। परन्तु यह उसी अवस्था में सम्भव है जब हम उसको स्वराज्य देने का एक निश्चित वादा कर दें और उसमें फिर किसी प्रकार का कोई परिवर्त्तन न करें।"

इस प्रकार भारत के प्रश्न को लेकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपने-अपने विचारों का इजहार कर रहे थे। इन सभी लोगों में सर स्टैफर्ड क्रिप्स स्पष्ट शब्दों में भारत की आजादी का समर्थन कर रहे थे। उन्होंने इंगलैण्ड की सरकार को भली प्रकार यह बताने की कोशिश की थी कि भारत के प्रश्न पर न्याय और उदारता का व्यवहार करना ही ब्रिटेन के लिए हितकर है। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कहा था कि अगर ऐसा नहीं किया जाता तो भीतर और बाहर इंगलैण्ड के सामने खतरा-ही-खतरा है।

सन् १९४२ के आरम्भिक महीनों में इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों के इस प्रकार जो वक्तव्य हो रहे थे, भारत के राष्ट्रीय नेता सावधानी के साथ उनका अध्ययन और मनन कर रहे थे, और भविष्य में होने वाले निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

मिशन का मायाजाल

भारत में क्रिप्स-मिशन

पिछले पृष्ठों में ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों के वक्तव्य लिखे जा चुके हैं, कामन-सभा और लार्ड-सभा में जो लोग भारत के विपरीत बोलते थे, उन पर आश्चर्य नहीं किया जा सकता। बहुत अंशों में वह स्वाभाविक है, लेकिन उनमें जो लोग इस देश का पक्ष समर्थन करते थे, उनकी सहानुभूति और उदारता का असली रूप क्या होता है, इसका प्रमाण समय आने पर ही मिलता है।

कुछ दिनों से इंगलैण्ड में भारत के सम्बन्ध में बहुत सी बातें हो रही थीं। एक ओर योरप का युद्ध विषम होता जाता था और दूसरी ओर भारत का सत्याग्रह और आन्दोलन। भारतीय नेता और कार्यकर्त्ता-देश की परतंत्रता मिटाने पर लगे थे। वे अब किसी प्रकार गुलामी की जंजीरों में नहीं रहना चाहते थे। इस प्रकार की परिस्थिति पर इंगलैण्ड चौकन्ना हो रहा था। ब्रिटिश-शासक समय को देखकर कदम उठाना चाहते थे। उनके सामने सबसे पहले इंगलैण्ड की इज्जत थी और उसके बाद किसी दूसरे देश की।

भारत में बढ़ने वाली अशान्ति को दबाने की जरूरत थी। इसलिए ब्रिटेन के शासक और राजनीतिक व्यक्ति दूरदर्शिता से काम ले रहे थे। सभी की आवाजें एक-सी न थीं, कोई भारत की परतंत्रता को मजबूत बनाने पर तुला हुआ था तो कोई अपने भाषणों में उदारता और त्याग का परिचय दे रहा था। इस प्रकार के भाषणों और वक्तव्यों का संक्षेप में उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इस परिच्छेद में इंगलैण्ड के उदार राजनीतिज्ञों का अभिनय हमें देखना है।

भारत के पक्ष में जो अंगरेज राजनीतिज्ञ भाषण देते थे, उनमें

सर स्टैफर्ड क्रिप्स का नाम उन दिनों ब्रिटिश-पार्लामेण्ट में अधिक सम्मान के साथ लिया जा रहा था। भारत के अधिकांश नेता और विद्वान यह समझ चुके थे कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स के पक्ष-समर्थन से भारत के प्रश्न का हल हो जाना बहुत कुछ सम्भव है। जोरदार शब्दों में क्रिप्स का कहना था कि भारत को स्वराज्य देने की घोषणा तुरन्त कर देना चाहिए। उनकी इन बातों का भारत में बहुत आदर होने लगा था और लोग बड़ी-बड़ी आशाओं का निर्णय कर चुके थे। एक बड़ी संख्या में भारतीय समझ चुके थे कि सर स्टैफर्ड ही एक ऐसा आदमी है जो भारत के प्रश्न पर नये दृष्टिकोण से विचार कर सकता है और ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों को भारतीय समस्या हल करने के लिए मजबूर कर सकता है।

भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स, न जाने कितने भाषण दे चुके थे और उनके सभी भाषणों मे भारत के पक्ष का समर्थन था। आपने ६ फरवरी, १९४२ को वक्तव्य देते हुए कहा—

"अगर भारतीय प्रश्न को हल करने में मैं सहायक साबित हो सकूँ तो भारत जाने में मुझे प्रसन्नता होगी। भारत की यह एक ऐसी समस्या है जिसका निर्णय तुरन्त हो जाना चाहिए। इस प्रश्न का जितना सम्बन्ध भारतीय नेताओं के साथ हैं, उतना ही ब्रिटिश-अधिकारियों के साथ भी है। ×इसके सम्बन्ध मे सरकार को अपनी एक नीति का निश्चय कर लेना चाहिये और वह नीति अब तक की सभी नीतियों से बिल्कुल भिन्न होना चाहिये।"

लगातार अपने भाषणों और वक्तव्यों के बाद सर स्टैफर्ड क्रिप्स इङ्गलैण्ड में इस योग्य मान लिये कि वे भारत की समस्या को हल करा सकते हैं और इसी आधार पर सरकार की ओर से घोषणा की गयी—

सर स्टैफर्ड क्रिप्स एक विशेष उद्देश्य को लेकर भारत जा रहे हैं; वे भारत की समस्या को हल करने के लिए ब्रिटिश-सरकार द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव पर भारतीय नेताओं की स्वीकृति प्राप्त करेंगे।

भारत के प्रश्न पर ब्रिटिश-सरकार के स्वीकृत प्रस्ताव सर स्टैफर्ड क्रिप्स को दिये जाने और उनको भारत भेजने का कार्य क्रम बन गया। प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल जो अभी कल तक भारत को अपने अधिकार में रखने के लिए विक्षुब्ध हो रहे थे, सर स्टैफर्ड की योजना

में आज वे भी सहमत थे। ११ मार्च, १९४२ को कामन-सभा में भाषण देते हुए प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल ने कहा—

"जापानियों के लगातार आगे बढ़ने से भारत में जो खतरा पैदा हो गया है, उसको देखते हुए यह जरूरी मालूम होता है कि उस देश की एक मजबूत एकता का संगठन किया जाय। ×× इसके सम्बन्ध में अल्प संख्यकों और दलित वर्ग के लोगों का ख्याल रखना जरूरी है। साथ ही, रियासतों के साथ हमारी जो सन्धियाँ हैं, उनका प्रश्न भी हमारे सामने है।"

"इसलिए हमने युद्ध-मन्त्रि-मण्डल के एक सदस्य को भारत भेजने का निर्णय किया है। वे वहां जाकर भारतीय नेताओं के साथ बात-चीत करें और वे इस बात की तसल्ली कर लें कि हमने जो निर्णय किया है और जो हमारे ख्याल से न्यायोचित है, साथ ही भारतीय समस्या का अन्तिम हल है, सफल हो जायगा। सर स्टैफर्ड क्रिप्स न केवल बहुसंख्यक हिन्दुओं की ही स्वीकृति प्राप्त करेंगे, बल्कि अल्पसंख्यकों की स्वीकृतियां भी प्राप्त करेंगे, जिनमें मुसलमान प्रमुख हैं।"

×हमको स्मरण रखना चाहिए कि विश्व की स्वतन्त्रता के संग्राम में भारत को प्रमुख भाग लेना है। ×हमें यह भी याद रखना चाहिए कि भारत एक ऐसा अड्डा है, जहां से हम अत्याचारों के विरुद्ध आक्रमण कर सकते हैं।"

"हमें विश्वास है कि हमारे मित्र सर स्टैफर्ड क्रिप्स के भारत पहुँचने पर वहां की सभी श्रेणियों के लोगों के विश्वास प्राप्त होंगे और इस बीच भारत और इङ्गलैण्ड में, एक दूसरे के विरुद्ध कोई बात न पैदा की जायगी।"

ब्रिटिश सरकार की योजना

भारतीय समस्या को हल करने के लिए कुछ ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों के जोरदार भाषण देने पर, जिनमें सर स्टैफर्ड क्रिप्स प्रधान माने गये थे, ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने एक योजना तैयार की थी, जो प्रस्तावों के रूप में थी। प्रस्तावकों की नजरों में भारतीय समस्याओं का यह अन्तिम हल था और उन्हीं के शब्दों में, वह न्यायपूर्ण भी था। उस

हल को प्रस्तावों के रूप में, लेकर सर स्टैफर्ड किप्स भारत में आये और उन्होंने उनको भारतीय नेताओं के सामने रखते हुए कहा—

भारत के सम्बन्ध में किये गये वादों के सम्बन्ध में ब्रिटिश-सरकार स्पष्ट बता देना चाहती है कि वह भारत में स्वायत्त शासन स्थापित करने की पूरी कोशिश में है। इसके लिए भारत में एक नया संघ स्थापित किया जायगा। वह संघ एक उपनिवेश के तौर पर होगा। साथ ही, उसे औपनिवेशिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। वह संघ भीतरी और बाहरी किसी भी समस्या मे परतन्त्र न होगा।

इसलिए ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की है—

(क) युद्ध बन्द होने के बाद तुरन्त ही भारत में नवीन शासन विधान तैयार करने के लिए संस्था कायम की जायगी।

(ख) उस संस्था में रियासतें निम्नलिखित तरीकों और आधारों पर भाग लेंगी :—

(ग) इस प्रकार जो विधान तैयार होगा, उसको कार्यान्वित करने का भार, ब्रिटिश-सरकार उसी अवस्था में अपने सिर पर लेती है, जब कि नीचे लिखी हुई शर्तें भी पूरी होती हों—

(१) ब्रिटिश-भारत का कोई प्रान्त अगर चाहे तो वह वर्तमान विधान कायम रख सकता है और बाद में भी उसको नवीन विधान में शामिल होने का अधिकार रहेगा।

(२) ब्रिटिश-सरकार और विधान-निर्मात्री संस्था के बीच एक सन्धि होगी, जिसमे सत्ता हस्तान्तरित होने की सभी समस्यायें लिखी जांयगी, उस सन्धि में सरकार का आश्वासन रहेगा, संस्था की ओर से अल्पसंख्यकों की सुविधाओं का प्रबन्ध रहेगा।

"नये विधान के अनुसार देशी रियासतें चलना चाहती हैं, अथवा नहीं दोनों परिस्थितियों में अलग-अलग व्यवस्थायें होंगी और नये विधान को स्वाकार कर लेने पर उनकी सन्धियों मे संशोधन किया जायगा।"

(घ) अगर भारत के प्रमुख सम्प्रदायों के नेताओं ने युद्ध समाप्त होने तक किसी प्रणाली के सम्बन्ध में मिलकर निश्चय न कर लिया तो बिधान-निर्मात्री संस्था का निर्माण नीचे लिखे तरीके से होगा—

"प्रान्तीय चुनावों के नतीजे मालूम होते ही प्रान्तों की निम्नधारा सभाओं के सभी सदस्य मिलकर एक निर्वाचक-मण्डल बनायेंगे और प्रतिनिधियों के अनुपात के अनुसार विधान-निर्मात्री संस्था का चुनाव करेंगे। निर्वाचक-मण्डल मे जितने आदमी होंगे, उनकी दसांश संख्या इस विधान-निर्मात्री संस्था में होगी।"

"ब्रिटिश भारत की तरह देशी रियासतों से भी उनकी जन-संख्या के अनुपात से प्रतिनिधियों का चुनाव करने को कहा जायगा और उन प्रतिनिधियों के अधिकार ब्रिटिश-भारत के प्रतिनिधियों के समान होंगे।"

(ङ) भारत के सामने जो खतरा पैदा हुआ है, उसमें और जब तक नया विधान लागू नहीं होता, ब्रिटिश-सरकार भारत की रक्षा और नियंत्रण का भार अपने अधिकार मे रखेगी। ×सरकार की इच्छा है और उसकी भारत के नेताओं से अपील है कि वे वर्त्तमान युद्ध को जीतने के लिए अपने देश और ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल तथा मित्र-राष्ट्रों की सलाहों में तुरन्त भाग लेना आरम्भ कर दें।

भारतीय नेताओं का रुख

सर स्टैफर्ड क्रिप्स का आगमन पहली बार भारत में न था। इसके पहले नवम्बर १९३९ में और उसके पहले १९३२ में भी वे आचुके थे। सन् १९२९ में भी वे इस देश में आये थे। इसलिए भारत के अधिकांश नेता और विशेषकर राजनीतिक व्यक्ति उनके सम्बन्ध में बहुत-कुछ परिचित थे। आम तौर पर लोगों का ख्याल उनके प्रति अच्छा नहीं था। इस बार भारत आने पर उनके सम्बन्ध में तरह-तहर की बातें उठ रही थीं।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स २३ मार्च को देहली पहुँचे। उनके साथ जो योजना आयी थी, उसको विशेष रूप से गुप्त रखने की कोशिश की गयी थी लेकिन थोड़े समय के भीतर ही उनकी असलियत लोगों को मालूम हो गयी, उस हालत में जब कि क्रिप्स भारतीय नेताओं से मिलकर किसी नतीजे पर भी न पहुँचे थे।

क्रिप्स से मुलाकात करने के लिए मौलाना आजाद को निमन्त्रण मिला। उनको उसी दिन मालूम हो गया कि इंगलैण्ड से जो प्रस्ताव

आये हैं, उनमें क्या है। फिर भी उनका अन्तिम निर्णय करने के लिए, कांग्रेस की कार्य-समिति की बैठक बुलायी गयी।

कार्य-समिति की इस बैठक में गांधी जी को भी आमन्त्रित किया गया। वे सर स्टैफर्ड क्रिप्स से मुलाकात करने की इच्छा न रखते थे। क्योंकि सन् १९२९ में उनके आश्रम मे आने पर गांधी जी की मुलाकात हो चुकी थी। इसलिए गाँधी जी उनको निकट से जानते थे और गांधी जी में एक बड़ी खूबी यह थी कि उनको किसी आदमी के पहचानने में देर न लगती थी।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स मीठी बातें करने मे बहुत प्रसिद्ध थे। उनके व्यवहारों मे मित्रता का एक ऐसा तरीका रहता था कि जिससे सभी उनकी प्रशंसा करते। ३० मार्च, १९४२ को इंगलैण्ड के भेजे हुए प्रस्ताव भारत में प्रकाशित हुए। उस समय वे बहुत अनोखे मालूम हुए। प्रस्तावों में भारत के सभी दलों को खुश करने की कोशिश की गयी थी। मुस्लिम लीग के लिए उन प्रस्तावों में सब से बड़ा सुभीता यह था कि भारत के प्रान्तों को, नवीन स्थापित भारतीय संघ से अलग हो जाने का अधिकार था। देशी रियासतों को यह अधिकार था कि वे नया विधान स्वीकार करें अथवा न करें। स्वीकार करने पर भी उनको अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया था।

देशी रियासतों के साथ वहां की जनता के अधिकारों का कुछ भी खयाल न किया गया था। यहाँ तक कि अपनी रियासतों में भी उनको कोई अधिकार न मिलते थे।

काँग्रेस-कार्य-समिति की बैठक हुई और उसमें ब्रिटिश सरकार की प्रस्तावित योजना पर विचार हुआ। उस योजना में देश की स्वतंत्रता को जिस प्रकार के वाक्यों और शब्दों मे रखा गया था, उसका अर्थ और रूप समझने में कार्य-समिति को परेशानी नहीं हुई।

देशी रियासतों के सम्बन्ध में भी एक भयानक राजनीति का प्रस्तावों में समावेश किया गया था। सर स्टैफर्ड क्रिप्स का कहना था कि रियासतों के साथ ब्रिटिश-सरकार की जो पुरानी संधियाँ हैं, उनको सामने रखकर ही सरकार उनका कोइ रास्ता निकाल सकती है। लेकिन क्रिप्स के पास इस तर्क का कोई भी जवाब न था कि ब्रिटिश-सरकार की संधियाँ तीस-चालीस रियासतों के साथ ही केवल

हैं और भारत में देशी रियासतों की संख्या ५६२ है। इस प्रकार बाकी रियासतों के साथ सरकार का केवल समझौता मात्र है।

संरक्षण की व्यवस्था

ब्रिटेन के प्रस्तावों का एक पहलू और था जो प्रस्तावों के साथ भारतीय नेताओं के सामने अभी तक रखा नहीं गया था। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स जिन प्रस्तावों को लेकर भारत में आये थे, उनमें देश की रक्षा का प्रश्न विशेष महत्व रखता था और उसी पर देश का ध्यान केन्द्रित हो रहा था।

अप्रैल सन् १९४२ के प्रारम्भिक दो सप्ताहों में काँग्रेस नेताओं और सर स्टैफर्ड क्रिप्स के बीच जो बातें हुईं, वह एक अजीब कहानी थी। संरक्षण के कई एक ऐसे पहलू थे, जो अब तक छिपाकर रखे गये थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि ब्रिटिश-सरकार ने भारत के भिन्न-भिन्न दलों की स्वीकृति के लिए जो प्रस्ताव भेजे थे, उनमें रक्षा के प्रश्न को उठाया ही नहीं गया था। परन्तु क्रिप्स के आने पर देहली में पत्र-प्रतिनिधियों का जो सम्मेलन हुआ, उसमें सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने साफ-साफ शब्दों में कह दिया कि अगर इस देश के सभी दलों के लोग मिलकर संरक्षण की व्यवस्था भारत को सौंपने के लिए प्रस्ताव करें तो भी ब्रिटिश-सरकार उस अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है।

यहीं पर आकर सारा मामला समाप्त हुआ। काँग्रेस-कार्य-समिति को अब इसके आगे विचार करने की कोई आवश्यकता न रही। उसने क्रिप्स-योजना को ठुकरा देने का निश्चय किया।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स को जब काँग्रेस का रुख मालूम हुआ तो उन्होंने अपना रङ्ग बदलने की कोशिश की और उसी पुरानी राजनीति से काम लिया, जिससे ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ भारत पर शासन करते चले आ रहे थे। परन्तु उनकी वह राजनीति सफल न हो सकी। सर स्टैफर्ड क्रिप्स की इस भारत-यात्रा का कोई परिणाम न निकला। वे पूर्ण रूप से असफल रहे।

योजना का असली रूप

जिस धूमधाम के साथ ब्रिटिस मन्त्रि-मण्डल ने भारत को स्वराज्य

देने के नाम पर कुछ प्रस्तावों की रचना की थी, उनमें ब्रिटिश राजनीति की आखिरी छाप थी। योरप के विश्वव्यापी युद्ध के कारण इंगलैण्ड जिस खतरे के सामने था, उसे वहाँ के राजनीतिज्ञ खूब जानते थे। जापान अपनी खूँख्वार फौजों के साथ जिस तेजी के साथ पूर्वीय देशों की ओर बढ़ रहा था, उससे मालूम होता था कि वह भारत पहुँच कर ही अपनी दौड़ समाप्त करेगा।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात को खूब जानते थे कि अगर भारत की शक्तियां नहीं मिलती और देश का सहयोग नहीं प्राप्त होता तो इंगलैण्ड और भारत, दोनों के सामने खतरा है। इसलिए इस संकट काल मे फिर एक बार भारतीय शक्तियों की सहायता लेकर शत्रु को पराजित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार जो योजना तैयार की गयी थी, वह वास्तव में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की परीक्षा के रूप में थी, जिसे भारत की कांग्रेस ने ठुकराकर सर स्टैफर्ड क्रिप्प और उनके दूसरे मित्रों को पूर्ण रूप से असफल बनाया।

उस योजना की रचना मे भयानक कूटनीति की भाषा से काम लिया गया था। आरम्भ से अन्त तक पूरी योजना में शब्दों का एक जाल था, जिसमें किसी प्रकार भारत के नेताओं को फाँसने की पूरी कोशिश की गयी थी। परन्तु इस माया-जाल मे ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल को कामयाबी न मिली।

क्रिप्स-मिशन की असफलता

भारत मे सर स्टैफर्ड क्रिप्स के आने पूर्व, ब्रिटिश-मन्त्रि-मंडल ने जिस प्रकार अपने यहाँ का वातावरण तैयार किया था, उसका किसी को अनुमान न था। ब्रिटिश-पार्लामेण्ट का कोई एक सदस्य भारत के विरुद्ध कहता तो तुरन्त दूसरा खड़ा होकर उसका विरोध करता और भारत को स्वराज्य दिये जाने के सम्बन्ध मे अपनी बेचैनी जाहिर करता।

इस प्रकार के वातावरण को देखकर सहज ही यह स्वीकार करना पड़ता है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने कुछ ऐसे भी हैं, जिनका विश्वास किया जा सकता है। इस प्रकार के सदस्यो मे सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने जो रूप धारण किया, उसने अरसे तक लोगों को भ्रम में रखा।

भारत में आते ही क्रिप्स-योजना का प्रभाव, भारतीय वातावरण पर पड़ा। आरम्भ में जिन लोगों ने विरोध करने की बातों का निर्णय किया, उनको भी एक बार कहना पड़ा कि—"योजना को आसानी के साथ अगर मन्जूर नहीं किया जा सकता तो नामन्जूर भी नहीं किया जा सकता।" इसी प्रकार के वातावरण में उसकी बातचीत चारों ओर आरम्भ हुई। प्रत्येक दल के नेता, बड़ी सरगर्मी के साथ दिलचस्पी लेते रहे। कांग्रेस-कार्य-समिति भी बहुत अर्से तक योजना के पक्ष में ही दिखाई देती रही। कार्यसमिति मे भाग लेने और बहस करने के बाद भी पण्डित जवाहर लाल नेहरू और कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स से कई बार मुलाकातें कीं, लेकिन योजना को इन नेताओं ने जितना ही पहचानने की कोशिश की उतना ही उसका बहुरूपिया भेष जाहिर होता गया। सर स्टैफर्ड क्रिप्स के बदले हुए रूप का पता चलते ही काँग्रेस के नेता मुस्कराने लगे।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स की जब इङ्गलैण्ड में भारत-यात्रा की तैयारी हो रही थी, उसी समय गांधी जी ने अपने नेत्रों मे अणुवीक्षण-यंत्र का प्रयोग किया था और उन्होंने उसे अपनी आँखों से उस समय तक नहीं उतारा, जब तक सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत छोड़कर इङ्गलैण्ड वापस नहीं चले गये।

दूसरे दलों के नेताओं के साथ-साथ, सर स्टैफर्ड क्रिप्स काँग्रेस के अन्य नेताओं से बातचीत कर रहे थे और सभी उस योजना को सोने का मृग समझ रहे थे, सर स्टैफर्ड क्रिप्स को अपनी सफलता की आशा होने लगी। लेकिन वे गाँधी जी के मुँह से भी कुछ सुनना चाहते थे। गाँधी जी खामोश थे और ऐसे मौकों पर वे खामोश रहना ही अधिक अच्छा समझते थे। परन्तु क्रिप्स को उत्सुक देखकर ब्रिटिश-योजना पर अपने विचार जाहिर करते हुए गाँधी जी ने कहा—

"अगर आपके यही प्रस्ताव थे तो आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों उठाया। भारत के लिए इस योजना के लाने के सम्बन्ध में मैं आपको सलाह दूँगा कि सबसे पहले मिलने वाले हवाई जहाज से आप इङ्गलैण्ड लौट जाँय।"

गाँधी जी की बात को सुनकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा—मैं आप की इस बात पर विचार करूँगा।

क्रिप्स-मिशन की वापसी

सर स्टैफर्ड क्रिप्स अपनी राजनीति में असफल रहे। उनका असली रूप थोड़े समय में ही जाहिर हो गया। काँग्रेस कार्य-समिति को ठुकराते ही उस योजना को चारों ओर से ठोकर खानी पड़ी।

भारत के प्रत्येक दल को यह समझने में अधिक देर न लगी कि योजना में ऐसा कोई पहलू नहीं है जिससे पता चलता हो कि ब्रिटिश सरकार सत्ता छोड़ने के लिए तैयार हो। ब्रिटेन की इस प्रकार की पालिसी को भारतीय नेताओं ने सन् १९१७ में ठुकरा दिया था। लेकिन ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों ने सन् १९४२ में जो योजना तैयार की, उसमें कोई भी नयी बात न थी। सन् १९१७ की घोषणा को ही नया रंग दिया गया था। दोनों में केवल इतना ही अन्तर था, जितना अन्तर किसी पुरानी पुस्तक का मुख-पृष्ठ और नाम बदल देने से हो जाता है, लेकिन भीतर के पृष्ठों में नाम पुराना ही बना रहता है। क्रिप्स-योजना की भी यही अवस्था थी। उसका नाम बदल गया था और कई एक रंगों से उसका गेट-अप बहुत खूबसूरत बनाया गया था। लेकिन भारतीय नेताओं को—विशेषकर गाँधी जी को योजना के पूर्व परिचय का स्मरण भूला न था। इसलिए यह योजना पूर्ण रूप से ठुकराई गयी।

लोगों को प्रसन्न करने में सर स्टैफर्ड क्रिप्स का नाम था, वे हँस-हँसकर बातें करना जानते थे। परन्तु योजना के ठुकराये जाते ही क्रिप्स का मुस्कराना भूल गया। बढ़ते हुए आवेश में वे संयम से काम न ले सके। उन्होंने कह डाला—

'यह भारतीयों का काम है, वे इस बात के समझने की कोशिश करें कि भविष्य में वे किस प्रकार का शासन चलाना चाहते हैं। सभी दलों के नेता मिलकर, उसी योजना की रचना करें। अगर वे हमारी सहायता की माँग करेंगे तो प्रसन्नता के साथ उनकी सहायता की जायगी। लेकिन यह तो भारत के ही लोगों का कार्य है कि वे अपने भावी शासन-विधान के सम्बन्ध में किसी एक निष्कर्ष पर आने का प्रयत्न करें उनका विवेक इस महान कार्य में उनकी सहायता करे, हमारी यह अभिलाषा है।"

सर स्टैफर्ड क्रिप्स को इतना कहने पर भी संतोष नहीं मिला। उनके अन्तःकरण में अप्रसन्नता के भाव तेजी पकड़ रहे थे। यद्यपि उन्होंने उनको सम्भालकर और संयम से काम लेकर कहने की कोशिश की थी परन्तु असफलता से चिढ़कर बिना कुछ कहे हुए संयम से उनको सन्तोष न मिल रहा था। इसीलिए बाद में उन्होंने जो वक्तव्य दिये, उसमें साफ तौर पर धमकी थी। उन्होंने कहा—

"जिस बात की हमसे आशा की जाती थी, हमने उसी को पूरा करने की कोशिश की है। अब यह भारतीयों का काम है कि उनकी स्वाधीनता के सम्बन्ध में जो हम सहायता करना चाहते हैं, उसे वे मन्जूर करें या न करें। अगर भारतीयों ने इस मौके का लाभ नहीं उठाया तो इसका उत्तरदायित्व उन्हीं पर रहेगा। हमारी योजना स्पष्ट और साफ है। अगर भारत के नेताओं ने उसे नामन्जूर कर दिया तो युद्ध के समाप्त होने तक फिर इस पर विचार करने का अवसर न मिलेगा।"

जहां तक वक्तव्य का प्रश्न था, इस प्रकार कहकर क्रिप्स ने अपनी बात समाप्त कर दी। फिर भी उनके हृदय मे सन्तोष न था। इसीलिए अपनी बात चीत के सिलसिले मे उन्होंने यह भी कह डाला—

"अगर भारत ने योजना को अस्वीकार किया तो भयानक दमन चक्र से काम लिया जायगा।"

क्रिप्स-योजना का अन्त हो रहा था। असफल होने के बाद सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत में रुक नहीं सके। उनकी बात चीत जैसे ही समाप्त हुई और योजना की मन्जूरी के सम्बन्ध मे जैसे ही उनको निराशा हुई, इंगलैण्ड लौटने की वे तैयारी करने लगे। उनकी असफलता का ही यह परिणाम न था। योजना को भारत में लाकर और देश के विभिन्न दलों की मन्जूरी बड़ी जल्दबाजी में लेकर, वे तुरन्त इंगलैण्ड वापस जाना चाहते थे। इतने बड़े कार्य के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स के पास दो सप्ताह से अधिक दिनों का समय न था। योजना की बातचीत खत्म होते ही वे भारत से रवाना हो गये।

सर स्टैफर्ड क्रिप्प की असफलता बड़ी तेजी के साथ इंगलैण्ड पहुँच रही थी। इसलिए ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ इस बात से अपरिचित न थे कि भारतीय नेता ब्रिटिश-योजना को ठुकरा रहे हैं। अंगरेज

राजनीतिज्ञों ने फिर रङ्ग बदला। ७ अप्रैल को न्यूयार्क टाउन हाल मे भाषण देते हुए भारत के भूतपूर्व वाइसराय लार्ड इरविन और अमेरिका के तत्कालीन ब्रिटिश राजदूत लार्ड हेलीफैक्स ने योजना के ठुकराये जाने पर कहा

"अगर हमारी कोशिशें कामयाब न हुईं तो ब्रिटिश-सरकार के पास अनेक ऐसे साधन हैं, जिनके आधार पर भारत सरकार को मजबूर होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ेगा। भारत में कई एक सुसंगठित राजनीतिक ऐसे दल हैं कि जिनका सहयोग अभी तक हमने नहीं लिया। काँग्रेस के संगठन मे उस देश का एक छोटा-सा हिस्सा है, जो सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है। परन्तु उसका यह दावा, वहीं की दूसरी संस्थाओं के अनुसार झूठा है।"

इंगलैण्ड जाते हुए सर स्टैफर्ड ने देहली-रेडियो स्टेशन से एक ब्राड्कास्ट किया। उसमे उन्होंने कहा—

"भारत मे ब्रिटिश-योजना की जिस प्रकार अलोचनायें हुईं, उस प्रकार की बहसें आम तौर पर कचहरियों मे पायी जाती है। किसी निर्णय तक पहुँचने के लिए यह एक सही रास्ता नहीं था। यदि भारत को स्वतन्त्रता की ओर बढ़ना है और संसार के देशों मे अपना एक स्थान बनाना है तो उसको समझौता करना चाहिए।"

योजना पर भारतीय लोकमत

ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल ने अपनी जिस योजाना को भारतीय नेताओं की मन्जूरी के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स के द्वारा भेजा था, उसको भारत के सभी दलों और सार्वजनिक संस्थाओं ने नामन्जूर कर दिया था, यद्यपि उनके दृष्टिकोण अलग-अलग थे। योजना के साथ इस देश में वैसा ही व्यवहार किया गया, जैसा कि साइमन-कमीशन के साथ किया गया था। सन् १९२७-२९ में देश के विभिन्न दलों ने उसको भी नाम्जूर किया था।

क्रिप्स योजना को नामन्जूर करने के लिए कांग्रेस के सामने जो प्रधान कारण था, वह इस प्रकार था—योजना के अनुसार जो

शासन-विधान बनाये जाने को था, उसका धारा-सभा के ऊपर कोई प्रभाव न पड़ता था।

इसके सिवा उसके नामन्जूर करने के अनेक कारण काँग्रेस के सामने थे, जो इस प्रकार थे—

१—देश का कोई भी प्रान्त नवीन विधान के अनुसार भारतीय संघ से अलग हो सकता था।

२—नये विधान में देशी रियासतों की जनता को प्रतिनिधित्व का अधिकार नहीं दिया गया था।

३—देश के रक्षा और युद्ध-विभाग को ब्रिटिश-सरकारने अपने अधिकार मे रखा था।

उस योजना को मुस्लिम लीग ने भी ठुकरा दिया था। उसका कहना था कि लीग योजना को स्वीकार करने के लिए राजी है, अगर काँग्रेस भी उसे मन्जूर करले। मुस्लिम लीग के नामन्जूर करने का एक प्रधान कारण यह था कि उपस्थित ब्रिटिश योजना के अनुसार पाकिस्तान की मांग पूरी न होती थी।

हिन्दू-महासभा ने भी क्रिप्स-योजना को नामन्जूर कर दिया था। उसका एक बड़ा कारण यह था कि योजना मे भारत के विभाजन को अस्पष्ट रूप से गुञ्जाइश दी गयी थी।

भारत के दलित वर्ग ने यह कह कर उस योजना को नामन्जूर किया था कि उसमें दलितों के लिए जो अधिकार दिये गये हैं; वे सन्तोष जनक नहीं हैं।

अब भारत के ईसाईयों और मजदूरों का प्रश्न था। लेकिन उन दोनों की तरफ से भी योजना को नामन्जूर किया गया और उसी आधार पर नामन्जूर किया, जिसपर काँग्रेस ने अपनी नामंजूरी दी थी।

देश में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ही एक ऐसी संस्था रह जाती थी, जिसकी मन्जूरी का प्रश्न था उसने उस योजना को स्वीकार कर लिया।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत से लौटकर इंगलैण्ड पहुँच गये। उनका असली रूप भारत में जितना जाहिर हुआ था। इंगलैण्ड पहुँचने पर उससे भी अधिक प्रकट हुआ। इंगलैण्ड पहुँचकर क्रिप्स ने

ने अमेरिका को जो ब्राडकास्ट किया, उसमें अनेक गैर—जिम्मेदारी की उन्होंने बातें कहीं। भारत में कुछ बातें उनके मुँह से ऐसी निकली थीं, जिनसे उन्हीं का व्यक्तित्व फीका पड़ रहा था। वास्तव में क्रिप्स ने जान-बूझ कर उन बातों को नहीं कहा था। अचानक में ही उनके मुंह से निकली थीं। अथवा यों कहा जाय कि भारतीय परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिए सही और गलत—दोनों प्रकार की बातें कही थीं।

इंगलैण्ड पहुँचने पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स को अपनी कही हुई अनेक बातों से इनकार करना पड़ा। इस प्रकार की उनकी बातों ने उनकी स्थिति में बड़ा अन्तर पैदा कर दिया था। भारत मे योजना को ले जाने के पूर्व, वे कुछ और साबित हुए थे और असफल योजना के साथ लौटने पर संसार के राजनीतिज्ञों के सामने उनका दूसरा ही रङ्ग प्रकट हुआ।

इस सिलसिले मे एक ही बात और कहना है। सर स्टैफर्ड क्रिप्स को और उनकी योजना को जितना स्पस्ट रूप मे गांधी जी ने समझा था, किसी दूसरे नेता ने उनको उतना नहीं समझ पाया। गाँधी जी के इशारे पर ही काँग्रेस ने योजना को ठुकराया था। जब गाँधी जी से पूछा गया कि ब्रिटेन की यह योजना क्या है तो उन्होंने मुस्करा-कर कहा था—

"एक दिवालिए बैंक की गैर-मियादी हुन्डी!"

बाईसवाँ परिच्छेद

आकाश-व्यापी देश की आवाज

अंगरेज भारत छोड़ दें

भीतर और बाहर, देश की परिस्थिति बहुत असन्तोषजनक हो रही थी। भारत से क्रिप्स-मिशन वापस चला गया था। समझौते के द्वार बन्द हो चुके थे। ब्रिटिश-सरकार अपनी हठधर्मी पर डटी हुई थी।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स के असफल लौटने पर, भारत और इङ्गलैण्ड—दोनों पर उसकी प्रतिक्रियायें अलग-अलग हुईं। इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों और विशेषकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने भारत के सम्बन्ध में विरुद्ध प्रचार आरम्भ किया। दूसरे देशों को यह बताने की कोशिश की गयी कि ब्रिटिश-सरकार की ओर से स्वराज्य देने के लिए जो प्रस्ताव भारत भेजे गये थे, उनको वहाँ के नेताओं ने नामन्जूर कर दिया है। ब्रिटिश-मन्त्रि-मण्डल जिस उदारता से काम ले रहा था, उसका लाभ भारत न उठा सका। अपने इस प्रचार के साथ-साथ इङ्गलैण्ड ने अपनी पूरी अकड़बाजी से काम लिया। भारत से लौटने के समय जैसा कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा था कि अगर यह योजना नामन्जूर की गयी तो इस देश में भयानक दमन से काम लिया जायगा। भारत को हर तरीके से दबाने के लिए कोशिशें होने लगीं।

भारत पर उसकी दूसरी ही प्रतिक्रिया हुई। स्वतन्त्रता के दीवाने देश की परतन्त्रता को मिटाने के लिए अधीर हो रहे थे। सम्पूर्ण भारत में गुलामी के कारण एक बेचैनी फैल रही थी और इस बेचैनी का एक बड़ा कारण दूसरा भी था। वह यह कि ब्रिटिश और अमेरिका के देशों पर जापानी फौजों के आक्रमण हो चुके थे और लगभग सभी स्थानों पर अमेरिका और ब्रिटिश फौजों की पराजय हुई थी।

बर्मा की ओर बढ़कर जापानी फौजें भारत की ओर देख रही थीं और कुछ स्थानों पर, जापानी फौजों ने भारत पर भी बम वर्षा की थी। इङ्गलैण्ड साफ-साफ यह समझ रहा था कि दूसरे महायुद्ध की लपटें भारत के अत्यन्त करीब पहुँच चुकी हैं। ऐसी दशा में अब यह देश पूरे खतरे के सामने आ गया है।

इस परिस्थिति में काँग्रेस के नेता ब्रिटिश-सरकार से भारत का साफ-साफ फैसला करना चाहते थे। ब्रिटेन की गुलामी भारत में तो थी ही, जापान भी उसको अपनी गुलामी में जकड़ने के लिए बराबर बढ़ रहा था। इस भयानक समय में भारतीय नेताओं को और देश की जनता को क्या करना चाहिए, यह एक भयानक प्रश्न देश के सामने था। इस प्रश्न को सुलझाने के लिए काँग्रेस के नेताओं ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से साफ-साफ बातें कीं और यह चाहा गया कि ऐसे भयानक समय में भी ब्रिटिश-सरकार भारत को अपनी रक्षा का भार सौंप दे और उसके उत्तरदायित्व से ब्रिटेन अलग हो जाय। लेकिन देश की इन आवाजों के प्रति ब्रिटिश-सरकार ने अपने कानों में उङ्गली लगा ली और वह चुप होकर बैठ रही।

अब भारत करता क्या! इङ्गलैण्ड की ओर से सभी आशायें टूट चुकी थीं। काँग्रेस कार्य-समिति के सामने बार-बार यह प्रश्न आता था कि जापानियों के आक्रमण पर इस देश को क्या करना चाहिए। जिस युग में दूसरे देशों के युवक अपनी आजादी की रक्षा के लिए बलिदान हो रहे हों और सम्पूर्ण विश्व की शक्तियाँ आने वाली गुलामी का मुकाबला करने में लगी हों, उस समय भारत को क्या करना चाहिये! अरसे से वह एक गुलामी की जंजीरों को तोड़ने की कोशिश कर ही रहा था, इसी मौके पर एक दूसरा हमला उसके सामने आ गया। अब वह क्या करे? देश के नेता और स्वाभिमानी युवक क्या इस दूसरी गुलामी के सामने आत्म-समर्पण करें अथवा बलिदान होने के लिए अपने जीवन का मोह त्याग दें! ये दोनों ही प्रश्न भयानक रूप से देश के सामने थे। भारत का स्वाभिमान पराधीनता की अपेक्षा मृत्यु को अधिक पसन्द कर रहा था। लेकिन उसका मूल्य? वह गुलाम तो था ही। पराधीनों को बलिदान का मूल्य नहीं मिला करता। बलिदान होने की भावनायें स्वाधीनों की शक्तियाँ होती हैं।

इस बलिदान का भारत को क्या श्रेय मिलेगा ! वह तो आज भी गुलाम है और ब्रिटिश-सरकार भविष्य में भी उसे गुलाम ही बनाकर रखेगी यह उसका दृढ़ निश्चय है ।

ब्रिटेन और भारत

सितम्बर १९३९ से लेकर, अक्टूबर १९४० तक भारतीय नेताओं ने जो आन्दोलन किया, उसका पहला उद्देश्य यह था कि महायुद्ध में संलग्न इंगलैण्ड को कोई परेशानी न मिलने पावे । उसके बाद अक्टूबर १९४० से लेकर अक्टूबर, १९४१ तक भारत में व्यक्तिगत सत्याग्रह चला । इसका मुख्य उद्देश्य अपनी परन्त्रता के प्रति ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों का ध्यान आकर्षित करना था ब्रिटेन को किसी प्रकार के संकट में डालना न था । परन्तु इसका परिणाम क्या हुआ ?

संसार के दूसरे देशों के सामने भी अपनी गुलामी को मिटाने के प्रश्न आये हैं । उनको उसके लिए जिस प्रकार रक्तपात से काम लेना पड़ा है, उसे सम्पूर्ण संसार जानता है । दुनिया का कौन-सा देश है, जो कभी गुलाम न हुआ हो और जिसने अपनी गुलामी की जन्जीरें तोड़ी न हों ! संसार का सारा इतिहास इसी प्रकार के रक्तपात से भरा हुआ है ! परन्तु गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय काँग्रेस ने जिस प्रकार देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की योजना बनायी थी तथा सत्य और अहिंसा लेकर उसकी घोषणा की थी, क्या विश्व के इतिहास में यह एक अनोखी चीज न थी ?

जीवन के बलिदानों का इंगलैण्ड पर कोई प्रभाव न पड़ा । गाँधीजी की घोषणाओं की उसने आरम्भ से लेकर अन्त तक अवहेलना की । अनेक मौकों पर इंगलैण्ड की ओर से झूठी घोषणायें की गयीं ! भारत के राजनीतिक नेताओं को धोखा देने के लिए बार-बार कमीशन मिशन भारत में भेजे गये !

ब्रिटिश-मन्त्रि-मण्डल की घृणित कूटनीति के फलस्वरूप, भारत को स्वराज्य देने के लिए एक योजना बनायी गयी और सर स्टैफर्ड क्रिप्स के साथ उसे भारत भेजा गया । परन्तु भारतीय नेताओं के द्वारा उसके नामंजूर किये जाने पर ब्रिटिश-मन्त्रि-मण्डल की भावनायें और भी अधिक दूषित हो गयी ! क्या यही मनुषत्व है ?

परिणाम यह हुआ कि भारत और इङ्गलैण्ड के बीच की परिस्थितियाँ बिगड़ने लगीं। अपनी सारी कोशिशों की असफलता के बाद, भारत में व्यापक रूप से ब्रिटेन के विरुद्ध दुर्भावना जोर पकड़ने लगी। कांग्रेस-कार्य-समिति देश की इन लहरों को देखकर भयभीत हो उठी। वह अपनी सारी सहानुभूति ब्रिटेन के पक्ष मे रखती थी और जापानी आक्रमणों को निंदा और घृणा के साथ देखती थी।

इन दिनों में देश की जनता स्वाधीनता के प्रयत्नों में थकावट अनुभव करने लगी थी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अब उसमें अधिक धैर्य न रह गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक अवसरों पर एक बड़ी संख्या बहक कर गांधी जी से आगे बढ़ना चाहती थी और उसको संयम मे रखने के लिए गांधा जी को कितने ही मौकों पर बहुत बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ा था। फिर भी कभी-कभी एक बड़ा मतभेद पैदा हो जाता था।

सन् १९४२ के कई महीनों तक गाँधी जी का विश्वास ब्रिटिश सरकार पर बराबर काम करता रहा। लेकिन उसकी लगातार असावधानी और अवहेलना देखकर गांधी जी का बिश्वास टूटने लगा था और थोड़े ही दिनों मे उनको इस बात का एतबार न रहा था कि ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल भारत के साथ कुछ न्याय करेगा।

ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल के भाषणों और वक्तव्यों ने गांधी जी के हृदय के विश्वास को हमेशा धक्का पहुँचाया था। फिर भी उन्होंने संयम से काम लिया था। भारत की समस्या पर मि० एमरी ने जो एक बात पकड़ रखी थी, उसके सिवा उनके पास दूसरा कोई गाना ही न था।

२२ अप्रैल, १९४१ में मि० एमरी ने कामन्स-सभा के सामने भाषण देते हुए अपनी पुरानी बातों को दुहराया था और कहा था कि भारत के राजनीतिक दल मिलकर सब एक क्यों नहीं हो जाते।

मि० एमरी की यह बात पहले पहल गाँधी जी ने न सुनी थी। उनके मुँह से अनेक बार इस प्रकार की बातों को सुनकर गांधी जी जब उठे थे। इसीलिए अब उन्होंने मि० एमरी की उस बात का एक उत्तर निश्चित कर लिया था। मि० एमरी ने इस बात को भली प्रकार समझ लिया था कि भारत में केवल एक ही बात नहीं हो सकती और

जो नहीं हो सकती वह है, उसके भिन्न-भिन्न दलों की एकता। गाँधी जी स्वयं इस एकता के स्थापन मे असफल हो चुके थे। देश की इसी कमजोरी का सहारा लेकर ब्रिटिश-सरकार गाँधी जी को असफल बनाने का कार्य कर रही थी और इस देश में सदा सर्वदा के लिए शासन कायम रखने का यही उसको एक सहारा मिला हुआ था।

इसलिए मि० एमरी के इस तर्क का गांधी जी ने जवाब देते हुए कहा—आखिर ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ यह बात क्यों नहीं मान लेते कि उसके भिन्न-भिन्न दलों की एकता का होना और न होना भारत का घरेलू मामला है। वे एक बार भारत से हट जांय तो मेरा पक्का विश्वास है कि भारत के विभिन्न दल मिलकर एक हो जायँगे।

गांधी जी ने मि० एमरी की बातों के उत्तर में ही ऐसा नहीं कहा था बल्कि उनका यह विश्वास हो गया था कि जब तक भारत में अंगरेजों का शासन रहेगा, उसके भिन्न-भिन्न दलों में कभी एकता नहीं हो सकती। इसीलिए उन्होंने अब यह कहना भी आरम्भ किया—

"मैं भली प्रकार समझता हूँ कि अब वह समय आ गया है कि जब अंगरेजों को भारत से अलग हो जाना चाहिये।"

गाँधी जी देश की परिस्थिति को समझते थे। स्वाधीनता के मार्ग पर वे सब से आगे चलने वाले थे। कुछ लोगों ने इस विषय में उनको समझने मे भूल की थी। गाँधी जी ने अनेक बार ब्रिटिश शासन का विद्रोही होना स्वीकार किया था और अब तो उन्होंने स्पष्ट कहना आरम्भ किया—

"प्रत्येक अंगरेज से मेरी प्रार्थना है कि वह मेरे इस वक्तव्य का समर्थन करे कि अंगरेजों को एशिया और अफ्रीका से हट जाना चाहिए।"

"सच बात यह है कि विजेता को भी सहायता दी जाती है, वह स्वतन्त्रता पूर्वक दी गयी सहायता नहीं कहलाती।"

"भारत पर अंगरेजों का जो अस्वाभाविक प्रभुत्व चल रहा है, उसको समाप्त करने के लिए शान्ति और अहिंसा के एक नये युग की आवश्यकता है।"

"मैं चाहता हूँ कि अंगरेज भारत को भगवान के भरोसे पर छोड़ दें।"

"अंगरेजों को भारत छोड़ देने की बात मैंने समझ-बूझकर कही है और मैं चाहता हूँ कि वे जल्दी भारत से चले जांय।"

अन्तिम निर्णय

योरप में चलने वाला दूसरा विश्व व्यापी महायुद्ध, भारत की स्थिति में रोज कुछ न कुछ अपना प्रभाव डालता था। भारतीय नेता उसका खतरा भारत के लिए भी भयानक रूप में समझने लगे थे और वे देश की रक्षा करने के लिए परतन्त्रता की हथकड़ियाँ और बेड़ियां काटकर फेंक देना चाहते थे।

६ जुलाई, १९४२ को कांग्रेस-कार्य-समिति की एक बैठक हुई। उसमें देश की वर्तमान परिस्थिति पर विचार हुआ। इन दिनों कांग्रेस में दो दल स्पष्ट दिखायी देते थे। एक दल था जो गांधी जी के इशारे पर काम करना चाहता था और दूसरा दल परिवर्तनवादी था, जो गांधी जी के त्याग और संयम से ऊब उठा था। वह देश को स्वतन्त्र करने के लिए अधीर हो रहा था।

६ जुलाई, १९४२ को कार्य-समिति की जो बैठक वर्धा में आरम्भ हुई, वह १४ जुलाई तक बराबर चलती रही। इस लम्बी बैठक में देश की अनेक भयानक स्थितियों को सामने रखकर उन पर विचार होता रहा और जो निर्णय, किये गये, वे ७ और ८ अगस्त १९४२ को होने वाले काँग्रेस के बम्बई अधिवेशन में उपस्थिति किये गये।

बम्बई के इस अधिवेशन ने वर्धा के निर्णय को मन्जूर कर लिया और स्पष्ट शब्दों में इस बात को स्वीकार किया—"आज के खतरों को देखते हुए ब्रिटिश शासन को समाप्त करके स्वतन्त्र हो जाना भारत के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भविष्य के लिए की गयी प्रतिज्ञाओं और गारण्टियों से काम न चलेगा।"

ब्रिटिश-सत्ता को हटाने की घोषणा

महासमिति के बम्बई-अधिवेशन में प्रस्तावों का कार्य समाप्त होने पर गांधी जी ने अपना भाषण दिया। देश की राजनीति पर आज

तक उन्होंने जो भाषण और वक्तव्य दिये थे, उनमें और बम्बई के इस भाषण में बहुत अन्तर था। गांधी जी सदा समय की पहचान करते थे और आत्म प्रेरणा पर ही वे अपने कदम उठाते थे। अपने इस भाषण में उन्होंने स्वतन्त्रा को स्पष्ट शब्दों में आमन्त्रित किया और कहा—

"स्वतन्त्रत। की इस लड़ाई मे मैं आपका नेतृत्व करने का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता हूँ। ×× इसी नाते मैं राष्ट्र का एक तुच्छ सेवक हूँ।"

"×× मेरा आत्मा कहता है कि मुझे अकेले ही संसार की दूषित वृत्तियों का सामना करना पड़ेगा। उसकी प्रेरणा है कि तुम सदा निर्भय रहो। तुम सुरक्षित हो। संसार भले ही तुम्हें किसी दूसरी दृष्टि से देखे।"

"मैं नहीं जानता कि मैं कब तक जीवित रहूँगा। लेकिन मेरा विश्वास है कि जब मैं इस संसार में न होऊँगा, उस समय भारत स्वतन्त्रता की सांसे ले रहा होगा।"

"आप की इस सम्पूर्ण उत्तेजना का कारण ब्रिटेन है, फिर भी मैं कोई ऐसा आक्रमण न करूँगा जो सत्य और अहिंसा के विरुद्ध हो। आज कांग्रेस के सामने जुए की एक अन्तिम बाजी है। या तो स्वतन्त्रता मिलती है अथवा कांग्रेस का अन्त होता है।"

"व्यक्तिगत सत्याग्रह का समय समाप्त हो चुका है। इस बार की लड़ाई सामुहिक होगी, हमारा यह युद्ध, अन्तिम युद्ध होगा और उसकी प्रत्येक बात स्पष्ट और साफ होगी।

सरकारी तैयारियाँ

बम्बई-अधिवेशन के पहले ही सरकार ने काँग्रेस के निर्णय को खुला विद्रोह मान लिया था। फल-स्वरूप बड़ी सावधानी के साथ सम्पूर्ण देश में इस बात की व्यवस्था होने लगी कि देशव्यापी इस विद्रोह को किस प्रकार असफल बनाया जाय।

विद्रोह को दबाने के लिए बड़ी तेजी के साथ ब्रिटिश-सरकार की तैयारियाँ हुई। देश के छोटे और बड़े-सभी स्थानों मे सरकार के आदेश पहुँच गये। सरकारी अधिकारी इस बात पर तुल गये कि

विद्रोही आगे कदम न उठाने पावें। प्रत्येक अवस्था में देश की जनता के विरुद्ध भयानक दमन चक्र चलाने की तैयारियां आरम्भ हो गयीं। सब से पहले कार्य-समिति के सदस्यों और बम्बई के चालीस विख्यात नागरिकों को गिरफ्तार करके विक्टोरिया टरमिनस स्टेशन पर भेज दिया गया। वहां पर उन कैदियों को लेने के लिए एक स्पेशल ट्रेन तैयार खड़ी हुई थी। यह सब इतनी तेजी के साथ किया गया कि पहले से किसी को इसका पता न चल सका।

कार्य-समिति के सदस्यों को गिरफ्तार करके सरकार ने किस जेल में उनको रखने का प्रबन्ध किया है। इसका रत्ती भर भी पता किसी को न चला। किसी प्रकार गांधी जी के सम्बन्ध में समाचार पत्रों को कुछ मालूम हुआ। इसलिए उन्होंने यह समाचार प्रकाशित किया कि गाँधी जी को पूना में आगाखाँ के महल में नजर बन्द करके रखा गया है।

———

तेइसवाँ परिच्छेद

१९४२ का विद्रोह

देश में अराजकता का विस्तार

राजनीतिक परन्तत्रता को मिटाने और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश-शासन के विरुद्ध भारत को दो बार विद्रोह करने पड़े। पहला विद्रोह सन् १८५७ के गदर के नाम से हुआ था और दूसरा सन् १९४२ के विद्रोह के नाम से। इन दोनों के मौलिक रूप में बड़ा अन्तर रहा। साधारण तौर पर देश की मनोवृत्तियाँ दोनों में एक-सी थीं। परन्तु दोनों की परिस्थितियों में भिन्नता थी।

सन् १८५७ के पहले की परिस्थितियाँ कुछ और थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा देश जिस प्रकार छला गया था और परिणाम स्वरूप देशी रियासतों की सत्ता का जिस प्रकार अपहरण हुआ था, उससे विक्षुब्ध होकर देश को अंगरेजों के विरुद्ध बगावत करनी पड़ी थी। लेकिन सन् १९४२ की परिस्थितियां बिलकुल दूसरी थीं। अपने प्रारम्भिक जीवन से कांग्रेस ने देश की स्वतंत्रता की ओर धीरे-धीरे अपने कदम बढ़ाये थे और गांधी जी के नेतृत्व मे सत्य और अहिंसा का सिद्धान्त लेकर देश तेजी के साथ परतंत्रता को मिटाने के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन की ओर बढ़ा था।

सन् १९४२ मे जिस प्रकार विनाशकारी वातावरण उत्पन्न हुआ, उसका कारण देश की जनता न थी; ब्रिटिश-सरकार थी। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने भारत को सदा गुलाम बनाये रखने की चेष्टा की थी और देश की जनता शाँति पूर्ण उपायों से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ी थी। ब्रिटिश-सरकार और देश की जनता, दोनों के दो मार्ग थे। दोनों के अलग-अलग उद्देश्य थे। दोनों के बीच जो एक बड़ी दीवार थी, उसको गिराने और दोनों को एक, दूसरे के निकट पहुँचाने

का प्रयत्न कांग्रेस के नेताओं और गांधी जी ने किया था। परन्तु ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की चालों के कारण उसमें सफलता न मिली और उसके फलस्वरूप देश को १९४२ का विद्रोह करना पड़ा।

वर्धा की बैठक के बाद ७ और ८ अगस्त, १९४२ को अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन बम्बई में हुआ। उसका विवरण पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है। ८ अगस्त को उस अधिवेशन में गाँधी जी के 'भारत छोड़ो' नामक निर्णय की घोषणा हुई। ९ अगस्त को प्रातःकाल कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारियाँ हो गयीं। समूचे देश में यह समाचार वायु के समान तेजी से फैल गया और उसने देश के राजनीतिक क्षेत्रों में लोगों की मनोवृत्तियों के बदलने का तुरन्त काम किया।

पिछले परिच्छेद में स्पष्ट रूप से बताया जा चुका है कि ब्रिटिश-सरकार किसी प्रकार सत्ता हस्तांतरित करने के लिए तैयार न थी। इस बात को सब खूब समझ-बूझ लेने के बाद बम्बई अधिवेशन में गाँधी जी ने 'भारत छोड़ो' नामक घोषणा की थी। इस घोषणा को और गान्धी जी के भाषण को ब्रिटिश-सरकार ने खुले विद्रोह के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि गांधी जी की विद्रोहात्मक भावना न थी। वे अपने अन्तिम प्रस्ताव को नैतिक शक्ति की अद्भुत कसौटी पर कसना चाहते थे और उसी के द्वारा भारत छोड़ने के लिए वे अंगरेजों को विवश करना चाहते थे।

ब्रिटेन की नीयत कहाँ तक नेक थी, इसे दूसरे पहलुओं से भी समझा जा सकता है। गांधी जी और दूसरे नेताओं को जिस दिन सरकार ने गिरफ्तार किया था और देश में भयानक दमन से काम लिया था। उसके दूसरे ही दिन से ब्रिटिश-सरकार और काँग्रेस के बीच की इस परिस्थिति को बदलने के लिए देश के विभिन्न दल के नेताओं ने कोशिशें की। समझौते की बातचीत करने के लिए मांग की गयी। इस माँग में उन साम्यवादी नेताओं का अधिक हाथ था जो वर्तमान महायुद्ध में ब्रिटिश-सरकार की सहायता करने के पक्ष में थे। यह माँग ट्रेड यूनियन काँग्रेस की ओर से की गयी, जो कभी भी देश की राजनीति से अपना सम्बन्ध न रखती थी। यह मांग नरम दल के नेताओं की ओर से की गयी जो कभी भी काँग्रेस के विचारों के

पक्षपाती न थे और यह मांग उन मिलमालिकों और सम्पत्तिशालियों की ओर से की गयी, जिनका हित काँग्रेस के सिद्धान्तों से बहुत दूर और भिन्न था। समझौते की माँग उन सिखों की ओर से की गयी जो काँग्रेस के साथ न थे। भारतीय ईसाइयों की ओर से वह माँग की गयी, जिनको सरकार का बड़ा भरोसा रहा करता था और वह मांग एंग्लो-इण्डियन एसोसिएशन की ओर से की गयी, जिसका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से भारतीय न था। वह माँग स्थानीय बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों की ओर से की गयी जो काँग्रेस के बाहर अपना अस्तित्व रखती थीं। धार्मिक संस्थाओं और हिन्दू-महासभा की ओर से वह मांग की गयी, जिनका दृष्टिकोण काँग्रेस के साथ कभी मिलता न था। इस प्रकार देश के विभिन्न दलों के नेताओं ने मांगे कीं, अपने सुझाव रखे और नम्रता पूर्वक अनुरोध किये, परन्तु ब्रिटिश-सरकार ने एक तरफ से सब को ठुकरा दिया। देश में दमन चक्र का एक तूफान आरम्भ हुआ।

देश मे दमन की काली आंधी

९ अगस्त को नेताओं की गिरफ्तारी के बाद सरकार की ओर से पहला आक्रमण काँग्रेस के स्वयंसेवकों की रैली पर किया गया। राष्ट्रीय झंडे को नीचे गिराकर लोगों को आज्ञा दी गयी कि वे इस मैदान में एकत्रित न हों। उसी मैदान मे पण्डित जवाहर लाल नेहरू के द्वारा झंडा-उद्घाटन होने को था, उनकी अनुपस्थिति मे श्रीमती आसफ अली ने झंडा फहराया।

सम्पूर्ण बम्बई प्रान्त में सार्वजनिक सभाओं और जुलूसों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। १४४ दफा की मुनादी कराई गयी। कुछ इलाकों में शाम के साढ़े सात बजे के बाद और सुबह के छः बजे के पहले घरों से बाहर निकलने की मनाही हो गयी।

पहले ही दिन पुलिस और सेना ने लाठी-चार्ज किया। अश्रु-गैस छोड़ी गयी और लोगों को गोलियों का शिकार बनाया गया। इस प्रकार सरकार की ओर से दमन और अत्याचार आरम्भ हो गये। यह दमन बम्बई प्रान्त में ही सीमित होकर न रहा, बल्कि देश के सभी प्रान्तों में वह ठीक उसी रूप में आरम्भ हुआ, जिस रूप में वह बम्बई में आरम्भ हुआ था।

संयुक्त प्रान्त की सरकार ने अपने यहाँ काँग्रेस-कमेटी, भारतीय महासमिति और प्रान्तीय, जिला, तहसील वार्ड मण्डल काँग्रेस-कमेटियों को गैर-कानूनी करार दे दिया। इलाहाबाद में स्वराज्य-भवन पर सरकारी कब्जा हो गया। मध्य प्रान्त में नागपुर-कांग्रेस समाजवादी दल, हिन्दुस्तान लाल सेना और उससे सम्बन्धित दूसरी संस्थायें गैर-कानूनी घोषित की गयीं। यही अवस्था उड़ीसा की सरकार ने अपने यहाँ की और लाहौर तथा देहली एवम् कराची में सरकार के अत्याचार पूरी शक्ति में आरम्भ हो गये। मद्रास बंगाल, आसाम और बिहार में भी सरकारी प्रतिबन्ध लागू हो गये।

देश के राष्ट्रीय जीवन में निराशा के बादल छाये थे। काँग्रेस के सभी नेता और कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिए गये थे। कांग्रेस की ओर से जितने भी जिम्मेदार आदमी थे, सभी जेलों मे बन्द हो गये थे। कोई भी कहीं ऐसा आदमी बाकी न रह गया था जो सार्वजनिक मामलों में पथ-प्रदर्शन कर सकता।

इस परिस्थिति मे देश का राष्ट्रीय जीवन भयानक संकटों मे पड़ गया। सरकार के दमन मे कोई कसर न थी। सभाओं जुलूसों, प्रदर्शनों और मिलने जुलने के अधिकारों तथा बोलने की स्वतंत्रता पर कड़े से कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये थे। उन प्रतिबन्धों की जरा भी अवहेलना करने पर गिरफ्तारी करना अथवा गोलियों का शिकार बनाना उन दिनों भारत की नौकरशाही सरकार के लिए एक साधारण-सा काम हो गया था।

उत्तेजना की आग

देश की जनता के सामने इन दिनों में भयानक अन्धकार था। कोई पथ-प्रदर्शक न था। लोगों को कहीं पर प्रकाश दिखायी न देता था। अधिकारियों का दमन जोरों के साथ चल रहा था। इस बेबसी और मजबूरी में जनता का उत्तेजित होना स्वाभाविक था। फिर भी देश का संयम नष्ट न हुआ। नेताओं को गिरफ्तार करके उनको कहां रखा गया, इसका कुछ पता न था और सरकार ने पूर्ण रूप से अन्धकार फैला रखा था। देश के सार्वजनिक जीवन में बेचैनी बढ़ रही थी, तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थी। कहीं पर उड़ती हुई

बात सुनी जाती थी कि देश के नेताओं को देश-निकाले की सजा हो गयी, अब वे अपने जीवन में लौटकर इस देश में न आवेंगे। कहीं पर अफवाह उड़ती कि नेताओं को सरकार ने ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया है जहां पर वे अब जीवित नहीं हैं। देश में इन अफवाहों की भरमार हो गयी थी और सरकार की तरफ से कोई स्पष्टीकरण इस विषय में न होता था।

इस अवस्था में देश का संयम भङ्ग हुआ। शहरों में बड़े-बड़े जुलूसों का प्रदर्शन हुआ और नारे लगा-लगाकर हजारों और लाखों की संख्या मे लोगों ने पुकार की कि हमारे 'नेताओं को छोड़ दो'। लेकिन सरकार के ऊपर उसका कोई प्रभाव न पड़ा; ऐसे जुलूसों को लाठी-चार्ज से, अश्रु गैस छोड़कर और गोलियां बरसाकर तितर-बितर किया गया। लेकिन न तो नेता छोड़े गये और न सरकारी तौर पर यही बताया गया कि वे गिरफ्तार करके कहां पर रखे गये है।

देश का सार्वजनिक जीवन उत्तेजित हो उठा। जनता के संयम का बाँध टूटा और लोग एकत्रित होकर कानूनी और गैरकानूनी सभी प्रकार के उत्पात करने लगे। चलती हुई रेलगाड़ियों पर पत्थरों की वर्षा की जाने लगी। सड़कों पर गाड़ियों और कारों का चलना और निकलना कठिन हो गया। रेलवे स्टेशनों को नुकसान पहुँचाने का कार्य आरम्भ हो गया। सरकारी सम्पत्ति लूटी जाने लगी अथवा अग्नि के सिपुर्द उसे कर दिया गया। अनाज की दूकानों का लूटा जाना आरम्भ हुआ। टेलीफोन तोड़े गये। उनके तार काट दिये गये। पोस्ट-आफिसों को लूटा गया और उनमें आग लगाई गयी। सरकारी कानूनों और आर्डीनेन्सों के लगे रहने पर भी हड़तालें जारी रहीं। अंगरेजी स्कूलों, कालेजों और यूनीवर्सिटी के विद्यार्थियों ने इस प्रकार के कामों में अधिक भाग लिया, शिक्षा-संस्थायें और यूनीवर्सिटी-सब की सब खाली दिखाई देने लगी।

जनता की उत्तेजना में अनेक प्रकार के विध्वंसकारी काम हुए। रेलवे-लाइन की पटरियां उखाड़ डाली गयीं और रेलगाड़ियों के रास्ते बरबाद किये गये, जिससे उनका चलना कहीं-कहीं पर कुछ समय के लिए रुक गया।

बिहार मे मुँगेर की हालत ऐसी खराब की गयी कि उसके समस्त

बाहरी सम्बन्ध टूट गये। रेल, तार और पोस्ट आफिस करीब-करीब दो सप्ताह बन्द रहे। इस विद्रोह में बिहार की रेलगाड़ियों पर अधिक असर पड़ा था, अहमदाबाद की सभी मिलें बन्द हो गयी थीं। म्युनिसिपैलिटियों के सभी प्रबन्ध जो सड़कों पर होते हैं, नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये थे।

इस प्रकार सम्पूर्ण देश में एक साथ विनाशकारी कार्य आरम्भ हो गये थे। पुलीस के साथ जनता के अनेक स्थानों पर मुकाबिले हुये। कितने ही थाने जला दिये गये और पुलिस के कर्मचारी जान से मारे गये, जनता के इस विद्रोह का मुकाबिला करने में पुलीस असमर्थ हो रही थी; इसलिए फौजों के बल पर सरकारी इन्तजाम होते थे। लेकिन चारों तरफ देश की व्यवस्था खतरे में पड़ गयी और उस फैली हुई अराजकता को मिटाने में सरकार असफल हो रही थी।

इस विद्रोह का सामना करने के लिए सरकार के पास पुलिस और फौज के सिवा और कोई बल न रह गया था। कानूनों का बल समाप्त हो गया था। उत्पन्न होने वाली इस अराजकता में रेलवे-स्टेशनों, ट्रामों, सड़कों और नहरों को भी बहुत क्षति पहुँचायी गयी थी, इस परिस्थिति का मुकाबिला करने के लिए सरकार को अनेक प्रकार के आर्डीनेन्स लगाने पड़े और प्रत्येक प्रान्त में नयी-नयी मुनादियाँ करनी पड़ीं। लेकिन सर्वसाधारण पर उनका कोई प्रभाव न पड़ता था। जनता की ओर से यही आवाज निकलती थी कि 'हमारे नेताओं को छोड़ा जाय।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि देश में फैलने वाली अराजकता का मुख्य कारण नेताओं की गिरफ्तारी थी।

दमन और उत्पात

देश के इस विद्रोह को दबाने के लिए सरकारी अधिकारियों को दमन की पूरी शक्ति से काम लेना पड़ा। गड़बड़ी आरम्भ होने के दूसरे ही दिन १० अगस्त को बम्बई में पुलिस और फौज को १० बार गोलियाँ चलानी पड़ीं। ९ अगस्त को ही बम्बई में जो उपद्रव हुए उसमें सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ९ आदमी जान से मारे गये और उनमें १६९ आदमी घायल हुए, जिनमें २७ पुलिस के आदमी भी थे। ११ अगस्त को बम्बई में पुलिस को १३ बार गोलियाँ चलानी पड़ी।

देश में दमन और उत्पात् साथ-साथ चल रहा था। १० अगस्त को पूना, अहमदाबाद, लखनऊ और कानपुर में भी गोलियाँ चला कर पुलिस ने जनता का मुकाबिला करने की कोशिश की। बिहार में एक भीड़ ने सरकारी दफ्तर पर आक्रमण करने की चेष्टा की, उसी समय गोरखा पल्टन ने मुकाबिला किया और उसने गोलियाँ चलायीं, उसमें ५ आदमी जान से मरे और १९ आदमी घायल हुए।

अराजकता को समाप्त करने के लिए सरकार ने अपनी पूरी शक्ति से काम लिया। केन्द्रीय एसेम्बली मे १२ फरवरी को एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भारत-सरकार के गृह-सदस्य सर रेजीनाल्ड मैक्सवेल ने बताया कि राजनीतिक नेताओं की गिरफ्तारी के पश्चात जो उत्पात देश मे हुए, उनमे १९४२ के आखीर तक ५३८ बार सरकार को गोलियाँ चलानी पड़ीं।

इस प्रकार सन् १९४२ में पुलिस और फौज ने जो गोलियाँ चलायीं, उनमे ९४० आदमी मरे और १६३० आदमी घायल हुए, अगस्त से लेकर वर्ष के अन्त तक ६०२२९ आदमी गिरफ्तार किये गये और २६००० आदमियों को सजा दी गयी।

ऊपर की यह रिपोर्ट भारत के गृह-सदस्य मि० मैक्सवेल के वक्तव्य के अनुसार है। लेकिन २४ नवम्बर १९४२ को केन्द्रीय एसेम्बली मे सर सुल्तान अहमद ने बताया कि सेना और पुलीस को २३९ अवसरों पर गोलियां चलानी पड़ीं। लेकिन इस संख्या मे संयुक्त प्रान्त और बंगाल शामिल नहीं है। सरकारी सेना के ११ आदमी मारे गये और ७ घायल हुए। पुलिस के ३१ आदमी मारे गये और बहुत से घायल हुए। २४ सितम्बर १९४२ तक जनता के कुल मिला कर ६५८० आदमी मारे गये और १००० आदमी घायल हुए। लेकिन घायलों की यह संख्या इसलिए सही नहीं है कि एक बड़ी संख्या में घायलों को जनता उठाकर अपने साथ ले गयी थी, इसलिए उनकी संख्या इसमें शामिल नहीं है। इस अवस्था में अनुमान ऐसा है कि घायलों की संख्या २००० से ऊपर होगी।

विदोह का प्रभाव

सन् १९४२ में नेताओं की गिरफ्तारी पर भारतीय जनता ने जिस

प्रकार व्यापक रूप से विद्रोह किया, उसकी प्रतिक्रियायें भारत से लेकर संसार के अनेक देशों में हुईं। क्रिप्स मिशन के वापस जाने पर ब्रिटिश-मन्त्रि-मण्डल की ओर से भारतीय प्रश्नों के सम्बन्ध में जो प्रचार किया गया था, उसमें पूरी शक्ति के साथ ब्रिटेन के अनेक राजनीतिज्ञों ने सही बातों पर धूल डाली थी और उस प्रचार के द्वारा ब्रिटेन ने मित्र राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करने की पूरी कोशिश की थी।

सन् १९४२ के भारतीय विद्रोह ने उस झूठे प्रचार के चिथड़े कर डाले। नेताओं की गिरफ्तारी के बाद ब्रिटिश-सरकार ने भारत में जिस प्रकार दमन किया और स्थान-स्थान पर निहत्थी जनता पर जो गोलियां बरसायी, उसका प्रभाव दूसरे देशों में भी अच्छा नहीं पड़ा। ब्रिटेन के कितने ही निष्पक्ष राजनीतिज्ञों ने ब्रिटिश-सरकार की इस विषय में कड़ी अलोचनायें कीं और कितने ही विद्वान अंगरेजों ने भारतीय मांग का समर्थन किया।

यही अवस्था अमेरिका में भी हुई। योरप का वर्तमान महायुद्ध तेजी के साथ चल रहा था। इस प्रकार के संकट-काल में ब्रिटिश-सरकार ने भारत के विरुद्ध जिस दमन से काम लिया, उसकी अलोचनायें अमेरिका में भी की गयीं। अनेक विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने साफ-साफ कहा कि ब्रिटिश-सरकार की ओर से भारत में जो कुछ किया जा रहा है, उससे वर्तमान युद्ध के प्रयत्नों में कोई सहायता नहीं मिल रही। इस युद्ध को जीतने के लिए जो घोषणा की गयी है, उसमें बताया गया है कि जन-तन्त्र की रक्षा के लिए यह युद्ध लड़ा जा रहा है। इसी जन-तन्त्र की स्थापना के लिए भारत में लगातार बलिदान हो रहे हैं ब्रिटेन अपने दमन के बल पर भारत की राजनीतिक शक्तियों को मिटाने पर लगी है।

संसार के दूसरे देशों में भी भारत और ब्रिटिश-सरकार की आलोचनाये की गयीं। गाँधी जी के सत्य और अहिंसात्मक आन्दोलन से संसार का कोई देश अपरिचित और अप्रभावित न था। इसीलिए १९४२ के विद्रोह की दूसरे देशों में जो प्रतिक्रियायें हुईं, ब्रिटिश-सरकार के पास उनका कोई उत्तर न था।

ब्रिटिश-सरकार भारत की सत्ता को छोड़ने के लिए कभी भी

तैयार नहीं थी। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उसने जिस प्रकार के तर्क देकर सत्य से मुँह मोड़ा था उनका स्पष्टीकरण अपने आप आज संसार के सामने हो रहा था।

अनेक बार की घोषणाओं में ब्रिटिश सरकार की ओर से जो बातें कही गयी थीं, उनके द्वारा संसार के दूसरे देशों के सामने एक भ्रम उत्पन्न होता था। ब्रिटेन की ओर से सदा कहा गया था कि भारत से अंगरेजों के न हटने का कारण वहां की स्वयं समस्यायें हैं। साम्प्रदायिक दलों में इतना संघर्ष है कि अगर ब्रिटिश सरकार अपने आपको भारत से अलग कर ले तो वे आपस में लड़कर मिट जायंगे। इस प्रकार की बातों का अर्थ यह होता है कि भारत के विभिन्न दलों के हित के लिए ही ब्रिटेन ने अपना शासन वहाँ पर कायम कर रखा है। उसका एक अर्थ यह भी होता है कि भारतीय विभिन्न दलों के अनुरोधों पर ही ब्रिटिश-सरकार यहां से हटना नहीं चाहती।

सन् १९४२ के विद्रोह से यह बात स्पष्ट हो गयी कि भारत का कोई भी दल अपने देश में ब्रिटेन की सत्ता का समर्थक नहीं है। साम्प्रदायिक दलों से लेकर देश के समस्त दूसरे दलों ने ब्रिटेन के दमन का विरोध किया और स्पष्ट शब्दों मे उनके द्वारा काँग्रेस की मांग का समथन किया गया।

सिखों, ईसाइयों, हिन्दुओं और मुसलमानों के संगठित दलों की ओर से उन दिनों मे जो कुछ कहा गया, उससे साफ-साफ जाहिर हुआ कि कोई भी दल भारत में ब्रिटिश-शासन को पसन्द नहीं करता। सभी की ओर से गांधी जी और देश के दूसरे नेताओं को छोड़ देने की मांग की गयी परन्तु सरकार ने उस मांग पर ध्यान नहीं दिया। मुस्लिम लीग के प्रधान मि० जिन्ना ने भी कहा था कि यदि ब्रिटिश-सरकार, मुस्लिम लीग और काँग्रेस की माँग को मन्जूर कर ले तो सारा झगड़ा तुरन्त खत्म हो जायगा।

विद्रोह का विस्तार

सन् १९४२ में जिस प्रकार का विद्रोह हुआ, उसका न तो कोई कार्यक्रम था, न कहीं पर बात चीत थी और न उसका कोई संगठन था। सरकार के दमन के साथ-साथ देश में विद्रोह की चिनगारियाँ

उड़ने लगीं और सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने में अराजकता फैल गयी।

इसके पहले सन् १८५७ में ब्रिटिश-शासन के विरुद्ध गदर हुआ था। वह गदर इस विद्रोह से भिन्न था। उसे राजाओं और नवाबों ने जन्म दिया था और सन् १९४२ के विद्रोह को जनता ने आरम्भ किया था। उस गदर मे रक्तपात और विनाश इस विद्रोह की अपेक्षा हुआ था। परन्तु १९४२ का विद्रोह गदर की अपेक्षा अधिक व्यापक था।

भारत के प्रत्येक प्रान्त में इस विद्रोह की आग फैली थी और देहातों से लेकर देश के बड़े-बड़े शहरों तक एक साथ अराजकता उत्पन्न हो गयी थी। इस विद्रोह का कोई संचालक न था। देश की जनता ने शांति और अहिंसा की प्रेरणा पायी थी। विद्रोह और रक्त-पात उसके जीवन का एक आश्चर्य जनक कार्य था। परन्तु ब्रिटिश-सरकार के अत्याचार और दमन से जो उत्तेजना उत्पन्न हुई, उसने जनता के विद्रोह का रूप धारण किया।

बंगाल में विद्रोह की आग

बंगाल प्रान्त मे इस विद्रोह की आग जिस प्रकार लगी और जिस रूप मे पहुँचा, वह देश के किसी भी स्थान से कम भयानक न थी। बल्कि उन दिनों का मिदनापुर का संघर्ष और कलकत्त का रक्त-स्नान अपनी भीषणता के लिए बहुत बड़ी विशेषता रखता था।

सम्पूर्ण बंगाल की आंखें ७ और ८ अगस्त, १९४२ को बम्बई में होने वाले काँग्रस के अधिवेशन की ओर देख रही थीं। इस अधिवेशन के पहले से ही ब्रिटिश-सरकार की कठोर नीति का देश को आभास हो चुका था।

९ अगस्त को होने वाली नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार दैनिक पत्रों में प्रकाशित हुआ। उसके साथ-साथ सरकारी अधिकारियों ने जिस अत्याचार और दमन का श्रीगणेश किया, उससे विद्रोह की आग भड़क उठी और कुछ दिनों तक उसकी लहर भयानक रूप में काम करती रही। बहुत बड़ी संख्या में काँग्रेस के कार्य कर्त्ता रेलवे-स्टेशनों पर इसलिए एकत्रित हुए कि वे काँग्रेस प्रतिनिधियों का कोई संदेश पा सकें। उनको आशा थी कि बम्बई से आने वाले

उनके प्रतिनिधि, भविष्य के कार्यक्रम का उनको कोई आदेश और संदेश देंगे। उनकी उमड़ती हुई आतुरता का सब से बड़ा प्रमाण यह था कि वे संतोष के साथ उसके लिए प्रतीक्षा न कर सकते थे। इसलिए अपनी बढ़ती हुई अधीरता में रेलवे-स्टेशनों पर वे पहुँच गये थे।

कुछ प्रतिनिधि गिरफ्तार होकर किसी प्रकार बंगाल पहुँचे। उनके द्वारा गुप्त रूप से काँग्रेस अधिवेशन और नेताओं की गिरफ्तारी की कुछ घटनायें मालूम हुईं। लोग पागलों की तरह पूँछ रहे थे, "गांधी जी कहां हैं? कार्य-समिति के सदस्यों ने क्या कोई आदेश हम लोगों के लिए दिया है?" लोगों के नेत्र उस आपदकाल में ७४ वर्षीय वृद्ध गांधी जी को खोज रहे थे, जिन्हें अखिल भारतीय काँग्रेस की ओर से पूरे अधिकार सौंप दिये गये थे।

अपनी विशेषता के लिये ब्रिटिश-साम्राज्य में दूसरा शहर गिना जाने वाला, कलकत्ता विद्रोही के रूप में परिणत हुआ। बंगाल सरकार ने १० अगस्त को बङ्गाल, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी और उससे सम्बन्ध रखने वाली काँग्रेस-कमेटियों को गैरकानूनी घोषित किया। १२ अगस्त को बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थी अपनी शिक्षा-संस्थाओं के बाहर निकले और उनके जुलूस ने कलकत्ते की सड़कों और गलियों की परेड की। उन्होंने सावजनिक सभायें की और बम्बई-अधिवेशन में स्वीकृत गाँधी जी के प्रस्ताव; "भारत छोड़ो" के नारे लगाये। साथ ही गांधी जी के निर्णय 'करो या मरो' को पूरा करने की प्रतिज्ञा की।

१३ अगस्त का प्रातः काल था जब कि सम्पूर्ण कलकत्ता में खून के स्थान आरम्भ हुए। फौजी सिपाहियों ने शहर में कब्जा कर रखा था और प्रत्येक क्षण वे गोलियां बरसाने के लिए तैयार थे उस भीषण परिस्थिति में विद्यार्थियों की भीड़ ने घोषणा की—काँग्रेस, नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में पूरी हड़ताल आज रखी जायगी और विरोधी प्रदर्शन किये जायँगे।

घोषणा के अनुसार, अधिकांश रूप में स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों से बने हुए कलकत्ते में, अधिक संख्या में जुलूस निकाले गये। सड़कों और गलियों में उन्होंने 'भारत छोड़ो' और 'कांग्रेस के नेताओं को रिहा करो' के जोरदार नारे लगाये। हजारों की संख्या में

युवकों और विद्यार्थियों के द्वारा निकले हुए जुलूस ने जिस समय एकत्रित हो कर सभा का कार्य आरम्भ किया पुलीस की ओर से भयानक लाठी-चार्ज किया गया। बहुत से विद्यार्थी और युवक घायल हुए। इस दुर्घटना के फलस्वरूप शहर में १३ अगस्त को भी पूर्ण हड़ताल मनायी गयी।

उसी दिन दोपहर को जनता की एक भीड़ ने जिसमें अधिकांश विद्यार्थी थे, शहर में घूम-घूमकर चलती हुई ट्राम और बसों के मुसाफिरों से अपील की कि वे उन पर न बैठें और उनके ड्राइवरों से अनुरोध किया कि वे उनको न चलावें। यह भीड़ शान्तिपूर्ण वातावरण में इस प्रकार के अनुरोध कर रही थी।

इसी अवसर पर कार्नवालिस स्ट्रीट और उसके निकटवर्ती स्थानों में परिस्थिति भयानक हो उठी। पुलीस ने दो बार गोलियां चलायीं। जिससे कुछ लोग मरे और अधिक घायल हुए। इस प्रकार की दुर्घटनाओं के कारण सम्पूर्ण शहर की हालत भीषण हो गयी और उसका प्रभाव पूरे प्रान्त में फैल गया।

कलकत्ता में फौजी सैनिक गश्त लगा रहे थे और स्थान-स्थान पर पुलिस मौजूद थी। शहर के अनेक स्थानों में लाठी चार्ज हुआ। कार्नवालिस स्ट्रीट की अवस्था अधिक भयानक होती गयी और शहर का वह स्थान दोनों ओर के युद्ध का एक क्षेत्र बन गया। परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार के उत्पात् आरम्भ हो गये। पुलिस और फौजी सैनिकों के बार-बार गोलियां चलाने पर भी अनेक प्रकार के विध्वन्सकारी कार्य होने लगे। जिससे पुलिस ने अनेक स्थानों पर लाठी चार्ज किया और फौजी सिपाहियों ने कई बार गोलियां चलायीं।

इसके बाद भी कलकत्ते की हालत में सुधार न हुआ। स्थान-स्थान पर अग्निकाण्ड हुए। कितने ही स्थानों में गिरफ्तार किये गये लोगों को भीड़ ने पुलीस के हाथों से छीन लिया और सरकारी लारियों और कारों में आग लगा दी। टेलीफोन, टेलीग्राफ और बिजली की रोशनी के तार काट डाले गये। पुलीस और फौजी सैनिकों की जो लारियां सड़कों से निकलीं और जिन पर सैनिक रायफलों और बन्दूकों को लिए बैठे थे, उन पर आक्रमण हुए और कितनी ही लारियों और कारों को जलाकर खाक कर दिया गया। स्कूलों और

कालेजों में हड़ताल थी। सड़कों पर घूमने वाली भीड़ की संख्या लगातार बढ़ रही थी और संगठित भीड़ ईंटों और पत्थरों से हमला कर रही थी। चारों ओर पुलिस और फौजी सैनिकों की भरमार होने पर भी 'भारत छोड़ो, 'काँग्रेस के नेताओं को छोड़ो' और 'करो या मरो' के जोरदार नारों से आकाश-व्यापी आवाज उठ रही थी।

इन परिस्थितियों मे बंगाल की और विशेष कर कलकत्ते की हालत इतनी भयानक हो गयी थी कि ब्रिटिश-शासन के स्थान पर पुलिस और फौजी शासन मालूम हो रहा था। लेकिन विद्रोह की आग कम न हो रही थी।

विद्रोही जनता की ओर से उत्तेजक विज्ञप्तियाँ गुप्त रूप से प्रकाशित होतीं और बड़ी सावधानी के साथ हाथों हाथ पहुँचकर सड़कों, गलियों और सार्वजनिक स्थानों में लग जातीं। पुलिस उनके रोकने में असमथ हो रही थी। इन विद्रोही विज्ञप्तियों को फाड़ने और नष्ट करने का काम पुलिस एक ओर कर रही थी और दूसरी ओर जनता उनको फिर पहुँचाने, आवश्यक स्थानों पर लगाने और चिपकाने का काम कर रही थी।

बङ्गाल प्रान्त में इन दिनों इतनी अधिक गिरफ्तारियाँ हुई कि उनसे प्रान्त की सभी जेलें भर गयीं। इन गिरफ्तारियों में स्त्री और पुरुष दोनों ही कैद किये जा रहे थे। मारकाट, रक्तपात और गिरफ्तारियों का काम बराबर जारी था। पुलिस और फौज के पूरे दमन के बाद भी कहीं मे मोर्चा कम न हो रहा था। विद्रोहियों के नारों पर सैकड़ों और हजारों आदमी अपने घरों को छोड़कर सड़कों पर आ जाते और 'भारत छोड़ो' नारा लगाने लगते।

यों तो १९४२ का यह विद्रोह बङ्गाल के सम्पूर्ण प्रान्त मे फैला हुआ था। लेकिन कलकत्ते के अतिरिक्त मिदनापुर, बीरभूम, बर्दवान, हुगली, हावड़ा, पूर्वी बङ्गाल के जिले, बैरीसाल मैमनसिंह, नदिया, जैसोर, बोगरा, टिपरा, एवम् प्रान्त के अन्य दूसरे जिलों ने इस विद्रोह में अधिक भाग लिया।

बंगाल का यह भयानक विद्रोह ब्रिटिश-शासकों के लिए असह्य पीड़ा का कारण बन गया। जिसका बदला ब्रिटेन की ओर से सन् १९४३ के अकाल के रूप में बंगाल को दिया गया और उस भीषण

आकाल में बङ्गाल के ३५ लाख प्राणियों की मृत्यु हुई। १९४३ को अकाल के रूप में विद्रोही बंगाल को ब्रिटेन की ओर से जो भयानकदण्ड दिया गया, उसकी उपमा इतिहास में कहीं न मिलेगी। ब्रिटेन बङ्गाल को यह भीषण दण्ड दे सका, लेकिन वह उसके अन्तरात्मा पर विजय न पा सका।

पंजाब का विद्रोह

भारत के प्रान्तों में पंजाब का प्रान्त सदा से स्मरणीय रहा है। सन् १९४२ का विद्रोह सम्पूर्ण देश में फैला और देश के सभी प्रान्तों ने उसमे भाग लिया। इस विद्रोह के सम्बन्ध में पंजाब का विवरण देने के समय हमारे सामने एक निर्बलता है। इसलिए उसका यह अर्थ नहीं होता कि ऐसे अवसर पर पंजाब के प्रान्त को आँखों से ओझल किया जा सके।

इस बात को कोई भी अस्वीकार न करेगा कि पंजाब अपने आत्म-गौरव और स्वाभिमान के लिए सदा ख्याति सम्पन्न रहा है। इसी पंजाब मे रावलपिण्डी जिले के अन्तर्गत, पंजाब केशरी लाला लाजपत राय ने जन्म लिया था और इसी पंजाब की भूमि पर जन्म लेकर सरदार भगतसिंह ने जननी जन्म भूमि के लिए अपने प्राणों का बलिदान किया था। पंजाब का सम्मान न केवल देश-भक्ति के प्रश्न पर रहा है बल्कि अपनी शक्ति का परिचय देने में दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा पंजाब का सदा महत्व रहा है। योरप के प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध मे युद्ध करने के लिए पंजाब से ही अधिक युवक सैनिक के रूप मे देश के बाहर समुद्र के पार गये थे और सन् १९३९ मे आरम्भ होने वाले दूसरे महायुद्ध में भी पंजाब के वीरो ने अधिक संख्या में भाग लिया था। उसकी इस कीर्ति से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

परन्तु सन् १९४२ के विद्रोह में विदेशी शासन की जंजीरों को तोड़ने के लिए पंजाब ने जो कुछ किया, उसका कोई सम्मान पूर्ण स्थान नहीं बन सका। इतना सब होने पर भी, इस विद्रोह के प्रसंग मे पंजाब का नाम उल्लेखनीय है। इसका कारण है। हृदय की एक पीड़ा के साथ हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सन् १८५७ की भीषण क्रान्ति में जब भारत ने विदेशी शासन की जंजीरों को तोड़कर

फेंकने का संकल्प किया था, उस समय भी पंजाब ने देश का साथ देने में अपने कदमों को आगे नहीं बढ़ाया था। इतना ही नहीं, इतिहास के इस सत्य को मिटाया नहीं जा सकता कि देश की उस भीषण क्रान्ति में पंजाब की सिख-सेनाओं ने अंगरेजों का साथ दिया था और उसके परिणाम स्वरूप अपनी क्रान्ति की प्रज्वलित लपटें देश को बुझती हुई देखनी पड़ी थीं।

परतन्त्रता के बँधनों को तोड़ने के लिए देश ने दो बार क्रान्ति की। पहली क्रान्ति सन् १८५७ में हुई थी और दूसरी सन् १९४२ में। इन दोनों क्रान्तियों में पंजाब ने जिस प्रकार भाग लिया, उसके सत्य रूप को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इतना सब होने पर भी १९४२ के विद्रोह में हमें पंजाब को स्थान देना पड़ा है। इसके दो प्रमुख कारण है। पहला कारण यह कि १९४२ के विद्रोह के परिणाम स्वरूप, सन् १९४७ में इस देश की राजनीतिक गुलामी के बन्धन टूटे और देश ने परतन्त्रता से निकल कर स्वतन्त्रता के वातावरण में प्रवेश किया। परन्तु इस स्वतन्त्रता के साथ देश का जो अवाञ्छनीय विभाजन हुआ, उसमें सब से अधिक उस पंजाब प्रान्त को अपने जीवन की बलि देनी पड़ी, जिसने देश की परतन्त्रता मिटाने में बलिदान होने के समय अपने कदम पीछे हटाये थे!

पंजाब के विद्रोह का यहाँ विवरण देने के लिए हमें जो आवश्यकता पड़ी, उसका दूसरा कारण है। देश के अन्य प्रान्तों के मुकाबिले में पंजाब, विद्रोह के लिए आगे नहीं बढ़ा। फिर भी उस प्रान्त में रावलपिण्डी की तरह कुछ स्थानों के नाम उल्लेखनीय है, जहाँ पर इस विद्रोह की प्रगति देखने को बराबर मिली।

यह पहले लिखा जा चुका है कि इस विद्रोह का न कोई संगठन था और न कोई संचालन। ब्रिटिश-सरकार के दमन की प्रतिक्रिया ने इस विद्रोह का रूप धारण किया और जिस प्रकार विनाशकारी कार्य देश के दूसरे प्रान्तों में किये गये, लगभग उसी प्रकार के दृश्य रावलपिण्डी और उसके आस-पास के कुछ स्थानों में देखने को मिले। उनके कारण लोगों की गिरफ्तारियां भी हुईं और सरकार को अत्याचार भी करने पड़े।

इसी विद्रोह के दिनों में नौ सरकारी और अर्ध-सरकारी इमारतों

मे आग लगा दी गयी। अराजकता की इस लहर में रेलवे दफ्तर, सरकारी शस्त्रागार, सरकार द्वारा संचालित एक कम्पनी, पोस्ट आफिस, चुंगी-घर, इनकम-टैक्स-आफिस, और फौजी गोदामों पर आक्रमण किये गय। जिन सरकारी कारखानों मे युद्ध-सम्बन्धी सामान तैयार हो रहा था, उनमे हमला कर के एक बड़ी क्षति पहुँचायी गयी।

पंजाब के अन्तगत अनेक स्थानों मे विद्रोही भावना से प्रेरित होकर इस प्रकार की दुर्घटनायें की गयीं। इनके बदले मे सरकार ने अपने पूरे दमन से काम लिया। बहुत-सी गिरफ्तारियाँ हुईं और लोगों को दण्ड दिये गये। स्थान-स्थान पर पुलीस के द्वारा सरकार ने अमानुषिक अत्याचार किये। पुलीस ने गिरफ्तारी का काम ९ अगस्त को ही आरम्भ कर दिया था। १२ अगस्त को एक बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया। उसमें पुलीस ने क्रूरता पूर्वक लाटी-चार्ज किया, उसके परिणाम स्वरूप बहुत से आदमी घायल हुए। लाठी-चार्ज के बाद भी गिरफ्तारियाँ की गयीं। जो लोग गिरफ्तार हुए, उनको अलग-अलग जेलों और कैम्पों में रखा गया। सरकार के इस दमन का विरोध करने लिए आम-हड़तालें की गयीं।

विदेशी शासन के विरुद्ध देश में १९४२ का जो विद्रोह हुआ, उसमें पंजाब की ओर से रावलपिण्डी ने जो भाग लिया, वह भारत के इतिहास में अपना एक अमिट स्थान रखेगा।

बम्बई का विद्रोह

सन् १९४२ में भारत के सभी प्रान्तों ने जिस प्रकार विद्रोह किया, उसमें बम्बई प्रान्त का विद्रोह एक बड़ी विशेषता रखता है। इसलिए नहीं कि बम्बई प्रान्तीय विद्रोह में किसी प्रकार की मात्रा अधिक थी, बल्कि इसलिए कि इस विद्रोह का श्री गणेश बम्बई से हुआ था और ब्रिटिश-सरकार ने कांग्रेस के नेताओं को गिरफ्तार करके देशव्यापी विद्रोह का कारण पैदा किया था।

बम्बई का ही वह पवित्र स्थान था, जहां पर काँग्रेस की कार्य-समिति ने और महासमिति के अधिवेशन ने गान्धी जी का निर्धारित 'भारत छोड़ो' निर्णय स्वीकार किया था। यही वह स्थान था, जहां पर गान्धी जी ने ब्रिटिश-सरकार की नीति पर स्पष्ट बातें कहीं थीं

और विदेशी गुलामी मिटाने के लिए देश को अपनी अंतिम आज्ञा दी थी।

समूचे बम्बई प्रान्त ने जिस प्रकार इस विद्रोह में काम किया. उसके विवरण भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में बहुत बड़ा मूल्य रखते हैं। पूरे समाज की ओर से बलिदान किये गये। श्रमजीवी समाज ने भीषण विद्रोह में भाग लिया। बम्बई की सभी मिलों में पूरे एक सप्ताह हड़ताल रही। अहमदाबाद की सभी मिलें तीन महीने से अधिक बन्द रहीं। ५०००० श्रमजीवियों ने अपने उस वेतन का बलिदान किया, जिस पर उनका और उनके बाल बच्चों का जीवन निर्भर था। पुलीस के द्वारा होने वाले लाठी-चार्जों में अपने जीवन की बलि देने के लिए वे बराबर आगे बढ़ते रहे और जब कभी सरकार ने गोलियाँ चलवायीं; उस समय भी वे बराबर आगे दिखायी पड़े।

इस विद्रोह में बम्बई प्रान्त की सभी श्रेणी के लोगों ने अपने जीवन का उत्सर्ग किया। गरीबों ने अपने प्राणों की आहुतियाँ दीं। लड़कियों और स्त्रियों ने जीवन का मोह छोड़ा और धनिकों ने पैसे का मोह न किया। इस प्रकार समूचे बम्बई प्रान्त में, ब्रिटेन की परतन्त्रता के विरुद्ध खुलकर और हँस-हँसकर सभी प्रकार के बलिदान किये गये।

मिलों का सारा कार्य युद्ध की सहायता के लिए हो रहा था। उसके रुक जाने से सरकार को एक बड़ी बेचैनी मालूम हुई। मिलों का काम आरम्भ कराने के लिए राजनीति की बड़ी-से-बड़ी चालें चली गयीं। मिल-मालिकों को सरकार ने मिलाने की कोशिश की। परन्तु सफलता न मिली। मजदूरों और मिलों के कार्यकर्त्ताओं को बड़े-से-बड़े प्रलोभन दिये गये। लेकिन वे सब निष्फल गये। एक सरकारी अफसर ने अभिमान पूर्वक इस बात का दावा किया कि मिलों के मजदूरों को मिलाकर हम उनका काम चालू करा देंगे।

वह अफसर अपने बड़े से बड़े मंसूबे बांध कर मिलों के कार्य कर्त्ताओं और मजदूरों के पास गया। उसने बड़ी चालबाजी से काम लिया और अनेक प्रलोभन देकर उसने काम पर जाने के लिए उनको तैयार करने की कोशिश की।

उस अफसर की बातों को सुनकर एक हरिजन मजदूर ने उससे

प्रश्न किया – तुम किस की ओर से यह बात कह रहे हो ? सरकार की ओर से अथवा गाँधी जी की ओर से !

उस अफसर के पास मजदूर के इस प्रश्न का कोई उत्तर न था। उसकी समझ मे न आया कि इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। कुछ सोचकर और संकोच में आकर अफसर ने उत्तर देते हुए कहा— मैं सरकार की ओर से यह बात तुमसे कहने आया हूँ।

उस मजदूर ने यह बात सुनी और गम्भीरता के साथ उस अफसर की ओर देखकर उसने कहा—ऐसी दशा मे हम लोग काम पर न जायँगे, चाहे सरकार हमे मार क्यों न डाले। हम लोगों ने निश्चय कर लिया है कि जब तक बापू जेल की दीवारों में बन्द हैं हम लोग काम न करेंगे।

यही अवस्था अहमदाबाद की म्युनिसिपैलिटी के कार्यकर्त्ताओं की हुई। साधारण नौकरों से लेकर क्लर्कों और बाबुओं तक सभी ने काम करने से साफ-साफ इनकार कर दिया। सरकारी अधिकारियों और देश-द्रोहियों की ओर से बड़ी-से-बड़ी चेष्टायें की गयीं। परन्तु कार्यकर्त्ताओं पर उनका कोई प्रभाव न पड़ा और वे पूर्ण रूप से निष्फल रहे।

भारत के राजनीतिक इतिहास मे यही एक ऐसा अवसर आता है जब श्रमजीवियों और सम्पत्तिशालियों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर देश के संघर्ष मे अपने जीवन को उत्सर्ग किया और अपनी मातृ-भूमि की स्वाधीनता के युद्ध को सभी प्रकार की शक्तियाँ प्रदान कीं।

स्कूलों और कालेज के विद्यार्थियों ने इस विद्रोह में जिस प्रकार जीवन की आहुतियाँ दीं, उसका चित्र शब्दों और वाक्यों मे नहीं खींचा जा सकता। वास्तव मे वे ही इस विद्रोह के प्राण थे। बम्बई और गुजरात के सभी स्कूल और कालेज नेताओं की गिरफ्तारी के साथ ही बन्द हो गये थे और वे चार महीने तक बराबर बन्द रहे। यहाँ के अस्सी प्रतिशत् विद्यार्थियों ने इस संघर्ष और विद्रोह मे भाग लिया।

नेताओं के बन्दी हो जाने पर एक साथ स्कूल और कालेज बन्द हो गये। विद्यार्थियों के एक जुलूस का संगठन हुआ। उसके निकलते ही पुलीस ने जुलूस भंग करने की कोशिश की। लेकिन चेष्टा बेकार गयी। विद्यार्थियों में अपार उत्साह था। वे जुलूस से हटने के लिए

तैयार न थे। पुलीस ने लाठियों से आक्रमण किया। विद्यार्थियों को चोटें आयीं। परन्तु उस समय उनके मुँह से गाँधी जी के महामन्त्र 'करो या मरो' की आवाज निकलती थी और गुजरात तथा बम्बई के आकाश में जाकर वायुयानों की भाँति अपने अस्तित्व का प्रदर्शन करती थी।

इस प्रकार के जुलूसों ने पुलिस के छक्के छुड़ा दिये। सरकार की ओर से बड़ी क्रूरता से काम लिया गया। जुलूस को भंग करने के लिए प्राणघातक लाठी-चार्ज किये गये। इसमे सरकार को सफलता मिली, लेकिन बहुत थोड़ी देर के लिए। पुलिस के लाठी चार्ज करने पर बम्बई और गुजरात के विद्यार्थियों का वह विशाल जुलूस कुछ समय के लिए भङ्ग हो जाता और थोड़ी देर के बाद किसी दूसरे स्थान पर संगठित होकर 'भारत छोड़ो' की आवाज लगाता हुआ सड़कों पर दिखाई देता।

इसके बाद ही जुलूस पर पुलिस का आक्रमण होता और भयानक लाठी चार्ज से जुलूस भंग कर दिया जाता। परन्तु सरकार की यह सफलता अधिक देर तक न ठहरती। कुछ ही समय के बाद उसे पता चलता कि विद्यार्थियों का वह जुलूस अपने नारों के साथ बड़ी तेजी से फिर निकल रहा है। यह समाचार मिलते ही पुलिस का फिर उस पर आक्रमण होता।

विद्यार्थियों और पुलिस के बीच यह संघर्ष चार घण्टे तक बराबर जारी रहा और इतने समय में पुलिस ने बारह बार जुलूस भंग किये। लेकिन उसके बाद फिर वे संगठित होकर जुलूस के रूप में दिखायी दिये।

विद्यार्थियों ने इस बात का निश्चय कर लिया था कि सरकार के अत्याचार को पराजित करके ही हम अपने इस कार्य क्रम को रोकेंगे। जुलूस मे जो विद्यार्थी निकल रहे थे, उनमें अधिकांश चोट खा चुके थे। उनके शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों से रक्त निकल कर सरकार के अत्याचारों का प्रदर्शन कर रहा था।

अन्त मे विद्यार्थियों को सफलता मिली। पुलिस के आक्रमण बन्द हो गये। इसके बाद घायल विद्यार्थियों के जुलूस ने अपनी सभा की और उस सभा मे जोरदार भाषण दिये गये। आकाश व्यापी स्वर में

'भारत छोड़ो' के नारे लगाये गये। जिस समय यह सभा हो रही थी, बहुत बड़ी पुलिस के साथ अधिकारी वहां मौजूद थे। सभा का कार्य समाप्त हो जाने पर बड़ी संख्या में जुलूस के विद्यार्थी गिरफ्तार किये गये।

बम्बई के निकट चिनचिचनी नामक स्थान पर विद्यार्थियों के एक जुलूस पर गोलियाँ चलायी गयीं। जिसके परिणाम स्वरूप कुछ विद्यार्थी मरे और बहुत से घायल हुए। इस गोली काण्ड से जिन विद्यार्थियों के जीवन का अन्त हुआ, उनमे एक नवयुवक विद्यार्थी ऐसा भी था कि जिसकी, गोली से तुरन्त मृत्यु हुई और वह अपनी विधवा माता का अकेला लड़का था।

बम्बई मे विद्यार्थियों के विद्रोह से वहाँ की सरकार बहुत घबरा उठी थी। अपने दमन से कामयाबी को न देखकर अधिकारियों ने स्कूलों और कालेजों के अभिभावकों को उन विद्यार्थियो के विरुद्ध कार्य करने की आज्ञा दी जो इस विद्रोह मे भाग ले रहे थे। स्कूलो और कालेजों के अधिकारियों को स्पष्ट रूप मे आदेश दिय गय कि जिन विद्यार्थियों की फीस माफ है उनको इस सुभीते से वञ्चित किया जाय और जो विद्यार्थी बोर्डिङ्गों मे रहते हैं, उन्हें उनसे निकाल दिया जाय। इसी अवस्था मे केवल सूरत के ३५० विद्याथियो को होस्टल छोड़ने के लिए आज्ञा दी गयी थी। उनका अपराध यही था कि इस संघर्ष मे वे देश का साथ दे रहे थे।

सरकार के दमन को असफल बनाने के उद्देश्य से विद्यार्थियों ने अपनी एक निश्चित नीति से काम लिया। इसका फल यह हुआ कि विद्यार्थियों के अनेक विद्रोहात्मक कार्यों का पता सरकारी अधिकारियों को उस समय मिलता, जब उनके कार्य समाप्त हो जाते। यहां तक कि बड़ोदा और कैलोल मे होने वाली आजाद विद्यार्थियों की विशाल सभाओं का पता अधिकारियों को उस समय मिला, जब उन सभाओं के कार्य समाप्त हो चुके थे।

अहमदाबाद में एक नयी अदालत सरकार की ओर से कायम की गयी। उसमें उन विद्यार्थियों और कार्यकर्त्ताओं के मामले विचारार्थ पेश किए जाते, जो विद्रोह में भाग ले रहे थे। उसके द्वारा कितने ही विद्यार्थियों पर जुर्माने किये गये। वहाँ के म्युनिसिपलिटी बोर्ड के

१६०० अध्यापकों को उनकी नौकरियों से अलग किया गया। इसलिए नहीं कि वे विद्रोह में भाग लेते थे, बल्कि इसलिए कि उनके स्कूलों के विद्यार्थी विद्रोह में काम करते थे।

विद्यार्थियों पर प्रभाव डालने के लिए उनके स्कूलों के अध्यापकों को तैयार किया गया। लेकिन उसमें सरकार को सफलता न मिली। इसलिए विद्यार्थियों के अभिभावकों पर जोर डाले गये कि वे उनको इस संघर्ष में भाग न लेने के लिए मजबूर करें। जो विद्यार्थी गिरफ्तार होते थे, उनको क्षमा माँगने के लिए उकसाया जाता था और अधिकारियों की ओर से कहा जाता था कि यदि वे भविष्य मे संघर्ष से अलग रहने का वचन देंगे तो उनको छोड़ दिया जायगा।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न नीतियों से सरकारी अधिकारी काम ले रहे थे। सरकार के इन कारनामों का विद्यार्थी समुदाय पर क्या प्रभाव पड़ता था, उसका एक ही उदाहरण यहां पर देना काफी होगा।

पुलीस के समझाने पर जब एक विद्यार्थी क्षमा माँगने के लिए तैयार न हुआ तो उसके पिता से कहा गया कि वह अपने लड़के के स्थान पर क्षमा याचना करे। पिता ने इसे स्वीकार कर लिया और स्वयं क्षमा माँगने के बाद वह अपने लड़के को भी वैसा ही करने को विवश करने लगा। पिता की बातों को सुनकर लड़के ने उत्तेजित होकर कहा—

"पिता जी, आज्ञा उल्लंघन के लिए क्षमा करें। मैं या तो मरूँगा अथवा जेल जाऊंगा। लेकिन मैं क्षमा कभी भी न माँगूगा। मैं समझता हूँ कि इस अवसर पर आप भूल करते हैं।"

अहमदाबाद मे विद्यार्थियों का एक जुलूस, जिसमे लड़के और लड़कियाँ भी शामिल थीं, निकल कर गुजरात कालेज की ओर जा रहा था। पुलीस ने उसको रोककर भङ्ग करने की कोशिश की। लेकिन विद्यार्थियों के इनकार करने पर पुलिस ने गोलियां चलाने की धमकी दी। इसी समय एक युवक विद्यार्थी विनोद किनारी वाला आगे बढ़ा और पुलीस अधिकारी के सामने खड़े होकर बोला, 'मेरी छाती खुली है। तुम मुझे गोली से मार सकते हो।'

विनोद के यह कहते ही पुलिस ने बन्दूकें सीधी की और उसी

समय विनोद अपनी छाती में गोली खाकर जमीन पर लेट गया। बात की बात में उसके प्राण निकल गये।

पुलिस की गोलियों से भयानक रक्तपात १७ अगस्त को उस समय हुआ जब पचास विद्यार्थियों की एक टोली अदम स्टेशन की ओर जा रही थी। इस टोली ने विद्रोही विज्ञप्तियाँ बांटने का काम किया था। वे अपना कार्य समाप्त करके उस स्टेशन की ओर जा रहे थे। रायफल लिए हुए पुलिस की एक टोली उन्हें मिली। विद्यार्थियों की टोली को किसी बात का जरा भी आभास न हुआ कि उन पर एकाएक गोलियों की वर्षा होगी। अचानक गोली चलने से उनमें से चार विद्यार्थी गिर कर तुरन्त ठण्डे हो गये और बाकी बुरी तरह से घायल हुए। इन घायलों को उठाकर न तो कहीं अस्पताल में भेजा गया और न उनकी मरहम-पट्टी का कोई प्रबन्ध हुआ।

सुभाष बाबू ने एक बार कहा था, भारत को एक नहीं; हजारों की संख्या में झांसी की रानियाँ चाहिए। सन् १९४२ के विद्रोह ने सुभाष बाबू को उत्तर दिया और उसने बता दिया कि आज भी भारत की स्त्रियों में वही खून काम कर रहा है, जो झाँसी की रानी में मौजूद था।

देश का यह विद्रोह बम्बई और गुजरात के देहातों में जिस प्रकार फैला और उनमें जिस प्रकार के भयानक कार्य किए गये, उनके रोमाँच-कारी विवरण देने के लिए यहाँ पर स्थान नहीं है। एक ओर सरकार की पुलिस और फौजें थीं और दूसरी ओर निहत्थे लोगों की खुली हुई छातियां थीं। उनके सम्पूर्ण विवरण के सम्बन्ध में इतना ही कहना काफी होगा कि सरकार खून करने में कमजोर साबित हो रही थी। लेकिन लोग अपना खून देने में पीछे कदम न रखते थे।

बम्बई प्रान्त में मरने और घायल होने वालों की संख्या के अति-रिक्त ५००० से अधिक गिरफ्तारियाँ हुईं और उनको जो सजाएँ दी गयीं, उनमें ७-७ वर्ष के दण्ड भी थे। इन भयानक सजाओं के बावजूद भी प्रान्त का विद्रोह बराबर तेजी पकड़ता रहा।

बिहार का विद्रोह

सन् १९४२ के विद्रोह में देश के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा बिहार का विद्रोह अधिक भयानक रूप में पहुँच गया था। इस प्रान्त में

विद्रोह भी भीषण हुआ और ब्रिटिश-सरकार का दमन भी अत्यन्त भयानक रूप में रहा।

७ और ८ अगस्त १९४२ को होने वाले बम्बई के काँग्रेस अधिवेशन के पहले से ही लोगों का ख्याल था कि देश की वर्तमान परिस्थिति में किसी भी समय ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस के बीच संघर्ष पैदा हो सकता है और जिस समय उसका आरम्भ होगा, उसी समय से देश में गिरफ्तारियां होंगी। लेकिन यह किसी की धारणा न थी कि सरकार गांधी जी को गिरफ्तार करने का निर्णय करेगी, उस दशा में जब कि वे कांग्रेस के प्रस्ताव पास करने पर भी सरकार के साथ समझौता आरम्भ करने की कोशिश में थे।

लेकिन सरकार की समझ में जो कुछ आया, उसने वैसा किया। ९ अगस्त को प्रातः काल अचानक गांधी जी और कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य गिरफ्तार कर लिए गये। गांधी जी ने कुछ प्रमुख कांग्रेस-नेताओं को दूसरे दिन परामर्श के लिए अपने पास बुलाया था। वे एक बार सरकार के साथ समझौते का प्रश्न फिर उठाना चाहते थे और उसके असफल होने पर वे भविष्य के कार्यक्रम पर एक घोषणा करने वाले थे। लेकिन वे अपने स्थान पर भी न पहुँच सके थे, गिरफ्तार कर लिए गये। उनको अपना सन्देश देने का कोई अवसर न मिला। इसलिए अपनी गिरफ्तारी के बाद 'करो या मरो' का संदेश छोड़कर उन्हें अदृश्य हो जाना पड़ा।

बम्बई में ९ अगस्त को जब काँग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी हुई थी, देश-रत्न डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद दमा के रोग से बीमार थे और वे सदाकत आश्रम में मौजूद थे। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट और पुलिस के अफसर उनकी बीमारी से भली भाँति परिचित थे। फिर भी राजेन्द्र-बाबू की गिरफ्तारी का आर्डर उनको मिला। डाक्टरों द्वारा उनकी परीक्षा करायी गयी। फिर भी वे उस गम्भीर बीमारी की हालत में गिरफ्तार किये गये।

बिहार की जनता ने बम्बई में गाँधी जी और दूसरे नेताओं की गिरफ्तारी का हाल सुना। साथ ही गिरफ्तार किये गये राजेन्द्र बाबू का भी समाचार उसे मिला। पूरे प्रान्त में आँधी के समान यह समाचार फैल गया इसी बीच में बिहार के राजनीतिक नेताओं

की गिरफ्तारियाँ भी पटना मे हुईं। उन्हें बन्दी कर के जेल भेज दिया गया। अब उस प्रान्त में कोई उत्तरदायी कार्यकर्त्ता जेलों के बाहर न रह गया। बम्बई अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए जो लोग बिहार से गये थे, वे या तो अभी तक बम्बई में थे, अथवा वहां से चल चुके थे, परन्तु बिहार तक न पहुँचे थे। यहां के सम्पूर्ण विद्यार्थी और सभी श्रेणी के लोग एक अद्भुत अवस्था में परिवर्त्तित हो रहे थे।

जुलूसों का संगठन हुआ। जनता और विद्यार्थियों ने बहुत बड़ी संख्या में उनमें भाग लिया। जुलूस गवर्नर के भवन की ओर रवाना हुआ, जहाँ पर कि पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट और उनके दूसरे अफसर उपस्थित थे। एक बड़ी संख्या मे पुलिस भी वहाँ मौजूद थी। लेकिन उस दिन कोई दुर्घटना नहीं हुई।

स्कूलों और कालेजों में हड़ताल होने के साथ-साथ शहर के सारे बाजार बन्द हो गये। विद्यार्थी, लड़कियां और स्त्रियां के जुलूस भी निकाले गये और विद्यर्थियों की ओर से पटना यूनिवर्सिटी के मैदान एक बहुत बड़ी सभा की गयी।

इञ्जीनियरिंग कालेज मे राष्ट्रीय झण्डा लगाया गया। इसके बाद पुलिस ने विद्यार्थियों के जुलूस पर लाठी-चार्ज किया। उससे बहुत से विद्यार्थी घायल हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि दोपहर को दो बजे एक बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया और वह 'भारत छोड़ो' के नारे लगाता हुआ सेक्रेटेरियट की ओर रवाना हुआ। इस जुलूस मे लगभग ४० हजार विद्यार्थी थे सेक्रेटेरियट के फाटक पर पहुँच कर विद्यार्थियों ने उसके भीतर प्रवेश करने और राष्ट्रीय झण्डा फहराने की कोशिश की। वहाँ पर शहर जिला और प्रान्त के सभी बड़े-बड़े अफसर मौजूद थे। शस्त्रों के साथ पुलिस और बड़ी संख्या मे गोरखे सैनिक भी वहाँ उपस्थित थे।

भीड़ उस समय शान्त थी। लेकिन एकत्रित जनसमूह 'गांधी जी की जय' और 'हिन्दुस्तान जिन्दाबाद' के नारे बड़े जोरों के साथ लगा रहा था। विद्यार्थियों ने सेक्रेटेरियट के भीतर जाने और उसकी इमारत पर राष्ट्रीय झण्डा लगाने का आग्रह किया। उपस्थित डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट ने उनको वापस जाने के लिए जोर दिया। लेकिन इसके लिए समूह तैयार न हुआ।

इसके बाद एक विद्यार्थी समूह से निकलकर आगे बढ़ा और उसने एक छोटा सा झण्डा उस इमारत के स्थान पर लगा दिया। इसी समय कुछ और विद्यार्थी आगे बढ़े। उन्होंने डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के आर्डर की परवाह न की। आगे बढ़ने वाले विद्यार्थियों को देखकर दूसरे विद्यार्थियो ने भी उनका अनुसरण किया।

पुलिस ने आदेश पाकर फाटक के भीतर प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों को गिरफ्तार करना आरम्भ किया। इस गिरफ्तारी के साथ ही, समूह जोर के साथ नारा लगाकर आगे बढ़ता हुआ चल पड़ा। यह देखकर पुलिस ने गोलियां चलाकर भीड़ का सामना किया। इन गोलियाँ से सात विद्यार्थियों की मृत्यु हुई। पाँच उसी समय गिरकर मर गये और दो अस्पताल में जाकर मरे। उनके सिवा बहुत-से विद्यार्थी और दूसरे लोग घायल हुए।

सेक्रेटेरियट के फाटक पर चलायी गयी गोलियों का समाचार पूरे शहर मे फैलने के साथ-साथ, शहर के बाहर जिले में और पूरे प्रान्त में फैल गया और उसके फलस्वरूप बिहार मे व्यापकरूप से विद्रोह की आग जल उठी।

गोलीकाण्ड से जो विद्यार्थी और दूसरे लोग घायल हुए थे, उनको अस्पताल भेजा गया था। इस समाचार को पाते ही शहर के चारों ओर से घायल लोगों के लिये एक अपार भीड़ अस्पताल मे आकर टूट पड़ी। उस समय दो घायलों की अस्पताल मे मृत्यु हो चुकी थी। एकत्रित भीड़ उनकी लाशों को ले गयी और उनके दाह-संस्कार किये गये। अस्पताल मे समूह के एकत्रित होने पर भी कुछ गिरफ्तारियाँ की गयीं और उनको जेल भेज दिया गया।

दूसरे दिन प्रातः काल पटना का पूरा शहर सेक्रेटेरियट के गोली काण्ड से पागल हो रहा था। फलस्वरूप शहर मे हड़ताल मनायी गयी, स्कूल और कालेज बन्द हो गये। कोर्ट भी बन्द रहा, सड़कों और गलियों में जुलूस घूम रहे थे।

भीड़ ने स्थानीय पोस्ट-आफिस पर आक्रमण किया और उसके बाद वह जेल की तरफ रवाना हुई उसी दिन सबेरे शहर में बहुत अधिक गिरफ्तारियाँ की गयी थीं। इन गिरफ्तार लोगों को लारी पर बिठाकर पुलिस जेल ले जा रही थी। इसी समय उन्मत्त भीड़ जेल के

फाटक पर पहुँची। उसने फाटक पर ही कैदियों से भरी हुई लारी को रोका।

जेल के फाटक पर इस समय बड़ा भयानक दृश्य उपस्थित हो गया था। एकत्रित समूह कैदियों को जेल में जाने नहीं देना चाहता था और पुलिस उन्हें ले जाना चाहती थी थी। दोनों ओर से भीषण संघर्ष उपस्थित हुआ अन्त में जन-समूह की विजय हुई सरकारी लारी से कैदियों को छीनकर समूह अपने साथ ले आया।

उसके बाद जनता की ओर से कांग्रेस के मैदान में एक विशाल सभा हुई। उसमें विद्यार्थियों की उपस्थिति अधिक थी। उस सभा मे गांधी जी के महामन्त्र 'करो या मरो' पर अनेक भाषण हुए और उपस्थित लोगों को यह बताया गया कि वे किस प्रकार गाँधी जी के इस आदेश की पूर्ति कर सकते है।

चारों ओर अराजकता का विस्तार हो रहा था। ई० आई० आर० और बी० एन० डब्लू० आर० की पटरियां दूर तक उखाड़ दी गईं। पटना सीटी और दीनापुर की सड़कों पर पेड़ो को काट-काट कर उनकी डालें बिछा दी गयीं। यह सब इसलिए किया गया कि जिससे पुलिस और फौजी सैनिकों के आने का रास्ता बन्द हो जाय।

सरकारी अधिकारियों ने दमन से काम लिया। बड़ी संख्या में पुलिस लाकर पटना में एकत्रित की गयी। सारा शहर पुलिस के सिपाहियों और फौजी सैनिकों से भर गया। इसी मौके पर बहुत अधिक गिरफ़्तारियां हुई। अकेले कदम कुआं पर दो सौ से अधिक गिरफ़्तारियां की गयीं।

एक ओर सरकार का भयानक दमन चल रहा था और दूसरी ओर अराजकता की बृद्धि हो रही थी। टेलीफोन के तार काटे जा रहे थे, रेलवे-लाइन को खराब किया जा रहा था। थानों पर उत्पन्न भीड़ के आक्रमण हो रहे थे और सरकारी कारखानों दफ़्तरों और इमारतों को नष्ट करने का काम जोरों के साथ चल रहा था। इस प्रकार के कार्य क्रम में राष्ट्रीय झंडे का महत्व बढ़ रहा था। प्रत्येक सरकारी इमारत पर उसके लगाने की चेष्टा की जा रही थी और बहुत से स्थलों पर झंडे के लगाने में भीड़ को सफलता भी मिल गयी थी।

एक थाने पर भीड़ ने चढ़ाई की। लोगों का इरादा थाने की

इमारत पर काँग्रेसी झण्डा लगाने का था। लेकिन लोगों के पहुँचते ही थाने की ओर से गोलियाँ चलाई गयीं। चौकीदारों की एक बड़ी टोली वहाँ मौजूद थी। उसने अपने हाथों में गड़ासे आदि लेकर भीड़ पर आक्रमण किया। बहुत-से आदमी घायल हुए।

पुलिस और फौजी सिपाहियों के साथ भीड़ के अनेक स्थानों पर मुकाबले हुए। मार पीट और लाठी-जार्च के साथ-साथ बहुत-से लोग गिरफ़्तार किया गये। इस प्रकार के संघर्ष शहर से लेकर देहातों तक फैल गये और सरकार की ओर से क्रूरतापूर्ण अत्याचार किये गये। इतना सब होने पर भी जो अराजकता उत्पन्न हुई थी, सरकार उसे कहीं दबा न सकी।

कितने ही रेलवे-स्टेशन बरबाद किये गये और उनमें से कितने ही जला दिये गये। समाचार भेजने के तार नष्ट हो गये। जो भीड़ इस प्रकार के कार्य कर रही थी, उसको कहीं से विद्रोहात्मक उत्तेजना न मिलती थी। किन्तु फिर भी उत्तेजित समूह इस प्रकार के कार्यों के लिए बराबर अग्रसर हो रहा था।

१७ अगस्त को एक बड़ी भीड़ ने बिक्रम थाने पर चढ़ाई की। भीड़ थाने पर जाकर राष्ट्रीय झण्डा लगाना चाहती थी। वहाँ पर भी पुलिस ने गोलियाँ चलायीं, जिससे एक आदमी की तुरन्त मृत्यु हुई और बहुत-से आदमी घायल हुए।

इन दिनों में सरकार ने पुलिस को गोलियाँ चलाने के लिए आज्ञा दे रखी थी। इस बात को जानते और समझते हुए भी जनता की भीड़ बराबर थानों पर चढ़ाई कर रही थी और उसके फलस्वरूप लोगों को प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। जो लोग घायल होते थे, उन्हें अस्पताल भेज दिया जाता था।

पटना सिटी स्टेशन पर रेलगाड़ियाँ इसलिए रुकी हुई थीं कि उनके जाने के रास्तों पर पटरियाँ उखाड़ डाली गयी थीं, सरकार की ओर से इस प्रकार की दुर्घटनाओं का बराबर मुकाबला हो रहा था। पुलिस और फौज के सैनिकों को सभी प्रकार की अज्ञायें दे दी गयीं थी।

शहरों के साथ-साथ गाँवों में भी अराजकता बढ़ गयी थी। सभी प्रकार की जनता संगठित रूप में सरकार का मुकाबला कर रही थी

और जैसे भी हो सकता था ब्रिटिश-शासन के फैले हुए कार-बार
ग्रामीण जनता नष्ट करने की कोशिश कर रही थी। आश्चर्य यह
कि लोगों को शासन के विरुद्ध इस प्रकार के काम करने के लिए क
से अब तक आदेश न मिले थे। पचास वर्ष से अधिक समय त
देश की जनता को अहिंसात्मक आन्दोलन करते हुए समय बिता
पड़ा था। इस दशा में देश का साधारण जन-समाज हिंसात्मक का
की मनोवृत्ति खो बैठा था फिर भी सन् १९४२ के विद्रोह में ब्रिटि
शासन के विरुद्ध जो स्वाभाविक रूप से अराजकता फैली थी, उस
स्पष्ट अर्थ यह होता है कि इस देश का प्रत्येक प्राणी अंगरेजी-शार
से ऊब उठा था और अब वह उसमें रहने की अपेक्षा मर जा
अधिक अच्छा समझता था।

बिहार के अधिकाँश स्थानों में अराजकता की भीषण स्थि
उत्पन्न हो गयी थी। गाँवों से लेकर कस्बों और शहरों तक जनता
भीड़ पुलिस और फौजों का मुकाबला करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ
मालूम होती थी।

बिहार के अनेक स्थानों में विद्रोह का भयानक रूप चल र
था। पटना शहर में सरकारी ऐसे आर्डर हो गये थे, जिनके अ
सार शहर का कोई आदमी बिना अधिकारियों की आज्ञा लिए
शहर से बाहर जा न सकता था और न बाहर का कोई आदमी श
में ही आ सकता था। इस दशा में लोगों के साधारण कष्ट भया
हो उठे थे। सरकार से लेकर जनता तक सभी के कार-बार बन्द
थे। दोनों ओर से बराबर आक्रमण हो रहे थे और देश का स
जनिक समाज बलिदान हो जाने में ही अपना गौरव समझता था।

पटना के सिवा बिहार के दूसरे सभी शहरों में भी विद्रोह
भीषण लपटें उठ रही थीं। उन सभी शहरों के विद्रोहात्मक विव
यहां पर देने के लिए स्थान नहीं है इसलिए दूसरे शहरों की दु
नाओं के सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि यों तो
बिहार प्रान्त में विद्रोह की आग लगी हुई थी, परन्तु जिन शहरों
प्रान्त के इस विद्रोह में अधिक भाग लिया, उनमें शाहाबाद, बक्स
मुंगेर, भागलपुर, पुर्निया, दरभंगा, गया, पालामऊ, राँची, सिंग
और मुजफ्फरपुर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बिहार की ग्रामीण जनता ने इस विद्रोह में जिस प्रकार भाग लिया और अंगरेजी शासन को मिटाने के लिए जिस प्रकार के कार्य किए, देश की स्वाधीनता के इतिहास में आदर पूर्वक उनके विवरण दिये जायँगे।

भारत के शेष प्रान्तों के विद्रोह

सन् १९४२ के विद्रोह में बंगाल, पञ्जाब, बम्बई और बिहार के विवरण ऊपर दिये जा चुके हैं। भारत में अभी सात प्रान्त और बाकी हैं। जिन्होंने इस विद्रोह मे पूरा भाग लिया और देश की परतन्त्रता के बन्धनों को निर्बल बनाने के लिए अपनी आहुतियां दीं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि सन् १९४२ का विद्रोह वास्तव में विद्रोह न था। यह भी बताया जा चुका है कि ब्रिटिश-सरकार के भीषण दमन की प्रतिक्रिया विद्रोह के रूप में संसार के सामने आयी।

ऊपर जिन चार प्रान्तों के विद्रोहों का वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार के दृश्य १९४२ मे इस देश के शेष प्रान्तों मे भी रहे। सभी के सामने एक ही कारण था। एक ही वातावरण था, और एक ही उद्देश्य था। इसलिए इस विद्रोह मे लगभग सभी प्रान्तों की दुर्घटनायें एक सी ही रहीं। यह जरूर हुआ कि सभी प्रान्तों के विद्रोह एक-सी मात्रा में नहीं रहे। कहीं पर संघर्ष की विभीषिका अधिक भयानक हो गयी थी और कहीं पर उतनी भयानक न हो सकी थी।

बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस के उग्र रूप धारण करने पर और स्वाधीनता के सीधे मार्ग की ओर प्रस्थान करने का समय आने पर यदि ब्रिटिश-सरकार ने जल्दबाजी से काम न लिया होता और गाँधी जी के साथ-साथ ९ अगस्त को बम्बई में काँग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी न हुई होती तो १९४२ का विद्रोह न हुआ होता।

यह भी स्पष्ट था कि 'भारत छोड़ो' नामक अपना प्रस्ताव पास कराने के बाद गाँधी जी ब्रिटिश अधिकारियों के साथ समझौते की बात को फिर उठाना चाहते थे। लेकिन सरकार ने इसके लिए उनको मौका ही न दिया। देश में विद्रोह की आग उसी समय से प्रज्वलित होती है, जब देश की जनता गांधी जी और अपने नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार सुनती है।

यह बात भी निर्विवाद है कि विद्रोह की ओर अग्रसर होते ही

देश के जन-समुदाय ने जो पहले नारा लगाया था, वह था—'हमारे नेताओं को छोड़ो' गाँधी जी को मुक्त करो।' यह नारा स्पष्ट रूप से जाहिर करता है कि देश की जनता अपने नेताओं की रिहाई चाहती थी। सरकार ने इस नारे के प्रति और देश की माँग की ओर ध्यान न दिया। उसके बाद एक ओर सरकार का दमन आरम्भ हुआ और दूसरी ओर देश में विद्रोह का तूफान उठा।

इस एक ही कारण को लेकर १९४२ में देश ने विद्रोह किया। सरकार की ओर से दमन करने के लिए बँधा हुआ एक ही कार्यक्रम था :—गिरफ्तारियां, लाठी-चार्ज, गोली-काण्ड, सजायें और जुर्माने। प्रमुख रूप से सरकार के दमन के यही साधन थे। ब्रिटिश शासकों का विश्वास था कि यदि पूरी शक्ति के साथ भारत पर दमन किया गया तो उसकी स्वतन्त्रता का नशा उतर जायगा और देश अनन्तकाल के लिए अंगरेजों का गुलाम हो जायगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

ब्रिटेन ने आंखें खोलकर देखा कि गाँधी जी और देश के राष्ट्रीय नेताओं का अपने देश पर जो प्रभाव है, और उनकी आज्ञाओं से जो काम होता है, वह प्रभाव और कार्य उनके बन्दी हो जाने पर सहस्रों और लाखों गुना अधिक हो जाता है।

सरकार के दमन का विरोध करने के लिये देश के पास भी एक छोटा-सा कार्यक्रम था जो पहले से निश्चित न होने पर भी, विद्रोह की लपटें उठते ही निश्चित हो गया था। सरकारी इमारतों पर आक्रमण करना, पुलीस-स्टेशनों पर धावा करना और उनकी इमारतों पर काँग्रेसी झण्डा लगाना, सरकारी दफ्तरों को बरबाद करना रेलवे-लाइन तोड़ डालना, सड़कें खराब कर देना, पोस्ट आफिसों पर हमला करना सरकारी खजाने को लूट लेना आदि इसी प्रकार के विनाशकारी कार्य करना देश की जनता ने अपना कर्त्तव्य समझ लिया था।

सन् १९४२ के विद्रोह का पूरा इतिहास इसी प्रकार की दुर्घटनाओं से भरा हुआ है। किसी एक प्रान्त में जो दृश्य देखने में आये, ठीक उन्हीं का प्रतिबिम्ब—कम अथवा अधिक मात्रा में, दूसरे प्रान्त में भी देखने को मिला। इस प्रकार लगभग सभी प्रान्तों में इस विद्रोह की एक-सी दुर्घटनायें रही। ब्रिटिश-सरकार की ओर से भी और देश की जनता के प्रत्युत्तर के रूप में भी। विद्रोह के ये विवरण चार प्रान्तों

के इस परिच्छेद में देने के बाद फिर आवश्यकता नहीं रह जाती कि उन्हीं दुर्घटनाओं और दृश्यों को लेकर शेष प्रान्तों के विद्रोह का वर्णन किया जाता। इसलिए यहाँ पर इतना ही लिखना अब ठीक होगा कि विद्रोह के जो विवरण चार प्रान्तों को लेकर ऊपर लिखे जा चुके हैं, ठीक उसी प्रकार के विद्रोह संयुक्त प्रान्त, मध्य-प्रदेश, आसाम, उड़ीसा, सिंध, महाराष्ट्र और सीमान्त प्रदेश मे उत्पन्न हुए।

विद्रोह का यह सिलसिला छः महीने तक बराबर जारी रहा। और गाँव से लेकर कस्बों और शहरों तक बराबर अराजकता की वृद्धि होती गयी। ६ मई १९४४ को गाँधी जी छोड़ दिये गये। और नये वाइसराय लार्ड वैवेल के शासन काल मे १५ जून, १९४५ को काँग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों की रिहाई होगयी।

सन् १९४२ के विद्रोह के सिलसिले मे ब्रिटिश-सरकार की ओर से दण्ड स्वरूप सामुहिक जुर्माना की लम्बी-लम्बी रकमें देश के प्रत्येक परिवार से वसूल की गयीं और वसूल की गयीं बड़ी निर्दयता के साथ। उस जुर्माने मे मुसलमानों को बरी कर दिया गया था। आरम्भ में कुछ मुसलमानों से वसूल किया गया था। लेकिन फिर उसे उनको लौटा दिया गया।

इस जुर्माने की रकम को वसूल करने मे जिस व्यवस्था से काम लिया गया, वह कम आश्चर्य जनक नहीं है। सही बात यह है कि इस देश में ऐसे लोगों की एक बड़ी संख्या उन दिनों में भी मौजूद थी, जो देश का साथ न देकर, सरकार का साथ देती थी।

इस प्रकार के लोगों में अधिकांश जमींदार, ताल्लुकेदार और देश के बहुत-से सम्पत्तिशाली थे। सरकार के किसी मौके पर ये लोग हर तरीके-से उसकी सहायता किया करते थे। लेकिन १९४२ के विद्रोह के दण्ड में ब्रिटिश-सरकार की ओर से जब जुर्माने की लम्बी रकमें वसूल की गयी तो उस दण्ड से और रुपये की आदायगी से इस देश के उन लोगों को भी बरी न किया गया जो सदा देश के साथ विश्वासघात करके ब्रिटिश सरकार का साथ दिया करते थे।

———

चौबीसवाँ परिच्छेद

देश में क्रान्तिकारी प्रगति

अंगरेजी शासन से घृणा

सन् १८५७ का भीषण विद्रोह समाप्त हो चुका था। ईस्ट इण्डि कम्पनी का शासन, इंगलैण्ड के पार्लामेण्ट के हाथ में चला गया और देश की विद्रोही परिस्थितियो को बड़ी सावधानी के स शान्त करने की चेष्टा ब्रिटिश-सरकार की ओर से की गयी उसमें सरकार को सफलता भी मिली थी। परन्तु इससे उसको सन्त न था। उसे इस बात का भय था कि इस देश मे १८५७ की भ किसी समय क्रान्ति फिर न उत्पन्न हो जाय। उसको रोकने के ल ही काँग्रेस का जन्म हुआ था।

ब्रिटिश सरकार का सन्देह निराधार न था। ईस्ट इण्डिया-कम्प के शासन से जो देश मे कटुता उत्पन्न हुई थी और जिसके परिण स्वरूप एक भीषण विप्लव हुआ था, उसकी आग शीतल हो गई परन्तु उसकी चिनगारियाँ बुझ न सकी थीं। अंगरेजी-शासन से घृणा उत्पन्न हो गयी थी, उसका अस्तित्व बाकी था और मिट्टी दबा हुआ, भीतर ही-भीतर धुआँ दे रहा था। ब्रिटिश-सरकार उसका कुछ पता न था।

सन् १८५७ का विप्लव समाप्त हो चुका था परन्तु उसमें बलि होने वालों की स्मृतियाँ देश को भूली न थीं। नाना साहब और लक्ष्मी बाई की वीरता लगातार देश के स्वाभिमानी आत्माओं उत्तेजना उत्पन्न करती थी। फिर भी भारत का वातावरण श पूर्वक अतिवाहित हो रहा था।

भारत में बंगाल पहला प्रान्त था जो अंगरेजी राज्य मे गया और अंगरेजी-शिक्षा से प्रभावित हुआ था। साथ ही बंगाल मे

सब से प्रथम अंगरेजी शासन से विरुद्ध भावनाओं का जागरण हुआ और सन् १८५७ के विप्लव के बाद, वहीं से राजनीतिक क्रान्ति की लहर का सूत्र पात हुआ है। इसमे सन्देह नहीं कि राजा राममोहनराय पर अंगरेजी शिक्षा और अंगरेजी संस्कृति का बहुत प्रभाव पड़ा था, लेकिन इसमें भी संदेह नहीं कि बंगाल प्रान्त में सार्वजनिक जागृति का सब से अधिक श्रेय भी उन्हीं को मिला है। राममोहन के पश्चात् बंगाल मे, एक बड़ी संख्या में प्रतिभाशाली विद्रोही उत्पन्न हुए, उन्होंने बंगाल के सामाजिक और राजनीतिक विकाश मे एक नया जीवन प्रवाहित किया। किशतोदास पाल और हरिश्चद्र मुखरजी ने पत्र-कला और राजनीतिक स्फूर्ति पैदा करने मे, केशव चन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द ने धार्मिक और आध्यात्मिक जागरण मे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सामाजिक सुधारों के उद्बोधन मे, मधुसूसन, दीनबन्धु और बंकिम ने साहित्य मे एवम् किशतो मोहन बनर्जी और महेन्द्र लाल सरकार ने सार्वजनिक उत्थान मे चतुर्मुखी जीवन का एक प्रकाश उत्पन्न किया। वरन् सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में उसने उज्वल और क्रान्ति का प्रस्फुरण किया। किसी एक देश में, समय के एक छोटे से परिणाम मे, इतने प्रतिभाशाली क्रान्तिकारियों का एक साथ उत्पन्न होना साधारण बात नहीं है। एक फ्राँस को छोड़कर, जिसमे रूसी, वालटियर, कनडोरसेट, क्विसने, डेडेरांट, हाल वाक, डी० एलेम्बर्ट जैसे प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी विभूतियों ने अपनी प्रतिभा और शक्ति का अद्भुत परिचय दिया था, दूसरी कोई उपमा न मिलेगी। उन दिनों मे विद्यासागर को बंगाल के बौद्धिक विकाश मे प्रशंसनीय ख्याति मिली थी। समाज के विचारों की दिशा को, किसी दूसरी दिशा मे कर देने के लिए उनमे आश्चर्य जनक क्षमता थी। उन दिनों मे जो दूसरे नेता थे और जिन्होंने विचारों का नेतृत्व करने मे एक बहुत बड़ी कीर्ति प्राप्त की थी, वे अनेक अंशों मे धार्मिक मनोवृत्ति रखते थे। बंकिम चन्द्र जैसे महान साहित्यकार, जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा क्रान्ति का अमिट अंकुर उत्पन्न किया और अनेक साधनों से उसे पनपाकर, समर्थ बनाया; धार्मिक आधार रखते थे। परन्तु यह बात विद्यासागर के लिए नहीं कही जा सकती। वे मनुष्यत्व के पुजारी थे और सर्वथा पक्षपात

हीन थे। किसी भी अवस्था में, बंगाल के इन साहित्यकारों, पत्रकारों और राजनीतिक विद्वानों ने जिस देश-भक्ति और जननी जन्मभूमि के प्रेम का संदेश सावजनिक जीवन में विकीर्ण किया, उसने देश में राजनीतिक जागरण का काम किया और साथ-साथ उसने विदेशी-शासन के प्रति देश के प्रत्येक स्वाभिमानी व्यक्ति में घृणा का भाव अंकुरित किया।

जन-साधारण के मनोभावों मे क्रान्ति का उत्पादन करना पड़ता है। साहित्य के द्वारा उसकी भावना अंकुरित होती है और धीरे-धीरे उसकी जड़ें पृथ्वी में प्रविष्ट होकर सुदृढ़ होती है। फ्राँस में रूसो और वाल्टेयर को यही करना पड़ा था। उनके दूसरे सहयोगियों ने भी पौष्टिक साहित्य का सृजन करके विद्रोह के वातावरण को सुदृढ़ एवम् सफल बनाया था। भारत के अन्य प्रान्तों में इसका अभाव था, इसलिये वे क्रान्ति के कार्य क्षेत्र मे बंगाल की भाँति कुशल और सफल नहीं सिद्ध हो सके। यद्यपि उन दिनों मे बंगला साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव था और इस प्रकार हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त स्वतन्त्रता के नवीन जीवन से दूर न थे। दूसरे प्रान्तो मे महाराष्ट्र प्रान्त क्रान्ति की ओर अग्रसर हुआ था। इस लिए कि लोकमान्य तिलक के समान उसको नेता का नेतृत्व मिला था। भारतीय क्रान्ति की प्रगति मे पंजाब प्रान्त के युवकों के उत्सर्ग महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, इसलिए कि वहाँ के जीवन मे स्वभावतः संजीदगी का सामञ्जस्य रहता है। साथ ही, उस प्रान्त के कितने ही युवक दूसरे देशो के स्वतन्त्रता संग्राम से प्रभावित हो चुके थे और मेजनी तथा गेरी वाल्डी के साहित्य ने बंगाल के साथ साथ, पंजाब के कितने ही युवकों में स्वाधीनता के भावों का संचार किया था।

ऊपर लिखा जा चुका है कि १८५७ का विद्रोह समाप्त हो चुका था, परन्तु उसकी स्मृति की चिनगारियाँ मिट्टी मे मिली हुई, जहाँ-तहाँ धुआँ दे रही थी। देश के राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति का कहीं स्वर न था। परन्तु नवीन साहित्य के द्वारा देश में देशभक्ति स्फूर्ति पा रही थी। उसके प्रभाव से देश के युवकों को विदेशी शासन से घृणा करने की शिक्षा मिली और वही शिक्षा जहाँ-तहाँ युवकों को उनके कर्त्तव्य की ओर आकर्षित करने लगी।

राजनीतिक हत्यायें

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के पूर्व, भारत में जो समय आरम्भ हुआ, उसमें देश भक्ति को प्रोत्साहन दिया गया। आधुनिक विचारों के लेखकों, साहित्यकारों, कवियों और सुधारकों ने सार्वजनिक जागृति को उभारने का काम किया। उन दिनों में राजनीतिक लेखों को अधिक महत्व दिया जा रहा था और देश के युवकों में क्रान्तिकारी साहित्य अधिक पढ़ा जा रहा था।

जागरण के इन के दिनों में, देश के युवकों में अंगरेजी-शासन के विरुद्ध भावनायें उन्नत होती जा रही थीं। देश के इस वातावरण में क्रान्ति के विचारों का स्रोत दुर्बल था परन्तु उसमें स्फूर्ति और उत्तेजना थी। घृणा की प्रेरणा पाकर अंगरेजों के विरुद्ध वादाविवाद करना देश के युवकों का एक विषय बनता गया। इस प्रकार की परिस्थिति को उकसाने के लिए कोई आन्दोलन न था, परन्तु एक सूक्ष्म गति में उसका विकास हो रहा था। इस विकास और जागरण के साथ-साथ, अंगरेजों की हत्याओं का सूत्रपात होने लगा।

ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी का शासन समाप्त होने के बाद जिन अंगरेजों ने यहाँ शासन किया, वे बहुत अंशों में सतर्क और सावधान हो गये थे। परन्तु फिर भी, भारतीय शासन में ऐसे अंगरेज अधिकारियों की कमी भी न थी, जो अत्याचार करते थे। इस प्रकार के अंगरेज अधिकारी देश के निवासियों को खटकने लगे। उनके कलुषित कार्यों की अलोचनायें सार्वजनिक पत्रों में प्रकाशित हो रही थी और उनके विरुद्ध देश में एक वातावरण तैयार हो रहा था। जिन युवकों के हृदयों में अंगरेजी-शासन के प्रति घृणा का स्रोत, तरंगें ले रहा था, उनमें यह एक लहर उत्पन्न हो गयी कि अत्याचारी अंगरेजों की हत्या होनी चाहिए।

विद्रोह की यह भावना युवकों में तीव्र होने लगी। छिपे तौर पर युवकों की टोलियां अंगरेजों के विरुद्ध षड़यंत्र रचना का कार्य करने लगीं। जो अंगरेज अधिकारी देश में अत्याचार कर रहे थे, उनको किसी प्रकार मार दिया जाय और अत्याचारी अंगरेजों को पनपने न दिया जाय, इसके साधन खोजे जाने लगे।

करने वालों के लिए कुछ भी कठिन नहीं होता। जो युवक इस मार्ग में आगे बढ़े, उन्होंने अपने कर्त्तव्यों का निर्णय भली प्रकार कर लिया। वे अंगरेजों की हत्या करने के साथ-साथ, स्वयं बलिदान होने के लिए तैयार हो गये। इस प्रकार के युवकों ने इस बात को खूब समझ लिया कि जो स्वयं उत्सर्ग नहीं होना चाहता, वह दूसरे के जीवन का अन्त नहीं कर सकता। इस प्रकार क्रान्ति के कार्यक्रम स्थिर और सुदृढ़ होने के बाद कार्य में परिणत होने लगे। इधर-उधर अंगरेजों की हत्यायें आरम्भ हो गयीं।

सन् १८९७ में पूना शहर ताऊन का शिकार हो रहा था। इस बीमारी के सिलसिले में मिस्टर रैण्ड नामक एक अंगरेज वहाँ पर अधिकारी नियुक्त हुआ। उसका व्यवहार सर्वसाधारण के साथ बहुत दूषित सिद्ध हुआ। इसके सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में आलोचनायें हुई। परन्तु ब्रिटिश-सरकार पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। २२ जून को महारानी विक्टोरिया का राज्याभिषेक उत्सव हो रहा था। इसी उत्सव के सम्बन्ध में पूना में भी आनन्द मनाया गया। शहर में आतिशबाजी की भरमार थी। लेकिन देश में ऐसे युवकों का सर्वथा अभाव न था, जिनको यह खटक रहा था, उस उत्सव में दो अंगरेज जिस तरीके से घूम रहे थे, वह उनके अहंकार का परिचय दे रहा था। अचानक गोलियों की आवाज हुई और दोनों अंगरेज जमीन पर लेट गये। मारने वाला युवक पकड़ा गया। उसका नाम था, दामोदर चाफेकर। अदालत में उस युवक ने अपना अपराध स्वीकार किया। दो अंगरेज जो मारे गये, उनमें एक थे मिस्टर रैण्ड और दूसरा एक लेफ्टिनेण्ट। दामोदर के साथ के दो अन्य युवकों ने एक पुलिस के चीफ कान्सेबुल की हत्या का प्रयत्न किया था। दामोदर के इस कार्य में उनके साथ के एक आदमी ने मुखबिरी की और दामोदर को फाँसी दी गयी।

इन्हीं दिनों में काठियावाड़-निवासी श्याम जी कृष्ण वर्मा नामक एक युवक था और बम्बई में उसके अपने पकड़ जाने का समाचार मिला। मिस्टर रैण्ड की हत्या के सम्बन्ध में पुलिस को वर्मा पर सन्देह था। वह बम्बई से लण्डन चला गया और वहाँ पर उसने भारतीय स्वतंत्रता के लिए कार्य करना आरंभ कर दिया। भारत के

जो विद्यार्थी इंगलैण्ड में पढ़ने के लिये गये थे उनमें अँगरेजों के प्रति विद्रोहात्मक भावना जागृत करना ही उसके कार्य का उद्देश्य था। बर्मा का वहां पर एक संगठित दल था और उस दल में विनायक दामोदर सावरकर भी एक थे और बड़े उत्साह के साथ वे उस दल की ओर से प्रचार का कार्य करते थे।

इंगलैण्ड मे इस प्रचार के लिए भारतीय भवन नाम की एक संस्था खोली गयी थी। इंगलैण्ड में रहने वाले भारतीय विद्यार्थी वहाँ पर एकत्रित होते थे। प्रत्येक रविवार को उसकी सभा हुआ करती थी और उसमें आनेवालों को भारत मे अंगरेजी शासन के विरुद्ध उत्तेजित किया जाता था। सन् १९०८ मे लण्डन के इसी भारतीय भवन में गदर-दिवस मनाया गया। उसमें बहुत से भारतीय विद्यार्थी, (भारतीय भवन के सदस्यों में) बम बनाने का प्रचार भी हो रहा था और इस कार्य मे 'लण्डन-विश्वविद्यालय' के एक सुयोग्य विद्यार्थी से बड़ी सहायता मिल रही थी।

लण्डन के एक विद्यालय में सर कर्जन वाइली को मदनलाल धींगरा नामक एक भारतीय युवक ने गोली से मार दिया। पंजाब विश्वविद्यालय से बी० ए० पास करके पढ़ने के उद्देश्य से धींगरा इंगलैण्ड गये थे और वहां पर वे भारतीय भवन के सदस्य हो गये थे। १६ अगस्त १९०९ को मदनलाल धींगरा को फाँसी दी गयी।

सन् १९०९ में गणेश सावरकर पर राजद्रोहात्मक एक अभियोग चलाया गया। उन्होंने अंगरेजी शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी कविताएं लिखी थीं। मिस्टर जैक्सन नामक एक अंगरेज अधिकारी की अदालत मे अभियोग आरम्भ हुआ और सावरकर को सेशन सुपुर्द किया गया। उस पर निश्चय किया गया कि मिस्टर जैक्सन की हत्या की जाय। यही हुआ भी। २१ दिसम्बर १९०९ को वे गोली से मार दिये गये। इस हत्या के सम्बन्ध मे सात आदमियों पर मुकदमा चला और तीन युवकों को फाँसियाँ दी गयीं।

इसी वर्ष, सन् १९०९ मे लार्ड मिण्टो श्रीमती मिण्टो के साथ अहमदाबाद गये थे। उसी अवसर पर उन पर बम फेंका गया। परन्तु संयोग से उनको आघात नहीं पहुँचा। इन्हीं दिनों मे ब्रिटिश अधिकारियों के विरुद्ध तीन षडयन्त्र-नासिक और ग्वालियर मे किये गये।

नासिक-षड़यन्त्र में ३८ आदमियों पर मुकदमा चला और २७ आदमियों को कठोर दण्ड दिये गये। ग्वालियर में लगातार दो षड़यन्त्र रचे गये। इन दोनों षड़यन्त्रों मे इकतालीस आदमी फाँसे गये और उन पर संगीन अभियोगों का आरोप हुआ।

इस प्रकार देश में जो फुटकर राजनीतिक हत्याएँ आरम्भ हुईं, उनका बहुत कुछ आधार धार्मिक था और धार्मिक आघात का आश्रय लेकर लोगों को क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित किया जाता था।

क्रान्ति की प्रगति में बंगाल-प्रान्त

आरम्भ में ही लिखा जा चुका है कि भारतीय क्रान्ति के सम्बन्ध में बङ्गाल-प्रान्तीय क्रान्ति का आधार अधिक अंशों मे सुदृढ़ था। जननी जन्म भूमि और देश-प्रेम के गीत वहाँ अधिक गाये गये। स्वतन्त्र विचारों का प्रचार स्थायी रूप मे किया गया। पश्चिमी देशों के स्वतन्त्र विचारों का समावेश बङ्गाल-प्रान्त में अधिक हुआ और प्रतिभाशाली साहित्यकारों के द्वारा हुआ।

इन विचारों की व्यापकता बङ्गाल-प्रान्त में उस समय तक अप्रकट रही, जब तक बङ्ग-भङ्ग की समस्या सामने न आयी। बङ्ग-विच्छेद के पहले बिहार और उड़ीसा, बङ्गाल-प्रान्त के अन्तर्गत थे और उस प्रान्त की जन-संख्या सात करोड़ अस्सी लाख थी। उन दिनों मे बङ्किम बाबू का 'बन्देमातरम' गीत बङ्गाल के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे पूर्ण रूप से अपना स्थान बना चुका था और 'सप्त-कोटि कल-कल निनाद कराले' का तीव्र किन्तु मधुर स्वर बङ्गाल-भूमि पर उठ कर आकाश तक पहुँचा था। उस समय तक बङ्गाल के सामने सात करोड़ बङ्गालियों का ही प्रश्न था। उन दिनों में वहाँ के साहित्यकार' सम्पूर्ण भारत का प्रश्न न उठा कर, बङ्गाल का ही प्रश्न उठाते थे और बङ्गाल को ही अपना देश मानते थे। परन्तु बङ्ग-विच्छेद के आक्रमण से उनका वह स्वप्न भङ्ग हुआ और 'सप्त करोड़ कल-कल निनाद कराले' के स्थान पर 'त्रिंशकोटि कल-कल निनाद कराले' का स्वर ऊंचा हुआ।

बङ्ग-विच्छेद का समय सन् १९०५ का है। उसके पहले ही बङ्गाल-प्रान्त में सार्वजनिक जागृति की लहर चल रही थी। भारत के दूसरे

प्रान्तों के साथ-साथ बङ्गाल में भी काम करने वाली समितियों और संस्थाओं के अस्तित्व कायम थे। परन्तु उनका सब एक, दूसरे के साथ कोई संगठनात्मक सम्पर्क न था। बङ्गाल में जो समितियां काम कर रही थीं, उनमे 'अनुशीलन समिति' अधिक व्यापक सिद्ध हुई। बङ्गाल-प्रान्त के विशिष्ट नगरों के साथ-साथ दूसरे प्रान्तों में भी उसी नाम से समितियां कायम हुईं। उन समितियों का उद्देश्य शारीरिक और मानसिक उन्नति करना था। इसमें सन्देह नहीं कि उन समितियों मे राजनीतिक कार्यक्रम भी रहते थे। कुछ दिनों के बाद, सरकार के सन्देह करने पर ये समितियां गुप्त समितियों के रूप में परिणत हो गयीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों तक, बङ्गाल में क्रान्तिकारी विचारों का समावेश हो चुका था। अंगरेजी पढ़े-लिखे युवकों में क्रान्ति की प्रेरणा काम कर रही थी। अरविन्द घोष के छोटे भाई वारीन्द्र कुमार घोष ने अपनी गिरफ्तारी के बाद अदालत मे इस बात को स्वीकार करते हुए २२ मई, १९०८ को कहा था—

"मेरा उद्देश्य यह है कि देश मे मैं भारतीय स्वाधीनता का सन्देश पहुँचाऊँ। मैंने बहुत से जिलों का दौरा किया।×इसी उद्देश्य से मैंने 'युगान्तर' पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था।×हम लोग बराबर सोचते रहे हैं कि आगे चल कर भारत मे क्रान्ति होगी। उसके लिए अस्त्र-शस्त्र इकट्ठे किये जाने चाहिए।×मैंने इस बीच मे ग्यारह पिस्तौलें, चार राइफलें और एक बंदूक एकत्रित की थी। मेरे साथ का एक युवक बम बनाना जानता था और उसके घर पर बम बनाने की प्रयोगशाला भी थी। उस शाला को उसके घर के लोग नहीं जानते थे।×उसकी सहायता से मैंने एक मकान पर बम बनाने का काम आरम्भ किया था। हमारे एक मित्र बम बनाने का काम सीखने के लिए पेरिस गये थे। वहाँ से लौट कर वे हम लोगों के साथ आ गये।"

वारीन्द्र के साथ और भी कितने ही युवक पकड़े गये। उनके बयानों से भी इस बात का पता चलता है कि बङ्गाल में सन् १९०८ तक क्रान्तिकारियों का कार्यक्रम कहाँ तक पहुँच चुका था। वारीन्द्र के साथ जो लोग गिरफ्तार हुए, उनमें उपेन्द्रनाथ बनर्जी भी एक षड़-

यन्त्रकारी थे। बङ्गाल के लेखकों में उनका सम्मानपूर्ण स्थान है। उपेन्द्रनाथ ने अपने बयानों में स्वीकार किया—

"राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए मैं बराबर विद्यार्थियों को उपदेश देता रहा। हम लोग गुप्त समितियाँ स्थापित करके अस्त्र-शस्त्र एकत्रित करने की कोशिश में थे। हम लोगों का विश्वास था कि उसके बाद ही विद्रोह होना चाहिए। × मैं जानता था कि हमारे साथ के लोग बम बनाने का काम करते हैं। हम लोग अपने देश में उन बड़े-बड़े अंगरेज अधिकारियों को मारने की चेष्टा मे रहते थे, जो दमन के द्वारा हमको दबाने की कोशिश करते हैं।"

'अलीपुर षड़यन्त्र' मे वारीन्द्रकुमार और उनके साथी गिरफ्तार किये गये थे। जो युवक पकड़े गये थे, उनमें सभी उच्च शिक्षित थे और कुछ तो विदेशों से आये थे। क्रान्तिकारी बातों का प्रचार 'युगान्तर' पत्र के द्वारा होता था। उस पत्र के सम्बन्ध मे चीफ जस्टिस सर लारेन्स जेन्किन्स ने लिखा था—

"इस पत्र की प्रत्येक पंक्ति से अंगरेजों के प्रति घृणा का प्रचार किया जाता है और उसके प्रत्येक वाक्य मे क्रान्ति की भीषण उत्तेजना रहती है। इस पत्र मे बताया गया है कि भारत मे क्रान्ति कैसे होगी।"

षड़यंत्र और हत्याकाण्ड

६ दिसम्बर १९०७ को बंगाल के गवर्नर रेलगाड़ी पर जा रहे थे। मिदनापुर के पास उन पर बम का आक्रमण हुआ। वे तो बच गये, लेकिन रेलगाड़ी पटरी से उतर गयी। इसी वर्ष, २३ दिसम्बर को ढाका के भूतपूर्व जिला मजिस्ट्रेट को गोली से मारा गया। यद्यपि वे बच गये। ३१ अप्रैल सन् १९०८ को फ्रेञ्चमेयर के निवास-स्थान पर बम फेंका गया। ३० अप्रैल १९०८ को किंग्स फोर्ड के धोखे में बम फेंक कर खुदीराम ने मिसेज और मिस केनेडी की हत्या की।

मुरारी पुकुर रोड पर क्रान्तिकारियों का एक गुप्त स्थान था। वहा पर बम बनाय जाते थे। जब वहां पर पुलीस ने आक्रमण किया तो वहाँ बम बनाने का बहुत-सा सामान मिला। उसमें चौतीस आदमी पकड़े गये और उन पर 'अलीपुर-षड़यन्त्र' के नाम से अभियोग

चलाया गया, उस मुकदमे में नरेन्द्र गोसाईं नामक एक आदमी मुखबिर हो गया। लेकिन क्रान्तिकारियों ने जेल में ही उसको जान से मार डाला। वह अदालत में बयान न दे सका। मुखबिर को मारने वाले दो युवकों को फाँसी की सजा हुई। अलीपुर षड़यंत्र के मुकदमें में पन्द्रह आदमियों को कड़ी सजायें दी गयीं। इस मुकदमे मे जिस सरकारी वकील ने काम किया था, १० फरवरी १९०९ को वह जान से मारा गया। इस मुकदमे की अपील हाईकोर्ट में की गयी। वहां पर जो सरकारी वकील अपराधियों के विरुद्ध, सरकार की ओर से पैरवी कर रहा था, हाईकोर्ट के भीतर से निकलते ही बाहर गोली से मार दिया गया।

बंगाल मे इस प्रकार राजनीतिक हत्याओं का जो क्रम आरम्भ हुआ, वह लगातार भीषण होता गया। बंगाल की इन क्रान्तिकारी घटनाओं के कारण समूचे प्रान्त में एक भयानक आतंक पैदा हो गया था।

पंजाब मे क्रान्तिकारी हलचल

बंगाल और पंजाब भारत के दो प्रान्त हैं और दोनों का अस्तित्व, एक दूसरे की प्रतिकूल दिशाओं मे हैं। परन्तु क्रान्ति के कार्य क्षेत्र में वे दोनों ही एक दूसरे के सन्निकट हो कर रहे। सन् १९०७ में पंजाब के गवर्नर ने अपने यहाँ की जो राजनीतिक रिपोर्ट दी थी, उसमे उसने बताया था कि इस प्रान्त मे अंगरेजी साम्राज्यवाद के विरोधी विचारों का विस्तार बढ़ रहा है और जन साधारण में इस प्रकार की लहर बढ़ती हुई दिखायी देती है।

११ मई, १८९९ को लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह गिरफ़्तार करके वर्मा भेज दिये गये थे। उनके भाषणों से पंजाब के गवर्नर को अपने प्रान्त में खतरा मालूम होता था. अधिकारियों का ख्याल था कि इनको देश से बाहर भेज देने के बाद पंजाब का वातावरण शान्त हो जायगा। लेकिन उलटा हुआ। ब्रिटिश-सरकार के प्रति देश की जितनी घृणा थी, वह इन नेताओं की गिरफ्तारी के बाद कई गुना अधिक हो गयी।

सार्वजनिक सभाओं में सरकार की निन्दनीय आलोचनायें होने

लगीं। पत्र-पत्रिकाओं में लेखों और कविताओं से अधिकारियों की खबर ली जाने लगी। सरकार को सहन न हो सका। भाई परमानंद जैसे व्यक्तियों पर मुकदमे चलाये गये और कितने ही लोगों को कड़ी चेतावनी दी गयी।

इस प्रकार की परिस्थितियों में पंजाब की भूमि तप रही थी। स्वाभिमानी युवकों में जिस भावना का उद्रेक हो रहा था, वह क्रान्तिकारी प्रेरणा के आह्वान का कारण और साधन बन रही थी। लाला हरदयाल ने पंजाब-विश्व विद्यालय से एम० ए० पास किया था और वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैण्ड गये थे। परन्तु वहीं पर उनके मानसिक विचारों में परिवर्तन हुआ और वे इंगलैण्ड से लौटकर भारत में राजनीतिक प्रचार करने लगे। यह घटना सन् १९०८ की है। इस कार्य में लाला हरदयाल को अनेक साथी मिल गये थे।

लार्ड हार्डिङ्ग भारत के गवर्नर जनरल होकर इंगलैण्ड से आये थे और दिल्ली में बड़े समारोह के साथ उनके स्वागत का जुलूस निकाला गया था। पुलिस और फौज की सम्पूर्ण शक्ति लगाकर यह समारोह सुरक्षित बनाया गया था, मीलों की लम्बाई में यह जुलूस जिस समय देहली के चांदनी चौक से होकर निकला, बम फेंककर लार्ड हार्डिङ्ग को मारने की चेष्टा की गयी। लार्ड हार्डिङ्ग तो बच गये। परन्तु उनका एक अंग-रक्षक जख्मी हुआ और उसका वहीं पर अंत हो गया।

लुधियाना जिले का निवासी करतारसिंह एक अठारह वर्षीय युवक का बलिदान साधारण न था। मैट्रिक पास करने के बाद वह अमेरिका के लिए रवाना हुआ। वहां पहुँचने पर उसका मन पढ़ने में नहीं लगा। भारत की राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे अपनी ओर आकर्षित किया। योरप का पहला महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर करतारसिंह की तबीयत भारत आने के लिये उत्सुक हो उठी। उसकी समझ में आ गया कि भारत को स्वतंत्र करने के लिए यही समय काम का हो सकता है। भारत आकर वह इस देश के क्रान्तिकारी नेताओं से मिला और क्रान्ति की तैयारी करने लगा।

करतारसिंह की कोशिशों के फलस्वरूप भारत में क्रान्ति करने के लिए २१ फरवरी १९१५ का दिन निश्चय किया गया। उस निश्चित् दिवस को करतार सिंह लाहौर छावनी की मेगजीन पर आक्रमण करने

वाले थे। पंजाब के अनेक शहरों और जिलों में क्रान्ति की तैयारी हो रही थी। करतारसिंह ने इसी बीच मेरठ, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद और बनारस की छावनियों में साजिश करने के लिए दौरा किया। उसको अपने दौरे मे सफलता मिली। विद्रोह का दिन निकट आने के पहले ही, करतारसिंह के एक आदमी कृपालसिंह ने इस षड़यंत्र का रहस्य अधिकारियों को जाहिर कर दिया। इसलिए करतारसिंह की सम्पूर्ण योजना असफल हो गयी और अन्त में उस को फाँसी दी गयी।

पंजाब में षड़यंत्रों के फल-स्वरूप और भी कितने ही युवकों को अपने जीवन का बलिदान करना पड़ा। बन्दी मातृभूमि की पीड़ा उनके अन्तरात्मा में थी। देश की पराधीनता को मिटाने के लिए उनका यौवन कालीन रक्त उबल रहा था। वसन्तसिंह, भाई भागसिंह और भाई वतनसिंह जैसे कितने ही युवकों ने देश की पराधीनता को मिटाने के लिए अपने प्राणों का बलिदान किया।

गदर-पार्टी

पंजाब के युवकों में क्रान्ति की लपटें लगातार बढ़ती गयीं। जो युवक शिक्षा की ओर बढ़ रहे थे और जिनके दिलों में स्वतंत्रता का विकास हो रहा था, वे आगे चल कर देश की पराधीनता को मिटाने के लिए व्यक्तिगत जीवन के सुखों को भूलने लगे। मातृभूमि की पर-तंत्रता को दूर करने के लिए उन विद्यार्थियों ने एक एसोशिएशन कायम किया और वह एसोशिएशन आगे चलकर गदर-पार्टी के रूप में बदल गया।

इस पार्टी का कार्यक्रम भारत से लेकर दूसरे देशों में शिक्षा के लिए गये हुए विद्यार्थियों में विस्तार पाने लगा। उनके व्यक्तिगत अस्तित्व संगठित रूप से काम करने के लिए आगे बढ़ने लगे। विदेशों में जो विद्यार्थी पढ़ने अथवा किसी दूसरे अभिप्राय से गये थे, उन सभी जवानों का खून देश भक्ति के नाम पर उबलने लगा। इस कार्य के लिए केलीफोर्निया के भारतीय विद्यार्थी आगे बढ़े। सेनफ्रेन्सिस्को के भारतीय विद्यार्थियों ने अपने उत्साह का अधिक परिचय दिया। इसी आधार पर गदर-पार्टी के संचालकों ने अपने कार्य का केन्द्र सेन-

फ्रेन्सिस्को को बनाने का निश्चय किया। अन्य दूसरी बातों के कारण भी यह स्थान अधिक सुविधाजनक मालूम हुआ। सब से बड़ी बात तो यह थी कि यह स्थान समुद्र के किनारे एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यहीं से 'गदर' नामक एक समाचार-पत्र भी प्रकाशित किया गया। फरवरी, १९१४ में इस पार्टी की ओर से एक सभा स्टाकटन नगर में की गयी। उसका सभापति पंजाब का एक विख्यात क्रान्तिकारी ज्वालासिंह को बनाया गया। क्रान्ति के सम्बन्ध में प्रवासी भारतीयों की यह पहली सभा थी।

गदर-पार्टी का उद्देश्य था, भारत को स्वतन्त्र करना। इस पार्टी से साम्प्रदायिकता और धार्मिकता को दूर रखा गया। प्रत्येक भारतीय के लिए इस पार्टी का दरवाजा खुला हुआ था। इसका प्रत्येक सदस्य पार्टी का सैनिक समझा जाता था।

भागसिंह और वतनसिंह पर हत्या का अभियोग चल रहा था। एक हिन्दुस्तानी को गोरों ने रुपये का प्रलोभन देकर, उस अभियोग में सुबूत का गवाह बना लिया गया था। उस गवाह को अदालत में देखते ही वतनसिंह का खून उबल उठा। दोनों ही अभियुक्त इस बात से बहुत दुखी हुए कि रुपये के कारण एक हिन्दुस्तानी, हम लोगों की फाँसी का कारण बन रहा है। उसको मारने की चेष्टा की गयी, परन्तु अवसर न मिला। इसी अभियोग के सिलसिले में एक अंगरेज अफसर मिस्टर हापकिन्सन की अदालत में गवाही हो रही थी। उसी समय उन पर गोली मारी गयी। वहीं पर वह गिर कर मर गया। अदालत में सन्नाटा छा गया। अदालत में मिस्टर हापकिन्सन को गोली का शिकार बनाने वाला, पार्टी का एक सदस्य मेवासिंह था। गिरफ्तार किए जाने पर उसने उत्साह के साथ अपना उद्देश्य और अपराध स्वीकार किया। उसे फांसी दी गयी।

पंजाब के चौंसठ क्रान्तिकारियों के विरुद्ध 'लाहौर षड़यन्त्र' का अभियोग चलाया गया और १३ सितम्बर १९१७ को उसके फैसले में सात आदमियों को फाँसी, चौबीस आदमियों को तीन साल से लेकर दस वर्ष तक की कठोर सजायें दी गयीं।

योरप का पहला महायुद्ध १९१४ में आरम्भ हुआ था। उसे एक वर्ष समाप्त हो चुका था। इन दिनों में पञ्जाब क्रान्ति की लहरें उठ

रही थीं। उन क्रान्तिकारियों का विश्वास था कि भारत से अंगरेजों को भगाने के लिए यही एक अवसर है। पंजाब-प्रान्त की इस बढ़ती हुई हालत को देखकर, उसके गवर्नर सर माइकेल ओडायर ने ब्रिटिश-सरकार के पास जो रिपोर्ट भेजी थी, उससे पता चलता था कि सारे पंजाब में क्रान्ति का जाल फैल गया है और उस जाल के विस्तार से सरकार अपरिचित नहीं है।

पंजाब में अनेक षड़यंत्र हुए और सभी में ब्रिटिश-सरकार ने भारतीय युवकों को फाँसियाँ देकर संतोष किया। परन्तु उन फाँसियों का पंजाब में कोई प्रभाव न पड़ा। क्रान्ति के क्षेत्र में विस्तार होता जा रहा था। अंगरेजों के साथ विद्रोह करने के लिए परचे बांटे जाते थे। रेल और तार को बेकार करने के लिए योजनायें बनती थीं। हथियार एकत्रित किये जाते थे और हिन्दुस्तानी फौजों को बगावत के लिए तैयार किया जाता था। पंजाब के क्रान्तिकारियों का यह एक कार्यक्रम चल रहा था।

संयुक्त-प्रान्त में क्रान्ति

यह वही संयुक्त-प्रान्त है, जिसने सन् १८५७ के भीषण विप्लव में बड़ी बहादुरी के साथ अंगरेजी फौजों का मुकाबिला किया था और जिसके बीर युवकों ने विद्रोह के क्षेत्र में अपने प्राणों की मूल्यवान कुर्बानियाँ देकर भारतीय स्वतन्त्रता का आह्वान किया था, उस विद्रोह में यह प्रान्त ही क्रान्ति का केन्द्र था।

इलाहाबाद से नवम्बर १९०७ में 'स्वराज' नामक एक पत्र प्रकाशित हुआ। इस प्रान्त मे क्रान्तिकारी प्रचार का यहीं से सूत्रपात हुआ। इस पत्र के कई सम्पादकों को आपत्तिजनक लेखों के कारण सजायें हुई। पत्र के जीवन-काल मे आठ सम्पादकों ने काम किया। उनमें सात पंजाबी थे। सन् १९१० मे सरकार के प्रेस-ऐक्ट के कारण इस पत्र को बन्द हो जाना पड़ा।

इस प्रान्त में सन् १९०८ के आस-पास होतीलाल वर्मा ने क्रान्तिकारी प्रचार किया। इसी वर्ष शचीन्द्रनाथ सान्याल बनारस मे में विद्रोहात्मक प्रचार कर रहा था, वह एक बंगाली विद्यार्थी था और बनारस में शिक्षा ले रहा था। उन दिनों में 'अनुशीलन' समिति का

कार्य बंगाल में बढ़ रहा था और उसी के नाम से बनारस में भी एक संस्था की स्थापना की गयी थी। इस समिति के खोलने में शचीन्द्र नाथ सान्याल का प्रमुख हाथ था और वह उस समिति के द्वारा राजद्रोह का प्रचार करना चाहता था।

इस समिति का संचालन विद्यार्थियों के हाथों में था। सन् १९१३ तक यह समिति काम करती रही। इसका सम्पर्क कलकत्ते के क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ताओं के साथ होता था और उन्हीं के द्वारा राजद्रोही आये हुए पर्चे इस समिति द्वारा बंटा करते थे। बनारस अनुशीलन समिति के सदस्य देहातों में भी जाते थे और राजद्रोही प्रचार करते थे। सन् १९१४ में रासबिहारी ने बनारस आकर, उस समिति का कार्य अपने हाथ में ले लिया। वहीं पर विष्णु गनेश पिंगले नामक एक मराठा युवक के साथ रासबिहारी की भेंट हुई। पिंगले बहुत समय तक अमेरिका में रहा था और सन् १९१४ में वह भारत आया था। उसके साथ गदर-पार्टी में कुछ सिख भी थे। उन्हीं के द्वारा रासबिहारी को मालूम हुआ कि भारतीय क्रान्ति को सहायता देने के लिए अमेरिका से चार सौ क्रान्तिकारी आये हैं और बीस हजार अभी और आवेंगे, इन्हीं दिनों मे शचीन्द्र पंजाब गया और वहां के क्रान्तिकारियों से उसने मुलाकात की, पंजाब के लोगों से उसने बम बनाने का कार्य भी सीखने का अयोजन किया।

सन् १९१५ में बनारस के एक विशेष स्थान पर क्रान्तिकारियों की सभा हुई। उसमे पंजाब और संयुक्तप्रान्त के बहुत-से क्रान्तिकारी सम्मिलित हुए। यह सभा लोगों को बताने के लिए की गयी थी कि शीघ्र ही भारत मे विद्रोह होने वाला है। उस सभा में बताया गया कि भारत के क्रान्ति के संचालकों को मृत्यु का आलिंगन के लिए तैयार रहना चाहिए।

इलाहाबाद में दामोदर स्वरूप क्रान्ति का संचालन कर रहा था। उन्हीं दिनों में दो जुम्मेदार सदस्य कलकत्ता इसलिए भेजे गये कि वे वहाँ जाकर अस्त्रों का संग्रह करें। पंजाब में बम और अस्त्र शस्त्र पहुँचाने का भार विनायक राव कापले को दिया गया। बनारस में फौजों के भड़काने का कार्य विभूति और प्रियनाथ नामक दो युवकों को दिया गया। यही काम जबलपुर में नलिनी नाम के आदमी को दिया

गया। भारत के प्रत्येक प्रान्त में क्रान्ति की तैयारियाँ बड़े उत्साह के साथ होने लगी। विद्रोह की तारीख २८ फरवरी मुकर्रर हुई। परन्तु इस सन्देह पर कि २९ फरवरी के विद्रोह की बात इधर-उधर फैल गयी है और उसका गुप्त रहना बहुत जरूरी है, तारीख बदल दी गयी।

विद्रोह की तारीख बदलने का समाचार बनारस पहुँच न सका। निश्चित तारीख पर बनारस के क्रान्तिकारी अपने कार्य-क्रम के लिए तैयार थे। लेकिन लाहौर में विद्रोह का समाचार फैल गया और सरकारी अधिकारियों ने बड़ी सतर्कता के साथ गिरफ्तारियाँ आरम्भ कर दीं। ये गिरफ्तारियाँ सर्वत्र एक साथ होने लगी। रासबिहारी और पिंगले स्वयं बम के स्टाक के साथ कैद कर लिए गये। बंगाल से जो बम मँगाये गये थे, उनका स्टाक बनारस मे ही रखा गया था। विभूति नामक एक क्रान्तिकारी ने इसका रहस्य अधिकारियों से प्रकट कर दिया और क्रान्ति की सम्पूर्ण योजना मिट्टी मे मिल गयी। देश में सर्वत्र गिरफ़्तारियों की धूम मच गयी। अंत मे 'बनारस षड़यंत्र' के नाम से कितने ही प्रमुख क्रान्तिकारियों पर मुकदमा चलाया गया, उसमें कितने ही आदमी मुखबिर बन गये। उसमे क्रान्तिकारियों को लम्बी-लम्बी सजायें दी गयीं। शचीन्द्रनाथ जो बनारस के एक हाई स्कूल का विद्यार्थी था, कैद किया गया और उसे बाईस वर्ष की सजा दी गयी।

'मैनपुरी षड़यंत्र' में गेंदालाल दीक्षित नेतृत्व कर रहे थे। डाका डालने के अभिप्राय से लगभग अस्सी आदमी एक स्थान पर जाकर रुके। उनके आदमियों में एक भेदिया था। इन लोगों को गिरफ्तार करने के उद्देश्य से वह इनके साथ हो गया था। रास्ते में जहाँ पर इन लोगों ने मुकाम किया, पता पाकर पुलिस का एक लम्बा गिरोह पहुँच गया था। पुलिस के घेरा डालते ही दोनों ओर से खूब गोलियाँ चलीं। बहुत-से आदमी घायल हुए। अंत में गेंदालाल के साथी गिरफ्तार कर लिये गये और उनको ग्वालियर के किले में बंद कर दिया गया। उस किले के इन कैदियों को भगाने का षड़यंत्र रचा गाय किंतु वह सफल न हुआ। उस सिलसिले में और भी कुछ लोग पकड़े गये और 'मैनपुरी षड़यंत्र' के नाम से वह अभियोग आरंभ हुआ। सोमदेव नामक एक कैदी मुखबिर बन गया। उसने पुलिस को बताया कि

गेंदालाल इस गिरोह के नेता हैं। इस बात से गेंदालाल और उनके साथी बहुत घबराये। गेंदालाल ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया और वे स्वयं षड़यंत्र के मुखबिर बन गये। पुलिस ने उनका मुखबिर होना बहुत पसंद किया। इसलिए कि दल का नेता ही यदि मुखबिर है तो बहुत अच्छा है। पुलिस ने गेंदालाल को कैदियों से अलग ले जाकर बंद किया। दूसरे ही दिन प्रातःकाल समाचार फैला कि गेंदालाल मुखबिर गायब हो गया। पुलिस को धोखा देने में गेंदालाल को सफलता मिली। वे बंदी जीवन से छुटकारा तो पा गये और फिर कैद भी नहीं हुए। परन्तु उसके बाद का उनका जीवन बड़े असंतोष के साथ बीता।

बिहार और उड़ीसा में क्रान्ति

बिहार में मुजफ्फरपुर एक बड़ा शहर है। यहाँ पर किंग्स फोर्ड एक अंगरेज जज बंगाल से बदल कर आया था। बंगाल में वह इस बात के लिए बदनाम हो चुका था कि उसकी अदालत से कोई क्रान्तिकारी अथवा राजद्रोही छूट नहीं सकता। इस पर वहाँ के क्रान्तिकारियों ने उसकी हत्या करने का निश्चय किया। खुदीराम बोस और प्रफुल्ल कुमार चाकी को इस कार्य का भार सौंपा गया। ३० अप्रैल १९०८ की रात को किंग्स फोर्ड पर बम फेंका गया। परन्तु उस गाड़ी पर दो अंगरेज महिलायें थीं, वे मर गयीं। मिस्टर फोर्ड उस गाड़ी पर न थे। खुदीराम बोस पकड़े गये। देश के जिन लोगों के लिए ये युवक अपने जीवन, बलिदान कर रहे थे, उन्हीं लोगों ने इस गिरफ्तारी में अधिकारियों की सहायता की। कैद करने के बाद मुकदमा चला और खुदीराम को फाँसी दी गयी। प्रफुल्ल कुमार चाकी ने गिरफ्तार होने के पहले ही अपनी गोली से आत्महत्या कर ली। खुदीराम बोस के मामले में लोकमान्य तिलक ने दो आलोचनात्मक लेख लिखे थे। जो 'केशरी' में प्रकाशित हुए थे और उन पर सरकार ने उनको छः वर्ष की सजा दी थी। इसी प्रकार का दण्ड एक मराठी-पत्र के सम्पादक को दिया गया था।

बनारस के क्रान्तिकारी युवक विद्यार्थी शचीन्द्र नाथ सान्याल ने बाँकीपुर में एक समिति खोली थी। उसके द्वारा बिहार प्रान्त में

क्रान्तिकारी योजना को पूरा करने के लिए प्रयत्न किया गया था। रेवती नाग नामक एक युवक भागलपुर में राजद्रोही प्रचार का काम करता था और विद्यार्थियों को क्रान्तिकारी-कार्यों मे भाग लेने के लिए बराबर उनको उकसाया करता था। वह इसी कार्य के कारण गिरफ्तार किया गया और उस पर मुकदमा चला।

राजनीतिक हत्याओं को लेकर उड़ीसा-प्रान्त में कोई विशेष काम नहीं हुआ। फिर भी वहाँ युवक विद्यार्थियों मे क्रान्तिकारी हलचल थी। शहीद चन्द्रशेखर आजाद के कारण इलाहाबाद का अलफ्रेड पार्क और जगदीश के कारण लाहौर का शालीमार बाग जिस प्रकार भारतीय स्वाधीनता के आराधकों के लिए तीर्थ-स्थान बन गये; उसी प्रकार उड़ीसा प्रान्त के बालासोर नामक स्थान को ख्याति मिली। वहीं पर अनेक क्रान्तिकारी युवक अपनी योजनाओं का निर्माण किया करते थे।

यतीन्द्र मुकर्जी अपने कुछ क्रान्तिकारी सहयोगियों के साथ एक स्थान पर बैठे हुए कुछ निर्णय कर रहे थे। उनकी खोज मे रहने वाला खुफिया पुलिस का एक आदमी वहाँ पर आ गया। यतीन्द्र नाथ मुकर्जी ने उस समय उसे गोली से मार दिया। सरकार की सारी शक्ति इन लोगों के पीछे पड़ गयी। एक मौके पर पुलिस के एक बड़े गिरोह ने उनको घेर लिया। दोनों ओर से गोलियो की वर्षा हुई। अन्त में ये इने-गिने क्रान्तिकारी युवक मारे गये। यतीन्द्र तो उसी स्थान पर शहीद हुए और बाकी लोगों को फाँसियाँ दी गयीं।

विदेशों में भारतीय क्रान्ति का विस्तार

भारतीय क्रान्ति की लहरें देश मे सर्वत्र फैल रही थीं उनके सम्बन्ध मे यहाँ पर संक्षेप में वर्णन किया गया है। भारतीय क्रान्ति की शाखायें विदेशों तक पहुँची थीं और अनेक स्थानों पर उनका सूत्र पात हो चुका था। विदेशों मे भी भारतीय विद्यार्थी युवकों ने ही इसका विस्तार किया था और उनके साथ वह सम्पर्क स्थापित किया था, जिससे भारत में क्रान्ति होने पर विदेशों से हथियारों की सहायता मिल सके।

जर्मनी के बर्नहार्डी नामक एक विद्वान ने अपनी पुस्तक में

लिखा है कि भारत के हिन्दू, अँगरेजी-शासन के साथ विद्रोह करने के लिए उतावले हो रहे हैं। उसने यह भी लिखा था कि केलिफोर्निया में भारतीय विद्यार्थियों की जो समिति काम कर रही है, उसकी योजना बड़ी है और इस बात की पूरी चेष्टा हो रही है कि भारत को क्रान्ति के दिनों में हथियारों की पूरी सहायता दी जाय।

अँगरेजों के विरुद्ध भारतीयों का यह षड़यंत्र केलीफोर्निया, ओरिगान तथा वाशिंगटन तक फैला हुआ था। इस विदेशी संगठन में अँगरेजों के विरुद्ध प्रचार किया जा रहा था।

जर्मनी में भारतीय स्वाधीनता के लिए काम हो रहा था। भारत के युवक चम्पकरमण पिल्ले ने जर्मनी के साथ पत्र-व्यवहार किया था और अंत में बर्लिन पहुँच कर उसने 'भारतीय राष्ट्रीय संघ' कायम किया था। जर्मनी के विदेशी राष्ट्र विभाग के साथ भारतीय क्रान्तिकारीयों का सम्बन्ध हो गया था और जो योजना चल रही थी वह बहुत गुप्त थी। ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरुद्ध पश्चिमी देशों में जहाँ कहीं सम्भव होता, प्रचार किया जाता और विदेशी सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा की जा रही थी। सन् १९१५ के आस-पास एक अफवाह फैली थी कि निकट भविष्य में अँगरेजी-शासन के विरुद्ध भारत में एक भीषण क्रान्ति होने जा रही है और उस-क्रान्ति में जर्मनी भारत की सहायता करेगा।

इन दिनों में बंगाल की क्रान्ति अधिक विस्तार पा चुकी थी, वहाँ के क्रान्तिकारियों का विश्वास था कि बंगाल स्थित ब्रिटेन की फौजों का सामना किया जा सकता है, लेकिन बाहरी फौजों के आने पर मुश्किल पड़ेगी। इसीलिए उनकी एक यह भी योजना थी कि बाहर से फौजें लाने के लिए बंगाल में तीन रेलवे-मार्ग हैं, उनको नष्ट कर दिया जाय। इस योजना के अनुसार काम करने के लिए क्रान्तिकारियों की अलग-अलग टोलियाँ बना दी गयी थीं।

२ जुलाई को बंगाल के क्रान्तिकारियों को समाचार मिला कि स्टीमर के द्वारा पाँच हजार राइफलें, उसके कारतूस और एक लाख रुपये आ रहे हैं, परन्तु सरकार को इसकी खबर मिल गयी और वह योजना आगे काम न कर सकी। विदेशों में जो भारत के क्रान्तिकारी युवक काम कर रहे थे, उनका उद्देश्य था कि भारत को स्वतंत्र करने में

विदेशों की न केवल सहानुभूति प्राप्त हो, बल्कि रुपये की सहायता के साथ-साथ हथियारों की सहायता भी मिले। इस कार्य में सफलता भी मिल रही थी। पश्चिम में कुछ ऐसे देश भी थे जो चाहते थे कि भारत में किसी प्रकार अंगरेजों की सत्ता का अन्त हो। इसीलिए प्रचार में सहानुभूति और सहायता के वादे मिल रहे थे। बाहर से दो जहाज बंगाल की खाड़ी पर जाने के लिए तैयार किये गये। उनमें भारतीय क्रान्तिकारियों की सहायता के लिए तीस हजार राइफले, अस्सी लाख कारतूस, दो हजार पिस्तौलें, हाथ से फेंके जाने वाले बमों के साथ, युद्ध के सम्बन्ध की और भी बहुत सी सामग्री थी। ये दोनों जहाज पहुँच न सके और बीच में ही गिरफ्तार कर लिए गये।

मद्रास प्रान्त और क्रान्ति

जाहिरा तौर पर मद्रास प्रान्त में क्रान्तिकारियों का अधिक काम नहीं हुआ। परन्तु भारतीय क्रान्ति की आँधी से वह प्रान्त अछूता नहीं रहा। विपिनचन्द्र पाल और कुछ दूसरे नेताओं के दौरे से मद्रास में सार्वजनिक जागृति हुई। अंगरेजों के विरुद्ध वातावरण पैदा हुआ और देश की परन्तत्रता के प्रति घृणा होने लगी। कई एक राजनीतिक वक्ताओं को विद्रोहात्मक भाषण देने के कारण सजायें हुईं। सरकारी रिपोर्टों में भी इस बात को स्वीकार किया गया था कि राजद्रोहात्मक प्रचार के कारण मद्रास में सरकारी इमारतों को हानि पहुँचायी गयी है।

मद्रास प्रान्त में उस राजनीतिक साहित्य का लगातार प्रकाशन हुआ जो अंगरेजी राज्य के सर्वथा विरोधी था। शंकरशरण ऐयर और नीलकंठ ब्रह्मचारी ने सम्पूर्ण प्रान्त में दौरा किया और लोगों को उपदेश दिया कि वे भारत से अंगरेजी-राज्य को मिटाने की कोशिश करें। बी० बी० एस० ऐयर तो अपने भाषणों में स्पष्ट क्रान्तिकारी बातों का प्रचार करता था और कहा करता था कि अंगरेजों को मारना और देश में स्वाधीनता की स्थापना ही सच्ची देश भक्ति है। टिनेवेली में एक षड़तन्त्र रचा गया और एक जिला मजिस्ट्रेट अंगरेज को उसमें जान से मार डाला गया। इसके सिवा मद्रास प्रान्त में और भी कुछ राजनीतिक हत्यायें की गयीं।

कुछ दिनों के बाद क्रान्ति में फिर जागरण

सन् १९०५ के पहले से ही देश की जिस क्रान्ति का जन्म हुआ था, उसकी आग सन् १९१५ और १६ तक काम करती रही। इस क्रान्ति से सम्पूर्ण देश प्रभावित था। यह बात जरूरी थी कि राजनीतिक हत्यायें कहीं पर कम हुईं और कहीं पर अधिक, लेकिन क्रान्ति की वायु मे देश का कोई स्थान खाली न था।

सन् १९२० में कांग्रेस की गति तीव्र हुई और सन् १९२१ में उसका एक तूफान देश में आरम्भ हो गया। इन दिनों में देश के क्रान्तिकारियों का कार्यक्रम ढीला हो गया था और कुछ दिनों तक तक वह सुप्तावस्था में रहा। चौरी-चौरा हत्याकाण्ड के पश्चात् गांधी जी ने असहयोग की बागडोर कड़ी की और सत्याग्रह बिल्कुल रोक दिया, उसके फलस्वरूप देश मे कुछ दिनों के लिए निराशा फैल गयी। सत्याग्रह के अचानक रोके जाने पर राजनीतिक कार्य कर्त्ताओं पर एक अवाञ्छनीय प्रभाव पड़ा। कुछ लोग गाँधी जी के समर्थन मे हो गये और कुछ लोग उस रुकावट का विरोध करने लगे। मुसलमानों और हिन्दुओं मे कितने ही नेता साम्प्रदायिकता के प्रवाह मे बह गये। परन्तु जो युवक देश की पराधीनता को मिटाने पर लगे थे, वे फिर क्रान्ति की ओर आकर्षित हुए। उनकी जो समितियाँ पिछले दिनों में सोती रहीं, उनको फिर से जागरित किया गया।

क्रान्तिकारियों की एक टोली ने ३ अगस्त, १९२३ को एक पोस्ट-आफिस पर हमला किया और पोस्ट मास्टर को जान से मार डाला। इसी वर्ष चटगाँव मे एक भीषण डाका डाला गया। उसमें क्रान्तिकारियों को अठारह हजार रुपये मिले।

भारतीय पुलिस में कलकत्ते के सर चार्लस टेगर्ट का नाम बहुत प्रसिद्ध हुआ। सैकड़ों-क्रान्तिकारियों और राजद्रोहियों को वे फाँसी की सजायें दिला चुके थे और काले पानी भेजवा चुके थे। क्रान्तिकारियों ने उनकी हत्या का निश्चय किया। गोपीमोहन साहा ने चार्लस टेगर्ट के धोखे किसी दूसरे अँगरेज की जान ले ली।

सन् १९२४ में मिस्टर ब्रूस की हत्या का प्रयत्न किया गया। इसी बीच में फरीदपुर में बम का कारखाना पकड़ा गया और उस

सिलसिले में क्रान्तिकारियों ने अपने एक साथी को, इस बात का सन्देह हो जाने पर कि उसने पुलिस को पता दिया है, जान से मार डाला। इसी प्रकार और भी कुछ क्रान्तिकारी मुखबिर बनने के कारण ही जान से मारे गये।

लखनऊ जिले में काकोरी एक साधारण गाँव है, उसी के पास क्रान्तिकारियों ने ८ डाउन रेलगाड़ी को रोक कर सरकारी खजाने को लूट लिया। इस षड़यंत्र में दस आदमी गिरफ्तार किये गये। उनको फाँसी और काला पानी के साथ-साथ लम्बी-लम्बी सजायें दी गयीं। सन् १९२३ में कितने ही आदमियों को जान से मार कर राजनीतिक हत्यायें की गयीं। अनेक डाके पड़े, षड़यन्त्र हुए और लोग मारे भी गये।

साइमन कमीशन के आने पर भारत मे उसका बहिष्कार किया गया। इसी सिलसिले में १७ नवम्बर सन् १९२८ को लाला लाजपराय को पुलिस की चोटों से इतना आघात पहुँचा कि वे फिर जीवित न रह सके। लाला जी की मृत्यु से देश को बहुत पीड़ा पहुँची। क्रान्तिकारियों ने यह निश्चय किया कि लाला लाजपतराय की हत्या के अपराधी पुलिस-अफसर सैण्डर्स की हत्या की जाय। इसी आधार पर एक दिन सैण्डर्स की हत्या की गयी।

केन्द्रीय एसेम्बली मे पब्लिक सेफ्टीबिल चल रहा था। इस बिल से क्रान्तिकारियों को विशेष खतरा उत्पन्न होने वाला था। ८ अप्रैल १९२९ को सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने एसेम्बली के भवन में बम फेंका। सम्पूर्ण भवन में एक भीषण आतंक फैल गया। दोनों हा गिरफ्तार कर लिये गये। सरदार भगतसिंह फाँसी पर लटका दिये गये तथा बटुकेश्वर दत्त को आजीवन कालापानी की सजा हुई।

इन्हीं दिनों में कई षड़यन्त्र हुए और राजनीतिक हत्यायें की गयीं उनमें लाहौर-षड़यन्त्र अधिक जोरदार था। पुलिस ने सोलह आदमियों को गिरफ्तार किया और उन पर मुकदमा चलाया। ७ अक्टूबर १९३० को उस मुकदमे का फैसला सुनाया गया। उनमे तीन आदमियों को फाँसी, सात आदमियों को आजन्म काला पानी और बाकी लोगों को तीन वर्ष से लेकर सात वर्ष तक की सजा दी गयी।

इन राजनीतिक हत्याओं और षड़यन्त्रों का क्रम देश में १९३३

तक चलता रहा। लेकिन उनकी गति हलकी ही होती जा रही थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि देश की यह क्रान्ति भारत को स्वाधीन बनाने के लिए चल रही थी। परन्तु उसका जाहिरा तौर पर कोई आन्दोलन न था। इसीलिए उसके साथ सार्वजनिक सहयोग न हो सका। देश की जनता के सहयोग के बिना क्रान्ति का सफलता की ओर बढ़ना कठिन होता है। इसके साथ-साथ काँग्रेस का आन्दोलन लगातार प्रभावशाली होता जा रहा था। उसकी व्यापकता के कारण भी दूसरे विरोधी राजनीतिक कार्यों का शिथिल हो जाना स्वाभाविक है। दोनों का उद्देश्य एक था, परन्तु उनके मार्ग दो थे और दोनों ही एक, दूसरे से भिन्न थे। फिर भी देश के युवकों ने जिस प्रकार स्वाधीनता के लिए अपने प्राणों का बलिदान किया, भारत के स्वतंत्रता के इतिहास में उसे भुलाया नहीं जा सकता।

तृतीय भाग

अंगरेजी शासन का प्रभाव और अन्त

पहला परिच्छेद

ब्रिटिश-शासन की देन

घोषणा और कार्य

आरम्भिक दिनों में कुछ स्थानों के शासन की बागडोर हाथ में लेते ही अंगरेज व्यापारियों ने जिस नीति से इस देश में काम लिया था, उसके विवरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण देते हैं कि अंगरेजों की नीति और उनके कार्यों में कितना भयंकर अन्तर था, यहां पर उसके कुछ उद्धरण दिये जाते हैं।

बम्बई में अंगरेज व्यापारियों का शासन-अधिकार कायम हो जाने पर सन् १६६९ ई० की २१ वीं मार्च को इंगलैण्ड के सम्राट की ओर से उनको जो सनद दी गई थी, उसमें लिखा गया था—

"× और यह घोषणा की जाती है कि बम्बई में जो भारतवासी रहते हैं, वे और उनके वंशज अंगरेजी साम्राज्य में उसी प्रकार स्वतंत्र और अधिकारी माने जायँगे, जिस प्रकार इंगलैण्ड में वहाँ के निवासी माने जाते हैं।"

उस सनद में ऊपर की पंक्तियों के सिवा साफ-साफ यह भी लिखा गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य में जो देश अथवा स्थान मिलाये जायँगे, उनके निवासियों के भी वही अधिकार होंगे, जो अधिकार इंगलैण्ड मे जन्म लेने वाले स्त्रियों और पुरुषों के हुआ करते हैं।

सन् १८३३ में ब्रिटिश-भारत की शासन पद्धति का संशोधन करते हुए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था—

"ब्रिटिश भारत मे राजा और प्रजा का कोई भेद न रखा जायगा।"

अंगरेज व्यापारियों की ओर से जिस नीति की घोषणा आरम्भ

मे बार-बार हुई थी, उसके कुछ उद्धरण ऊपर दिये गये हैं; वे सुनने और देखने में कितने प्रिय और प्रलोभन से भरे हुए हैं, इसके बताने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु उसके बाद शासन के कार्यों में उन्हीं अंगरेजों की जो नीति देखने को मिली। उसके परिणाम और विवरण आगामी पृष्ठों में लिखे जायँगे।

अँगरेजों का प्रभाव

अंगरेजी-शासकों के साथ भारतीय कांग्रेस ने लगातार साठ वर्षों तक संघर्ष किया और देश ने विदेशी परतंत्रता को मिटाने में अपना कोई बलिदान उठा नहीं रखा। उसके परिणाम स्वरूप वह समय निकट दिखाई देने लगा, जब भारत परतन्त्रता से निकलकर, स्वतन्त्रता में प्रवेश करेगा और अपने पूर्वजों के आदर्श-मार्ग पर चल कर विश्व के सामने फिर एक बार अपना मस्तक ऊंचा कर सकेगा।

हमारे जीवन की परिस्थितियाँ बदल रही हैं। देश स्वतन्त्रता की स्वस्थ वायु के सम्पर्क में धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। आज हम इस योग्य हो सके हैं जब हम अपने जीवन के स्वस्थ वातावरण में यह सोच सकें कि दो शताब्दियों के शासन में अंगरेजी सरकार ने हमे कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया है।

संसार के इतिहास में भारत उच्च श्रेणी का राष्ट्र माना गया था और उसकी श्रेष्ठता की स्वीकृति आज भी संसार करता जा रहा है, परन्तु हम स्वयं यह भूल गये थे कि हम और हमारे पूर्वज क्या थे! एक उच्च श्रेणी का राष्ट्र इस प्रकार की परतन्त्रता को कैसे स्वीकार कर सका, यह एक प्रश्न है, जिसकी विवेचना करना ही इस परिच्छेद का उद्देश्य है और उसी दृष्टिकोण से यहां पर कुछ बातें लिखना आवश्यक हैं।

आज के भारतीय इतिहासकार इस बात को मानते हैं कि अंगरेजों के आने के पहले भारत में मुसलमानों का शासन चल रहा था। लेकिन हिन्दुओं का शासन भी था। दोनों में प्रायः संघर्ष चला करते थे। लेकिन इस देश में उस समय का मुस्लिम-शासन बदल गया था। जब भारत पर मुसलमान चढ़ाई करने आये थे और इस देश के अनेक स्थानों को जीतकर उन्होंने अपना शासन कायम किया था,

उस समय के संघर्ष दोनों ओर से भयानक हुए थे और उन दिनों में एक ने दूसरे को मिटाने की पूरी चेष्टाएँ की थीं। लेकिन उसके बाद मुसलमान इस देश के लिए विदेशी न रहे। वे यहीं के निवासी बन कर हमारे साथ-साथ रहने लगे और हमारे साथ रह कर वे भी देश के सार्वजनिक समूह में सम्मिलित हो गये।

मुसलमान इस देश के निवासी हो गये थे। देश के विभिन्न स्थानों में हिन्दुओं और मुसलमानों के शासन चल रहे थे। उनमें उसी प्रकार के संघर्ष हुआ करते थे, जिस प्रकार ब्रिटिश-शासन में भारत के दो जमीदार लड़कर अपने आपको नष्ट करते थे।

इस देश की प्रजा में दोनों का नाम था, हिन्दुओं का भी और मुसलमानों का भी। इन्हीं दिनों में सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में व्यापारियों के रूप में अंगरेजों ने भारत मे प्रवेश किया। यहाँ पहुँचते ही उनको कैसा व्यवहार करना पड़ा और किस प्रकार की उनकी प्रार्थनाओं पर उन्हें इस देश मे ठहरने को स्थान मिला। इसके सम्बन्ध में हमें यहाँ पर कुछ नहीं लिखना है। इसके वर्णन इस पुस्तक के आरम्भ में खूब दिये जा चुके हैं।

इस बात के बताने की यहां पर आवश्यकता नहीं है कि ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के अंगरेजों ने भारत के हिन्दू-मुस्लिम शासकों को एक दूसरे के विरुद्ध किस प्रकार भड़काया और उन्हें लड़ाकर किस प्रकार उन्होंने अपना शासन यहाँ पर कायम किया। हमारे सामने सीधा प्रश्न यह है कि उन्होंने यहां के हिन्दुओं और मुसलमानों के मनोभावों पर किस प्रकार अपना प्रभाव डाला? अपने किस प्रकार के जादू से यहाँ के निवासियों के हृदयों पर उन्होंने विजय प्राप्त की?

नैतिक घोषणायें

इस प्रकार के प्रश्नों को लेकर अँगरेजों की नीति पर एक स्पष्ट विवेचना करना आवश्यक है। सब से पहले हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सैनिक शक्ति से भी अधिक अँगरेजों की नीति भयानक थी और उसी के बल पर अपना शासन स्थापित करने में अँगरेजों को प्रमुख रूप से सफलता मिली।

सन् १८३३ की बात है रिफार्म बिल की आलोचना करते हुए लार्ड मेकाले ने कहा था—

"हम स्वतंत्र हैं और प्रत्येक मनुष्य की स्वतंत्रता को हम स्वीकार करते हैं। इसलिये यदि हम मनुष्य-समाज के किसी भाग की सभ्यता और स्वतंत्रता को अपने बराबर अधिकार देने में आगा-पीछा करें तो हमारी सभ्यता और स्वतंत्रता का कोई मूल्य न होगा। क्या भारत को जीवन के प्रकाश से इसलिए दूर रखना होगा कि जिससे उसके निवासी सदा हमारे गुलाम बने रहें? क्या हमारा यह उद्देश्य होगा कि हम उन्हें ऐसा ज्ञान दें जिससे उनके मनोभावों में कभी उच्चाकाँक्षा न उत्पन्न हो सके? क्या हमारी यह अभिलाषा है कि भारतीयों के साथ न्याय का व्यवहार न किया जाय? हममें से कोई भी उन बातों को स्वीकार न करेगा। ×××मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भारत में हम लोगों का सीधा रास्ता है। उस रास्ते में अपनी सभी प्रकार की उन्नति करने के लिए भारत के निवासियों को सम्मान पूर्ण अधिकार है। ××× इस बात की पूरी सम्भावना है कि थोड़े दिनों में हम लोगों के द्वारा संचालित शिक्षा-प्रणाली से भारतीय जन विकास की ओर अग्रसर हों और आगे चल कर वे हमारे शासन में रहना पसंद न करें। ××× भविष्य में कदाचित् भारतवासी योरप की शासन प्रणाली को अपने यहाँ महत्व दें। यद्यपि मैं इसके संबंध में कोई निश्चित् बात नहीं कह सकता। लेकिन यह बता देना चाहता हूँ कि यदि भारत स्वतंत्र वातावरण की ओर बढ़ता हुआ दिखायी देगा तो मैं उसमें कभी बाधा न डालूँगा। जिस समय भारत के सामने इस प्रकार का समय आवेगा। इंगलैण्ड के इतिहास मे ब्रिटेन के लिए उसे सब से बढ़कर गौरव पूर्ण समझा जायगा।"

ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों के मुँह से समय-समय पर इस प्रकार की बातें निकली हैं। जिस समय लार्ड मेकाले ने इस प्रकार की बातें भारत के सम्बन्ध मे कही थीं, भारत के जन-समाज पर उसका प्रभाव पड़ना ही चाहिए था। यह एक स्वाभाविक बात है। उन दिनों में अविश्वास का कोई कारण न था। यह दूसरी बात है कि किसी व्यक्ति अथवा समाज की नीति में और उसके कार्यों में बहुत बड़ा अन्तर हुआ

करता है। विशेषकर उस अवस्था में जब एक प्रजा के रूप में होता है और दूसरा शासक के रूप में।

भारत में काँग्रेस के जन्म के पहले सम्पूर्ण देश का कोई एक राष्ट्रीय सूत्र न था। देश अनेक टुकड़ों में बँटा हुआ था और उन टुकड़ों में अलग-अलग शासक काम करते थे। देश में जो सार्वजनिक सभायें थीं, उनमें भी कोई सम्पूर्ण देश को लेकर न चल रही थी। जो सभा जिस भाग में काम करती थी, वह उतने ही भाग के सौभाग्य-निर्माण का प्रयत्न करती थी। इसका परिणाम कभी अच्छा न होना चाहिए, यह बिलकुल स्वाभाविक है।

किसी एक वृक्ष को कई भागों में बाँट कर उसे सुरक्षित रखने की चेष्टायें निष्फल जाती हैं। ठीक यही अवस्था हमारे देश की थी। भारत में हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने अधिकृत स्थानों पर शासन करते थे। न तो हिन्दू राजाओं में ही आपस में मेल था और न मुसलमान बादशाहों में ही पारस्परिक एकता था। इसी अवस्था में देश के असंगठित जीवन का लाभ उठाकर अंगरेजों ने भारत में अपना शासन कायम किया था।

भारत में शासन करने के लिए अंगरेजों ने किस नीति से काम लिया था, उस पर कुछ उदाहरण देना यहाँ पर आवश्यक है। लार्ड मेकाले की बात तो बहुत पीछे की बात है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जब पहले बम्बई में अधिकार किया था तो उस समय सन् १६६९ ई० की २१वीं मार्च को इंगलैण्ड के सम्राट की ओर से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एक सनद दी गयी थी और उस सनद में लिखा गया था—

"यह घोषणा की जाती है कि बम्बई इलाके में इंगलैण्ड की जो प्रजा रहती है, उसके और उसके वंशजों के अधिकार उसी प्रकार सुरक्षित और स्वाधीन समझे जायँगे, जिस प्रकार इंगलैण्ड के निवासियों के समझे जाते हैं।"

उस सनद में यह भी घोषणा की गयी थी कि भारत के जो प्रदेश भविष्य में ब्रिटिश-साम्राज्य में आवेंगे, उन प्रदेशों के निवासियों के भी वही अधिकार होंगे जो बम्बई-निवासियों के समझे जायँगे। उस सनद में स्पष्ट रूप से लिखा गया था कि इंगलैण्ड में जन्म लेने वाले

प्रत्येक अंगरेज को जो स्वाधीनता मिलती है, वही ब्रिटिश-भारत के प्रत्येक निवासी को प्राप्त होगी। ब्रिटिश-शासकों की ओर से एक अंगरेज और एक भारतीय में कभी कोई अन्तर न समझा जायगा। दोनों के समान अधिकार होंगे।

इंगलैण्ड के सम्राट की ओर से सनद में जो यह घोषणा की गयी थी, उसकी प्रशंसा कौन न करेगा? अंगरेजों की इस नीति और घोषणा का प्रभाव भारतवासियों पर पड़ना ही चाहिए था। यह इसलिए भी और स्वाभाविक था कि उन दिनों में भारत एक राष्ट्र के रूप मे न था। यहाँ पर धार्मिक मनोवृत्तियाँ काम करती थीं। देश के विद्वान और समाज के शुभचिंतक देश मे अध्यात्म का प्रचार करते थे। इसलिए उन दिनो मे हमारे निकट शासन का कोई महत्व न था और न देश के निवासी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का कोई विशेष अन्तर ही समझते थे। अधिक से अधिक उनके जीवन में सुख और शान्ति की अभिलाषा थी। उसके सम्बन्ध मे इंगलैण्ड के सम्राट की ओर से इस प्रकार की घोषणायें होती रही थीं। फिर उनको और क्या चाहिए था। यदि ऐसी बात न होती तो कई हजार मील की दूरी से आये हुए-थोड़े-से अंगरेज समुद्र पार कर के भारत में अपना शासन कायम न करते और बकरियों की तरह के यहाँ के लोग उनके शासन में रहना स्वीकार न कर लेते!

शासन और सहानुभूति

शासन और सहानुभूति दो वस्तुएँ हैं। दोनों के प्रतिकूल स्वभाव होते हैं। दोनों का अन्तर वहाँ पर और भी अधिक और विशाल हो जाता है, जहाँ पर शासक विदेशी होता है। विदेशी शासन के आधिपत्य में इस प्रकार की सहाभूति प्रायः एक गम्भीर राजनीति के रूप में सिद्ध होती है।

भारत में अंगरेजी-शासन का संशोधन करने के लिए सन् १८३३ में जो कानून बनाये गये थे, उनकी व्याख्या करते हुए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने स्पष्ट कहा था—

"ब्रिटिश-पार्लामेण्ट इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है कि

ब्रिटिश-भारत के शासन में शासित और शासक के बीच कोई जातीय भेद-भाव न रहेगा।"

कम्पनी के डाइरेक्टरों की यह व्याख्या थी और उनके आचरण कैसे रहे, इसे भारत ने भली प्रकार समझा और उसे अनुभव किया। अंगरेजों की नैतिक व्याख्या और घोषणा में कितनी प्रियता है परन्तु उनकी व्यावहारिकता कितनी कड़ुवी सिद्ध हुई है, उसके बताने की आवश्यकता नहीं है।

अंगरेज-शासकों को देश से बाहर निकालने के लिए सन् १८५७ में भारत ने एक भीषण क्रान्ति की थी। यद्यपि वह क्रान्ति बहुत संगठित रूप से आरम्भ नहीं हुई थी और उस क्रान्ति की लहर जनता की ओर से न उठकर, राजाओं और नवाबों की ओर से उठी थी, फिर भी भारत में अंगरेजों के पैर उखड़ गये थे और वे बहुत घबरा गये थे।

सन् १८५७ के गदर को रोकने के लिए इंगलैण्ड की महारानी विक्टोरिया को अपनी एक घोषणा तैयार करनी पड़ी। सन् १८५८ में वह घोषणा भारत में वाइसराय के द्वारा पढ़कर सुनाई गयी। उस घोषणा में कहा गया था।

"भारत के निवासियों को यह बात बता दी जाय कि ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा की बराबरी का अधिकार रखने के कारण उनको किस-किस प्रकार के सुभीते मिलेंगे।"

ब्रिटिश-प्रजा के अधिकारों का अर्थ यह है कि प्रजा की अनुमति बिना लिए हुए राजा टैक्स नहीं वसूल कर सकता। राज्य का कार्य यदि प्रजा की समझ में सन्तोष जनक नहीं है तो प्रजा टैक्स देने के लिए उत्तरदायी नहीं है। जिस पार्लामेण्ट के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का सञ्चालन होता है, उसके लिए प्रतिनिधियों का चुनाव ब्रिटेन की प्रजा करती है और जो प्रतिनिधि चुनकर पार्लामेण्ट में जाते हैं, उनके बहुमत से राज्य का सञ्चालन होता है। बिना पार्लामेण्ट के निर्णय के प्रधान मन्त्री और सम्राट भी कुछ नहीं कर सकता।

सन् १८३३ में ब्रिटिश-भारत के लिए पार्लामेण्ट में जो विधान बना था, उसमें कहा गया था—

"इस विधान के अनुसार, ब्रिटिश-भारत के ऊँचे-से-ऊँचे पदों की

नियुक्ति के समय धर्म, रंग, जाति और कुल का भेद-भाव न रखा जायगा।"

भारत मे शासन करने के लिए ब्रिटेन को जो कानून बनाने पड़े थे, उनके विधान मे भारतीयों के साथ कितनी बड़ी सहानुभूति का प्रदर्शन किया गया था, उसका एक छोटा-सा उदाहरण ऊपर दिया गया है।

घोषणाओं का व्यावहारिक रूप

ब्रिटिश-सरकार की ओर से समय-समय पर इस प्रकार की नीति की जो घोषणायें की गयीं, उनको कभी अमल मे नहीं लाया गया, इतनी ही बात नहीं है। बल्कि सदा उसके विरुद्ध काम किया गया। एक विदेशी सरकार को परिस्थिति अनुकूल बनाने के लिए कब क्या करना पड़ता है, इसका ज्ञान ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों को सदा रहा है।

भारत ने ब्रिटेन की घोषणाये भी सुनी और उनका व्यावहारिक रूप भी देखा। देश को पहले जितना ही कम इन बातों का अनुभव था, उतना ही अधिक अनुभव उसे समय पाकर हुआ। ब्रिटेन की नीति पर दूसरे लोग क्या कहते है, उसके आधार पर हम यहां कुछ नहीं लिखना चाहते। परन्तु उसकी नीति और घोषणा पर ब्रिटेन के लोगों ने ही क्या-क्या कहा है, हमारी अलोचना का वही आधार है। ऊपर सन् १८३३ के जिस विधान का उद्धरण दिया गया है, उसकी व्यावहारिक रूप की आलोचना करते हुए वाइसराय की व्यवस्थापिका सभा के कानूनी सदस्य मि० हेकेंबर ने स्पष्ट शब्दों मे अनुसंधान समिति के सामने गवाही देते हुए सन् १८५२ ई० मे कहा था --

"मैं जानता हूँ कि सन् १८३३ ई० के पार्लामेण्टरी विधान के अनुसार भारत के उच्च पदों की नियुक्त के सम्बन्ध मे कोई काम नहीं किया गया। विधान के पहले भारतीयों के साथ जैसा व्यवहार किया जाता था, विधान के बाद भी उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया गया। इस विधान से भारतीय जनों की उन्नति मे कोई सहायता नहीं मिली।"

ब्रिटेन की नीति के सम्बन्ध में एक उच्च पदस्थ अंगरेज का यह अनुभव है। इससे अधिक प्रमाण इस बात का और कोई नहीं हो

सकता कि भारतीय शासन के सम्बन्ध में घोषणा करने की अंगरेजी नीति और थी और व्यवहार में लाने की दूसरी।

ब्रिटिश अधिकारियों के सामने यह प्रश्न नहीं था कि भारतीय शासन में ऊंचे पदों पर नियुक्त किये गये अंगरेज भली प्रकार काम कर सकेंगे या नहीं। वास्तव में बात यह थी कि भारत की सम्पत्ति लूटने के लिए ही भारत में ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर अंगरेज नियुक्त किये जाते रहे।

भारतीयों और अंगरेजों के वेतन में कितना बड़ा अन्तर रहता रहा, इसको इतने ही से समझ लेना काफी होगा कि १७०० भारत-वासी एक वर्ष में जितना वेतन पाते हैं, उतनी सम्पत्ति भारत में एक सिविलियन अंगरेज के रखने में खर्च होती है। अंगरेजों की इस नीति का इस देश पर क्या प्रभाव पड़ा और धन-धान्य से सम्पन्न देश किस प्रकार दरिद्र हो गया, उसकी विवेचना करते हुए मि० आर० एन० काष्ट नामक एक अंगरेज ने जो लिखा है, उसके शब्द इस प्रकार हैं—

'भारत में नौकरी करके अंगरेज इतना अधिक धन इंगलैण्ड ले जाते हैं कि वे सदा के लिए सम्पत्तिशाली बन जाते हैं और उसके फल स्वरूप भारत दिन-पर-दिन दरिद्र होता जाता है और उसका भविष्य अंधकार पूर्ण होता जाता है।"

भारत में अंगरेजों की नीति कितने घातक रूप में काम करती रही, इसका स्पष्टीकरण स्वयं अंगरेजों के वक्तव्यों, लेखों और बयानों से होता है, भारतीय शासन के सम्बन्ध में नियम और कानून बनाये कुछ जाते थे, लेकिन किया कुछ जाता था। इसको स्पष्ट करने के लिए अंगरेजों की दी हुई सामग्री ही इतनी अधिक है कि दूसरों से कुछ लेने की आवश्यकता नहीं है, ब्रिटिश-पार्लामेण्ट अपने बनाये हुए कानूनों और विधानों में जो दिखावे के लिए सच्चाई की रूप रेखा रखती थी, उसके दो कारण थे। एक तो यह कि वह संसार की आंखों में न्याय प्रिय बनी रहना चाहती थी और दूसरे यह कि भारतवासियों को कभी अविश्वास न होने पावे। क्योंकि ब्रिटेन का सबसे बड़ा भाग्य यह था कि भारत ने अतीत काल से राज-भक्ति की शिक्षा ही नहीं पायी थी, बल्कि उसे अपने धर्म के रूप में समझने की उसे शिक्षा मिली थी।

इसलिए अंगरेज-राजनीतिज्ञों को ऐसी नीति से काम लेना था कि जिससे भारतवासियों का पुराना विश्वास भंग न होने पावे। भारत के लिए बनाये गये कानून और विधान के सम्बन्ध मे लार्ड लिटन ने अपने एक व्यक्तिगत पत्र में कुछ बातें लिखीं थी, जो इस प्रकार थीं—

"इस कानून के पास होने के साथ-साथ, भारत-सरकार ऐसे उपायों को तलास करने लगी जिससे उसे स्वीकृत कानून के अनुसार काम न करना पड़े। × × × यह बात तो हम लोग जानते हैं कि शासन में ऊँचे पद पाने की भारतीय अभिलाषा कभी पूरी नहीं हो सकती। होनी भी नहीं चाहिए। ऐसी दशा मे दो मार्ग हमारे सामने थे। ऊंचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति मे या तो बाधा डाली जाय अथवा उनके साथ प्रतारणा का व्यवहार करके, उनको ठगा जाय, अन्त में हम लोगों ने उनको ठगना ही निश्चय किया।"

लार्ड लिटन के गुप्त पत्र से यह रहस्य खुला। अब किस प्रकार भारतीयों को ठगने का कार्य आरम्भ हुआ, उसका रहस्य वहां से खुलता है जब ब्रिटिश-सरकार की ओर से यह निश्चय किया गया कि सिविल सर्विस की परीक्षा देने वाले भारतीय विद्यार्थियों की अवस्था पहले से कम होना चाहिए।

इस विषय में एक कानून बन गया। हुआ यह कि उतनी छोटी आयु मे विलायत जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा देना, भारतीय विद्यार्थियों के लिए एक असाधारण काय हो गया।

भारतीयों के साथ अंगरेज-राजनीतिज्ञों ने भयानक कुटिलता का व्यवहार किया, उसको समझने का मौका बहुत कुछ अंगरेजों के ही द्वारा मिला। भारत वर्ष के सम्बन्ध में ब्रिटेन की ओर से जितने वादे किये गये और जितनी घोषणायें हुईं, उनके सम्बन्ध मे ब्रिटेन ने क्या किया, इसको एक अंगरेज की लिखी पंक्तियों के रूप मे यहां पर प्रकट करना अधिक अच्छा होगा। सन् १८६९ ई० में ड्यूक आफ अर्जिल ने कहा था—

"भारतवर्ष के संबंध मे जो वादे किये गये थे और जितने भी वचन दिये गये थे, हम लोगों ने उनमें से एक भी पूरा नहीं किया।"

लार्ड लिटन के जिस व्यक्तिगत पत्र का ऊपर उल्लेख किया गया

है, उसमें भी कुछ इसी प्रकार की पक्तियाँ हैं, जिनका वही अर्थ होता है जो ड्यूक आफ अर्जिल ने कहा है।

सन् १८८६ ई० मे लार्ड नार्थ ब्रुक ने प्रश्न किया था कि पार्लामेण्ट के बनाये हुई कानून और सन् १८५८ में की गयी महारानी की घोषणा के अनुसार, भारतवर्ष में काम क्यों नहीं किया गया तो उसके उत्तर में इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री लार्ड सेल्सबरी ने हँसकर टाल दिया था।

लोहे की जंजीरें

ब्रिटिश-सरकार की नीति और घोषणाओं के सम्बन्ध मे थोड़े-से उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। यद्यपि उनकी झूठी घोषणाओं से उनके शासन का इतिहास भरा हुआ है। परन्तु उनके सम्बन्ध मे अधिक बातों को लेकर यहाँ विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है और न ऐसे अधिक उद्धरण देने की जरूरत है कि जिनसे ब्रिटेन की नीति और घोषणा के रहस्य का पता चलता है।

भारत में ब्रिटेन के शासन का जितना ही समय बीतने लगा, ब्रिटेन क भावों मे उतना ही परिवर्तन होने लगा। उन विश्वासों और घोषणाओं में कोई तत्व न था। राजनीति मे यह सब करना ही पड़ता है। ब्रिटेन को भी भारत में अपना शासन सुदृढ़ और स्थायी बनाने के लिए राजनीति से काम लेना पड़ा।

भारत मे ब्रिटेन की पुरी सत्ता कायम हो जाने के बाद लार्ड कर्जन ने इंगलैण्ड मे भाषण देते हुए कहा था—

"हम इस बात की कल्पना नहीं करना चाहते कि दूर भविष्य मे भी कोई ऐसा समय आवेगा जब ब्रिटेन को भारत छोड़ना पड़ेगा।"

लार्ड कर्जन की इन पक्तियों मे ब्रिटेन की नीति का स्पष्ट पता चलता है। अब वह समय न था जब भारत मे ब्रिटेन को अपनी सत्ता कायम करनी थी। पहले की नीति और सहानुभूति अब गुलामी की अटूट जञ्जीरों के रूप में बदल गयी थी। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों को अब भारतीय जनों के अधिकारों की बात नहीं सोचनी थी, उनको अब सोचना था कि भारत में अनंत काल तक ब्रिटिश-शासन कैसे कायम रह सकता है।

———

दूसरा परिच्छेद

ब्रिटिश-शासन का प्रभाव

पिछले परिच्छेद में बताया जा चुका है कि ब्रिटेन की नीति क्या थी और उसके काम क्या थे। सत्रहवीं शताब्दी का भारत ब्रिटेन को उस रूप में न समझ सका था, जिस रूप में वह अन्त में उसके सामने आया।

अब उसके बाद हमें देखना है कि दो शताब्दियों तक ब्रिटेन के शासन में रहने के बाद भारतीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। यह बात संसार से छिपी न थी कि प्राचीन काल में भारत सभी प्रकार सम्पन्न था। जीवन का कोई अभाव उसके सामने न था। उसकी साम्पत्तिक अवस्था किसी देश से छिपी न थी और उसी को सुनकर समुद्र पार से कितने ही देशों के लोग व्यापार करने के लिए इस देश में आये थे। उनमें से इंगलैण्ड की ईस्ट इंडिया कम्पनी भी थी और अन्त में उसी को इस देश में सफलता भी मिली थी।

इस देश में आकर विदेशियों ने जिस प्रकार भारत को धन और धान्य से सम्पन्न पाया था, उसका वर्णन उन्हीं के शब्दों के आधार पर बहुत-कुछ इस पुस्तक के आरम्भ में किया जा चुका है।

अंगरेजी-शासन में इस देश का जिस प्रकार विनाश हुआ, उतना कभी उसका नाश न हुआ था। इस लिए इस परिच्छेद में केवल इस बात की विवेचना की जायगी कि अंगरेजी शासन में इस देश का किस प्रकार अधः पतन हुआ।

आर्थिक शोषण

अंगरेजों के सम्पर्क में आते ही भारत को सब से पहले आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। क्योंकि इंगलैण्ड

से चलकर और इतना लम्बा रास्ता पार करके जो लोग भारत में आये थे: वे हमारे साथ कोई उपकार करने न आये थे।

अंगरेजों को भारत में आने के पहले ही इस बात का पता था कि यह देश अत्यधिक सम्पतिशाली है। यही जानकर उन्होंने यहाँ आने का प्रयत्न किया था और यहाँ आकर उन्होंने इस देश को वैसा ही पाया भी, जैसा कि उन्होंने सुन और समझ रखा था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ आये हुए अंगरेजों ने भारत पहुँचने पर इस देश की जो आर्थिक दशा देखी थी, उस पर उन्होंने इंगलैण्ड को जो पत्र लिखे थे, उनसे पता चलता है कि उन अंगरेजों ने इस देश को सम्पति के खजाने के रूप में आकर देखा था।

यहाँ पर इतना और समझ लेने की आवश्यकता है कि अंगरेजों के आने के पहले इस देश के कई भागों मे मुसलमानों का शासन चल रहा था। मुस्लिम आक्रमण के समय भी इस देश को आर्थिक क्षति बहुत बड़ी उठानी पड़ी थी। परन्तु इस देश मे इतनी अधिक सम्पत्ति थी कि मुसलमान आक्रमणकारियों की लूट के बाद भी देश इतना सम्पत्तिवान बना रहा जिसकी साम्पत्तिक अवस्था की विदेशियों ने बहुत बड़ी प्रशंसा की थी।

इतिहासकारों ने इस बात को स्वीकार किया है कि मुस्लिम शासन काल मे इस देश की जो आर्थिक हानि हुई थी, उसके बाद भी भारत विदेशी लोगों की उत्सुकता का कारण बना ही रहा था और उस समय भी इस देश में इतनी अधिक सम्पत्ति थी कि जिसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ब्यापारी अंगरेज लूट कर इंगलैण्ड ले गये और वहाँ पर अमीर बन गये।

विदेशी शासन

इतिहासकारों और विद्वानों ने विदेशी शासन की उपमा ब्लाटिंग पेपर के साथ दी है। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी हुकूमत किसी भी देश में ब्लाटिंग का काम करती है। जिस प्रकार ब्लाटिंग पेपर स्याही को पी जाता है और लिखे गये अक्षरों को सुखा देता है, ठीक वही अवस्था विदेशी शासन की होती है।

जब किसी देश में विदेशी शासन कायम हो जाता है तो वह

देश थोड़े ही दिनों में सूखकर काँटा हो जाता है। उसका सम्पूर्ण स्वास्थ्य मिट्टी में मिल जाता है और उसकी समस्त परिस्थितियाँ दीन-दुर्बल होकर जीर्ण-शीर्ण जीवन बिताने लगती हैं। जान स्टुअर्ट मिल ने लिखा है—

"विदेशी शासन में रहकर कोई भी देश सब से पहले अपनी देश-भक्ति का क्षय करता है। उसमें न तो आत्म-सम्मान रह जाता है और न आत्म-विश्वास। उस देश के लोगों का न तो अपना देश ही होता है और न अपना घर।"

सचमुच हमारे जीवन की आज यही अवस्था है। विदेशी परतन्त्रता के क्षय रोग ने इस देश को किसी योग्य नहीं रखा। उसके बन्धनों से छूटने पर आज जब उसने अपना घर देखना आरम्भ किया और अपने जीवन पर जब उसने दृष्टि डाली तो उसे कुछ दिखाई नहीं देता। जहाँ पर उसकी आँखें जाती हैं, उसे यही दिखाई देता है कि विदेशियों ने उसका सभी कुछ छीन लिया है।

विदेशी शासन किसी भी देश के लिए एक ऐसी बीमारी होती है, जिसमें उसका सभी-कुछ नाश होता रहता है। रोग की अवस्था में स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, रोग के कीटाणुओं की वृद्धि होती है। इसी प्रकार विदेशी शासन में अपने जीवन की अच्छाइयाँ मिट जाती हैं और जितने भी पतित आचरण हो सकते हैं, वे सब आकर एकत्रित हो जाते हैं।

हमारे जीवन में भी यही हुआ है। ब्रिटिश-शासन में रहकर भारत ने न केवल अपनी सम्पत्ति का नाश किया है, बल्कि उसने अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को मिटा दिया है। उसको विदेशी शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के आधार पर अपना जीवन बिताने के के लिए विवश होना पड़ा है।

इस परवशता और विवशता में भारत की दशा उस आदमी की-सी हुई है जो अपनी बुद्धि को खो बैठता है और दूसरे की बुद्धि से काम लेता है। दो शताब्दियों की विदेशी परतन्त्रता ने हमारे जीवन में ऐसी कोई चीज बाकी नहीं रखी जिसे हम अपनी कह सकें।

विदेशी शासन के नाम पर अब्राहम लिंकन ने तो यहां तक कह डाला है कि—'कोई भी मनुष्य, किसी दूसरे पर शासन करने के लिए

कभी अच्छा नहीं होता।' ऊपर इस छोटे से वाक्य में अब्राहम-लिंकन ने हमें जीवन का कितना गम्भीर सत्य बताया है। उनका कहना है कि विदेशी शासन ही नहीं, कोई भी मनुष्य दूसरे पर शासन करने के लिए अच्छा नहीं होता।

भारत में अँगरेजी शासन की आलोचना करते हुए एक विद्वान अँगरेज ने लिखा है—"लगभग दो शताब्दियों तक ब्रिटेन ने भारत में शासन करने का जो तरीका रखा, वह तरीका उस देश के आत्मा को नष्ट करने का एक मार्ग था।×× क्लाइव और हेस्टिंग्स जैसे अँगरेजों ने जिस प्रकार भारत की सम्पत्ति को लूटा, उसको सभी घृणा की दृष्टि से देखेंगे। एक हरे-भरे देश को नष्ट करके उसके जीवन की विभूतियाँ इंगलैण्ड ले गये। शासन के नाम पर भारत में यह खुली डकैती थी।"

वास्तव में अंगरेजों के शासन से भारत की साम्पत्तिक अवस्था का जितना विनाश हुआ, उसकी वेदना भी उतनी अधिक नहीं है, जितनी कि उस शासन के द्वारा भारतीय आत्मा के विध्वंस करने से हुई है।

महात्मा ईसा ने एक बार कहा था—"जितने भी विनाश होते हैं, उनकी फिर पूर्ति हो जाती है। परन्तु आत्मा के एक बार नष्ट होने से उसका सर्जीव होना फिर कठिन हो जाता है।×एक मनुष्य के आत्मा को नष्ट करने की अपेक्षा किसी राष्ट्र के आत्मा का विनाश करना अधिक घातक होता है।" अंगरेजों के शासन में भारतीय आत्मा का विध्वंस किया गया है।

लुटेरों का शासन

ब्रिटेन के विनाशकारी शासन से मुक्त होने के बाद जब हम ब्रिटिश कालीन भारत की अवस्था का विवेचन करने बैठते हैं तो हमें साफ-साफ मालूम होता है कि ब्रिटिश-शासन भारत में लुटेरों का शासन था। अंगरेज शासक भारत के अंग न थे। उन्होंने यहाँ आकर भारत को अपना घर नहीं बनाया। उन्होंने इस देश के निवासी बनने की कोशिश नहीं की।

आरम्भ से लेकर अन्त तक इंगलैण्ड के अंगरेज व्यापारी—अधिकारी और शासक बनकर आये। यहाँ की सम्पत्ति पर उन्होंने कब्जा

किया और उसे लेकर वे नौ-दो-ग्यारह हो गये। यहाँ आकर वे किराये के बंगलों में ठहरे, उनका किराया अदा किया और किसी भी प्रकार यहाँ की अधिक-से-अधिक सम्पत्ति अपने साथ इंगलैण्ड ले जाने की चेष्टायें करते रहे, इसमें वे सफल भी हुए।

ये सब लक्षण एक विदेशी के होते हैं और इस प्रकार सम्पत्ति के अपहरण करने वालों को लुटेरा कहा जाता है। सम्पत्ति लूटने की भावना से प्रेरित होकर जो शासन किया जाता है, वह लुटेरों का शासन कहलाता है। ब्रिटिश शासन-काल में रहकर इस देश का जिस प्रकार सर्वनाश हुआ, वह लुटेरों के विध्वंस से कभी किसी प्रकार कम न था।

इस प्रकार के शासन को कितने ही अर्थों में लुटेरों से भी अधिक विनाशकारी कहना अनुचित न होगा। लुटेरे एक बार लूट कर ले जाते हैं और फिर कभी वे अपना मुंह नहीं दिखाते। लेकिन अंगरेजी शासकों ने इस देश को सदा लूटते रहने के लिए अपना एक स्थायी क्षेत्र बना लिया था।

भारत में आकर वे भारतवासियों के साथ मिल न सके, अपने और हमारे जीवन को मिला कर वे एक न कर सके। इस देश के निवासियों को वे अपनी गुलामी में बनाये रखने की सदा कोशिश करते रहे, भारतीयों ने जब कभी अपने अधिकारों की बात उठाई तो उन लोगों ने उस कुटिल राजनीति से काम लिया जो इस देश के लोगों को गुलामी में जकड़े रखने के लिए अटूट जंजीरों के रूप में थी।

भीषण दरिद्रता

अंगरेजों के शासन में रह कर, संसार का एक सम्पत्तिशाली देश न केवल निर्धन हो गया, बल्कि वह अपना पेट भरने के लिए भी असमर्थ हो गया। भारत में आकर इन विदेशी शासकों ने इस देश को किस प्रकार लूटा और किस तरह उन्होंने उसे भिखारी बना दिया उसके उद्धरण यहाँ पर देने की आवश्यकता नहीं है।

यहां पर हम केवल इतना ही बताना चाहते हैं कि अंगरेजों के शासन में रह कर भारत के निवासियों को किस प्रकार दरिद्रता का जीवन बिताना पड़ा और भूखे रह कर अथवा आधे पेट खाकर जीवित

रहने के लिए विवश होना पड़ा, इसका वर्णन विदेशी लेखकों, विद्वानों और विशेषकर उदार तथा निष्पक्ष अंगरेजों ने स्वयं किया है। इसलिए इस विषय की पुष्टि के लिए उनके उद्धरण और वक्तव्य दे देना ही यहां पर काफी होगा।

अंधेर नगरी

ब्रिटिश कालीन भारत की दरिद्रता के सम्बन्ध में विदेशी उदार और निष्पक्ष विद्वानों ने क्या कहा है और क्या लिखा है, उसके विवरण देने के पहले संक्षेप में यहां पर यह बताना आवश्यक मालूम होता है कि अंगरेजों का आधिपत्य आरम्भ होते ही इस सम्पत्तिशाली भारत की क्या दशा हो गयी थी।

उन दिनों में भारत के हिन्दू, मुस्लिम शासकों की अवस्था बड़ी विचित्र थी। अलग-अलग प्रदेशों में उनके शासन चल रहे थे। देश की इसी परिस्थिति में—अठारहवीं शताब्दी में अंगरेजी आधिपत्य का विस्तार हुआ। विदेशी शासकों ने भारत में जिस नीति का अनुसरण किया, उससे हिन्दू और मुस्लिम शासकों को कोई धक्का न पहुँचा।

उन दिनों भारत में अंगरेजों के आधिपत्य से जो भयानक परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसका चित्र खींचना साधारण कार्य नहीं है। वास्तव में अध्यात्म-परायण यह देश अन्धेर नगरी के रूप में बदल गया था। सम्पूर्ण देश में लूट मार मची हुई थी। साधारण समाज से लेकर राजाओं और नवाबों के यहाँ तक, कोई ढङ्ग की व्यवस्था न थी।

अंधेर नगरी की एक पुरानी कथा प्रसिद्ध है। वहाँ पर राजा सर्वथा मूर्ख और अयोग्य था। इसलिए होता यह था कि उस नगरी में भाजी और बहुमूल्य मिठाई—खाजा एक ही भाव में दो पैसे सेर बिकती थी। इसलिए उस नगरी का नाम अन्धेर नगरी रखा गया था। यही दशा अठारहवीं शताब्दी में भारत वर्ष की हो गयी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंगरेजों और उनके नौकरों ने समाज में लूट-मार मचा रखी थी। कहीं पर उनकी सुनवाही न थी।

उन दिनों इस देश में अंगरेजों का किस प्रकार अत्याचार और आधिपत्य चल रहा था, उसके वर्णन भी इस पुस्तक के प्रारम्भ में आ चुके हैं। इसलिए यहाँ पर उनको दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि उन दिनों में इस देश के जिन भागों पर हिन्दू राजाओं और मुस्लिम नवाबो की हुकूमत चल रही थी, उनमे भी अंगरेजों के आधिपत्य मे कोई दखल न देता था। इसका एक ही कारण था और वह था राजाओं और नवाबों का दब्बूपन एवम् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों की कुटिल नीति। परिणाम स्वरूप सारा देश एक अनाथ के रूप मे भयानक पीड़ा का अनुभव कर रहा था।

अव्यवस्था और अकाल

संसार के देशों मे भारत सदा एक कृषि प्रधान देश रहा है, उसने दूसरे व्यवसायों मे भी उन्नति की थी और उसी से वह सम्पन्न हुआ था, परन्तु उसके सुखी होने का प्रधान कारण उसकी कृषि-व्यवसाय की सफलता थी।

जब तक विदेशी आक्रमण भारत में नहीं हुए और अपनी शक्तियों में जब तक वह निर्बल नहीं हुआ, उसने अकाल की पीड़ा को कभी जाना ही नहीं। लेकिन विदेशी हमलों के साथ-साथ अकाल और दुर्भिक्ष के आक्रमण उसके सर्वनाश के कारण बनने लगे।

अकाल और दुर्भिक्ष अगर दैवी-प्रकोप है, तो वे केवल भारत के लिए क्यों हैं, यह एक प्रश्न है, दैवी-प्रकोप भी तो सभी के लिए होता हैं, फिर उसका विनाशकारी प्रभाव भारत पर ही क्यों पड़ता रहा ?

इस प्रश्न का उत्तर क्या सीधा-सीधा यह नहीं है कि इस प्रकार के दैवी-प्रकोप से देश की रक्षा करना देश की व्यवस्थापक शक्ति का—शासक का कार्य होता है ? संसार के जो देश कृषि पर आधारित नहीं रहते, उनके ऊपर इस अकाल का प्रभाव क्यों नहीं पड़ता ? ऐसा प्रभाव कि जिसमें मनुष्य कीड़ों-पतंगों की भांति मरते हों ! जो देश अपनी कृषि की पैदावार पर जीवित नहीं रहते वास्तव मे उनको तो और भी इन अकालों से प्रभावित होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता और होता यह है कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश जिनकी पैदावार से संसार के दूसरे देश जीवित रहते हों, अकाल और दुर्भिक्ष के शिकार बन जायँ ! यह तो आश्चर्य की बात है।

इस समस्या का सीधा अर्थ है। अध्यात्मवाद का यह पवित्र देश

परतंत्रता में आने के बाद न तो अपनी कृषि की रक्षा कर सका और न उसके दूसरे व्यवसाय ही सुरक्षित रह सके। उसके पास की सम्पत्ति लूट ली गयी और वे साधन, जिनके द्वारा वह सुखी और सम्पन्न रहा करता था, नष्ट कर डाले गये! इन परिस्थितियों में उसकी अपनी शक्तियो का क्षय हुआ और बाहर विदेशी शक्तियाँ शासन करती थीं। उनका उद्देश्य धन लूटने और देश को भिखारी बनाकर इंगलैण्ड को मालामाल करना था। इस दशा में देश की साधारण अवस्था इस योग्य भी न रह गयी कि वह पेट-भर भोजन कर संतोष के साथ जीवन बिता सकता। फिर अकालों और दुर्भिक्षों के आक्रमण का सामना कौन करता!

स्वतंत्रता के दिनों मे भारत के निवासी अनेक प्रकार के उद्योग और व्यवसाय करते थे। उनकी व्यावसायिक वस्तुओं से दूसरे देशों के बाजार भरे हुए थे। इससे होता यह था कि कभी अकाल के पड़ने पर देश क्षुधा का अनुभव करना न जानता था।

स्वतंत्रता का जीवन समाप्त होने के बाद, देश के जितने दूसरे व्यवसाय थे, नष्ट कर डाले गये। एक मात्र कृषि का व्यवसाय उसका बाकी रह गया। उसकी भी अवस्था दिन-पर-दिन जर्जरित होने लगी। उसके पास इतनी सम्पत्ति भी न रह गयी कि वह अपने कृषि के व्यवसाय को अच्छी दशा मे रख सकता। बढ़ती हुई गरीबी के साथ-साथ खेती का व्यवसाय भी खराब होता गया।

खेती के इस व्यवसाय के निर्बल हो जाने के और भी कारण हुए। जिन नये-नये तरीकों से और वैज्ञानिक उपायों से खेती के व्यवसाय को उन्नत बनाया जा सकता था, उनका ज्ञान और विज्ञान भी, विदेशी शासन के युग मे बराबर नष्ट हुआ। इस प्रकार खेती की पैदावार इतनी कम होती गयी कि उससे अपने साधारण दिनों में भी पेट भरना मुश्किल हो गया।

अकाल और दुर्भिक्ष के दिनों में अब देश की रक्षा कैसे होती! दूसरे व्यवसाय नष्ट हो चुके थे और भारत विदेशी व्यवसाय पर अपना जीवन निर्वाह कर रहा था। कृषि का व्यवसाय भी, एक भिखारी के व्यवसाय के रूप मे चल रहा था। उस पर भी विदेशी शासकों के कर और टैक्स इतने बढ़े हुए थे कि जिनको अदा करने में

खेती से उत्पन्न हुई सम्पत्ति समाप्त हो जाती थी। उस पर भी सरकारी देना बाकी रहता था।

इस भीषण परिस्थिति में अकालों और दुर्भिक्षों से इस देश का जो सत्यानाश हुआ, उसके वर्णन अत्यन्त रोमांचकारी हैं। सन् १८०१ से लेकर १८२५ तक भारतवर्ष मे जो अकाल पड़े, उनमे इस देश के दस लाख आदमी केवल अन्न के अभाव मे मरे। उसके बाद लगभग बीस वर्षों के भीतर देश को जिन दुर्भिक्षों और अकालों का सामना करना पड़ा, उनमे देश के पाँच लाख से अधिक आदमी भूख की ज्वाला में तड़प-तड़प कर मरे।

ब्रिटिश-सरकार की रिपोर्ट स्वयं इस बात की साक्षी है कि सन् १८५० से १८७५ तक ब्रिटिश भारत मे छः बार अकाल पड़े और उन अकालों मे इस देश के जो लोग केवल भूख से मरे, उनकी संख्या ५० लाख से भी अधिक थी।

साधारण तौर पर लोग समझते है कि युद्ध मे मरने वालों की संख्या ही अधिक हुआ करती है। परन्तु भारत की अवस्था इससे भिन्न है। मि० विलियम डिगवी ने भारत के अकाल पीडितों की आलोचना करते हुए लिखा है कि—"सन् १७९३ से लेकर १९०० तक सभी देशों के युद्धों मे उतने अधिक आदमी नहीं मरे, जितने कि इस बीच मे अकालों की पीड़ा से भारत वष मे स्त्री-और पुरुष मरे।" मि० डिगवी ने जो हिसाब लगाया है, उसके आधार पर उन्होंने लिखा है कि इतने दिनों मे भारत वर्ष मे जो अकाल पड़े, उनमे इस देश के सवा दो करोड़ आदमी अन्न के अभाव मे मरे। इन अकालों का भारत के पालतू पशुओं पर क्या प्रभाव पड़ा उसका कोई हिसाब हमारे पास नहीं है।

अहिंसा की प्रेरणा से प्रोत्साहित होकर जब भारत के विद्वान और महापुरुष युद्ध का इस लिए विरोध करते हैं कि उसके द्वारा बिना कारण मनुष्यों की हिंसा होती है, उस समय आश्चर्य मालूम होता है। करोड़ों की संख्या में भूख से तड़प कर मरने की अपेक्षा यदि देश को स्वतंत्र बनाने क लिए युद्ध मे लोग मरे होते तो अधिक अच्छा होता। लेकिन जिस मृत्यु से बचने के लिए गुलामी का जीवन स्वीकार किया गया, उससे बचाव हो न सका और जिस प्रकार इस देश के

आदमियों की मृत्यु भूख के कारण हुई, वह हमारी पुरुषत्व हीनता का एक बहुत बड़ा प्रमाण, कलंक के रूप में देश के सामने आया! यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि यदि देश दूसरों की गुलामी में न होता और उसके जीवन का सर्वस्व नाश न किया गया होता तो अकालों और दुर्भिक्षों के कारण इतनी बड़ी संख्या में देश के भीतर मृत्युयें न हुई होतीं।

दरिद्रता का प्रकोप

भारतवर्ष की गरीबी का आरम्भ उस समय हुआ था, जब इस देश में अंगरेजों का आगमन हुआ और उसके बाद उनका शासन इस देश मे कायम हुआ। देश का अत्यंत स्वस्थ जीवन यहीं से रोगी हुआ। मुस्लिम काल में जो राजा और नवाब यहाँ पर शासन करते थे, वे भी आपस मे सदा लड़ते रहे और देश की उन लड़ाइयों में भारत का विध्वंस होता रहा। वे कभी एक होकर न रह सके।

हुआ यह कि देश की प्रजा सुख का जीवन न बिता सकी, लड़ाई स्वयं विनाश का कारण होता है और फिर देश की भीतरी लड़ाई! इसी विध्वंस काल मे अंगरेजों ने इस देश मे पदार्पण कर अपनी कुटिल नीति से यहाँ के राजाओं और नवाबों पर विजय प्राप्त की।

अंगरेजी शासन काल मे हम गरीब ही नहीं हुए, उसकी सीमा पर देश पहुँच कर दरिद्रता की ओर बढ़ा। रात-दिन लूट हुई और ऐसी लूट कि जिसे विदेशियों ने—निष्पक्ष अंगरेजों ने स्वयं स्वीकार किया।

देश की दरिद्रता यहाँ तक बढ़ी और उसे इतनी भीषण परिस्थिति का सामना करना पड़ा कि अब उसके निवासी एक बड़ी संख्या मे पेट भर खाना न खा सकते थे। जिस देश की खाद्य वस्तुओं से संसार के दूसरे देश पलते थे और जीवित रहते थे, उस देश के लोग स्वयं इस योग्य न रह गये कि वे अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भर सकते।

ब्रिटिश-शासन काल में भारत की दरिद्रता बढ़ कर कहाँ पहुँच गयी, इसको समझने के लिए नीचे कुछ देशों के आँकड़े दिये जाते हैं, उन आँकड़ों में उन देशों के निवासियों की आमदनी का हिसाब लगाया गया है। संसार के दूसरे देशों की आय के सामने भारत की आय कितनी कम और निर्बल हो गयी, उसका ब्योरा इस प्रकार है :

देश	प्रत्येक आदमी की वार्षिक आय	देश	प्रत्येक आदमी की वार्षिक आय
रूस	१६५ रुपये	बेलजियम	४२० रुपये
इटली	१८० रुपये	अमेरिका	५८५ रुपये
आस्ट्रिया	१२५ रुपये	नारवे	३०० रुपये
स्पेन	२४० रुपये	हालैण्ड	३३० रुपये
स्वीजरलैंड	२८५ रुपये	आस्ट्रेलिया	६०० रुपये
जर्मनी	३३० रुपये	स्काटलैंड	६०५ रुपये
कनाडा	३९० रुपये	भारतवर्ष	१४ रुपये
फ्राँस	४०५ रुपये		

संसार के दूसरे देशों के साथ मि० विलियम डिगवी ने भारत वर्ष की आमदनी की जो तुलना की थी, उसका ब्योरा ऊपर लिखा हुआ है। विदेशी पराधीनता के पहले जो देश सुख और सम्पत्ति के नाम पर संसार में अत्यंत श्रेष्ठ माना जाता था और जिसकी इस श्रेष्ठता को अन्यान्य देशों के विद्वानों, राजनीतिज्ञों और यात्रियों ने बराबर स्वीकार किया है। वह राजनीतिक परतन्त्रता में आकर कितना दीन और दरिद्र हो गया। इसका हिसाब लगाकर किसका शरीर रोमाञ्च न होगा! मि० विलियम डिगवी के इस हिसाब के बाद अंग-रेजी-शासकों के द्वारा भारत की अवस्था में कितना अधःपतन हुआ, उस पर कुछ अंगरेज विद्वानों के वक्तव्यों का देना यहाँ पर काफी होगा।

सन् १८८० की पुरानी बात है, बरमिंघम नगर में भाषण देते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर हण्टर ने कहा था—

"भारत के निवासियों में चार करोड़ से अधिक स्त्री और पुरुष आधे पेट भोजन करके अपने जीवन का निर्वाह करते हैं।"

डाक्टर हण्टर ने भारत की उस दशा का अपने भाषण में यह वर्णन किया था, जब इस देश में सन् १८५७ के बाद थोड़े ही दिन बीते थे।

बंगाल के गवर्नर सर चार्ल्स इलियट जब संयुक्त प्रान्त में एक

बड़े अफसर की हैसियत में काम करते थे, उस समय उन्होंने वहाँ की गरीबी की विवेचना करते हुए कहा था—

"यहां के किसानों में आधे लोगों की ऐसी संख्या है जो वर्ष में एक दिन भी पेट-भर भोजन करना नहीं जानते। वे शायद यह भी नहीं जानते कि पेट भर भोजन करना किसे कहते हैं।"

ब्रिटिश-शासन में इस देश की गरीबी कहाँ तक बढ़ी थी उसका अनुमान ब्रिटेन के उन अंगरेजों के वक्तव्यों से लगया जा सकता है, जो भारत मे उच्च पदाधिकारी रह चुके थे और इस देश की असलियत को खूब समझते थे।

उस समय भारत में खेती करने वालों की संख्या यदि बीस करोड़ मान ली जाय तो यह बात साफ हो जाती है कि आधा पेट भोजन न करने वालों की संख्या दस करोड़ से कम न थी। सर चार्ल्स इलियट ने उन लोगों की गरीबी को प्रकट किया था जो खेती करते थे।

आक्रमण और आघात

विदेशी शासन में जो कुछ मिलता है भारत को भी वही मिला। पतन और पीड़ा की पराकाष्ठा में पहुँचने पर भी, उनकी स्मृतियाँ उन दिनों में भुलायी जा सकती हैं, जब देश स्वतन्त्रता के मार्ग का एक पथिक होता है और वह परतन्त्रता की जंजीरों को तोड़कर स्वतन्त्रतापूर्वक सुख और स्वास्थ्य का जीवन व्यतीत करता है। परन्तु विदेशी शासन के वे अमिट आक्रमण और आघात मिटाये न जा सकेंगे, जो अंगरेजी हुकूमत में, शासन की कलुषित और अपराधी भावना की प्रेरणा के कारण भारत को दुर्भाग्य से सहने पड़े हैं।

अंगरेजी शासन काल में भारत, पतन की जिस पराकाष्ठा में पहुँचा, उसके विवरण संक्षेप में पिछले पृष्ठों में दिये गये हैं और आगे के पृष्ठों में भी दिये जांयगे। यहाँ पर उन आक्रमणों, आघातों और प्रहारों का उल्लेख आवश्यक मालूम होता है, जो आज हमारे जीवन मे विदेशी शासन की स्मृतियों के रूप में हैं।

बंगाल का भीषण अकाल

जिन दिनों में योरप का दूसरा महायुद्ध भयानक रूप में चल रहा था, बंगाल को एक भीषण अकाल का सामना करना पड़ा। यह अकाल

प्रकृति का प्रकोप न था। ब्रिटिश-सरकार का वह प्रकोप था, जिसके द्वारा विद्रोही बङ्गाल को दण्ड दिया गया था। उन दिनों में विंस्टन चर्चिल इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री थे। वर्तमान महायुद्ध के जन्मदाता जर्मनी के पराजित होने पर मिस्टर चर्चिल ने एक बार कहा था—'जर्मनी को पहले भूखों मारना है और फिर उसकी क्षुधा मिटाने का प्रबन्ध करना है।' मिस्टर चर्चिल का यह प्रसिद्ध अस्त्र था।

मिस्टर चर्चिल ने अपने उसी अस्त्र का प्रयोग बङ्गाल के साथ भी किया था। उनके ऐसा करने का कारण था। ब्रिटिश-सरकार के विरोधी अन्दोलनों मे बङ्गाल सदा आगे रहा करता था और उस अकाल के कुछ ही पहले ब्रिटिश-शासन के विरोधी—बङ्गाल के कांग्रेसी-सूरमा, सुभाषचन्द्र बोस ने ब्रिटेन के शासन-भार को शक्ति पूर्वक फेंक देने का प्रयत्न किया था। वह भीषण अकाल बङ्गाल के इस अक्षम्य अपराध का दण्ड था।

बंगाल में अकाल का प्रारम्भ हुआ। पेट की ज्वाला से भूखा बंगाल तड़पने लगा। इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री मिस्टर चर्चिल का शासन था। फल यह हुआ कि अनाज के विशाल स्टाक पृथ्वी में ही विलीन हो गये। बाहर से आने वाले अनाज का रास्ता बन्द हो गया। अब क्या था, छोटे-छोटे गांव से लेकर प्रान्त के बड़े-बड़े शहरों तक भूख ज्वाला तीव्र होने लगी। किसी के पास खाने और पीने का साधन न था। कुछ दिनों तक समर्थ जनों ने अपना काम चलाने की चेष्टा की। अपने पास के वस्त्र और आभूषण बेच कर लोग खाने-पीने की व्यवस्था करने लगे। जिनके अपने मकान थे, वे उनको गिरवी करने लगे। जिनके जो बहुमूल्य पदार्थ थे, वे उनको किसी भी मूल्य में देकर अपने परिवार के लोगों के प्राणों की रक्षा करने लगे।

लेकिन यह सब कितने दिनों तक चलता। जिसके पास जो कुछ था उसे वह मिट्टी के भाव मे देकर खाने का प्रबन्ध कर रहा था और जिनके पास ऐसी कोई सम्पत्ति अथवा मूल्यवान वस्तु न थी, वे थोड़े ही दिनों के बाद अपने प्राणों से हाथ धोने लगे।

जीवन की इन भयानक घड़ियों मे कोई किसी का साथ नहीं देता। निर्धन और गरीब लोग भूख से मरने लगे। गरीब परिवारों की स्त्रियाँ भूख से तड़पते हुए अपने छोटे-छोटे बच्चों को, खाने का कोई

प्रबन्ध न कर सकने की अवस्था में, रास्तों और सड़कों पर छोड़ जातीं और इस प्रकार वे बच्चे वहाँ पर मरे हुए देखे जाते। इस भयानक दृश्य मे उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। थोड़े ही दिनों के भीतर पूरे बंगाल में भूख की ज्वाला जल उठी और सैकड़ों हजारों नहीं, लाखों की संख्या मे लोग भूख से तड़प-तड़प कर मरने लगे।

बंगाल के इस भीषण अकाल के समाचार चारों ओर फैलने लगे। भारत के दूसरे प्रान्तों मे चीत्कार हो उठा। चारों ओर से आवाजें उठने लगीं—'बंगाल के प्राणों की रक्षा करो।' इन दिनों मे बंगाल में भूख से मरने वालों की संख्या बराबर बढ़ रही थी। रास्ते और सड़कें लाशों से सड़ रही थीं। संसार के सभी देश बंगाल के इस हाहाकार को सुनकर काँप उठे। चारों ओर से सहानुभूति के संवाद आने लगे। लेकिन ब्रिटिश सरकार संन्तोष की ठन्ढी साँसें ले रही थी।

भूखे बंगाल के प्राणों की रक्षा का कोई उपाय न हुआ! वस्त्र और आभूषण बेच कर लोग कितने दिन जीवित रह सकते थे। परिस्थिति लगातार भीषण होती गयी। लोगों की जमीनें चली गयीं। मकान गिरवी हो गये और बिक गये। किसानों के पशु कौड़ियों के मूल्य मे चले गये। अब भूखे तड़प-तड़प कर मरने के सिवा और कोई भी उपाय बाकी न रहा। अकाल की भीषणता मे अभी और भी वृद्धि हो रही थी। माताओं ने हजारों की संख्या मे अपने बच्चों को बेच डाला। किंतु उनकी भूख की ज्वाला का कोई प्रतिकार न हुआ। अनाश्रित युवतियों और महिलाओं को अपन सती-धर्म उत्सर्ग करने पड़े। हजारों परिवारों की सती, सुन्दरी स्त्रियां वेश्यायें हो गयीं। किन्तु उस अकाल की भीषणता में कोई कमी न आयी। दुर्भिक्ष के उस भीषण प्रकोप से लाखों की संख्या मे स्त्रियां, बच्चों और पुरुषों को प्राणों से हाथ धोने पड़े। बंगाल का यह अकाल जिसका सामना बंगाल को, ब्रिटिश-सरकार के प्रकोप के कारण करना पड़ा बड़ा भयानक था।

ब्रिटिश-शासन के इन आघातों और प्रहारों का विस्तार बड़ा है। ब्रेटेन के ये आक्रमण भारत पर इसलिए हुए कि वे इसको सदा अपनी परतन्त्रता में रखना चाहते थे। उनकी परतन्त्रता का अन्त हुआ परन्तु उनके किये गये आक्रमण और आघात, इतिहास की पुस्तकों में सदा हरे-भरे बने रहेंगे।

जीवन शक्ति का ह्रास

विदेशी पराधीनता में देश की भीषण गरीबी और दरिद्रता के प्रभाव अनेक प्रकार से पड़े ! उसके कारण देश का जिस प्रकार नैतिक अधःपतन हुआ। उसका रोमाञ्चकारी विवरण आगे किया जायगा। यहाँ पर हम इतना ही दिखाना चाहते हैं कि देश की भीषण गरीबी का प्रभाव, देश की जीवन-शक्ति पर क्या पड़ा।

मनुष्य के स्वास्थ्य का सब से बड़ा सम्बन्ध उसकी आर्थिक सुविधाओं के साथ होता है। स्वस्थ रहने के लिए उपयोगी भोजन की आवश्यकता होती है। नीरोग जीवन बिताने के लिए उपयोगी वातावरण होना चाहिये।

इस प्रकार की सभी बातों के लिए धन की आवश्यकता होती है। एक निर्धन और दरिद्र आदमी न तो अच्छा भोजन कर सकता है और न स्वस्थ वातावरण में रह कर जीवन व्यतीत कर सकता है। होता यह है कि उसे किसी प्रकार पेट भरना पड़ता है और जो परिस्थितियाँ सम्भव होती हैं उन्हीं में उसे जीवन बिताना पड़ता है।

जहाँ जीवन का यह सत्य काम करता है, वहां पर वह देश स्वस्थ और नीरोग कैसे रह सकता है, जिसके निवासी—ब्रिटिश-अधिकारियों के वक्तव्यों के अनुसार आधे से अधिक रूखा-सूखा, गया-गुजरा भोजन करके और आधे पेट रह कर जीवन व्यतीत करते हों !

परिणाम यह हुआ कि जो देश प्राकृतिक रूप से स्वास्थ्य और नीरोग जीवन के लिए श्रेष्ठ था, वह रोगों का घर बन गया। नित नये रोग पैदा होने लगे। उन भयंकर बीमारियों के आक्रमण होने लगे, जिनके नाम से भी भारत के निवासी परिचित न थे। गरीबी के साथ-साथ रोगों की परिस्थिति बढ़ी और विस्तृत होकर उसने सारे देश को रोगी बना दिया।

स्वास्थ्य की नयी खोज के अनुसार, आवश्यक और उपयोगी भोजनों के अभाव में रोग पैदा होते हैं और वे अभाव जितने ही बढ़ते जाते हैं रोगों की परिस्थिति भी उतनी ही भीषण और विस्तृत होती जाती है। इसलिए कि भोजन के अनेक कामों में उसका एक प्रमुख कार्य यह भी है कि वह रोगों के आक्रमण को रोके।

भारत की बढ़ती हुई गरीबी ने यहाँ के निवासियों को इस योग्य नहीं रखा कि वे आवश्यक और उपयोगी भोजन पा सकें। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ और अधिकारी इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं कि भारत के आधे निवासी, आधे पेट रहकर जीवन व्यतीत करते हैं। किसी प्रकार के भोजन से भी जिनके पेट ही न भरते हों और जो निष्पक्ष अंगरेजों की सम्मति के अनुसार--पेट-भर भोजन करना भी न जानते हों उनके सामने आवश्यक और उपयोगी भोजनों का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है।

गरीबी और दरिद्रता के प्रकोप से दिन-पर-दिन इस देश के निवासियों मे रोगों की वृद्धि होती गयी। ज्वर मे बीमार होने वाले भारतीयों की दशा के सम्बन्ध में सरकारी मेडिकल रिपोर्ट का कहना था—

"अच्छा भोजन और रहने के लिए अच्छा स्थान न मिलने के कारण ही भारत में ज्वर का प्रकोप अधिक होता है।"

इस देश में ज्वर से बीमार होने वालों की संख्या क्रमशः बढ़ कर करोड़ों मे पहुँच गयी है। उसके सम्बन्ध मे अनुसंधान करने वालो ने स्वीकार किया है कि प्रत्येक वर्ष ब्रिटिश भारत में कई करोड़ लोग, ज्वर से पीड़ित होते हैं और केवल ज्वर की बीमारी से मरने वालों की संख्या का औसत प्रति वर्ष पचास लाख होता है। उन्हीं लोगों का कहना है कि ब्रिटिश-शासन के पहले ज्वर से मरने वालों की संख्या बहुत कम थी। परन्तु वह संख्या धीरे-धीरे बढ़ कर यहां तक पहुँच गयी है कि केवल बङ्गाल मे प्रत्येक वर्ष सत्रह लाख आदमी ज्वर से मरते हैं।

इस देश की बीमारियों में ज्वर का प्रकोप भयंकर रूप में होता है। सन् १९०२ मे मैलेरिया ज्वर मे संयुक्त प्रान्त के ४ लाख ९१ हजार ९८ रोगी बीमार होकर अस्पताल पहुँचे थे और सन् १९०६ में मैलेरिया ज्वर से पीड़ित होकर, उसी प्रान्त के जो लोग अस्पताल आये, उनकी संख्या ६ लाख ८१ हजार थी। इसी प्रकार मैलेरिया ज्वर से पीड़ित पंजाब के अस्पतालों में सन् १९०२ मे ४ लाख ७५ हजार ९ सौ ८५ रोगी आये थे और १९०६ में उस प्रान्त के अस्पतालों में मैलेरिया के रोगी जो पहुँचे, उनकी संख्या ६४२३३७ थी।

इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि ब्रिटिश-शासन-काल में इस

देश में जितनी अधिक रोगों की वृद्धि हुई, उतनी कभी नहीं हुई और यह भी स्पष्ट प्रकट है कि देश की गरीबी जितनी ही बढ़ती गयी, रोगों का प्रकोप उतना ही भयानक होता गया।

औषधियों का प्रबंध होने पर भी भारत मे मरने वालों की संख्या अधिक है, इस बात को सरकारी रिपोर्ट स्वीकार करती है। प्राचीन भारत मे यहाँ के निवासियों की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी जाती थी। परन्तु यह औसत पराधीनता के दिनों में गिरी और खूब गिरी। अँगरेजी-शासन-काल में मि० विलियम डिगवा ने इसके सम्बन्ध में विवरण देते हुए लिखा है कि भारतवासियों की आयु का औसत २३ वर्ष से अधिक नहीं है। इसी स्थान पर हमे यह भी जान लेना चाहिए कि अंगरेजों की आयु का औसत चालीस वर्ष है। ब्रिटिश-शासन काल में भारतीयों की आयु का औसत और भी कम हो गया था।

हमारी गरीबी और दरिद्रता का कितना भीषण प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा, इस पर थोड़ा-सा कुछ प्रकाश और डालना है। सन् १८८० में ब्रिटिश भारत में मरने वालों की संख्या प्रति सहस्र २३ थी। सन् १८८५ में प्रति सहस्र २६ हो गयी। सन् १८८९ मे २८ और वह धीरे-धीरे बढ़ कर सन् १९०० ई० में मरने वालों की औसत संख्या प्रति सहस्र ४० हो गयी।

इसी सिलसिले मे इंगलैण्ड की मृत्यु संख्या पर थोड़ा-सा विचार कर लेना आवश्यक मालूम होता है। वहाँ पर सन् १८८३ मे प्रति सहस्र २१ आदमी मरे थे। सन् १८८९ मे १८ मरे, सन् १८९३ मे १७ और १८९९ में वहाँ मरने वालों की प्रति सहस्र १६ की संख्या रह गयी। अब सहज ही प्रश्न यह पैदा होता है कि भारत में मरने वालों की औसत संख्या में वृद्धि और इंगलैण्ड मे लगातार कमी क्यों हुई? इसका यह अर्थ तो नहीं है कि भगवान भारत से अप्रसन्न थे, इसलिए भारत के लोग अधिक मरते गये और इंगलैण्ड से प्रसन्न थे, इसलिए वहाँ के मरने वालों की संख्या कम होती गयी। इसका स्पष्ट कारण यह था कि भारत दिन-पर-दिन दरिद्र हो रहा था और इंगलैण्ड सम्पत्तिशाली बन रहा था। सम्पत्ति के साथ हमारी जीवन-शक्ति का क्या सम्बन्ध है, यह ऊपर लिखा जा चुका है।

तीसरा परिच्छेद

भारतीय व्यवसाय का अन्त

यह बात सही है कि रोग सभी बुरे होते हैं। परन्तु कुछ रोग प्राणघातक होते हैं। इसलिए उनके साथ दूसरे साधारण रोगों की उपमा नहीं दी जा सकती।

इसी प्रकार पराधीनता कोई भी हो बुरी होती है। लेकिन रोगों की भांति सभी पराधीनतायें एक-सी नहीं होतीं। ब्रिटिश पराधीनता के पहले भारत का एक बड़ा भाग मुस्लिम शासन में आ चुका था और उसके द्वारा इस देश की संजीदगी का बहुत-कुछ नाश भी हुआ था। परन्तु वह विनाश ऐसा नहीं था, जैसा कि ब्रिटिश-शासन काल में भारत का हुआ।

ब्रिटिश-शासन प्रणाली का अध्ययन करने के बाद अपने आप मुँह से निकलता है कि अंगरेज इस देश में शासन करने नहीं आये थे बरन लूटने के लिए आये थे। जिस क्रूरता के साथ सम्पत्ति को लूटकर इस सम्पन्न देश को उन्होंने जिस प्रकार भिखारी बना दिया, उसकी उपमा संसार के इतिहास मे कहीं मिलेगी नहीं।

जिस क्रूरता के साथ अंगरेज शासकों ने भारत का विध्वंस किया, उसकी कड़वी आलोचनायें स्वयं निष्पक्ष अंगरेजों को करनी पड़ीं। उन्होंने इस देश को लूटने में किसी एक ही तरीके का प्रयोग नहीं किया। जितनी भी कुटिल राजनीति सम्भव हो सकती थी, उन सभी का उन्होंने प्रयोग किया। उनके द्वारा देश का धन-धान्य ही नष्ट नहीं हुआ और उन्होंने इस देश की सम्पत्ति को ही नहीं लूटा बल्कि उन साधनों का भी सर्वनाश किया, जिनके द्वारा यह देश फिर सम्पत्ति संग्रह कर सकता था।

पिछले परिच्छेद में भारत की गरीबी और दरिद्रता पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस परिच्छेद में इस बातकी विवेचना की जायगी

कि ब्रिटिश शासकों ने इस देश के व्यवसाय का अन्त कैसे किया। यद्यपि यह देश कृषि-प्रधान देश था। परन्तु उसके साथ-साथ यहाँ के निवासी अनेक प्रकार के दूसरे व्यवसाय भी करते थे। इस देश में घरेलू उद्योग इतने अधिक होते थे, जितने उस युग में कदाचित् ही किसी दूसरे देश में होते रहे हों।

प्राचीन भारत में जो व्यवसाय होता था। वह विभिन्न प्रकार का था। भारत की कारीगरी की प्रशंसा योरप के सभी देशों में होती थी और यहाँ के व्यवसाय के द्वारा जो पदार्थ तैयार होते थे वे सब भारत में तो बिकते ही थे, दूसरे देशों में भी बराबर बिकने के लिए जाया करते थे।

कोई भी देश बिना व्यवसाय के उन्नत नहीं कर सकता। आज संसार के जो देश बहुत उन्नत दिखायी देते हैं, वे अपने व्यवसाय के बल पर ही उन्नति के इतने ऊँचे शिखर पर पहुँच सके हैं। कृषि-व्यवसाय के द्वारा भारतवर्ष खाने-पीने के प्रश्न पर बहुत सुखी था। अपने जीवन-निर्वाह के लिए वह किसी देश पर आश्रित न था।

खाने पीने की जितनी भी चीजें हो सकती हैं, वे सभी इस देश में बहुत अधिक पैदा की जाती थीं। यहाँ तक कि मनुष्यों के खाने के बहुमूल्य पदार्थ इस देश में इतने अधिक सस्ते मिलते थे कि आज उनकी कथाओं को सुन कर आश्चर्य मालूम होता है।

इस देश में पशु-पालन का व्यवसाय बहुत अधिक होता था और उसी के फलस्वरूप इस देश मे दूध और घी जल की भाँति काम में लाया जाता था। आज के भारतीयों के निकट वे सब बातें एतिहासिक कथाओं के रूप में रह गयी हैं।

ये सभी बातें खाने-पीने के सम्बन्ध में हैं। कपड़े का व्यवसाय बहुत उत्तम श्रेणी का इस देश में होता था और इतना अधिक होता था कि वह बिकने के लिए दूसरे देशों के बाजारों में जाया करता था। उस कारीगरी का वर्णन हम आगामी पृष्ठों में करेंगे। यहाँ पर हमें इतना ही प्रकाश डालना है कि इस देश के व्यवसाय का अंत करने के लिए अंगरेजों ने किस प्रकार क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया।

विदेशी माल की वृद्धि कैसे हुई ?

इस देश का व्यवसाय दूसरे देशों में फैला था। लेकिन दूसरे का और विशेषकर योरप के देशों का व्यवसाय हमारे देश में न था। इसलिए यहाँ पर सब से पहले हमें यह जानने की आवश्यकता है कि इस देश मे विदेशी माल की खपत का आरम्भ कैसे हुआ ? उसके बाद दूसरा प्रश्न यह पैदा होता है कि भारत का इतना विस्तृत और प्रसिद्ध व्यवसाय नष्ट कैसे हुआ ?

भारत मे व्यवसाय करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नाम से सन् १६०० ई० मे इंगलैण्ड मे एक कम्पनी बनी थी। वह कम्पनी इंगलैण्ड से रवाना होकर सन् १६०८ में भारत पहुँची। उस कम्पनी के पास ७० हजार पौण्ड थे, जिनको वह व्यवसाय करने के लिए अपने साथ लायी। यह रकम यहाँ के हिसाब से ७ लाख रुपये की होती है।

लगभग एक सौ वर्ष तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी सूरत, बम्बई, मद्रास और भारत के कुछ दूसरे स्थानों मे व्यवसाय करती रही और इतने समय मे उसने बहुत बड़ी सम्पत्ति अपने पास एकत्रित कर ली। सन् १६९० ई० मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने बंगाल मे कलकत्ते की जमीन खरीदी और वहीं पर उन लोगों ने अपने व्यापार का एक बड़ा स्थान कायम किया।

आरम्भिक दिनों मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों के पास खुशामद के सिवा और कुछ न था। वे इस कार्य मे बड़े निपुण थे। इसीलिए इस देश मे आने पर उनको व्यवसाय के लिए इजाजत मिल गयी थी। उन दिनों मे वे ऐसा व्यवहार करते थे कि उनसे कोई कभी अप्रसन्न न होता था। उन्होंने इस देश में एक सौ वर्ष तक ऐसे ढंग से व्यवसाय किया कि उनका कोई भी यहाँ पर शत्रु न बन सका। यही कारण था कि वे अपने व्यापार मे बहुत जल्दी सफल हुए और इस देश के हिन्दुओं और मुसलमानों से उनको कोई असुविधा न मिली।

कम्पनी के अधिकारियों ने अपनी सुविधाओं के लिए मुस्लिम बादशाह के पास अपनी काफी पहुँच बना रखी थी। छोटे अहलकारों से लेकर बादशाह तक—सभी को उन्होंने अनुकूल बनाने में बड़ी चालाकियों से काम लिया था। अभी तक उनको अपनी सभी बातों

के लिए आज्ञा लेनी पड़ती थी। इसलिए कम्पनी के माल को अधिक खपाने, तेज बेचने और भारतीय माल को दबाने के लिए उन लोगों ने नये-नये तरीके ढूँढ़ने आरम्भ किये।

अपनी खुशामद और चालाकी में कम्पनी के अधिकारियों को सफलता मिली। दिल्ली के सम्राट से उन लोगों ने एक ऐसे प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर करवा लिए, जिसके अनुसार बंगाल प्रान्त में कम्पनी का माल बिना किसी प्रकार की चुङ्गी और महसूल के बिक सकता था।

यहीं से भारतीय व्यवसाय की छीछालेदर आरम्भ होती है। यों तो कम्पनी के अधिकारी पहले से ही अपने माल के बेचने में, उसकी अधिक कीमत वसूल करने में और भारतीय व्यापारियों को ठगने में बड़े निपुण थे। देश के व्यवसायी, कम्पनी के आ जाने पर क्षति उठाकर चल ही रहे थे, उस पर भी कम्पनी को बिना कर और महसूल के अपना बेचने का इजाजत मिल गयी।

इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी माल का विस्तार बढ़ने लगा। मुस्लिम बादशाह ने उनके माल के महसूल को माफ कर दिया था। लेकिन कम्पनी के इलाकों में और उनका कोठियों पर जो भारतीय माल जाता था, उस पर कम्पनी की ओर से लम्बे-लम्बे महसूल लगाकर भारतीय माल की बिक्री की जाने लगी। कीमत की अदायगी में भी कम्पनी के अधिकारी बड़ी-बड़ी बेईमानियों से काम लेने लगे।

इन दिनों मे भारतीय माल मंहगाई के साथ इसलिए बिकने लगा कि उस पर कम्पनी ने लम्बे कर लगा दिये थे और उसके मुकाबिले में विदेशी माल इसलिए सस्ता हो रहा था कि उस पर किसी प्रकार का महसूल न था। इसका फल यह हुआ कि विदेशी माल अच्छा और टिकाऊ न होने पर भी केवल सस्तेपन के कारण देश में अधिक बिकने लगा और भारतीय माल की खपत एक साथ कम हो गयी।

कम्पनी की इन चालों का परिणाम यह हुआ कि भारतीय व्यवसाय गिरने लगा। व्यवसायी और कारीगर अपना काम बन्द करने लगे। देश, विदेशी माल का धीरे-धीरे आश्रित होने लगा। यह हानि न केवल भारतीय प्रजा की हुई, बल्कि देश की सरकार की आमदनी बहुत घट गयी। इसलिए कि विदेशी माल पर जो महसूल लगता था, वह बन्द हो गया था।

कुछ ही समय में भारत के बढ़े हुए व्यवसाय का पतन हुआ। देश के व्यवसायियों की शिकायतें बादशाह के पास पहुँचने लगीं। नवाब मीर कासिम ने जब इन तमाम बातों की जाँच की तो उसको बहुत आश्चर्य हुआ। इसके भयानक परिणाम को सोचकर उसने कोशिश की कि अंगरेजी माल पर फिर से महसूल लगाया जाय, परन्तु कम्पनी के अधिकारियों की कुटिल चालों के कारण मीर कासिम को सफलता न मिली।

देश की व्यावसायिक अवस्था इन दिनों मे बहुत खराब हो गयी थी। मीरकासिम जब अपने प्रयत्नों मे सफल न हुआ तो उसने विवश होकर देशी माल पर से भी महसूल हटा दिया। इसका प्रभाव देशी व्यवसायियों पर अच्छा पड़ा। यद्यपि मुस्लिम शासक की बड़ी हानि हुई। अंगरेजी माल से महसूल मिलना तो बन्द ही था। देशी माल पर भी महसूल मिलना बन्द हो गया।

नवाब मीरकासिम ने सरकारी खजाने की हानि उठाकर भी न्याय और ईमानदारी मे काम लेने का निश्चय किया। परन्तु कम्पनी को यह सहन न हुआ। देशी माल पर कम्पनी का जो आधिपत्य चल रहा था, वह कम होने लगा। देशी माल की खपत इसलिए फिर बढ़ने लगी कि वह बहुत अंशों में विशुद्ध होता था और महसूल हट जाने के कारण उसकी क मत भी मुनासिब हो गयी थी।

परन्तु बंगाल की यह अवस्था अधिक दिनों तक चल न सकी। कलकत्ते के अंगरेज व्यापारियों ने मीरकासिम के उस न्याय पूर्ण व्यवहार का प्रतिवाद किया और अपनी कुटिल नीति के द्वारा वे इस बात की कोशिश करने लगे कि मीरकासिम देशी माल पर फिर से महसूल कायम कर दे।

अंगरेज व्यापारी मीरकासिम से मिले भी और अनुरोध करने के साथ-साथ उन्होंने नवाब मीरकासिम पर जोर भी डाला। लेकिन उनका अनुरोध न्यायसंगत न था, इसलिए नवाब ने उसको मानने से इनकार कर दिया। फल यह हुआ कि मीरकासिम खैरियत के साथ बैठ न सका। अंगरेज व्यापारियों ने नवाब के विरुद्ध एक चक्रव्यूह तैयार किया। उसमें मीरकासिम को युद्ध करना पड़ा। परन्तु उस

लड़ाई में न्याय-परायण नवाब मीरकासिम को सन् १७६३ ई० में पराजित होकर भागना पड़ा।

मीरकासिम के स्थान पर मीरजाफर को नवाब बनाया गया। ऐसा करने में कम्पनी के अंगरेजों ने मीरजाफर की सहायता की थी और उसी सहायता के बल पर मीरजाफर को नवाब होने का अवसर मिला था। इसलिए कलकत्ते के अंगरेज व्यापारियों के सम्बन्ध में स्वयं मीरजाफर कुछ कह न सकता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि नवाब मीरकासिम के समय में अंगरेज व्यापरियों की उन्नति के जो रास्ते बन्द थे वे फिर खुल गये। मीरजाफर अंगरेज व्यापारियों को खुश करने में लगा रहता था और उन अंगरेजों ने बंगाल में व्यापार के नाम पर दिन-दहाड़े लूट आरम्भ कर दी।

कम्पनी के नौकर देशी व्यवसायियों और कारीगरों से अत्यन्त क्रूर व्यवहार करने लगे। वे लोग कम्पनी को ही अपना माल देने के लिये विवश किये गये और जो माल कम्पनी देशी व्यवसायियों से लेती थी, उसकी कीमत का निर्णय करना, अंगरेज व्यापरियों का काम था। यह अत्याचार यहाँ तक बढ़ गया था कि देशी व्यापारियों से माल लेकर, कम्पनी के नौकर जो कुछ उसका मूल्य दे देते थे, देशी व्यापारी लाचार हो उतना ही लेकर संतोष कर लेते थे। इसलिए कि उसकी कहीं सुनवाही न थी।

कम्पनी के अत्याचार

मीर कासिम के स्थान पर मीर जाफर नवाब हुआ, लेकिन इन नवाबों का प्रभाव घटता जा रहा था और कम्पनी के अधिकारियों का प्रभाव बढ़ता जाता था। मीर कासिम के शासन-काल में नवाब को जो अधिकार थे, वे भी मीरजाफर के नवाब होते ही समाप्त हो गये?

प्रजा से लेकर राजाओं और नवाबों तक, कम्पनी के अधिकारियों के जो कलुषित व्यवहार रहे और जिस प्रकार के अत्याचारों के द्वारा उन लोगों ने इस देश को अपना गुलाम बनाया, उनके विस्तारपूर्वक वर्णन इस पुस्तक में दिये जा चुके हैं। यहाँ पर संक्षेप में इस बात पर प्रकाश डालना है कि आरम्भ से लेकर अन्त तक इस देश में अंगरेजों का जो शासन रहा, उसमें इस देश का किस प्रकार सत्यानाश हुआ।

कम्पनी के लोग इस देश के व्यवसाय के सम्बन्ध में जितना अत्याचार करते थे। इसको मीर कासिम भली प्रकार समझता था। परन्तु अंगरेजों की कुटिल नीति से घबराने के कारण उसे बहुत कुछ खामोश रहना पड़ता था। इसी प्रकार के विवरण देते हुए उसने अपने एक पत्र में लिखा था—

"इस देश के व्यापारियों के घरों में अंगरेज जबरदस्ती घुस जाते हैं और उनका माल अपने अधिकार में कर लेते हैं। उसकी कीमत में वे इतनी कम रकम देते हैं कि जो वास्तविक मूल्य का चौथाई भाग भी नहीं पड़ता।"

"मूल्य न देना पड़े, इस उद्देश्य से देशी माल को जबरदस्ती लेकर वे अनेक प्रकार के दोष निकालते हैं, जिससे यहाँ के व्यापारियों को उसके मूल्य से भी वंचित होना पड़ता है। इसके साथ-साथ वे लोग यहाँ के व्यापारियों और प्रजा के गले वे विलायती माल जबरदस्ती मढ़ते हैं। विलायती माल के मूल्य में इस देश के लोगों को चार गुनी और पाँच गुनी कीमत अदा करनी पड़ती है। हमारे कर्मचारियों के साथ इतने भयानक अत्याचार होते हैं। जिससे वे लोग कुछ कर नहीं पाते। इन अत्याचारों के कारण देश की अवस्था बड़ी भयानक हो गयी है और हमारी आमदनी में पचीस लाख रुपये की वार्षिक घटी आ गयी है।"

देश के व्यापारियों और कारीगरों के साथ व्यापारी अंगरेजों के अत्याचारों का वर्णन करते हुए ब्रेगो नामक एक अंगरेज ने लिखा है—

"कम्पनी के नौकर गावों में जाकर वहाँ के रहने वालों की इच्छा के विरुद्ध उनको विलायती माल खरीदने और अपना माल बेचने के लिए विवश करते हैं। उनकी आज्ञा न मानने पर लोगों को बेतो से पीटा जाता है और उन्हें जेलों में बन्द कर दिया जाता है। अत्याचार तो यहाँ तक होता है कि भारतीय व्यापारी अपना माल कम्पनी के सिवा किसी दूसरे को बेच नहीं सकते। इसके लिए उनको आज्ञा दी जाती है। भारत के व्यापारियों का माल लेकर, माल की कीमत बहुत कम अदा की जाती है। बहुत कुछ तो यह भी होता है कि उनको मूल्य मिलता ही नहीं है।"

इस प्रकार के अत्याचारों से घबराकर भारत के व्यापारी अपने

गांव से भाग जाते हैं। बाकर गंज का जिला इन अत्याचरों के कारण ही धीरे-धीरे खाली हो रहा है। व्यापारियों के भाग जाने के कारण जब वहाँ के बाजारों मे अंगरेज व्यापारियों को माल नहीं मिलता, तो कम्पनी के नौकर प्रजा के साथ बड़ा अत्याचार करते हैं।"

इस प्रकार के अत्याचार केवल बाकरगंज मे ही न हो रहे थे बल्कि सम्पूर्ण बंगाल का प्रान्त अंगरेज व्यापारियों के शिकार का क्षेत्र बन गया था। उन अत्याचारों से ऊबकर ढाका के कलेक्टर मोहम्मद अली ने अंगरेज व्यापारियों के अत्याचारों पर सन् १७६२ मे कलकत्ते के गवर्नर को पत्र लिखा था। उसमे लिखा था—

"कम्पनी के नौकर ढाका और लक्ष्मीपुर के इलाके के रहने वालों को तम्बाकू, रुई, लोहा और दूसरी चीजें बाजार-भाव से बहुत महँगी खरीदने के लिए मजबूर करते हैं। कीमत वसूल करने में बहुत सख्ती की जाती है। कम्पनी के नौकरों की खूराक के लिए वहाँ के रहने वालों से रकम वसूल की जाती है। इस प्रकार के अत्याचारों के कारण यहां का व्यापार खतम होता जा रहा है।"

"कम्पनी के गोरे लोग जब गाँव और बाजारों में जाते हैं तो उनके साथ बदमाशों का एक गिरोह होता है। वे बदमाश बिना किसी कारण के लोगों से झगड़ा करते हैं। उनका माल जबरदस्ती ले लेते हैं। महसूल वसूल करने के लिए गाँवों और बाजारों मे चुंगी-घर बनवाये गये हैं। गरीब प्रजा के घरों में घुसकर कम्पनी के नौकर सभी प्रकार की चीजों की लूट करते हैं। इन अत्याचारों से देश सत्यानाश हो रहा है। प्रजा में घबराहट बढ़ गयी है।"

कारीगरों पर क्रूरता

मेयर-कोर्ट के जज मि० विलियम बोल्टस ने एक पुस्तक लिखी है। उस पुस्तक में इस प्रकार के अत्याचारों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"बंगाल में अंगरेज व्यापारियों के अत्याचर बहुत बढ़ गये हैं जिसका फल भारत के जुलाहों और कारीगरों पर बहुत बुरा पड़ा है उस देश के व्यवसाय को अंगरेजों ने अपनी मुट्ठी मे बांध रखा है कारीगरों को कितने माल पर कितनी मजदूरी दी जायगी, इसक

निर्णय अंगरेज व्यापारी स्वयं करते हैं। इसी के फलस्वरूप वहाँ के कारीगरों को कम्पनी के नौकरों के पास बुलाया जाता है और माल तैयार करने की शर्तें और कीमतें लिखाकर कारीगरों के दस्तखत करा लिए जाते हैं। कारीगरों को कोई अधिकार नहीं होता कि वे उन शर्तों को मानने से अथवा दस्तखत करने से इनकार करें।"

"माल तैयार करने के लिए कारीगरों को बयाने के रूप में रुपया दिया जाता है। अगर वे बयाना नहीं लेते तो उनके कपड़ों में बयानों का रुपया जबरदस्ती बाँध दिया जाता है। इस पर यदि वे कुछ करते हैं तो कम्पनी के सिपाही उनको चाबुक से मारते हैं। कारीगरों से यह लिखवा लिया जाता है कि वे किसी दूसरे का काम नहीं कर सकते। माल लेने के बाद उसकी परीक्षा की जाती है और यह कह कर कि उनका माल अच्छा नहीं है, कम्पनी के निश्चय किये हुए दामों में भी कमी की जाती है। इकारारनामे के अनुसार जब कारीगर माल तैयार नहीं कर पाते तो माल के अभाव में कम्पनी अपने नुकसान का हिसाब लगाती है और उस नुकसान को, काम पूरा न कर सकने वाले कारीगरों से पूरा किया जाता है। इस मुआवजे में कारीगरों के घरों और उनके गृहस्थी के सामान को बेचकर रकम बसूल की जाती है। जिन लोगों से ऐसा करने पर भी पूरी रकम वसूल नहीं होती उनके साथ भयानक अत्याचार किये जाते हैं। इन जुल्मों से बचने के लिये जब कारीगरों को कोई रास्ता नहीं मिलता तो वे अपने अँगूठे काट कर अथवा हाथों का कोई भाग, अंग-भंग करके अपनी मजबूरी जाहिर करते हैं।"

नन्दकुमार की शत्रुता

कारीगरों और प्रजा के साथ कम्पनी के नौकर जो अत्याचार करते थे। उनका विरोध करने के लिए किसी में साहस न था। परन्तु महाराज नन्दकुमार कम्पनी के नौकरों का कभी-कभी विरोध कर बैठते थे। उन्होंने नवाब के पास अंगरेज व्यापारियों के कलुषित कारनामों को बार-बार लिख कर भेजा, लेकिन उसका कोई परिणाम न निकला। हुआ यह कि विरोध करने के कारण नन्दकुमार, कम्पनी के शत्रु बन गये और अपने इसी अपराध के कारण उनको एक दिन फाँसी की सजा दी गयी।

बंगाली और अंगरेज

कलकत्ते के अंगरेज व्यापारियों के अत्याचार बंगाल में सर्वत्र फैल चुके थे। इन अत्याचारों का श्री गणेश व्यवसायियों के साथ आरम्भ हुआ था और उसके बाद कारीगरों तक भयानक रूप से पहुँचा था। लेकिन यहीं तक उसका अंत न था। कम्पनी के नौकरों से साधारण प्रजा रोज ही तबाह की जाती थी। उनकी फरियादों के लिए न कोई हाकिम था और न कोई सरकार थी। नतीजा यह हुआ कि प्रजा दिन-पर-दिन निर्बल होती गयी।

अनेक बहानों से अंगरेज व्यापारी प्रजा को लूटा करते। लोग न तो उनका मुकाबिला कर सकते और न शिकायत के लिए कोई स्थान था। इसलिए डरने और भागने के सिवा लोगों के पास और कोई रास्ता न था। यह परिस्थिति इतनी भयानक हो गयी थी कि उसे शब्दों में यहाँ पर ठीक-ठीक बताना एक प्रकार से असम्भव-सा है।

इसलिए इस विषय को अनावश्यक विस्तार न देकर अंगरेजों के उद्धरण देकर हम बताना चाहते हैं कि अंगरेजों और बंगालियों के बीच व्यावहारिक परिस्थिति कितनी भयानक हो गयी थी। लार्ड मेकाले ने बंगाल की इन परिस्थितियों का अध्ययन किया था और निष्पक्ष हो कर लिखा था —

"भेड़िए के साथ बकरी का जो सम्बन्ध होता है, अथवा राक्षस के साथ मनुष्य का जो सम्बन्ध होता है, वही सम्बन्ध अंगरेजों के साथ बंगाली लोगों का हो गया है।"

लार्ड मेकाले की इन पंक्तियों से कोई भी मनुष्य इस बात का अनुमान लगा सकता है कि अंगरेज व्यापारियों का कितना क्रूर व्यवहार इस देश के स्त्री-पुरुषों के साथ था।

इस प्रकार के अत्याचारों के कारण किस भी देश का व्यापार और व्यवसाय जीवित रह सकता है, यह असम्भव है। भारत के व्यवसाय का भी वही हाल हुआ। बंगाल का शिल्प-व्यवसाय दिन-पर दिन गिरता जा रहा था। बंगाल के बाजारों में उसको बेचने के लिए बंगाली कारीगरों और व्यापारियों को प्रति सैकड़ा पचास रुपये का घाटा उठाना पड़ता था। इसके कारण कारीगरों को अपने परिश्रम

के बदले में इतनी कम मजदूरी मिलती थी कि जिससे उनका जीवन-निर्वाह न हो सकता था। इसलिए कारीगरों ने अपना कार्य छोड़ रखा था और दूसरे तरीकों से वे अपना और अपने परिवार का पालन करने की कोशिश करते थे।

अंगरेज व्यापारियों की नीयत

देश की इस गिरती हुई अवस्था में भी देशी व्यवसाय का अंत न हुआ था। विदेशी माल के मुकाबिले में वह सम्मान के साथ इसलिए बिकता था कि वह सुन्दर, टिकाऊ और मजबूत होता था। लेकिन बाजार मे देशी माल का आना बराबर कम होता जाता था। इस लिए कि मजदूरी न मिलने के कारण कारीगर अपना काम छोड़ते जाते थे।

इतना सब होने पर भी अंगरेज व्यापारियों का अभिप्राय पूरा न होता था। वे चाहते थे कि यदि देशी माल का तैयार होना बन्द हो जाय तो विलायती माल की खपत और भी अधिक हो सकती है। अपनी इस नीयत से अंगरेज व्यापारी भारतीय माल पर बराबर महसूल बढ़वाने की चेष्टा किया करते।

सच्चाई से कोई कहाँ तक इनकार करेगा। भारत की व्यावसायिक अवस्था का पता लगाने के लिए इंगलैण्ड मे एक कमीशन नियुक्त किया गया। वारेन हेस्टिंग्ज, सर टामस मनरो, सरजान मेलकम तथा कुछ अन्य महानुभाव उसके सदस्य चुने गये। ये सभी लोग भारत की परिस्थिति से परिचित थे।

इस कमीशन के सदस्यों ने स्वीकार किया है कि—"विलायती माल की अपेक्षा भारत का माल कई गुना अच्छा होता है। भारत की बनी हुई शालें इतनी अच्छी होती हैं कि अनेक वर्षों तक प्रयोग करने पर भी उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। ऐसी दशा में विलायती माल की अधिक खपत भारत में सम्भव नहीं मालूम होती।"

कमीशन के इस प्रकार रिपोर्ट देने पर भी अंगरेज व्यापारी अपनी चालें चलते ही रहे। भारतीय व्यवसाय का अन्त करने के लिए वे विलायती माल को श्रेष्ठ बनाने की बात सोचते थे। उनको एक ही रास्ता दिखाई पड़ता था कि भारतीय माल पर अधिक चुंगी ली

जाय, दूसरे महसूल बढ़ाये जाँय और वहाँ के कारीगरों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाय जिससे वहाँ का माल तैयार ही न हो सके।

अपने अत्याचारों के बल पर भारत के अंगरेज व्यापारियों को इसमे सफलता मिल चुकी थी कि हिन्दुस्तान में कारीगर और व्यवसायी, कम्पनी को छोड़कर और किसी को अपना माल नहीं बेच सकते।

कम्पनी के अधिकारी भारतीय माल को किस प्रकार लेते थे और कारीगरों का किस प्रकार अन्त करने में लगे थे, इस पर पहले ही लिखा चुका है। भारतीय माल को कम्पनी लेकर विलायत भेजती थी और वहां पर उस माल पर प्रति सैकड़ा सत्तर रुपये से लेकर अस्सी तक महसूल लिया जाता था। इस देश के माल को रोकने के लिए अंगरेजों के इस प्रकार घातक कानून चल रहे थे और भारत में जो विलायती माल आता था उसमें न कोई चुंगी थी और न महसूल था। इसलिए अच्छा न होने पर भी विलायती माल भारत में सस्ता होकर बिकता था। लेकिन यह सस्ती लोगों को महँगी हो जाती। इसका प्रमुख कारण यह था कि विलायती माल का मैटीरियल अच्छा नहीं था। लेकिन भारतीय व्यापारियों को विलायती माल लेना पड़ता था। सस्ते दामों में अपना उत्तम माल देकर अगर वे विलायती माल न लेते तो अपने माल की कीमत से भी उनको हाथ धोना पड़ता।

अंगरेज व्यापारी भारत का जो माल लेते थे, उससे कई गुना अधिक विलायती माल भारतीय व्यवसायियों को बेचते थे और बड़ी क्रूरता के साथ उस माल की वे कीमतें वसूल करते थे। इसके फल-स्वरूप भारत के व्यवसायी अपने काम को बन्द करते जाते थे और कारीगर अपनी शिल्प-कला को छोड़कर जीवन-निर्वाह का दूसरा रास्ता खोज लेते थे। भारत के उस बढ़े हुए व्यवसाय का इस प्रकार अन्त होता जा रहा था।

देशी और विलायती माल

देशी कारीगरों का दिन-पर-दिन अभाव होने लगा। वे लोग अपना घर-द्वार छोड़कर भाग जाते और दूर कहीं जा कर, किसी नये काम में लग जाते। देशी व्यवसायियों के पास भी देशी माल की बराबर कमी होती गयी। इस पर अंगरेज व्यवसायियों के अत्याचार

कम न होते। अपना काम छोड़ देने वाले कारीगरों को कम्पनी के नौकर जबरदस्ती अंगरेजी-कोठियों में पकड़कर ले जाते और जबरदस्ती उनसे काम लेते।

लेकिन यह सब कितने दिन चल सकता था। देशी कारबार का अन्त होना ही उसका एक मात्र परिणाम था। वही हो रहा था। देशी माल का उत्पादन समाप्त होने पर आ गया और विलायती माल से भारतीय बाजारों को भर दिया गया।

सन् १६०८ ई० में अंगरेज व्यापारी भारत में आये थे और उसके बाद से ही अपना व्यापार उन्होंने आरम्भ कर दिया था। उन लोगों ने जिस प्रकार भारतीय व्यवसाय का अन्त किया और विलायती माल से इस देश को भर दिया उस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। इन दिनों में विलायती माल की किस कदर वृद्धि हुई, उसके सम्बन्ध में इतना ही लिखना काफी होगा कि भारत मे विलायत का जो सूती कपड़ा सन् १७९४ ई० मे केवल १५६ पौण्ड का आया था, वही सन् १८०९ ई में एक लाख अठारह हजार चार सौ पौण्ड का भारत में आया। इस देश में विलायती माल की खपत कितनी तेजी से बढ़ रही थी, उसका यह एक उदाहरण है।

अधिक से अधिक संख्या मे विलायत का माल भारत मे आ रहा था और भारत मे बनने वाले माल का अन्त हो रहा था। समुद्र पार के जिन देशों के बाजारों मे भारत के माल की धूम थी वहाँ पर भारतीय माल का कहीं पता न लगता और विदेशी व्यापारी उसके लिए दिन-पर-दिन मजबूर होने लगे।

अभी तक भारत में ईस्ट इंण्डिया कम्पनी ही विलायती माल बेचती थी। सन् १८१६ ई० से इंगलैण्ड के सभी व्यापारी भारत में व्यवसाय करने लगे। अब इस देश मे विलायती माल के अधिक आने में क्या रुकावट थी। हुआ यह कि सन् १८२१ ई० में भारत में विलायती माल की खपत साढ़े पैंसठ लाख पौण्ड अर्थात् साढ़े छः करोड़ रुपये की हुई।

अंगरेज व्यापारियों के आने के पहले भारत का बना हुआ माल अमेरिका, डेन मार्क, स्पेन, पुर्तगाल और दूसरे देशों में जाया करता था। वह अब करीब-करीब बन्द हो रहा था। सन् १८०१ में भारतीय

कपड़े की १३६३३ गाँठें केवल अमेरिका गयी थीं। सन् १८२९ ई० में वह संख्या घट कर केवल २५८ गाँठों में ही रह गयी। सन् १८०० तक प्रति वर्ष डेन मार्क में इस देश से लगभग १५०० गाँठें जाया करती थीं, लेकिन उसके बाद कुछ ही वर्षों मे जो कपड़ा वहाँ जाने लगा, उसकी संख्या १५० गाँठों से अधिक न रही।

इसी प्रकार सन् १७९९ ई० तक पुर्तगाल में प्रति वर्ष लगभग ९७१४ गाँठें जाया करती थीं। परन्तु सन् १८२५ तक उनकी संख्या घट कर बहुत कम हो गयी। अरब और ईरान तथा उसके आस-पास के बाजारों में प्रति वर्ष ७००० और ८००० गाँठें तक जाया करती थीं। किन्तु आगे चलकर उन सब बाजारों में २००० गाँठों का पहुँचना भी मुश्किल हो गया।

प्राचनी भारत में कृषि-व्यवसाय के साथ-साथ अन्य व्यवसाय भी बड़ी उन्नति के साथ चल रहे थे। इस देश का घरेलू व्यापार इतनी तरक्की पर था कि उसके कारण यह देश सभी प्रकार सम्पन्न हो रहा था।

देहातों से लेकर शहरों तक लाखों स्त्रियाँ सूत कात कर अपनी अच्छी आमदनी करती थीं। कोरी और जुलाहे कपड़ा बुनने के कारण मालामाल हो रहे थे। भारत के कितने ही स्थानों मे टसर का व्यवसाय बहुत अच्छा चल रह था। घरेलू उद्योग और व्यवसाय के कारण इस देश में किसी के सामने रुपये का अभाव न रहता था। सभी लोग—छोटे-से-लेकर बड़े तक और स्त्रियों से लेकर पुरुषों तक—अपने-अपने उद्योग मे लगे रहते थे। इससे उनकी खासी आमदनी होती थी।

देश मे सभी चीजें सस्ती थीं। जीवन-निर्वाह के सभी साधन अत्यन्त सुलभ हो रहे थे। अन्न का भाव बहुत सस्ता था। साढ़े सैंतीस सेर से लेकर, एक मन से ऊपर तक अच्छा चावल एक रुपये मे मिलता था। दूध और घी इतना सस्ता था कि प्रत्येक गरीब से गरीब आदमी उस समय अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक खाता पीता था।

इस देश मे विभिन्न प्रकार के व्यवसाय होते थे। शिल्प कला का घर-घर प्रचार था। देश मे सम्पत्ति की कमी न थी। इस लिए किसी भी व्यवसाय के उन्नत होने मे देर न लगती था। इतना सब होने पर भी देश के निवासियों का जीवन अत्यन्त सादा और साधारण था। एक अंगरेज ने हाउस आफ कामन्स मे कहा था कि

"भारतीय कारीगर अपने देश में केवल तीन-चार रुपये महीने की आमदनी पर सुख का जीवन बिताते हैं।"

उस अंगरेज का कहना सही था। इस देश का प्राचीन जीवन इसी प्रकार का था। प्रत्येक वस्तु बहुत सस्ती बिकती थी। कृषि का व्यवसाय बहुत उन्नत था। इसीलिए किसी भी प्रकार का अभाव कोई जानता ही न था

देश में घरेलू उद्योग का इतना अधिक प्रचार था कि इस देश का कोई भी आदमी कभी बेकार न रहता था। परन्तु अंगरेज-व्यापारियों के आते-आते भारत का सौभाग्य-सूर्य पश्चिम की ओर चलने लगा। सम्पति के लुट जाने से देश गरीब हो गया। कृषि-व्यवसाय और दूसरे व्यापार के नष्ट होने से भारत दरिद्रता की सीमा पर पहुँच गया!

अंगरेज व्यापारियों के अत्याचार

भारत में अंगरेज व्यापारियों ने जिस प्रकार अत्याचार किये, उनकी आलोचनायें स्वयं निष्पक्ष अंगरेजों ने इतनी अधिक की हैं कि उन सब को यहाँ पर दिया नहीं जा सकता। कुछ थोड़े-से उदाहरणों को यहाँ पर दे देना ही हमने काफी समझा है।

अंगरेज व्यापारियों के अत्याचारों का इतिहास बहुत बड़ा है। कम्पनी के नौकरों से लेकर अधिकारियों तक, उनके कलुषित और और क्रूर व्यवहारों की कथायें यदि यहाँ पर लिखी जाँय, तो बहुत अधिक पन्ने उन्हीं से इस पुस्तक के भर जायेंगे।

इसलिए अनावश्यक विस्तार को हमने बचाने की कोशिश की है। और इस बात की भी कोशिश की है कि कोई विवरण बार-बार न आने पावे किन्तु कुछ ऐसे स्थल आजाते हैं, जहाँ उन पर कुछ आवश्यक बातों को लेकर प्रकाश डालना पड़ता है। अंगरेज व्यवसायियों ने भारत को गरीब बनाकर उसके निवासियों को विवशता का जीवन बिताने के लिए किस प्रकार की अत्याचार पूर्ण चालों से काम लिया है, उनके सम्बन्ध में इतिहासकार विलसन की कुछ पंक्तियाँ यहाँ पर देना आवश्यक मालूम होता है। विलसन ने लिखा है—

"भारत की कारीगरी और उसके व्यवसाय को अन्यायपूर्ण ढङ्ग से मिटा कर यदि अनुचित लाभ न उठाया गया होता तो इंगलैण्ड

के कारखानों ने इतनी बड़ी तरक्की न की होती, जितनी बड़ी वे कर सके। कलों से चलने वाले विलायत के कारखानों को भारत की कारगरी का मुकाबिला करना कठिन था। सही बात यह है कि भारत के व्यवसाय को मिटाकर बिलायती व्यवसाय को उन्नति दी गयी है। भारत का यह विध्वंस उसकी पराधीनता के कारण हुआ। अंगरेज व्यापारियों ने भारत को इस योग्य नहीं रखा कि वह अपने शिल्प और व्यवसाय पर अपना निर्वाह कर सके। सत्य तो यह है कि विदेशी माल और व्यवसाय पर निर्भर होने के लिए भारत को मजबूर किया गया है।"

इतिहासकार विलसन की तरह के निष्पक्ष विद्वानों ने साफ-साफ इस बात को स्वीकार किया है कि ब्रिटिश-शासन के द्वारा भारत का सभी प्रकार विनाश किया गया। इस देश के व्यवसाय पर अंगरेज व्यापारियों के जो अत्याचार हुए, उनका फल यह हुआ कि भारतीय कारीगरी, शिल्प और व्यवसाय का सर्वनाश हो गया। देश अपनी सभी जरूरतों के लिए विदेशियों का मुँह ताकने लगा। परतन्त्रता के भीषण प्रहार का जो परिणाम होना चाहिए, वह सब देश के सामने आया।

संसार मे सदा से व्यावसायिक प्रतिद्वन्दिता चली आयी है। व्यवसाय मे उन्नति करने वाला देश ही अपनी उन्नति कर सका है। इसके लिए स्वतन्त्र जीवन होना चाहिए। परतन्त्रत देशों का व्यवसायिक पतन स्वाभाविक होता है। कोई एक देश जब किसी दूसरे देश को अपना गुलाम बनाना चाहता है तो उसे वह गरीब, दरिद्र और मोहताज बनाने की कोशिश करता है। उसके जीवन की यह विवशता जितनी ही बढ़ जाती है, उतना ही अधिक गुलामी में रहने के लिए वह मजबूर हो जाता है। अंगरेज व्यापारियों ने भारत मे भी यही किया।

———

चौथा परिच्छेद

निर्धन भारत पर व्यय का भार

ब्रिटिश-शासन में आरम्भ से लेकर अन्त तक, जिस प्रकार इस देश का रक्त चूसा गया, उसका इतिहास अत्यन्त रोमाञ्चकारी है। एक पुरानी कहावत है 'अन्धे पीसें कुत्ते खांय', भारत की कुछ अजीब दशा हो रही थी।

इंगलैण्ड में जब ईस्ट इंडिया-कम्पनी का निर्माण हुआ था, उस समय उसके निर्माताओं को इन सब बातों का अनुमान और अनुभव न था। यह बात जरूर है कि उस कम्पनी मे जो अंगरेज भारत आये थे, वे इंगलैण्ड के चुने हुए कलुषित आत्मा के आदमी थे। लेकिन वे आये थे, भारत की सम्पत्ति का नाम सुनकर, वे यहा आकर व्यवसाय की सभी चालाकियों से लाभ उठाना चाहते थे ?

परन्तु भारत आने पर और यहाँ की राजनीतिक अव्ययस्था को देखकर अंगरेज व्यापारियों ने भली प्रकार यह समझ लिया कि इस देश को लूटने और इसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने अधिकार मे तो की ही जा सकती है, किन्तु इस देश में ब्रिटिश-शासन भी आसानी के साथ कायम किया जा सकता है।

देश की जितनी भी परिस्थितियाँ थीं अंगरेज व्यापारियों ने उनका अध्ययन किया। यहाँ के राजाओं और नवाबों से उन्होंने जैसा चाहा वैसा काम लिया। इस देश का शासन कितने ही टुकड़ों में बंटा हुआ था। सभी शासक एक दूसरे से ईर्षा का भाव रखते थे। यहाँ पर न तो एकता थी और न राष्ट्रीयता। शासकों को राजनीति का ज्ञान न था। सर्वसाधारण से लेकर, शासकों तक में धार्मिक प्रेरणा ही काम करती थी। आपस के द्वेष में गैरों की सहायता का मुँह भी ताकना पड़ता है।

देश की इन्हीं परिस्थितियों मे अंगरेजों ने यहाँ आकर व्यापार आरम्भ किया और धीरे-धीरे अपने पैर जमाकर उन्होंने अपनी राज-

नीतिक चालों का सहारा लिया। उन्हें बराबर सफलता मिली। इस देश के शासकों की जितनी ही निर्बलता का उनको ज्ञान हुआ, उतना ही अधिक उन्होंने लाभ उठाया। व्यवसाय के नाम पर विदेशी व्यापारियों की जिस प्रकार इस देश में लूट हुई, उसका वर्णन पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है।

देश के दुर्भाग्य से इस देश में अंगरेजी शासन कायम हुआ, हुकूमत के सिलसिले में शासकों ने इस देश से किस प्रकार लाभ उठाया और यहाँ की सम्पत्ति खींचकर किस प्रकार वे अपने देश ले गये, इसी विषय मे यहाँ पर प्रकाश डाला जायगा।

आरम्भ से लेकर अन्त तक इस देश में अंगरेजों का जैसा शासन था, उससे उनके स्थायीत्व का अनुमान न होता था। यदि कोई शासक न्याय छोड़कर, केवल अन्याय पर ही कमर कस लेता है, तो उसके शासन का अन्त जल्दी ही होता है, प्रकृति का ऐसा नियम है।

अंगरेजी शासन मे अन्याय की ही प्रधानता थी। कदाचित उन्होंने अधिक समय तक शासन करने की बात ही न सोची थी। वे चाहते यह थे कि जैसे भी हो सके इस देश का सर्वस्व अपहरण किया जाय। यद्यपि ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों के मुँह से कभी-कभी ऐसी बाते भी निकल जाती थीं, जिनसे पता चलता था कि वे ऐसा कोई दिन नहीं देखना चाहते जब भारत से ब्रिटेन के शासन का सम्बन्ध टूट जाय। भारत जैसे पुराने देश मे अधिक-से-अधिक समय तक अंगरेजों का शासन चलता। इस देश की पुरानी रूढ़ियाँ ही यहाँ के स्वाभिमान के विरुद्ध थी। यह देश उस युग का बढ़ा हुआ देश था, जब धार्मिकता को ही महानता दी जा रही थी। मुस्लिम शासकों ने भी-उसी प्रणाली को जीवित रखा। आज के युग मे इस प्रकार का कोई देश अधिक दिनों तक स्वतंत्र नहीं रह सकता। इसलिए अंगरेजी-शासन कायम होने में देर न लगी और राजनीति की कुटिल चालों से तुरन्त उनको सफलता मिली।

शासक होने के बाद अंगरेजों ने न्याय पूर्ण व्यवस्था को महत्व नहीं दिया। उनके शासन सम्बन्धी अन्याय स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं और उनके इसी प्रकार के व्यवहारों और कारनामों के उद्धरण देकर इस परिच्छेद को हम समाप्त कर देना चाहते हैं।

भारत मे अंगरेजों के वेतन

भारत की सम्पत्ति को इंगलैण्ड ले जाने के लिए अंगरेजों का पहला आक्रमण व्यावसायिक था। दूसरा आक्रमण सरकारी आय थी। इसका विवरण देने के पहले हमे देख लेना है कि ब्रिटिश-शासकों ने अंगरेजों को वेतन पर भारत बुलाकर किस प्रकार इस देश की सम्पत्ति का अपहरण किया।

इस पुस्तक मे स्थान-स्थान पर यह बताया जा चुका है कि राजाओं और नवाबों के खजानों से रुपये निकालने में अंगरेज शासकों ने किस प्रकार की नीति से काम लिया था। यह लिखा जा चुका है कि कम्पनी के अधिकारी जिस कदर रुपये चाहते थे, राजाओं और नवाबों के खजाने से ठीक वैसे ही ले आते थे जैसे कोई कुए अथवा तालाब या किसी दूसरे जलाशय मे जाकर उतना पानी भर लाता है, जितना वह अपनी शक्ति के अनुसार ला सकता है।

यह अंधेर अंगरेजों का, देश में बराबर चलता रहा। इस अंधेर की अनेक सूरतें थीं, सभी का अंगरेज उपयोग करते थे। उनको यहाँ पर दोहराने की आवश्यकता नहीं है। सन् १८६० ई० के बाद इस देश मे गोरे अफसरों की वृद्धि होने लगी और उनके वेतनों में बड़ी-बड़ी रकमों का वसूल करना आरम्भ हुआ।

भारत के बाहर, एशिया के किसी भाग मे अथवा अफ्रीका में, कहीं भी जहाँ अंगरेजों को अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए रुपये खर्च करने पड़ते, वे सब भारत से वसूल किये जाते। इस प्रकार के खर्चों का भार इस देश पर लादना तो ब्रिटिश-शासकों के लिए साधारण बात थी।

इंगलैण्ड का जो अंगरेज इस देश में आता, वह शासक बन कर ही आता और यह समझ कर आता कि उसे इस देश से इतनी अधिक सम्पत्ति लेकर जाना है जिससे उसकी और उसके परिवार की जिन्दगी का निर्वाह सुख के साथ हो सके।

इंगलैण्ड के योग्य अंगरेज ही अफसर बना कर भारत में न बुलाये जाते थे। भारत अंगरेजों का गुलाम था, इसलिए प्रत्येक अंगरेज

भारत पर शासन और हुकूमत करने की योग्यता को लेकर ही जन्म लेता था। इंगलैण्ड में जितने भी क्रूर और पक्षपाती अंगरेज थे, वे सब भारत में अफसर होने के योग्य थे और वही अधिकारी बनाकर यहाँ लाये जाते थे।

अब प्रश्न है उन अंगरेज अफसरों क वेतन का। लगभग ऐसे काम थे जिनको भारतीय भी कर सकते थे और अंगरेज भी। लेकिन भारत में किसी भी विभाग में अधिकारी अंगरेज ही होता और उसको भारतीयों की अपेक्षा अधिक-से-अधिक वेतन दिया जाता। देश में सैकड़ों और लाखों ऐसे काम थे, जिनको भारतीय वैसे ही करते थे, जैसे अंगरेज, लेकिन भारतीयों की अपेक्षा, अंगरेजों को कई गुना अधिक वेतन दिया जाता।

इंगलैण्ड से जो अंगरेज भारत वैतनिक कार्यों पर आते, उनको कितना अधिक वेतन दिया जाता, इसका स्पष्टीकरण करने से यहाँ पर अनावश्यक विस्तार हो जायगा। इसलिए उसको समझाने के लिए उदाहरण ही काफी होगा। सम्पूर्ण ब्रिटिश-साम्राज्य का प्रधानमन्त्री, ब्रिटिश-खजाने से ५५ हजार रुपये वार्षिक वेतन में पाता है, लेकिन उस साम्राज्य का एक अंग, निर्धन भारत पर जो अंगरेज वाइसराय होकर आता, उसे ढाई लाख रुपये वार्षिक वेतन मे दिये जाते।

इस प्रकार इस देश में अंगरेजों को जो वेतन के रूप में मिलता, उसमें वेतन का प्रश्न नहीं था। प्रश्न यह था कि किसी भी प्रकार अंगरेजों को यहाँ से अधिक सम्पत्ति मिलनी चाहिए। आश्चर्य यह है कि भारत की गरीबी को स्वीकार करने के बाद भी, इस देश पर ये भार कितनी क्रूरता के साथ लादे जाते। ब्रिटेन के कितने ही राजनीतिज्ञ जब इस बात को मंजूर करते थे कि भारत की आधी आबादी आधे पेट भोजन करके जीवन निर्वाह करती है। जिस देश की दरिद्रता यहाँ तक बढ़ गयी हो और जिसकी गरीबी यहाँ तक बढ़ायी गयी हो, उसके बाद भी उनको यह आवश्यक और उचित प्रतीत नहीं होता था कि भारतीय पेट-भर रूखा-सूखा भोजन तो पा सकें। यह सब इसलिए था कि वे इस देश में शासन करते थे और इस देश के निवासी उनके शासन में रहते थे।

सरकार की वार्षिक आय

अन्य दूसरे तरीकों के सिवा, सरकार को इस देश के शासन से जो आय होती थी, उस पर ब्रिटिश-शासकों ने संतोष नहीं किया था, बल्कि अपनी उस आय को बढ़ाने के लिए सभी उपायों से काम लिया गया था। इस आमदनी को बढ़ाने के लिए सरकार ने एक बार कोशिश नहीं की। बल्कि उसकी वृद्धि के लिए लगातार चेष्टा होती रहती थी और उस आमदनी की वृद्धि की कहीं पर सीमा न थी।

सरकार की वार्षिक आमदनी से हमारा यहाँ पर अधिक सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इस विषय में हमें यहाँ पर इतना ही देख लेना है कि सरकार की ओर से इस आमदनी को किस प्रकार अधिक बढ़ाने के लिए देश की प्रजा का गला घोटा गया था।

सन् १९०० के पहले सरकार की आमदनी करीब ११० करोड़ रुपये थी। उसके बाद उसको बड़ी तेजी के साथ बढ़ाया गया। सन् १९०१ ई० तक वह आमदनी १२० करोड़ रुपये वार्षिक हो गयी। इन दिनों में सरकारी आमदनी को बढ़ाने के लिए सभी-साधनों से काम लिया जा रहा था और प्रत्येक दूसरे वर्ष वह आमदनी बढ़कर आगे निकल जाती थी।

इसलिए सरकार की आय सन् १९०२ में साढ़े चौदह करोड़, सन् १९०३ में ११६ करोड़, सन् १९०४ में १२५ करोड़ ८३ लाख; सन् १९०५ में एक सौ साढ़े सत्ताईस करोड़ और सन् १९०७ में १३३ करोड़ हो गयी।

सरकार की इस आमदनी को बढ़ाने का क्रम आरम्भ से ही चल रहा था और आमदनी की रकम धीरे-धीरे बढ़ रही थी। सन् १९०० ई० के बाद सात वर्षों में वह किस प्रकार बढ़ायी गयी, उसका क्रम ऊपर दिया जा चुका है।

सरकार की यह आय भिन्न-भिन्न तरीकों से हुआ करती थी। आमदनी के जो आँकड़े ऊपर दिये गये हैं, उसका विवरण इस प्रकार है—

भूमि के लगान से लगभग २८ करोड़ १३ लाख, ३७ हजार ६ सौ रुपये; अफीम से ७ करोड़ ८६ लाख ७४ हजार ८ सौ रुपये; नमक के महसूल से ५ करोड़ ८५ हजार रुपये; स्टैम्प से ६ करोड़ ३८ लाख ८८

हजार रुपये; आबकारी विभाग से ९ करोड़ ३२ लाख १३ हजार २ सौ रुपये; प्रान्तीय आमदनी में ३ करोड़ ४९ लाख ९० हजार रुपये; यातायात विभाग के महसूल से ७ करोड़ ५० लाख ६८ हजार रुपये; दूसरे प्रकार के महसूलों से २ करोड़ २५ लाख ६२ हजार रुपये; जंगल से २ करोड़ ६० लाख रुपये; रजिष्ट्रेशन-विभाग से ६२ लाख ३० हजार रुपये और देश के राजाओं और नावबों से ८७ लाख ६७ लाख ८ सौ रुपये वसूल होते थे। इनके सिवा और एक बड़ी रकम देश के न्याय-विभाग से सरकारी आमदनी मे जाती थी। रेलवे, डाक, टेलीग्राफ तथा और भी कुछ साधन ऐसे थे जिनसे अच्छी खासी रकम वसूल होकर सरकार की आय में सम्मिलित होती थी।

अन्याय पूर्ण व्यय के भार

भारत में पहले पहल ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन आरंभ हुआ था। वाणिज्य और व्यवसाय के साथ-साथ कम्पनी ने देश के शासन में अपना हाथ लगाया और धीरे-धीरे समूचे भारत पर उसने अपना अधिकार कर लिया।

कम्पनी के शासन-काल में इस देश में जो अमानुषिक अत्याचार हुये और उनके फल स्वरूप जिस प्रकार देश का धन लूटा गया, उसके विस्तार पूर्वक वर्णन पुस्तक में यथा स्थान किये जा चुके हैं। कम्पनी के अत्याचारों के कारण सन् १८५७ में देश ने बगावत की। उसको शांत करने के लिए और विद्रोही भारत को संतोष देने के लिए ब्रिटिश-सरकार ने अपनी राजनीति से काम लिया। उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि भारत में कम्पनी के अत्याचार इतने बढ़े हुए हैं कि उनको मिटाने के लिए इस देश के पास विद्रोह के सिवा और कुछ नहीं हैं। इसलिए ब्रिटिश-सरकार ने कम्पनी के अधिकार से भारत को अलग करके अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया और इसके बदले में ब्रिटिश सरकार की ओर से कम्पनी के डाइरेक्टरों को ५१ करोड़ रुपये दिये गये।

भारत जैसे विशाल देश का शासन ब्रिटिश-सरकार को मिला और आश्चर्य की बात यह है कि उसकी कीमत जो कम्पनी को दी गयी वह भारत से वसूल की गयी। इस देश के भाग्य के साथ ब्रिटेन का

यह एक ऐसा खेल था, जो कभी किसी न्याय-प्रिय और निष्पक्ष आदमी की समझ में न आवेगा।

इसी प्रकार की एक और घटना है। कम्पनी के शासन के विरुद्ध सन् १८५७ में विद्रोह करके भारत ने विदेशी शासन से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया था। ब्रिटिश-सरकार ने इस विद्रोह के कारण भारत को कम्पनी से लेकर अपने अधिकार में किया था और उसके बाद सन् १८५७ का विद्रोह समाप्त हुआ था।

कम्पनी के अधिकार से भारत को अलग करने का अर्थ यह होता है कि ब्रिटिश-सरकार ने भारत के विद्रोह का समर्थन किया। यदि ऐसी बात न थी और विद्रोह गैर कानूनी एवम् बिना किसी कारण के था तो कम्पनी से इस देश को अलग करने की कोई आवश्यकता न थी।

इतना सब होने पर भी भारत को ४० करोड़ रुपये इसलिए देने पड़े कि सन् १८५७ के विप्लव को दमन करने में इंगलैण्ड को यह रकम खर्च करनी पड़ी थी। इसका यहीं तक अन्त नहीं हुआ। बल्कि उस विद्रोह को शाँत करने के लिए अथवा यों कहा जाय कि उस विद्रोह में कम्पनी की ओर से लड़ने के लिए इंगलैण्ड से जो अंगरेजी सेना भारत में आयी थी, उसके खर्च में पूरी अदायगी भारतीय खजाने से की गयी थी। अंगरेजी सेना इंगलैण्ड छोड़कर जितने दिनों तक इस देश में रही थी, उसका उतने ही दिनों का खर्च भारत के निवासियों को नहीं देना पड़ा था; बल्कि इंगलैण्ड छोड़ने के छः महीने के पहले तक का वेतन भी उस सेना को भारत से ही दिलाया गया था।

इस सिलसिले में यहाँ पर इस बात के समझ लेने की भी जरूरत है कि सन् १८५७ के विद्रोह का मूल करण इंगलैण्ड की अंगरेजी सेना ही थी। उसके भूतपूर्व प्रधान सेनापति लार्ड राबर्ट्स ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया था कि जो कारतूसों में गाय और सुअर की चरबी की अफवाह उड़ी थी, वह असत्य नहीं थी। इस चरबी की घटना को लेकर ही सन् १८५७ के विद्रोह का आरम्भ हुआ था।

इस स्थान पर घटनावशात् ट्रान्सवाल के बोअरयुद्ध की बात याद आती है। वहाँ के निवासियों ने भी अपनी गुलामी के विरुद्ध अंगरेजों के साथ युद्ध किया था। उस लड़ाई में अंगरेजों के ४५० करोड़ रुपये खर्च हुए थे। लेकिन इस खर्च में ट्रान्सवाल-निवासियों को एक

पैसा भी देना नहीं पड़ा था। सम्पूर्ण व्यय इंगलैण्ड की सरकार को अपने सिर पर लेना पड़ा था।

ट्रान्सवाल के उस युद्ध और भारत के सन् १८५७ के विद्रोह में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का उद्देश्य एक है। दोनों में धन और जन की हानि हुई है। लेकिन ट्रान्सवाल के लोगों को एक कौड़ी भी देना न पड़े और भारत के निवासियों को पूरी रकम अदा करनी पड़े, इस अन्याय की कोई परिभाषा नहीं हो सकती।

मनुष्य के जीवन में सत्य और विश्वास का बहुत बड़ा मूल्य होता है। लेकिन कभी-कभी इन्हीं दोनों के कारण एक बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ती है। सन् १८५७ के विद्रोह में हरजाने के तौर पर, ब्रिटिश-सरकार के नुकसान की अदायगी में भारत के निवासियों को ४० करोड़ की जो एक बड़ी रकम अदा करनी पड़ी, उसका कारण यह था कि विद्रोह के भयानक दिनों में ब्रिटिश-साम्राज्य की महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र अंगरेजी वाइसराय के द्वारा भारत में घोषित किया गया था और भारत के निवासियों ने उस घोषणा की बातों पर विश्वास किया था।

महारानी विक्टोरिया के उस घोषणा-पत्र में बहुत-सी बातें भारत के निवासियों के सन्तोष के लिए कही गयी थीं और भारतीयों से विद्रोह शान्त करने की अपील की गई थी। वहीं से विद्रोह का अन्त होता है और उस विश्वास के घातक फलस्वरूप इंगलैण्ड की सरकार के खर्च में भारत के निवासियों को ४० करोड़ रुपये की अदायगी करनी पड़ती है। यदि विद्रोह उस घोषणा-पत्र पर विश्वास करके रोका न गया होता तो यह तो निश्चित् है कि इस देश को और भी अधिक बलिदान होना पड़ता। परन्तु उसका जो अन्त होता, उसमें ४० करोड़ रुपये की यह रकम न देनी पड़ती, इतनी ही बात न थी। बल्कि यह बात भी निश्चित् थी कि उस विद्रोह के अन्त के साथ-साथ भारत में ब्रिटिश-शासन का अन्त भी हो जाता।

नमक पर महसूल

अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए अंगरेजी-सरकार को भारत में कितने कर और महसूल लगाने पड़े थे, उनकी विवेचना करना और

उनके विवरण देना साधारण काम नहीं है। प्रति वर्ष सरकारी आय जो ज्वर की तरह बढ़ती जा रही थी, उसके अनेक कारणों में से एक प्रमुख कारण यह भी था कि भारत में बहुत अधिक कर और महसूल लगा कर, अन्याय और क्रूरता के साथ इस देश की सम्पति का अपहरण किया गया था।

यहाँ पर हम दूसरे महसूलों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहते। वे कितने अप्रिय और अन्यायपूर्ण थे, इसका भी प्रश्न हमारे सामने नहीं है। यहाँ पर हम नमक के उस महसूल की आलोचना करना चाहते हैं, जिसे ब्रिटिश-सरकार ने भारत के प्रत्येक स्थान पर लगा रखा था।

मनुष्य के खाने-पीने के पदार्थों में नमक अत्यन्त जरूरी और सस्ता पदार्थ है। सम्तेपन में जल के बाद कदाचित् नमक का ही स्थान है। खाने पीने के पदार्थों में नमक का इतना अधिक उपयोग होता है, जितना किसी दूसरे पदार्थ का नहीं। उसकी इसी उपयोगिता के कारण प्रकृति ने हमारे खाने के बहुत-से पदार्थों मे स्वाभाविक रूप से नमक उत्पन्न किया है।

यह नमक जितना जरूरी मनुष्य के लिए है, उतना ही पशुओं के लिए भी है। इसीलिए पालतू पशुओं को अलग से नमक खिलाया जाता है। नमक न पाने के कारण वे रोगी हो जाते हैं। नमक की उपयोगिता और आवश्यकता विभिन्न रूप मे समाज के सामने है।

ब्रिटिश-सरकार ने ढाई रुपये प्रति मन के हिसाब से भारत मे महसूल वसूल कर रखा था। सन् १९०३ तक यह अन्धेर चलती रही। उसके बाद यह सोचकर कि नमक पर ऐसा करना बहुत अनुचित है और किसी भी प्रकार अच्छा नहीं मालूम होता तो उसके महसूल को घटाने की ओर सरकार का ध्यान गया।

सोचने की बात है कि छः पैसे, दो आने अथवा तीन आने मन के मूल्य की वस्तु पर ढाई रुपये महसूल! नतीजा यह हुआ कि सन् १९०३ के बाद नमक पर यह महसूल घटाकर प्रति मन दो रुपये रखा गया। लेकिन यही कौन कम था। इसलिए उसमें फिर कमी की गयी और सन् १९०५ में डेढ़ रुपये मन रखा गया।

संसार के दूसरे देशों को देखते हुए यह घटा हुआ महसूल भी अन्यायपूर्ण था। जब कि अन्य देशों में उस पर कर लगाना ही

अनुचित था। यदि किसी देश की सरकार ने उस पर कुछ महसूल लगा भी रखा था तो उसे अच्छा न समझा जाता था। इस दशा में सन् १९०७ में नमक का महसूल घटाकर एक रुपया प्रति मन कर दिया गया।

विदेशी शासन-काल में एक ओर देश में भयानक गरीबी बढ़ रही थी और दूसरी ओर नमक मँहगा हो रहा था। इसका फल यह हुआ कि नमक का प्रयोग लगातार कम होने लगा। इससे सर्व साधारण में रोगों की वृद्धि हुई और पशुओं की हानि हुई। लार्ड लारेन्स ने इस विषय में साफ-साफ लिखा है—

"मैंने भली प्रकार इस बात को समझा है कि भारत में नमक के अभाव से पशु अधिक बीमार हो रहे हैं और मर रहे हैं।"

नमक के सम्बन्ध में इतना और समझ लेने की जरूरत है कि अंगरेजों के पहले भारत में नमक विदेशी नहीं आता था! देश के व्यापारी और महाजन नमक बनाने वाले स्थानों में उसके तैयार कराने का काम करते थे और उसी से इस देश की जनता का काम चलता था।

अंगरेजी शासन काल में इस देश के व्यवसायियों का नमक व्यापार बन्द हो गया और विदेशी सरकार ने उसे अपने अधिकार में ले लिया। इस प्रकार भारत में बिदेशी नमक का आना आरम्भ हो गया। विदेशी नमक का व्यापार यहाँ तक बढ़ा कि सन् १८९१ और १८९२ में ६० लाख २ हजार एक सौ मन नमक विलायत से भारत में आया। सन् १९०२ में यही नमक इस देश में ७० लाख मन आया, विलायत के सिवा और भी देशों से भारत में नमक आने लगा। सन् १९०२ मे बाहर से भारत में २ करोड़ ४९ लाख ७१ हजार ४ सौ मन नमक आया। इस प्रकार नमक का भारतीय व्यापार समाप्त हो गया और इस देश के निवासियों को विदेशी नमक पर जीवित रहना पड़ा।

इसके पहले भारत में जो नमक तैयार होता था, उसकी खपत इस देश में ही न होती थी, बल्कि बहुत बड़ी तादाद में वह दूसरे देशों में भी जाया करता था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत का बना हुआ नमक केवल बंगाल से प्रतिवर्ष तीन सौ जहाज बाहर जाता था और अंगरेजी शासन में उसी बंगाल में प्रति वर्ष ५० लाख और ६० लाख रुपये का नमक बाहरी देशों से आने लगा।

मादक पदार्थ और देश का धन

इस देश का जीवन सदा सादगी पर निर्भर होकर रहा है। मादक पदार्थों और सादगी मे बहुत बड़ी शत्रुता है। भारत अपने अध्यात्म के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। तपस्वी ऋषियों और मुनियो के आदर्श, इस देश के आदर्श रहे हैं।

अंगरेजी शासन के पहले इस देश मे मादक पदार्थों का प्रचार न था। लोग आध्यात्मिक और प्राकृतिक जीवन बिताना जानते थे। परन्तु अंगरेज शासकों ने इस देश में नशे के पदार्थों का प्रचार किया। इस प्रकार की चीजों से किसी भी देश की दो हानियां होती है। चरित्र का ह्रास होता है और सम्पत्ति का विनाश होता है।

विदेशी सरकार देश के चरित्र की रक्षा क्यों करती। उसको शासन करना था और उसके द्वारा उसको अधिक-से-अधिक सम्पत्ति का मालिक बनना था। यही हुआ भी। सरकारी आय को बढ़ाने के लिए जितने भी साधन सम्भव हो सकते थे, न्याय और अन्याय को भूल कर, उन सब का आश्रय लिया जा रहा था और सरकार की आय को बढ़ाने के लिए लगातार प्रयत्न किये जा रहे थे।

इन प्रयत्नों में मादक वस्तुओं के प्रचार का कार्य भी एक प्रयत्न था। विदेशी सरकार को इस बात की आवश्यकता न थी कि इस देश में शिक्षा के प्रचार के लिए स्कूल खोले जाँय। किन्तु अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिए उसको नशीली चीजों के प्रचार का सहारा लेने की आवश्यकता थी।

जिस देश की सरकार अपनी सरकार होती है, वह अपने राज्य में दुराचार को मिटाने और सदाचार के फैलाने का प्रयत्न करती है। लेकिन एक विदेशी सरकार इसके विरुद्ध आचरण करती है। केवल इसलिए कि उसका प्रमुख उद्देश्य धन प्राप्त करना होता है। अंगरेजी सरकार ने भी इस देश में यही किया।

शहरों से लेकर देहातों तक नशे की चीजों की दूकानों के ठेके खोले गये और उनमें मादक द्रव्यों की बिक्री होने लगी! इसका जितना ही प्रचार बढ़ा, ब्रिटिश सरकार का उतना ही लाभ हुआ। सन् १८८० ई० में मादक पदार्थों से सरकार की आमदनी प्रतिवर्ष २ करोड़ ८४ लाख

रुपये थी। किन्तु सन् १९०५ तक उनकी आमदनी बढ़कर ८ करोड़ ५३ लाख रुपये की हो गयी और सन् १९०७ में वह आमदनी प्रति वर्ष ९ करोड़ १२ लाख रुपये तक पहुँच गयी।

इस प्रकार सहज ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि अंगरेजी शासन में मादक पदार्थों का प्रचार कितनी तेजी के साथ बढ़ा और उसके द्वारा देश की सम्पत्ति का किस प्रकार सर्वनाश हुआ।

गाँवों और कस्बों में सरकार की ओर से किसी भी ऐसी चीज की व्यवस्था न की गयी जिससे देश के निवासी जीवन की कुछ अच्छी बातों को सीखते। परन्तु शराब, गांजा, अफीम और भांग की दूकानें स्थान-स्थान पर खोल दी गयी थीं। इसका फल यह हुआ कि जो देश पेट-भर रोटी और दाल न खा सकता था, वह नशे के पदार्थों पर आश्रित होकर रहने लगा।

इन दिनों में देश की गरीबी और दरिद्रता किस प्रकार बढ़ गयी थी, इस पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। बिदेशी लेखकों यात्रियों और विशेषकर निष्पक्ष अंगरेज राजनीतिज्ञों का एक ओर यह कहना था कि भारत के आधे निवासी आधा पेट भोजन करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं और दूसरी ओर यह सब सुनकर और जानकर भी अंगरेजी सरकार केवल देश का धन लूटने के अभिप्राय से देश के स्थान-स्थान पर नशे के पदार्थों के ठेके खोलने में लगी हुई थी और उसके द्वारा रबर की तरह अपनी आमदनी को बढ़ा रही थी।

इस विषय में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी कुटिल नीति का आरम्भ किया था। अंगरेजों के आने के पहले भारत में अफीम की खेती होती थी। इस देश का यह एक बहुत बड़ा व्यवसाय था और तैयार होने वाली अफीम दूसरे देशों को जाया करती थी। लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आते ही इस देश से अफीम की खेती का व्यवसाय समाप्त हो गया और वह कम्पनी के हाथों में चला गया। देश की ओर से सन् १८५३ में यह चेष्टा की गयी थी और ब्रिटिश-पार्लामेण्ट से प्रार्थना भी की गयी थी कि कम्पनी के द्वारा भारत के इस व्यवसाय का अपहरण न किया जाय। परन्तु इसका कोई परिणाम न निकला। अफीम की खेती से जो लाभ इस देश के निवासियों को प्रति वर्ष हुआ करता था, वह ९ करोड़ की वार्षिक आय

ब्रिटिश-सरकार के खजाने में जाने लगी। इस प्रकार इस देश के निवासियों की एक बहुत बड़ी आय का सर्वनाश हो गया।

स्टैम्प्स की ब्रिक्री

अंगरेजों के आने के बाद न्याय करने के लिए इस देश में जो अदालतें खोली गयीं, वे भारत के लिए सर्वथा नयी और आश्चर्यजनक थीं। इस देश में न्याय करने के लिए राजा की ओर से जो संस्थायें होती थीं, उनका ढङ्ग और तरीका बिल्कुल ही और था।

प्राचीन भारत में न्याय के लिए कभी किसी को एक पैसा खर्च न करना पड़ता था। लेकिन इस देश के ये आदर्श विलीन हो गये और व्यवसाय का एक बहुत बड़ा रूप लेकर विदेशी-सरकार की ओर से अदालतें खोल दी गयीं।

उन अदालतों मे कहाँ तक न्याय और अन्याय हुआ, इसकी हम यहाँ पर आलोचना नहीं करना चाहते। हमारा यह उद्देश्य भी यहाँ पर नहीं है कि समूचे देश मे न्याय की इमारतें खड़ी करके किस प्रकार देश की जनता को धोखा दिया गया। यहाँ पर हम उन स्टैम्प्स पर थोड़ा-सा प्रकाश डालना चाहते हैं, जिनका प्रयोग अंगरेजी सरकार के द्वारा खोली गयी अदालतों मे बराबर किया गया।

यह सभी को मालूम है कि इन अदालतों में स्टैम्प के बिना लिखा-पढ़ी का कोई काम नहीं हो सकता। इसम सब से बड़े आश्चर्य की बात यह है कि सम्पत्तिशाली इंगलैण्ड मे जिस कीमत के स्टैम्प्स काम मे लाये जाते थे, उनसे कहीं अधिक कीमत के स्टैम्प्स भारत में चलाये गये। इसका कारण क्या हो सकता है, इस पर थोड़ा-सा विचार करने की अवश्यकता है।

यहाँ पर इस बात के लिखने की जरूरत नहीं है कि भारत की गरीबी कहाँ तक भयानक हो गयी थी। उचित तो यह था कि इंगलैण्ड की अपेक्षा इस देश के स्टैम्प्स सस्ते रखे जाते। परन्तु इंगलैण्ड को देखते हुए यहां पर उनकी कीमत का बढ़ा देना यही अर्थ रखता है कि इस देश के निवासियों का रक्त पीने मे अभी तक ब्रिटिश-सरकार को सन्तोष न हुआ था।

भारत और इंगलैण्ड में जो स्टैम्प काम में लाये गये, उनकी कीमतों के अलग-अलग विवरण यहाँ पर देने की जरूरत नहीं है। अब देखना यह है कि अंगरेजी अदालतों का इन स्टैम्प्स के साथ जो व्यापार आरम्भ हुआ, उसका परिणाम क्या निकला। सन् १९०० ई० में इस देश में जो मुकदमें अंगरेजी अदालतों में आये, उनकी संख्या सब मिलाकर २७ लाख ९१ हजार ८८ थी, लेकिन सन् १९०४ मे देश की अदालतों में जो मुकदमें आये उन सब की संख्या मिलाकर २९ करोड़ ९ लाख ९ सौ पन्द्रह तक पहुँच गयी।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मुकदमेंबाजी की वृद्धि का कारण क्या हुआ। केवल चार वर्ष के भीतर मुकदमों की संख्या लाखों से बढ़कर करोड़ों में कैसे पहुँच गयी? इसका क्या साफ-साफ अर्थ यह नहीं होता कि इस देश में जो अदालतें खोली गयीं उनमे न्याय के स्थान पर व्यवसाय की ऐसी पुट दी गयी कि उसके द्वारा इस देश के निवासियों मे आपस के झगड़े बढ़ने लगे और मुकदमों की संख्या लाखों के स्थान पर करोड़ों मे पहुँच गयी। मुकदमेबाजी की अन्तिम सीमा यहीं तक नहीं रही। जिस नशे के कारण चार वर्षों के भीतर मुकदमों की संख्या इतनी अधिक बढ़ी, उसका प्रभाव प्रत्येक अगले चार वर्षों के बाद क्या पड़ा और मुकदमों की संख्या बढ़कर इस देश में कहाँ तक पहुँच गयी, उसका कोई विवरण देने की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती।

सीधी-सी बात यह है कि ब्रिटिश-सरकार ने इन अदालतों के द्वारा न्याय का जो व्यवसाय आरम्भ किया, उससे सरकार का सब से अधिक लाभ हुआ और इस देश के निवासियों की सम्पत्ति के विनाश का एक भीषण मार्ग खुल गया, इतनी ही बात नहीं हुई; बल्कि इन अदालतों के द्वारा इस देश के निवासियों का नैतिक पतन कितने भयानक रूप में हुआ, इसका वर्णन नैतिक पतन के आगामी परिच्छेद में किया जायगा। स्टैम्प्स की बिक्री से और न्याय खरीदने के नाम पर दूसरे तरीकों से इस देश की जो भयानक आर्थिक क्षति हुई, उसकी वेदना एक बार भुलाई जा सकती है, लेकिन इस अदालती व्यवसाय के द्वारा देश का जो नैतिक पतन किया गया, उसकी पीड़ा का कभी विस्मरण न हो सकेगा।

विभिन्न प्रकार के कर

भारत में अंगरेजी शासन का उद्देश्य इस देश की सम्पत्ति का लूटना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारी अंगरेजों ने जिस प्रकार देश की दरिद्रता को भयानक रूप मे बढ़ा दिया था, वहीं तक उसका अन्त न था। सम्पूर्ण अंगरेजी शासन में देश को लूटने का काम जारी रहा। स्वयं अंगरेजों की आँखों मे यह सम्पत्तिशाली देश किस प्रकार कंगाल हो चुका था, इसके उद्धरण पहले लिखे जा चुके है।

अब अवस्था यह थी कि देश की सम्पत्ति का तो कोई प्रश्न ही न था, प्रश्न था पेट भरने का और जीवित रहने का। विदेशी शासकों को इसकी चिंतना न थी। वे प्रत्येक दशा में अपनी आमदनी बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। इसके लिए जितनी सूरतें उनकी समझ मे आती थीं; उनके प्रयोग किये जाते थे। इसका परिणाम यह था कि सरकारी आय जितनी ही बढ़ती जाती थी, देश की दरिद्रता उतनी ही भयानक होती जाती थी।

आय बढ़ाने के लिए सरकार ने जो अंधेर मचा रखी थी, उसकी कहीं सीमा न थी। टैक्स-पर-टैक्स लगाये जा रहे थे और उनकी वसूलयाबी में कोई अत्याचार बाकी न रहता था। इस प्रकार देश मे करो की भरमार हो रही थी। देश की इस भीषण समस्या में अकालों का पड़ना और भी भयानक था। परन्तु दुर्भाग्य के उन दिनों मे सरकार की ओर से प्रजा की कोई सहायता न होती। उसका कारण यह था कि देश के सरकारी खजाने में रुपये का अभाव था। सरकारी आय के नाम पर जो सम्पत्ति एकत्रित होती थी, वह सीधे इंगलैण्ड चली जाती थी। अब अकाल के दिनों मे प्रजा की सहायता कौन करे!

अंगरेजी सरकार इस देश मे नये-नये कर लगाने मे लगी थी। और उनके द्वारा जो सम्पत्ति वसूल की जाती, उसका प्रयोग इस देश की किसी अवश्यकता में न होता। सन् १८८४ से लेकर १८९५ तक, इस देश में दरिद्र प्रजा के ऊपर नौ भयानक कर लगाये गये।

सब से बड़े आश्चर्य की बात यह थी कि इस देश मे कर बराबर बढ़ते जा रहे थे और विदेशी माल जो इस देश मे बिकने के लिए आता था उस पर कर या तो घटाये जा रहे थे अथवा उन पर कर माफ

किया जा रहा था। इन दिनों में भी अर्थात सन् १८९५ और ९६ में जो सूती कपड़ा इस देश में तैयार होता था, उस पर लम्बे-लम्बे कर वसूल किये जाते थे और विलायत से जो सूती कपड़ा इस देश में आता था, उस पर कोई कर न वसूल होता था। इसका सीधा अर्थ यह था कि इस देश में जो नाम के लिए कपड़े का व्यवसाय बाकी था उसको समाप्त कर के, उसकी बिक्री का बाजार इंगलैण्ड के माल को दिया जा रहा था। विभिन्न प्रकार के करों से सन् १८९९ ई० तक बारह वर्षों में अंगरेजी सरकार की आय में १२ करोड़ ३० लाख रुपये की वृद्ध हुई थी।

ब्रिटिश-काल मे भारत की शिक्षा

कोई भी सरकार अपने देश की प्रजा को शिक्षित बनाने की कोशिश करती है। विदेशी शासन-काल मे इस देश का यह सौभाग्य अन्धकार मे पड़ा था। जिस समय संसार के दूसरे देश शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति मे तेजी के साथ दौड़ लगा रहे थे, उन दिनों इस देश के शिक्षा की क्या अवस्था थी, इस पर थोड़ा-सा यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक मालूम होता है।

शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थिति पर दृष्टिपात करने के समय हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि अंगरेजी-शासन-काल मे मादक पदार्थों के प्रचार जैसे कार्यों मे कितनी सतर्कता और सहानुभूति से काम लिया गया था। किसी भी समझदार आदमी को यह बताने की जरूरत नहीं है कि देश की प्रजा में मादक पदार्थों के सेवन मे निषेध करना किसी भी सभ्य सरकार का कर्त्तव्य होता है। परन्तु अंगरेज शासकों ने इस देश मे इसके विरुद्ध काम किया था।

यहाँ पर इस बात के स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसा करने मे ब्रिटिश-सरकार का उद्देश्य क्या था। वह भारत के निवासियों को जर्जरित बना कर इंगलैण्ड को सम्पन्न करना चाहती थी। इसके द्वारा इस देश को कितनी प्रकार की हानियाँ पहुँच रही थीं और हमारा किस प्रकार चारित्रिक और नैतिक पतन हो रहा था, इसके साथ अंगरेज-अधिकारियों का क्या सम्बन्ध था। उनका उद्देश्य सिद्ध हो रहा था। साथ ही इस देश का पतन अंगरेज अधिकारियों

की दूरदर्शिता को सफल बना रहा था। उन्हें अधिक-से-अधिक समय तक इस देश में शासन करना था। इस उद्देश्य को सामने रख कर वे भली भाँति जानते थे कि सुयोग्य समाज पर विदेशी शासन अधिक समय तक नहीं चल सकता।

जिस युग में संसार के सभ्य देशों में निरक्षर स्त्री-पुरुषों की संख्या तीन प्रति शत से अधिक न पहुँचती हो और उस युग में अंगरेजी शासन कालीन भारत में भी साक्षर लोगों की संख्या ३ से अधिक प्रतिशत न पहुँचे! इसकी आलोचना में कहाँ तक—क्या कहा जा सकता है! इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस देश को विदेशी-शासन-काल में निरक्षर, अयोग्य और असमर्थ बनाने की पूरी पूरी कोशिश की गयी थी। इसीलिए संसार के राजनीतिक विद्वानों ने विदेशी शासन को ब्लाटिंग पेपर के नाम से सम्बोधन किया है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि शिक्षा ही मनुष्य-जीवन का—किसी देश और समाज का, न केवल गौरव है बल्कि बल और पुरुषार्थ है। संसार का वही देश उन्नति के शिखर पर पहुँच सका है, जिसने शिक्षा के मार्ग में बड़ी-से-बड़ी यात्रा पूरी की है। इसीलिए तो संसार की सभ्य सरकारें, अपने-अपने देशों में शिक्षा की पूर्ति करती रही हैं। सन् १८७२ में जापान ने जब अपने उत्थान की ओर अपनी दृष्टि फेंकी तो उसे सब से पहले शिक्षा को पूरा करने की आवश्यकता मालूम हुई। उसी समय जापान-सम्राट ने घोषणा की थी—

"हमको अपने देश में शिक्षा के प्रचार में ऐसा प्रयत्न करना पड़ेगा कि शहरों से लेकर देहातों तक और कस्बों से लेकर गाँवों तक, कहीं पर कोई ऐसा परिवार न मिले, जिसका एक भी आदमी एक भी स्त्री, पुरुष निरक्षर हो।"

अंगरेजों के शासन-काल में शिक्षा को बढ़ाने के लिए इस देश के शुभचिन्तक विद्वानों ने कब-कब चेष्टायें नहीं कीं और भारत-सरकार से कितनी बार अनुनय विनय नहीं की गयी, परन्तु उन सब के बदले में सिवा सन्तोष के और मिला ही क्या था। प्रार्थना करना इस देश के निवासियों का कार्य था और उसे करना और न करना, अंगरेज अधिकारियों के हाथ में था।

संसार के छोटे-छोटे देशों में जिस प्रकार शिक्षा की वृद्धि हो रही

थी, उसका ब्रिटिश-कालीन भारतीय शिक्षा के साथ मिलान करना एक अनावश्यक-सी बात मालूम होती है। विदेशी-शासन-काल में यही सब होता ही है। इसीलिए विस्तार के रूप में हम यहाँ पर कोई हिसाब इस बात का नहीं देना चाहते कि उन दिनों मे संसार के दूसरे सभ्य देशों मे पढ़ने-लिखने वालों की संख्या कितनी अधिक थी और हमारे यहाँ कितनी कम। संक्षेप मे कुछ प्रकाश डाल कर हम इसे समाप्त कर देना चाहते हैं।

प्रत्येक सरकार अपने देश मे शिक्षा के सम्बन्ध में कितना खर्च करना चाहती है, इसका उसे पहले से ही निर्णय कर लेना पड़ता है। किसी भी देश में देश की आय का औसत जन संख्या के हिसाब से भी इतनी अधिक न थी, जितनी कि भारत में अंगरेज सरकार की। परन्तु उस आय का कितना भाग इस देश की शिक्षा मे खर्च होता था, इसका अनुमान, इसी से लगाया जा सकता है कि जिन दिनों मे इंगलैण्ड और प्रूशिया मे साधारण शिक्षा का खर्च प्रति मनुष्य, प्रति वर्ष ३।।।), फ्रांस मे ३।।=), आस्ट्रिया मे १।।।=), इटली मे १=), रूस मे ।।) और जापान मे ।।=) खर्च होते थे, उन दिनों में भारत मे प्रति मनुष्य, प्रति वर्ष एक आना से भी कम खर्च किया जाता था।

इस देश की साधारण शिक्षा का यह अवस्था थी। उस समय यहाँ पर उच्च शिक्षा कहाँ तक और कैसी हो सकती है, उसका अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट रूप मे उसका हिसाब यह है कि उच्च शिक्षा में रूस और ग्रीस प्रति मनुष्य, प्रतिवर्ष दो आने, इटली ढाई आने, आस्ट्रिया और फ्राँस छः आने, जर्मनी सात आने, कैनाडा दस आने और अमेरिका तथा इंगलैण्ड लगभग ग्यारह आने खर्च करता था परन्तु ब्रिटिश-सरकार इस देश में ऊंची शिक्षा के नाम पर जो खर्च करती थी, उसका औसत किसी प्रकार प्रति मनुष्य, प्रति वर्ष एक पैसा से अधिक न पड़ता था।

शिक्षा की वृद्धि के लिए सभ्य देशों मे जब अनिवार्य शिक्षा का महत्व बढ़ाया जा रहा था, और अन्य देशों के निवासियों को विवश हो कर अपने बच्चों को पढ़ाना पड़ता था, उन दिनों मे इस देश में अनिवार्य शिक्षा का चलना तो बहुत दूर था, जो लोग अपनी संतान को पढ़ाना चाहते थे, उनके लिए शिक्षा-संस्थाओं का एक असह्य

अभाव चल रहा था। देश की प्रार्थनाओं पर भारत-सरकार शिक्षा के विषय में जितने रुपये खर्च करना मंजूर करती थी, उतने रुपये भी कभी खर्च न किये जाते थे।

अंगरेजों के शासन-काल में हमारी शिक्षा कितनी दीन-दुर्बल हो रही थी, इस पर अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। देश की शिक्षा और योग्यता की यह गिरी हुई अवस्था चल रही थी। परन्तु देश के नेता जब देश में सुधार की कोई बात उठाते थे तो अंगरेज-सरकार के पास एक ही उत्तर था और वह यह कि यह देश अभी इस योग्य नहीं है कि उसके निवासियों को कुछ राजनीतिक अधिकार दिये जा सकें।

फौजी खर्च

प्रत्येक देश में पुलीस और फौज के खर्च उस देश की रक्षा के लिए आवश्यक होते हैं। इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता। लेकिन यह बात जरूर है कि उस खर्च से देश की आवश्यकताओं की ही पूर्त्ति होनी चाहिए। यही दो बातें पुलीस और फौज के खर्च में माननीय हैं।

अंगरेजी-सरकार भी इस देश में पुलीस और फौज के विभागों की प्रतिष्ठा करती रही। परन्तु उनके जो उद्देश्य होने चाहिए, उनसे सरकार बहुत दूर थी। देश की आन्तरिक व्यवस्था के लिए, देश में पुलीस का विभाग होता है और देश की सेनायें बाहरी शत्रुओं से लड़कर देश की रक्षा करती हैं। इन दोनों के यही दो उद्देश्य होते हैं। परन्तु ब्रिटिश-काल में इन उद्देश्यों से भारतीय कल्याण इतना कम हुआ कि वह नहीं के बराबर है।

पुलीस विभाग, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, देश की व्यवस्था की रक्षा करती है और सुख एवम् शान्ति की प्रतिष्ठा करती है। यह विभाग देश के भ्रष्टाचार को मिटाने और अनाचार एवम् अत्याचार में दीन-दुर्बलों की सहायता करने के लिए होता है। परन्तु अंगरेजी-शासन में भारतीय-पुलीस-विभाग देश में अंगरेजी-शासन को सुरक्षित रखने में ही सदा काम करता रहा।

देश की सेनायें दो भागों में बँटी थीं। एक भाग में भारतीय

सैनिक थे और दूसरे भाग में गोरे सैनिक। इस देश की सेनाओं में गोरे सैनिकों की आवश्यकता न थी। देश के सैनिक स्वयं अपने देश की रक्षा कर सकते थे। फिर भी आरम्भ से लेकर अन्त तक गोरे सिपाहियों की फौजें इस देश में रही। इतनी ही गड़बड़ी और अन्धेर इस देश के साथ न थी। भारत मे जो अंगरेजी सेनायें रहती थीं, उनके नाम पर दो अन्याय प्रधान रूप से इस देश के साथ किये गये थे।

ये दोनों अन्याय विशेष रूप से यहाँ पर विवेचना के योग्य हैं। गोरी-फौजें इसलिए इस देश में नहीं रखी गयी थी कि इस देश की रक्षा करने में भारतीय सेनायें अयोग्य और असमर्थ थी। बल्कि उनके रखने का मूल कारण यह था कि देश विदेशी शासन के विरुद्ध कभी भी विद्रोह कर सकता है। उस समय इस देश में गोरी सेनायें अंग-रेजी-शासन की रक्षा करेंगी।

इसी उद्देश्य से गोरी सेनाओं को इस देश के खजाने से वेतन मिलता था और वे इस देश का नहीं, अंगरेजी-शासन की रक्षा का काम करती थी। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सरकार को भारतीय सेनाओं पर जहाँ तक देश का प्रश्न है, विश्वास नहीं रहा। अंगरेजों का यह अविश्वास स्वयं इस बात का साक्षी है कि उनका शासन इस देश में अनैतिक था।

सेनाओं के सम्बन्ध मे ब्रिटिश-सरकार का दूसरा अन्याय यह था कि उसने भारतीय सेनाओं को, जिनमे गोरी सेनायें भी शामिल थीं, भारत की रक्षा में नहीं बल्कि इंगलैण्ड की रक्षा मे लड़ाया। न्याय के रूप में अंगरेजी-सरकार को ऐसा करने का कोई अधिकार न था। यदि संयोग उपस्थित होने पर वह कभी ऐसा करती भी तो उसका बदला किसी-न-किसी रूप मे भारत को मिलना चाहिए था। यह सब इसलिए नहीं हुआ कि भारत पराधीन था और उस पर अंगरेजो का शासन था। इसलिए उसको सब कुछ करने का अधिकार था और यही सरकार ने किया भी था।

दूसरे देशों मे देश की आय के अनुसार, पुलीस और फौज मे खर्च किया जाता है। स्वयं इंगलैण्ड मे भी उस समय भी यही होता था और आज भी ऐसा ही होता है। लेकिन भारत में अंगरेजी सरकार इन विभागों मे जो खर्च करती थी वह आय के औसत से कहीं अधिक

होता था। इस अधिक खर्च के दो कारण थे। जितनी सेनायें भारत में रहती थी, इस देश की रक्षा के लिए कदाचित उतनी सेनाओं की आवश्यकता न थी। लेकिन उनसे इंगलैण्ड को अपनी रक्षा के लिए बाहरी शत्रुओं के मुकाबिले में काम लेना था। उसका पहला कारण यह था। दूसरा कारण यह था कि बिना किसी आवश्यकता के गोरी सेनाओं को भारत में रखकर इस देश के खजाने से गोरे सैनिकों को वेतन दिलवाना था।

अंगरेजी-सरकार ने गोरे सैनिकों और भारतीय सैनिकों में कितना बड़ा अन्तर रखा था उसे भी यहाँ समझ लेने की आवश्यकता है। सन् १८९४ ई० तक भारत-सरकार प्रत्येय गोरे सैनिक पर प्रति वर्ष जो खर्च किया करती थी, उसका औसत ८९१ रुपये पड़ता था और प्रत्येक भारतीय सैनिक पर प्रति वर्ष ३४३ रुपये होता था। सन् १८९४ के बाद प्रत्येक गोरे सैनिक पर १२३ रुपये प्रतिवर्ष बढ़ा दिये गये और कुछ ही दिनों के बाद गोरे सैनिकों के खर्च मे और भी इजाफा किया गया। इस प्रकार प्रत्येक गोरे सैनिक पर प्रति वर्ष ११६० रुपये खर्च होने लगे।

गोरे सैनिकों पर इसके सिवा और भी बहुत-से खर्च किये गये जाते। किन्तु भारतीय सैनिको की अवस्था ही दूसरी थी। जहाँ प्रत्येक गोरे सैनिक के वेतन मे वार्षिक २६९ रुपये की वृद्धि की गयी थी, वहाँ भारतीय सिपाहियों के वेतन में केवल २७ रुपये बढ़ाये गये थे, यद्यपि भारतीय सैनिकों और गोरे सिपाहियों के कार्यों में कोई अन्तर न था।

सन् १८५७ के विद्रोह के पहले भारत में २ लाख तीस हजार भारतीय सैनिकों की फौजें रहा करती थी और ३७ हजार गोरे सिपाही रहा करते थे। विद्रोह के बाद शासकों ने निर्णय किया कि भारत में जितने भारतीय सैनिक हैं, गोरे सैनिक उनसे आधे से कम न रहेंगे। साथ ही इस बात का भी निश्चय हुआ कि तोपखानों पर भारतीय सैनिक न रखे जायँगे। इसके बाद ही गोरे सैनिकों की संख्या बढ़ाकर सन् १९०४ में ८० हजार तक पहुँच गई।

देश में ब्रिटिश-सरकार का फौजी खर्च बराबर बढ़ता रहा। यद्यपि अंगरेजी-शासन-काल में इस देश पर कोई बाहरी आक्रमण नहीं हुआ। फिर भी सैनिक शक्ति देश में बराबर बढ़ायी जा रही थी।

पाँचवाँ परिच्छेद

नैतिक पतन

लूट-मार के सिवा विदेशी शासन का और कोई उद्देश्य नहीं होता, अंगरेजों को भी भारत में यही करना पड़ा। उनकी हुकूमत इस देश के लाभ के लिए न आयी थी। वह आयी थी, इंगलैण्ड को सब प्रकार सम्पन्न बनाने के लिए, उसके निवासियों को सम्पत्तिशाली रूप-रेखा में पहुँचाने के लिए और ब्रिटेन के गौरव को उन्नति देने के लिए।

इसका प्रभाव भारत पर जो पड़ना चाहिए था, वही पड़ा भी। इस देश के निवासी सभी प्रकार दरिद्र बनाये गये और उनकी सम्पत्ति का अपहरण हुआ। देश का व्यवसाय-वाणिज्य नष्ट किया गया। अशिक्षा के भयानक अन्धकार में देश को पहुँचाया गया। पूर्वजों की सभ्यता और संस्कृति नष्ट की गयी। इस प्रकार इस देश का विध्वंस हुआ।

जितने तरीकों से देश का नाश किया गया, उनकी अलग-अलग आलोचना करने के लिए यहाँ पर स्थान नहीं है। अंगरेजों के शासन-काल में हम कहाँ-से-कहाँ पहुँचे, यही हमारा उद्देश्य है। इसलिए इस देश की जितनी भी क्षति इस विदेशी हुकूमत में भारत की हुई, उसमें सब से अधिक भीषण और असह्य क्षति उसके नैतिक पतन के रूप में आयी। अंगरेजी शासन में इस देश का नैतिक जीवन कैसे नष्ट हुआ, इसकी अलोचना करना ही इस परिच्छेद का उद्देश्य है।

'बुभुक्षितः किम न करोति पापम्' के अनुसार भारत के निवासी सभी प्रकार के पतन के मार्ग में आ गये थे। देश की दरिद्रता और कंगाली अपने आप देश को अधः पतन की ओर घसीट रही थी। पिछले पृष्ठों में भली प्रकार यह बताया जा चुका है कि अंगरेज अधिकारियों ने अपनी आय बढ़ाने के लिए सभी प्रकार के खेल खेले थे। कोई ऐसा अन्याय न था जिसका उन्होंने प्रयोग न किया हो। इन अत्याचारों का श्रीगणेश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ-

साथ हुआ था। कम्पनी के बाद अन्यायों और अत्याचारों का संशोधित रूप चलता रहा। सभी तरीकों से अंगरेजों ने इस देश से रुपये वसूल करने की कोशिश की थी। उन तरीकों में अधिकांश बातों के विवरण दिये जा चुके हैं।

यह एक साधारण और स्वाभाविक बात है कि भारत के निवासी भारत मे ही वैतनिक कार्यों में नियुक्त किये जाँय। लेकिन अंगरेजी हुकूमत में इस देश का यह अधिकार अंगरेजों के हाथ में था। समूचे देश मे उच्च पदाधिकारी अंगरेज होते थे। पार्लामेण्ट के सामने इस बात को स्वीकार करते हुए एक बार मि० कर्जन को स्वीकार करना पड़ा था—

"पचास हजार अथवा इससे अधिक वैतनिक स्थानों में एक भारतवासी है और २७ अंगरेज हैं। तीस हजार से पचास हजार तक वेतन पाने वालों में तीन भारतवासी हैं और एक सौ बहत्तर अंगरेज हैं।"

इस देश में अंगरेजी शासन काल मे सभी उच्च वैतनिक स्थान केवल अंगरेजों के लिए होते थे, ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं है। इसके समर्थन में ऊपर लिखा हुआ मि० कर्जन का वक्तव्य किसी प्रकार कम नहीं है। इस अवस्था में इस देश के निवासियों को किस प्रकार का जीवन बिताना पड़ा था, वह अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार, सैकड़ों तरीकों से देश की दरिद्रता भीषण रूप में पहुँची थी। गरीबी पतन का मूल कारण होती है। नैतिक और चारित्रिक पतन, उसका स्वाभाविक परिणाम होता है। यह दरिद्रता भारत के लिए अंगरेज सरकार की देन थी जिसे भारतीय प्रजा ने अपनी पराधीनता के बदले में पाया था।

सर्वनाश का मार्ग

मानव-जीवन में नैतिक पतन, उसके जीवन का सर्वनाश होता है। कोई भी देश और राष्ट्र अपनी किसी भी क्षति की पूर्ति कर लेता है, परन्तु नैतिक पतन की पूर्ति और उसका सुधार, उसके लिए एक भयानक कार्य हो जाता है। अंगरेजी-शासन-काल में भारत की सब से बड़ी क्षति उसकी नैतिक क्षति हुई है। सब कुछ खोने पर भी भारत निर्बल न हुआ होता, यदि उसके जीवन का नैतिक ह्रास इतने भीषण

रूप में न होता। इसीलिए नैतिक ह्रास का मार्ग, भारत के लिए अंग-रेजी हुकूमत में सर्वनाश का मार्ग था।

इस सर्वनाश का मार्ग देश में एक साथ नहीं खुला। उसके खुलने का कोई एक तरीका भी न था। नैतिक शक्ति में भारत प्राचीनकाल से एक ऐसा किला था, जिसका तोड़ना अगर असम्भव न था तो दुरूह जरूर था। अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत चरित्र-बल और नैतिक उन्नति में अपनी समता का कोई देश न रखता था। भारत के इस गौरव को सभी देशों के विद्वानों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। इसीलिए इस शक्ति में उसे लोहे का किला कहना किसी प्रकार असंगत न होगा।

आर्थिक पतन के साथ साथ, और कौन-कौन से कारण देश में उत्पन्न हुए, जिनसे भारत की चिरसंचित नैतिक शक्ति का भीषण पतन हुआ, उन पर यहां प्रकाश डालना आवश्यक है।

मानसिक अवनति

अहंकार करना बुरा होता है किन्तु आत्म-सम्मान को भूल जाना उससे भी बुरा और अनिष्टकर होता है। इस अवनति के दो प्रमुख कारण होते हैं, दरिद्रता और पराधीनता। दरिद्रता मे पड़कर भी मनुष्य आत्म-सम्मान को भूल जाता है और पराधीनता में रहकर भी।

भारत के सामाजिक जीवन मे स्त्रियों के मानसिक पतन के दोही कारण हैं, उनकी आर्थिक विवशता और पराधीनता। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनका स्वाभिमान और आत्म-सम्मान नष्ट हो गया है। इसलिए वे स्वभावतः अयोग्य और निर्बल हो गयी हैं। प्रकृति ने उनको इस अयोग्यता के साथ नहीं उत्पन्न किया। सामाजिक परिस्थितियों ने उनको निर्बल और अयोग्य बना दिया है।

ठीक यही अवस्था भारत की अछूत जातियों की है। वे ऊँची जातियों की अपेक्षा हीन, दुर्बल अयोग्य असमर्थ हैं। शारीरिक और मानसिक—उनके दोनों पतन हुए हैं। इस पतन के भी दो ही कारण हैं। आर्थिक दरिद्रता में उनके जीवन का विनाश किया गया है और अत्याचार पूर्ण सामाजिक परतंत्रता में रखकर उनके जीवन का सर्वस्व मिटाया गया है।

विदेशी शासन में दो शताब्दियां बिताकर भारत के निवासियों ने

इस प्रकार अपनी मानसिक अवनति की है, उसका चित्र संसार के अन्य देशों ने आखें फाड़-फाड़कर देखा है और उसका कारण उन्होंने विदेशी-शासन स्वीकार किया है। मि० डोनाल्ड स्मीटन ने अपनी उक्ति में साफ साफ कहा था—

"अंगरेजी-शासन-प्रणाली की खराबियों से भारत के निवासी दरिद्र हो गये हैं। वहाँ पर लगभग पाँच करोड़ स्त्री-पुरुषों की ऐसी संख्या है, जो रूखे-सूखे भोजन से भी अपना पेट नहीं भर पाते। × × विदेशी शासन का बोझ भारतवासियों को असह्य हो रहा है।"

"भारत की वर्तमान शासन-प्रणाली में जब तक आमूल परिवर्तन न किये जाँयगे उस समय तक भारत के निवासियों का कल्याण नहीं हो सकता।"

अंगरेजी—शासन काल की परिस्थितियों का अध्ययन करके अमेरिका के एक प्रसिद्ध-तत्ववेत्ता ने लिखा था—

"भारत में अंगरेजी-शासन को मैं जितना अन्याय पूर्ण समझता था, उसको उससे भी अधिक अनिष्टकर समझने का मुझे अवसर मिला है। इस शासन प्रणाली में रहकर भारत के निवासी कभी भी पनप नहीं सकते।"

भारत से लेकर दूसरे देशों तक के सभी निष्पक्ष विद्वानों ने इस देश में अंगरेजी शासन की खराबियों को स्वीकार किया है। विदेशियों और स्वयं अंगरेजों को इस देश की दशा पर यह कहना पड़ा है कि जब तक अंगरेजी शासन प्रणाली का संशोधन नहीं होता, उस समय तक भारत के हित की कल्पना करना व्यर्थ की बात है।

इस विषय मे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। देश की बढ़ती हुई गरीबी और गुलामी ने अन्य बातों के साथ-साथ, इस देश के निवासियों को मानसिक अवनति के गहरे गढ़े मे गिराया। उनका आत्म-सम्मान नष्ट हो गया, मानव-जीवन का स्वाभाविक गौरव उनके जीवन से विलीन होने लगा। इस पतन के फलस्वरूप देश के नैतिक जीवन को एक भयानक धक्का लगा।

गरीबी तो थी ही, पराधीनता के अत्याचारों ने आत्म-सम्मान के भाव को भी नष्ट किया। यहीं से चरित्र-बल और नैतिक ह्रास क्षत-विक्षत होने लगा। होता कैसे नहीं। पराधीन मनुष्यों का न तो कोई

जीवन होता है और न कोई गौरव। मि० डिकिन्स के अनुसार, स्वाधीनता ही मनुष्य की सर्वोत्तम शिक्षक है। जब स्वाधीनता नष्ट हो जाती है तो उसे जीवन की शिक्षा कौन दे!

इस देश में जिस प्रकार का शासन चल रहा था, उसका यह स्वाभाविक परिणाम तो था ही, किन्तु शासकों का अभिप्राय भी एक निश्चित् रूप-रेखा में चल रहा था। किसी भी देश को अधिक समय तक पराधीनता में रखने के लिए शासकों के लिए आवश्यक होता है कि वे उसकी आत्म-सम्मान की मर्यादा को नष्ट करें। जीवन के ऊँचे भावों का उसमें उदय न हो। पराधीन जातियाँ शासकों की श्रेष्ठता को बार-बार स्वीकार करें। इस प्रकार किसी भी देश अथवा जाति के स्वाभिमान को नष्ट करके उसे पराधीनता में रखा जा सकता है। पराजित और पराधीन जाति का आत्म-गौरव जितना ही अधिक नष्ट होगा, उतने ही अधिक समय तक वह पराधीनता में रह सकेगी। इस सिद्धान्त को सामने रखकर अंगरेज-शासकों ने, इस देश में उस प्रकार की शासन-प्रणाली चलायी थी, जिससे इस देश के निवासियों का मानसिक पतन हो।

अदालतों का अंगरेजी तरीका

संसार के सभी देशों में लोग आपस में लड़ाइयाँ करते हैं और मरने-मिटने की एक नौबत पैदा कर लेते हैं। यह एक स्वाभाविक बात है। इसलिए देश की आन्तरिक अशान्ति को मिटाने के लिए राजा की ओर से न्याय और निर्णय की व्यवस्था की जाती है।

इस विषय में सभी देशों की प्रणाली एक-सी नहीं होती। प्रत्येक देश अपनी एक भिन्न प्रणाली रखता है। प्राचीन भारत में आन्तरिक शान्ति की स्थापना के लिए पंचायतों से काम लिया जाता था। देश में सत्य और धर्म की ऐसी प्रतिष्ठा की गयी थी, जिससे गरीब से लेकर अमीर तक और प्रजा से लेकर राजा तक—सभी लोग अन्याय और असत्य से डरते थे।

पंचायतों के द्वारा इस देश में आपसी झगड़ों का निर्णय होता था। उन पंचायतों में न तो पक्षपात होता था और न अन्याय से काम लिया जाता था। समाज के जीवन का एक निश्चित् विधान था।

सर्वसाधारण को उस विधान का ज्ञान था। पाप और पुण्य की साधारण परिभाषा सभी लोग जानते थे। इसीलिए आपस के किसी भी झगड़े का निर्णय करने के लिए पंचायत के सदस्यों को विधान के किसी मोटे ग्रन्थ के पन्नों को उलटना न पड़ता था। न्याय और अन्याय, सत्य और असत्य एवम् पाप और पुण्य का साधारण ज्ञान आधार सभी रखते थे। यही ज्ञान पंचायतों का विधान था और उसी के ऊपर निर्णय होता था।

देश में न्याय के लिए एक बंधा हुआ नियम था। जिन लोगों में किसी प्रकार का झगड़ा होता था, वे स्वयं अपने विश्वास के अनुसार, निर्णायकों का चुनाव कर लेते थे और निर्वाचित सदस्यों की क्षण-भर में एक पंचायत बन जाती थी। वही पंचायत झगड़े का निर्णय करती थी।

प्राचीन भारत में अत्याचार पीड़ित किसी निर्बल को न्याय के लिए रुपये—पैसे खर्च न करने पड़ते थे। उसको टिकट की जरूरत न होती थी। किसी थाने में जाकर वहाँ के मुन्शी को रिश्वत देकर अपनी रिपोर्ट लिखानी न पड़ती थी। सैकड़ों रुपये देकर अपने मामले को पेश करने के लिए किसी वकील और बैरिस्टर की जरूरत न पड़ती थी। अंगरेजी अदालतों के कार्यकर्ता खटमल की तरह न्याय चाहने वाले अत्याचार पीड़ितों के रक्त का पान न करते थे!

बड़ी आसानी के साथ किसी भी झगड़े में पंचायत के द्वारा निर्णय हो जाता था। निर्णायक-सदस्य अपने निर्णय में सत्य और धर्म का स्मरण न भूलते थे। वे इसलिए न भूलते थे कि किसी भी कारण से पक्षपात करके और सत्य के विरुद्ध निर्णय देकर उनको नरक यंत्रणा का भोग करना पड़ेगा, यह विश्वास उनके मनोभावों में काम करता था। इसलिए उन पंचायतों में कभी अन्याय न होता था, पक्षपात से काम न लिया जाता था। सभी लोग ईश्वर और धर्म पर विश्वास रखते थे और अधर्म से डरते थे।

अंगरेजी शासन के आरम्भ से ही देश में अंगरेजी अदालतों का श्रीगणेश हुआ। उनके न्याय करने का तरीका ही और था। उनकी प्रतिष्ठा से देशी पंचायतों का महत्व घटने लगा। न्याय करने के जो पराने तरीके थे, उनको मिटाकर अंगरेजी तरीकों को महत्व दिया गया।

देश में एक ओर अंगरेजी अदालतें चलने लगीं और दूसरी ओर

नैतिक एवम् धार्मिक ज्ञान उत्पन्न करने के जो साधन देश में प्राचीन काल से चल रहे थे, उनका अन्त होने लगा। जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्याय और अधर्म से लोगों का डर घटने लगा। विदेशी शासन तो चल ही रहा था। उसके दूषित प्रकोप मे प्रजा का आत्म-सम्मान नष्ट हो रहा था।

यह परिस्थिति लगातार देश में चलती रही। मनुष्य के जीवन में जब चरित्र-बल का अभाव होने लगता है तो उसके स्वभाव में अनेक प्रकार के दोष अपने आप उत्पन्न होने लगते हैं। उनसे सुरक्षित रहने के लिए नैतिक ज्ञान और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता होती है। इसका अभाव भी समाज मे लगातार बढ़ने लगा। हुआ यह कि सर्वसाधारण में पारस्परिक द्वेष की भावनायें जाग उठीं। उनके जागरण में शासन की दूषित प्रणाली से लगातार सहायता मिली। पंचायतों का काम लगातार घटने लगा और अदालतों का जाल विस्तार पाने लगा।

कम्पनी के शासनकाल मे अंगरेजी अदालतें कायम हुई थीं। ब्रिटिश-शासन-काल में उनकी खूब वृद्धि हुई। सम्पूर्ण देश मे पंचायतों का कार्य समाप्त हो गया और जो बाकी रहा, उनका कोई मूल्य न रहा। उनके स्थान पर अंगरेजी अदालतों का विस्तार हुआ।

देश में अंगरेजी अदालतें जितनी ही बढ़ी, सर्वसाधारण मे मुक-दमेंबाजी की उतनी ही अधिक रुचि उत्पन्न हुई। समाज मे यह एक विषमय वातावरण था जिसका खूब विस्तार हुआ। अंगरेजी शासकों ने उसका लाभ उठाया। इन अदालतों का प्रचार देश के निवासियों को आपस में लड़ाने के उद्देश्य से हुआ था। उनकी प्रणाली में यह गुण था कि जिससे लोगों में लड़ने का स्वभाव उत्पन्न हुआ।

अंगरेजी सरकार अदालतें कायम करके अपने उद्देश्य में पूरे तौर पर सफल हुई। देश के निवासी आपस में प्रेम के साथ रहना भूल गये। वे रात-दिन आपस में लड़ने और एक, दूसरे को मिटाने की बातें सोचने लगे। इसमें उनका अपराध न था। उनको जो मादक पदार्थ पिलाये गये, उनका प्रभाव, उन पर पड़ना स्वाभाविक था?

आपस में लोगों को लड़ाना सरकार का स्पष्ट उद्देश्य था। शासन करने के लिए इन साधनों का प्रयोग करना ही पड़ता है। प्रजा का पारस्परिक विद्वेष शासकों की शक्ति को स्थायी बनाता है। जो शासन

करना चाहते हैं उनको इन बातों का स्वभावतः ज्ञान होता है। विदेशी शासन इसी की सहायता पर कायम होता है और भविष्य में स्थायी रूप से काम करता है। यह तो एक नियम की बात है। अंगरेजों को इसका बहुत अच्छा ज्ञान सदा से रहा है। इसी ज्ञान की बदौलत थोड़े—से अंगरेज व्यापारियों ने अपने व्यवसाय के द्वारा इस देश की सम्पत्ति को लूटा था और अपनी इसी नीति के बल पर उनको इस देश में शासन कायम करने मे सफलता मिली थी।

भारत मे अंगरेजी अदालतें कायम करने मे अंगरेज शासकों का एक ही उद्देश्य न था। अपने पहले उद्देश्य मे सफल होने के साथ-साथ उन्होंने अपने दूसरे उद्देश्य का लाभ उठाया। ये आदालतें देश की आन्तरिक अशान्ति को मिटाने के लिए कायम की गयी थीं। परन्तु उनका भीतरी उद्देश्य; देश के निवासियों को आपस मे लड़ाना था, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है।

अपने प्रारंभिक जीवन के साथ-साथ उन्होंने अपना दूसरा रूप धारण किया। जो आदालतें न्याय का मृगछाला पहन कर सब के सामने आयी थीं, वे व्यवसाय के रूप मे बदलने लगीं। एक ओर वे लोगों को लड़ना सिखा रही थीं और दूसरी ओर व्यवसाय का रूप धारण कर रही थीं। लोगों को लड़ाने मे भारतीय आदालतों को अद्भुत सफलता मिली। आदालतों की देश में सीढ़ियाँ बनायी गयीं। पहली अदालत से, दूसरी अदालत मे जाने का एक ऐसा क्रम रखा गया, जो लड़ने वालों के लिए अनिवार्य हो जाता था। अदालतों की ये सीढ़ियाँ नीचे से चल कर इस प्रकार ऊँचे गयी थीं कि वहाँ तक पहुँच कर मुकदमेबाज अपना सर्वस्व नष्ट कर देता था। अंगरेज शासकों ने स्वयं इन अदालतों का विश्वास न किया था। विश्वास के योग्य वे थीं भी नहीं। इसीलिए पहली अदालत के बाद, दूसरी अदालत का फाटक खुला रहता था।

इन अदालतों में सब से बड़ी विशेषता यह थी कि जो कानून बनाये गये थे, वे स्वयं स्पष्ट न थे। उनको स्पष्ट करने के लिए लड़ने वालों को वकीलों की सहायता लेनी पड़ती थी और वे कानून ऐसे ढंग से बने थे कि एक चतुर वकील अपनी आवश्यकता के अनुसार उनका अर्थ लगा लेता था। ये अंगरेजी अदालतें और उनके कानून इस प्रकार विलक्षण

बने थे कि उनके निकट जाकर और उनकी शरण लेने पर कोई भी मनुष्य उसी समय छुटकारा पाता, जब उसके पास का पैसा समाप्त हो जाता और वह ऋण के बोझ से अपने को भीषण रूप में दबा हुआ पाता।

इन अदालतों से अंगरेजी सरकार के सभी मन्सूबे पूरे हुए। लोग आपस में लड़े भी खूब और अपनी लड़ाइयों में एक उन्मत्त की भाँति, अदालतों की शरण लेने पर अपनी सम्पत्ति को पानी की तरह बहाया। यह सम्पत्ति न्याय पाने के उद्देश्य से खर्च की गयी जो इस देश से चलकर इंगलैण्ड के पहले उसने कहीं पर अपना मुकाम न किया। इतना सब होने पर भी लोगों को न्याय न मिला। उनकी लड़ाइयों का उसी समय अन्त हुआ, जब वे लड़ते-लड़ते या तो स्वयं इतने थक गये कि फिर वे आगे लड़ न सके अथवा इतने गरीब हो गये कि फिर वे अदालतों के भीतर प्रवेश करने के अधिकारी न रह गये।

अंगरेजी अदालतों से अंगरेजों का कितना लाभ हुआ, इस देश के निवासी उन अदालतों के कारण किस प्रकार भिखारी बने और उनके द्वारा इंगलैण्ड किस प्रकार सम्पत्तिशाली हुआ, इसका हमें पश्चात्ताप नहीं है और न यहाँ पर उसकी विवेचना करना ही हमारा उद्देश्य है। इस आलोचना से हमारा इतना ही अभिप्राय है कि इन अदालतों के द्वारा इस देश का नैतिक पतन भयानक रूप से किया गया और उसे खोकर देश के निवासी न केवल दुखी और दरिद्र बन गये वरन् वे अपने जीवन में मनुष्यत्व से भी वञ्चित हो गये। अंगरेजी-शासन से देश का सर्वनाश उसके नैतिक पतन के रूप में हुआ।

आत्म-सम्मान का विनाश

विदेशी पराधीनता की शताब्दियों में भारत के निवासियों की सब से बड़ी क्षति आत्म-सम्मान के विनाश के रूप में हुई। इस क्षति में पहुँचने के बाद कोई भी जाति अपने जीवन-काल में ही एक मृत-प्राय अवस्था में पहुँच जाती है।

इस देश के आत्म-सम्मान के विनाश के कितने ही कारण हुए। पिछले पृष्ठों में यह बताया जा चुका है कि भारतीय जनों की प्राचीन-प्रतिष्ठा आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर हुई थी। उसके प्रतिष्ठाताओं ने सांसारिक बातों के महत्व को सदा ठकराया था इसीलिए इस देश में

असत्य के स्थान पर सत्य, अधर्म के स्थान पर धर्म और दुराचार के स्थान पर सदाचार को गौरव मिला था। यहाँ के निवासियों का जैसा जीवन बन गया था, वह संसार के दूसरे देशों के जीवन से बहुत बड़ी भिन्नता रखता था। लोग चालाकी न जानते थे, उनके विचारों मे अविश्वास न रहता था। जैसी उनको शिक्षा मिली थी, उसके अनुसार वे अपने और पराये मे कोई भेद न समझते थे। इस देश के पुराने विद्वानों और समाज-संस्थापको ने यहाँ के निवासियों को वसुधैव कुटुम्बकम् की दीक्षा दी थी। इसलिए अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश का जीवन अत्यन्त विश्वास के रूप मे चल रहा था।

यही कारण था कि भारत मे आते ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सफलता मिली थी। यहाँ के भोले और विश्वस्त जीवन को देखकर अंगरेजों ने यहां आने के थोड़े दिनों बाद ही अपने भविष्य की बड़ी-बड़ी कल्पनायें कर ली थीं। लगभग पचास वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस देश में व्यापार किया था। परन्तु उसका व्यवसाय भी किसी कठोर शासन से कम न था। अपने व्यावसायिक जीवन में सन् १७५७ के पहले ही उसने इस देश के कितने ही स्थानों पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया था। इस प्रकार बिना किसी युद्ध के इन पचास वर्षों मे जो उसे सफलता मिली थी, वह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि कम्पनी के अंगरेज जितने ही अधिक व्यवसायी धूर्त, कठोर और दुराचारी थे, उतने ही और उससे भी अधिक इस देश के निवासी भोले, विश्वासी, धार्मिक और राजभक्त थे।

सन् १८५७ तक इस देश मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कठोर शासन रहा। इन एक सौ वर्षों मे उसकी ओर से जिस प्रकार की धूर्तता का व्यवहार किया गया, उसका ज्ञान इस देश के निवासियों को न था। प्राचीन काल से लेकर आज तक संसार के भिन्न-भिन्न देशों में लड़ाइयाँ हुई हैं। विभिन्न प्रकार के शासन-सम्बन्धी उलट-फेर देखने में आये हैं। लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जिन तरीकों से अपनी हुकूमत इस देश मे कायम की, और जिस प्रकार की भयानक धूर्तता का उसने इस देश मे—भोले और विश्वासी देश में भयानक प्रदर्शन किया, उसका चित्र संसार के इतिहास मे कहीं नहीं मिलता।

इस आत्म-सम्मान के पतन के कितने ही कारण हुए। कम्पनी के

व्यवसाय में जिस प्रकार लूट-मार की गयी और उनके जिस प्रकार तिरस्कार पूर्ण व्यवहार इस देश के निवासियों के साथ किये गये, उनके कारण देश की गरीबी बढ़ी और आत्म-सम्मान की मर्यादा नष्ट हुई। दरिद्रता सम्मान के विनाश की कारण होती है।

इस देश में अंगरेजों का आधिपत्य जितना ही बढ़ाया गया, निर्धनता का उतना ही विस्तार हुआ। विदेशी शासन के पूरे दिनों में तिरस्कार और अवहेलना से काम लिया गया। अंगरेजी-शासन में आकर देश के निवासियों को बराबर यह समझने का मौका मिला कि हम सर्वथा अयोग्य, असभ्य और अशिक्षित हैं। अंगरेजी जीवन को देखकर भारत के निवासी स्वयं अपने जीवन पर घृणा करना सीखते रहे। इसका परिणाम आत्म-सम्मान के विनाश के सिवा और हो ही क्या सकता था!

पराधीनता और परवशता बुरी होती है। शिक्षा, सभ्यता और शिष्टता की पराकाष्ठा मे पहुँचा हुआ देश अपने आपको असभ्य समझने के लिए विवश हुआ। सभ्यता के विकास मे किसी भी देश को जितना आगे बढ़ना चाहिए, उसमें प्राचीन भारत का सबसे पहला स्थान था। संसार का कौन-सा देश था, जो इस देश की शिक्षा और सभ्यता के महत्व को स्वीकार न करता हो? परन्तु पराधीनता ने उस पर मिट्टी डाली। इस देश की समस्त अच्छाइयाँ खराबियों मे बदलने लगीं। वे बदलीं और खूब बदलीं। अंगरेज शासकों ने इस देश के निवासियों को असभ्य घोषित किया। संसार के अन्य देशों ने इस देश को असभ्य समझना आरम्भ किया और स्वयं इस देश के निवासियों ने अपने आपको असभ्य समझ लिया। अब आत्म-सम्मान की रक्षा कौन करता?

इस देश की शिक्षा और सभ्यता ने देश मे विकास के सभी मार्ग खोले थे। यहाँ पर मनुष्यत्व का विकास हुआ था। सभी प्रकार के लोग बन्धुत्व के स्नेह में बंधे थे। किसी के स्नेह और मर्यादा में यहाँ पर अंतर न माना जाता था। गरीबी और अमीरी का यहाँ फर्क न था। स्त्रियों का आदर करना पुरुष अपना धर्म समझते थे। सेवा और सहायता के नाम पर उदारता को यहां महत्व दिया गया था। सामाजिक जीवन बिना किसी संघर्ष के चलता था। राजा और प्रजा में

किसी प्रकार का विरोध न था। प्रजा राजभक्ति, अपना धर्म समझती थी और सन्तान समझ कर प्रजा का पालन करना राजा का इस देश में धर्म था। इस देश के महर्षियों ने राजाओं को इस बात की दीक्षा दी थी कि जिस राज्य में प्रजा दुखी और असन्तुष्ट रहती है, वह राज्य नष्ट हो जाता है और उसका राजा नरक को जाता है। इस प्रकार विकास के सभी मार्गों पर यह देश उन्नति के शिखर पर पहुँचा था।

आत्म-सम्मान के विनाश का कोई कारण न था। राजनीतिक पराधीनता इस देश के लिए विधाता की कोई नयी रचना न थी। संसार का कौन-सा देश है जो अनेक बार दूसरे देशों का गुलाम नहीं हुआ और गुलाम होकर फिर वह आजाद नहीं हुआ? फिर इस देश के तिरस्कार का कारण क्या था! स्वयं इंगलैण्ड का इतिहास, उसकी गुलामी और आजादी का इतिहास है।

भारत को पराधीन बनाकर जिस इंगलैण्ड ने भारत के निवासियों की असभ्यता और अशिष्टता का ढोल पीटा, उसकी सभ्यता और शिक्षा की कुछ बातों पर यहाँ प्रकाश डालना अनावश्यक न होगा। जिन दिनों मे इंगलैण्ड के अंगरेज कम्पनी बनाकर इस देश में व्यवसाय करने आये थे, उन दिनों मे इंगलैण्ड की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था कैसी थी, उस पर हम स्वयं कुछ न कहकर केवल अंगरेज-इतिहासकारों की लिखी हुई पंक्तियों का उद्धरण करना ही हम पसन्द करेंगे।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैण्ड की जो अवस्था थी; उसका वर्णन करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार ड्रेपर ने लिखा है -

"लकड़ियों से बनी हुई झोंपड़ियों मे किसान रहा करते थे। उन झोपड़ियों में मिट्टी का गारा ऊपर से लगा दिया जाता था। आग तैयार करने के लिए लोग घास को जलाते थे और उनके घरों मे धुएँ के निकलने के लिए कोई स्थान न होता था।×× रास्ते सुरक्षित न थे। डाकू और बदमाश आम रास्तों पर घूमा करते थे। बड़ी-बड़ी नदियों पर लुटेरे रहा करते थे। लोगों का खाना बहुत मोटा हुआ करता था। साधारण लोगों में किसानी के सिवा दूसरा कोई ऐसा व्यवसाय न था; जिसके द्वारा फसल के समय वर्षा न होने पर किसान अपनी रक्षा कर सकें। अनाज की कमी और रोगों की वृद्धि के कारण लोग अधिक संख्या में मरा करते थे।"

"गरीबी का यह हाल था कि साधारण लोग सरदी से बचने के लिए अपने हाथों और पैरों मे पुआल बांध लेते थे। डाक्टरों का इलाज इतना मंहगा था कि गरीब लोग उससे कोई लाभ न उठा सकते थे। शहरों में बहुत-से लोग अपने बिस्तरों में भूसा भरकर लेटते थे। ××लोगों में भ्रष्टाचार अधिक था और उसके कारण विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते थे। दुराचारों से समाज का कोई भाग बाकी न था। किसानों की जमीन का मालिक जमींदार होता था। इंगलैण्ड मे कोई व्यवसाय न होने के कारण जो लोग व्यापार करना चाहते थे, उनको दूसरे देशों मे जाना पड़ता था। अंगरेज-जाति मे शिक्षा का बहुत अभाव था, यहाँ तक कि पार्लामेण्ट के कितने ही सदस्य लिखने-पढ़ने का ज्ञान न रखते थे। धर्म के प्रचारक पादरियों मे भी बुरे आचरण इतने अधिक थे कि उनका प्रभाव समाज मे बहुत बुरा पड़ता था।"

"अंगरेज-समाज मे अंध विश्वास फैला हुआ था। भयानक अपराधों में भी पादरी लोग प्रायः क्षम्य समझे जाते थे। किसी मनुष्य की हत्या करने पर किसी पादरी को दण्ड में पाँच रुपये (लगभग शिलिंग आठ पेन्श) से अधिक देने न पड़ते थे। बड़े-बड़े शहरों मे भी सफाई का कोई अच्छा प्रबन्ध न था। ×आबादी मे भी जंगली जानवर घूमा करते थे। रास्ते इतने खराब थे कि बरसात हो जाने पर सहज ही गाड़ियों का चलना बन्द हो जाता था। बहुत-से स्थानों के निवासी जंगली होते थे। उनकी स्त्रियाँ आमतौर पर आधी नङ्गी रहती थीं और उनके गाने बहुत बेहूदा और जंगली हुआ करते थे।"

"अंगरेजों का सामाजिक जीवन बहुत गिरा हुआ था। विवाहित स्त्रियाँ अपने पतियों के द्वारा भयानक रूप से पीटी जाती थीं। ×अपराधियों को सजा देने का कार्य भयानक होता था। स्त्रियों को बाँधकर बाजारों मे छोड़ दिया जाता था। ×आमतौर पर लोग स्वभाव के कठोर होते थे। बड़े-बड़े शहरों की गलियाँ भीषण रूप से गन्दी रहा करती थीं। ×शाम होते ही लोग अपने घरों में चले जाते थे और फिर रात भर घरों से न निकलते थे। ×रात मे प्रकाश की यह अवस्था थी कि लण्डन की आम गलियों मे रात को अन्धकार रहा करता था। अविश्वास इतना फैला हुआ था कि बड़े आदमियों के मरने पर सहज ही लोग इस बात को मान लेते थे कि जहर देकर मारा गया है।"

इतिहासकार ड्रेपर के अनुसार, इंगलैण्ड की राजनीतिक और धार्मिक अवस्था सत्रहवीं शताब्दी तक बड़ी विचित्र थी। अपने विश्वास के अनुसार किसी को आचरण करने का अधिकार न था। मिलटन, बेक्सर और बकेनन जैसे विद्वानों की राजनीतिक पुस्तकें जला दी जाती थीं। धार्मिक और राजनीतिक अपराधियों के सिर काट कर टेम्स नदी के पुल पर इसलिए लटका दिये जाते थे कि उनको देखकर लोग उस तरह के अपराध करने का साहस न करें। सन् १६६५ ई० मे एक कानून पास किया गया था कि जो कोई बादशाह के गिरजों को छोड़कर ईसा के गिरजों मे उपदेश सुनने अथवा आदेश देने जायगा, उसको मौत का दण्ड दिया जायगा और उसकी सभी प्रकार की सम्पति पर सरकार का अधिकार हो जायगा।

ईसा के अनुयायियों को बड़ी कठोरता के साथ दण्ड दिया जाता था। उन्हे बाँधकर नदी मे छोड़ दिया जाता था। ईसाई गिरजों मे जाने वाली स्त्रियों को भी इसी प्रकार के दण्ड दिये जाते थे। योरप के अन्य देशों की अपेक्षा इंगलैण्ड मे गुलामी की प्रथा अधिक थी। पशुओं की भाँति मनुष्यों के बेचने और खरीदने का काम होता था। आमतौर पर असभ्यता फैली हुई थी।

सत्रहवीं शताब्दी क अन्त तक जिस इंगलैण्ड की यह अवस्था थी और जिसको स्वयं अंगरेज इतिहासकारों ने स्वीकार किया है, उसी ने भारत मे शासन कायम करने के बाद, भारत के निवासियों को असभ्य और गँवार कह कर संसार के दूसरे देशों के सामने सम्बोधन किया।

जिन अंगरेज इतिहासकारों ने अंगरेज जाति की असभ्यता और अयोग्यता को स्वीकार किया है उन्हीं, को निष्पक्ष होकर भारत के सभ्य जीवन को मन्जूर करना पड़ा है। अंगरेजों के आने के पहले सम्पूर्ण भारत मे जिस प्रकार सभ्यता फैली हुई थी, और देश मे जैसी कुछ शासन की व्यवस्था थी, उसका अंगरेज ग्रन्थकारों, यात्रियों और इतिहासकरों ने स्वयं वर्णन किया है। इस देश की प्रशंसा मे उन लोगों ने जो कुछ कहा है और लिखा है, उसके उद्धरण देकर अनावश्यक विस्तार वाञ्छनीय नहीं है।

ऊपर की अलोचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देश मे अंगरेजों का शासन कायम होने पर भी, भारत के निवासियों के

आत्म-सम्मान को क्षति पहुँचाने वाला कोई कारण न था। पर अस्वाभाविक रूप से उसके लिए कारण पैदा किये गये। जैसा पहले लिखा जा चुका है।

अंगरेजी शासन-काल में यहाँ के स्कूलों और कालेजों में जो इति हास पढ़ाये गये, उनके द्वारा इस देश के निवासियों की अश्रद्धा अप पूर्वजों के प्रति उत्पन्न हुई। देश के इतिहास को बिगाड़ने में ब्रिटि अधिकारियों ने बड़ी सावधानी से काम लिया।

अंगरेजी शासन-काल मे जो इतिहास इस देश में पढ़ाये गये, उनव आलोचना करते हुए, महान साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अप एक निबन्ध मे लिखा है—

"आज कल भारतवर्ष का जो इतिहास इस देश मे पढ़ाया जाता और जिसे रट कर इस देश के विद्यार्थी परीक्षा मे बैठते हैं, वह अर्द्ध रा के अन्धकार मे दिखायी देने वाले एक डरावने स्वप्न के सिवा और कु नहीं है। न जाने कहाँ से कब और कौन आया। मार-काट का श मचा। बाप-बेटे और सगे भाइयों मे राजगद्दी के लिए मार-काट हुई एक आक्रमणकारी आता है। उसके लौटते-लौटते तीसरे का आक्रम हो जाता है। पठान, मुगल, पोर्च्युगीज, फरासीसी और अंगरेज- सभी के इस देश में आक्रमण होते हैं।

"इन पढ़ाये जाने वाले रक्तरञ्जित इतिहासो में भारत के वास्त विक रूप का पता नहीं चलता। इस पृथ्वी पर भारतवासियों का स्था कहां है, इस प्रश्न का उत्तर इन इतिहासों मे कहीं नहीं मिलता। पढ़ा जाने वाले इन इतिहासों से तो यही मालूम होता है कि संसार भारतवासियों का कोई स्थान ही नहीं है। इस देश मे मार-काट, खू खराबी और लूट-पाट करने के लिए जो लोग आये, वे ही सब कुछ है

"उस भीषण काल में मार-काट और खून खराबी के सिवा क और कुछ था ही नहीं ? आंधी के समय, आंधा ही नहीं होती। जीव के सभी काम जारी रहते हैं। वे बन्द नहीं हो जाते। आँधी के कार वे दिखायी भले न पड़े। लेकिन हमें तो वही जानना है। इस-सम हमें इस बात के समझने की जरूरत है, कि उस मार-काट की आँ के दिनों मे और भी कुछ था या नहीं। यद्यपि विदेशियों को उ समय की एक आँधी ही नजर आती है। उस आँधी की धूल उ

विदेशियों की आँखों में ऐसी भर गयी है कि उन्हें और कुछ दिखायी ही नहीं पड़ता। यही कारण है कि विदेशी लेखकों के लिखे हुए इतिहासों में आँधी के वर्णन के सिवा हमें और कुछ नहीं मिलता।"

"इन इतिहासों के पढ़ने से मालूम होता है कि उस समय भारतवर्ष था ही नहीं, उसके स्थान पर आक्रमणकारियों की गर्जना थी, उनके बवण्डर थे और उनकी लूट-मार थी। ×अपने दुर्भाग्य से हमें जो इतिहास पढ़ना पड़ता है, वह हमें सोलह दूनी आठ का पाठ पढ़ाता है। ×जब अपने देश के सम्बन्ध में हम इस प्रकार की बेतुकी बातों को पढ़ते हैं तब अपने देश पर हमारी ममता अथवा अनुराग कैसे पैदा हो। इसीलिए स्वदेश के स्थान पर विदेश का महत्व हमको अधिक मालूम होता है। अपने देश की बेइज्जती को देखकर हमको लज्जा नहीं मालूम होती।"

सचमुच बिदेशी-शासन-काल में हमें जो इतिहास पढ़ाये गये हैं, उनकी यही अवस्था है। दूसरे देशों को अपने पूर्वजों का जो इतिहास पढ़ने को मिलता है, उससे उनके हृदय मे पूर्वजों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है और आत्म-सम्मान की भावना उनमें जागरित होती है। परन्तु हमारे यहाँ पराधीनता की शताब्दियों मे उसका उलटा हुआ है। उसका परिणाम यह हुआ कि उस पराधीनता में रहकर हमने न केवल अपनी और अपने देश की अपरिमित सम्पति का विनाश किया वरन जीवन की सम्पूर्ण मान-मर्यादा को खोकर चिर संचित अपने आत्म-सम्मान को भी हम गवाँ बैठे!

विदेशी आदर्शों का आक्रमण

भारत के अपने आदर्श थे, जीवन के अपने सिद्धान्त थे। संसार एक तरफ था, भारत दूसरी तरफ था। आध्यात्मिकता मिश्रित भारतीय जीवन में पारलौकिक भावनाओं की प्रधानता थी। उन आदर्शों और सिद्धान्तों मे भारत ने सांसारिक उन्नति को—उस उन्नति को जिसकी नींव छल, प्रपंच, दगा और अधर्म की भूमि पर रखी जाती है—नाश्रवान कहकर घोषित किया था और परमार्थ से प्रेरित भावनाओं को ही एक मात्र सत्य और धर्म के रूप में स्वीकार किया था।

विदेशी शासन में भारत के उन आदर्शों का सुदृढ़ प्रासाद गिराया

गया। जीवन के प्राचीन गौरव की ऊँची दीवारें गिरा दी गयीं और उनके स्थान पर जीवन की दूसरी इमारत बनायी गयी। इसका परिणाम क्या हुआ उसकी विवेचना हमे संक्षेप मे यहाँ कर लेना है।

भारत के निवासी असभ्य और अशिक्षित न थे परन्तु विदेशी-शासन-काल मे वे असभ्य कहकर पुकारे गये। सही बात यह है कि असभ्य न होने पर भी हम असभ्य बनाये गये। संसार के स्वतंत्र देशों ने शिक्षा और सभ्यता में बड़ी-से-बड़ी उन्नति की: परन्तु भारतीय जीवन विदेशी पराधीनता के कीचड़ मे करवटें बदलता रहा। गुलामी की जञ्जीरों को तोड़कर बाहर निकलने के बाद जब देश अपने जीवन की परिस्थितियों पर दृष्टि डालता है तो उसे स्वयं विदेशियों की कही हुई बातों में सत्य दिखायी देता है।

सचमुच आज हम न तो घर के है और न घाट के। हमारी प्राचीन सभ्यता का विनाश उसी समय आरम्भ हुआ था, जब इस देश मे विदेशी हुकूमत की शुरूआत हुई थी। देश के पुराने आदर्शों पर विदेशी आदर्शों का आक्रमण हुआ। उसका फल यह हुआ कि हम न तो विदेशी आदर्शों को अपना सके और न अपने आदर्शों की रक्षा कर सके। इसमे कोई नयी बात न हुई। जो कुछ हुआ, वह अत्यन्त स्वाभाविक था।

जब किसी एक रङ्ग पर दूसरा रङ्ग लाने की चेष्टा की जाती है तो उसका परिणाम भयानक होता है। होता यह है कि न तो नया रङ्ग उस पर आ पाता है और न पहले का ही रङ्ग अपनी अवस्था में मे रह जाता है। फल यह होता है कि उन दोनों रङ्गों के मिश्रण से एक तीसरा रङ्ग, जो अत्यन्त भद्दा और खराब होता है, पैदा हो जाता है, ठीक यही अवस्था भारतीय आदर्शों के सम्बन्ध मे हुई।

ऊपर लिखा जा चुका है कि भारतीय आदर्श भारत के अपने आदर्श थे। उनमें जीवन के स्वार्थ पूर्ण आचरणों के लिए कहीं स्थान न था। विदेशी-शासन-काल में जो आचरण देश के सामने आये, वे उनके आचरणों से बिलकुल भिन्न थे। दोनों प्रकार के आदर्शों और आचरणों में संघर्ष उत्पन्न हुआ। देश में विदेशी शासन था। इसलिए देश के प्राचीन आदर्शों की पराजय हुई। विदेशी आचरण इस देश

में विजयी हुए। लेकिन उनका कोई रूप न बन सका। परिणाम स्वरूप देश का जीवन दिन-पर-दिन भद्दा और खराब होता गया।

पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता की विवेचना करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है

"भारत की ही नहीं, बल्कि संसार की जितनी प्राचीन सभ्यताये हैं, उनमें—उनके अन्तरङ्ग जीवन में—सम्पूर्ण एकता रही है। प्राचीन सभ्यता मे एक भावना थी, संघर्षहीन एकता थी और सरलता थी। प्रचारित साहित्य ही समाज का जीवन था। यही कारण है कि प्राचीन आर्यों के धर्म और चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में एक ही चित्र दिखायी देता है। उन ग्रन्थों के द्वारा समाज के जिन आचरणों का निर्माण हुआ था, उनके ज्ञान, उनकी कल्पना और उनकी जिन्दगी के तरीकों मे काम करने वाला एक ही साँचा मिलता है।

"परन्तु योरप की नयी सभ्यता इससे उलटी चली है। पश्चिम की उस सभ्यता पर दृष्टि डालने से स्पष्ट दिखाई देता है कि वह अत्यन्त विचित्र, पेचीदा और चन्चल है। यह बात जरूर है कि उसके भीतर समाज के सभी तन्त्र काम करते हैं। उसमे लौकिक भावना भी है और आध्यात्मिक प्रेरणा भी काम करती है। उसमें ये दोनों बातें हैं।"

"पश्चिम की इस नयी सभ्यता में स्वाधीनता को महत्व दिया गया है। ऐश्वर्य और क्षमता को अपनाया गया है। इस प्रकार की सभी बातो का उसमे विकास हुआ है परन्तु इन सभी शक्तियों को एक विचित्र ढङ्ग से समाज के धागे मे पिरोया गया है। ऐसा मालूम होता है कि उन सब का आपस में मेल नहीं खाता। इसलिए उनके भीतर परस्पर एक अमिट संघर्ष चल रहा है। इस नयी सभ्यता में कोई ऐसी प्रबल शक्ति नहीं है जो विरोधी शक्तियों को दबाकर एक निश्चित् अनुशासन में चलने के लिए उनको विवश कर सके।"

"योरप के चरित्र में बड़ी विचित्रता और विरोधी भावना है। उसकी सभ्यता में विभिन्न शक्तियाँ एकत्रित हो कर काम कर रही हैं। परन्तु वे रोजाना एक, दूसरे को दबाने की चेष्टा करती हैं। उनमे से प्रत्येक दूसरे पर विजयी होना चाहती है। सभी के भीतर स्वतन्त्रता की अनन्त तृष्णा है। योरप के आज के जीवन में एक ओर विश्वास

का बन्धन है और दूसरी ओर वन्धनों को तोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार चलने की भीषण लालसा है।"

"योरप की इस नयी सभ्यता मे कोई एक शक्ति, दूसरी शक्तियों को दबा नहीं सकती। सभी शक्तियों मे आपस के घात-प्रतिघात चलते रहते हैं।× यही कारण है कि वे शक्तियां एक दूसरे की जड़ काटने की चेष्टा किया करती है। वहाँ के समाज मे विभिन्न दल हैं और उन दलों के विभिन्न उद्देश्य हैं।"

"भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का मार्ग, योरप की इस नयी सभ्यता से विलकुल भिन्न था। भारतीय सभ्यता में एक ही साँचा था, एक ही उद्देश्य था और उसका एक ही आदर्श था। उसकी विभिन्न शक्तियाँ थीं, परन्तु उनमें कहीं संघर्ष न था।× योरप की सभ्यता का मूल आधार राजनीतिक स्वार्थ है। उसमे परामर्श की भावना नहीं है। इसीलिए उसमे विनाश के छिद्र दिखाई दे रहे हैं।"

रवीन्द्र बाबू की आलोचना इस बात को स्पष्ट प्रकट करती है कि भारत की प्राचीन सभ्यता और योरप की नयी सभ्यता के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। दोनों के आदर्श अलग-अलग हैं। भारतीय सभ्यता के दृष्टिकोण में जितनी ही परमार्थ की भावना है, योरप की सभ्यता में उतनी ही और उससे भी अधिक स्वार्थ की अधिकता है।

इस अवस्था में विदेशी आदर्शों का इस देश के आदर्शों पर जो आक्रमण हुआ, उसका एक बुरा परिणाम देश के जीवन में उत्पन्न हुआ और वही आज सबके सामने है। इसे किसी प्रकार भारतीय जीवन नहीं कहा जा सकता।

आज वे सभी बातें हमारे जीवन में नष्ट हो चुकी हैं और नष्ट हो चुकी हैं विदेशी शासन के कारण। हमारे आचरणों में आज न कुछ अपना है और न कुछ पराया। जो कुछ है वह संघर्ष के द्वारा उत्पन्न हुआ जीवन का निन्दनीय कीचड़ है। जिसे भारत के निवासी विदेशी पराधीनता के देन के रूप मे अपने सिर पर रखे हुए आज संसार के सामने दिखायी दे रहे हैं।

———

छठवाँ परिच्छेद

पाकिस्तान

मुस्लिम लीग का जन्म

देश में अंगरेजी-शासन का अन्त और विभाजन एक साथ हुआ। प्राचीन भारतवर्ष के दो भाग किये गये—एक भाग हिन्दुस्तान और दूसरा पाकिस्तान के नाम से संसार के सामने आया। भारत में अंगरेजी राज्य के इतिहास में सब से बड़ी विभीषका देश का विभाजन है और इस हुकूमत का सब से भयानक परिवर्तन पाकिस्तान का निर्माण है। यहाँ उसी के विवरण और विश्लेषण, संक्षेप में हम देने की चेष्टा करेंगे।

साम्प्रदायिकता का विष बोने के लिए लार्ड मिण्टो का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। यह भी लिखा जा चुका है कि इसकी बुनियाद डालने का श्रेय, संयुक्त-प्रान्त के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर आकलैण्ड कालविन को है। अंगरेजी-शासन की जिन्दगी, हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष पर निर्भर थी। इसी विद्वेष ने इस हुकूमत के अस्तित्व को कायम किया था। भारत के निवासी हिन्दू और मुसलमान एक होकर न रह सकें, इसके सम्बन्ध में सतर्क रहना अंगरेज-शासकों का कार्य था। इसी आधार पर लार्ड कर्ज़न की एक योजना थी। उसे कार्यान्वित करने का काम लार्ड मिण्टो ने किया।

सन् १९०५ में भारत के वाइसराय और ब्रिटिश अधिकारियों के बीच पत्र-व्यवहार हुआ था। उन पत्रों में वर्तमान वाइसराय ने देश की राजनीतिक परिस्थिति पर प्रकाश डाला था। उसको काबू में लाने के लिए अधिकारियों की ओर से कुछ परामर्श वाइसराय को दिये गये थे। सन् १९०६ में भारतीय मुसलमानों का एक डेपूटेशन, सर आगा खाँ के नेतृत्व में लार्ड मिण्टो से मिला। उसके प्रति लार्ड मिण्टो ने अपने स्वागत और सत्कार का यथोचित प्रदर्शन किया। उस डेपूटेशन

ने भारतीय मुसलमानों के हितों के लिए प्रार्थना की और लार्ड मिए
ने उनके लिए बहुत कुछ आश्वासन दिया। यहीं से भारत के मुस
मानों को हिन्दुओं से अलग करने का एक अटूट साधन ब्रिटिश-अ
कारियों को मिला। उसी वर्ष, सन् १९०६ में मुस्लिम लीग
स्थापना हुई। देश के मुसलमानों को संगठित करने का स्वर इधर-उध
सुनायी पड़ने लगा। लीग की स्थापना से प्रेरणा पाकर पंजाब
प्रान्तीय हिन्दू-सभा को सन् १९०९ में जन्म दिया गया और साथ
निश्चय किया गया कि आगामी वर्ष हिन्दू महासभा की प्रतिष
होगी। मुस्लिम लीग की स्थापना मे तीन उद्देश्य रखे गये—ब्रिटि
सरकार के प्रति असीम राज-भक्ति, भारतीय मुसलमानों के राजनीति
हितों की रक्षा और यथासम्भव भारत की अन्य जातियों के सा
सहयोग और स्नेह। इन्हीं तीनों उद्देश्यों को लेकर लीग का संगठ
आरम्भ हुआ।

जाहिरा तौर पर लीग के सामने आरम्भ मे हिन्दुओं के प्र
विरोधी भावना न थी। यद्यपि वातावरण कुछ पहले से ही विरोध
काम कर रहा था। सन् १८८५ में काँग्रेस की प्रतिष्ठा हो चुकी थी औ
उसमें भारत की सभी जातियों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। अंगरेज
अधिकारियों ने स्वयं काँग्रेस की स्थापना मे सहयोग किया था। उस
द्वारा देश में शान्ति कायम रखने की कल्पना की गयी थी। परन्
अपने इस उद्देश्य के साथ-साथ, अंगरेज दूरंदेशी से काम लेते रहे।

मिस्टर बेक का विष

इन दिनों में मिस्टर बेक (Beck) अलीगढ़ मुस्लिम कालेज
प्रिंसिपल थे। मुसलमानों के संसर्ग में रह कर उन्होंने मुस्लिम जमा
को समझने में सफलता प्राप्त की थी। वे मुसलमानों के साथ अपन
सम्पर्क बराबर बढ़ाते रहे और गो-कशी के प्रश्न को लेकर उन्हों
मुसलमानों को सदा उकसाने का काम किया। सन् १८८९ में ब्रिटिश
पार्लामेण्ट में भारत के सम्बन्ध में एक बिल पेश था। मिस्टर चार्ल्स
ब्रेडला ने भारत को प्रजा-सत्तात्मक अधिकार दिये जाने के लिए एव
योजना पेश की थी। उन्हीं दिनों मे अलीगढ़-कालेज के प्रिन्सिपल
मिस्टर बेक ने मुसलमानों को एक दूसरी दिशा में ले जाने की चेष्ट

की। उन्होंने मुसलमानों से कहना आरम्भ किया—"प्रजा-सत्तात्मक अधिकार का सिद्धान्त भारत के लिए अनुकूल नहीं है। 'इसका कारण यह है कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। उसमें अनेक जातियाँ रहती हैं और उनके सम्पूर्ण जीवन, एक दूसरे से भिन्न हैं।"

मिस्टर बेक ने उस बिल के विरोध में इक्कीस हजार मुसलमानों के हस्ताक्षर कराये। उनके इस कार्य में सब से अधिक सहायक अलीगढ़-कालेज के मुस्लिम विद्यार्थी साबित हुए। मसजिदों में इबादत और नमाज के लिए आये हुए मुसलमानों को यह सिखाया जाने लगा कि हिन्दू, अंगरेज-अधिकारियों मे मिल कर मुसलमानों के खिलाफ आन्दोलन कर रहे हैं। वे मुसलमानों की जड़ काटने की कोशिश में हैं। गो-कशी मुसलमानों का मजहबी हक है। मुसलमानो को हिन्दुओं के षड़यन्त्रों से सावधान रहना चाहिए।

हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को बहकाना मिस्टर बेक के जीवन का एक कार्य हो गया था। उन्होंने एक अंगरेजी पत्र मे लेख लिखा था, उसमें उन्होंने साफ-साफ मुसलमानों को बताया था—"भारत में दो आन्दोलन चल रहे हैं, एक तो काँग्रेस का और दूसरा गो-कशी के विरोध का, काँग्रेस अंगरेजों के विरोध मे चल रही है और गो-कशी के विरोध का आन्दोलन भारत के मुसलमानों के खिलाफ चल रहा है। काँग्रेस का भीतरी उद्देश्य यह है कि भारत का शासन, अंगरेजों से छीन कर हिन्दुओं को दिया जाय। हिन्दुओं ने मुसलमानों का सदा वहिष्कार किया है। मुसलमानों को चाहिए कि वे अंगरेजों से मिल कर चलें और दोनों ही मिल कर भारत में हिन्दुओं की चालों को कामयाब न होने दें। मुसलमानों और अंगरेजों—दोनों का इसी में भला है कि वे प्रत्येक अवस्था मे एक दूसरे से मिल कर चलें और इस देश मे प्रजा-सत्तात्मक अधिकारों के सिद्धान्तों को कभी पनपने न दें।"

इंगलैण्ड में होने वाली 'अंजुमने इस्लामिया' की एक सभा मे भी भाषण देते हुए मिस्टर बेक ने कहा था—"भारत में मुसलमान, अंगरेजों के साथ रहना पसन्द करते हैं, परन्तु वे हिन्दुओं का संसर्ग और सम्पर्क पसन्द नहीं करते। इसका कारण यह है कि सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक तीनों ही दृष्टिकोण से हिन्दुओं और मुसलमानों में भयानक प्रतिकूलता है।" मिस्टर बेक ने अपनी अली-

गढ़-कालेज की सर्विस से पन्द्रह वर्षों में लगातार इस कार्य का सम्पादन किया। सन् १८९९ में उनकी मृत्यु हो गयी। बंग-भंग के सिलसिले में भी भारत के मुसलमानों को उकसाया गया और उसका प्रभाव एक इस्लामी जमात पर पड़ा भी। परन्तु वंग-भंग का अस्तित्व स्वयं अपनी रक्षा न कर सका। फिर भी अंगरेज-अधिकारी समय-समय पर साम्प्रदायिकता का आश्रय लेकर मुसलमानों को भड़काते रहे और हिन्दू-मुस्लिम विरोधी भावनायें उत्पन्न करते रहे।

सन् १९२१ में असहयोग का सूत्रपात हुआ। देश की राजनीतिक गुलामी को समाप्त करने के लिए गाँधी जी ने मुसलमानों को खास तौर पर अपने साथ लिया और मुसलमान काँग्रेस मे आये भी। असहयोग का विस्तार बड़ी तेजी के साथ देश में बढ़ा और हिन्दू-मुस्लिम एकता की गाँठ दिन-पर-दिन मजबूत होने लगी। ब्रिटिश-सरकार ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसको तोड़ने की चेष्टा की। परन्तु उन दिनों में सफलता न मिली। फिर भी सरकार निराश न हुई। सत्याग्रह का प्रयोग स्थगित किये जाने पर देश में निर्बलता का जन्म हुआ। उन्हीं दिनों मे सरकार ने साम्प्रदायिकता का फिर आश्रय लिया। मुस्लिम लीग अर्से से सरकार के हाथों का खिलौना हो रही थी। भारत के मुसलमानों मे उसका विस्तार भी हो रहा था। देश के राजनीतिक जीवन मे इस विष के विस्तार को रोकने के लिए काँग्रेस ने अपने सभी प्रयत्न किये। लेकिन उनका कोई परिणाम न निकला। इन दिनों में मुस्लिम लीग का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और भारत के बड़े-बड़े शहरों मे हिन्दू-मुस्लिम दंगे चल रहे थे। ब्रिटिश-सरकार को मिली हुई सफलता का यह एक प्रमाण था, जिससे इनकार नहीं किया सा सकता।

विद्रोह की आग

सन् १९१० में दोनों जातियों के बीच साम्प्रदायिक उत्तेजना बढ़ गयी थी। लेकिन काँग्रेस के प्रयत्न से उसे शान्त करने की चेष्टा की गयी। यह कोशिश की गयी कि दोनों जातियों के लोगों की एक सब-कमेटी बना दी जाय जो ऐसे मौकों पर शान्ति कायम करे। इसके बाद फिर सन् १९१६ तक देश के हिन्दू-मुस्लिम वातावरण साधारण तौर

पर चलता रहा। साम्प्रदायिक वातावरण दूषित हो रहा था। परन्तु दोनों जातियों के जीवन में जाहिरा कोई उसका प्रभाव न था। सन् १९२१ में मुसलमानों का झुकाव काँग्रेस की ओर अधिक हुआ और उसी वर्ष, मालावार में मोपला-विद्रोह हुआ। उस विद्रोह में जबरदस्ती हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया। इसका प्रभाव हिन्दुओं पर अच्छा नहीं पड़ा। काँग्रेस निष्पक्ष हो रही थी। परन्तु हिन्दुओं की एक संख्या, साम्प्रदायिकता से अपने आपको अलग न रख सकी। मालावार में जो हिन्दू, मुसलमान बनाये गये थे, उनको फिर हिन्दू बनाने का कार्य किया गया। काँग्रेस पर इस प्रकार परिस्थितियों का कोई प्रभाव न था। उसमें हिन्दू भी थे और मुसलमान भी दोनों चुप थे। लेकिन काँग्रेस के बाहर साम्प्रदायिकता का नग्न-नृत्य आरम्भ हुआ। मुसलमान, हिन्दुओं को मुसलमान बनाना चाहते थे और हिन्दू इसके लिए तैयार न थे। यहीं से देश में साम्प्रदायिकता की वृद्धि होने लगी। फलस्वरूप, इलाहाबाद, कानपुर, कोहाट, कलकत्ता और आगरा जैसे शहरों मे हिन्दू-मुसलमानों के खुल कर दङ्गे हुए। मोपला-विद्रोह के बाद सन् १९२४ मे भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ और सन् १९३१ का वर्ष तो साम्प्रदायिक मारकाट का वर्ष बन गया। इस प्रकार जो रक्तपात आरम्भ हुआ, उसका क्रम समाप्त न हुआ।

ब्रिटिश-सरकार के साथ काँग्रेस का स्वाधीनता-संग्राम चल रहा था। देश अंगरेजी-शासन को हटाने की कोशिश मे था और सरकार अपने अमोघ अस्त्र-साम्प्रदायिकता का प्रहार कर रही थी। इन्हीं दिनों मे भारत की राजनीतिक माँग को पूरा करने के लिए ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री रामजे मेकडानल्ड ने Communal Award के नाम से साम्प्रदायिक निर्णय पेश किया। उन दिनों मे गाँधी जी जेल मे थे। यरवदा जेल मे ही गाँधी जी ने अनशन आरम्भ किया। सन् १९३५ के सुधारों में लीग की माँग को अत्यधिक महत्व दिया गया। लण्डन की गोल-मेज सभा में पाकिस्तान का रूप-रेखा उपस्थित की गयी थी। सन् १९३७ तक मुस्लिम लीग को खुलकर मैदान मे आजाना पड़ा और लीग डिक्टेटर मिस्टर जिन्ना ने पाकिस्तान की आवाज ऊँची की। काँग्रेस की कामयाबी मे मुस्लिम लीग की रुकावट थी। ब्रिटिश-सरकार को अपना शासन कायम रखने के लिए भारत की साम्प्रदायिकता

की आड़ में खड़ा होना पड़ता था। इस अवस्था में काँग्रेस के सामने एक ही प्रश्न था कि जैसे भी हो सके मुस्लिम लीग के साथ काँग्रेस का समझौता हो। काँग्रेस ने इस ओर अपना कार्य आरम्भ किया।

मिस्टर जिन्ना मुस्लिम लीग के प्रेसीडेण्ट थे। साथ ही लीग की ओर से सभी अधिकार उनको मिल चुके थे। इसलिए जब काँग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ समझौता करने का प्रश्न उठाया, उस समय मिस्टर जिन्ना लीग की तरफ से सामने आये।

लीग के साथ समझौते की कोशिशें

भारत के राजनीतिक जीवन में हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतिष्ठा गांधी जी ने की थी। आरम्भ से लेकर उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को समान दृष्टि से देखा था। उनका विश्वास था कि मुस्लिम लीग के साथ समझौता किया जा सकता है अपने इसी विश्वास को लेकर उन्होंने लीग के प्रधान अधिकारी मिस्टर जिन्ना से मिलना आरम्भ किया। परन्तु अन्त तक उनको सफलता न मिली। लीग का सहयोग प्राप्त करने के लिए गाँधी जी ने मिस्टर जिन्ना के साथ खूब पत्र-व्यवहार किया, परन्तु विफल हुआ।

अपनी चेष्टा मे काँग्रेस को निराशा नहीं हुई। लीग का सहयोग और सम्पर्क प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के प्रमुख अधिकारियों ने अलग-अलग प्रयत्न किये। लेकिन कोई परिणाम न निकला। सुभाष चन्द्र बोस, जवाहर लाल नेहरू, डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद, तेज बहादुर सप्रू और दूसरे नेताओं ने अपनी पूरी शक्तियाँ लगाकर मिस्टर जिन्ना को अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु किसी को सफलता न मिली। मुस्लिम लीग की ओर से इस समझौते के अधिकारी एक मिस्टर जिन्ना थे, परन्तु काँग्रेस की ओर अनेक प्रमुख अधिकारियों ने अपनी-अपनी कोशिशें कीं। परन्तु सभी अन्त मे असफल रहे।

समझौते के सिलसिले में मिस्टर जिन्ना ने बार-बार जाहिर किया कि हिन्दुस्तान मे दो प्रमुख जातियाँ हैं, हिन्दू और मुसलमान। आचार-विचार में, शिक्षा-सभ्यता में और जिन्दगी की दूसरी बातों में वे दोनों ही एक दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। दोनों की भाषा और है। वाणी और है। धार्मिक विचार और विश्वास दोनों के

भिन्न-भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों दो राष्ट्र हैं और वे एक दूसरे के इतने प्रतिकूल हैं कि वे एक साथ रह नहीं सकते। दोनों जातियों के हित के लिए यह जरूरी है कि देश का विभाजन किया जाय। हिन्दुओं और मुसलमानों को शान्ति पूर्वक जीवन बिताने के लिए एक ही मार्ग हो सकता है और वह यह कि दोनों ही अलग-अलग राष्ट्रों का निर्माण करें।

विषमता का कारण

मिस्टर जिन्ना की इन बातों से स्पष्ट हो गया कि देश में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों का रहस्य क्या है। यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि देश में हिन्दुओं और मुसलमानों के दंगे उस समय तक नहीं हुए जब तक मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन का प्रश्न नहीं उठाया। भारतवर्ष की भूमि पर हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ रहते हुए आठ सौ वर्ष बीत चुके हैं परन्तु उस लम्बे युग में कभी भी साम्प्रदायिक दंगे उस समय तक नहीं देखे गये। वे सदा एक साथ रहे और एक दूसरे के साथ पड़ोसी के कर्त्तव्य का पालन करते रहे। मुस्लिम बादशाहों के भारत पर आक्रमण हुए। मार काट हुई। पराजित समाज लूटा गया। परन्तु इन सभी दुर्घटनाओं का कारण कभी भी न तो धार्मिक था और न साम्प्रदायिक। मुस्लिम आक्रमणों के बाद भारत में मुसलमान आकर बसे और भारत को ही उन्होंने सदा के लिए अपना घर बनाया। क्या इसीलिए कि मुस्लिम एक ऐसी जाति थी जो विषमता और प्रतिकूलता के कारण हिन्दुओं के साथ रह न सकती थी? आक्रमणकारी मुसलमान मार-काटकर और लूटकर भारत से लौट क्यों न गये थे? इस देश के निवासी होने का और फिर रहस्य क्या था? विदेशी इतिहासकारों ने भारत पर मुसलमानों के आक्रमण मन्जूर किये हैं। लेकिन किसी इतिहासकार ने यह नहीं लिखा कि मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच साम्प्रदायिक दंगे हुए। इस अवस्था में मिस्टर जिन्ना की बातों का अर्थ क्या होता है? इसका सही अथ और सीधा-सीधा अर्थ क्या यह नहीं है कि गोरे प्रभुओं की कृपा से हिन्दू-मुस्लिम विषमता उत्पन्न हुई? इंगलैण्ड में होने वाली 'अंजुमने इस्लामिया' की सभा में मिस्टर बेक ने भी तो

यही बताया था कि हिन्दू मुसलमानों की विषमता बहुत है। उनकी भाषा भिन्न है, पोषाक भिन्न है। धार्मिकता मे विभिन्नता है। रहन-सहन में विभिन्नता है। जीवन की सभी बातों में वे एक दूसरे से भिन्न हैं। इसीलिए कि दोनों जातियाँ एक; दूसरे के साथ रह नहीं सकती। इस विषमता की खोज अंगरेजी-शासन के अधिकारी अंगरेजों ने की और मिस्टर जिन्ना तथा उनके लीगी मित्रों ने उसका समर्थन किया। हिन्दुओं और मुसलमानों को स्वयं अपनी इस विषमता की जानकारी न थी। जब तक यह उनको मालूम न हुआ, उस समय तक वे भले आदमी की तरह एक दूसरे के साथ रहते रहे। विषमता का ज्ञान होते ही दोनों विषम हो उठे और उनका सम्पूर्ण बन्धुत्व, एक दूसरे के लिए विष बन गया।

मुस्लिम लीग की प्रतिष्ठा के साथ उनके मूल उद्देश्य लिखे जा चुके हैं। आरम्भ मे मुस्लिम लीग को स्वयं इस विषमता का ज्ञान न था। इसका ज्ञान तो उसे भी कुछ अंगरेजों के द्वारा हुआ। वहीं से उनके उद्देश्यों में परिवर्तन आरम्भ हुआ। यह परिवर्तन भी एक साथ नहीं हुआ। लीग का परिवर्तन, देश के विभाजन तक बहुत देर मे पहुँचा। इसीलिए जब जितना परिवर्तन हुआ, उसी के अनुसार लीग ने अपनी माँगें पेश की थीं।

लीग की माँग और मि० जिन्ना

काँग्रेस ने देश के राजनीतिक क्षेत्र से साम्प्रदायिकता को बिल्कुल अलग रखने की चेष्टा आरम्भ से ही की थी। लेकिन लीग की योजना साम्प्रदायिकता के आधार पर ही थी। मिस्टर जिन्ना जो निर्णय चाहते थे वह एक मात्र साम्प्रदायिक था। काँग्रेस की ओर से मिस्टर जिन्ना को प्रसन्न करने की जो कोशिश की गयी। वह सीमा से बाहर थी। इलाहाबाद में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए सम्मेलन किया गया। उसमे मिस्टर जिन्ना ने देश के शासन में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का निर्णय कराने की माँग की। देश मे मुसलमानों की संख्या का औसत पच्चीस प्रतिशत है। लेकिन मिस्टर जिन्ना की माँग पर काँग्रेस ने बत्तीस प्रतिशत प्रतिनिधित्व देना मंजूर किया। यहीं पर लीग का झगड़ा खतम हो गया था। लेकिन ब्रिटिश-सरकार के भारत-मन्त्री

सर सेमुअल होर ने ३३ सही १/४ प्रतिशत देने का आश्वासन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इलाहाबाद-सम्मेलन का निर्णय बेकार हो गया। यू० पी० में मुसलमानों की संख्या १४ प्रतिशत से अधिक नहीं है। लेकिन मुस्लिम सीटें २५ प्रतिशत मानी गयीं। मद्रास-प्रान्त में उनकी संख्या ६ प्रतिशत के करीब है। लेकिन उनको सीटें १८ प्रतिशत दी गयीं। परन्तु इसके बाद भी मिस्टर जिन्ना और लीग का सहयोग प्राप्त न हो सका। लीग की माँग आज जो कुछ होती। काँग्रेस उसे स्वीकार कर लेती। दूसरे दिन लीग की मांग आगे बढ़ जाती। मिस्टर जिन्ना और लीग का समझौता कोई समझौता न था। एक बार जो निर्णय होता। वह कछ ही समय में बदल जाता और लीग की नयी माँग को लेकर मिस्टर जिन्न सामने आ जाते। इस प्रकार की ट्रीटी (सुलह) राजाओं और नवाबों के साथ ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के शासकों की देखी गयी थी और उसके बाद लीग के तानाशाह मिस्टर जिन्ना ने उनका प्रदर्शन किया। देश मे लीग और काँग्रेस को छोड़कर, किसी तीसरी संस्था का जीवित अस्तित्व न था। लीग मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का दावा करती थी। काँग्रेस का निर्माण हिन्दू-मुसलमान —दोनों के रक्त से हुआ था। वह दुलारी लीग को अप्रसन्न नहीं कर सकती थी। देश की खोयी हुई स्वतंत्रता लीग की प्रसन्नता पर ही निर्भर थी। काँग्रेस, स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ अर्पण करने को तैयार थी और मिस्टर जिन्ना को मालूम था कि लीग के सहयोग के बिना देश की स्वाधीनता के दर्शन नहीं हो सकते। लीग की प्रसन्नता पर भारत में अंगरेजी शासन अमर रह सकता था और लीग की प्रसन्नता प्राप्त होने पर ही, भारत की पराधीनता बिदा हो सकती थी।

इस अवस्था का लाभ उठाकर मिस्टर जिन्ना ने लीग की ओर से मुसलमानों के प्रतिनिधित्व में ५० प्रतिशत की माँग की। काँग्रेस ने—देश के राजनीतिक नेताओं ने और भारत के स्वाधीनता-पुजारियों ने उसे भी स्वीकार किया। परन्तु फिर भी काँग्रेस के साथ लीग का समझौता कायम न हो सका और मिस्टर जिन्ना ने आगे बढ़कर देश के विभाजन की माँग पेश कर दी।

मुस्लिम-लीग के पक्षपाती मुसलमान देश का विभाजन कराने में

उतारू हो गये और अपनी माँग में उन्होंने पाकिस्तान का नारा ऊँचा किया। लण्डन की गोल मेज कान्फरेन्स में पाकिस्तान की रूप-रेखा स्पष्ट की गयी थी। सन् १९४० में मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन लाहौर मे किया गया। लीग के सम्पूर्ण इतिहास मे लाहौर का यह अधिवेशन सब से बड़ा और कई बातों में अनोखा था। लीग के अधिकारियों ने इस अधिवेशन मे देश के बँटवारे का प्रस्ताव पास किया और अपनी माँगों में एक मात्र पाकिस्तान का निर्णय किया।

विभाजन का सूत्रपात

भारत के मुसलमानों के सामने देश के विभाजन की योजना कोई नई न थी। कुछ समय पहले से मुस्लिम-वातावरण मे देश के बँटवारे का जिक्र चल रहा था। विभाजन की योजना का जन्म पहले-पहल मि० सी० रहमतअली के मस्तिष्क मे सन् १९३३ में हुआ था। परन्तु उसकी रूप-रेखा का निर्माण न हुआ था। यह योजना भारत के समस्त मुसलमानों की माँग भी न थी। देश के कुछ राजनीतिक मुसलमानों के मस्तिष्कों मे ही उसने अपना घर अभी तक बना रखा था। 'भारतीय शासन-विधान की भविष्य कालीन समस्यायें' नामक एक पुस्तक मिस्टर जिन्ना ने अंगरेजी मे लिखी थी। उसमे पाकिस्तान की परिभाषा अधिक विस्तार के साथ की गयी है। उस पुस्तक मे स्वीकार किया गया है कि पाकिस्तान के निर्माण का विचार सब से पहले स्वर्गीय हजरत अल्लामा इकबाल के मास्तिष्क मे आया। विभिन्न राजनीतिक क्षेत्रों मे उसके जिक्र हुए। अनेक स्थानों पर उसकी कटु अलोचनायें की गयीं और कुछ मुस्लिम विद्वानों ने उसका उपहास भी किया। उस समय आलोचनाओं मे स्पष्ट कहा गया कि इस प्रकार की योजना व्यावहारिक नहीं हो सकती। उस समय के पाकिस्तान का विवरण और स्पष्टीकरण यहाँ पर आवश्यक न होगा।

पाकिस्तान का अर्थ होता है, पवित्र लोगों का देश। यह पाकिस्तान पूर्व योजना के अनुसार, भारतवर्ष के पाँच प्रमुख स्थानों से सम्बन्ध रखता था—उत्तरी-पश्चिमी भारत—पञ्जाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त; काश्मीर, सिन्ध और बलूचिस्तान। भारत के इन्हीं पाँच स्थानों से निर्माण होने वाला पाकिस्तान, सन् १९३३ से मुस्लिम राज-

नीतिज्ञों के मष्तिस्कों में चक्कर मार रहा था। परन्तु किसी को उसकी व्यावहारिकता पर विश्वास न होता था।

पाकिस्तान के सम्बन्ध मे चार योजनायें लीग की स्वीकृति के लिए तैयार की गयीं। सभी का उद्देश्य भारत का विभाजन करना था। परन्तु यह विभाजन किस आधार पर किया जाय, यह एक कठिन प्रश्न था। पहली योजना 'एक पञ्जाबी, के द्वारा रची गयी। दूसरी योजना को अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर सैयद जाफरुल हसन और मुहम्मद अफजल हुसेन कादरी ने तैयार किया था और चौथी योजना पञ्जाब के प्रधान मन्त्री सर हयातखा के द्वारा प्रस्तुत हुई थी। इन योजनाओं मे देश के विभाजन के विवरण दिये गये थे। विभाजन की मौलिक योजना में इस्लाम के आधार पर विश्व-क्रान्ति की एक कल्पना भी की गयी।

मुस्लिम प्रचार

सन् १९४० से मुस्लिम लीग ने विभाजन की माँग खुल कर अपने सामने रखी। मुस्लिम पत्र-पत्रिकाओं में लीग का प्रचार हो रहा था। मुस्लिम सार्वजनिक क्षेत्रों मे पाकिस्तान की माँग की जा रही थी। भारत मे हिन्दुओं के साथ मुसलमान नहीं रह सकते, इसके प्रमाण मे देश के सभी क्षेत्रों मे साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। मुस्लिम लीग और मुस्लिम नेताओं की ओर से उर्दू, अंगरेजी तथा दूसरी भाषाओं मे लीग का समर्थनकारी साहित्य प्रकाशित हो रहा था। देश के बाहर—विदेशों मे भी बड़ी तेजी के साथ प्रचार किया जा रहा था कि भारत मे हिन्दुओं की अधिक संख्या है। वहाँ के मुसलमान अल्प संख्या मे हैं। इसलिए मुसलमानों पर हिन्दुओं के अत्याचार बढ़ते जाते हैं। विदेशों में इस बात का भी प्रचार किया गया कि काँग्रेस हिन्दुओं की एक संस्था है। हिन्दुओं का ही काँग्रेस मे आधिपत्य है। अंगरेजों से शासन छीन कर काँग्रेस भारत मे हिन्दू राज्य स्थापित करने जा रही है। भारत के मुसलमानों और मुस्लिम लीग के इस प्रचार का विदेशों में प्रभाव कम नहीं पड़ा। यह बात सही है कि भारत में काँग्रेस जिस लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिए लड़ रही थी, उसको समझने वालों की संख्या भी विदेशों में कम न थी। परन्तु

मुस्लिम प्रचार के प्रभाव में कई कारण थे। पहला कारण यह था कि भारत के सम्बन्ध में दस करोड़ मुसलमानों की आवाज सुनी जानी चाहिए। मुस्लिम पत्रों, पत्रिकाओं, साहित्यिक पुस्तकों और भाषणों में लगातार चीत्कार हो रहा था कि भारत में इस्लाम खतरे में है। जिस देश में कोई जाति अगर अल्प संख्या मे है तो बहु-संख्यक जाति से उसका विपदापन्न होना, संसार के नेत्रों मे स्वाभाविक है। भारत में मुसलमानों की संख्या का औसत पच्चीस प्रतिशत था। इस अवस्था में मुसलमानों के चीत्कार में किसे सन्देह हो सकता था। अप्राकृतिक वातावरण मे छिपे हुए उस सत्य को किसी के नेत्र कैसे देख सकते थे, जिसमे भारत के तीस करोड़ हिन्दू, दस करोड़ मुसलमानों के द्वारा पीटे जाते रहे। यह ऐसा सत्य है जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस अस्वाभाविक सत्य को समझने की कोशिश कोई क्यों करे। समझाने पर भी किसी की किसी की समझ में नहीं आ सकता। इसीलिए कितने ही विदेशी पत्रकारों की आलोचनायें मुस्लिम चीत्कार की सहानुभूति में लिखी गयी हैं। हिन्दू जाति के भीतरी जीवन के रहस्य को कोई कैसे जान सकता है। भारत मे मुस्लिम शासन समाप्त हो जाने के बाद भी, मुस्लिम मनोवृत्ति में शासन की भावना का लोप नहीं हुआ। इसके दो प्रमुख कारण हैं, एक तो यह कि देश में मुस्लिम शासन को समाप्त हुए मुश्किल में दो शताब्दियाँ बीती हैं और दूसरा कारण यह है कि मुस्लिम शासक मनोवृत्ति को उनके धार्मिक और साम्प्रदायिक संगठन के द्वारा सदा प्रोत्साहन मिला है। इसीलिए इस छिपे हुए सत्य को, अन्वेषण करने के पश्चात् कोई भी स्वीकार करेगा कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों मे शासन करने की शक्ति अधिक है। यह सत्य साधारण आदमियों से लेकर सरकारी और गैर-सरकारी छोटे-बड़े आदमियों तक, अशिक्षितों से लेकर शिक्षितों तक और छोटे-छोटे सावजनिक क्षेत्रों में काम करने वाले कार्यकर्ताओं से लेकर बड़े-बड़े नेताओं तक स्पष्ट देखा जा सकता है। मानव-जीवन मे अगर यह कोई प्रमुख गुण हो सकता है तो उसका कारण मुसलमानों का संगठनात्मक और रचनात्मक जीवन है। इसका हिन्दू जाति में सदा से अभाव रहा है।

लोकतन्त्र की आवश्यकता

यह सही है कि आज विश्व के जीवन में साम्प्रदायिकता के लिए स्थान नहीं है। इसीलिए आज का एक हिन्दू साम्प्रदायिकता का विरोध करके अपना मस्तक ऊँचा समझ सकता है और साम्प्रदायिकता के पक्षपाती मुसलमानों को असम्मान पूर्ण नेत्रों से वह देख सकता है। लेकिन जब विदेशियों के द्वारा आलोचना होती है, "मुसलमानों में परस्पर सहानुभूति है, एकता है, स्नेहपूर्ण बन्धुत्व है, वे भाई के लिए जीना और भाई के लिए मरना जानते हैं। यही उनके लोकतन्त्रात्मक शासन की उपयोगिता है। लेकिन हिन्दुओं में व्यर्थ का बहुसंख्यक जातियां हैं, उनकी अलग-अलग सभ्यता और संस्कृति है। उनके आपस के विरोधों ने उनको अनेक स्थलों पर मनुष्यत्व से भी गिरा दिया है। उनके जीवन में इसने उनको लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए अनुपयोगी बना दिया है" तो विदेशियों के द्वारा की गयी आलोचना के इस सत्य को सुनकर एक हिन्दू का मस्तक अवनत हो जाता है।

देश में मुस्लिम लीग की माँग जितनी ही तीव्र होती गयी, हिन्दू-मुस्लिम दंगों की उतनी ही वृद्धि होती गयी। इस विरोध, वैमनस्य, विद्वेष और रक्तपात ने लीग के विभाजन की माँग को मजबूत बना दिया। यद्यपि काँग्रेस ने उसका खुलकर विरोध किया, सिखों के संगठित आन्दोलन ने उसे आड़े हाथों लिया। फारवर्ड ब्लाक ने विभाजन की तीव्र निन्दा की और शक्तिशाली सोशलिस्ट पार्टी ने देश के बंटवारे को रोकने के लिए छाती ठोंकी। इन विरोधों को सुनकर मुस्लिम लीग मुस्कराती रही। पाकिस्तान के विरोध मे आवाजों की एक आंधी भारत में उठी और इंगलैण्ड के पार्लामेण्ट का समर्थन लेकर शान्त हुई। परन्तु जिन्ना के ऊपर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। जहां तक भारत मे ब्रिटिश-शासन का प्रश्न था, ब्रिटिश पार्लामेण्ट देश के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के विरोध में थी।

हिन्दू-मुस्लिम विद्रोह का कारण

अपने जन्म के बाद मुस्लिम लीग ने जिस प्रकार अपना विस्तार किया और धीरे-धीरे आगे चल कर वह देश के विभाजन एवम् पकिस्तान के निर्माण का कारण बन गयी, उसके सम्बन्ध में ऊपर

लिखे हुए विवरण के बाद एक प्रश्न पैदा होता है कि हिन्दू-मुस्लिम विद्रोह का वास्तव में कारण क्या है ? इन दङ्गों का सन् १९१० से सूत्रपात्र होता है और उनकी जड़ आगे चलकर बराबर मजबूत होती गयी, इससे इनकार नहीं किया जा सकता ।

देश के नेताओं ने विश्वास किया है कि हिन्दू-मुस्लिम, दोनों जातियों की साम्प्रदायिकता के कारण देश में दङ्गे हुए। मुसलमान साम्प्रदायिक हैं और हिन्दू भी साम्प्रदायिक हैं धर्म और साम्प्रदाय का पक्ष लेकर दोनों जातियाँ आपस में विद्रोह करती हैं और उसके फल-स्वरूप देस में रक्तपात होता है। इसी विश्वास का प्रचार देश से बाहर—विदेशों में भी हुआ।

इस विद्रोह के कारण में एक दूसरी बात और भी कही जाती है। लोगों का यह भी कहना है कि आर्थिक मसले के कारण दोनों जातियाँ आपस में लड़ती हैं। दूसरे कारण पर विश्वास करने वालों की संख्या कम है, लेकिन है जरूर। बहुत पहले पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने भी आर्थिक मसले को लेकर इन दङ्गों का कारण बताया था। लेकिन मिस्टर जिन्ना ने पण्डित नेहरू की तीव्र आलोचना की थी और भी कुछ राजनीतिक नेताओं ने आर्थिक मसले को ही दङ्गों का कारण बता या है। Rise and fullf llm ent of British rule in India नामक अंगरेजी की एक ऐतिहासिक पुस्तक में भी लिखा गया है—"भारत में हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष और विद्रोह का कारण आर्थिक है लेकिन उसका परिणाम धार्मिक और साम्प्रदायिक हो जाता है।"

हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष और विद्रोह के कारणों में यही दो बातें आमतौर पर सामने आता हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दोनों कारण गलत हैं। धार्मिक और साम्प्रदायिक मतभेद तथा विद्वेष के कारण यदि ये दंगे हुए होते तो आठ सौ वर्षों की लंबी अवधि दोनों जातियों ने सुख और शांति के साथ न बितायी होती। बढ़े हुए विद्वेष और विद्रोह के युग में भी बड़े-बड़े शहरों और कस्बों से दूर—देहातों में रहने वाले हिन्दू और मुसलमान, सुख और शान्ति के साथ रहे। विद्रोह और रक्तपात की कथाओं को सुनने के बाद भी उनके ऊपर कोई प्रभाव कभी नहीं पड़ा। यह बात जरूर थी कि ऐसे स्थानों में मुसलमानों की संख्या इनी-गिनी और हिन्दुओं की संख्या बहुत

अधिक थी। कुछ भी हो, ऐसे स्थानों में हिन्दू और मुसलमान नहीं लड़े और न उनके पारस्परिक व्यवहारों में कोई अन्तर आया। इस प्रकार की सभी-बातें स्पष्ट बतातीं हैं कि दंगों के कारण में धार्मिकता और साम्प्रदायिकता का केवल नाम लिया जाता है।

इसी प्रकार दंगों के कारणों में आर्थिक मसला भी नहीं है। जब गरीबी के कारण दोनों जातियों के लोग पीड़ित हो उठते हैं तो आपस में वे लड़ने लगते हैं, ऐसा कहना और निर्णय करना वस्तु स्थिति से बहुत दूर ले जाता है।

गम्भीरता पूर्वक दंगों का अध्ययन करने से सहज ही समझा जा सकता है कि इस भीषण रक्तपात का कारण मुस्लिम लीग के शासन का प्रलोभन था। लीग ने अपने प्रचार-बल से इस प्रकार के दंगे कराये और राज्य के प्रलोभन में व्यथ ही लोगों का रक्तपात हुआ। मुस्लिम लीग को स्वतन्त्र रूप से मुसलमानों के राज्य की प्रतिष्ठा करनी थी। इस कार्य के लिए उसको दूसरा अवसर सम्भव न हो सकता था। देश की राजनीतिक परिस्थितियों से यह निश्चय हो चुका था कि अगर भारत स्वतन्त्र होता है तो उसका विभाजन भी निश्चित् है और पाकिस्तान का निर्माण होकर रहेगा। इन दंगों का कारण राजनीतिक था और लीग की प्रेरणा पाकर मुसलमानों के आक्रमण ठीक उसी प्रकार के थे, जिस प्रकार एक निर्बल जाति या देश पर शक्तिशाली देश या जाति का आक्रमण हुआ करता है। देश का विभाजन हो जाने और पाकिस्तान बन जाने के बाद भा भारत में चार करोड़ मुसलमान रहते हैं, क्या वे धार्मिक और साम्प्रदायिक नहीं हैं? फिर उनकी धार्मिकता और साम्प्रदायिकता का विरोध कहाँ चला गया? आज भारत मे दंगों का नाम सुनायी क्यों नहीं पड़ता? अगर आर्थिक मसले के कारण पहले दंगे होते थे, तो वह मसला आज और भी कठोर हो गया है। फिर दंगे क्यों नहीं होते? इस प्रकार की सभी बातें क्या साफ-साफ यह नहीं जाहिर करतीं कि उन दिनों के हिन्दू-मुस्लिम दंगों का कारण राजनीतिक था?

लीग के प्रचार की प्रतिक्रिया

मुसलमानों की एक बड़ी संख्या को लेकर, मुस्लिग लीग देश में

अपना आन्दोलन कर रही थी और उसको मजबूत बनाने के लिए देश के मुसलमानों को हिन्दू अस्तित्व का शत्रु बना दिया था। लीग का यह प्रभाव वृद्ध मुसलमानों को प्रायः छोड़कर युवक समुदाय के मुसलमानों पर और विशेष कर निम्न और साधारण श्रेणी के मुसलमानों पर बहुत अधिक पड़ा। फिर भी, काँग्रेस को अपने साथ काम करने के लिए कुछ मुसलमान मिलते जाते थे। दूसरी ओर हिन्दुओं की सभा, हिन्दू महासभा ने हिन्दू हितों का राग आरम्भ कर रखा था, उसको इस बात को जानने की जरूरत न थी कि उसके उस राग में स्वर, लय और वाद्य का कुछ माधुर्य है या नहीं। लीग के मोर्चे की जवाबदेही में उसे कुछ करना था। फिर उसका राग स्वरवाला हो अथवा बे-स्वरवाला। इसी बीच में, नवीन शासन-विधान के अनुसार, सन् १९३६ और ३७ में चुनाव लड़े गये। देश के ११ प्रान्तों के, काँग्रेस ने ६ प्रान्तों में अपना बहुमत कायम किया। इसका परिणाम यह हुआ कि काँग्रेस का जो आन्दोलन देश में था, वह बहुत धीमा और धुँधला पड़ गया। अवसरवादी लोगों ने अपनी-अपनी ओर खींचातानी आरम्भ की, लीग को शक्तिशाली होने के लिए इस मौके पर अधिक सुविधायें मिलीं। सन् १९३२ तक जिस पाकिस्तान को मुसलमान व्यर्थ की कल्पना कहा करते थे, उन्हीं मुसलमानों ने सन् १९४० में पाकिस्तान को अपना अन्तिम ध्येय घोषित किया।

ग्यारह प्रान्तों में काँग्रेस की ओर से ६ प्रान्तों में मन्त्रि मण्डल था और बाकी में मुस्लिम-मन्त्रि-मण्डल चला। इन्हीं दिनों में बङ्गाल-प्रान्त में भीषण अकाल पड़ा। उस प्रान्त में मुस्लिम-मन्त्रि-मण्डल था। लीग का शासन चल रहा था। उस अकाल में प्रान्त के जीवन की रक्षा का प्रश्न वहाँ के मन्त्रिमण्डल के हाथ में था। उस अकाल का कोई प्रतिकार मुस्लिम-मन्त्रि-मण्डल न कर सका और उसके फलस्वरूप उस प्रान्त में लगभग चालीस लाख स्त्री, पुरुषों और बच्चों ने तड़प-तड़पकर प्राण दिये। इस अकाल की भीषणता के विवरण, पूर्व पृष्ठों में लिखे जा चुके हैं।

मुस्लिम लीग की गर्जना

देश के विभाजन की माँग व्यापक हो उठी। उसकी सफलता के

के लिए लीग ने विष-वमन करना ही अपना एक साधन समझा। लीग की गर्जन सुनकर मुसलमानों की आँखों में गैर मुस्लिम लोग खटकने लगे। लीग की सीधी घोषणा यह थी कि भारत या तो अनन्त काल तक के लिए पराधीन रहता है अथवा स्वतन्त्रता के साथ, देश का विभाजन स्वीकार करता है।

मुसलमानों में जोश की लहरें उठ रही थीं। उनके सामने मुस्लिम साम्राज्य का एक ऐसा प्रलोभन था जो उन में मदिरा से भी अधिक मादकता उत्पन्न कर रहा था। मि० जिन्ना ने अपने वक्तव्यों और भाषणों में साफ-साफ कहना आरम्भ किया—"भारत लोकतन्त्र शासन के लिए उपयुक्त नहीं है। जिन देशों में लोकतन्त्र शासन चल रहे हैं, उनसे भारत की परिस्थितियां बिल्कुल ही उलटी हैं। इस देश के लिए इस प्रकार की शासन की व्यवस्था सोचना न केवल भ्रम पूर्ण साबित होगा, बल्कि उसके द्वारा देश का विनाश होगा।"

काँग्रेस के साथ लीग का खुला विद्रोह आरम्भ हुआ। उसके किसी भी कार्यक्रम को विफल करना और उसकी प्रत्येक योजना को उलटी शिक्षा की ओर ले जाना लीग का एक प्रमुख उद्देश्य हो गया। इस विद्रोह में हिन्दुओं का शिकार होना ही स्वाभाविक था। लीग ने काँग्रेस को हिन्दुओं की एक संगठित संस्था के नाम से पुकारना आरम्भ किया था और देश से लेकर विदेशों तक उसने काँग्रेस के इसी रूप का प्रचार किया। काँग्रेस को अपनी यह कमजोरी अनुभव हो रही थी। इसीलिए हिन्दुओं पर मुसलमानों के लाख अत्याचार और अनाचार होने पर भी उसने मुसलमानों के विरुद्ध कुछ कहने का कभी साहस न किया, जिससे वह हिन्दुओं के पक्षपात में न घसीटी जाय। जिन्ना को मालूम था कि काँग्रेस के लिए सब से बड़ा आघात यही हो सकता है। इसीलिए उन्होंने अपने इसी अस्त्र की सफलता पर अधिक विश्वास किया। काँग्रेस के हिन्दू नेताओं का इतना ही अपराध था कि उन्होंने हिन्दू-वंश में जन्म लिया था।

इन दिनों में मुस्लिम लीग का प्रत्येक पहलू, काँग्रेस-आन्दोलन, राष्ट्रीय कार्यक्रम और विकास की ओर चलनेवाले प्रयत्न का विरोधी हो रहा था। विरोध की इस भावना में यहाँ तक कडुवापन बढ़ गया था कि गैर-मुस्लिम शब्द केवल हिन्दुओं का परिचायक बन गया।

विभाजन के परिणाम की ओर

मुस्लिम लीग का कहना था कि वर्त्तमान दङ्गों और विद्रोहों का कारण हिन्दू-मुस्लिम जीवन की विषमता है। देश का विभाजन ही उसका एक मात्र प्रतिकार है। दूसरे लोगों ने भी यही समझा था कि दोनों जातियों के विरोधी विचारों के कारण देश में रक्तपात हो रहा है। इसीलिए आरम्भ से लेकर अन्त तक विरोध करने पर भी लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि आखिर यह होने वाला रक्त-पात कैसे बन्द हो। मुस्लिम लीग और उसके पक्षपाती मुसलमानों को छोड़कर देश का विभाजन कोई न चाहता था। भारत के पड़ोसी अन्य मुस्लिम देशों ने भी विभाजन का विरोध ही किया था। किन्तु लीग को अपने समर्थन में विदेशी आलोचनायें भी प्राप्त होती थीं। देश के विभाजन की समस्या कठिन मानते हुए भी कुछ विदेशी विद्वानों और पत्रकारों ने विभाजन को सम्भव बनाने के लिए परामर्श भी किये थे जो विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे।

फिर भी देश के राजनीतिक क्षेत्रों में यह प्रश्न बार-बार उठता था कि फिर होना क्या चाहिए? देश के राजनीतिक विद्वानों से यह अप्रकट न था कि मुस्लिम लीग ने देश को उस परिस्थिति में लाकर डाल दिया है, जिसमें, पराधीनता और विभाजन—दो में एक स्वीकार करना ही पड़ेगा।

देश का विद्वेष, उत्पात और रक्तपात दिन पर-दिन बढ़ता जाता था। विभाजन हो जाने पर और पाकिस्तान बन जाने पर क्या ये सब उपद्रव शाँत हो जायंगे? यह एक असाधारण और गम्भीर प्रश्न सभी के सामने था। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि देश के विभाजन के सम्बन्ध में अलग-अगल योजनायें लीगी मुसलमानों की ओर से बनी थीं और बनी थीं, विभाजन की रूप-रेखा खींचने के लिए।

यह निश्चित था कि विभाजन के बाद पाकिस्तान से हिन्दुस्तान सबल रहेगा। दोनों पड़ोसी होंगे। दोनों के स्वार्थ, शत्रुता का भाव पैदा करेंगे। राज्य-लिप्सा ने पाकिस्तान बनाने की नौबत पैदा की है और उसके बाद, साम्राज्य-लिप्सा के कारण, पाकिस्तान हिन्दुस्तान पर हमलावर होगा। उस समय अपनी निर्बलता के कारण उसे अपने

पड़ोसी मुस्लिम राष्ट्रों से सहायता माँगनी पड़ेगी। इस प्रकार किसी भी अवस्था में आज जो उत्पात दंगों के रूप में हैं, वे विभाजन के बाद दो राष्ट्रों के युद्ध के रूप में परिणत हो जायँगे।

आरम्भ में मुस्लिम लीग के अस्तित्व का कोई भी अर्थ और उद्देश्य रहा हो, लेकिन आगे चलकर उसने जो रास्ता स्वीकार किया, वह अन्त में एक ऐसे भीषण रक्तपात की ओर ले जाने वाला था, जिसमें पाकिस्तान और हिन्दुस्तान—दोनों का क्षय और विध्वंस अवश्यम्भावी था। विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण दोनों जातियों की शांति के लिए नहीं—उनके विनाश के लिए था। किसी भी दृष्टि कोण से विभाजन—पाकिस्तान और हिन्दुस्तान को सुख और सुविधाओं की ओर ले जाने वाला न था।

कांग्रेस ने भविष्य के इन्हीं खतरों को बचाने के लिए कठोरता के साथ विभाजन का विरोध किया था। उसने बड़े-बड़े राष्ट्रों के मुकाबिले में छोटे-छोटे राष्ट्रों के जीवन को कीड़ों-पतिंगों की तरह मरते और मिटते देखा था। विश्व के आज सघर्षपूर्ण राजनीतिक जीवन में कोई देश निर्बल न हो नहीं तो उसकी स्वतंत्रता की कोई अवधि नहीं होती। विभाजन हो जाने से पाकिस्तान एक छोटा-सा देश बनेगा और हिन्दुस्तान निर्बल हो जायगा। इन दोनों को, एक दूसरे से खतरा रहेगा। साथ ही संसार का कोई भी शक्तिशाली देश, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों को हजम कर जायगा। विभाजन के पश्चात् हिन्दू और मुसलमान जो दोनों देशों में अल्प संख्यक होकर रहेंगे, वही दोनों, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की बर्बादी के कारण बनेंगे। हिन्दुस्तान के अल्प, संख्यक मुसलमान, हिन्दुस्तान के विरुद्ध नित्य ही विद्रोह की आग पैदा करते रहेंगे और इसकी प्रति-क्रिया पाकिस्तान के अल्प संख्यक हिन्दुओं पर होगी। भारत के मुसलमानों की सहायता, पाकिस्तान—सरकार करेगी और पाकिस्तान के हिन्दुओं की सहायता भारत-सरकार करेगी। कुछ दिनों तक छिपी हुई यह आग, भीतर ही भीतर धुंआ देगी और उसके बाद दोनों देशों के बीच खुलकर युद्ध के बाजे बजेंगे। विभाजन और पाकिस्तान का यह निश्चित परिणाम है।

इस परिणाम को देश के राजनीतिक नेता जानते थे। किसी से भी उसका भयावह परिणाम छिपा न था। विदेशी राजनीतिज्ञों से भी

यह अप्रकट न था। लेकिन मुस्लिम लीग की यह एक परम वाञ्छनीय किन्तु सुदूरवर्ती योजना थी। हिन्दुओं और मुसलमानों को सुख और सुविधायें देने के लिए देश का विभाजन किया जायगा, यह कहना तो भयानक रूप से लोगों को धोखा देना था। विभाजन के सम्बन्ध में मिस्टर एडवर्ड टामसन ने Enlist India For Freedom नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—"भारत का बँटवारा हो जाने पर दोनों राष्ट्र प्लेग की तरह, एक दूसरे को खलते रहेंगे। इस सिललिए में मैंने कायदे आजम मिस्टर जिन्ना से कहा था कि यह रास्ता तो बड़ा भीषण साबित होगा, मेरी बात का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि भीषण जरूर होगा, लेकिन वह अवश्यम्भावी है।"

इस प्रकार के खतरे छिपे न थे। परन्तु प्रश्न यह था कि उसके रोकने का उपाय क्या था? भारत से ब्रिटिश-सरकार की विदाई के कुछ दिन बाकी रह गये थे। उसी बीच में ब्रिटिश-पार्लामेण्ट में कहा गया था कि वह दिन करीब है, जब भारत से ब्रिटिश-सरकार का सम्बन्ध टूट जायगा, इसी सिलसिले में किसी महाशय ने गाँधी जी से पूछा था कि 'ब्रिटेन के चले जाने पर भारत में आपसी झगड़े की तो कोई आशंका नहीं है?' उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए गाँधी जी ने कहा था—'हम तो चाहते हैं कि ब्रिटिश-सरकार कल जाने की अपेक्षा, आज भारत छोड़कर चली जाय, हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़कर और खून बहा चुकने के बाद स्वयम अपनी समस्याओं का निर्णय कर लेंगे।'

गाँधी जी की बात से पता चलता है कि वे देश का विभाजन न चाहते थे। लेकिन इस बात पर वे विश्वास करते थे कि हिन्दू-मुसलमान लड़कर स्वयम् एक दिन अपनी समस्याओं को सुलझा लेंगे।

सातवाँ परिच्छेद

नेता जी का फौजी आक्रमण

बन्दी जीवन के अन्तिम दिन

अंगरेजी-शासन की भारतीय पराधीनता को दूर करने के लिए देश के जिन महान पुरुषों ने अपने जीवन उत्सर्ग किये हैं, उनमें सुभाष-चन्द्र बोस का एक अलग स्थान है। अपने जीवन के आरम्भ से ही वे इस संघर्ष में शामिल हुए थे और इस पराधीनता के अन्तिम दिनों में बलिदान हो कर, उन्होंने स्वाधीनता का आह्वान किया। भारतीय स्वन्तत्रता के इतिहास में सुभाष बाबू की सेवायें अमर हैं।

इस परतन्त्रता के संघर्ष में सुभाष बाबू की सेवायें दो भागों में विभाजित हैं। सन् १९४० तक काँग्रेस के आन्दोलन और संघर्ष में रहकर बड़ी योग्यता और प्रतिभा के साथ उन्होंने देश का नेतृत्व किया। उसके बाद देश की परतन्त्रता को समाप्त करने के लिए उन्होंने एक, दूसरे रास्ते का आश्रय लिया। उसी समय से वे नेता जी के नाम से सम्बोधन किये गये।

अपने जीवन के विकास-काल में ही उन्होंने काँग्रेस में प्रवेश किया था और काँग्रेस के नेताओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर, उन्होंने रात और दिन एक कर दिया था। उनके त्याग और तप से देश को एक बड़ी शक्ति मिली थी। सन् १९२० के बाद, गाँधी जी का मार्ग, काँग्रेस का मार्ग बना था और सुभाष बाबू भी उस पर विश्वास करते थे। परन्तु सन् १९४० के कुछ दिन पहले तक उनका धैर्य निर्बल हो गया था। उन्होंने समझा था कि सन् १९२१ और २२ के दिनों में काँग्रेस का संघर्ष जितना शक्तिशाली था, उतना वह आगे चलकर नहीं रहा। वे किसी प्रकार देश को स्वतन्त्र देखना चाहते थे। वे चाहते

थे कि देश की स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा के लिए बलिदान होने में हमें जीवन का मोह छोड़ देना चाहिए।

अपनी इस आत्म-प्रेरणा के कारण उनको न केवल काँग्रेस शिथिल दिखायी देने लगी थी, बल्कि गाँधी जी के सिद्धान्त भी उनको कुछ शक्तिहीन से जान पड़ने लगे थे। सुभाष बाबू का स्वातंत्र्य प्रेम; उनकी बढ़ती हुई अधीरता का कारण बना। सुभाष बाबू रात-दिन इस बात की खोज में रहने लगे कि इस देश में अंगरेजी शासन को खतम करने का और कौन-सा पथ हो सकता है। इस प्रश्न को लेकर जितने ही वे चिन्तनाकुल होते थे, उतना ही उनको काँग्रेस का संघर्ष शिथिल दिखायी देता था।

बलिदान होने की अभिलाषा

सुभाष बाबू का जेल-जीवन चल रहा था। ब्रिटिश-सरकार पर अब उनका कोई विश्वास न रह गया था। स्वतन्त्रता के पुजारी उनको जेल के एक कैदी मात्र मालूम होते थे। ये परिस्थितियाँ उनके धैर्य को लगातार कमजोर बनाने का काम कर रही थीं। एकाएक उन्होंने निर्णय कर डाला—'या तो देश की स्वाधीनता प्राप्त करेंगे अथवा उसकी वेदी पर यह जीवन उत्सर्ग होगा!' उनके प्राण चञ्चल हो उठे। बन्दी जीवन था। मुक्त होने का कोई भी साधन न था। एक कैदी क्या कर सकता है। उनके नेत्रों में आयरलैण्ड के मेक्स्वनी का चित्र घूमने लगा। उनको बन्दी जीवन की विवशता और अधीरता से घृणा होने लगी। रात को गम्भीर अन्धकार में और विशाल विश्व की चिर-निद्रावस्था में उन्होंने सोच डाला—'इस बन्दी जीवन की विवशता का क्या मूल्य होता है? स्वतन्त्रता प्राणों का बलिदान चाहती है। हमारी विवशता, कायरता का दूसरा रूप है? स्वतंत्रता का अन्वेषण ही यदि इस जीवन का परम उद्देश्य है तो मैं अपने जीवन में क्या दूसरा-मेक्स्वनी नहीं बन सकता?'

सुभाष बाबू का देश के नाम अन्तिम सन्देश

सुभाष बाबू के आकुल प्राणों में विद्युत-शक्ति का संचार हुआ। एक साथ अपनी विवशता का उनको स्मरण हुआ। परतन्त्रता की

अपेक्षा मृत्यु का आलिङ्गन उन्हें सरल और प्रिय मालूम होने लगा। उसी अवस्था में सुभाष बाबू ने आमरण अनशन की प्रतिज्ञा की और २६ नवम्बर, १९४० को अपने इस निश्चय के सम्बन्ध में उन्होंने बंगाल के गवर्नर को एक पत्र लिखा। उसके परिणामस्वरूप, बन्दी अवस्था में ही कारागार से हटाकर उनके निवास स्थान पर, उनको रखा गया। वे अब भी बन्दी थे। लेकिन उनके प्राण ब्रिटिश-सरकार के कठोर शासन से मुक्ति पा चुके थे। गवर्नर के नाम जो उन्होंने पत्र लिखा था, उसमें भारतीय जनों को उन्होंने एक सन्देश दिया था। उस पत्र के प्रमुख अंश इस प्रकार थे :

"निकट भविष्य में आपके हाथों से मैं छुटकारा पा सकूँगा, इसकी मैं आशा नहीं करता। इसीलिए मैं आप से दो प्रार्थनायें करता हूँ उनमें दूसरी प्रार्थना, इस पत्र के अन्तिम भाग में होगी। मेरी पहली प्राथना यह है कि मेरा यह पत्र गवनमेण्ट के संरक्षण में इस प्रकार सुरक्षित रखा जाय कि वह भारत के उन लोगों को उस समय मिले, जब वे आपके बाद, भविष्य में इस शासन के अधिकारी बनें। अपने इस पत्र में देश के निवासियों के नाम मैंने एक सन्देश दिया है। इसीलिए यह पत्र मेरा सार्वजनिक वसीयतनामा है।

दो महीने से अधिक व्यतीत हो रहे हैं। मेरे सामने एक गम्भीर प्रश्न यह है कि देश की वर्तमान परिस्थितियों मे मुझे क्या करना चाहिए ? क्या मुझे इन परिस्थितियों के सामने अपना मस्तक अवनत कर देना चाहिए और जो कुछ गुजरे, उसे मंजूर करना चाहिए अथवा उन सब का मुझे विरोध करना चाहिए, जिन्हें मै अनुचित, अन्याय-पूर्ण और अनैतिक समझता हूँ ? अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक मैंने इस प्रश्न को सोचने और समझने की चेष्टा की है और अन्त में मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अन्याय और अत्याचार के सम्मुख मस्तक झुकाने का तो प्रश्न ही नहीं है। असत्य आडम्बर और अन्याय का सहन करना, घृणापूर्ण अपराध है। इसलिए मैं उसका विरोध करूँगा, यह निश्चित है !

जहाँ तक विरोध का प्रश्न है, वह अधिक दिनों से चल रहा है और उसकी साधारण शक्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं। प्रेस के आश्रय, सार्व-

जनिक आन्दोलन और संघर्ष एवम् दूसरे सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र अप्रभावकारी प्रमाणित हो चुके हैं। एक कारागार के बन्दी के हाथों में अब एक ही शक्ति अवशेष रह जाती है। वह उसका अन्तिम अस्त्र है—अनशन ! आमरण अनशन !!

तर्क के प्रत्येक दृष्टिकोण से मैंने इस अनशन की आलोचना की है और मैंने उन समस्त परिणामों पर दृष्टिपात किया है जो इसके द्वारा किसी भी समय उत्पन्न हो सकते हैं। मुझे कहीं पर भी, इस पर आशंका का अनुभव नहीं हुआ। इस पथ पर पदार्पण करते ही जो वातावरण उत्पन्न हो सकता है, उससे मैं किञ्चित अपरिचित नहीं हूँ। ब्रिटिश सरकार और उनके नौकरशाही शासन को मैं पूर्ण रूप से जानता हूँ। इस प्रकार के संघर्ष में वह किस प्रकार का अपना मार्ग बना सकती है, उसे मुझे समझना नहीं है।

वर्तमान परिस्थितियाँ मुझे सर्वथा असह्य हैं। अन्याय, अनीति और अत्याचार के साथ बार-बार समझौता, मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है। जीवनोत्सर्ग मुझे सर्वथा श्रेयस्कर जान पड़ता है। पाशविक शक्ति के द्वारा, सरकार ने मुझे कारागार में रखने का निश्चय किया है। उसके उत्तर में मुझे कहना है—'मुझे कारागार से मुक्त करो, अन्यथा मुझे अब भी जीवित रहना मंजूर नहीं है।' मुझे अब स्वयं निर्णय करना है, 'मुझे जीवित रहना है अथवा मृत्यु का आलिङ्गन करना है ?'

कल्पनायें सफल नहीं होतीं। संलग्नता, निष्ठा और उत्सर्ग श्रेयस्कर होता है। कोई भी कार्य त्याग और तप का संसर्ग और समन्वय पाकर सफल होता है। प्रत्येक युग और परिस्थिति में आन्तरिक प्रेरणा को ही विजय मिलती है। बलिदान होने वालों के रक्त से मन्दिरों का सृजन होता है।

इस विश्व का एक दिन विनाश होगा—उसकी प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जायगी। परन्तु विचारों का, कल्पनाओं का और आदर्शों का कभी विनाश नहीं होता ! सत्य और सिद्धान्त के लिए किसी की मृत्यु हो सकती है। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद वही सत्य और सिद्धान्त सैकड़ों और हजारों प्राणियों के उत्पन्न करने का कारण होता है। विकासवाद का सम्पूर्ण अस्तित्व इसी आधार पर जीवित है। विचारों,

कल्पनाओं और आदर्शों का क्रम कभी टूटता नहीं है। समस्त नवीन उत्पन्न होने वाली सन्तानों में उसका प्रचार और सञ्चार होता जाता है। कोई भी विचार, कल्पना और आदर्श, कठिन परिश्रम के बिना कभी परिपूर्ण और विजयी नहीं हुआ। उसकी सफलता त्याग, तप और बलि चाहती है।

मानव जीवन की इससे बड़ी महानता और क्या हो सकती है कि वह एक सिद्धान्त के लिए जीवित रहा और उसी सिद्धान्त के लिए वह मरा? किसी मनुष्य के लिए इससे बड़ा और कौन-सा सन्तोष हो सकता है कि उसके द्वारा उत्पन्न हुए सहस्रों और लाखों मनुष्य, उसके अपूर्ण कार्य को परिपूर्ण करने में अपने प्राणों का बलिदान करें? कोई इससे अधिक और क्या अभिलाषा रख सकता है कि उसकी आवाज पृथ्वी पर उठे और अनन्त आकाश में जाकर भी अन्तर्हित न हो एवम् देश से लेकर, सुदूरवर्ती देशों-प्रदेशों तक जिसके सन्देश के एक-एक अक्षर की प्रतिध्वनि हो?

यह स्पष्ट है कि त्याग और तप के द्वारा कोई कभी कुछ खोता नहीं है। जो कुछ खोता है, उससे अधिक मूल्यवान वह उसके बदले में पाता है। व्यक्ति मर कर राष्ट्र के जीवन में प्राणों का स्रोत उत्पन्न करते हैं। जीवन का यह सत्य है। मेरी मृत्यु से भारत को शक्ति मिलेगी—यश मिलेगा और स्वतन्त्रता प्राप्त होगी!

भारतीय बन्धुओं! इस बात को भूल न जाओ कि पराधीन होकर रहना, जीवन का सब से भीषण अभिशाप है! कभी न भूलो कि जिसने हमें गुलाम बना कर रखा है, उसके साथ समझौता करना, एक घृणित अपराध है! ईश्वर की उस महान शक्ति का स्मरण करो जो तुम्हारे अन्तरात्मा में मौजूद है। तुम जो कुछ चाहोगे, कर सकोगे, अन्याय के साथ युद्ध करना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है! फिर उसकी कोई भी कीमत अदा क्यों न करनी पड़े!!"

अदृष्ट सुभाष बाबू

ऊपर लिखे हुए इस पत्र में सुभाष बाबू ने स्पष्ट बताया है कि 'वर्तमान परिस्थिति में रहना अब मैं स्वीकार न करूँगा।' वे देश की स्वतन्त्रता चाहते थे। परन्तु उसके अभाव में वे अपने जीवन की

आहुति देने के लिए भी तैयार थे। बङ्गाल के गवर्नर ने उनके पत्र के बाद कारागार से हटाकर उनके निवास-स्थान पर उनको एक बन्दी की अवस्था में रखा था। सुभाष बाबू वहाँ से एक दिन अदृष्ट हो गये।

बहुत दिनों तक सुभाष बाबू का कहीं पता न चला। १ जुलाई १९४३ की बात है। सिंगापुर में बड़ी धूमधाम के साथ सजावट हो रही थी। सम्पूर्ण शहर के मकानों पर भारतीय काँग्रेस के तिरङ्गे झण्डे लगाये गये थे। समूचे शहर में एक अद्‌भुत प्रसन्नता मनायी जा रही थी। प्रसिद्ध स्थानों पर फूलों से सजाकर विशाल द्वार तैयार किये गये थे। यह सजावट सुभाष बाबू के स्वागत में वहाँ पर की गयी थी। बन्दी जीवन को भङ्ग करने के बाद, यह पहला अवसर था, जब सुभाष बाबू एक सार्वजनिक स्थान पर खुल कर आये थे।

संघर्ष की प्रतिज्ञा

चौथी जुलाई को सिंगापुर में एक विराट सभा का आयोजन किया गया था। दो दिन पूर्व वे जर्मनी से हवाई जहाज पर सिंगापुर लाये गये थे। इस सभा का उद्देश्य था, ब्रिटेन के साथ युद्ध करने के लिए, सुदूर-पूर्व में रहने वाले तीस लाख हिन्दुस्तानियों का संगठन करना। रासबिहारी बोस और दूसरे हिन्दुस्तानी नेताओं के साथ सुभाष बाबू ने सभास्थल के विराट जन-समूह मे जैसे ही प्रवेश किया, 'इनकिलाब जिन्दाबाद, आजाद हिन्द जिन्दाबाद और नेता जी की जय' से सम्पूर्ण सिंगापुर गूंज उठा।

सुभाष बाबू के स्वागत में रासबिहारी का एक भाषण हुआ। उसके बाद सुभाष बाबू खड़े हुए। सभा-स्थल नीरव हो रहा था। कहीं से भी किसी प्रकार की आवाज न आ रही थी। एकत्रित जन समूह में एक बिजली सी दौड़ गयी। प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र सुभाष की ओर थे। उन्होंने अपने भाषण में जो कुछ कहा, एकत्रित समूह ने श्रद्धा के साथ सुना। उनके भाषण का लोगों पर जादू का-सा प्रभाव पड़ा। सभी लोगों ने संगठित होकर ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रतिज्ञा की।

आजाद हिन्द-सरकार

पूर्वीय एशिया में सुभाष बाबू ने अपने संगठन का कार्य अविराम गति से आरम्भ किया और कई महीने तक वे उसमें बड़े परिश्रम के साथ काम करते रहे। १५ अक्टूबर तक उन्होंने संगठन का कार्य पूरा कर लिया और उन्होंने आजाद हिन्द के नाम से एक अस्थायी सरकार बनाने का निश्चय किया।

इसके बाद २१ अक्टूबर, १९४३ को पूर्वी एशिया के रहने वाले चुने हुए हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि और आजाद हिन्द फौज के उच्च पदाधिकारी आजाद हिन्द सरकार का निर्माण करने के लिए सिंगापुर में एकत्रित हुए। सुभाष बाबू नेता जी के नाम से सम्बोधन किये जाते थे। उन्होंने अपने कार्यक्रम की कुछ बातें एकत्रित लोगों के सामने रखीं और आजाद हिन्द सरकार के मिनिष्टरों का चुनाव किया।

लगभग दो शताब्दियों के बाद, यह पहला अवसर था कि भारतीयों ने आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की। चुनाव हो जाने के बाद, प्रधान की हैसियत से नेता जी ने शपथ ग्रहण की और कहना आरम्भ किया—

"परम शक्तिमान परमात्मा के नाम पर, अपने चालीस करोड़ हिन्दुस्तानी भाइयों के लिए..... !" नेता जी ने आगे कुछ न कहा। एकाएक उनके नेत्रों से अविरल अश्रुपात आरम्भ हो गया। उनके अवरुद्ध कंठ से लगभग पन्द्रह मिनट तक किसी को कुछ सुनने को न मिला।

अपने बन्दी जीवन के अटूट बन्धनों को तोड़कर नेता जी ने भारत के बाहर रास्ता पकड़ा था और गवर्नर के नाम लिखे हुए पत्र में, अपने भविष्य-कार्यक्रम को स्पष्ट प्रकट कर देने के बाद भी उन्होने मार्ग का अवलम्बन किया, उसे ब्रिटिश-सरकार रोक न सकी! उन्होंने ब्रिटिश-अधिकारियों से कोई बात छिपा नहीं रखी। उनके शब्दों का स्पष्ट अर्थ यह था कि वे ब्रिटिश-शासन के विरुद्ध एक नवीन किन्तु शक्तिशाली संघर्ष का निर्माण करने का अनुष्ठान कर चुके हैं। अपराधी सरकार का मस्तिष्क उस संघर्ष को पहचान न सका और अन्त में उसका अवरोध न कर सका। नेता जी ने अपनी लम्बी यात्रा समाप्त की और

जर्मनी में जाकर उन्होंने साँस ली। उस समय उनको स्वतंत्र जीवन का आभास हुआ। ब्रिटिश-सरकार के फैले हुए शासन के जाल को तोड़ने के लिए जब उन्होंने अपने साधनों की ओर दृष्टिपात किया। उस समय सन्तोष जनक शीतल वायु की मधुर तरंगे लहराती हुई, उनके मानस-मन्दिर का स्पर्श करने लगीं। ब्रिटिश-सरकार के जो शत्रु थे, एक-एक करके नेता जी के वही मित्र बनने लगे।

पूर्वी एशिया के निवासी हिन्दुस्तानियों का संगठन करने के बाद नेता जी ने आजाद हिन्द सरकार का निर्माण किया। उसके मन्त्रि-मण्डल ने निर्विरोध उस इंगलैण्ड और अमेरिका पर आक्रमण करने का निर्णय किया! जिसने अपनी तलवारों के बल पर भारत को गुलाम बना रखा था। आजाद-हिन्द सरकार के निर्णय ने प्रत्येक देश में प्रवेश किया। जो भारत के साथ सहानुभूति रखते थे, उन्होंने इस सम्वाद को सुनकर सुख की साँसें लीं और जिन्होंने अपने खूनी पंजे में इस देश को जकड़ रखा था उनके कलेजे पर साँप लोटने लगा।

आक्रमण की तैयारियाँ

आजाद हिन्द सरकार के प्रधान, नेता जी थे, 'आजाद हिन्द फौज' के नाम से एक विशाल सेना उनके अधिकारों में थी। २४ अक्टूबर को उसने सिंगापुर में मुकाम किया। पैडाग में एक सार्वजनिक रेली की गयी। एकत्रित विराट जन-समूह में नेता जी ने युद्ध की घोषणा की। उत्साह और उत्तेजना के साथ जन-समूह ने उस घोषणा का स्वागत किया। 'इनकिलाब जिन्दाबाद, आजाद हिन्द जिन्दाबाद और नेता जी की जय, के जयघोष से सिंगापुर का आकाश-मण्डल गूँज उठा। सैनिकों से लेकर एकत्रित जन-समूह ने लगातार कुछ देर तक नारे लगाये—'चलो दिल्ली—चलो दिल्ली! जीवन की ममता छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति हिन्दुस्तान की परतन्त्रा मिटाने के लिए अपनी कुर्बानी देना चाहता था।

नेता जी ने मोर्चे की ओर रवाना होने के लिए आदेश दिया और सेना के कूँच करने के पहले उन्होंने एक छोटा-सा वक्तव्य देते हुए कहा—"यहाँ से आप लोग मोर्चे पर जायँगे और फिर वहां से हिन्दुस्तान के रास्ते पर प्रयाण करेंगे। वही रास्ता, हिन्दुस्तान की आजादी

का रास्ता होगा और वहीं से उस आजादी का रास्ता आरम्भ होगा। उस रास्ते के सम्बन्ध में कुछ मैं आपसे कहूँगा। वह रास्ता आसान नहीं है—कठिनाइयों और संकटों से भरा हुआ है। उस रास्ते पर चल कर आपको भूख प्यास और बहुत-से खतरों का सामना करना पड़ेगा। वे खतरे मृत्यु के रूप में भी सामने आवेंगे। जो लोग उस रास्ते पर मरेंगे, उन्हें अमर पद मिलेगा। जो जीवित रहेंगे; वे भारत-माता के सच्चे सपूत होने की कीर्ति प्राप्त करेंगे। आप लोगों में जो लोग इस प्रकार विपद और मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तैयार हों, वे हमारे साथ आगे बढ़ें। मैं जीवन और मृत्यु में आपका साथी बनूंगा। जो मृत्यु का सामना करने में साहस और उत्साह का अभाव अनुभव करते हों, वे अलग होकर खड़े हो जायँ। मैं उनके सामने दूसरा काम रखूँगा।"

शत्रु-सेनाओं के साथ युद्ध

नेता जी चुप हो रहे। मोर्चे पर जाने वाले सैनिकों के विशाल समूह की ओर वे देख रहे थे। सैनिकों के नेत्रों से आग की लपटें निकल रही थीं। कोई भी सैनिक उस समूह से पृथक न हुआ। शांति का भङ्ग करते हुए एक उत्तेजित स्वर सैनिक समूह में उठा और सुनायी पड़ा—'हमें मौत का सामना करना है।'

बहादुर सैनिकों का समूह अपने स्थान से रवाना हुआ। सैकड़ों मील का सफर पार करके वह उस मोर्चे पर पहुँचा, जहाँ पर अंगरेजी और अमेरिकन सेनायें गोलियों की वर्षा करने के लिए तैयार थीं और जिन्होंने हिन्दुस्तान वर्मा की सीमा को सुरक्षित बना रखा था।

ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाओं के साथ, आजाद हिन्द फौज का भयानक युद्ध आरम्भ हुआ। उन शक्तिशाली फौजों को अन्त में पराजित होकर पीछे हटना पड़ा। अराकान्स, कालादान, कोहिमा और दूसरे कई युद्ध-स्थलों पर दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। प्रत्येक क्षेत्र में अंगरेजी और अमेरिकन फौजों को पराजित होकर सैकड़ों मील पीछे हटना पड़ा। उनके युद्ध-स्थल से भागने पर राष्ट्रीय सेना ने उनकी सम्पूर्ण युद्ध-सामग्री पर अपना कब्जा कर लिया।

इम्फाल के मोर्चे पर लगातार मूसलाधार वर्षा के कारण युद्ध की

परिस्थिति बदल गयी और राष्ट्रीय सेना के लिए शत्रु की फौजों का सामना करना असम्भव हो गया। इस विपरीत अवस्था में राष्ट्रीय सेना को पीछे हटाने का आदेश दिया गया। परन्तु आजाद हिन्द फौज के सैनिकों ने पीछे हटने से इनकार कर दिया। शत्रु-सेना के भीषण आक्रमण करने पर भी राष्ट्रीय सैनिक पीछे नहीं हटना चाहते थे। युद्ध की कुशलता कुछ और चाहती है। आगे बढ़ना और पीछे हटना—युद्ध की कला में दोनों शामिल हैं। परिस्थिति के विरुद्ध होने पर राष्ट्रीय सैनिक, जीवन का मोह छोड़कर शत्रु की सेनाओं का मुकाबिला कर रहे थे। इसे अपनी एक भूल समझकर नेता जी ने अपनी सेना को पीछे हटने के लिए फिर आदेश दिया। विवश होकर राष्ट्राय सेना के साहसी सैनिकों को पीछे हटना पड़ा और इस मोर्चे पर उसके पाँच हजार सैनिक मारे गये।

बर्मा में राष्ट्राय सेना का पहला युद्ध समाप्त हुआ। आजाद हिन्द फाज का दूसरी सेना युद्ध के लिए तैयार हो कर आ चुकी थी और वह नेता जी के आदेश का इन्तजार कर रही थी। उस सेना ने १८ अक्टूबर १९४४ को मिङ्गलाटन-कैम्प में मुकाम किया था।

युद्ध-क्षेत्र मे लौटने पर नेता जी ने अपने साहसी और शूरवीर सैनिकों का प्रशंसा की और जो सैनिक, युद्ध-क्षेत्र में मारे गये थे, उनके प्रति अपना श्रद्धाञ्जलि भेंट करते हुए, उनके त्याग और बलिदान की उन्होंने खूब प्रशंसा की।

शत्रु-सेनाओं के पास युद्ध के जो नवीन साधन और अस्त्र-शस्त्र थे, आजाद हिन्द फौज में उनका अभाव था। फिर भी उसके सैनिकों के जोश मे कहीं शिकन न थी। युद्ध-क्षेत्र में जाने के लिए राष्ट्राय सेना तैयार थी। रवानगी के पूर्व, नेता जी का एक ओजस्वी वक्तव्य हुआ और १९४५ के आरम्भिक दिनों में राष्ट्रीय सेना ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया। माउण्ट पोपा के मैदानों में यह मोर्चा लगा। दोनों ओर से सेनाओं में घोर संग्राम आरम्भ हुआ। इस मोर्चे पर भी राष्ट्रीय सेना ने अपने उसी उत्साह और बल का प्रदर्शन किया, जिसका उसने आराकान्स, विशपुर, कोहिमा और इम्फाल के मोर्चों पर प्रयोग किया था और शत्रु-सेनाओं को युद्ध के मोर्चे से हटाकर सैकड़ों मील पीछे भागने के लिए मजबूर किया था।

किन्तु प्रतिकूल मौसम, उपयोगी अस्त्र शस्त्रों की कमी और समय पर सहायता न पहुँचने के कारण आजाद हिन्द फौज को फिर अपने स्थान पर पीछे हटना पड़ा, शत्रुओं ने इस कमजोरी और अवसर का लाभ उठाया और एक बड़ी तादाद में आजाद हिन्द फौज के सैनिक जिनमें अनेक ऊँचे अफसर भी थे शत्रुओं के हाथों में गिरफ़्तार कर लिए गये। सारा वातावरण निराशा में बदल गया।

बचे हुए थोड़े से सैनिकों के बल पर और उपयोगी युद्ध सामग्री के अभाव में कुशल अमेरिकन और अंगरेजी महान फौजी शक्तियों के सामने थोड़े से आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों का मुकाबिला करना अत्यन्त कठिन समझ कर नेता जी के कुछ सच्चे साथियों ने तुरन्त यह निश्चय किया कि भविष्य में एक शक्तिशाली और संगठित मोर्चा तैयार करने के लिए नेता जी को बचाकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया जाय। इस निश्चय के अनुसार नेता जी अपने परम विश्वासी साथी कर्नल हबीबुर्रहमान के साथ १६ अगस्त सन् १९४५ को वयुयान द्वारा सिंगापूर से टोकियो के लिए रवाना हो गये। पर कौन जानता था कि नेता जी की यह वायुयान यात्रा उनके जीवन की अन्तिम यात्रा होगी। देश के दुर्भाग्य से वायुयान कुछ दूर जा कर ताईकोहू नामक स्थान पर पहुँचकर खराब हो गया, उसमें आग लग गई और नीचे गिर जाने से नेता जी की मृत्यु हो गई। नेता जी ने अपना सारा जीवन भारत को अंगरेजों की गुलामी से मुक्त करने में लगाया। वे उसी के लिये जिये और अन्त में उसी के लिए मर कर अमर हो गये।

अमर सुभाष

नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने अपने अन्तिम बन्दी जीवन में देश की स्वाधीनता के लिए जो मार्ग निश्चित किया था, उसी का आश्रय लेकर वे आगे बढ़े और विश्व के स्वतन्त्रता-प्रिय देशों को उन्होंने यह बता दिया कि भारतीय जन देश की पराधीनता को मिटाने के लिए इस मार्ग में भी किसी से पीछे नहीं हैं। अंगरेजी और अमेरिकन फौजों के साथ नेता जी ने स्वतन्त्रता का जो युद्ध आरम्भ किया, उससे ब्रिटिश-सरकार को इस बात का विश्वास हो गया कि भारतीय स्वतन्त्रता के लिए इस प्रकार का युद्ध भी निकट भविष्य में अवश्यम्भावी है।

नेता जी सुभाष बोस कारागार में बन्दी रहने की अपेक्षा शत्रु के मुकाबिले में लड़ कर मरना और देश की स्वाधीनता के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करना अधिक श्रेयस्कर समझा था। वही हुआ भी। वे कारागार से मुक्त भी हुए। देश की स्वतन्त्रता के लिए वे लड़े भी और बलिदान भी हुए।

इन बलिदानों के परिणाम-स्वरूप, सुदूरवर्ती ब्रिटिश-सरकार की शक्तियों में जकड़ी हुई भारतीय स्वतन्त्रता के बन्धन ढीले पड़े और वह मुस्कराती हुई भारत की ओर पदार्पण करती हुई दिखायी देने लगी।

आठवाँ परिच्छेद

अंगरेजी राज्य के अन्तिम दिन

भीषण तूफान और परिवर्तन

सन् १८५७ के विप्लव की तरह १९४२ के विद्रोह मे रक्तपात और मारकाट के भयानक दृश्य न थे, परन्तु शासन मे परिवर्तन पैदा करने के लिए वह अद्भुत प्रभावकारी था। अंगरेजी-शासन के विरोध में क्रान्तिकारी हमलो का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में हुआ था और उसकी चिनगारियाँ लगातार तीव्र होकर आक्रमण के रूप मे पहुँच गयी थीं। एक नवीन योजना की आग अपने हृदय में लेकर सुभाषचन्द्र बोस जर्मनी पहुँच गये थे और अंगरेजी शासन को मिटाने के लिए वे फौजी आक्रमण की व्यवस्था कर रहे थे। इन घटनाओं के विवरण पूर्व पृष्ठों मे दिये जा चुके हैं।

सन् १९४२ मे ही क्रिप्स -मिशन भारत मे आया था और पूर्ण रूप से वह असफल होकर लौटा था उसकी वापसी के समय भारत को एक चेतावनी मिली, यहाँ पर उसके प्रति एक बार दृष्टिपात कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। असफलता से विक्षुब्ध होकर मिशन के प्रधान ने भारत को चेतावनी देते हुए कहा था—

"ब्रिटिश-सरकार के स्वीकृत प्रस्तावों को मिशन ने भारतीय नेताओं के सामने रखा है, उनको अस्वीकार करने और ठुकराये जाने पर मैं इतना ही कहूँगा कि अगर ये प्रस्ताव मंजूर न किये गये तो इस देश में भयानक हिंसा, उपद्रव और रक्तपात के दृश्य उपस्थित होंगे और सम्पूर्ण देश एक गृह-युद्ध के रूप मे बदल जायगा।"

मिशन की चेतावनी सही निकली। उसकी सभी बातें हमको आँखों से देखने को मिलीं। प्रस्तावों के नामंजूर होने पर मिशन को विक्षुब्ध होना पड़ा था और मिशन की चेतावनी पर सम्पूर्ण भारत को जार-जार रोना पड़ा। मिशन की चेतावनी उसके प्रधान के मुँह से

निकली थी, परन्तु ब्रिटिश-सरकार की वह एक संयोजित और समझी-बूझी हुई योजना थी।

क्रिप्स-मिशन की असफलता का परिणाम

मिशन के वापस जाने पर देश के विश्वास और धैर्य का बाँध टूट गया। नेताओं ने पराधीनता को मिटाने के लिए ८ अगस्त, १९४२ का निर्णय किया। ब्रिटिश-शक्तियों का एक आक्रमण हुआ। नेताओं की गिरफ्तारी के बाद, भीषण विप्लव की होलिका जली। देश ने प्रत्येक प्रान्त ने उसका अनुसरण किया। विप्लवकारियों और सरकार की शक्तियों का खुलकर संघर्ष आरम्भ हुआ। उस संघर्ष में सरकारी रिपोर्ट के अनुसार, २५० रेलवे स्टेशन नष्ट किये गये, लगभग २०० पुलिस-स्टेशनों—थानों पर आक्रमण हुए, बहुत-से पुलिस-अफसर मारे गये। ५०० पोस्ट-आफिस बरबाद कर दिये गये और लगभग १००० सरकारी नौकरों तथा अफसरों को दुनिया से बिदा कर दिया गया।

इन दिनों में सरकार की ओर से विषैले आक्रमण हो रहे थे। सम्पूर्ण देश को ब्रिटिश-सरकार ने अराजक घोषित कर दिया था। सरकारी क्रूरता के कारण देश का प्रत्येक शहर जलियांवाला बाग बन गया था। बलिया के दृश्य और भी भीषण हो गये थे। कितने ही अंगरेज अधिकारियों ने क्रूर डायर को भी मात कर दिया था। गैर-कांग्रेसी नेताओं और देश के प्रमुख व्यक्तियों के तीव्र चीत्कार भी ब्रिटिश-अधिकारियों के निकट प्रभावहीन प्रमाणित हुए। नाजी और फासिस्टि-सरकारों की निर्दयता को चुनौती देने वाले, देश में सरकार की ओर से क्रूरता के भीषण दृश्य उपस्थित किये गये थे। न जाने कितने देशद्रोही हिन्दुस्तानी हाकिमों ने देश में अत्याचार करने में गोरे अफसरों को भी मात कर दिया था।

देश में इस बढ़ती हुई बर्बरता को देखकर गाँधी जी का हृदय विक्षुब्ध हो उठा। अहिंसात्मक प्रेरणा से द्रवीभूत होकर उनके प्राण, कारागार के बन्दी जीवन में तड़प कर रो उठे। अहिंसा विरोधी देश के इन कृत्यों ने और ब्रिटिश-सरकार की क्रूरता और निर्दयता से गाँधी जी के प्राण, कारागार में आकुल-व्याकुल हो उठे। दोनों ओर

के प्रहारों से उनका कोमल आत्मा चूर-चूर हो गया। बन्दी जीवन की असहाय परिस्थितियों ने उनके सामने भीषण अन्धकार उत्पन्न कर दिया। वे आगा खाँ के महल में बन्दी थे। वहीं से उन्होंने सरकार के साथ पत्र-व्यवहार किया। परन्तु उनका प्रयत्न निष्फल हुआ। वे देश की परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करना चाहते थे और फैली हुई क्रूरता, बर्बरता एवम् अराजकता को कैदी होने पर भी वे मिटाना चाहते थे। परन्तु सरकार ने एक न सुनी। पृथ्वी की साम्राज्यवादी शक्तियों से निराश होकर गाँधी जी ने सम्राटों के सम्राट, परमात्मा का स्मरण किया और नेत्रों से बहते हुए आँसुओं को पोंछ कर, अपनी असहाय अवस्था में उन्होंने इक्कीस दिनों का कारागार मे अनशन आरम्भ किया।

इस समाचार के फैलते ही देश में हाहाकार मच गया। भारत से लेकर दूसरे देशों तक—चारों ओर से गाँधी जी को कारागार से मुक्त करने और हिन्दुस्तान की परिस्थितियों पर विचार करने के लिए ब्रिटिश-सरकार पर दबाव डाले जाने लगे। गाँधी जी के इस मरणासन्न अनशन से समस्त संसार त्रस्त और विक्षुब्ध हो उठा था, और सरकार पर दबाव डालने के लिए भारत मे सभी सम्प्रदायों का एक सम्मेलन किया गया था, उसमें जाने के लिए मिस्टर जिन्ना ने आमंत्रण नामंजूर कर दिया था। इन दिनों मे ब्रिटेन के विरुद्ध अमेरिका में, उसकी एक पार्टी की ओर से जो आलोचनायें हो रही थीं, उनसे ब्रिटिश-सरकार सशंकित हो उठी। गाँधी जी मई, १९४४ को कारागार से मुक्त कर दिये गये।

जिन्ना के साथ समझौते का फिर राग

गाँधी जी का यह विश्वास अभी तक नहीं टूटा था कि देश की पराधीनता को मिटाने के लिए लीग का सहयोग जरूरी है और उसके लिए, लीग के एक मात्र अधिकारी, मिस्टर जिन्ना के साथ समझौता किया जा सकता है। छूटने पर उन्होंने उसके लिए प्रयत्न आरम्भ किया और अन्त मे असफल हो जाने पर उन्होंने जो वक्तव्य दिये, उनके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"मेरा दिमाग छोटी है, मैंने साहित्य का अध्ययन अधिक नहीं

किया। मैंने दुनिया भी अधिक नहीं देखी। जीवन की थोड़ी सी समस्याओं के सुलझाने में ही मेरी शक्तियाँ केन्द्रित रही हैं।×× दूसरी शक्तियों की अपेक्षा मैं आत्म-शक्ति पर अधिक विश्वास करता हूँ।× स्वाधीनता के लिए मैं देश के विभाजन को स्वीकार नहीं करता।×× मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता कि विभाजन के लिए केवल मुसलमानों का मत लिया जाय और बहुमत की कसौटी पर उसका निर्णय कर दिया जाय।×करोड़ों मनुष्यों के भविष्य का निर्णय, उनकी मंजूरी के बिना, नहीं किया जा सकता। उसका मुझे कोई अधिकार भी नहीं है।"

मिस्टर जिन्ना और लीग के दूसरे नेताओं की ओर से इस बात का प्रचार बढ़ता जा रहा था कि मुस्लिम भेद-भाव मिटाने के लिए देश का विभाजन ही एक उपचार और उपाय है। जो लोग विभाजन मंजूर नहीं करते, वे इस मुल्क के मुसलमानों और हिन्दुओं को लड़ाना चाहते हैं।

ब्रिटिश-सरकार के लड़खड़ाते हुए पैर

भारत की अराजकता को मिटाने के लिए ब्रिटिश-सरकार ने अपनी शक्ति—पुलिस और फौजी ताकत पर विश्वास किया था लेकिन सरकार की ताकत अब कुन्द पड़ रही थी और उसको स्वयं अपनी इस ताकत पर अविश्वास हो रहा था। इसलिए सरकार के सामने फिर एक प्रश्न आया कि भारतीय परिस्थिति पर क्या निर्णय होना चाहिए।

इन दिनों में लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर लार्ड वेवेल भारत के वाइसराय मुकर्रर हुए। हिन्दुस्तान आकर उन्होंने यहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन किया और उसके बाद उन्होंने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने देश के विभाजन का विरोध किया। उनका कहना था कि किसी भी दल के आग्रह पर देश के टुकड़े नहीं किये जा सकते। उनके इन भाषणों के कारण मुस्लिम लीग ने उनकी निन्दा और आलोचना करना आरम्भ कर दिया।

इसी बीच में लार्ड वेवेल भारत से लण्डन गये। ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के साथ उनको कुछ परामर्श करना था। सरकार भारत के सम्बन्ध

में कोई मार्ग निकालना चाहती थी। इन दिनों में उसके पैर डगमगा रहे थे और ब्रिटिश-साम्राज्य के खम्भे हिलते हुए दिखायी देते थे। इंगलैण्ड के मन्त्रि-मण्डल में जो आशंकायें उत्पन्न हो रही थी, वे वहाँ के मन्त्रिमण्डल को मजबूर कर रही थीं कि भारतीय परिस्थितियों के सुलझाने का कोई मार्ग निकाला जाय।

ब्रिटिश-सरकार की आखीरी आड़

योरप के दूसरे महायुद्ध का अन्त मई, १९४५ को हो गया। उस युद्ध के बाद ही काँग्रेस के नेता बन्दी जीवन से १५ जून, १९४५ को मुक्त कर दिये गये। जर्मन-युद्ध के बाद, इंगलैण्ड में नये चुनाव की तैयारियाँ हुई और चुनाव में भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न को लेकर प्रधान मन्त्री मिस्टर चर्चिल की तीव्र आलोचना की गई। उन आलोचनाओं में ब्रिटिश जनता को बताया गया कि जर्मनी को पराजित करने में इंगलैण्ड और अमेरिका को इतने दिन न लगते और इतनी बड़ी कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता अगर हिन्दुस्तान ब्रिटेन के हाथों में पराधीन न होता, इसलिए कि लोक-तन्त्र शासन के जिन सिद्धान्तों को लेकर जर्मनी को पराजित करने के लिए अनेक राष्ट्रों का संगठन किया गया था, हिन्दुस्तान का प्रश्न उनके खिलाफ पड़ता था। परिणाम स्वरूप, उस चुनाव में चर्चिल पार्टी की पराजय हुई और इंगलैण्ड के शासन का भार वहाँ की मजदूर पार्टी के हाथों में आ गया।

लार्ड वेवेल इंगलैण्ड से लौटकर भारत आये और उन्होंने देश की सभी संस्थाओं के प्रमुख नेताओं को आमन्त्रण भेजकर शिमला में एक सम्मेलन किया। इसी मौके पर कामन्स सभा में भाषण देते हुए भारत मन्त्री मिस्टर एमरी ने कहा—

"भारत के सम्बन्ध में ब्रिटेन का नया शासन-विधान उस देश के निवासियों के सहयोग के बिना कार्यान्वित नहीं हो सकता। ब्रिटिश-सरकार नहीं चाहती कि भविष्य में भारत की इच्छा के बिना उस पर शासन-विधान लादा जाय।"

शिमला-सम्मेलन भी उसी प्रकार का एक खेल था, जिस प्रकार के खेलों के द्वारा सरकार भारतीय मसलों को टालने और उसके नेताओं का मन-बहलाव करने की कोशिश किया करती थी। लार्ड वेवेल ने

बड़ी बुद्धिमानी के साथ एक सदृढ़ बाग, उपस्थित नेताओं के सामने रखा, लेकिन उसका कोई परिणाम न निकला और सरकार की आखिरी आड़, शिमला-सम्मेलन असफल हो गया।

इन दिनों में लेबर पार्टी, इंगलैण्ड का शासन तन्त्र अपने हाथों मे ले चुकी थी। उसने भारतीय प्रश्न को सुलझाने का सब से पहले प्रयत्न किया। उसकी समझ मे भारतीय पराधीनता का कायम रखना ब्रिटेन के लिए भविष्य मे हानिकारक है। वहाँ के प्रधान मन्त्री मिस्टर एटली ने अपने एक भाषण मे कहा—

"हम अपने लिए जिस प्रकार की स्वाधीनता चाहते हैं, ठीक उसी प्रकार की स्वतंत्रता, दूसरों को भी चाहिए। आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का तकाजा भी यही है।"

मध्यकालीन सरकार

शिमला-सम्मेलन समाप्त हो जाने के बाद, भारत की राजनीतिक माँग को पूरा करने के लिए, ब्रिटिश सरकार की ओर से मध्यकालीन-सरकार (Interim Government) बनाने के लिए लीग और काँग्रेस को आमन्त्रित किया गया। लीग ने पहले तो स्वीकार कर लिया। लेकिन अन्त मे शामिल होने से उसने इनकार कर दिया। लेकिन काँग्रेस के तैयार हो जाने पर चौदह सदस्यों की मध्यकालीन-सरकार बना दी गयी। उसमें पाँच सदस्य काँग्रेस के और पाँच मुस्लिम लीग के सदस्य रखे गये। अछूतों, सिखों, पारसियों और ईसाइयों की ओर से एक-एक सदस्य रखा गया।

वाइसराय की लगातार कोशिशों पर लीग ने मध्यकालीन-सरकार मे शामिल होना मंजूर किया और मुश्किल से तीन सप्ताह भी एक साथ काम करते न बीते होंगे, मध्यकालीन-सरकार के उपसभापति पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लीगी सदस्यों के व्यवहारों और कामों से ऊब कर खुले तौर पर शिकायत करना आरम्भ कर दिया। नयी सरकार के प्रत्येक कार्य मे अड़ंगा लगाना और काम न होने देना ही लीगी सदस्यों का काम था। कुछ दिन और बीतने के बाद, मध्यकालीन-सरकार के काँग्रेसी सदस्यों ने साफ-साफ अनुभव किया कि लीगी सदस्यों के सहयोग में इस प्रकार की सरकार का काम चलना असम्भव है।

विभाजन और विसर्जन

मुस्लिम लीग का अन्तिम ध्येय विभाजन पर आ गया था। मिस्टर जिन्ना के नेतृत्व मे लीग, देश का बँटवारा चाहती थी। उसकी हठ का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि जन्म के पहले ही उसने नाम-संस्कार भी कर लिया था। मुस्लिम-समाज को छोड़कर प्रारम्भ से ही देश के विभाजन का विरोध किसने नहीं किया? काँग्रेस और दूसरे राजनीतिक दलों के साथ-साथ, हिन्दुओं की विभिन्न संस्थाओं ने खुलकर उसका विरोध किया था।

लेकिन किसी के विरोध का विभाजन पर प्रभाव क्या था। उसका सम्बन्ध तो, इस देश के हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ था। भारत के मुसलमान अधिकाँश लीग के साथ थे। काँग्रेस के प्राणों मे हिन्दू-मुस्लिम रक्त का गम्भीर सामञ्जस्य था। हिन्दू-संस्थाओं मे उन जमींदारों और राजाओं का अस्तित्व था जिनकी अकर्मण्यता के भार से भारत की पृथ्वी ऊबी हुई थी। इन परिस्थितियों मे लीग ने विभाजन का प्रश्न उठाया और अपने खूनी हमलो से हिन्दुस्तान के सम्मुख वह अवस्था उत्पन्न कर दी, जिसमे पाकिस्तान का एक काल्पनिक चित्र विरोधियों के नेत्रों मे भी दिखायी देने लगा। दिखायी न देता तो उसके अवरोध का किसी के सामने मार्ग क्या था?

काँग्रेस ने विभाजन का विरोध किया था। गाँधी जी ने भी उसे अस्वीकार किया था। इंगलैण्ड का शासन-भार अपने हाथों मे लेते ही लेबर पार्टी के नेता मिस्टर एटली ने जिस ईमानदारी का व्यवहार किया, उस पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। अन्त मे लार्ड वेवेल ने भारत मे आकर, विभाजन का विरोध किया। परन्तु इन समस्त विरोधों का परिणाम कुछ न हुआ?

वास्तव में विभाजन को रोकने के लिए उपाय क्या था? यह कहने से तो काम न चलेगा कि अंगरेज शासकों ने देश के टुकड़े कर दिये। सही बात तो यह है कि विभाजन रोकने के लिए कोई मार्ग ही न रह गया था। इसलिए कि मुस्लिम लीग को और विशेषकर हिन्दुस्तान के मुसलमानों को इस बात का विश्वास होगया था कि 'काँग्रेस लड़ नहीं सकती। हिन्दुओं में प्राणों का संचार करने वाले नेता का सर्वथा

अभाव है।' अब दो ही मार्ग रह जाते हैं। भारत में अंगरेजों के बाद या तो हिन्दू मुस्लिम संयुक्त-शासन होता अथवा देश का विभाजन होता।

ब्रिटिश-सरकार ने भारत की हिन्दू-मुस्लिम संयुक्त शक्तियों को सत्ता हस्तान्तरित करने की कोशिश की थी और उसी आधार पर इन्टरिम सरकार बनायी गयी थी। लेकिन तीन सप्ताहों के भीतर ही मध्य कालीन-सरकार के उपसभापति पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने जिस निराशा का अनुभव किया था, उसको यहां दुहराने की जरूरत नहीं है। यह निश्चय था कि संयुक्त शासन नहीं चलाया जा सकता था।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रसन्नता में लीग की माँगों में वृद्धि हुई थी और राष्ट्रीय नेताओं की स्वीकृतियों के आधार पर ही देश के संयुक्त शासन में मुसलमानों और हिन्दुओं को बराबर का प्रतिनिधित्व दिया गया था। काँग्रस और लीग के बीच में संघर्ष था और शासन में दोनों के बराबर प्रतिनिधि थे। लोक-तन्त्र शासन की व्यवस्था के अनुसार, शासन का कार्य आगे चल कैसे सकता था! अन्य जातियों के प्रतिनिधियों में कुछ काँग्रेस का साथ देते तो कुछ लीग का।

परिस्थिति बहुत नाजुक थी और विभाजन के अवरोध का कोई मार्ग दिखायी न देता था। गाँधी जी यह भी कह चुके थे कि अंगरेजों के जाने के बाद, हिन्दू-मुसलमान लड़-भिड़कर स्वयं अपनी समस्याओं को सुलझा लेंगे। गाधी जी के बाद, काँग्रेस की एक दूसरी ताकत जवाहर लाल नेहरू थे। मिस्टर जिन्ना और लीग के समझौते से ऊब कर, विभाजन के सम्बन्ध में उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला था उसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था—

"विभाजन रोकने के लिए चार प्रकार के उपाय सामने आते हैं—आपसी समझौता, अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायत, ब्रिटेन का निर्णय और गृह युद्ध 'इन उपायों में' आपसी समझौता असम्भव हो चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायत को मानने से मिस्टर जिन्ना ने इनकार कर दिया। विभाजन के विरुद्ध ब्रिटेन के निर्णय करने पर भी लीग का संघर्ष निश्चित है। अब चौथा उपाय गृह-युद्ध रह जाता है, वह काँग्रेस के सिद्धान्तों के विरुद्ध—हिंसात्मक है।" पण्डित नेहरू की इस आलोचना के बाद, विभाजन की मंजूरी ही बाकी रह जाती है। वही अन्त में हुआ। मुसलमानों के साथ संघर्ष के बचाने और हिंसा से

दूर रहने के लिए विभाजन के मार्ग का आश्रय लेना पड़ा। यद्यपि उसी तरीके से देश का विभाजन, संघर्ष और हिंसा से भी अधिक कठोर और क्रूर था। परन्तु उस समय वही सरल दिखायी पड़ा। सत्ता-हस्तान्तरित करने के समय ब्रिटेन की योजना में काँग्रेस ने विभाजन को स्वीकार किया। इस सम्बन्ध में पण्डित नेहरू ने स्पष्ट कहा था—'ब्रिटेन की योजना में विभाजन से अच्छा कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता।'

स्वतन्त्रता की घोषणा

ब्रिटिश-पार्लामेण्ट में भारत के लिए नये वाइसराय की घोषणा हुई और लार्ड माउण्ट बेटेन ने भारत में आकर मार्च १९४७ को वाइसराय का चार्ज लिया। भारतीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ब्रिटिश-प्रधान मन्त्री मिस्टर एलटी ने ३० फरवरी, १९४७ को कामन्स-सभा में भाषण देते हुए कहा था—

"ब्रिटिश-सरकार इस बात का निर्णय कर चुकी है कि जून, १९४८ के पहले ही भारतीय शासन की सत्ता, उत्तरदायी भारतीय नेताओं के हाथों में सौंप दी गयी। अगर लीग ने कान्स्टीट्एण्ट एसम्बली (Constituent Assembly) में भाग न लिया तो ब्रिटिश-सरकार इस बात का स्वयं निर्णय करेगी कि वह अब भारत की शासन-सत्ता किसे सुपुर्द करे?"

भारत में आते ही लार्ड माउण्ट बेटेन ने प्रधान मन्त्री के वक्तव्य को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए कि वर्तमान मजबूरी में विभाजन ही एक निष्कर्ष है, ३ जून, १९४७ को पञ्जाब, बङ्गाल और आसाम के साथ-साथ भारत के विभाजन की एक योजना पेश की और उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त का निर्णय वहाँ के जनमत पर रखा गया। लीग और काँग्रेस ने इस योजना को मंजूर कर लिया।

जूलाई, १९४७ में ब्रिटिश-पार्लामेंट ने भारतीय स्वतंत्रता के सम्बन्ध में निर्णय किया—"हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के नाम से भारत दो राष्ट्रों में परिवर्तित हुआ। १५ अगस्त, १९४७ से दोनों राष्ट्र स्वतन्त्र माने जायँगे। १५ अगस्त को ही भारतीय शासन की सत्ता ब्रिटिश-सर-

कार से पृथक होती है। उस दिन के बाद हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्ध में, ब्रिटिश-पार्लामेण्ट को कानून पास करने का अधिकार न रहेगा। दोनों राष्ट्रों के अलग-अलग, स्वतंत्र रूप से अस्तित्व होंगे।"

ब्रिटिश पार्लामेण्ट के निर्णय के अनुसार १५ अगस्त, १९४७ को भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा की गयी। ब्रिटेन का संयोजित लार्ड माउण्ट बेटेन का प्रस्तावित और मुस्लिम लीग तथा काँग्रस का स्वीकृत भारत का विभाजन—पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के नाम से घोषित हुआ। ब्रिटिश-सरकार ने भारतीय शासन की सत्ता लीग और काँग्रेस के नेताओं को हस्तांतरित की।

विभाजन के अनुसार, लीग और काँग्रेस की सरकारों ने अपने हाथों में शासन की सत्ता ली। हिन्दुस्तान में लोक-तन्त्र-शासन की और पाकिस्तान में इस्लामी शासन की वायु प्रवाहित होने लगी। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की स्वतन्त्र सरकारों के पास देश और विदेशों से शुभ कामनाओं का आना आरम्भ हुआ।

पन्द्रह अगस्त

आज का दिन हमारे सुख-सौभाग्य और सन्तोष का दिन है। आज पन्द्रह अगस्त है। आज ही के दिन हमारी, हमारे देश की स्वतंत्रता, एक हजार वर्ष की खोई हुई स्वाधीनता, हमें प्राप्त है।

इसकी प्रसन्नता में जितने भी साधन सम्भव हो सकते हैं, जुटाये और एकत्रित किये गये। तेल के नहीं, घी के दीपक जलाये गये, बिजली के प्रकाश से रात को दिन बना देने का दृश्य उपस्थित किया गया। अनेक प्रकार के विनोद और मनोरंजन की सुविधायें पैदा की गयीं और आकाशव्यापी उन बाजों की व्यवस्था की गयी, जिनके मधुर और संगीतमय स्वरों से कुछ समय के लिए हम आत्मविस्मृत हो गये।

निस्सन्देह, हम आज स्वतन्त्र हैं। फिर हमने तो एक हजार वर्ष के दिन, पराधीनता की हथकड़ियों और बेड़ियों को पहन कर बिताये हैं। दासता और विवशता के दुर्दिनों का एक युग समाप्त किया है। इस युग में हमने अपना सर्वस्व खोया है। आज हमारे पास कुछ भी बाकी नहीं है। बाकी है, हमारे शरीर में केवल सूखी हुई हड्डियाँ और दुर्बल प्राण! इन प्राणों और हड्डियों के सिवा, हमारे पास कुछ नहीं

ह । अपना खो चुके हैं, पराया पा चुके हैं । पूर्वजों का मान और स्वाभिमान हमारे जीवन से उसी दिन बिदा हो गया था, जिस दिन हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ था और हम गुलाम बनाये गये थे । अपनी पराजय के साथ-साथ, हमने न केवल अपनी स्वतन्त्रता खोयी थी, वरन् खोया था अपने जीवन का, पूर्वकालीन, चिरसंचित, पूर्वजों का दिया हुआ, साहस, शौर्य, पराक्रम और पुरुषार्थ !

पन्द्रह अगस्त की स्मृतियों में पीड़ा और प्रसन्नता का अमिट और अपृथक सामञ्जस्य है ? देश की स्वतन्त्रता के संघर्ष का राष्ट्रीय आधार था । लोकतन्त्र के पवित्र आदर्शों को लेकर भारतीय जन स्वाधीनता प्राप्त करने चले थे । साम्प्रदायिकता को मिटाने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी । परन्तु संघर्ष के अन्तिम दिनों तक उनको साम्प्रायिकता का आश्रय लेना पड़ा और जातीयता एवम् साम्प्रदायिकता के शरणार्थी होकर उनको विभाजन स्वीकार करना पड़ा । स्वतन्त्रता के युद्ध में हमारी इस विजय और पराजय का अटूट समन्वय पन्द्रह अगस्त को उपस्थित होता है !

स्वाधीनता के उस युद्ध में हम साम्प्रदायिकता को विजय करने चले थे ! परन्तु हम स्वयं साम्प्रदायिकता के क्षेत्र में पराजित हुए । देश का अस्तित्व छिन्न-भिन्न हुआ और उसके टुकड़ों को साम्प्रदायिकता के तराजू में तौलकर देश का विभाजन किया गया ! हमारे जीवन के इस चित्र का पन्द्रह अगस्त प्रवर्तक है !

इस अगस्त—पन्द्रह अगस्त की विभिन्न स्मृतियाँ हमारे जीवन से गम्भीर सम्बन्ध रखती है । उनकी स्मृति में हमको प्रसन्नता भी है—पीड़ा भी है ! हमारे नेत्रों का अश्रुपात, हमारी दोनों अवस्थाओं का परिचायक है ! हम पन्द्रह अगस्त की स्वाधीनता की प्रसन्नता मनाना चाहते हैं, लेकिन हमारे प्राणों की पीड़ा में वह प्रसन्नता अन्तर्हित हो जाती है !

मिली हुई स्वतन्त्रता की स्मृतियाँ, हमें देश के उन दुलारे क्रान्तिकारी युवकों की याद दिलाती हैं, जिन्होंने देश की पराधीनता को मिटाने के लिए अपने जीवन की आहुतियाँ दी हैं !

अहिंसात्मक युद्ध में, जिनके त्याग और बलिदान से देश की परतन्त्रता की जंजीरें कमजोर पड़ी हैं और स्वतन्त्रता के आह्वान में

जिनकी जिन्दगियां कारागारों में व्यतीत हुई हैं, हमारी आँखों में पन्द्रह अगस्त उनका एक स्मारक है !

भारत से विदेशी शासन को मिटाने के लिए आजाद हिन्द फौज के जिन देश भक्त सैनिकों ने शत्रु-सेनाओं का युद्ध-स्थलों पर मुकाबिला किया है, और हँस-हँसकर जिन्होंने युद्ध-क्षेत्रों में मृत्यु का आलिङ्गन किया है, नत-मस्तक होकर, उनको प्रमाण करने के लिए पन्द्रह अगस्त हमारी आराधना का एक दिवस है !

विदेशियों के द्वारा देश की अपहृत स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए, नेता जी सुभाष बाबू का बलिदान, उनकी तेजस्वी प्रतिभा, अद्भुत शक्ति और अटल देश भक्ति का उज्वल प्रमाण है ! पन्द्रह अगस्त उनकी निर्भीकता, कर्त्तव्य परायणता और अजेयता की प्रतिष्ठा का दिन है !

विरोधों और विद्रोहों में जिनकी अकारण मृत्यु हुई है अथवा जिनका सर्वस्व अपहरण किया गया है, पन्द्रह अगस्त, उन स्त्री-पुरुषों की स्मृतियों का—लज्जा पूर्ण स्मृतियों का हमारे सामने एक दिवस है !

फिर भी पन्द्रह अगस्त हमारे गौरव का दिन है। उसके प्रत्येक क्षण में भारतीय सन्तानों के जीवनोत्सर्ग और बलिदानों की तीव्र प्रतिध्वनि है ! इसी दिन हम अपने उन यशस्वी वीरों और अमर शहीदों को श्रद्धाञ्जलि समर्पण करते हैं, जिनके त्यागों, बलिदानों और मृत्युओं से भारत ने विदेशी शासन से मुक्ति पाकर स्वतन्त्रता प्राप्त की है !

—:: समाप्त ::—